श्री महाराज हरिदासजी की वाणी सटिप्पणी
व
अपर निरंजनी महात्माओं की रचना के अंशांश

भूमिका, टिप्पणी लेखक व सम्पादक
मंगलदास स्वामी

प्रकाशक
निखिल भारतीय निरंजनी महा सभा

प्राप्तिस्थान
दादूमहाविद्यालय मोतीडूंगरीरोड़ जयपुर सिटी (राजस्थान)

मुख्य विक्रेता
रोशनलाल जैन एण्ड सन्स
बोरड़ी का रास्ता
जयपुर
मूल्य : बीस रुपये मात्र
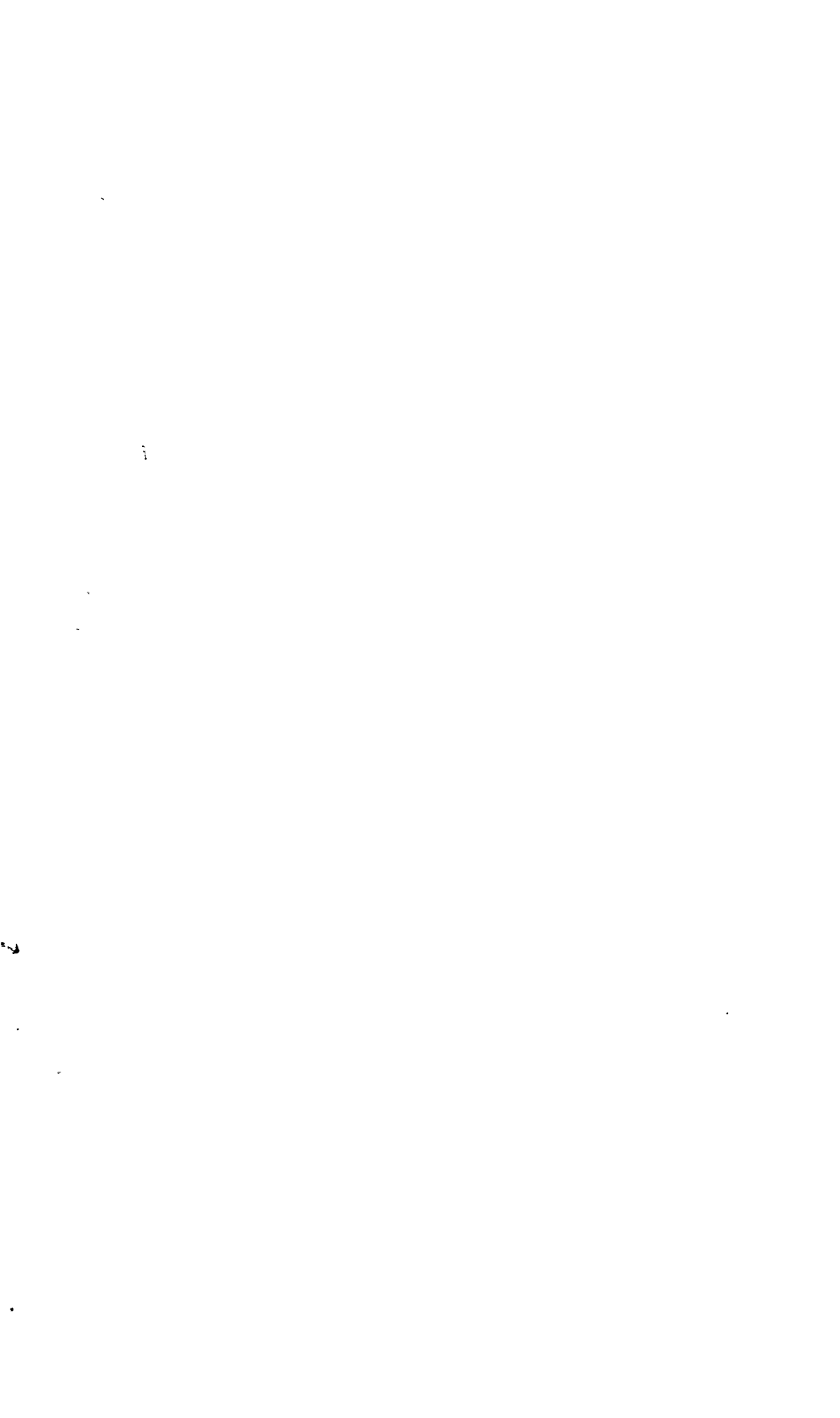
नाथजी (बालकरामजी) महाराज की प्रणाली

१. महाराज हरिपुरुषजी (हरिदासजी)
२. नाथजी महाराज (बालकरामजी) शिष्य
३. शिवरामदासजी
४. सुषरामदासजो
५. सहजरामजी
६. बालकदासजी
७. नन्दरामदासजी
८. श्यामदासजी
९. गिरधारोदासजी
१०. भंडारी पोकरदासजी
११. भंडारी रघुवरदासजी
१२. भंडारी जयरामदासजी

मेरा निवेदन

सन्त साहित्य में मेरी श्रद्धा है। जब मैंने दादूपन्थी सम्प्रदाय के कुछ साहित्य का सम्पादन किया तभी से मेरी इच्छा थी कि निरंजनी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक महाराज श्री हरिदासजी की वाणी का एक उत्तम संस्करण निकाला जाय। इनकी वाणी का एक संस्करण महन्त देवादासजी जोधपुर ने प्रकाशित किया था पर उसमें प्रूफ संशोधन की काफी कमी थी तथा कठिन शब्दों के या प्रादेशिक शब्दों के पर्यायों का अभाव था इसलिए पाठक ठीक से वाणी का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता था। इन कमियों के निराकरण के साथ वाणी प्रकाशन की भावना ने प्रेरणा की और मैं महाराज हरिदासजी की वाणी के शुद्ध व प्राचीन प्रतियों की तलाश में लगा। संभावित स्थानों पर जा जाकर मैंने निरंजनी साहित्य की खोज की तथा आवश्यक पुस्तकों की प्राप्ति की। इन प्राप्त पुस्तकों में दो अठारहवीं सदी की लिखित हैं शेष उन्नीसवीं शताब्दी की। अठारहवीं सदी की दो पुस्तकों में एक पूर्वार्द्ध की तथा एक उत्तरार्द्ध की है। मैंने इन प्राप्त पुस्तकों में पांच पुस्तकें मूल पाठ के लिये चुनी जो कि मुझे अधिक शुद्ध प्रतीत हुई। इन पांच पुस्तकों के आधार से मूल पाठ की प्रेस कापी तैयार की। पाठभेद प्रेस कापी में रखे गये। पाठभेद में ध्यान देने पर प्रतीत हुआ कि अधिकांश पाठों का अन्तर लेखक की लेखन शैली का है।

वस्तुतः पाठभेद कम है पर यह निर्णय करना दुष्कर था कि कौनसा पाठान्तर वास्तविक है तथा कौनसा लेखन शैली के कारण से है। इस कमी के साथ यह भी कमी रही कि एक शब्द का पाठभेद कई बार आगया। प्रेसकापी तैयार होने पर यह समस्या आई कि शब्द पर्याय तथा कठिन साखियों का स्पष्टीकरण कैसे हो।

महाराज हरिदासजी की वाणी में नाथ वाणियों को शैली है ऐसा मेरा ध्यान है। महाराज की वाणी में यौगिक क्रियाओं से सम्बन्धित विवरण पर्याप्त हैं। अनेक स्थल विपर्यय के भी है। प्रचलित ठेठ प्रादेशिक शब्दों का भी प्रयोग पर्याप्त है। इस स्थिति में मेरे जैसा अल्पज्ञ यह साहस कैसे करता कि इस की सम्यक् पाद टिप्पणियां तथा विपर्यय वाक्यों के सम्यग् अर्थ तैय्यार हो जायेंगे। मैं इसी असमंजस में था कि सन्त बजरंगदासजी ने मुझे अतीव प्रेरणा दी कि वाणी का प्रकाशन होना ही चाहिये। उनने स्वकीय सहयोग का आश्वासन दिया तथा विद्वद्धीर महात्मा परमानंदजी से सहयोग मिलने की आशा बंधाई। सन्त बजरंगदासजी जयपुर आये और डेढ़ मास ठहरे। मैंने तथा उनने संयुक्तरूप से पादटिप्पणी तैयार की कुछ विपर्यय अर्थवाली साषियों के खुलासे के प्रागरूप भी तैय्यार किये। तद्पश्चात् कोलिये ग्राम में महात्मा परमानंदजी महाराज सन्त बजरंगदासजी तथा अमरपुरुषजी महाराज की बगीची के स्थानाधिपति सन्त भोलादासजी तथा मैं एकत्रित हुये और पूर्वक्त पादटिप्पणियें तथा साषियो के खुलासे तथा शेष रहे भाग को निर्णीत किया। इस पूर्ति में प्रमुखता महात्मा परमानन्दजी महाराज की रही। अब भूमिका का कार्य विवेचनात्मक खंड का शेष था वह पूरा करना था और मुद्रण के लिये अर्थ का प्रश्न शेष था। आर्थिक प्रश्न की पूर्ति के लिये सन्त बजरंगदासजी तथा भोलादासजी ने सोत्साह हाथ बढाया। उनने स्वयं तथा प्रेरणा कर साढे तीन हजार रुपये मेरे पास भेज दिये। पुस्तक के प्रकाशन में छै सात हजार के व्यय का मेरा अनुमान था मैंने तदर्थ प्रयास किया। नि. भा. निरंजनी साधुसभा के अनेकों सदस्यों ने मेरी प्रार्थना पर उचित ध्यान दिया और आवश्यक अर्थ की पूर्ति हो गई।

पुस्तक का प्रकाशन अच्छा हो यह भावना तो थी ही पर प्रेस वालों की अनवस्था भी ध्यान में थी पुस्तक प्रकाशन के लिये प्रेस को तथा प्रेस मालिक को कितनी सावधानी आवश्यक है इस को

ठीक से कोई प्रामाणिक प्रेस ही पूरा करता है। मैंने यह पुस्तक मातृभूमि प्रेस के मालिक पं० दामोदरलाल से बातचीत कर उन्हें देदी। यह प्रेस अभी प्रारंभिक दशा में ही है। प्रेस मालिक की भावना तो उत्तरदायित्वपूर्ण है पर साधनों की कमी है तथा टाइप जो प्रयोग में आया है उस की ढलाई में ही कुछ न्यूनतायें थी अतः पुस्तक जैसी उत्तम छपनी चाहिये थी वह अभिलाषा अधूरी ही रही। प्रूफ करेक्सन में भी कुछ असावधानी रही, अतः शुद्धि-पत्र भी लगाना पडा।

पुस्तक की प्रस्तावना सन्तसाहित्य के मर्मज्ञ व प्रेमी पं० परशुरामजी चतुर्वेदी एम. ए., एल.–एल. बी. से लिखने की प्रार्थना की गई और उन्होंने सहर्ष प्रार्थना स्वीकार करली। प्रस्तावना किस गंभीरता से लिखी गई है यह पाठकों को पढ़ने से प्रतीत होगा। पुस्तक में जो कमियां रही हैं वे मेरी हैं तथा इसमें कुछ उपादेयता है वे सहयोगियों के सहयोग का फल है अतः मैं उपर्युक्त सभी सज्जनों का परम आभारी हूँ। विशेषतः महात्मा परमानंदजी व पं० परशुरामजी तथा दानदाताओं का जिससे सन्तसाहित्य प्रेमी सज्जनों के समक्ष यह उपादेय भेंट उपस्थित की जा रही है। पुस्तक के उत्तर खंड में प्राप्त निरंजनी सन्तसाहित्य का अशांश दिया गया है जिससे जिज्ञासुजन चाहें तो उस पर विशेष ध्यान दे सकें।

निवेदक, मंगलदास स्वामी

श्री दादूमहाविद्यालय, जयपुर
सम्वत् २०१६ मार्गशीर्ष कृष्णा १२ शनिवार
२४ नवम्बर १९६२

महाराज हरिदासजी की वाणी की

विषय सूची

चान्द्रायण

साषी भाग

उत्तर खण्ड

उत्तरखंड समाप्त

विषय-सूची

★

भूमिका शुद्धिपत्र

पृष्ठ-संख्या	पंक्ति-संख्या	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
३	२२	की	०
३	२६	दिसे	दिस
१२	७	स	से
२०	१	मोरा	मोटा
२०	८	याज	पाज
२०	६	हृषित	हर्षित
२१	४	अधिकाश	अधिकांश
२४	२०	घरों	धरा
२४	२१	विंसवी तेवरस	विंश वीते वरस
४५	२३	गद	गर्द
४६	१४	निमित	निर्मित
५०	१३	उत्तराद्ध	उत्तरार्द्ध
५५	४	जे	ज
८५	२७	थ	थे।
८५	३०	गया	गया है
८६	१६	धरि	धरि
८६	२२	धण	धण
८६	२२	धरा	घटा
८६	२३	बूढे	बूठे
६१	२७	फिरया	फिरिया
६५	४	मुल्लव करे	मुल्ला बकरे
६७	८	सदा वसहु	सदा उर वसहु
१०५	२६	उदा	उदास
१०७	२३	सरक्षण	संरक्षण
११८	२५	आयेह	आये हैं

महाराज हरिदासजी की वांणी का

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
१६	६	तुम्हरौ	तुम्हारौ
४२	१	मूढि	मूठि
५६	१८	सत्य	सप्त
६०	३	सकला	सगला
७६	१०	घीरज	धीरज
७८	५	जडै	झडै
८१	५	कुवुधिकरि	कुबुधि करि
३२४	११	अवघू	अवधू
१२४	१५	अवघू	अवधू
१३६	११	षढि	पढि
१८५	१८	आघ ·	आध
१६०	४	परि	हरि
१६०	५	करिपे रे	करिये रे
१६३	४ टि०	लूघा	लूधा
१६७	४ टि०	तडपती	तडफती
२१४	१	अगहि	गहि
२१४	१	गम	अगम
२४१	८	षोलै	बोलै
२४१	२ टि०	ढद्द	द्दढ
२५६	१ टि०	टेतू	तूटे
२६०	५ टि०	मापकि	मायिक
३५६	५	जालि	जलि
३६७	१६	मिल्वा	मिल्या
३७१	६	जषै	जपै
३७२	११	आषौ	आपौ
३७३	८	षरम	परम
३८१	६	षरम	परम
३८२	२०	फोइ	कोइ

॥ इति ॥

॥ वाणी प्रकाशन का आय-व्यय विवरण ॥

सहायक दान दाताओं के नाम

१२७०) संत भोलादासजी कोलिया
११०१) संत वजरंगदासजी खाटू
११३०) संत भोलादासजी वजरंगदासजी के प्रयास से
२५१) सन्त आशारामजी खाटू
१०१) सन्त जानकीदासजी कोलिया
१०१) ठाकुर कानसिंहजी नीमी
१०१) सरजूबाई वडी खाटू
१०१) अयोध्या बाई जायल
१०१) भागीरथी बाई जायल
१००) पाराबाई नीमी
७५) सुजानगढ़ के तीन दाताओं से
५१) सन्त हेमदासजी पाली
५१) सन्त कल्याणदासजी नीमी
५१) रुकमा बाई जायल
२५) चुन्नी बाई सुजानगढ़
२१) सन्त पीतमदासजी लाडणू

११३०)

५०१) स्वामी मंगलदास जयपुर
४००) पुजारी माधोदासजी नवलगढ़
३०१) महन्त तुलसीदासजी जोधपुर
२५१) वैध्य प्रेमदासजी फलोधी
२५१) वैद्य गोपालदासजी विसाऊ
२५०) सन्त विष्णुदासजी केरू
२५०) सन्त सरजूदास जी डूंगरगढ़
२०१) महन्त उत्तमरामजी वडू
२००) महन्त बालमुकन्दजी डीडवाना
१५१) सन्त नृसिंहदासजी नागौर
१०१) सन्त घोटूदास जी झूंझणू
१०१) सन्त जानकीदासजी माधोदासजी वालोतरा
१०१) सन्त महादेवदासजी सुलताना
१०१) सन्त सीतारामजी वाटेडू
१०१ सन्त पोकरदासजी खींवसर
१००) महन्त लालदासजी वालोतरा

व्यय विवरण

२६२६-७५ मातृभूमि प्रेस को छपाई के
२२८७-५८ प्रभुलाल टकसाली को कागज के
८३५-७६ ब्लाक व चित्र छपाई के
८२७-४६ जिल्द बन्धाई व सामान
११-२४ प्रकीर्ण व्यय मजदूरी आदि
५०-०० पुस्तकों के भेजने आदि के खर्च के लिए

६६४०-७१ व्यय का योग
६२०-२६ वचत शेष

७५६१-०० पूर्ण योग

५१) सन्त सम्पतरामजी नागौर
५१) वैध पुरुषोत्तमदासजी नागौर
५१) सन्त ईसरदासजी नागौर
५१) सन्त भक्तिरामजी खेतोलाव
५१) सन्त ब्रह्मदासजी दुगोली
५१) सन्त हनुमानदासजी भगू
५१) सन्त लक्ष्मणदासजी कांटिया
५१) सन्त छोटूदासजी अडूका
५०) सन्त जानकीदासजी बीकानेर
५०) सन्त गोपालदासजी बीकानेर
५०) सन्त नारायणदासजी बीकानेर
५०) सन्त आत्मारामजी बीकानेर
२५) सन्त प्रयागदासजी नागौर
२५) सन्त मोहनदासजी नागौर
२१) सन्त दयारामजी पनलावा
२१) सन्त हीरादासजी खींवसर

७५६१)

उत्तरखण्ड विविध महात्माओं की रचना का

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
५	६	कल्यानकारी	कल्याणकारी
५	१६	सत्य	सप्त
१६	४	मुरति	सुरति
१८	६	मै	भै
२०	१२	लोपना	लोयना
४८	१८	दरीपा	दरिया
६०	३	दाह	दह
६१	१६	अभयग्रान्थागार	अभयग्रन्थागार
६७	१२	सुकल	सुफल
७३	२०	घापै	आपै
७४	१०	सारंगप्रान	सारंगपाणि
७६	२७	लिविडतमनिशायां	निविडतमनिशायां
८१	१	पुन्प	पुन्य
८१	१३	भमंत	मेमंत
९१	१	मेटिये	भेटिये
९४	८	अघाध	अगाध
१०१	७	रजाइण	रसाइण
१०२	२५	बहीयो	बहियो
१०६	२६	ससीषे	सरीषे
१०८	२५	बिष	बीष
१२०	२३	सषनौ	सपनौ
१२१	२	अनराग	अणराग
१२१	८	षरि	परि
१२२	६	षाइ	पाइ
१२३	२३	हॉथि	हाथि
१३२	१०	गुर्	गुरु
१३८	२३	षीयो	पीयो
१४४	१३	चरपर	चटपट
१४६	९	रामनन्दं	रामानन्द
१५२	१	किश्न	शिश्न
१५७	५	प्राप्त्य	प्राप्त

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
१५६	१५	व्यक्तिरेक	व्यतिरेक
१६७	६	परमत्वाग	परमत्याग
१६७	१६	सानिष्य	सान्निध्य
१६६	१६	षडी	घडी
१७१	६	ताहि	नाहि
१७३	२०	संतदासा	संतदसा
१८६	१७	धनूं	घर्णूं
१६०	२	भूठा	भूठ
१६०	४	अरू	अरु
१६०	१२	वीवज	बीजज
१६४	२१	भंड	भड़
२०३	४	सतरुगु	सतगुरु
२०५	२४	अमरपुरुजी	अमरपुरुषजी
२१२	१	द्वैंद्रन	द्वंदन
२१३	२२	नृवांणापद	नृवांणपद
२२३	१६	विचारैं	विचरैं
२२६	१७	कह	कट
२२७	२२	प्राण	प्रांणी
२३०	१६	रूपा	रुघा
२४६	१२	मिठाई	मिटाई
२५७	५	समाघि	समाधि
२६०	६	सिघ	सिध
२६०	२२	घना	धना
२६१	१६	भावपार	भवपार

॥ इति उत्तरखण्ड ॥

प्रस्तावना

उत्तरी भारत की संत-परम्परा के निर्माण में निरंजनी संप्रदाय का बहुत बड़ा हाथ रहा है। इसके अग्रणी संतों में से अनेक उच्चकोटि के महात्मा हो चुके हैं और इसका साहित्य भी यथेष्ट उन्नत एवं समृद्ध कहा जा सकता है। इसके अनुयायियों की संख्या कमसे कम राजस्थान प्रांत के अंतर्गत, कभी अल्प नहीं रही है और, इसमें संदेह नहीं कि, वे कई सौ वर्षों से वहां अपनी साधना में सदा निरत चले आये हैं। इसके सिवाय इस संप्रदाय की कतिपय अपनी ऐसी विशेषताएं भी रही है जिनके कारण इसे संत-परम्परा के तीन अन्य प्रमुख संप्रदायों (अर्थात् संत कबीर, नानक एवं दादूदयाल के नामों से प्रचलित पंथों) के समकक्ष स्थान देने की प्रवृत्ति देखी जाती हैं तथा जिनके आधार पर इसकी देन का समुचित मूल्यांकन भी किया जा सकता है। परंतु आश्चर्य है कि आज तक इस धार्मिक वर्ग का कोई इतिहास नहो लिखा गया और न इसके किसी प्रमाणिक परिचयमात्र के देने का भी कभी कोई प्रयास किया गया। जिन लोगों ने कभी विभिन्न धार्मिक पुरुषों के जीवन चरित लिखने का प्रयत्न किया उन्होंने भी इसके संतों की ओर पूरा ध्यान नहीं दिया और न, जिन्होंने हिन्दी-साहित्य के इतिहास लिखे हैं, उन्होंने ही कभी इसके साहित्य का उचित उल्लेख किया है। स्वयं निरंजनी लोगों तक को भी कदाचित् इस बात का कभी अनुभव नहीं हुआ कि वे इस कार्य की ओर प्रवृत्त हों, अपने पथ-प्रदर्शकों की तथ्यपूर्ण जीवनी लिखें, उनके विशिष्ट ग्रंथों को प्रकाशित करें तथा, अपनी मान्यताओं की विशद व्याख्या करते हुए, ऐसी पुस्तकों की रचना करें जिनसे न केवल इसका पर्याप्त परिचय मिल सके, प्रत्युत जिनके द्वारा अन्य लोग लाभान्वित भी हो सकें। फलतः आवश्यक सामग्री के अभाव में, अभी तक इसकी कभी पूरी जानकारी नहीं हो पायी है और जो कुछ इसके विषय में पता चल सका है वह इतना अधूरा भी रहा है कि जिसके कारण कभी कभी अनेक प्रकार की भ्रांतियों को प्रश्रय तक मिलता आया है।

जहां तक पता चलता है निरंजनी संप्रदाय के विषय में सर्वप्रथम चर्चा करने वाले दादू-पंथी राघोदास थे जिन्होंने सं० १७१७ वा सन् १६४० ई० में, अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'भक्तमाल' की रचना की थी। जिस पर, पीछे सं० १८५७ वा सन् १८०० में, चत्रदास ने अपनी टीका लिखी। राघोदास के अनुसार जिस प्रकार परमात्मा के 'सगुण रूप, नाम एवं ध्यान' की पद्धति मध्वाचार्य, विष्णु स्वामी, रामानुज एवं निम्वार्क ने चलाई और उन चारों 'महंतों' ने अपने-अपने चार संप्रदायों की स्थापना की, उसी प्रकार उसके 'अगुन अरूप एवं अकल' तत्त्व का प्रचार, इस जगत् के अंतर्गत, कबीर, नानक, दादू एवं जगन के द्वारा हुआ और

इन चारों 'महंतों' ने भी अपने-अपने चार पंथ प्रतिष्ठित किये।[1] उन्होंने इन चारों पंथों में से जगन वाले को, आगे, 'निरंजनी पंथ' के नाम से अभिहित किया है, उसके 'द्वादश' प्रमुख महंतों के नाम दिये हैं तथा उनके निवास स्थानों और उनकी कुछ विशेषताओं तक की ओर संकेत किया है।[2] उनका कहना है कि ये बारहों महंत कबीर के 'भाव' की 'रक्षा' अथवा उनके मत का समर्थन करते थे जिस कारण इन्हें उनसे अधिक भिन्न भी नहीं कहा जा सकता। परन्तु राघोदास द्वारा दिये गए निरंजनी संप्रदाय के इस परिचय से हमें पूरा संतोष नहीं होता। इससे न तो उक्त बारह निरंजनी महापुरुषों के जीवन-काल पर ही कोई प्रकाश पड़ता है, न उनके पारस्परिक सम्बन्धों का पता चलता है और न यही ज्ञात हो पाता है कि उनकी रचनाएं कौन-कौन थी अथवा अपने पंथ के संगठन और विकास के निमित्त उन्होंने कितना तथा किस रूप में कार्य किया। इसके सिवाय, मूल 'भक्तमाल' अथवा उसकी टीका के अन्तर्गत, जिस प्रकार स्थल निर्देश किया गया है उसके सहारे किसी भौगोलिक संगति का बिठाना सरल नहीं है और न यहां पर अन्य भी कोई ऐसी बात पायी जाती है जिस से किसी ऐतिहासिक तथ्य की छान बीन का प्रयत्न किया जाय। उपर्युक्त 'जगन' शब्द स्वभावतः किसी ऐसे व्यक्ति विशेष का नाम होना चारिए जिसे इस पंथ के प्रवर्तन का श्रेय दिया जा सके, किन्तु उपलब्ध सामग्री के आधार पर, हमारे लिए इस प्रकार का निश्चय करना भ। प्रायः असम्भव-सा ही प्रतीत होता है।

इसी प्रकार निरंजनी संप्रदाय के संबंध में लिखने वाले एक अन्य लेखक स्व० बडथ्वाल रहे हैं जिन्होंने, इसके उपलब्ध साहित्य का अध्ययन करके, उसके आधार पर इसके सिद्धांत एवं साधना के विषय में अपना मत प्रकट किया है। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल (सं० १९५८-२००१ वि०) संत-साहित्य के विशेषज्ञ थे और उन्होंने, इस विषय के हो आधार पर, अपनी 'दि निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोएट्री' नामक थीसिस तैयार कर, उसे, 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' में अर्पित किया और वहां से सं० १९९० (सन् १९३३ ई०) में डी० लिट् की उपाधि प्राप्त की थी। यह शोध-प्रबंध सन् १९३६ ई० में, अपने मूल अंग्रेजी रूप में. प्रकाशित हुआ[3] और उसकी 'प्रस्तावना' में डा० बडथ्वालने निरंजनी संप्रदाय के सबंध में अपने कुछ विचार प्रकट किये जिन का बहुत कुछ समर्थन उन्होंने आगे चलकर, अपने सन् १९४०ई० के एक हिन्दी भाषण द्वारा भी किया।[4] अपनी उक्त 'प्रस्तावना' के अंतर्गत उन्होंने बतलाया कि निर्गुण संप्रदाय (अर्थात् संत परम्परा) से निरंजनी संप्रदाय प्रायः उसी प्रकार भिन्न ठहराया जा सकता है

१. राघोदास की 'भक्तमाल', पद्य ३४१। २. वही पद्य ४२९-४४। ३. अब इसका एक हिन्दी अनुवाद भी 'हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय' के नाम से 'अवधपब्लिशिंग हाउस लखनऊ' से सं० २००७ में प्रकाशित हो चुका है? देव 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका (काशी), वर्ष ४५ संवत् १९९७, पृष्ठ ७१-८८।

जिस प्रकार सूफी संप्रदाय, क्योकि ये दोनों "अपने-अपने मूल धर्मों की ओर से शांतिपूर्वक संतुष्ट जान पड़ते हैं" तथा "ये (निरजनी लोग) परंपरागत सामाजिक अनुशासन के प्रति अपना विरोध प्रदर्शित करना नहीं चाहते जिस प्रकार की प्रवृत्ति सूफियों में भी देखी जा सकती है, किन्तु जिसके उदाहरण, 'निर्गुण संप्रदाय' वालों के समाज में, बहुत कम मिल सकते हैं। डा० बडथ्वाल ने निरजनो संप्रदाय को नांथ संप्रदाय का एक विकसित रूप" कहा है और इसे "एक प्रकार से नाथ सप्रदाय एवं निर्गुण संप्रदाय का मध्यवर्ती"[1] भी ठहराया है। उन्होंने अपने भाषण में, स्वामो हरिदास, तुरसीदास, कान्हड़दास, सेवादास और मनोहरदास जैसे निरंजनियों की रचनाओं के आधार पर, अपने उक्त मत का समर्थन करने की चेष्टा की है और उनसे कुछ उद्धरण भी प्रस्तुत किये हैं।[2] परन्तु डा० बडथ्वाल ने इस संप्रदाय के उदय, इसके प्रवर्तक अथवा इसके विभिन्न कवियों के निश्चित काल का निर्धारण करना, कदाचित्, अधिक आवश्यक नहीं समझा, प्रत्युत उन्होंने स्व० जगद्धर शर्मा गुलेरी तथा, स्व० पुरोहित हरिनारायण शर्मा जैसे लोगों के मतों का हवाला देकर ही, मौन धारण कर लिया।

स्व० पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने भी निरंजनी संप्रदाय का आरंभ होने आदि के संबंध में कोई निश्चित तिथि नहीं दी है। उन्होंने अपने संपादित ग्रन्थ 'सुन्दर-ग्रन्थावलो' (खंड १) में, संत सुन्दर दास जो (छोटे) का 'जीवन-चरित्र' लिखते समय, प्रसंगवश, उनके समकालीन महापुरुषों को चर्चा के सिलसिले में, हरिदासजी का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है, हरिदासजी निरंजनो भी सुन्दरदास जी के समकालीन थे। यद्यपि निरंजनी तो इस बात को नहीं मानते हैं, परन्तु दादू संप्रदाय में यह बात प्रसिद्ध है कि ये हरिदास जी प्रथम प्रागदासजी के शिष्य हुए, फिर दादूजी के। फिर कबीर और गोरखपंथ में हो गये। फिर अपना निराला पंथ चलादिया[3]। "यह स्पष्ट है कि स्व० शर्मा जीने यहां अपने कथन का आधार दादू संप्रदाय में उपलब्ध किसी प्रसिद्धि को ही बनाया है और उन्होंने यहां पर उक्त 'जीवन, चरित्र' में ही दी गई उस टिप्पणी का उल्लेखतक भी नहीं किया है जिसमें हरिदासजी के सं० १६५६ में प्रागदासजी का शिष्य होने और उनके सं० १६७० 'के मि० फागन सुदि ६' को 'रामसरणि' होने आदि की चर्चा की गई है।[4] हो सकता है कि उन्हें उक्त टिप्पणी में उल्लिखित सारी-बातों में, स्वय ही पूरी आस्था न रही हो और उन्होंने अपने उपर्युक्त कथन को अधिकतर अपने अनुमान पर ही आधारित कर दिया हो, इस संबंध में यहां पर केवल इतना उल्लेखनीय है कि हरिदासजी निरंजनी के दादू-शिष्य प्रागदासजी का शिष्य होने तथा उनका सं० १६७० की फागुन सुदी ६ को, देहांत होने जैसी बातों की चर्चा उक्त टिप्पणी वाले उन ऐसे पुराने 'पत्रों' में भी

१. 'प्रस्तावना' हिन्दी संस्करण पृ० घ, ङ. २. 'भाषण (पत्रिका, पृ० ७६-८८)। ३. 'सुन्दर गन्थावली' (प्रथम खण्ड) (कलकत्ता, सं० १९९३)पृ० ६२। ४.वही, पृ० २८।

पाई जाती है जिनके विषय में "जीर्ण कागदां की नकल उतारी है चत्रदास" जैसा लिखा है और जिस पर, इसी कारण, कुछ सावधानी के साथ विचार किया जाना चाहिए। 'निरंजनी पंथ' और उसके प्रवर्तक स्वा० हरिदासजी की चर्चा श्री मोतीलाल मेनारिया ने अपनी पुस्तक 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' में की है [1] और लगभग उन्हीं बातों को उन्होंने फिर अपनी एक अन्य पुस्तक 'राजस्थान का पिंगल-साहित्य' में भी दोहरा दिया हैं। इस दूसरी पुस्तक में उन्होंने स्वा० हरिदासजी का 'गोलोक वास' होना 'सं० १७००' में, किसी समय माना है।[2] इस प्रकार इनका मत स्व० शर्मा के मत से मिलता जुलता-सा है।

स्वा० हरिदासजी के शरीर त्यागने के सं० १७०० को ठीक स्वीकार करके 'श्री हरिपुरुषजीकी वांणी' के संपादक ने भी, उसका उल्लेख किया है।[3] परन्तु इधर कुछ दिनों से, कतिपय नवीन सामग्रियों के प्रकाश में, सारी बातों पर विचार करने वाले लेखक उसके तथ्य होने में संदेह प्रकट करते भी दीख पड़ते हैं। उदाहरण के लिए 'सूर-पूर्व व्रजभाषा और उसका साहित्य' के लेखक डा० शिवप्रसाद सिंह ने हमारा ध्यान इस बात की ओर दिलाया है कि 'हरिदासजी की परचई' के लेखक हरिरामजी ने (जिनका समय अठारहवीं शताब्दी का अंतिम चरण सिद्ध होता है) यह लिखा है कि स्वामी हरिदासजी ने सं० १५१२ में अवतार धारण किया था। सं० १५५६ में, बसंत पंचमी के दिन, उन्हें हरि ने, गोरख रूप धारण करके, ब्रह्मज्ञान की दीक्षा दी थी और, सं० १६०० के फागुन मास की सुदी षष्ठी को, डीडवाणे में उन्होंने परमधाम को प्राप्त किया था। इसी प्रकार नवलगढ़ में लिखित किसी पूर्णदास के उल्लेख से पता चलता है कि उन्होंने सं० १४७४ में जन्म लिया था और उनका देहान्त सं० १५९५ में हुआ था जिस बात का समर्थन 'मंत्र राज प्रभाकर' ग्रन्थ के १३वें उल्लास में किये गये एक उल्लेख द्वारा भी, हो जाता है। पूर्णदास तथा 'मंत्रराज प्रभाकर' के रचयिता का समय बीसवीं शताब्दी बतलाया जाता है, किंतु, इस प्रकार के कतिपय अन्य प्रसंगों के भी आधार पर, डा० सिंह का यह परिणाम निकालना कि "हरिदास निरंजनी विक्रमी सं० १६०० के पहले अवश्य विद्यमान थे", [4] इस संबंध में, हमारे लिए कम मूल्य का नहीं कहा जा सकता। इसके सिवाय, एक अन्य लेखक डा० हीरालाल माहेश्वरी ने तो, इस प्रकार की सामग्रियों के आधार पर, अपना यह मत भी प्रकट किया है "मंत्र-राज प्रकाश (संभवत: 'प्रभाकर') तथा सुन्दरदास आदि के कथन से किन्हीं ऐसे हरिदासजी के संप्रदाय-प्रवर्तक होने की पुष्टि होती है, जो निश्चय ही इन

---

१. मोतीलाल मेनारिया : 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' (सम्मेलन प्रयाग, सं० २००६ पृष्ठ २३६। २. मोतीलाल मेनारिया : 'राजस्थान का पिंगल साहित्य' (उदयपुर, १९५२ ई०) पृष्ठ २०८९। ३. श्री हरिपुरुषजी की वाणी, (जीवन चरित्र) जोधपुर, सं० १९८८ पृ० 'त'। '४ डा० शिवप्रसाद सिंह : सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य (वाराणसी, १९५८ ई.) पृ० १९७९।

हरिदास (हरीसिंह) से भिन्न हैं और इनसे पूर्व हुए हैं [1] और इसके समर्थन में उन्होंने झावर मल शर्मा के किसी लेख [2] का भी हवाला दिया है। यहां पर उक्त हरीसिंह (हरिदास) से लेखक का अभिप्राय स्पष्टतः उन हरिदासजी से ही है जिन्हें साधारणतः प्रवर्तक माना जाता आया है। इनके विषय में लेखक ने फिर कहा है, "ये हरिदास निरंजनी सम्प्रदाय के मूलप्रवर्त्तक नहीं थे। इन्होंने तो मूलप्रवर्त्तक के नाम से, पूर्व-परम्परा से आते हुए, निरंजनी संप्रदाय की श्री वृद्धि की।" [3] जिससे दो हरिदासों के होने की संभावना प्रकट की गई है।

डा० माहेश्वरी द्वारा, दो हरिदासों के विषय में, प्रकट किये गये मत के कारण इस प्रश्न का उठना भी स्वाभाविक है कि 'क्या यह निरंजनी संप्रदाय जिसके संबंध में हम विचार कर रहे हैं बहुत पुराना है?' और यदि नहीं तो, "क्या कोई दूसरा सम्प्रदाय ही तो इस नाम का नहीं था जिसके अनुकरण अथवा समानांतर में इसे किसी समय प्रवर्त्तित वा चालू किया गया।' [1] इसके सिवाय, हमारे लिए, इस सम्बंध में, इस बात पर भी विचार करना पड़ सकता है कि ऐसे किसी सम्प्रदाय के प्रचलित हो पड़ने की पृष्ठभूमि क्या हो सकती है? किस रूप में इसके उदय होने की सम्भावना हो सकती है? तथा उस दृष्टि से इसका, संतमत के साथ, कोई लगाव भी हो सकता है वा नहीं? इसके लिए यदि हम चाहें तो, स्वयं 'निरंजन' शब्द के पुराने प्रयोगों पर भी विचार कर सकते हैं, उसके अर्थ की व्यापकता तथा क्रमिक विकास की ओर ध्यान दे सकते हैं और फिर, अंत में, इस बात का पता लगाने का भी प्रयत्न कर सकते हैं कि, जिस समय के लिए हम स्वा० हरिदास के अविर्भाव का होना निश्चित करना चाहते हैं उस समय की, वस्तु स्थिति क्या हो सकती है।

'निरंजन' शब्द का एक प्राचीन प्रयोग 'मुण्डकोपनिषद्' में किया गया मिलता है जहां पर कहा गया है :—

"यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं, कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय, निरंजनः परमं साम्यमुपैति॥"

अर्थात्, जब साधक ज्योतिर्मय कर्त्ता, ब्रह्मयोनि ईश्वर का देखता है तब वह विवेकी पुण्य एवं पाप को दूर करके, निर्मल बन कर, परम साम्य पालेता है। अतएव, 'निरंजन' शब्द यहां पर उस साधक के लिए प्रयुक्त जान पड़ता है जो बंधन का हेतु बनने वाले पाप एवं पुण्यमय कर्मों का त्याग कर देता है। इसी प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद् के अंतर्गत एक स्थल पर कहागया है :—

---

१. डा० हीरालाल माहेश्वरी: 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' (कलकत्ता १९६०) पृ० २९२। २. 'मरुभारती', वर्ष ४ अङ्क १, अप्रेल, १९५६। ३. राजस्थानी भाषा और (साहित्य) पृ० २९२। ४. 'मुण्डकोपनिषद्' (३,१,३)

निष्कलं निष्क्रियं शांतं, निरवद्यं निरंजनम् ।
अमृतस्य परं सेतुं, दग्धेन्धनमिवानलम् ॥"[१]

अर्थात् (मैं उसकी शरण लेना चाहता हूं जो) किसी अवयव से रहित अथवा अखंड है निष्क्रिय वा कूटस्थ है, शांत है, अनिन्द्य है तथा निर्लेप है, जो मोक्ष प्राप्ति के लिए परम सेतु है और जो देदीप्यमान अग्नि के समान है। इस कारण 'निरंजन' शब्द का प्रयोग यहां पर उस परमदेव का विशेषण बनाकर किया गया पाया जाता है जिसे साधारणतः परमात्मा भी कहा जाता है। यदि हम बौद्ध सिद्धों की अपभ्रंश रचनाएं देखते हैं तो वहां पर हमें "सुण णिरञ्जण मकरु विचार"[२] अर्थात् 'शून्यतो निरंजन है, उसका विचार न करो' में 'निरंजन' शब्द का प्रयोग शून्य की व्याख्या करने वाले के रूप में सिद्ध तेलोपा (संभवतः ९६० ईस्वी शताब्दी) द्वारा किया गया मिलता है और फिर, इसी प्रकार,

"लोऊह गव्व समुव्वहइ, हउँ परमत्थे पवीण ।
कोड़िह मज्झे एकु जई, होइ णिरञ्जणलीण ॥[३]

अर्थात् 'लोग इस बात का गर्व करते हैं कि हम परमार्थ के रहस्य से परिचित हैं, किन्तु, सच तो यह है कि, करोड़ों में से कहीं कोई एकमात्र ही निरंजन (सहज काय) की दशा उपलब्ध कर पाता हैं (संभवतः ८४० ई० वाले सिद्ध कण्हपा का दोहा देखते हैं तो, वहां पर इसे किसी स्थिति विशेषवत् प्रयुक्त पाते हैं। अतएव, कह सकते हैं कि यहां पर भी, हमें उक्त दोनों प्रकार के प्रयोग देखने को मिलते हैं।

इसी प्रकार हमें जैन मुनियों की रचनाओं में भी 'निरंजन' शब्द के लगभग ऐसे ही प्रयोग किये गये मिलते हैं। उदाहरण के लिए मुनि रामसिंह (संभवतः १००० ईस्वी शताब्दी) ने अपने 'पाहुड़ दोहा' में एक स्थान पर कहा हैं :—

"देह महेली एक वढ़ तउ सत्तावइ ताम ।
चितु णिरंजणु हरिणसिहु, समरस होइ ण जाम" ॥[४]

अर्थात् 'हे मूढ़, यह देहरूपी महिला तुझे तभीतक सताती है जबतक निरंजन (निर्मल) मन परमात्मा के साथ समरस नहीं हो जाता' जहां पर इसे चित्त का विशेषण बना दिया गया दीख पड़ता है ! परन्तु अन्यत्र जहां पर उन्होंने,

"कम्मु पुराइउ सो खवइ, अहिणव बेसुण देइ ।
परमणिरंजणु जो णवइ, सो परम प्पउ होइ ॥" [५]

---

१. 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' (६-१९) । २. 'तेलोपा दोहाकोश' (दो० १४) ३. 'कण्हपा दोहाकोश' (दो० १) । ४. 'पाहुडदोहा' (कारंजा सं० १९९०) दो० ६४, पृ० २० । ५. वही, दो० ७७ पृ० २४ ।

अर्थात् जो पुराने कर्म को खपा देता है और नये का प्रवेश नहीं होने देता तथा जो परमनिरंजन (देव) को नमस्कार करता है वह स्वयं परमात्मरूप हो जाता है, कहा है वहां पर इसे स्वयं उस 'देव' के लिए प्रयुक्त किया है। योगी इन्दु (संभवतः १००० ईस्वी शताब्दी) नामक एक अन्य जैन मुनि ने भी कहा हैः—

जे जाया झाणग्गिए कम्म कलंक डहेवि ।
णिच्च णिरंजण णाणमय ते परमप्प णवेवि ॥"[1]

अर्थात् जिन लोगोंने ध्यानाग्नि द्वारा कर्म कलंक को दग्ध करके नित्य निरंजन और ज्ञानमय की दशा प्राप्त करली है उन (सिद्धों) को नमस्कार है। जहां पर इसका प्रयोग, सिद्धत्व की दशा के लिए, हुआ है। परन्तु उन्होंने ही जहां पर इसे

"परमणिरंजणि मणु धरिवि, मुक्खु कि झायहिं सव्व ॥"[2]

अर्थात् सभी लोग परमनिरंजन में मन को स्थित करके मोक्ष का ध्यान किया करते है में प्रयुक्त किया है वहां पर यह देव का वाक है।

योग संबंधी नाथपंथी ग्रन्थों एवं नाथ कवियों की उपलब्ध रचनाओं के अंतर्गत भी, हमें लगभग इसी प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। 'शिवसंहिता' नामक ग्रन्थ में एक स्थल पर कहा गया है—

"निखिलोपधिहीनो वै यदा भवति पूरुषः ।
तदा विवच्यतेऽखण्डज्ञानरूपी निरंजनः ॥"[3]

अर्थात् जब साधक सभी उपाधियों से रहित हो जाता है उस समय वह अपने को ज्ञान रूपी अखंड निरंजन कह सकता है। परन्तु उसी में अन्यत्र इस प्रकार भी कहा गया मिलता है—

"यावन्नोत्पद्यते ज्ञानं साक्षात्कारे निरंजने ।
तावत्सर्वाणि भूतानि दृश्यंते विविधानि च" ॥[4]

अर्थात् जब तक हमारा ज्ञान निरंजन (परमात्मा) के साक्षात्कार को उपलब्ध नहीं कर लेता तबतक विविध जीवों में भेद-दृष्टि रहा करती है। जिससे जान पड़ता है कि प्रथम श्लोक में जहां इसे साधक की स्थिति की विशेषता के रूप में कहा गया है वहां दूसरे में यह स्वयं परमात्मा रूप है। इसी प्रकार, गुरु गोरखनाथ (संभवतः ११ वीं ईस्वी शताब्दी) के नाम से उपलब्ध रचनाओं में से 'गोरष गणेस गुष्टि' के अंतर्गत जहां उनकी ओर से, अपने लिए, "अम्हें निरंजन जोगी,

---

१. 'प्रमातम प्रकाश' (बम्बई, १९३७ ई०) दो० १ पृ० ५। २. वहीं, (अ०२) दो०८ पृ० १३४। ३. 'शिवसंहिता' (बम्बई) अ० १ श्लो० ९८। ४. वही,अ० २ श्लो०४८।

अतीत गुरु चेला"[1] कहागया मिलता है वहां उन्हीं के नाम से प्रकाशित वानियों में से एक 'सवदी' की पंक्ति "सोई निरंजन डाल न मूल, सर्व व्यापीक सुषम न अस्थूल"[2] रूप में भी पायी जाती है और 'निरंजन' शब्द के इस प्रकार के अर्थ सूचित करने वाले अन्य अनेक स्थल भी मिलते हैं जिनमें से कुछ में "आऊं नहीं जाऊं निरजननाथ की दुहाई"[3] के जैसे भाव तक प्रकट किये गये दीख पड़ते हैं। नाथपंथी चौरंगीनाथ ने भी अपनी एक सबदी में "सेइवा निरंजन निराकारं"[4] और पृथ्वीनाथ ने (जिन्हें कबीर का परवर्ती माना जाता है) तो, निरंजन के नाम पर, एक श्री निरंजन निरवांण ग्रन्थ[5] नामकी पृथक् रचना ही प्रस्तुत की है जो कदाचित, उनके किसी 'प्रिथीनाथ छत्रवार मत महापुराण' नामक ग्रन्थ का एक अंश है और जिसमें नाथपंथ की साधना एवं सिद्धांत की अनेक बातों का समावेश किया गया है।

ऐसा लगता है कि, नाथपंथियों का प्रचार अधिक बढ़ जाने की दशामें, 'निरंजन' शब्द को विशेष लोकप्रियता मिल गई और इसका प्रयोग ऐसे लोगों द्वारा भी किया जाने लगा जिनकी साधना उनकी जैसी ज्ञानपरक वा योगपरक नहीं कही जा सकती थी, प्रत्युत जो भक्ति-साधना को महत्व देते थे तथा जिनमें से कुछ लोग कभी-कभी सगुणोपासना तक को अपना लिया करते थे। हम देखते हैं कि उनदिनों महाराष्ट्र के नामदेव जैसे 'वारकटी' संत अपने अपने हिन्दी पदों में "सेवोले गोपाल राइ अकुल निरंजन"[6] जैसा कहने लगते हैं और स्वामी रामानन्द जैसे 'रामावत वैष्णव' अपनी 'रामरक्षा' के अंतर्गत "पिंडप्राण की रक्षा श्रीनाथ निरंजन करे"[7] जैसा भी कह डालते हैं। इसके सिवाय यहां पर यह भी उल्लेखनीय जान पड़ता है कि उस समय से इस शब्द का प्रयोग केवल परत्मामा के लिए, अथवा विशेषकर उसके ही प्रसंग में, किया जाने लगता है और अब किसी साधक की मनः स्थिति अथवा दशा आदि के लिए, यह उतना प्रयुक्त नहीं होता। उदाहरण के लिए संत कवीर साहब इसका जितना प्रयोग 'अकल निरंजन', 'आदि निरंजन', अलख निरंजन', निरंजनराइ' अथवा 'राम-निर्रंजन' जैसे रूपों में करते हैं और इसे 'ब्रह्म', 'सति' एवं 'नाम' का पर्याय समझते जान पड़ते है उतना अन्य किसी भी प्रकार से नहीं करते। गुरु नानकदेव इस सम्बन्ध में, 'आदि निरंजन', 'नामनिरंजन', 'सतिनिरंजन', 'सबद निरंजन', 'नाथनिरंजन', 'ततुनिरंजन' और 'अकुलनिरंजन' जैसे प्रयोग करते दीख पड़ते हैं

---

१. 'गोरख वानी' (सम्मेलन, प्रयाग), पृ० २२२। २. वहीं पृ० ३९। ३. वहीं, पृ० ११६। ४. 'नाथसिद्धों की वनियां' (काशीनागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी) पृ० ४८। ५. वही, पृ० ८५-६। ६. हिन्दी को मराठी सन्तों की देन (ले० आचार्य विनयमोहन वर्मा 'विराट् राष्ट्रभाषा परिषद् सन् १९५७ ई० पटना) पृ० २६२। ७. 'रामानंद को हिन्दी रचनाएं (सं० स्व० डा० वडथ्वाल, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० २०१२) पृ० ३।

और स्वा० हरिदासजी को भी हम अधिकतर 'नाथनिरंजन', 'अलखनिरंजन', 'निरंजनदेव', 'निरंजनराम' 'निरंजनराई', 'नांव निरंजन' और 'निरंजन निराकार' जैसीं शब्दावली को ही काम में लाते हुए पाते है। "दसवैं द्वरि निरंजन जोगी, हम गुरगम तैं पाया" में जहां पर इन्होंने 'निरंजनजोगी' का प्रयोग किया है वहाँ पर भी हमें किसी अन्य प्रकार का अनुमान करने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। यह अवश्य है कि स्वा० दादूदयाल की रचनाओं के अन्तर्गत हमें 'निरंजन थान', 'निरंजन वास', 'निरंजन हाट', 'निकटि निरंजन' अथवा "अंजन छाडे रहे निरंजन' और 'निरंजन जोगी जाणि ले चेला' जैसे प्रयोग भी मिलते हैं किन्तु इससे हमारे कथन में उतना अंतर आता नहीं प्रतीत होता। संत दादूजी की 'बानी' में हमें 'दादू नमो नमो निरंजनं नमस्कार गुरुदेवतः' जैसा 'मंगलाचरण' तथा उपर्युक्त विविध प्रयोगों के उदाहरण भी प्रचुरता से मिलते हैं और इसके सिवाय ये स्वयं हमारे विवेच्यकाल से कुछ परवर्ती मे भी लगते जान पड़ते हैं।

जिस समय की हम चर्चा कर रहे हैं उस समय तक अभी नाथ-पंथ का प्रभाव बहुत अधिक था और, यदि उसमें कुछ ह्रास के आने के लक्षण पाये जाते थे तो, वह भी केवल इसी रूप में कि उनकी योगसाधना एवं वेदांतपरक सिद्धांतों में से प्रथम को ही पहले जैसा प्रश्रय मिलना कम होने लगा था द्वितीय के अपनाये जाने में कहीं किसी प्रकार की भी कमी नहीं दीख पड़ती थी। योग साधना का व्यावहारिक रूप जैसे हमारी आंखों से क्रमशः ओझल पड़ता जा रहा था और उसकी शब्दावली का प्रयोग भी, अधिकतर परम्परागतमात्र–सा, लगने लगा था, जहां बेदांत-परक सिद्धांतों की लोकप्रियता यहां तक बढ़ती जारही थी कि उन्हें भक्ति साधना को महत्व देने वाले भक्तों एवं प्रेम साधना को अपनाने 'वाले सूफियों तक की रचनाओं में, निजी मान्यताओं के रूप में, स्थान मिलता जारहा था। उस काल के नामदेव, कबीर और नानक जैसे संतों अथवा जायसो और मंझन जैसे सूफियों को, उनके योग साधना-विषयक विविध वर्णनों के होते हुए भी, किसी प्रकार सहसा 'योगी' कह देने की प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु उन्हें 'निर्गुणी विचारक' मान लेना हमें स्वाभाविक सा लगता है। योग साधना उन दिनों क्रमशः जैसे पुरानी सी पड़ती जारही थी और उसका स्थान भक्तिसाधना लेती जारही थी, किन्तु, जहां तक सैद्धांतिक विचारधारा का प्रश्न है, इसके औपनिषदिक रूप में स्वीकृत किये जाने में उस समय किसी प्रकार की कमी लक्षित नही होती। इस बात के उदाहरण हमें उत्कल प्रदेश तक में भी मिलते हैं जहां पर उन दिनों 'पचसखा' नामक प्रसिद्ध वैष्णव भक्त अपनी रचनाओं में प्रकट थे और, जहांपर बौद्ध धर्म का कुछ न कुछ अवशिष्ट अंश रह जाने के कारण, वे उसकी विशिष्ट शब्दावली तक का प्रयोग करने में कोई हिचक नहीं मानते थे तथा इसके आधार पर उन्हें कभी कभी बौद्ध मत-प्रभावित भी मान लिया जाता है। बलरामदास (ज० सं० १५२६)

× प्रस्तुत पुस्तक (जोगसमाधि ग्रंथ) पृ० ५३।

जगन्नाथदास (ज० सं० १५४७) तथा यशोवंतदास (ज० सं० १५४६) और अनंतदास (ज० सं० १५५०) की कविताओं में हमें इस प्रवृत्ति के उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं और हम इन्हें, अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की, अरूप, अलेख, अदेही, निराकार, व निरंजन के अतिरिक्त, 'शून्य' शब्द के द्वारा भी अभिहित करना उचित समझते हुए, पाते हैं जिस कारण इनका साहित्य आज तक भक्तिधारा की 'ज्ञानमिश्रां वा योगमिश्राम्' उपधारा को उदाहृत करने वाला कहा जाता है[1] और वह उसी प्रकार किंचित् विशिष्ट माना जाता है जिस प्रकार हिंदी का निर्गुण भक्ति वाला 'ज्ञानाश्रयी' साहित्य।

ऐसे ही समय हम, राजस्थान प्रांत में, जंभनाथ वा जंभोजी (ज० सं० १५०८) तथा जसनाथ जी (ज० सं० १५२६) जैसे कुछ महापुरुषों को भी अपने यहां उपदेश देते और अपने मतोंका प्रचार करते हुए पाते हैं। ये लोग अपने को सीधे गुरु गोरखनाथ द्वारा अनुप्राणित बतलाते हैं, योगसाधना को विशेष महत्व प्रदान करते हैं तथा उन सिद्धांतों को भी स्वीकार करते जान पड़ते हैं जिन्हें वेदांतपरक कहा गया है। इनकी तथा संत कबीर जैसे संतों की विचारधाराओं में हमें कोई वैसा उल्लेखनीय या मौलिक अन्तर लक्षित नहीं होता है। उपलब्ध रचनाओं में अन्तर्निहित बातों का कुछ तुलनात्मक अध्ययन करने पर हमें केवल ऐसा लगता है जैसे संतों ने जहां अपने समय की नवीन भक्तिमयी प्रवृति को हृदय खोलकर अपनाया है और उसके अनुसार वे अपने निर्गुणी सिद्धांतों को किंचित् भिन्न रूप देने तक प्रतीत होते हैं वहा जभोजी एव जसनाथजी अपनी नाथ-पथी मान्यताओं द्वारा इतने अधिक अभिभूत हैं कि उन पर कोई नया आन्दोलन विशेष प्रभाव नहीं डाल पाता। ये अधिकतर उन योग-साधकों जैसे ही सोचते हैं, उन जैसे ही कार्य करते हैं और उनके ही जैसा जीवन भी पसन्द करते हैं। ये उन्हीं की भांति एकांतप्रिय हैं, निवृत्ति-मार्गी हैं तथा, कदाचित्, साधनानिरत भी रहा करते हैं। ये बहुत कुछ उन्हीं के आदर्श को सर्वाधिक महत्व भी देते हैं। जैसा जसनाथ जी ने एक स्थल पर कहा है, "पैला आसन दिढ़क रहैला से पूरा परवाणी" अर्थात् पूरा प्रमाणित तपस्वी तो वही है जो पहिले अपने आसन पर दृढ़ रहेगा अथवा जिसे घूम-घूम कर उपदेश देते फिरने की वैसी आवश्यकता का अनुभव न होगा। इनका यह भी कहना था कि 'मनकर लेखण तनकर पोथी, हरगुण लिखो[2] पिराणी' अर्थात् हे प्राणी, तुम मन रूपी लेखनी से शरीर रूपी पुस्तक पर भगवान् के गुण लिखो क्योंकि, वास्तव में, उसी एकमात्र के प्रति अनन्यभाव को बनाये रखना हमारे लिए परमावश्यक है। उस परमात्मा को संबोधित करते हुए जंभनाथ जी भी एक स्थल पर कहते हैं। 'इस अपार संसार में, किस विधि उतरूं पार। अनन्य भगत में आपका, निश्चल लेहु उबार।[3]' अतएव, इन दोनों की रचनाओं

१ राष्ट्रभाषा रजत जयन्ती ग्रन्थ (उत्कल प्रांतीय राष्ट्रभाषा प्रचार सभा कटक) पृ. १३८। २.सिद्ध चरित्र (रतनगढ़, सं० २०१३). पृष्ठ १३३ ३. संतमाल (महर्षि शिवव्रत लाल कृत, इलाहाबाद) पृष्ठ १५७।

के अन्तर्गत हमें भक्ति भावना के उदाहरण तो मिल जाते हैं, किन्तु वैसी भक्ति साधना भी नहीं पायी जाती जैसी संतवानियों में उपलब्ध है। ये लोग अपने समय में प्रवाहित भक्तिधारा की ओर उन्मुख अवश्य जान पड़ते हैं, किन्तु ये इसके साथ ही उसके प्रवाह में पड़ने की ओर प्रवृत भी नहीं प्रत त होते जिसके आधार पर यह परिणाम निकाल लेना भी कदाचित्, अनुचित न कहा जाय कि, यद्यपि उन दिनों की सैद्धांतिक दृष्टि लगभग एक ही जैसी क्यों न लगती रही हो, जहां तक साधना-विशेष के अपनाने का प्रश्न है, सभी साधक केवल एक ही मार्ग का अवलंबन पसन्द नहीं करते थे। जिन लोगों के ऊपर अभी तक नाथ-पन्थ का प्रभाव अधिक रह गया था वे उसकी परम्परागत साधना को ही महत्व देते थे और उनकी ओर से भक्ति साधना को अभी तक गौण स्थान दिया जाता था, किन्तु अन्य लोग क्रमशः प्रथम का न्यूनाधिक परित्याग भी करते जा रहे थे। फलतः, हम इसी बात को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि, उन दिनों के इन महापुरुषों में हमें जो कुछ अन्तर दीख पड़ता है उसे हम उक्त मात्रा भेद का ही परिणाम कह सकते हैं, इसके लिए हमें उनकी मौलिक विचारधारा के उदय तक भी पहुंचने की वैसी आवश्यकता नहीं। यहां पर केवल इतना और भी उल्लेखनीय है कि इस प्रकार की दशा, सम्भवतः सम्वत् १६०० के लगभग तक, अथवा इसके कुछ ही आगे तक, बनी रह पायी और उसके अनन्तर भक्ति साधना में लोकप्रियता के फलस्वरूप आई हुई समन्वयात्मक वृत्ति और सांप्रदायिकता का प्रचार एक साथ आगे बढ़ा तथा जिस मानसिक संतुलन को सब किसी ने तब तक एकसा बनाये रखने की चेष्टा की थी उसमें अस्थिरता आने लगी। उस समय प्रचलित सगुणवादी भक्ति-साधना द्वारा इस प्रवृति को विशेष बल मिला। फलतः जिस मनः स्थिति वा मनोदशा को पहले हम किसी मनोवैज्ञानिक तथ्यमात्र के ही रूप में प्रकट कर दिया करते थे उसकी ओर अब किसी भौतिक स्थानविशेष जैसा भी निर्देश किया जाने लगा। उदाहरण के लिए जब 'निरंजन' शब्द स्पष्टतः पुरुष वाचक बन गया तो उसे केवल ब्रह्मवत् अनुभव करने की मानसिक दशा का भी सूचक समझना स्वभावतः उसी प्रकार उपयुक्त नहीं रह गया जिस प्रकार उपनिषदों के समय में मान लिया जाता था। अब, नवीन परिस्थिति के अनुसार, उस निरंजन पुरुष के किसी 'वास', 'थान', वा 'हाट' तक की भी कल्पना की जाने लगी, तथा उसके निकट लगे रहने की अभिलाषा प्रदर्शित की जाने लगी जैसा हम, अभी इसके पूर्व, स्वा० दादूदयाल की रचनाओं से, निरंजनसंबंधी प्रयोगों के कतिपय उद्धरण देने के प्रसंग में भी, देख आये हैं।

इस प्रकार, यदि उक्त निष्कर्ष किसी प्रकार साधार एवं स्वीकार-योग्य ठहराया जा सके उस दशा में, हमारे लिए यह अनुमान करना भी अस्वाभाविक नहीं कि स्वा० हरिदास का आविर्भाव, संभवतः, स्वा० दादूदयाल के पहले हुआ होगा तथा यदि, वास्तव में, उन्हें ही निरंजनी संप्रदाय का प्रवर्तक भी सिद्ध किया जा सके तो उसे दादू-पंथ से प्राचीनतर भी मान लिया जा सकता है। तदनुसार

उनके जीवन काल के सं०१७०० अथवा उसके और आगे तक जाने की भी उतनी संभावना नहीं रह जायगी जितनी उसके सं० १६०० तक ही पहुँच पाने के लिए हो सकती है और फलतः यह असंभव नहीं कि उनका जन्म सं०१५१२ में हुआ हो तथा उनके देहांत का समय सं० १६००[1] वा १५६५ रहा हो। इसे स्वीकार करने में हमें कुछ कठिनाइयों का सामना अवश्य करना पड़ सकता है जिस कारण उन पर विचार कर लेना भी उचित होगा। सबसे बड़ा प्रश्न हमारे सामने यह आ सकता है कि यदि, वास्तव में, उनका देहांत सं० १६०० तक हो गया था उस दशा में, इस बात का समाधान क्या होगा कि, स्वयं उनकी ही एक साखी के अंतर्गत, सम्राट अकबर के मर चुकने की जैसी चर्चा आती है, जब कि उसका देहांत सं० १६६२ में हुआ था। जैसे,

"छ चकवै मुचकन्द कहां, कहां विक्रम कहां भोज ॥
सावंत हथी चौहाण कहां, कहां अकबर नौरोज ॥१८॥"[2]

अर्थात् (कालने सब किसी को ग्रस लिया), अब न तो प्रसिद्ध छःचक्रवर्ती राजा (वेनु, वलि, कंस, दुर्योधन, पृथु और विक्रम) रह गये, न मुचकुंद व विक्रम और भोज रहे और न चौहान वंशी सामंत पृथ्वीराज अथवा नौरोज के लिए प्रसिद्ध अकबर ही बच सके। ❀ यहां पर यदि साखी का पाठ सर्वथा शुद्ध और प्रामाणिक हो और यह प्रक्षिप्त भी सिद्ध न की जासके उस दशा में, यदि इसके रचयिता का अभिप्राय यहां पर सम्राट् अकबर से ही हो तो, उसे इसका पूर्ववर्ती ठहराया जा सकता है, इसमें संदेह नहीं। परन्तु, जहां तक पता है, सम्राट् अकबर के नामके साथ अन्यत्र कहीं 'नौरोज' का विशेषण देखने में नहीं आता और न, इस शब्द के केवल किसी महान् धार्मिक उत्सव का वाचक होने मात्र के ही कारण, इसके विशिष्ट प्रयोग की यहां पर कोई उपयुक्तता ही प्रतीत होती है। अतएव, हो

---

१. प्रस्तुत पुस्तक, 'भूमिका'-भाग, पृष्ठ ५६।

२. प्रस्तुत पुस्तक (भरम विधूंस जोग ग्रंथ सा० १८), पृष्ठ ८२।

❀ यहां पर 'छ चकवै' के अंतर्गत यदि विक्रम का नाम लिया जाता हो तो, साखी में फिर आये हुए 'विक्रम' शब्द के कारण, द्विरुक्ति का दोष पाया जा सकता है। प्रसिद्ध चक्रवर्तियों की संख्या जहां ७ की बतलायी जाती है वहां इस प्रकार कहा गया है—"भरतार्जुन मान्धातृ, भगीरथ युधिष्ठिराः। सगरो नहुषश्चैव सप्तते चक्रवर्तिनः" जिस में उक्त 'छ चकवै' में से किसी काभी नाम नहीं है। वैसी दशा में 'नौरोज' शब्द का प्रयोग संभवतः उसी प्रकार हुआ होगा जिस प्रकार 'दादा भाई नौरोजी' में दीख पड़ता है और 'नौरोज' यदि स्वयं व्यक्ति वाचक संज्ञा हो उस दशा में 'अकबर' शब्द का ही अर्थ 'महान्' वा 'बड़ा' किया जा सकता है।—ले०।

सकता है कि 'अकबर नौरोज' यहां किसी अन्य व्यक्ति का सूत्र कहो। 'नौरोज' 'पारसी धर्म का एक महान् पर्व है जिससे यह शब्द किसी प्राचीन ईरानी सम्राट् की ओर भी संकेत कर सकता है जिसका नाम आजकल प्रसिद्ध नहीं है।

इसी प्रकार एक दूसरा प्रश्न उठाया जा सकता है कि दादू-पंथी लोगों के यहां ऐसा माना जाता है कि हरिदासजी स्वा० दादू दयाल के शिष्य प्रागदास के शिष्य थे और इसके लिए कतिपय पुराने 'पत्रों' का प्रमाण भी दिया जाता है जिसकी चर्चा हम इसके पूर्व कर आये हैं। उन 'पत्रों' में हरिदासजी के नाम के आगे 'निरंजनी' शब्द लगाया गया है और उनके प्रागदास का शिष्यत्व स्वीकार करने का सं० १६५६ भी दिया गया है। इसके सिवाय वहां पर इस बात को भी स्पष्ट शब्दों में कहा गया मिलता है कि "हरिदासजी निरंजनी सं० १६७० के मि० फागण सुदी ६ रामसरणि हुआ"। मूलपत्रों का राघोदास की 'भक्तमाल' के टीकाकार चत्रदास द्वारा लिखा गया होना उनकी प्रामाणिकता की पुष्टि करता है। अतएव, उन पत्रों को पूरा महत्व दिया जा सकता है और, उनके अनुसार किसी हरिदास निरंजनी का देहांत सं० १६७० में मान लेने पर, उपर्युक्त स्वा० हरिदास का इन से भिन्न समझना तथा इस प्रकार दो हरिदासों का होना और एक का दूसरे से ७० वर्ष आगे तक जीवित रहना यह सभी स्वाभाविक हो जाता है। परन्तु, यदि दो हरिदास रहे हों तो किसी ने आज तक इस बात का उल्लेख क्यों नहीं किया ? 'चत्रदास' यदि वास्तव में वे ही हैं जिन्होंने 'भक्तमाल' की टीका लिखी थी तो उन्हें हम 'हरिदास निरंजनी के विषय में कोई ऐसी भूल कर बैठने का दोष भी सहसा नहीं दे सकते। उन चत्रदास को इस बात का पूरा पता रहा होगा कि हरिदासजी "नृमल नृवांणी निराकार को उपासवान" थे तथा वे "नृगुणी उपासिकै" निरंजनी कहे गये थे।[1] यदि इनके संबंध में पहले प्रागदास का शिष्य होना, फिर स्वयं दादू जी से दीक्षा ग्रहण करना तथा, अन्त में, क्रमशः कबीर-पंथ एवं गोरख-पंथ का अनुयायी होना भी प्रसिद्ध था तो इस बात का भी ओर वहां पर कुछ संकेत क्यों नहीं किया गया ? और यदि ऐसे दो 'हरिदास' निरंजनी' हुए और उनके आविर्भाव-कालों के बीच केवल कुछ ही दिनों का अन्तर था तो इस बात की ओर भी उनका ध्यान क्यों नहीं गया ? अतएव' जबतक उक्त मूल 'पत्रों' का भली भांति निरीक्षण नहीं किया जाता तथा इस बात का भी अंतिम निश्चय नहीं कर लिया जाता कि वास्तव में, उनके लेखक वे ही चत्रदास थे जिन्होंने 'भक्तमाल' की टीका लिखी थी तब तक उनके आधार पर इस बात को भी स्वीकार कर लेना कि संभवतः दो हरिदास निरंजनी रहे होंगे हमें उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि ऐसे निष्कर्ष किसी भ्रांति के कारण भी बन जा सकते हैं।

परन्तु, यदि हम स्वामी हरिदासजी का आविर्भाव-काल सं० १६०० तक स्वीकार करलें तथा यह भी मानलें कि जिस 'हरिदास निरंजनी' की चर्चा उपर्युक्त

1. राघोदास की 'भक्तमाल' मनहर छंद सं० ४३६।

पत्रों में की गई कही जाती है वे, वास्तव में, कोई और व्यक्ति रहे होंगे और उन्हें, किसी भ्रांतिवश, इनका स्थान दिलाने की चेष्टा की जाती होगी उस दशा में भी, यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या ये ही निरंजनी सम्प्रदाय के प्रवर्तक भी रहे होंगे? राघोदास ने, अपने प्रसिद्ध 'भक्तमाल' नामक ग्रन्थ के अन्तर्गत इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक का नाम 'जगन' दिया है जिस बात की चर्चा हम इसके पहले भी कर आये हैं। इसके सिवाय उन्होंने इन 'जगन' का नाम, कबीर, नानक एवं दादू के साथ, चार 'महंतो' को निर्गुणी पथ-प्रवर्तकों में गिनाया है। उन्होंने इन चारों ही 'महंत नृगुनीन की पद्धति' अथवा पद्धति को स्वयं निरंजन के मूलस्रोत से 'मिली' हुई ठहराया है और इस बात को उसी प्रकार प्रकट भी किया है जिस प्रकार उन्होंने रामानुजाचार्य की पद्धति को लक्ष्मी मे उत्पन्न, विष्णुस्वामी वाली को शंकर से प्रसूत मध्वाचार्य वाली को ब्रह्मा से उद्भूत एवं निम्बार्काचाय वाली को सनकादि से निकली होना बतलाया है तथा इन चारों निर्गुणियों में से भी नानक एवं दादूदयाल को जिन्होंने 'रवि' एवं 'शशि' के समान प्रकाशमान भी कहा है। परन्तु उन्होंने इन चारों पंथों का परिचय फिर पृथक् पृथक् भी दिया है और उसे, क्रमशः नानक, कबीर, दादू एवं जगन के अनुसार उसी प्रकार निर्दिष्ट किया है, इस प्रकार 'जगन' की पद्धति व 'निरंजनी पथ' का वर्णन, छप्पै सं० ४२९ से लेकर मनहर सं० ४४४ तक में, पृथक रूप से किया गया मिलता है और उसके आरम्भ (अर्थात् छप्पै सं० ४२९) में ही लपट्यो १. जगन्नाथ, २. स्याम, ३. कान्हड़, ४. ध्यानदास, ५. षेम, ६. नाथ, ७. जगजीवन, ८. तुरसी, ९. आंन, १०. पूरण, ११. मोहनदास व १२. हरिदास के नाम देकर, इन बारहों 'महन्त निरंजनी' के विषय में कहा गया है कि ये सभी लोग 'कबीर के भाव' को 'रखते' वा उसका समर्थन किया करते थे। फिर इन्हीं बारहों के नाम, किंचित् कम परिवर्तन के साथ आगे मनहर सं० ४४४ में भी दिये गये हैं और वहां इनके वास-स्थानों तक का नाम निर्देशन कर दिया गया है। हम वहां पर यह भी देखते हैं कि पहले 'जगन्नाथदासजी लपट्या की टीका' अर्थात् ईश्वी सं० ५५२ में, सम्भवतः उक्त 'जगन' का ही कुछ विस्तृत परिचय दिया गया है और फिर, क्रमशः आनन्ददास, स्यामदास, कान्हड़दास, पूरणदास, हरिदास, तुरसीदास, मोहनदास, ध्यानदास, षेमदास, नाथ एवं जगजीवनदास के भी विषय में लगभग उसी प्रकार कहा गया है तथा इनमें से आनन्ददास के अतिरिक्त, सभी के लिए 'टीका' शब्द ही लिखा गया।* फलतः उक्त 'जगन' एवं 'लपट्यो जगन्नाथ' को एक ही व्यक्ति के नाम मान लेने तथा उसको हरिदास से भिन्न समझने के लिए हमें यथेष्ट आधार मिल सकता है।

* मेरे इस पूरे कथन को स्व० हरिनारायण शर्मा (जयपुर) की उस हस्तलिखित प्रति पर आधारित समझना चाहिए जिसे उन्होंने मेरे पास किसी समय सं० २००७ में भेजने की कृपा की थी और जिसका चत्रदास के शिष्य नन्दराम के शिष्य गोकलदास द्वारा सं० १८६१ में लिखा जाना उसके अन्तिम पद्य द्वारा सिद्ध है। —लेखक

परन्तु, इतना होने पर भी, हमें राघोदास द्वारा बतलाये गये निरञ्जनी सम्प्रदाय के प्रवर्तक 'जगन' के विषय में पर्याप्त जानकारी नहीं प्राप्त होती, ५५२ वें इन्दव द्वारा केवल इतना ही पता चल पाता है कि नियमानुसार सदा नाम में निरत रहने के कारण, उनमें अलौकिक शक्ति आ गई थी, ब्रह्म के साथ उनका सम्बन्ध उच्चकोटि का था तथा इस जगत् में वे वास्तव में, 'जगन्नाथ' कहलाने योग्य थे। मनहर सं० ४४५ में उनको किसी 'थरोली में' रहने वाला बतलाया गया है जिसका हमें अभी तक कोई निश्चित भौगोलिक परिचय उपलब्ध नहीं है, किन्तु उक्त पद्य में निर्दिष्ट हरिदास के वासस्थान 'डीडवाणा' के विषय में हमे किसी प्रकार का संदेह नहीं रह जाता। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि, ग्रन्थ के ४२६ के छप्पै में जहां १२ निरंजनी महंतों के नाम गिनाये गये हैं वहां पर भी, लपट्यौ जगनाथ' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम ही किया गया है, किन्तु, अन्य पद्यों में तथा इन बारहों का पृथक् वर्णन करते समय भी, शेष ११ के लिए कोई निश्चित क्रम नहीं दिया गया जान पड़ता। इसके सिवाय, निरंजनी हरिरामजी की परचई में कहे गये।

"घाट वाद इनमें नहीं अधिकारी निजधाम के।
द्वादस महन्त निरंजनी सदा उर वसहु हरिराम के॥"

से ऐसा भी लगता है कि इन बारहों को प्रायः एक समान श्रेष्ठ समझा जाता रहा होगा। किन्तु इस पूरे पद्य के आरम्भ में ही हरिदासजी का नाम आया है और इसमे जगन्नाथ का अन्तिम अर्थात् १२वां स्थान दिया गया है। जहां तक पता चलता है इन बारहों में से कुछ को हरिदासजी के शिष्य-रूप में भी परिचय दिया जाता है, किन्तु उनमें, कदाचित् जगन्नाथ का नाम नहीं है। राघोदास की 'भक्तमाल' का ३४२ वां छप्पै इस प्रकार है—

"नानक कबीर दादू जगण राघो परमातम जपे।
नानक सूरज रूप भूप सारै परकासे।
मघवा दास कबीर ऊसर सूसर वरषाले॥
दादू चंद सरूप अमी करि सबको पोषे।
चरन निरंजनी मनौ त्रिषा हरि जीव संतोषे॥
ये च्यारि महंत चहूं चक्कवै च्यारि पंथ निरगुण भये।
नानग कबीर दादू जगन, राघो परमातम जपे॥३४२॥

जिसमें, क्रमशः गुरु नानकदेव को सूर्य, संत कबीर को इंदु तथा दादूदयालजी चंद्रमा कह कर, उनके द्वारा सबका कल्याण किया जाना बतलाया गया है, किन्तु यहां पर, चौथे निर्गुण-पंथ के स्थापित करने वाले महापुरुष की भी प्रशंसा, उसी प्रकार नामोल्लेख करके, की गई नहीं पायी जाती, प्रत्युत उसके लिए रची गई

पंक्ति "वरन निरंजनी मनो त्रिषा हरि जीव संतोषे" का अर्थ उतना स्पष्ट भी नहीं हो पाता। इस छप्पै की प्रथम एवं अंतिम पंक्तियों में नानक. कवीर, दादू एवं जगन जैसे चार नाम स्पष्ट रूप में दिये गये हैं और, फिर उन्हें दुहराते हुए, क्रमशः उनमें से प्रथम तीन वाले महापुरूषों के विषय में, कुछ न कुछ कह दिया गया है। किन्तु उनमें से चौथे नाम 'जगन' को भी उसी प्रकार दुहराया गया नहीं दिख पड़ता, प्रत्युत उसके द्वारा अभिहित किये जाने वाले का केवल प्रशंसात्मक वर्णन मात्र कर दिया गया ही मिलता है जिससे, स्पष्टता के अभाव में, भ्रांति का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। प्रस्तुत पुस्तक के संपादक स्वा० मंगलदासजी ने, इसके लिए लिखी अपनी 'भूमिका' (पृ० ६६) में, उक्त पंक्ति में आये हुए 'हरि' शब्द को स्वा० हरिदासजी का सूचक माना है और उसका अर्थ यों किया है "हरिदासजी ने संसार के विविध भोग पदार्थों को तृषा से पीड़ित मनुष्यों को निरंजन के विवेचन द्वारा संतोषे–सुखी किये।" और उन्होंने यह भी कह दिया है कि इस शब्द का अर्थ यहां पर 'हरन–दूर करना' नहीं है। परन्तु हमें ऐसा लगता है कि यहां पर, 'हरि' का अर्थ 'हरिदास' न करके उसका स्वाभाविक रूप में 'दूर करके' अर्थ लगाना ही अधिक सुसंगत कहला सकता है। यदि यह न किया जाय तो फिर पद्य को प्रथम एवं अंतिम पंक्तियों में किया गया 'जगन' शब्द का प्रयोग नितांत निरर्थक हो जायगा। हम अभी देख आये हैं कि इसके द्वारा अभिहित किये जाने वाले महापुरुष हरिदासजो भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं जिस कारण यह इनका वाचक नहीं समझा जा सकता प्रत्युत यह किसी ऐसे अन्य पुरुष के लिए यहां प्रयुक्त हो सकता है जिसके विषय में वहां पर, नामोल्लेखन करके, केवल संकेत मात्र ही कर दिया गया है। अतएव, हमारी समझ में उपर्युक्त पंक्ति का अर्थ यदि "और निरंजन को वरन करने वाले अथवा इष्टवत् स्वीकार करने वाले महापुरुष ने मानो समस्त प्राणियों की 'त्रिषा' दूर करके अथवा उनकी अभिलाषाओं की पूर्ति करके, उन्हें संतुष्ट कर दिया" किया जाय तो, यह कहीं अधिक युक्तिसंगत हो सकता है। उस दशामें जो शब्द जहां प्रयुक्त है उसके वहां होने की सार्थकता सिद्ध की जा सकती है और चारों 'महंतों' का न्यूनाधिक उल्लेख भी हो जा सकता है। हमारे यहां 'वरन निरंजन' की जगह 'वरन निरंजनी' पाठ मिलता है जिस दशा में 'वरन' शब्द का अर्थ ('विघ्न हरन' एव 'मंगल करन' के क्रमशः 'हरन' एवं 'करन' की भांति 'हरनेवाला' एवं 'करने वाला' जैसे 'वरण करने वाला न करके) यहां 'वरणीय' का 'वरेण्य का अभिप्राय-सूचक 'श्रेष्ठ' वा 'वारिष्ठ' भी कर दिया जा सकता है। राघोदासजो ने 'जगन' का नाम, छप्पै ४२६ में अंतर्गत, द्वादश निरंजनी लोगों में, संभवतः 'जगनाथ' के ही रूप में लिया है। इसी नाम से इनका परिचय, फिर ५५२ वें इंदव में, दिया गया है तथा, ४४४ वें मनहर में, इनके वासस्थान का 'करोली' नाम से निर्देश भी किया गया है। अत एव, हमें यहां पर सहसा किसी 'भूल' का होना समझ लेने अथवा 'जगन' शब्द' के स्थान हर 'जुहरि' की उपयुक्तता मानने की भी कोई वैसी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

हो सकता है कि 'द्वादश निरंजनी' द्वारा सूचित किये जाने वाले प्रसिद्ध बारह निरंजनी महापुरुषों के विषय में पृथक् रूप से वर्णन करने की परम्परा राघोदासजी के समय अथवा उसके कुछ पहले से चली हो जब तक उनमें से कालानुसार अंतिम क जीवन-काल भी बीत चुका हो। इसके सिवाय यह भी संभव है कि उन बारहों में से सर्वप्रथम अथवा पंथ के मूल प्रवर्त्तक का आविर्भाव-काल उस समय से सैकड़ों वर्ष पूर्व व्यतीत हो चुका हो। कम से कम हमें अभी तक उन सभी के किशी एक सुदीर्घ काल के अंतर्गत क्रमशः प्रकट होने अथवा समसामयिक रहने तक का भी कोई निश्चित पता नहीं है उनका हमें केवल कुछ प्रशंसात्मक परिचय मात्र ही मिलता है और उनके स्थानों की ओर किया गया कुछ संकेत भी मिलता है जिनसे हमारा पूरा काम नहीं चल पाता। उनमें से जिन लोगों की कुछ रचनाएँ उपलब्ध है अथवा जिनकी चर्चा कहीं अन्यत्र भी प्रासंगिक रूप में कर दी गई दीख पड़ती है उनके भी जीवन-काल के विषय में हम, यथेष्ट सामग्री के अभाव में, असंदिग्ध निर्णय नहीं कर पाते। ऐसी दशा में, यदि 'जगन' वा जगन्नाथ, वास्तव में निरंजनी संप्रदाय के मूल प्रवर्त्तक रहे हों तो, उनका समय, स्वभावतः बहुत पहले व्यतीत हो जाने के कारण, तथा इस लिए भी कि उनकी न तो अभी तक हमें कोई रचना उपलब्ध हो पाई है और न उनके विषय में कोई प्रासंगिक उल्लेख तक भी मिल सका है, निर्धारित करना अत्यत कठिन है। स्वा० हरिदासजी के आविर्भाव-काल के सम्भवतः विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में होने का अनुमान अभी हम कुछ ही पहले कर चुके हैं। राघोदासजी की 'भक्तमाल' के ४३६ वें मनहर में, 'हरिदासजी की टीका' शीर्षक के नीचे इनके विषय में कहा गया है कि

"नृमल नृबांणी निराकार कौ उपासवान
नृगुणी उपासिकै निरंजनी कहायौ है"

अर्थात् इन्होंने निर्मल निर्वाण एवं निराकार की निर्गुणोपासना द्वारा 'निरंजनी' की उपाधि पायी जिससे विदित होता है कि अपनी साधना विशेष के कारण संभवतः इन्होंने ही सर्वप्रथम निरंजनी सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा भी की होगी अथवा इस सम्बन्ध में यहाँ तक भी अनुमान किया जा सकता है कि, इनकी इस 'निरंजनी' उपाधि के आधार पर ही, कदाचित् उस पंथ का नाम भी प्रचलित हुआ हो। इस बात की पुष्टि हमें इस रूप में भी होती जान पड़ती है कि अनेक लेखक जिनमें से कई की चर्चा स्वा० मंगलदासजी ने अपनी 'भूमिका' में की है) इन्हें स्पष्ट शब्दों में उस मत का प्रवर्तक मानते आये हैं। परन्तु स्वयं राघोदासजी की 'भक्तमाल' के अन्तर्गत किये गये कतिपय स्पष्ट उल्लेखों के कारण (जिन पर हम अभी अपना कुछ विचार प्रकट कर चुके हैं) इसके पूर्ण तथ्य होने में हमें संदेह भी होने लगता है। अतएव, हमें यहाँ पर इस प्रकार भी अनुमान करना पड़ जाता है कि किसी जगन के इस निरंजनी संप्रदाय के मूलप्रवर्तक होने की प्रसिद्धि, सभवतः राघोदासजी के समय मे पहले से भी रही होगी जिसका उल्लेख, अपनो रचना के अन्तर्गत, कर देना उन्हें आवश्यक जान पड़ा होगा। ऐसी दशा में हमें तो यह भी

संभव सा ही लगता है कि दादू-शिष्य छोटे सुन्दरदासजी ने अपनी एक पंक्ति में जो

'कोउ कहै हरिदास हमारेजु यौं करि ठानत वाद विवादू'[1]

कह दिया है वह भी कदाचित्, किसी ऐसे मतभेद की ओर ही संकेत करता होगा जिसका सम्बन्ध निरंजनी सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक वाले उक्त प्रश्न के साथ रहा हो। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि, स्वा० हरिदासजी को इसका संस्थापक मानने के पक्ष में कहीं अधिक मत उपलब्ध होते हैं जिस कारण इसे ही स्वीकार करने की आज कल प्रवृत्ति भी देखी जाती है।

स्वामी हरिदासजी के सम्बन्ध में अभी तक प्राप्त साहित्य तथा उनकी अपनी रचनाओं के आधार पर भी हमें उनका यथेष्ट परिचय नहीं मिलता, परन्तु फिर भी जितना पता चल पाता है वह भी अन्य निरंजनी महात्माओं के विषय में प्राप्त हमारी जानकारी की अपेक्षा कहीं अधिक होगा उनके लिए कहा गया मिलता है कि उनका प्रारंभिक जीवन किसी लुटेरे के जैसा था, किंतु, किसी महात्मा द्वारा प्रभावित होकर, उन्होंने अपने शस्त्रादि जंगल के कुंए में डाल दिये और 'तीखी डूंगरी' में पहुँच कर ईश्वर-चिन्तन में लीन रहने लगे तथा, अंत में, उन्होने सिद्धि भी प्राप्त करली। फिर वहां से चलकर उन्होंने कई स्थानों का भ्रमण किया तथा, अधिकतर डीडवाणे में रहते हुए, अपना चोला छोड़ा। उन्होंने अपने विषय में एक स्थल पर कहा है:–

"नाथ निरंजन देषि, अंति संगी सुषदाई।
गोरष गोपीचन्द, सहजि सिधि नौ निधि पाई॥
नामैं दास कबीर, रांम भजतां रस पीया।
पीयै जन रै दास, वड़ै छकि लोहा लीया॥
अणभै 'वस्त' संभालिकरि, जन हरीदास लागा तहीं।
राम विमुष दुविध्या करै, ते निरबल पहुँचै नहीं॥१३॥[2]

अर्थात् नाथ निरंजन को ही अपना वास्तविक हितैषी मान कर गोरष और गोपीचन्द ने अपनी सहज साधना में सफलता प्राप्त की तथा नामदेव एवं कबीर ने राम की भक्ति का रसपान किया अथवा पीपा एवं रैदास जैसे लोगों ने भी भरपूर लाभ उठाया। तदनुसार जन हरिदास को स्वानुभूति-जन्य बोध हो गया और यह उसीमें सदा निरत रहने लगे। जिन्हें इसमें विश्वास का संबल नहीं, वे सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकते इससे स्पष्ट है कि उन्होंने कोई ऐसा मार्ग अपनाया जिसमें नाथ पंथ एवं संत-परम्परा के मतों व साधनाओं का पूर्ण सामंजस्य था जिस कारण एक ओर जहां उन्होंने "जन हरिदास नाथ का बालक, रहै नाथ की छाया" [3] कहा, वहां, दूसरी ओर, उन्हें "करड़ा पंथ कबीर का सो हम लीया सोधि"[4] कह डालने

---

१. 'सुन्दर ग्रन्थावली' (पृ० ३८५) २. प्रस्तुत पुस्तक, पृ० २६५। ३. वही, पृ० ३६७। ४. वही, पृ० ३८८।

में भी, किसी प्रकार के विरोध का अनुभव नहीं हुआ। स्वा० हरिदास का मत अत्यंत सुसंगत और श्रेयस्कर जान पड़ा तथा उनके उत्कृष्ट व्यक्तित्व ने भी लोगों को आकृष्ट किया जिस कारण उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ने लगी। चाहे उन्होंने, अपने उक्त मार्ग के आधार, निरंजनी संप्रदाय का संगठन पहले पहल स्वयं किया हो अथवा उन्होंने ऐसे किसी नाम से पूर्व प्रचलित परम्परा को अपनाकर उसे सुव्यवस्थित रूप दे दिया हो तथा फिर उनके शिष्यों प्रशिष्यों ने इसे आगे और भी प्रचारित किया हो, इसमें संदेह नहीं कि, उनका विशिष्ट प्रभाव इसके ऊपर सदा बना रहा और उन्हें इसका मूल प्रवर्त्तक तक भी स्वीकार किया गया।

स्वा० आचार्य क्षितिमोहन सेन ने संभवतः किसी ऐसे ही निरंजनी मत के अवशिष्ट अंश का अब तक उड़ीसा प्रांत में पाया जाना तथा उसके द्वारा भारत के मध्यवर्ती एवं पूर्वीय क्षेत्रों का प्रभावित होना भी बतलाया है।[१] उन्होंने उसके प्रभाव का अब तक सिलहट के किसी 'जगमोहनी संप्रदाय' और विशेषकर उसके 'विठंगल मठ' के ऊपर लक्षित होने की भी चर्चा की है[२]। परन्तु उन्होंने ऐसे किसी प्रभाव के न तो रूप को निश्चित किया है और न, राजस्थान के अंतर्गत इस समय प्रचलित प्रस्तुत निरंजनी संप्रदाय के सिद्धांतों एवं साधनाओं के साथ उसकी किन्हीं मान्यताओं की तुलना करके, कोई निष्कर्ष निकालने का ही प्रयत्न किया है जिस कारण हमें इस बात का ठीक पता नहीं चल पाता कि यह वस्तुतः उसका किसी प्रकार ऋणी ठहराया भी जा सकता है वा नहीं। इसी प्रकार, आजकल राजपूताने में वर्तमान निरंजनी साधुओं के किसी 'एक संप्रदाय' की चर्चा करते हुए, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उसके "प्रवर्तक स्वामी निरानंद निरंजन भगवान् (निर्गुण) उपासक" का नाम लिया है[३]। किन्तु हमें यहां पर भी यह स्पष्ट नहीं होता जान पड़ता कि उक्त संप्रदाय और यह निरंजनी संप्रसाय दोनों एक और अभिन्न कहे जा सकते हैं तथा, यदि ऐसा हो उस दिशा में, उक्त प्रवर्त्तक 'स्वामी निरानंद' का परिचय क्या है। इसके सिवाय, साधुओं के विभिन्न अखाड़ों का वर्णन करते समय, प्रो० घुरये ने किसी 'निरंजनी अखाड़े की भी चर्चा की है और उसकी स्थापना का, कच्छ प्रदेश के माण्डवी नामक स्थान में, सन् ९०४ ई० में, किया जाना कहा है तथा इस अखाड़े के ही प्रधान केन्द्र वर्तमान समय में प्रयाग में पाया जाना भी बतलाया है,[४] किंतु हमें यहां पर भी यह पता नहीं चलता कि उसका इससे कोई सम्बन्ध है या नहीं। अतएव, हमें अभी तक इस बात का कोई भी निश्चित प्रमाण प्राप्त नहीं। जिसके आधार पर, किसी 'निरंजनी' शब्द के साथ जुड़े हुए नाम वाले पूर्व प्रचलित संप्रदाय के साथ, इसका किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित किया जा सके। 'निरंजन' और 'निरंजनी' जैसे

१. क्षितिमोहन सेन: 'मिडीवल मिस्टीसिज्म आफ इंडिया' (लंदन, १९२९ई०) पृ० ७० । २. नहीं पृ० १७० । ३. पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी: 'कबीर' (बम्बई, १९४२ ई०) पृ० ५२ । ४. प्रो. जी. एस. धुरिये । इन्डियन साधूजी वम्बई १९५३ ई. पृ. ११७-११८

शब्द बहुत पहले से प्रचलित रहे है जिस कारण यह असंभव नहीं कि कभी इनके साथ जुड़े हुए नाम की कोई संस्था वा कुछ संस्थाएं वर्तमान रही हो और उनका लोप अभी तक भी न हो पाया है, किन्तु केवल इसी लिए उनके साथ इसका सम्बन्धित भी होना अनिवार्य नहीं है। इस सम्बन्ध में अधिक से अधिक केवल इतना ही कहा जा सकता है कि, स्वा० हरिदासजी के समय में भी कदाचित् कोई ऐसा सम्प्रदाय रहा होगा जो निरंजनी सम्प्रदाय जैसे किसी नाम से प्रचलित रहा होगा और वह चाहे किसी 'जगन' 'जगन्नाथ' वा लपट्यौ जगन्नाथ' द्वारा प्रवर्तित रहा होगा अथवा उसे किसी अन्य महापुरुष ने भी चलाया होगा तथा इन्होंने उसका उन्नयन अवश्य किया होगा।

नवीन अनुसंधानों द्वारा अब यह क्रमशः प्रकट होता जा रहा है कि निरंजनी सम्प्रदाय के प्रचारकों में अनेक महान् पुरुष हो गए हैं और उनमें से कई ने एक विशाल निरंजनी–साहित्य की रचना भी की है जिसके आधार पर हमें अब उसका वास्तविक परिचय मिल सकता है ऐसे साहित्य के अन्तर्गत कुछ 'परची' 'भक्तमाल' एवं 'जीवन–चरित्र' कहलाने वाली रचनाएँ मिली हैं जिनसे, किसी न किसी रूप में, स्वामी हरिदासजी तथा उनके सहयोगियों और अनुयायियों के विषय में न्यूनाधिक प्रकाश पड़ता है तथा इसी प्रकार निरंजनी सन्तों की वाणियाँ उनके द्वारा अनुवादित रचनाएँ एवं कतिपय फुटकल ग्रन्थ भी उपलब्ध हुए हैं जिनसे उसमें सहायता मिलती है। इन दूसरी कोटि की रचनाओं में से भी ऐसी वाणियों को अधिक महत्व दिया जा सकता है जो विशिष्ट महात्माओं की हैं तथा जिनके गम्भीर अध्ययन और अनुशीलन के सहारे हमें इस पन्थ के गूढ़ रहस्यों एवं साधनाओं को समझ पाना सरल हो सकता है। यह बड़े खेद की बात है कि अभी तक हमें इनमें

से सभी वाणी रचयिताओं का जीवन-काल तक विदित नहीं हो पाया है जिसका हम उसके आधार पर अभी निरंजनी सम्प्रदाय के मतविशेष के क्रमिक विकास का स्वरूप निर्धारित करने में असमर्थ हैं और हम, इसी प्रकार उसके अभाव में, इस बात का भी पूरा निश्चय नहीं कर पा रहे हैं कि इस धार्मिक वर्ग का ऐतिहासिक परिचय कैसे दिया जाय। यदि यथेष्ट प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध हो सके अथवा यदि तब तक केवल उपर्युक्त 'द्वादश निरंजनी महन्तों' तक के विषय में भी हमें अच्छी जानकारी हो सके तथा उनकी अनमोल कृतियों को प्रकाश में लाया जा सके उस दिशा में भी, हमें विश्वास है कि हम इस सम्प्रदाय का बहुत कुछ परिचय पालेंगे और इस पर विचार करते समय, हमें फिर विविध भ्रांतियों का सामना नहीं करना पड़ेगा। तब, सम्भवतः हमें इस बात को भी स्वीकार करने के लिए पूरा आधार मिल जायगा कि इस सम्प्रदाय को सन्त परम्परा के चार सर्वप्रमुख पन्थों में वह स्थान मिलना चाहिए जिसकी ओर दादू-पन्थी 'भक्तमाल' रचनाकार राघोदास ने, आज से प्रायः ढाई सौ वर्ष पहले, संकेत किया था।

निरंजनी सम्प्रदाय के साहित्य का प्रकाशन बहुत दिनों तक हमें केवल भगवानदास निरंजनी एवं निपट निरंजन जैसे एकाध व्यक्तियों की रचनाओं तक ही सीमित जान पड़ता था और आज से कुछ दिन पूर्व सं० १९८८ में, वैष्णव साधु देवादास की ओर से स्वा० हरिदासजी की वाणियों का एक संग्रह भी श्री हरि-पुरुषजी की वाणी, नाम से, जोधपुर से, प्रकाशित हुआ था। इस विषय के जिज्ञासुओं को केवल इतनी ही सामग्री से स्वभावतः 'पूरा सन्तोष नहीं हो पाता था तथा इसके जिस विशाल वाणी-संग्रह की चर्चा वे कभी-कभी सुना करते थे उसके अवलोकन की इच्छा, इसके कारण और भी प्रबल होती जा रही थी। अतःएव स्वामी मंगलदासजी ने, उसे प्रकाश में लाने का काम अपने योग्य हाथों में लेकर, उनका बहुत बड़ा उपकार किया है। उनके द्वारा सम्पादित 'महाराज श्री हरिदास जी की वाणी' के साथ न केवल अधिक पाद टिप्पणियां प्रकाशित हैं, अपितु कहीं-कहीं उनकी कतिपय पंक्तियों का किया गया सरल अनुवाद भी मिलता है तथा, इसके अतिरिक्त सबके पहले एक विस्तृत 'भूमिका' भी दी गई पायी जाती है जो उल्लेखनीय है।

जोधपुर वाले उपर्युक्त संस्करण में उसकी प्रस्तावना के रूप में, केवल स्वा० हरीदासजी का एक 'संक्षिप्त जीवन चरित्र' दिया गया था तथा उसके आगे "हमारे श्री स्वामीजी के गद्दीधरों की नामावली' जोड़ दी गई थी, किन्तु इन दोनों में से किसी को भी पर्याप्त नहीं कहा जा सकता था। श्री स्वामीजी की 'भूमिका' तथा उसके आगे का 'परिशिष्ट' उनसे कहीं अधिक संतोषप्रद हैं। इसके सिवाय, उक्त 'वाणी' के अनंतर और 'उत्तरखण्ड' के अन्तर्गत जो 'निरंजनी सम्प्रदाय के अन्य रचनाकारों की रचना के कुछ अंश प्रकाशित हुए हैं उनकी भी उपादेयता कम नहीं है। जब तक सभी निरंजनी सन्त कवियों की सारी उपलब्ध रचनाएं प्रकाश में नहीं आजाती तब तक इन्हें यथेष्ट महत्व दिया जा सकता है। इन अंशों के पहले दिये गये रचनाकारों के संक्षिप्त परिचयों से उनके विषय में हमारी जानकारी भी बढ़ जाती है। इस 'खण्ड' के एकाध स्थल ऐसे हैं जहाँ साधारण पाठकों को कुछ भ्रांति भी हो जा सकती है तथा उसके निराकरण की आवश्यकता का अनुभव हो सकता है। उदाहरण के लिए उसके पृष्ठ ३ पर स्वामी तुरसीदासजी निरंजनी के लिए 'गुसांई तुरसीदासजी' मुद्रित दीख पड़ता है जो भ्रांतिकारक हो सकता है और इसी प्रकार, उसके पृष्ठ ८४ पर जो, 'पद–३ राग आसावरी' के नाम से रचना प्रकाशित है उसके नीचे किसी एक पाद टिप्पणी के अभाव में, यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि जिस पद्य को हम पढ़ रहे हैं वह, कदाचित् स्वामी रामानन्द के शिष्य समझे जाने वाले पीपाजी द्वारा रचित न हो। सिखधर्म के प्रसिद्ध 'गुरुग्रन्थ साहब' में, 'राग-धनासरो' के अन्तर्गत, इस पद का एक रूप, उन्हीं की रचना कहला कर, पाया जाता है जिस कारण उसके साथ इसकी तुलना करके किसी उपलब्ध निष्कर्ष की सूचना दे देना अधिक समीचीन कहला सकता है। इसके सिवाय, उसके पृष्ठ ८१–४ पर जो 'चिन्तामणि योग ग्रन्थ' प्रकाशित है उसके विषय में भी कहा

जाता है कि यह उन्हीं की रचना होगी ×। अतएव, इस बात का भी कुछ समाधान अपेक्षित होगा।

जोहो, स्वामी मंगलदासजी का यह महत्वपूर्ण कार्य सर्वथा अभिनन्दनीय है और हमें आशा है कि, इसका समुचित स्वागत होगा।

पं० परशुराम चतुर्वेदी
एम. ए. एल. एल. बी. बलिया (उ. प्र.)

× 'संतवाणी' (वर्ष ६ अङ्क ६, संवत्, १६६१ ई०), 'संतसाहित्य परिषद्', आरा (बिहार प्रांत) पृ० ६–११।

स्वामी हरिदासजी का परिचयात्मक विवरण

भूमिका

१. सामयिक स्थिति

भारत में चौहान वंश की राज्य-समाप्ति के साथ ही मुसल्मानों के आधिपत्य की जड़ें जमने लगीं। भारतीय राजाओं के आपसी-विग्रह ने मुसल्मानी साम्राज्य की दृढ़ता में और सहारा लगाया। लोदी वंश के पश्चात् मुगलों ने बादशाहत जमाई तथा वे स्वयं भारत में ही निवास करने लगे। सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में मुगल शासन अपनी विशेषताएँ लिये हुए था। एक नई धार्मिक प्रवृत्ति का भारतीय संस्कृति में समावेश होने की कशमकश चलने लगी। 'एकेश्वरवादी मुस्लिम संस्कृति तथा विविध देवादि को मान्यता देने वाली भारतीय संस्कृति की विचारधाराओं में बड़ा अन्तर था। मूर्तिपूजा भारतीय संस्कृति का एक आवश्यक अङ्ग थी वहां मुस्लिम संस्कृति में बुतपरस्ती को अत्यन्त हेय माना गया था। भारतीय संस्कृति तथा मुस्लिम संस्कृति में धार्मिक रीति-रिवाज सर्वथा एक दूसरे से विपरीत होने के कारण संघर्ष अनिवार्य था। 'यथा राजा तथा प्रजा' की लोकोक्ति के अनुसार मुस्लिम संस्कृति को राजसेवी हिन्दू भी अपनाने लगे थे। भारतीयों के लिए यह समय अत्यन्त ही विकट था। जबर्दस्ती धर्म-परिवर्त्तन या परिवर्तित धर्म वालों का समाज से बहिष्कार, मठ-मन्दिरों का ध्वंस आदि नित्य की घटनाएँ थीं। हिन्दू राजाओं ने मुस्लिम बादशाह की मान्यता स्वीकार करली थी। केवल मेवाड़ के महाराणा को छोड़कर अन्य राजस्थान के राजा बादशाहत के अङ्ग बन गये थे। धार्मिक भावनाओं का दार्ढ्य डगमगाने लगा था। भारतीय जन-समुदाय उचित मार्ग-दर्शन के लिए व्याकुल था। देश की पराधीनता से मुक्ति तथा अपनी धार्मिक प्रवृत्तियों को निःसंकोच पूरा करने की लालसा तीव्र होते हुए भी उभय क्षेत्रों में व्यवस्थित मार्ग-दर्शन का अभाव था। प्रशासक की धर्मनीति का प्रशासितों पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। राज्यसत्ता के दृष्टिकोण का प्रभाव प्रजा के सामाजिक जीवन पर पड़ना अनिवार्य है। लाखों मनुष्य राज्य के आश्रित होते हैं, उनके परिवार तथा सम्बन्धी भी लाखों की संख्या में होते हैं। इन आश्रित मनुष्यों को इच्छा या अनिच्छा से राज्य के दृष्टिकोण का समर्थन करना होता है। शासकों की धर्मान्धता भी विभिन्नधर्मी प्रजा के लिए एक दारुण दुःखमय अभिशाप से कम नहीं होता है।

भारत में मुसल्मानी राज्यकाल में हिन्दू प्रजा को कैसी-कैसी विपत्तियों का सामना करना पड़ा—यह इतिहास के तथ्यों से जाना जा सकता है। अनवस्थित प्रशा-

सन, सर्वदा चलती रहने वाली लड़ाइयाँ, आपसी अविश्वास तथा अनेकता की भावना से भारत जैसे विशाल देश के नागरिक अपनी पराधीनता तथा विवशता के निराकरण का मार्ग पाने के लिए छटपटा रहे थे। ऐसे संघर्ष-काल में आवश्यकता थी दृढ़व्रती वीरों तथा आत्मजयी महात्माओं की, जिससे कि :भारतीय जनता की अनवस्थित विचलित दशा में परिवर्तन लाया जा सके।

इसी संघर्ष-काल में महाराणा सांगा, कुम्भा, प्रताप, शिवाजी, दुर्गादास, जसवन्तसिंह जैसे वीरों का आगमन हुआ—साथ ही रामानन्द, नानक, कबीर, नामदेव, रैदास, पीपा, दादू, हरिदास, चैतन्य महाप्रभु, तुलसी, सूर, मीरां आदि महात्मा व भक्तगणों का प्रादुर्भाव हुआ। वीरों ने देश की स्वतन्त्रता का प्रयास किया तथा अपने चारित्रिक बल से निर्जीवों में स्वाधीनता की भावना को जागृत किया। महात्मा तथा भक्तों ने धार्मिक प्रवृत्तियों तथा नैतिकता का संरक्षण किया, जिससे कि देश के सामाजिक जीवन में धर्म तथा नीति को स्थैर्य प्रदान करने में भारी सहायता मिली। महात्माओं की शृङ्खला, जिसका आरम्भ चौदहवीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ था, बराबर बीसवीं शताब्दी तक चलता रहा है। इसी शृंखला में निरंजनी सम्प्रदाय के प्रवर्तक महात्मा हरिदासजी हुए हैं, जिनको हरिपुरुषजी तथा दयालजी के नाम से भी सम्बोधित किया जाता था। राजस्थान जैसे वीर-प्रसव भूमि मानी गई है उसी तरह यह सन्त-प्रसव भूमि भी है। भक्तों की गणना में भी राजस्थान पीछे नहीं है। पीपा, धन्ना, मीरां, पयहारीजी, जसनाथ, हरिदास, दादू, चरणदास, हरनामदास, दरियाव, रामचरण, रामदास आदि अनेक महात्मा भक्त राजस्थान की देन हैं। इन्हीं में हमारे आलोच्य महात्मा हरिदासजी हैं जिनका कि आगे विवेचन किया जा रहा है।

२. हरिदासजी का जन्मस्थान व आविर्भाव

हरिदासजी के जन्मस्थान के बारे में प्रायः सभी लेखक एकमत हैं। उनका जन्मस्थान डीडवाना से पश्चिमोत्तर :"कापडोद" ग्राम माना गया है। यह राजस्थान के नागौर जिले में है। इसकी तहसील डीडवाना में है। डीडवाने से नागौर जाने वाली सड़क पर कोलिया ग्राम आता है। कोलिया से यह ग्राम उत्तर-पूर्व में है। इस ग्राम में ही महात्मा हरिदासजी का आविर्भाव हुआ था। उस समय यह क्षेत्र मांडलिक शासन में था, वैसे यह जोधपुर राज्य के क्षेत्र में था जिसका अपर नाम–"नवकोटि मारवाड़" भी कहा जाता था। मांडलिक शासन से अभिप्राय जागीर क्षेत्र से है। कोलिया में उस समय शांखले राजपूतों का अधिकार था। सुना जाता है कि उस समय कोलिया के नीचे बारह गाँव थे—मतलब बारह गांवों की जागीरी कोलिया के अधिपति के अधीन थी। अधिपति थे शांखले राजपूत। कापडोद भी उसी जागीर का गाँव था।

हरिदासजी की जाति

महात्मा हरिदासजी की जाति की बाबत भी विशेष मतभिन्नता नहीं है। उनको प्रायः सभी ने शांखला राजपूत माना है और उनका नाम हरिसिंहजी कहा गया है। ऊपर जैसा उल्लेख किया गया है कि कोलिया की जागीर शांखलों की थी। उन्हीं के अधीन अन्य ग्रामों के साथ कापडोद गाँव भी था। जागीर प्रथा में यह रिवाज प्रचलित था कि जागीर के अधिपति का बड़ा पुत्र उस जागीर का अधिपति बनता है, शेष सन्तानें छुटभइयों के रूप में रहते हैं। उनको कुछ भू-भाग जागीर में दे दिया जाता है। इस तरह इन छुटभइयों की परम्परा-वृद्धि में प्राप्त भूभाग के हिस्से होते जाते हैं। अन्त में ऐसी स्थिति भी आ जाती है कि उनके पास या तो बहुत छोटा अंश भूमि का रह जाता है या रहता ही नहीं। ऐसे परिवार उस जागीर के ग्रामों में जहाँ-तहाँ निवास कर लेते हैं। सम्भव है इसी तरह की स्थिति के कुछ राजपूत परिवार कापडोद के निवासी थे, उन्हीं में से किन्हीं के पुत्र रूप में हरिसिंहजी ने जन्म लिया था। उनके माता-पिता का नाम क्या था? इसकी जानकारी का कोई आधार नहीं है। हमें यही मानना है कि कापडोद ग्राम में शांखला राजपूत के घर हरिदासजी का जन्म हुआ। जब तक इससे भिन्न कोई पुष्ट प्रमाण प्राप्त न हों, तब तक यही तथ्य समझा जाना चाहिए।

इस प्रसंग के प्राप्त प्रमाण इस रूप में हैं—

श्री रघुनाथदासजी की परचई

इनने भी डीडवाने में ही आपके प्रकट होने का उल्लेख किया है इसका भभिप्रायः यह है कि ग्राम कापडोद में ही शांखला कुल में आपका जन्म हुआ—इस मत का समर्थन आपने किया है। डीडवाने में आपके प्रकट होने से अभिप्राय है, साधना द्वारा आत्मपरिचय की दृढ़ की धारणा के पश्चात् परम महात्मा के रूप में आपका प्रथम आविर्भाव अर्थात् जन-साधारण के समक्ष आने का स्थान डीडवाना ही है; जैसा कि परिचई के द्वितीय विश्राम के प्रारम्भ में कहा गया है —

प्रथम डीडपुर प्रकटे आई, वरस चमाल ग्रह मांझ रहाई।
पछिम दिसे भाखर है सोई, तहां जंगल में रहने जोई॥
एक दिना प्रभु की गति भई, अन्तरजामी आग्या दई।

अमरपुरुषजी के पोता शिष्य दर्शनदासजी के शिष्य प्यारेरामजी का "भक्त-माल" रचनाकाल (१८८३)

मनहर—दरसन गुरु दया कीन्हीं प्यारे को जो आज्ञा दीन्हीं,
इष्ट अनुक्रम सें जु भक्तमाल गाइये।

भक्तमाल घणी और सन्ता कीन्हीं ठौर ठौर,
इष्ट विहूणी सो तो मन नहिं भाइये।
गुरु आप आज्ञा दिये ताते भक्तमाल किये,
अठारह सै तियासी बात यह कहाइये ।
मोरेड नगर मांहि आधी रात होती ताहिं,
गुरां आप रीझ कर परचा जो बताइये ।

दोहा— जन प्यारे राम की विनती सुण लीज्यो सब सन्त ।
पक्षी पीवे चूंच भर, सागर को नहिं अन्त ।। १ ।।

अमरपुरुषजी सेवादासजी महाराज के शिष्य थे। ये हरिदासजी महाराज की छठी पीढी में तथा प्यारेरामजी आठवीं पीढी में हुए थे। उनकी बनाई भक्तमाल में वे लिखते हैं—

मनहर—कापडोद गांव माहिं हरिदास अवतरे,
महिमा कौन वार पार कहाँ लग गाइये ।
शांखलां के कुल माहिं, आप जो औतार लियो,
चोधरण चुंगाये थनां वंस जो कहाइये ।
बोवाँ को आकार नाहिं भुजा लाम्बी गिरिया लग,
देह को प्रकाश मानों मणि झलकाइये ।
सूर सोहै तेज जाको दीपत मुखारबिन्द,
देखत आनन्द होइ नैन न खिचाइये ।
लीला जो है दिव्य कछु नर का सा चिन्ह करे,
द्रव्यवान देख के पकड़ ताकूँ लाइये ।। ३ ।।

संम्वत् १९२८ में प्रकाशित रामचन्द्र गुजराती के शिष्य आशारामजी दाधीच ब्राह्मण डीडपुरनिवासी द्वारा रचित परिचय में—

छन्द लावणी—सन्त हरिपुरुष हुये सुमहान, जिनों का सारा सुनो बयान ।
नगर इक सुन्दर है डिडवान,
तहां से पश्चिम दिशि गिरि जान ।

तिन सै क्रोशार्ध बसै एक ग्राम,
जिनों का कापड़ोद है नाम ।

दोहा—उसी ग्राम के बीच में चत्री हुआ बलवान ।
हरिसिंह था नाम जिनों के दया नहिं उर म्यान ॥
पाप तिनकै करणा आसान, जिनों का सारा सुनो बयान ॥१॥

मंत्र-प्रभाकर-रामबक्स मोहतारचित—प्रथम प्रकाशन संवत् १६२२ द्वितीया-वृत्ति संवत् १६६३ उल्लास १२ वां—

छन्द पद्धरी–श्री द्यालु नाम हरिपुरुष जान, प्रगटे सु डीडवाणे महान ।
राम कला अवतार अंस, धन्य मातु पितु चत्री वंश ।
कापडोद् निज जन्म भौम, भये प्रगट सु सांखल कौम ।

बालोतरा निवासी स्वामी जानकीदासजी रचित 'जीवन-चरित्र' रचनाकाल संवत् १६६२, पृष्ठ ३—

चौपाई—तब हरिदास धर्यो अवतारा, करण सकल जीवन उद्धारा ।
मारु सुदेश जिला जोधाणें, कापडोद् शुभ ग्राम बखाने ।
तहाँ के ठाकुर अति रणधीरा, वल बुधि निधी भक्त हरिजी रा ।
जाति सांखला सूरजवंशी, राजपूत कुल सब अवतंसी ।

दोहा— तेहिकी त्रिया भक्त हरि रूप-शील-गुणखानि ॥
ताके उदर सु अवतरे करण जगत कल्याण ॥१॥

उक्त चारों रचनाकारों के उल्लेख से स्पष्ट है कि हरिदासजी का जन्मस्थान कापड़ोद ग्राम है तथा वे क्षत्रिय वंश शांखला गोत्र में उत्पन्न हुये थे । उक्त रचनाकारों में दो साधु तथा दो सद्गृहस्थ हैं । इनकी रचनाओं से हमें यही प्रतीत होता है कि इनने हरिदास जी महाराज के विषय में परम्परा से जैसा सुना-समझा वैसा ही निरूपण किया है ।

आधुनिक साहित्यकारों में से मिश्रबन्धुओं ने अपने 'मिश्रबन्धु विनोद' में इनकी कोई चर्चा ही नहीं की है । मोतीलालजी मेनारिया ने "राजस्थानी भाषा और साहित्य" में इनका अति संक्षिप्त विवरण दिया है । "उत्तरीय भारत की सन्त परम्परा

के लेखक पं० परशुरामजी चतुर्वेदी एम० ए०, एल एल बी० ने उक्त पंथ पर पर्याप्त विवेचन किया है। उनने भी इनके जन्मस्थान तथा जाति परम्परानुसार उपर्युक्त ही स्वीकार किये हैं।

फारसी में लिखी 'दबिस्ता नुल मुजाहिब' में शायद इनको क्षत्रिय की बजाय जाट लिखा है, पर इस लिखने की प्रामाणिकता का कोई आधार नहीं है। प्यारेरामजी ने चौधरण के थन चूंगने का उल्लेख किया है। उसका यह अभिप्राय है कि प्राचीन काल में माता के पर्याप्त दूध न होने पर धाय (विमाता) रखने की प्रथा प्रचलित थी। हरिदासजी (हरिसिंहजी) की माता के पर्याप्त दूध न होने पर किसी चौधरण (जाटणी) को धाय (विमाता) रखी गयी। उसके स्तनपान करने का उल्लेख प्यारे-रामजी ने किया है। उक्त विमाता के सम्बन्ध के कारण किन्हीं ने उनको जाट लिख दिया हो– ऐसा सम्भव है। सम्भव है ऐसा ही किसी जनश्रुति के कारणवश "दबिस्तानुलमुजाहिब" कार ने उल्लेख किया हो। मेरे विचार से जो निरूपण हरिदासजी के जन्मस्थान तथा जाति के बारे में अति बहुपक्ष ने किया है, वही ठीक है। जब तक इस बारे में अन्य कोई अकाट्य प्रमाण सामने नहीं आवे, तब तक यही तथ्य समझना उचित है।

३. हरिदासजी का काल

हरिदासजी के कालविषयक प्रश्न में पर्याप्त उलझनें हैं। उनका सम्बन्ध पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी से था या सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी से, इसका तथ्यपूर्ण निश्चय कर देना सहजसाध्य नहीं है क्योंकि इस विषय में जो प्राचीन स्पष्ट संकेत हैं, उनका ऐतिहासिक तथा कालिक स्थिति के साथ उचित सम्बन्ध स्पष्ट होना चाहिये; तभी उस काल को निर्भ्रान्त काल माना जा सकता है। इस प्रसंग में जिन जिन प्रमाणों के उल्लेख या अनुमान किये गये हैं, उन सबको लेकर ही ऊहापोह से विचार करना संगत होगा।

इस विषय में पहिले विभिन्न लेखकों के मतों को देख लेना उपयुक्त है।

(क) मिश्रबन्धु

शिवसिंह सरोज के पश्चात् हिन्दी साहित्यिकों के परिचय तथा कालादि का निरूपण मिश्रबन्धुओं ने अपने 'मिश्रबन्धु विनोद' में करने का प्रयास किया है। पर मेरे विचार से उनने सन्त साहित्य पर उतना ध्यान नहीं दिया, जितना अन्य साहित्य पर दिया है। उनके लिखे 'विनोद' में वस्तुतः अधिकांश सन्तों के कालादि तथा रचना पर जो लिखा गया है, वह विनोदात्मक ही है। कबीर का सम्बन्ध तो उत्तर प्रदेश से ही है, अतः उनका निरूपण सम्यक् किया गया तो कोई विशेषता नहीं। अन्य संतों के निरूपण, जैसे दादूजी, सुन्दरदासजी आदि के

निरूपण सम्यक् रूप में नहीं हो पाये हैं। विशेषतः राजस्थान में होने वाले सन्त-प्रवरों का शायद उनको न तो पूरा परिचय था, न उनके साहित्य का अनुशीलन। अतः राजस्थान के अनेक महान् सन्तों का उनने उल्लेख तक नहीं किया है। महात्मा हरिदासजी भी उन उपेक्षित सन्तों में ही हैं क्योंकि 'विनोद' में उनके बारे में कोई विवेचन नहीं है।

(ख) अपर लेखक

मिश्रबन्धुओं के पश्चात् हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ लेखक माननीय पं० रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' पर ध्यान जाता है। आपने अपने इस ग्रन्थ में कालानुबन्ध से हिन्दी इतिहास का निरूपण किया है। वैसे विषय-सम्बन्ध से भी विवेचन किया गया है। उस ग्रन्थ में आपने आदिकाल, पूर्व मध्य काल, उत्तर मध्यकाल, आधुनिक काल; ऐसे काल को चार भागों में विभक्त किया है। संख्या दो पूर्व मध्य काल में ही प्रकरण दो में "निर्गुण धारा ज्ञानाश्रयी शाखा" का विवरण दिया गया है। इस प्रकरण में कबीर, रैदास, नानक, दादू और सुन्दरदास की रचनाओं तथा उनके जीवन-काल के बारे मे शुक्लजी ने अपने विचार प्रकट किये हैं। निर्गुण धारा के अन्य सन्तों का इस ग्रन्थ में भी उल्लेख नहीं किया गया है। समझ में नहीं आता कि एक ऐसे प्रकाण्ड लेखक ने भी, जबकि हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा, निर्गुण धारा के अन्य सन्तों का इस प्रकरण में समावेश क्यों नहीं किया ?

संभव है, ग्रन्थ की विस्तारभीति से ऐसा किया गया हो, पर जब ग्रन्थ हिन्दी के इतिहास से ही सम्बन्धित है, तब चाहे संक्षेप में ही सही, निर्गुण धारा के उन महान् सन्तों का उल्लेख अवश्य किया जाना चाहिये था जिनने अपनी अनुभूतिमय रचना से हिन्दी के एक विशेष अंग की पूर्ति की। निर्गुणवाद का निरूपण करने वाले पर्याप्त संख्या में ऐसे महात्मा हुये हैं जिनने जन-समाज के मानस में नैतिक स्तर बनाये रखने में बहुत महत्वशाली योग दिया है। उनकी वाणियों ने साधारण मनुष्यों को अपना जीवन ऊंचा उठाने में पथप्रदर्शन का कार्य किया है। सन्त साहित्य का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। साहित्य से अभि-प्राय यही नहीं है कि वह काव्यमय ही हो। संभव है, शुक्लजी ने या तो राज-स्थानी सन्त साहित्य का ठीक से पता न होने से या फिर सन्त वाणियों को काव्या-नुशासन से बाहर मान उपेक्षा कर दी हो।

उनने निर्गुण धारा में दादूजी तथा दादूजी के शिष्य सुन्दरदासजी को ही स्थान दिया है, जब कि राजस्थान के अन्य अनेकों रचनाकार सन्तों का उसमें नाम तक नहीं आया है। राजस्थान में नाथों, सिद्धों तथा दादूपंथी, निरंजनी,

चरणदासी, दरियायी-सींथल-खेडापा रामस्नेही, शाहपुरा रामस्नेही, वेनामी आदि कई सम्प्रदायों के सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक आचार्य तथा उनके अनुयायी महात्माओं ने हिन्दी की अभूतपूर्व सेवा की हैं। क्या उनके नाम हिन्दी इतिहास में नहीं आने चाहिएँ थे ? इसका समर्थन कोई भी विवेकशील नहीं करेगा। रज्जबजी, सन्तदास, जगजीवण, जगन्नाथदास, दरियाव, वाजिंद, बखना, भीषजन, चत्रदास, खेम, राघोदास, हरिदास, सेवादास, तुलसी, कल्याणदास, हरिराम, रूपदास, आत्मा-रामदास, रामभजन, दूल्हेराम, हरिदास, चेतनदास, मुरलीराम, चम्पाराम, चरणदास, हरिरामदास, रामचरण, रामदास, जैमलदास, दयालदास मंगलदास, स्वरूपदास आदि अनेकों महान् सन्त राजस्थान की अन्यतम विभूतियाँ हैं। इन महान् साधकों ने निरपेक्षभाव से अपनी अनुभूतिपरक रचनाओं से हिन्दी के भंडार में अनुपम साहित्य की देन प्रदान की है। हिन्दी साहित्य में इनका गौरवपूर्ण स्थान अंकित होना चाहिये। जैसा कि अनुमान किया जा सकता है-शुक्लजी को राजस्थान की इन सन्त विभूतियों का तथा इनकी रचनाओं का परिचय न होने से ही उनकी 'निर्गुण धारा' अधूरी संकलित हुई है।

(ग) हिन्दी साहित्य और उसकी प्रगति

"हिन्दी साहित्य और उसकी प्रगति" के लेखक विजयेन्द्र स्नातक, क्षेमचन्द्र सुमन की भी यही स्थिति है। वे भी सन्त साहित्य से या तो सर्वथा अनभिज्ञ होंगे या इस पर कुछ लिखे गये पूर्व लेखकों के आधार पर उनका ज्ञान आधारित है।

(घ) आचार्य चतुरसेन

आचार्य चतुरसेनजी ने भी "हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास" लिखा। इनकी कृति उपयुक्त सब कृतियों से अधिक विस्तृत है। इनने राजस्थान के अनेक सन्तों का तथा उनकी कृतियों का अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है। यह वस्तुतः कुछ इतिहास के अंश की पूर्ति करता है। इसमें विवरण सम्बन्धी पर्याप्त भूलें अवश्य हैं जो कि उनसे होना अनिवार्य था। कारण उनका सम्पर्क साधु सम्प्रदाय से शायद ही अधिक हुआ हो। आचार्यजी की इस कृति में भी निरंजनी सम्प्रदाय को स्थान नहीं मिला है। उनने भी इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक स्वामी हरिदासजी का कोई विवरण नहीं दिया है, अतः उनके काल आदि का प्रश्न इस कृति में कैसे आता ?

(ङ) उदयपुर के मा० मोतीलालजी मेनारिया एम. ए. ने "राजस्थानी भाषा और साहित्य" नामक पुस्तक लिखी है। उनने भी अपनी इस कृति में पंचम प्रकरण सन्त साहित्य का लिखा है। उक्त प्रकरण में राजस्थान के प्रमुख पंथप्रवर्त्तकों तथा कुछ उनके पूर्ववर्ती सन्तों का उल्लेख किया गया है। निरंजनीपंथप्रवर्त्तक स्वामी हरिदासजी का भी उक्त प्रकरण में अन्त में अतिसंक्षिप्त विवरण दिया है।

उसमें उनके आविर्भाव, जन्मस्थान, साधनास्थान, काल आदि का कोई निरूपण नहीं है, केवल उनके देहावसान का सम्वत् १७०२ लिखा है जो कि लगभग विशेषण-मय है।

(च) बलियानिवासी पं० परशुरामजी चतुर्वेदी एम. ए., एल एल. बी. ने "उत्तरभारत की सन्तपरम्परा" नाम का एक अति उपयोगी ग्रन्थ लिखा है, उसमें प्रमुख रूप से सन्तपन्थ व उनके काल तथा कृतियों का ही निरूपण किया है। चतुर्वेदीजी ने यथाशक्य इस निरूपण में वास्तविकता तक पहुँचने का प्रयास किया है। इस उपेक्षित अंग पर उनने समुचित प्रकाश डाला है। निरंजनी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक स्वामी हरिदासजी का निरूपण करते हुए इनने उन मतों का भी विवेचन किया है, जिनका सम्बन्ध डा० बडथ्वालजी, माननीय क्षितिमोहन सेन, डा० हजारीप्रसादजी द्विवेदी व पुरोहित हरिनारायणजी बी. ए. जयपुर से है। इनने जाति, जन्मस्थान तथा दीक्षाकाल वही माना है, जैसा ऊपर लिखा गया है। जन्म तथा मृत्यु-काल के विषय में इनका ऊहापोह विचारणीय है। इनने उन पक्षों की संगति पर सम्यक् ध्यान देकर युक्तियुक्त ढंग से विचार किया है। कालनिर्णय में प्रबल बाधा इनके समक्ष स्वामी हरिदासजी की वह साखी है जिसमें हरिदासजी महाराज ने छैचकवे सम्राटों का उल्लेख किया है और उनमें अकबर का नाम आया है। अकबर का राज्यकाल स्पष्ट है। अपनी कृति में यदि स्वयं महाराज हरिदासजी अकबर का निरूपण करते हैं तो सामान्यतः यही ध्यान जायगा कि रचनाकार ने जिनका नाम लिया है, रचनाकार का अधिक से अधिक उनके सम-काल या उत्तरकाल में रहना सिद्ध होता है—उधर चतुर्वेदीजी ने दादूजी के शिष्य सुन्दरदासजी तथा राघोदासजी के मत का भी ध्यान रखा है। उनने परम्परागत प्रचलित समय को भी अनुपयोगी नहीं माना है। चन्द्रधरजी गुलेरी द्वारा नागरी प्रचारिणी पत्रिका में लिखे गये लेख का काल भी उनके सामने था, उनने इन सबको सामने रखते हुए अन्त में यही भाव व्यक्त किया है कि उनका काल सोलहवीं के उत्तरकाल व सत्रहवीं के उत्तरकाल के मध्य का ही होना संगत रह सकता है। उनने अपनी ओर से कोई निष्कर्ष इस विषय में निश्चित नहीं किया।

(छ) पंचोली वंशीलालजी, जो डीडवाणे के एक योग्य नागरिक हैं, जिनका परम्परा से जोधपुर राज्य के शासन से तथा निरंजनी साधुओं से लम्बे समय से सम्बन्ध चला आ रहा है, वे महाराज हरिदासजी का काल सोलहवीं सदी तक ही मानते हैं। उनके विचार से हरिदासजी का आविर्भाव पन्द्रहवीं सदी के अन्तिम चरण में और अवसान सोलहवीं सदी के अन्तिम चरण में हुआ था। उनका कथन है कि उनकी समाधि का निर्माण भी सोलहवीं सदी के अन्त में हो गया था। उनने जोधपुर राज्य से जो सनदें आदि निरंजनी सम्प्रदाय को मिलीं, उनका

विवरण भी दिया है। इनके कथन का मतलब है कि महाराज हरिदासजी का स्वर्गारोहण सोलह सौ से पहले हो गया था।

(ज) हिस्ट्री ऑफ जोधपुर में भी निरंजनी पंथ का उल्लेख किया गया है। उसमें स्वामी हरिदासजी से सम्वत् सोलह सौ के पश्चात् उक्त पंथ के चलने का निर्देश है। उसमें हरिदासजी की जो जीवनी लिखी गई है, वह किसी श्रुत आधार पर ही लिखी गई है। उसमें उनकी विरक्ति का जो कारण दिया गया है, उसकी परम्परा से संगति नहीं बैठती।

(झ) फारसी में लिखी गई "दबिस्तानुलमजाहिब" में भी स्वामी हरिदासजी का निरूपण किया गया है। उसमें इनको शांखले गोत के जाट तथा जन्मस्थान भी कापडोद से भिन्न लिखा है। इसमें इनके वैराग्य का कारण शिकार में 'गर्भवती हिरणी मारना' लिखा है। इसमें इनका मृत्युकाल सम्वत् १७०२ लिखा गया है।

इस तरह निरंजनी सम्प्रदाय के मूलपुरुष महाराज हरिदासजी के विषय में जो विभिन्न दृष्टिकोण ज्ञात हुए हैं उनका संक्षेप में ऊपर विवरण दिया गया है। उक्त विवरणों से उनकी जाति, जन्मस्थान, वैराग्योत्पत्ति, गृहत्याग तथा जन्म-मृत्यु काल में विभिन्नताएँ सामने आती हैं—अब इस विषय में परम्परागत तथा सन्तों की रचना से जो प्रकाश पड़ता है, उसका दिग्दर्शन कराया जाता है।

कालिक प्रमाण—

हरिदासजी के जीवन-चरित्र व परची लेखकों में क्रमागत ये लेखक सामने आते हैं—स्वामी हरिरामदासजी परचीलेखक, २. स्वामी रघुनाथदासजी परचीलेखक, ३. प्यारेरामजी भक्तमालकार, ४. पूर्णदासजी परचीलेखक, ५. रामबगसजी महता कृत मन्त्रराज प्रभाकर जीवन-चरित्र ६. रामचन्द्रजी गुजराती चरित्र-लेखक और ७. स्वामी जानकीदासजी चरित्रलेखक। हमने इन लेखकों के नाम कालक्रम से दिये हैं। इनमें पांच लेखक निरञ्जनी सम्प्रदाय के हैं, दो सद्गृहस्थ हैं।

पहिले लेखक स्वामी हरिरामजी हैं। ये सुशिक्षित तथा साधक महात्मा थे। इनकी 'परमार्थ पंचसतसई' तथा 'छन्दरत्नावली' उत्तम रचनाएं हैं। इनने स्वाम हरिपुरुषजी महाराज के पांच चमत्कारों का 'पंच परचई' नाम से निरूपण किया है। इनका रचनाकाल अठारहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण है। इसकी प्रामाणिकता इन्हीं के लिखे उस दोहे से स्पष्ट है जो इनकी छन्दरत्नावली की समाप्ति पर लिखा है—

सम्वत् शर नव मुनि शशि, नभ नवमी गुरू मान ॥
नगर डीड इद कूप तहँ, ग्रन्थ जन्म थल जान ॥ १ ॥

इस दोहे में सम्वत् का निर्देश है। उससे सम्वत् १७६५ सिद्ध होता है। सम्वत् के लिये निर्दिष्ट अङ्क उल्टे गिने जाते है-तदनुसार शशि एक, मुनि सात, नव नौ, शर पांच-इस तरह छन्दरत्नावली का रचनाकाल १७६५ में है। परमार्थ पंचसतसई यह छन्दरत्नावली से पहिले की रचना है। इनने और भी रचना की है। मेरे संग्रह में जो पुस्तक है उसमें इनके फुटकर नब्वे कुण्डलिये तथा पचास विरह के कुंडलिये लिखे हैं। बीकानेर निवासी स्वामी नरोत्तमदासजी के संग्रह में एक गुटका मैंने देखा था उसमें इनकी अन्य रचनाये हैं। मेरे पास जो इनके ग्रन्थों का गुटका है उसका लेखनकाल सं० १८५३ माघ बदी ३ है। इनने पंच परचई में केवल हरिपुरुषजी के चमत्कारों का वर्णन किया है। इनकी रचना में कहीं काल का उल्लेख नहीं है। परचईकार तथा भक्तमाल—लेखकों ने काल के महत्व को कोई स्थान नहीं दिया है। हरिदासजी की इस परचई से हरिपुरुषजी की अलौकिकता का ही दिग्दर्शन होता है। वे इस परचई का आरंभ इस तरह करते हैं-

प्रथम पीपली प्रत्यक सिला नागोर विशेषो,
नयो गेन्द अजमेर फुनिंग पुनि टोडे पेषो।

गिरि सों गागर गिरी नीझर राख्यो सारो,
देवी को सिष करी जार विष विप्र उधारो॥

सिंह परचो आमेर राव राजा सब जांणे,
अपंग विप्र पंथ चल्यो शाह सुत जियो सिंघाणे।

शिर पर कर गोरषनाथ को, ठौर ठौर परचा दियौ॥
जन हरिपुरुष निरंजनी, त्याग वैराग सब सिरे कियौ॥१॥

अन्त में यह दोहा कहा है—

इह श्री दयालजी की, पंच परचई नाम॥
अनत और परचा भया, कहै दास हरिराम॥१॥

उनकी वाणी के विषय में वे कहते हैं—

मनहर—हरिपुरुष दयाल जीवन को किये निहाल,
गुरू गोरष प्रताप गिरा यह उचारी है।

वेद रु पुराण सब कतेब कुरांण काव्य,
सोधि सोधि मंत्र तंत्र बांध्यों भ्रम भारी है ॥
ऋषीश्वर तपेश्वर मुनीश्वर जोगेश्वर,
ठाढेश्वर ऊर्ध्वबाहु भ्रमवश ख्वारी है ।
गोरष सिष दयाल प्रगटे हरीपुरुष,
बावन सिष सहित हरि प्रीति प्यारी है ॥

उपर्युक्त उद्धरणों से यह व्यक्त होता है कि निरंजनी सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हरिपुरुषजी थे, वे गोरषनाथजी के शिष्य थे। उनने कई तरह के चमत्कार दिखाये थे। काल-सम्वत् का इनने कोई उल्लेख नहीं किया है। इनका अपना काल अठारहवीं शताब्दी के द्वितीय चरण से चतुर्थ चरण तक का माना जा सकता है, जैसा कि छन्द रत्नावली के दोहे से सिद्ध है। संभव है ये महाराज सेवादासजी के समकालीन हों। सेवादासजी हरिपुरुषजी महाराज की छठी पीढी में हुए हैं। तदनुरूप हरिरामदासजी भी छठो या सातवीं पीढी में माने जाने चाहिए।

स्वामी सेवादासजी का जन्म सम्वत् १६६७ में हुआ था और उनका देहावसान सम्वत् १७६८ में हुआ—ऐसा निरूपण सेवादासजी के पोताशिष्य स्वामी रूपदासजी ने "सेवजी की परचई" में किया है—

सतरह सौ अठाणवें, वद पडवा जेठ मास ॥
जन सेवा स्वर्ग सिधारिया, किया ब्रह्म में वास ॥१॥
सोलह सौ सताणवें, चैत सुदी नवमी दिन ॥
ता दिन बाजा बाजिया, प्रगटे सेवा जन ॥२॥
ईश कला अवतार जन, राजगुरू घर सन्त ॥
रूपदास जन का कहूँ, महिमा बहुत अनन्त ॥३॥
जैसे जल में जल मिले, ऐसी संतन रीति ॥
रूपदास जन का कहूं, जिनके या परतीति ॥४॥
अठारा सौ बत्तीस में, वदि वैशाषां जोइ ॥
बारस तिथि गुरुवार दिन, परचई पूरण होइ ॥५॥

घटती बढती मातरा, अच्चर तुक अनुसार ॥
हरिजन सकल सुधारिज्यों, जन रूपदास बलिहार ॥६॥

उपर्युक्त दोहे से स्पष्ट है कि सेवजी महाराज सतरहवीं शताब्दी के अन्त में उत्पन्न हुए। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में शान्त हुए। रूपदासजी अमरपुरुषजी के शिष्य थे। अमरपुरूषजी सेवजी महाराज के शिष्य थे। मतलब–हरिदासजी महाराज के पश्चात् आठवीं पीढी में रूपदासजी हुए। उनने वाणी को रचना की है। उन्हींने सेवजी महाराज की परचई बनाई और उसका रचनाकाल सम्वत् अठारह सौ बत्तीस था। सेवजी महाराज के गुरु स्वामो दयालदासजी का अवसान सम्वत् १७४५ में हुआ–ऐसा विवरण ब्रह्मभाट की बही में है, जो कि संगत ही प्रतीत होता है। सेवजी ने सोलह वर्ष की आयु में दीक्षा ली–ऐसा परचई से विदित होता है।

षोडश वरस देह जब जोई, अगम ग्यांन गुण समझै कोई ॥
गैबी पुरूष गैब सूं आये, मिल मिल पूछें सन्त सवाये ॥

यह सम्वत् सतरह सौ तेरह आता है। दीक्षा लेने के पश्चात् सेवजी गुरुसांनिध्य में बत्तीस वर्ष रहे। हरिरामदासजी के पूरे काल का अभी कोई प्रमाण सामने नहीं है सिवाय छन्दरत्नावली के अन्तिम दोहे के। उनकी परम्परा भी अज्ञात है। हरिरामदासजी की परचई पहिली रचना है, जिसमें हरिदासजी महाराज के विषय का उपर्युक्त विवेचन है।

रघुनाथदासजी की परचई—

कालक्रम से दूसरे परचईलेखक स्वामी रघुनाथदासजी हैं, जो कि सेवजी के शिष्य महाराज अमरपुरुषजी के शिष्य थे। ये रूपदासजी के गुरु-भाई थे और उसी काल में थे, जिसमें रूपदासजो थे। इनने अपनी परचई में निर्माण-काल तो नहीं दिया है पर इनकी लिखी हुई वाणी की पुस्तक मेरे थांभायती स्थान वडू में है। उस पुस्तक का लेखन-काल सम्वत् १८२३ है। उस समय उनकी आयु तीस से चालीस वर्ष के बीच की मानी जाय तो उनका काल अठारह सौ पन्द्रह से लेकर अठारह सौ साठ तक का माना जा सकता है। परचई का रचना-काल अठारह सौ पचीस से चालीस के बीच का अनुमान किया जा सकता है। उनकी परचई से भिन्न और रचना भी होनी चाहिए पर वह अभी प्रकाश में नहीं आई है। इनकी परचई में हरिदासजी का निधनकाल दिया है, जन्मकाल नहीं है। पर उपदेशकाल के समय की आयु का उल्लेख किया गया है। उनके उद्धरण निम्नलिखित हैं—

आरम्भ—

दोहा— नमो नमो निज देवकूं, सतगुरु को शिर नाई।
सब सन्तन कूं बंदि के, परची कहूँ सुनाई ॥१॥

चौपाई— यती अमरदास गुरुदेव प्रणामा,
भक्तिहित दीजे मोहि स्वामां।

स्वामी सेव पुरुष को धाऊं, ता परसाद अकल अति पाऊँ।
ऐसी शक्ति नांहि कछु मेरी, चाहत कृपा संत जन केरी।
परचा कहने की मन भई, देव निरंजन आज्ञा दई।
ता तैं सबहिन को शिर नाऊँ, जन हरिपुरुष की परचई गाऊँ।
हरीदास है हरि उनहारा, जीव तारन कूं लियो अवतारा।
आए आप निरंजन सांई, हरि हरिदास अन्तर कछु नांई।
अलष पुरुष सूं चित बित लायो, गोरष ग्यान समझ कै पायो।
प्रथम डीडपुर प्रगटै आई, बरस चमाल घर मांहि रहाई।
पछिम दिस भाषर है सोई, तहाँ जंगल में रहते जोई।
एक दिनां प्रभु की गति भई, अन्तर्यामी आज्ञा दई।
गोरष ग्यान देण कूं आए, अपणे जांण कृपा करि धाए।
गोरष बुद्धि फेर तिहिं काला, वचन एक तब कह्यो दयाला।
हूं तेरा कपड़ा हर लेऊं, पीछे तो कूं जावण देऊँ।
तब गोरष बोले इहि वाता, कोण भरोसे हरे विष्याता।
तिरिया पुत्र बूझ के आई, पीछे ये सब ले तुम जाई।
तब ये घर पूछण कूं आये, त्रिया पुत्र वैठे तहां पाये।
देख उन्हें इन वचन उचारा, बुरी भली कै संग हमारा॥
तब उन कह्यो संग को जैहे, किये किये सब अपने पैहे।
हम तो तेरे वासे आए, बुरी भली में नहीं बँधाये॥
तब इन ग्यान अन्तर में पाया, गोरषनाथ पै दौड रु आया।
दरसण करत फिरी मति जब ही, अन्तर्ध्यान भये प्रभु तब ही॥
जब ही चलि भाषर में आए, गुफा हेरि हरिध्यान लगाए।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि हरिदासजी चवालीस वर्ष की आयु तक गृहस्थ थे। लूट-खोस का काम करते थे। एक दिन गोरषनाथजी के रूप में एक महात्मा आये। उनको भी इनने लूटने की तैयारी की। महात्माने उपदेश दिया कि इस बुरे काम का फल तुम्हींको भोगना होगा, जिस कुटुम्बके लिए तुम यह जघन्य कर्म करते हो वह कुटुम्ब इसके फलभोग में कोई हिस्सा नहीं बँटायेगा। हरिसिंहजी ने इसका विरोध किया तो महात्मा ने घर जाकर कुटम्बियों से पूछ कर निश्चय करने को कहा। तब हरिसिंहजी ने महात्मा को वृक्ष से बाँध घर जाकर सम्बन्धियों से पूछा कि मैं जो धन-माल लूट कर तथा हत्या करके लाता हूँ, उसके पाप में तुम भी भागीदार हो या नहीं? सम्बन्धियों ने इन्कार करते हुए ज्ञात किया कि हम तो तुम्हारे आश्रित हैं, यह तुमारा काम है कि तुम हमारा भरण-पोषण करो। कैसे काम से अर्थोपार्जन करो—यह निश्चय करना तुम्हारा काम है। यह उत्तर सुनते ही उनका कौटुम्बिक मिथ्यामोह समाप्त हो गया। वे शीघ्रता से लौटे, महात्मा के पास आए तथा उनको बन्धनमुक्त कर, उपदेश ले, पास की पहाड़ी में जा आत्म-चिन्तन करने लगे। आत्मपरिचय के पश्चात् उनने जहाँ-जहाँ भ्रमण किया तथा चमत्कार दिखाये, आगे परचई में उनका विस्तृत निरूपण है। परचईकार उनके चमत्कारोंका विवरण देकर उनके ब्रह्मलीन होनेका निरूपण करते हैं, वहाँ इस रूपमें काल का निर्देश करते हैं—

चौपई—प्रथम बहुत दिन यूं ही गइया, बरष चमाल तें चेतन भइया।
चमाल बरस वैराग कमाया, ता पीछे हरि माँहि समाया॥

सम्वत् सोलह सै जु सईका, ऋतु बसन्त आनन्दमई का।
फागण सुदी षष्टमी जाना, जन हरिदास हरि मांहि समाना॥

मिले निरंजन मांही दास, काल झाल सब काटी पास।
अरस परस हरि माँहि समाया, सो जस जन रघुनाथे गाया॥

शहर डीडपुर उत्तम धामू, तहां स्वामी कीयौ विश्रामूं।
सबै सिष वियोग अति करिहै, सेवग चित चरणों में धरि है॥

उक्त चौपाईसे स्पष्ट है कि आरंभ के चवालीस वर्ष हरिसिंहजी (हरिदासजी) के व्यर्थ गये, पश्चात् चवालीस वर्ष साधना कर उनने आत्मसाक्षात्कार किया तथा अपने अनुभव तथा उपदेश द्वारा दुखी संतप्त प्राणियोंका उद्धार किया। इस तरह अठ्यासी वर्ष की आयुका उपभोग कर सम्वत् सोलह सौकी फागण सुदी षष्ठी को इस नश्वर शरीर का डीडवाणे में परित्याग कर दिया। इससे व्यक्त होता है कि

हरिदासजीका जन्म करीब पन्द्रह सौ बारह के तथा अवसान सोलह सौ में हुआ। वे अठ्यासी वर्ष जीवित रहे।

लेखक परचई की समाप्ति इस तरह करते हैं—

चौपई—इतनी कथा कही मैं देवा, तुम अगाध मैं लष्यो न भेवा।
तुमरी गति मति तुमही जानों, अलप बुद्धि है कहा वषानों ।।
निराकार की किरपा भई, मन्त समागम परची कही।
जन अमरपुरुष के मस्तक हाथ, रुच रुच गावे जन रघुनाथ ।।

दोहा—रघुनाथदास जन का कहे, हरिगुण अनंत अपार।
अमरपुरुष परताप तैं, कछु इक कियो विचार ।।
परची हरीदासकी, भई संपूरण सोई।
घाट वाध यामें कोई, शुद्ध करि लीजो जोई ।।

परचईकर्त्ता ने अन्त में व्यक्त कर दिया है कि जैसी जितनी उनकी जानकारी थी, तदनुरूप उनने परचई कही है। कहीं यदि घाट-वाध (कमी-वेशी) या अन्य भूल रह गई हो तो विज्ञजन उसमें सुधार कर लें। रघुनाथदासजी पहले लेखक हैं, जिनने हरिदासजी महाराजके समयसम्बन्धी काल पर प्रकाश डाला है। उनका जन्म, जाति, स्थान, गाँव आदि का जो पीछे निरूपण किया गया है, उसका समर्थन है।

प्यारेरामजीकृत भक्तमाल—

निरंजनी सम्प्रदायके तीसरे लेखक स्वामी प्यारेरामजी हैं। जिनने भक्तमाल की रचना की है। कालक्रमसे भक्तमाल का रचनाकाल सम्वत् १८८३ है, जैसा कि रचनाकार स्वयं निरूपण करते हैं-

दर्शन गुरु दया कीन्ही प्यारे कूं जू आज्ञा दिन्हीं,
इष्ट अनुक्रम से जु भक्तमाल गाइये।
भक्तमाल घणी और संता कीन्हीं ठौर ठौर,
इष्ट विहूणी मोहे मन नहिं भाइये।
गुरु आप आज्ञा दिये ता ते भक्तमाल किये,
अठारै से तियासी वात यह कहाइये।
मोरेड नगर मांहि आधी रात होता ताहि,
गुरां आप रीझ कर प्रचा जो बताइये ।।२०४।।

दोहा— लीज्यो सन्त सुधार के, घटती बढती मात ।
तोतर वांणी बाल की, समझ जात है मात ।।
जन प्यारे की बीनती, सुण लीज्यों महाराज ।
चार जुगा में सन्त भये, ते मेरे सिरताज ।।

प्यारेरामजी ने अपनी भक्तमाल में अपनी सम्प्रदाय के कई महात्माओं का विशेष निरूपण किया है जिनका कि अन्य भक्तमाल-लेखकोंने नाम-निर्देश तक नहीं किया। जैसा ऊपर व्यक्त किया गया है अमरपुरुषजी महाराजके शिष्य दर्शनदासजी ने, जिनके कि प्यारेरामजो शिष्य थे, उक्त प्रकारकी भक्तमाल लिखने की प्रेरणा की। गुरुजी के निर्देशानुसार इनने हरिपुरुषजी, षेमजी, चत्रदासजी, पोकरदासजी, दयालदासजी, सेवादासजी, अमरपुरुषजी निरंजनी महात्माओंका निरूपण कर पश्चात् अन्य महात्माओंका विवेचन किया है। प्यारेरामजी ने अन्य भक्तमालकारों की तरह काल का उल्लेख नहीं किया है केवल सेवादासजीके स्वर्गारोहण के सम्वत्का उल्लेख किया है। बतीस मनहर छन्दों में हरिपुरुषजी के विविध परचों का तथा उनके भ्रमण का दिग्दर्शन कराया है। उनके जन्म, साधु बनने, तथा अवसानके समयके विषयमें कुछ नहीं लिखा गया। उनमें हरिपुरुषजीके आदि-अन्त के बारे में इस तरह उल्लेख किया है—

मनहर—कापड़ोद गाँव तहाँ हरिपुरुष अवतरे,
महिमा अपार पार कहाँ लग गाइये।
है प्रसिद्ध डीडपुर जहां जप तप कियो,
गाढ़ेशाह सेवा करि मेलो जू रचाइये।
आवत वसन्त ऋतु आनंद अपार होय,
हजारों ही कोसन के सन्त चलि आइये।

× × ×

सांखला के कुल माहिं आप जो जनम लियो,
चोधरण चूंगे थना वंश जू कहाइये।
सूर सो प्रचंड तेज दिव्य है मुखारविन्द,
देखत आनन्द होइ नैनन खिंचाइये ।।

× × ×

डीडवाणे कोल्या बीच खोसल्यो कूवो कहाय,
तहाँ आप बैठे रहे घोड़े चढ़ आइये।
माल जो ले जाय कोई ताहि पै धराये डाँण,
बणियां को रूप धरि गोरष तहाँ आइये॥
गोरष वचन बोले एता तुम पाप करो,
आगे लेखो होई जब छूटो कैसे जाइये।
पूछो क्यों न घर जाय कौन तेरो संगी होय,
तब घर जाय आप बूझना कराइये।
तुम कियो पुण्य-पाप तुमही भोगोगे सब,
और को जू कैसे आवे ऐसे जू कहाइये॥
उदासी जो होय करि पीछे आप आये तहाँ,
आवत ही पाँव परे चरण चित लाइये।
अब आज्ञा करो आप सोई मैं तो शीश धरूँ,
गोरष बोले घर त्याग तीखो पर जाइये॥

× × ×

फागण वसन्त ऋतु चाँदनी जु छठ ताहि,
ता दिन अडग आप ध्यान जु लगाइये।
सब ही जु देव आये वीणासुर नभ छाये,
चार भुजा धार करि प्रभु आप आइये।
चारों हाथ माथे धरि माँगो माँगो कहे ऐसे,
अखंड भगति तोहि और कहा चाहिये।
भावे तो कैलाश जाओ भावे जाओ ब्रह्मलोक,
भावे तो वैकुण्ठ ताहि इच्छा जहाँ जाइये।
तब स्वामी परे पाँय मेरे नहीं और चाह,
ऐसी कही स्वामी तब ज्योति में मिलाइये॥

ये प्यारेरामजी के जीवन-सम्बन्धी उद्धरण हैं। इनसे ग्राम, जाति, गृहस्थकार्य, संसार से वैराग्य का कारण, गोरषनाथजी से उपदेश, तीखी डूँगरी पर तप करना, पश्चात् परिभ्रमण करते हुए विविध क्षेत्रों में विविध प्रकार के चमत्कारमय कार्यों को करते हुए अपनी अनुभूति से प्राप्त सफलतानुसार प्राणियों को उपदेश देकर अन्त में डीडवाणे आकर ब्रह्मलीन हुए—यह सब स्पष्ट है। अवसान से सम्बन्धित फाल्गुन शुक्ला षष्ठी स्थान डीडवाणे का उल्लेख है, सम्वत् का उल्लेख नहीं है। इस तरह इन तीन निरंजनी महात्माओं की प्राचीन कृतियों में हरिरामदासजी व प्यारेरामजी ने उनके जीवन के परचई भाग का निरूपण किया। काल-सम्बन्धी स्थिति में उनसे कोई जानकारी नहीं मिलती—केवल रघुनाथदासजी की परचई में काल का निरूपण है। उसमें गृहत्याग का काल तथा अवसान-काल का स्पष्ट उल्लेख है। इनसे आगे के परवर्त्ती लेखकों ने अपनी कृतियों में काल का निरूपण किया है। कृतियों का दिग्दर्शन इस रूप में है।

पूर्णदासजी की परचई—

बीसवीं शताब्दी के लेखकों में नवलगढ़ निवासी स्वामी पूर्णदासजी का रचना-काल सम्वत् १९१० से चालीस तक का माना जा सकता है। जिस गुटके में इनकी परचई लिखी हुई है उसका लेखन-काल सम्वत् १९४५ वैशाख सुदी ४ मंगलवार है। इससे सिद्ध है कि रचनाकाल इससे पहिले ही का होना चाहिए। अन्य परचई-लेखकों की तरह इनमें भी हरिदासजी महाराज के यात्रा-काल में जो चमत्कारी कार्य हुए उनका उसी तरह निरूपण किया है। पूर्णदासजी ने काल-सम्बन्धी उल्लेख किया है वह तथा जो नवीन कल्पना गुरु-सम्बन्धी की है—उन्हीं प्रकरणों को उद्धृत करना संगत है :—

छप्पय—चौवदे सै चौहतरे, जन्म लियो हरिदास ॥
सांखल के घर अवतरे, छतरी वंश निवास ॥

छतरी वंश निवास, तेजमय मूरति राजे ॥
छतरी होय सो सूर, मात को दूध न लाजे ॥

मिलिया गोरषनाथ हरि, दीयो ज्ञान प्रकाश ॥
चौवदे सै के चोहतरे, जन्म लियो हरिदास ॥

हरिपुरुष हरि की कला, सांखल घर अवतार ॥
चोधरण का थण चूंगिया, सांवत के आकार ॥

सांवत के आकार, पाल कर मोरा कीया ।।
जन कापड़ोद् के धणी, देष कर खोले लीया ।।
बारह गाँव गढ़ वारणें, तेजपुंज तव सार ।।
हरि पुरुष हरि की कला, सांखल घर अवतार ।।

दोहा—हरिदास जी आविया, गलतै सन्तन धाम ।।
प्रयागदासजी गुरु मिल्या, करी प्रेम परणाम ।।१।।
प्रयागदास को गुरु किया, हरीदास महाराज ।।
इष्ट भाव के कारणें, करी धरम की याज ।।२।।
कंठी माला तिलक ही, प्रयागदासजी दीन्ह ।।
हर्षित हो हरिदासजी, भक्तिभाव से लीन्ह ।।३।।

छप्पय—पन्द्रह सै के पिचाणवे, कियो जोति में वास ।
फागण सुदि की छठ तिथि, परम जोति परकास ।
परम जोति परकास, शब्द सतगुरु का जाण्याँ ।
इष्ट निरंजन देव, ताहि में तत्व पिछाण्याँ ।
बीसा सो वपु राखिके, जन हरीदास निज दास ।
पन्द्रह सै के पिंचाणवे, कियो जोति में वास ।।१।।

× × ×

पद्— गाढा की छविरासी अद्भुत भाई, काऊ से वरणी न जाई ।।टेक।।
हरिपुरुष हरि आप निरंजन, जन यो धाम बसाई ।।
पूर्णदास कहे कर जोड्याँ, सन्त चरण शिर नाई ।।

पूर्णदासजी के उक्त उद्धरणों से हरिदासजी का जन्मकाल १४७४ और अवसान-काल १५९५ ठहरता है। जाति से शांखला क्षत्रिय, शूरवीर और सुन्दर। इनकी तेजस्विता देख कापडोद के ठाकुर ने, जिसके बारह गांव और थे, इनको गोद लिया। ये गुरु की खोज में गलते गये। वहां इनने प्रयागदासजी को अपना गुरु किया। उनने दीक्षित कर इनको कंठी-मालातिलक प्रदान किया। इनने गुरु-उपदेश के अनुसार ईश्वर-चिन्तन किया, अन्य संसारी जनों को उपदेश दिया, धर्म की रक्षा की तथा एक सौ बीस वर्ष देह रखकर अन्त में परमेश्वर की शरण प्राप्त की।

पूर्णदासजी व्यक्त करते हैं कि हरिदासजी ने वैष्णव सन्त प्रयागदासजी से दीक्षा ग्रहण की तथा कंठीमाला-यज्ञोपवीत आदि प्राप्त किये। आपका यह लिखना केवल कल्पना से सम्बन्धित है। उनने यह कल्पना शायद इस कारण से की हो कि उनके समय में अधिकांश निरंजनी महात्मा मन्दिर-पूजक तथा सगुणोपासक हो गये थे। रहन-सहन में भी वे वैष्णवों का अनुगमन करने लग गये थे। प्रायः ही महात्मा श्रीतिलक, यज्ञोपवीत धारण करते थे। उपासना भी देवालयों के कारण सगुण हो गई थी। इस स्वरूप को देख कविवृत्ति पूर्णदासजी ने सोचा होगा कि इनका गुरु-सम्बन्ध किन्हीं योग्य वैष्णव-महात्मा से जोड़ देना उचित है। सोलहवीं शताब्दी में महात्मा पयहारी कृष्णदासजी गलते में पधारे थे। उनके शिष्य अग्रदासजी हुए, जिनका काल सत्रहवीं शताब्दी का मध्यभाग है। अग्रदासजी के शिष्य प्रयागदासजी थे, जिनका कार्यकाल सत्रहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण था। इन्हीं प्रयागदासजी से हरिदासजी ने गुरुदीक्षा ग्रहण की—यह पूर्णदासजी ने उल्लेख किया है। साथ ही उनने हरिदासजी का कार्यकाल संवत् १४७५ से १५६५ माना है। हरिदासजी ने चालीस-पैंतालीस वर्ष की आयु में दीक्षा ग्रहण की थी—ऐसा सभी पक्षों का मानना है। इस विचार से देखें तो यह समय १५१५ से १५२५ के बीच का आता है। उस समय तो महात्मा पयहारी कृष्णदासजी का ही पदार्पण गलते में न हुआ हो। प्रयाग-दासजी पयहारी कृष्णदासजी के शिष्य अग्रदासजी के शिष्य थे। जिनका कार्यकाल सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से पूर्व नहीं आता, इस स्थिति में प्रयागदासजी से हरिदासजी के दीक्षा लेने की कैसे संगति बैठ सकती है। स्वयं पूर्णदासजी के कालो-ल्लेख से ही उनकी कल्पना असंगत हो जाती है।

प्रयागदासजी से दीक्षा लेने के विपरीत दूसरा सबल प्रमाण है स्वयं महात्मा हरिदासजी। उनने जिस वाणी की रचना की है उसमें पद-पद पर निर्गुण उपासना का समर्थन है। उनकी एक यही साखी प्रमाण में पर्याप्त है। वे कहते हैं कि :—

पाहन को कर्त्ता कहे, ताका काला मुँह ॥
हरिदास जन यूँ कहे, मोहे साहब की सुँह ॥१॥
ज्यूँ मूरति त्यूँ ही शिला, राम बसै सब माँहि ॥
जन हरीदास पूरण ब्रह्म, घाटि वाधि कहुं नांहिं ॥२॥
नहिं देवल सूँ वैरता, नहिं देवल सूँ प्रीति ॥
किरतम तजि गोविंद भजै, यह साधां की रीति ॥३॥

ये साषी भाग "मर्म-विध्वंस अङ्ग" की तीन साषी हैं। उससे आगे "भेष" का अङ्ग है उससे स्पष्ट है कि वे मूर्ति-पूजा तथा भेष-विशेष धारण करने के परम

विरोधी थे। यदि वे वस्तुतः ही वैष्णव-सन्त प्रयागदासजी से ही दीक्षित होते तथा उनके उपदेशानुसार साधना करते तो वे निर्गुण उपासना का इतना प्रबल समर्थन न कर सगुणोपासना का समर्थन करते। सगुणोपासना का खंडन तो कदापि नहीं करते। उपर्युक्त दोनों सबल प्रमाणों के पश्चात् पूर्णदासजी की परचई का यह भाग संगत नहीं है—यह स्पष्ट है। पूर्णदासजी से भिन्न अन्य किन्हीं जीवनी-लेखकों ने इनको वैष्णव-सम्प्रदाय से दीक्षित नहीं लिखा है। अतः हम पूर्णदासजी के इस उद्धरण का यही अर्थ मानते हैं कि उनने न तो ऐतिहासिक-तथ्य तथा न काल-सम्बन्ध व न स्वयं दीक्षित महाराज हरिदासजी के भावों का ध्यान रखा, केवल प्रचलित स्थिति सामने आई उसी को इस रूप में सम्बन्धित कर देने का प्रयास किया जिसकी संगति का कोई आधार नहीं है। अतः यह पक्ष केवल काल्पनिक-मात्र है।

"मंत्रराज-प्रभाकर" ले०—रामबगसजी महता, रचना-काल संवत् १९४४-४५

महता रामबगसजी ने "मंत्र-राज प्रभाकर" नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसके दो भाग हैं। ग्रन्थ का विषय है—"राम नाम मंत्र" सर्वोपरि है। ग्रन्थ-लेखक के उपदेष्टा गुरु अर्जुनदासजी निरंजनी महात्मा थे। अतः उनने अपने ग्रन्थ का अन्तिम १२वां उल्लास निरंजनी-सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक महात्मा हरिपुरुषजी (हरिदासजी) के सम्बन्ध का लिखा। उनके लिखने का आधार संप्रदाय की परम्परा व जनश्रुति है। उनने लिखा है :—

छन्द पद्धरि—श्री दयालु नाम हरिपुरुष जान, प्रगटे सुडीडवाणे महान।
राम कला अवतार अंस, धन्य मातु पितु क्षत्री वंश।
कापड़ोद निज जन्मभूम, भये प्रगट सु सांखल कौम।
चवदा शत संवत् सप्त चार, प्रगटे सुदेश मुरधर मझार।
कर रहे खड्ग बल खोसलूट, नहिं शंका लेश रह्यो राव रूठ।
कर्मयोग एक दिन अजान, मिले ताहि गोरख महान।
पुनि राम मंत्र उपदेश कीन, जप करत भजनबल ब्रह्म चीन।

× × ×

साखी—ऊँचो डूँगर विषमता, जल को नाहिं निवास।
हरिदास हरिमिलन को, किया शिखर पर वास।
एकादश मिल हरिदास, जिन परम जोति में कियो वास।

× × ×

दोहा—पन्द्रह सौ पंचानवे, सुद फाल्गुण छठ जाण ।
विंशा सो वपु राख के, पहुंचे पद निर्वाण ॥

महताजी के लिखित ये उद्धरण व्यक्त करते हैं कि हरिदासजी का जन्म-स्थान, जाति, कार्य, उपदेश, साधना व जीवन-काल उसी रूप के हैं जैसे परचईकारों ने लिखे हैं। इनने अपनी ओर से किसी नई दृष्टि को व्यक्त नहीं किया है।

रामचन्द्र गुजराती रचित "दयालु-चरित्र" लेखन-काल १६४४-४५ प्रकाशन-काल १६४६ ।

पं० रामचन्द्रजी संस्कृत के योग्य विद्वान् थे, उनने संस्कृत तथा हिन्दी-पद्यों में "दयालु-स्तोत्र" तथा दयालु-महिमा का वर्णन किया है। दयालु-स्तोत्र जो कि संस्कृत में है उसमें चौदह पद्य हैं। हिन्दी पद्यों में जो कि रामचन्द्रजी के शिष्य आशारामजी दाधीच रचित है, दयालु-महिमा तथा उनके जीवन पर भी संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। संख्या में ये पद्य सत्रह हैं। उक्त दोनों की रचना के दोनों तरह के पद्य निम्नरूप में हैं—जिनसे हरिपुरुषजी महाराज के महत्व का दिग्दर्शन होता है।

पुण्यैर्जन्मान्तरीयैः समधिगतमहासाधुसत्संगलब्ध-
स्वात्मानंदावबोधोदयसरणिरलं शान्तमानान्तरायः ।
अध्यासीनो विविक्तं बहुदिनममलं यो जपन् रामनाम,
प्रापत्सद्योगसिद्धिं गुरुमहमनघं संश्रये श्रीदयालुम् ॥१॥
वाणीं वेदांतसारां गहनतरमहाज्ञानरत्नोज्ज्वलां यो,
व्यातेने व्याहतात्मा ग्रथितगुणभरां स्वानुभूतिप्रचाराम् ।
संसाराम्भोधिभीतांश्चरणशरणगान्मानवान्वीतमाना-
नुद्धर्तुं साधुवर्यं शमसुखनिरतं श्रीदयालुं भजेऽहम् ॥२॥

हिन्दी पद्य—नगर एक सुन्दर है डिडवान, तहाँ से पश्चिम दिशि गिरि जान।
तिन सै क्रोशार्द्ध बसै एक ग्राम, जिसका कापडोद है नाम।

दोहा— उसी ग्राम के बीच में, क्षत्री हुवा बलवान।
हरीसिंह था नाम जिनों का, दया नहीं उर म्यान।

तिहि परबत ऊपर नित आवे, हिंसा कर लूट खोस खावे ।
मार नर दिये कूप कई डार, ताहि लख आये सिरजनहार ।
आये श्रीकमलापति, विप्र रूप को धार ।
क्षत्री द्विज को देख, खड्ग निज करी म्यान से बार ।
आय कहा लूटूँ तेरा माल, मार कै देऊँ कूप में डाल ।
वचन सुन बोले विप्र तत्काल, बली तू मेरा वचन समाल ।
माई बाप अरु कुटुंब को, घर जा पूछो आप ।
हिंसा करू लूट खोसू सो, कौन भोगसी पाप ॥
वचन सुण बांध विप्र का हाथ, गया घर हरिसिंह उस स्यात ।
जाय घरकां को पूछी बात, उतर दियो स्त्री भगिनी पितु मात ॥

दोहा—इस कलियुग जुग बीच में, सुन हो सुघड़ कुमार ।
जो अघ करसी वोही भोगसी, इसमें फरक न तार ।

फेर पीछा आया द्विज पास, होय के मन में बहुत उदास ।
पड़ा चरणों में होय निरास, पाहि गोविंद मैं तेरो दास ॥
धर्‌यो सिर कर-सरोज कर्तार, जपो हरिनाम राम हर बार ।
श्रेष्ठ उपदेश श्रवण सुन सार, ध्यान दृढ़ लियो यही उर धार ।

दोहा—गिरि शिखिर ठाढ़े करैं, हरिभक्ति निरव्याज ।
निसदिन प्रेम मगन मन होके, हरिपुरुष महाराज ।

× × ×

नाम दोनों को चढो परवान, सुकके बावन चेला हुए आन ।
सभी को दीनो निश्चल ग्यान, धरो जाय उत्तर घरों में ध्यान ।

दोहा—शतक विंशवीं तेवरस, हरिपुरुष मनमान ।
तजणैं लगे शरीर को, जप गाढ़ो निज गुरु जान ।
पन्द्रह सै पिच्याणवैं , फागण सुद छठ जांण ।
जा दिन से मेला मरे, या है सांची सहनांण ॥

उक्त हिन्दी-रचना पं० रामचन्द्रजी गुजराती के शिष्य आशाराम दाधीच कृत है। इससे भी स्थान, जाति, पेशा, जीवन-काल पूर्ववत् ही सामने आते हैं। इनने उपदेश देने वाले गुरु गोरखनाथ के स्थान पर परमपिता जगन्नियन्ता को विप्ररूप धर उपदेश देने का उल्लेख किया है, इनका यह उल्लेख भी पूर्णदासजी की तरह काल्पनिक है। यह कल्पना शायद इसी विचार से की गई कि उनके समय में प्रायः ही निरंजनी महात्मा तिलक, कंठी, यज्ञोपवीत धारण कर मन्दिर-पूजा करने लग गये थे। साधु-वर्ग की उस स्थिति का गोरखनाथजी के निर्गुण भक्ति उपदेश से सामंजस्य नहीं बैठाया जा सकता था इसीसे इस तरह की कल्पना की गई। इनने भी अन्तिम काल पन्द्रह सौ पंचानबे ही लिखा है। आयु भी एक सौ बीस वर्ष की लिखी है इसमे जन्म-काल भी चौदह सौ पिचहत्तर अपने आप आ जाता है।

स्वामी जानकीदासजी बालोतरा रचित "जीवन-चरित्र" रचना-काल सं० १९६२

बालोतरा निवासी महात्मा रामरतनदासजी के सुयोग्य शिष्य जानकीदासजी ने दोहे-चौपाई में महाराज हरिदासजी के जीवन-चरित्र की रचना की। उनने अपने इस जीवन-चरित्र में प्रमुखतया हरिपुरुषजी के चमत्कारी परचों का विस्तार मे वर्णन किया हैं। उनने इनके जन्मस्थान, कार्य आदि का भी निरूपण किया है उसके आवश्यक अङ्ग नीचे दिये जाते हैं जिनसे हरिपुरुषजी महाराज के जीवन पर प्रकाश पड़ता है। वे लिखते हैं —

चौपाई—तब हरिदास धरयो अवतारा, करण सकल जीवन उद्धारा।
मारु सुदेस जिला जोधाणे, कापडोद शुभ ग्राम बखाने॥
तहाँ के ठाकुर अति रणधीरा, बलबुधि निपुण भक्त हरिजी रा।
जाति शांखला सूरजवंशी, राजपूत कुल सब अवतंसी॥

दोहा—तेही की तिरिया भगत हरि, रूप शील गुण खानि।
ता के उदर सु अवतरे, करन जगत कल्याणि॥

× × ×

चौ०—दिलवायो हरिसिंह जू नामा, हृष्ट-पुष्ट तनु परम ललामा।
इहिं विधि बाल अवस्था बीती, तरुणाई आई मनचीती।
केऊ ग्राम के ठाकुर भारी, तिन कन्यागुण रूप अपारी।
होवत भयो ब्याह तिन संगा, धूमधाम सू भरे उमंगा॥

दोहा— एक समै हरिसिंहजी, चंचल चढ़े तुरंग।
जात भए बन भूरि जहां, करण शिकार उमंग ॥

चौपाई—करण लगे शिकार मुद मानी, तिहिं क्षण आये गोरख ग्यानी।
लख हरिसिंह जू कियो प्रणामा, तब बोले गोरख मतिधामा।
इन जीवन को तुम मत मारो, जीव हिंस्या पातक अति भारो।
जितने रोम तासु तन माहीं, तितना सहस नरक भुगताहीं।
जीव बदलो छूटत नहिं भाई, तातें तजहु हिंसा दुखदाई।
देखहु जग में थोरा जीना, काहे पातक करो मलोना।
× × ×
सुनत ही वचन भयो विरागी, उपजी हरिचरण अनुरागी।
कर गोरख को डंड प्रनामा, तुरत चले गिरि गुहा ललामा।
कर पद्मासन बैठे स्वामी, भजन लगे हरि अन्तरयामी।
अडिग समाधि लगी तिहि वारा, ररंकार धुनि होत अपारा।

दोहा—इहिं विधि हरिपुरुषजी, योग समाधि दृढ़ धार।
भजन कियो परब्रह्म को, काम क्रोध मद मार।

चौपाई—फागन शुक्ला षष्ठी आई, उत्सव होन लग्यो अधिकाई।
बावन शिष्य स्वामी जू केरे, सम्मुख बैठे मुख सब हेरै ॥
इहिं विधि कहत कहत निज ज्ञाना, देख परयो नभ मांहिं विमाना।
तब प्रभु ब्रह्मरंध्र मग भेदी, रवि शशि उदय केर मग छेदी।
जात भये निज धाम मंझारी, दिव्य बाज बाजै तेहि वारी।
संवत सोलह सो सई कै, हरिपुरुष गये धाम हरि कै ॥
संवत चवदा सो पचहत्तर, जन्म लियो हरिदास जु बुधवर।
जो यह कथा सुनै अरु गावै, सो जन निजानंद पद पावे ॥

दोहा— संवत उनईसा कही, साल वासटै जान।
फाल्गुन शुक्ला त्रयोदशी, भई समापत मान ॥

उक्त जीवन-चरित्र के उपर्युक्त उद्धरणों से ज्ञात होता है कि ग्राम, जाति तथा काल का निरूपण इसमें भी वैसा ही हुआ है जैसा अन्य परचईकारों व जीवनी-लेखकों ने लिखा है। इस जीवन-चरित्र में जिन बातो की भिन्नता है वे इस तरह हैं। जन्म, पेशा तथा उपदेशोपलब्धि का निरूपण भिन्न तरह का है। इसमें हरिसिंहजी का जन्म कापडोद के जागीरदार ठाकुर के घर होना लिखा है। पेशा भी डाकेजनी का नहीं लिखा गया है। कारण, जब वे जागीरदारके प्रिय पुत्र हैं तब उनको अभाव किस चीज का रहता। इसमें एक केऊ ग्राम के ठाकुर की सुपुत्री से इनके विवाह का भी उल्लेख है। इसमें वैराग्योत्पत्ति का हेतु भी हिरणी का शिकार लिखा है। उपदेश देने वाले परम पिता परमेश्वर को लिखा गया है। मेरी समझ से उक्त विभिन्नताओं का विशेष महत्व नहीं है। कारण इनसे प्रमुख आधारों में कोई अन्तर नहीं आता। सम्भव है चरित्र-निर्माता महात्माजी ने हरिसिंहजी को एक साधारण राजपूत व डाकू का रूप देना अपनी गुरुभक्ति की भावना से उचित नहीं समझा। समय लम्बा निकल जाने तथा सगुणोपासना की प्रधानता सम्प्रदाय में आ जाने से उनने गुरु परम्परा भी नाथों की लिखना ठीक नहीं समझा होगा। मेरी समझ से उक्त विभिन्नताओं का हेतु सम्प्रदाय की सामयिक स्थिति के आधार से बनी मनो-भावना ही थी अतः इन विभिन्नताओं को इसी दृष्टि से देखा जाना संगत है।

इस तरह उपर्युक्त परचई लेखकों व जीवन-चरित्र-लेखकों का दृष्टिकोण हमारे सामने आया है। आगे हम उन विभिन्न सम्प्रदायों के रचनाकार महात्माओं की हरिदासजी महाराज के विषय में क्या धारणा थी—उसका संक्षिप्त दिग्दर्शन कराते हैं।

राजस्थान में विभिन्न सन्त-मतों का आविर्भाव हुआ। उनके आचार्य व उनके परवर्त्ती महात्माओं का जिस-जिस काल से सम्बन्ध था तदनुसार कालक्रम से ही हम यहाँ उनके उक्त उद्धरणों को उपस्थित करते हैं। हरिदासजी के विषय में एक यह विवाद भी प्रस्तुत है कि वे दादूजी के शिष्य प्रयागदासजी बियाणी के शिष्य थे। पश्चात् वे नाथ महात्माओं के सहवास में आये। दादूजी का काल निर्णीत है। वे सम्वत् १६०० में उत्पन्न हुये तथा १६६० में उनका स्वर्गारोहण हुआ।

उनके बावन शिष्य होना प्रसिद्ध है जिनका सम्बन्ध सम्वत् १६३० से १६६० तक चलता रहा है। दादूजी के तीन शिष्य बखनाजी, जग्गाजी व छोटे सुन्दरदासजी ने अपनी रचनाओं में हरिदासजी का स्मरण किया है। दो पोताशिष्य खेमजी तथा चैनजी ने भी अपने निर्मित साहित्य में उनका उल्लेख किया है। स्वामी प्रहलाददासजी के पोताशिष्य स्वामी राघोदासजी ने अपनी भक्तमाल में निरंजनी सम्प्रदाय के द्वादश महन्तों का विवरण दिया है। इनके क्रमशः उद्धरण नीचे दिये जाते हैं—

दादूशिष्य वखनाजी—

वखनाजी नराणे ग्राम के रहने वाले तथा दादूजी के नैष्ठिक शिष्यों में थे। इनका अवसान सम्वत् सत्रह सौ से पहिले ही हो गया था। इनकी समाधि त्रिपोलिये के पास नराणे में बनी हुई थी। इनने वाणी की रचना की थी। ये स्वयं अच्छे संगीतज्ञ भी थे, इनने साखी तथा पदों की रचना की है। उनकी मुद्रित वाणी के पृष्ठ ११८, पद-९६ में वे लिखते हैं—

वो घर बोलगी उलगाणो ?
जिहिं ध्रु प्रहलाद निवाजियो, वैकुंठ तणो दियो थांणो ।।टेक।।

× × ×

जाके नामा सेन कबीरा, पींपा धना अहीरा।
सूरदास रैदासा , सगलां की पूरे आसा ।।
जाके दत्त गोरष रूपो आदू, गोपीचन्द भरथरी दादू।
सोझा बीझल हरिदासा, जन नानक चरन निवासा ।।
जाके भगत शिरोमणि सारा, तहाँ दीसै दै दै कारा।
सब मांही राम बिराजै, तिहिं घर सदा बधावा बाजै ।।
जिहि घर वरतण एती, सो जाणी जाइ न केती।
सेस सहस मुख गावै, वे भी पार न पावै ।।
सो अनत लोक को राजा, घण हरसाँ बाजै बाजा।
अविनासी राजा कहिये, वषना तिहिं घर औलग रहिये ।।

इस पूरे पद के अठारह छन्द हैं। इसमें उस विभु-व्यापक ब्रह्म की महत्ता तथा उनके अनुगामी महात्माओं का निरूपण किया है। कबीर, नामदेव, नानक, रैदास आदि अपने से पहिले हुए महात्माओं में ही हरिदासजी की गणना की है। इससे स्पष्ट है कि वखनाजी के रचना-काल से पहिले हरिदासजी हो चुके थे। वखनाजी का रचना-काल संवत् १६५० से ८० तक का माना जा सकता है।

"दादूशिष्य जग्गाजी", समय–संवत् १६५० से १६८०

उनने लघु रूप में भक्तमाल लिखी है, उनके पद्य भी हैं। भक्तमाल में उनने अतीत-महात्माओं का निरूपण किया है। उससे सम्बन्धित अंश इस रूप में हैः—

भक्तमाल—नामदेव कबीर तिलोचन धूरि स्वामी,
इनहू कह्यो भज अन्तर्यामी।
रामानन्द सुषा श्रीरंगा,
नानक कह्यो रहु हरि के संगा॥
पींपा सोंझा धना रैदासा,
राम राम की बंधाई आसा।
सुकाल सेठ जनक राँका बाँका,
इनहू दियो हरिनाम का नाका॥
वीझल वेणी नापा हरिदास,
इनहू कह्यो हरि तेरे पास॥

× × ×

गुरु गुरु भाई सबमें बूझ्या, तिनकै ग्यान परमपद सूझ्या।
जगिये साध सिध सुण्याँ ते जाँच्या, दियौ रामधन दुख सब वाच्या॥
जनम जनम का टोटा भाग्या, अखै भंडार विलसने लाग्या।
भक्तिमाल सुनै अरु गावैं, जोनि संकट बहुरि न आवै॥

इनके एक पद्य में भी एक साखी है—

जैसी कबीरजी हरिदास निवाज्यो अनभै घट उपजाई।
ऐसे दीनदयाल दादूजी, अनाथ निवाजै आई॥१॥

उपर्युक्त भक्तमाल तथा पद के उद्धरण से व्यक्त होता है कि इनके पहिले ही हरिदासजी हो चुके थे, और वह काल इनके जीवन से पहिले ही का होना चाहिये।

दादूजी के सबसे लघु-शिष्य छोटे सुन्दरदासजी—इनका जन्म-संवत् १६५३ तथा ब्रह्मविलय-काल १७४६ है। इनका रचना-काल संवत् १६८० से अन्त समय तक का मानना चाहिए। इनने भी अपने अष्टक तथा पद्य में महाराज हरिदासजी का उल्लेख किया है।

पृष्ठ ८८२ पद संख्या—५

महाक्षूर जिनको जस गाऊँ, जिन हरि सौं लौ लाई रे।
मन मेंवासी कियो आप बसि, और अनीति उठाई रे ।।टेर।।

× × ×

गोरषनाथ भरथरी सूरा, कमधज गोपीचन्दा रे।
चरपट काँणेरी चौरंगी, लीन भये तज द्वन्दा रे ।।
रामानन्द कियो सूरा तन, काशीपुरी मँझारी रे।
लोक उपासक शिव के होते, आनि भक्ति विस्तारी रे ।।
नामदेव अरु रंका बंका, भयो तिलोचन सूरा रे।
भक्ति करी भय छाँड़ि जगत को, बाजहिं तिनके तूरा रे ।।
कलियुग माँहिं कियौ सूरा तन, दास कबीर निसंका रे।
ब्रह्म अग्नि परजारि पलक मैं, जीत लियो गढ़ बंका रे ।।
जन रैदास साधि सूरा तन, विप्रनि मार मचाई रे।
सौंझा पीपा सेन धना तिन, जीती बहुत लराई रे ।।
अंगद भुवन परस हरदासा, ग्यान गह्यो हथियारा रे।
नानक कान्हा वेण महाभट, भलौ बजायौ सारा रे ।।

× × ×

आदि अन्त कीयो सूरा तन, युग युग साध अनेका रे।
सुन्दरदास मोज यह पावै, दोजै परम विवेका रे ।।

उक्त पद्य का प्रारम्भिक भाग नहीं दिया गया है, जिसमें अति-प्राचीन ऋषि-मुनियों व महात्माओं का निर्देश है। प्रस्तुत पद्य-भाग में उनके समय में जीवित किन्हीं भी महात्माओं का उल्लेख नहीं आया है। जिनका नामोल्लेख हैं, वे अतीत के ही महात्मा हैं। उन्हीं में हरिदासजी का नाम आया है। इसका अभिप्राय यह स्पष्ट है कि सुन्दरदासजी के रचना-काल से पर्याप्त पहिले ही हरिदासजी हो चुके थे। इन्हीं का दूसरा उदाहरण "सवैया" ग्रन्थ के गुरुदेव अङ्ग का पाँचवाँ छन्द है—

कोउक गोरष को गुरु थापत कोउक दत्त दिगम्बर आदू।
कोउक कंथर कोउक भरथरि कोउ कबीर को राषत नादू ।।

कोउ कहै हरिदास हमारै जु यौं करि ठानत वाद-विवादू ।
और तो सन्त सबै शिर ऊपर सुन्दर के उर हैं गुरु दादू ॥

उक्त सवैये में विभिन्न पन्थों की ओर संकेत है। उन्हीं में महात्मा हरिदासजी का भी उल्लेख किया गया है। मतलब—सुन्दरदासजी के समय में हरिदासजी के अनुयायियों ने निरञ्जनी पन्थ की परम्परा प्रचलित कर ली थी। इसका सीधा अभिप्राय है कि सुन्दरदासजी के समय में निरञ्जनी-पंथ प्रचलित था तथा उसके संस्थापक हरिदासजी को हुए अवश्य ही कुछ समय बीत चुका था। उपर्युक्त दोनों ही उद्धरण इसी अर्थ में स्पष्ट हैं।

रज्जवशिष्य षेमदासजी. ग्रन्थ "रंभा-शुकसम्वाद" (काल १६८० से १७४०)

रज्जबशिष्य षेमदासजी की कई रचनाएँ हैं। "रंभा-शुकसंवाद" के प्रारंभ में उनने गुरु तथा महात्माओं की वन्दना की है। उक्त वन्दना में जिनके नामोल्लेख हैं, उनमें हरिदासजी का नाम भी है।

दोहा— **सीस नवाऊँ गुरु चरण , पुनि विनऊँ सब साध ।**
निराकार की भक्ति है , सो द्यो बुद्धि अगाध ॥

चौपाई—निराकार प्रणमति नित कीजै , रसना विमल गाइ गुन लीजै ॥
गुरु रज्जव दादू परम देवा , नाम कबीर करें हरि सेवा ॥
गोरष भरथरि गोपीचन्दा , ध्रु प्रहलाद सकलहूँ वन्दा ।
पींपा धना सेन रैदासा , सोंझा सोम सुनो हरिदासा ॥
सब कर कृपा देहिं जो ग्यानूँ , तौ कीजै सुष कथा बखानूँ ॥

षेमजी ने अपने पूर्व हुए महात्माओं की :वन्दना की है उन्हीं में हरिदासजी भी हैं।

दादूजी के पोताशिष्य चैनजी, रचना—"भक्तमाल" (काल १६७० से १७३०)

उद्धरण—रामानन्द कबीर पीपौ परस्यू , गलगला सुरसुरा पावे हरस्यू ।
मति स्यूद्र रैदास पद्मावती सेवा , बोले सुरिया भजै हरि देवा ॥

नानक नरसी परमानन्द सूरं , मुकुन्द सेन र वलवल पूरं ।
सुखानन्द अरु माधो गुसाईं , कीता नामा सुमिरैं साईं ।।
चत्रनाथ चत्रभुज हरि की आसा, छौंगू किसनदास कील्ह हरिदासा ।
जोगानन्द विमलानन्द मुनिमन हाथू, नरसो वादरौ धुडी सब साथू ।।

भक्तमाल का आरंभ—   × ×   × ×

दोहा— सीस नाइ वंदन करूँ , गुरु गोविंद उर आनि ।
सकल संत को जोरि कर, कहूँ सु नाव बखान ।।

गोरष-जन्म-लीला—

चौपाई—खुले सुदिल के सकल कपाटू , अरु पावे अनभै की बाटू ।
उपजै बोध बुद्धि परकासू , होइ तिमिर को सहजैं नासू ।।
सम्वत् सोलह से चौरासी , गोरष जन्मलीला परकासी ।
निरमल वचन करूँ विसतारू , उत्तम कथा कहूँ निज सारू ।।
अस्तुति करै जोर कर चैन , उचरै वांणी दिढ निज नैन ।

चैनजीकी रचना के क्रम में पहिले साषी-शब्द भाग है । उसके पश्चात् ग्रन्थ-रचना है । भक्तमाल ग्रन्थ-रचना में गोरख जन्म-लीला से पहिले है । गोरख जन्म-लीला की रचना भक्तमाल के पश्चात् है और उसका रचना-काल स्वयं रचनाकार ने ही १६८४ व्यक्त किया है । चैनजी ने भी अपनी भक्तमाल में भूतपूर्व तथा सम-सामयिक महात्माओं का वर्णन किया है । हरिदासजी भूतपूर्व महात्माओं की शृङ्खला में प्रदर्शित किये गये हैं । इससे स्पष्ट है कि चैनजीके समयसे पर्याप्त पहिले हरिदासजी का निधन हो चुका था तथा उनके पश्चात् निरञ्जनी-सम्प्रदाय का सम्यक्-स्वरूप बन गया था । इस तरह उपर्युक्त तीन दादूजी के शिष्यों व दो पोता-शिष्यों के उद्धरण हरिदासजी के विषयके आ चुके हैं । आगे हम दादूजीके शिष्य प्रहलाददासजी के पोता-शिष्य स्वामी राघोदासजी की भक्तमाल में निरूपित हरिदासजी-संबंधी उद्धरण उपस्थित करते हैं । राघोदासजी ने अपनी भक्तमाल में अन्य सम्प्रदायों के महात्माओं तथा भक्तों का निरूपण कर तदनन्तर "गुरु-प्रणाली" नाम से दादूजी महाराज उनके शिष्य तथा कुछ पोता-शिष्यों का निरूपण किया है ! उसके पश्चात् निरञ्जनी-सम्प्रदाय का व तद्गत बारह महात्माओं का निरूपण किया है । उन्हीं में

अनन्यतम स्थान महाराज हरिदासजी का है। भक्तमाल का रचना-काल स्वयं राघोदासजी ने ही अन्त में दे दिया है। वह इस रूप में है—

दोहा— सम्वत् सत्रह सै सत्रे होतरा , शुक्ल पच्छ शनिवार।
तिथि तृतीया आषाढ़ सुदि , राघौ कियो उचार ॥१॥

"सत्रह सै सत्रे होतरा" का अर्थ स्वर्गीय पुरोहित हरिनारायणजी ने सत्रह सौ सत्तर लिखा है। सत्रेहोतरा का अर्थ सत्रह भी हो सकता है। जैसा कि पहिले सत्रह शब्द से सिद्ध है। पुरोहितजी ने राघोदासजी को सुन्दरदासजी के समकालीन भी लिखा है और लिखा है प्रहलाददासजी के शिष्य। पर वे प्रहलाददासजी के शिष्य नहीं थे। वे प्रहलाददासजी के शिष्य हरिदासजी (हापोजी) के शिष्य थे। जैसा कि वे स्वयं लिखते हैं :—

मम गुरु माथे पर स्वामी हरिदास जू है,
परम गुरु स्वामी प्रहलाद बड़ी निद्धि है।

यदि राघोदासजी की भक्तमाल का रचना-काल सम्वत् १७७० मानें तो फिर सुन्दरदासजी के वे समसामयिक थे—इस पर भी विशेष विचार की आवश्यकता है। यहाँ इस पर विशेष कुछ नहीं लिखना है। राघोदासजी हरिदासजी के शिष्य व प्रहलाददासजी के पोता-शिष्य थे। इनने निरञ्जनी-सम्प्रदाय के वर्णन का इस तरह आरम्भ किया है—"अब राषेंहि भाव कबीर को, इम एते महन्त निरंजनी।"

लपट्यो जगन्नाथ श्याम कान्हड़ अनुरागी,
ध्यानदास अरु षेम नाथ जगजीवन त्यागी।
तुरसी पायो तत्व आन सौं भयो उदासी,
पूरण मोहनदास जानि हरिदास निरासी ॥

राघो समरथ राम भज माया अंजन भंजनी।
अब राषेंहि भाव कबीर को, इम एते महंत निरंजनी ॥१॥

हरिदासजी के विषय में—

जत सत रहणि कहणी करतूत बड़ौ,
हर ज्यूँ कह र हरिदास हर गायो है।

विरक्त वैरागी अनुरागी लिव लागी रहै,
अरस परस चित चेतन सूँ लायो है ॥
नृमल निर्वाणी निराकार को उपासवान,
निरगुण उपास कै निरंजनी कहायो है ॥
राघो कहै राम जप गगन मगन भयो,
मन वच क्रम करतार यों रिझायो है ॥१॥

हरिदासजी के परचे—

प्रथम पीपली प्रसिद्ध सिला नागौर विशेषो ।
नयो गयंद अजमेर फुनग टोडे पण पेषो ॥
गिरि सूँ गागर गिरी नीर राख्यो घट सारा ।
देवी को सिष करी ज्यायो विष पित्र उधारो ॥
सिंहपरचौ आमेर राव राजा सब जाँणे ।
अपंग विप्र पथ चल्यो साह सुत जियो सिंघाणे ॥
सिर पर कर श्री गोरषनाथ को ठौर ठौर परचो दियो ।
जन हरिदास निरंजनी त्याग वैराग सिरे कियो ॥१॥

राग—सीधू : कडषें पद—

सूरवीर सरदार शिरोमणि, दल माँझी ददकार लड़े ।
रामानन्द कबीर नामदेव, रहे फौज मध जीत षड़े ॥५॥
वाग उपाड़ि पड़े परदल मधि, गढ़ कोटन सों जाइ अड़े ।
पींपा धना सैन अरु सोंझा, भवन परस प्रचंड लड़े ॥६॥
काम क्रोध मद मोह मछर, मार तड़ातड़ गर्द किये ।
दादूदास हरिदास रु नानग, ये ग्यानी औगार हिये ॥७॥

× × ×

अनन्य भक्त अष्टांग जोग करि, उलटि आप सूँ आप लड़े ।
'राघो' वंदि चरणरज जिनकी, जो बि स्वामी रे काम पड़े ॥८॥

राघोदासजी द्वारा निरूपित "भक्तमाल" में जो उपर्युक्त विवरण है, उससे सिद्ध हो जाता है कि भक्तमाल की रचना के समय राजस्थान में निरंजनी-सम्प्रदाय का सम्यक् प्रसार था और उसके प्रवर्त्तक स्वामी हरिदासजी नामदेव, कबीर, नानक और रैदास की श्रेणी में सम्मिलित थे।

यहां तक के उद्धरण दादू-पन्थी सम्प्रदाय के महात्माओं के हैं, जिनका आरम्भ सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से आरम्भ होकर अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक चला गया है। हरिदासजी के औचित्य तथा उनके काल-निर्णय में इनका क्या विशेष उपयोग है? यह हम पूर्वापर पक्षों को लेकर आगे विवेचन करेंगे वहीं दिग्दर्शन करायेंगे।

अब मैं दादू-पन्थी सम्प्रदाय के पश्चात् होने वाले सम्प्रदाय-प्रवर्त्तकों व उनके अनुयायियों के उद्धरण देना संगत समझता हूँ, जिससे यह सिद्ध होता है कि उनके विचार में हरिदासजी का क्या स्थान था तथा उनका काल व निरंजनी-सम्प्रदाय का क्या रूप था?

वैष्णव सम्प्रदायान्तर्गत रामानन्दजी के शिष्य अग्रदासजी की पांचवीं पीढ़ी में दांतड़ा में महात्मा सन्तदासजी हुए हैं। उनकी वाणी का रचना-काल सम्वत् १७६० से १७६० तक का आनुमानिक है। उनकी वाणी का प्रकाशन शाहपुरा के रामस्नेही सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक योगसिद्ध महात्मा रामचरणजी की वाणी के साथ प्रकाशित है।

ग्रन्थ–"ब्रह्मध्यान" पृ० ५१–प्रकाशित वाणी–महाराज रामचरणजी की—

ध्रुव प्रहलाद वे ही सुख मिलिया, चौरासी का बन्धन खुलिया।
दास कबीर गुरु रामानन्दा, वा सुख सूँ मिल किया आनंदा॥
वा सुख सूँ मिल रहिया नामा, जाका निहचै सरिया कामा।
पीपा धना और रैदासा, वा सुख सूँ मिल किया विलासा॥
वा सुख नानक कान्है पाया, राम नाम निहचै कर धाया।
विष्णु सूरजन माधोदासा, वा सुख माँहिं कीन्हा वासा॥

× × ×

दास मुरार मलूका जंगी, वे भी था वा सुख का संगी।
हरिदास वाजिंद विचारा, वे भी मिल गया सुख की धारा॥

दादू रज्जब परसा ग्यानी, वा सुख सूँ मिलिया निज ध्यानी।
राँका बाँका कालू कूबा, वा सुख मांही वे भी डूबा॥

× × ×

सन्तदास दासन के दासा, जिन कथिया ब्रह्मध्यानप्रकाशा।
सीख विचार र ध्यावे रामा, निज पद में ता का विसरामा॥

महात्मा सन्तदासजी सम्वत् १८०६ में ब्रह्मलीन हुए जैसा कि उक्त कुण्डलिये से सिद्ध होता है—

दोहा— अठारह सै षट् वरस में संत भये निरकार।
बुद फागण तिथि सप्तमी वार सनीसरवार॥
वार सनीसरवार डार के अनित सरीरा।
प्रथम ही मिल रहे जैसे घट भरियो नीरा॥
परापरै पद लीन था, भिन दृष्टि रूप आकार।
अठारै सै षट् वर्ष मैं सन्त भये निरकार॥

उपर्युक्त उद्धरण में जिन अतीत महात्माओं की ब्रह्मलीनता निरूपित की है, उन्हींमें महात्मा हरिदासजी का उल्लेख है।

सिंहस्थल (सींथल) रामस्नेही सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक महाराज श्रीहरिरामदासजी (काल १७४० से १८३५)

हरिरामदासजी महाराज का पद—मुद्रित रामस्नेही धर्मप्रकाश (पृ० १४५ पद १० वाँ)

रे नर राम नाम सुमरी जै।
या सूँ आगे संत उधरिया, वेदाँ साख भरी जै॥टेर॥
या सूँ धू प्रहलाद उधरिया, करणी साच करी जै॥
या सूँ दत्त मछंदर उधरे, गोरख ग्यान गही जै॥
या सूँ गोपीचन्द भरथरी, पैले पार लँघी जै॥
या सूँ रंका बंका उधरे, आपा अजर जरी जै॥

या सूँ रामानन्द उधरिये, पींपा जुग जुग जी जै ॥
या सूँ दास कबीर नामदे, जम की जाल करी जै ॥
या सूँ जन रविदास उधरिये, मीराँ बात बनी जै ॥
या सूँ कालू कीता उधरे, वास अमरपुर कीजै ॥
या सूँ जन हरिदास उधरिये, दादू दीन भनी जै ॥
जन हरिराम कहै सबही कूँ, जपताँ ढील न कीजै ॥

शाहपुरा—रामस्नेही सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक आचार्य श्रीरामचरणजी महाराज (काल १७७६ से १८५५—रचना-काल १८१० से १८५५)

उद्धरण—रामचरणजी महाराज की प्रकाशित वाणी, पृष्ठ ६६६ (धमाल)

भैया ऐसो नगर मैं छाड़ूँ नाहिं, जाकै अनंत कोटि जन बसे हैं माहिं ॥टेर॥
जहाँ शिव सनकादिक शेष साध, मुनि नारद शारद ध्रुव प्रहलाद।
कमला ऊमा हनूमान, जहाँ नेति नेति कहै निगम ग्यान ॥
जहाँ ऋषभदेव जड़भरत भाय, तहाँ नव जोगेश्वर जनक राय।
कपिलदेव अरु वालमीक, जहाँ ध्यान धरें शुक अम्बरीष ॥
जहाँ रामानन्द नीमानन्द नाम, तहाँ मध्वाचार्ज विष्णु श्याम।
और सिखां लियां संग साथ, इन चारन पकर्यो सब को हाथ ॥
जहाँ गोरष भरथरी गोपीचन्द, तहाँ नानक फरीदा अरु वाजिंद।
महमूद दादू करि निवास, जहाँ सहित एकादश हरीदास ॥
अल्प अकल गिणती न आय, या पद की महिमा कही न जाय।
अगम पुरी भरपूर वास, जहाँ घर घर आनंद सुख विलास ॥
जहाँ सब सन्तन को पाय सीत, चरणाँ जल रज सूँ गयो है भींत।
मैं सन्तदास को पनईदास, राखो रामचरण कूँ चरणाँ पास ॥

महाराज रामदासजी, सिंहस्थल (सींथल) रामस्नेही-सम्प्रदाय की खेडापा शाखा के प्रवर्त्तक—आप महाराज हरिरामदासजी के शिष्य थे।

आपका काल—सं० १७८३ से १८५५ रचना-काल १८३५—५५

उद्धरण–रामस्नेही धर्मप्रकाश–रचना भक्तमाल–पृ० २०३–२१२

दास कबीर मगन मतवारा, सहज समाधि वणी इक धारा।
सब सन्तन में चकवै हूवा, ब्रह्मविलास कबहूं नहिं जूआ ॥५२॥

× × ×

कमाल-कमाली हरिगुण गाया, सुख सागर में सहज समाया ॥५३॥

× × ×

राम राम रैदास उचरिया, रोम रोम में नीझर झरिया ॥५४॥
काढ़ि जनेऊ विप्र जिमाया, शालग स्वामी मुखाँ बुलाया ॥५७॥

× × ×

दादूदास राम का प्यारा, चार पन्थ ले किया पसारा।
बावन शिष्य हुए उजियागर, अनुभव वांनि मिले सुखसागर ॥८१॥

दास गरीब गुरू घर आया, भेदी भेद ब्रह्म का पाया ॥
रज्जब पिया रामरस भारी, सतगुरु सेती प्रीति पियारी ॥८२॥

× × ×

गोरखनाथ मछंदर जोगी, रग रग भेद लिया रस भोगी ॥
कोटि निनाणूँ राजा हूवा, गाया राम अगम घर बूआ ॥६३॥

हरीदास पूरा गुरु पाया, नाम निरंजन पंथ कहाया ॥
बारह शिष्य मिले सुख माँई, पाडा माता चेली आई ॥६४॥

द्वादश पंथ संत बड़भागी, छाप निरंजन माया त्यागी ॥
अंजन त्याग निरंजन ध्याये, ता तें निरंजन पंथ कहाये ॥६५॥

जगजीवन तुरसी अरु सेवा, राम रसायन पीया मेवा ॥
भुवन भेव भक्ति का पाया, खांडे खेर तणे लोहवाया ॥६६॥

महाराज श्री रामदासजी के शिष्य दयालदासजी कृत भक्तमाल—
(रचना-काल १८४५ से १८८०)

निरंजनी सम्प्रदाय-विवरण—

हरिदास पुनि स्यामदास तुलसी धन पूरन ।
जगन्नाथ जन षेमदास मोहन मन चूरण ॥
कानड़ ध्यान जू दास भया जग जीवण पारा ।
आनदास अनाथ भाल तथ अरथ विचारा ॥

राम सुमर मन जीत जग षट् सरोज उर भंजनी ।
अंजन तज निरंजन मिले पंथ द्वादश निरंजनी ॥४१५॥छंद से

राम मिलण के काज नमो ऐसो व्रतधारी ।
षट् रस रसना त्याग त्याग माया मोह न्यारी ॥
निंद्या वैर न विरोध छाँड़ि संसारव्यवहारा ।
घट विच अधरा थाप खोलियाँ दशवाँ द्वारा ॥

जींव सीव मिल ध्यान धर परम धाम विश्राम तत ।
ग्यान विज्ञान विचारणा हरिदास अवधूत मत ॥४१६॥

हरिदासजी के बावन शिष्यों के विषय में—

ऊधव नारायणदास षेम पोकर निज दासा ।
भैरवान नरूदास विष्णुदास व सुखरासा ॥
श्री रामदास पुनि षेम ध्यान तुरसी शिवरामा ।
नरहरि तुरसीदास दास पीपा सिद्धकामा ॥

सारंग सूँधादास भन अमरदास हरिपद लह्या ।
हरिदास पद परस जन बावन परचै सिष भया ॥

जैतराम पुनि उधवा नारायण रामकृष्ण जन ।
दास पहलाद संतोष दास जोगी जीता मन ॥

रूपराम हिरदैराम दास भिष्यारी माना ।
रामसुख जयराम धरम धुन आतम जाना ॥

बालकदास नरसिंह जन हरि दरगा पाई फतै ।
राम सुमर गुरुपद परस दयाल बाल साचै मतै ॥४१८॥

केसोदास पुनि नाथ तीन मणि राम जू दासा ।
हरी भगत भगवान स्याम बालक सुषरासा ॥
वनमाली निज दास दास चतरा वन मोहन ।
सूरतराम हरिकृष्णदास शीतल अघ षोवण ॥

बलराम मनसाराम जन सीताराम परवानिये ।
हरिदास पदरज परस बावन सिष मुष जानिये ॥४१९॥

हरिदासजी की छठी पीढ़ी—सेवादासजी के विषय में—

सेवादास सतगुरु-कृपा—

साच सबद गुरु परस आतमा तत्व विचारा ।
जगतजाल भवकाल आण निरव्रत मन धारा ॥
साच वाच सुदिष्टि ग्यान गुण रतन प्रकासी ।
कोमल साध स्वभाव दया धीरज गुणरासी ॥

भगति दान सनमान कर पंथ लह्यो निराकार को ।
सेवादास सतगुरु कृपा ध्यान धर्यो ररंकार को ॥४२०॥

निरंजनी व दादू-पन्थी सम्प्रदाय से पीछे स्थापित सम्प्रदायों के आचार्यों तथा उनके शिष्यों के उपर्युक्त उद्धरण हैं। इन उद्धरणों से यह स्पष्ट सिद्ध है कि इनके जीवन-काल से पूर्व निरंजनी-सम्प्रदाय का पर्याप्त विस्तृत रूप बन गया था तथा इन सबने अपने पूर्ववर्त्ती महात्माओं का जहां ससम्मान निरूपण किया है, उन्हीं में हरिदासजी का भी नाम है। महाराज रामदासजी व दयालदासजी की भक्तमाल में महाराज हरिदासजी के विवरण के साथ-साथ बारह निरंजनी महन्तों का तथा हरिदासजी के बावन शिष्यों में से अनेकों के नामोल्लेख किये हैं। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि राघोदासजी ने जिन बारह निरंजनी महन्तों का निरूपण किया है,

उनमें प्रमुख स्थानीय हरिदासजी महाराज थे तथा शेष एकादश उनके अनुगामी व शिष्यत्व-भावना वाले थे।

महाराज रामदासजी तथा दयालदासजी ने अपनी-अपनी भक्तमाल में सेवादासजी का भी निरूपण किया है। सेवादासजी हरिदासजी से छठी पीढ़ी में थे। उनका जन्म सोलह सौ सताणवे तथा अवसान-काल सत्रह सौ अठाणवे, उनके पोता-शिष्य रूपदासजी ने अपनी रचना "सेवादासजी की परचई" में लिखा है। रामदासजी महाराज का काल १७८३ से १८५४ तक का है व उनका रचना-काल १८१५ से माना जा सकता है। उनके समय में सेवादासजी की ख्याति भी उसी रूप में हो चुकी थी जैसे पहिले के साधक महात्माओं की। ये सब अवतरण देने का मेरा यह लक्ष्य है कि इनके प्रकाश में हम उन मतभेदों पर विचार कर सकें, जो भिन्न-भिन्न लेखकों ने प्रकट किये हैं। आगे के प्रकरण में उन मतभेदों पर ही विचार करना है।

मतभिन्नताएँ और उनकी समीक्षा—

प्रारम्भ में जहाँ जन्म, जाति, स्थान, उपदेश तथा उनके काल पर विचार किया गया है, वहाँ पर परपक्षों का दिग्दर्शन कराते हुए उनके उचित-अनुचित पर संक्षेप में विवेचन किया गया है। कुछ प्रश्नों पर विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है। अतः इस प्रकरण में उन-उन मतभिन्नताओं का इसी दृष्टिसे विचार किया जा रहा है—

उत्तरी-भारत की सन्त-परम्परा में माननीय पं० परशुरामजी चतुर्वेदी ने निरंजनी-सम्प्रदाय के विवेचन में प्रारम्भ में जिन सम्भावनाओं का दिग्दर्शन कराया है, उन्हीं को क्रमशः लेना संगत है।

प्रश्न १—उड़ीसा में प्रचलित निरंजनी-सम्प्रदाय का राजस्थान में स्थापित निरंजनी-सम्प्रदाय से सम्बन्ध—

लेखक–क्षितिमोहन सेन "मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इण्डिया" पृ० ७०

आचार्य क्षितिमोहनजी सेन ने पूर्व में उड़ीसा में प्रचलित निरंजनी-सम्प्रदाय के राजस्थान में स्थापित निरंजनी-सम्प्रदाय से सम्बन्ध होने की कल्पना शायद नाम-साम्य के कारण की है। फिर वह सम्भावना के ही रूप में है न कि सिद्धान्त के रूप में। इस सम्भावना का महाराज हरिदासजी द्वारा स्थापित निरंजनी-सम्प्रदाय से कतई किसी तरह का सम्बन्ध नहीं है। राजस्थान का यह सम्प्रदाय यहीं स्थापित हुआ तथा इसके प्रवर्त्तक स्वामी श्री हरिदासजी महाराज ही हैं। इसमें विशेष ननु-नच को स्थान नहीं है।

प्रश्न २—इसी विषय के प्रतिपादन में आचार्य हजारीप्रसादजी द्वारा लिखित 'कबीर' का उद्धरण दिया गया है। उनने व्यक्त किया है कि उड़ीसा के निरंजनी-पंथ के प्रवर्त्तक भगवान् निरंजन माने गये हैं। पर उनके काल, रचना व सिद्धान्तों का कोई रूप सामने नहीं है। अतः पूर्व और पश्चिम के इन दो पन्थों के कब और कैसे सम्बन्ध स्थापित हुए—यह स्पष्ट नहीं कहा जा सकता। उक्त उद्धरण से उपर्युक्त तथ्य का ही पोषण होता है कि राजस्थान का यह निरंजनी सम्प्रदाय किसी अन्य निरंजनी सम्प्रदाय से पोषित नहीं है।

प्रश्न ३—निरंजनी-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक क्या जगन (जगन्नाथदासजी) माने जायें? जैसा कि भक्तमालकार ने लिखा है।

तीसरा प्रश्न है निरंजनी-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक के सम्बन्ध का और वह इस आधार पर उठाया गया है कि राघोदासजी ने अपनी भक्तमाल में चार निर्गुण पंथों के प्रवर्त्तकों के नाम दिये हैं, उनमें नानक, कबीर, दादू, जगन का निर्देश है। भक्तमालकार ने आगे पन्थ-वर्णन की जगह बारह निरंजनी महन्तों का निरूपण किया है। उन बारह में जगन किसी का नाम नहीं है। चतुर्वेदीजी ने कल्पना की है कि बारह निरंजनी महन्तों के निरूपण में सर्वप्रथम "लपट्यो" जगन्नाथदासजी का वर्णन है। ये ही जगन्नाथदासजी 'जगन' नाम से ऊपर लिखे गए हैं। कल्पना सर्वथा निराधार तो नहीं है। जगन्नाथ—जगन में साम्य तो माना जा सकता है पर जगन्नाथ-दासजी के वर्णन में ऐसा कोई निरूपण नहीं है, जिससे यह सिद्ध हो कि इन्होंने निरंजनी-सम्प्रदाय की स्थापना की। जगन्नाथजी के निरूपण से स्पष्ट होता है कि वे अत्यन्त त्यागी तथा तितिक्षु थे। जहाँ हरिदासजी का निरूपण किया है, वहाँ उनको निर्गुण उपासक तथा निरंजनी कहलाने का उल्लेख है। जैसा कि छप्पय का तृतीय चरण है—

जत सत रहणि कहणी करतूत बड़ौ,
हर ज्यूँ क हर हरिदास हरि गायो है।
विरक्त वैरागी अनुरागी लव लागी रहै,
अरस परस चित चेतन सूँ लायो है॥
निर्मल निर्वाणी निराकार को उपासवान,
निरगुण उपास कै निरंजनी कहायो है।
राघो कहै राम जपि गगन मगन भयो,
मन वच कर्म करतार यों रिझायो है॥२८॥

तृतीय चरण के उल्लेख से स्पष्ट है कि हरिदासजी महाराज के लिए ही निरंजनी विशेषण लगा कर उनको निरंजनी शब्द के साथ उद्बोधन किया जाने लगा। इन्हीं के विविध परचों (करामातों) का निरूपण किया गया है। डीडवाणा आवास-स्थान इन्हीं का था। अतः स्वतः सिद्ध है कि डीडवाणे मे सम्बन्धित निरंजनी पन्थ के प्रवर्त्तक द्वादश निरंजनी महन्तों में महाराज हरिदासजी ही हैं। उक्त निरंजनी अपने को "हरिदासोत" भी कहते हैं—यह कथन भी इस तथ्य का दिग्दर्शक है। राघोदासजी ने बारह महन्तों का जो निरूपण किया है, सभी को वैसे निरंजनी नाम से व्यक्त किया है। अतः नानक, कबीर, दादू, जगन में जो जगन शब्द है—या तो अन्य किसी महात्मा के लिए प्रयुक्त है, या यह शब्द लेख की अशुद्धि से आया है। यदि जगन निरंजनी-पन्थ प्रवर्त्तक था तो उसका निरूपण नानक, कबीर, दादूजी के पश्चात् आना चाहिए था। जगन यदि जगन्नाथदासजी के लिए प्रयुक्त हुआ है तो उनके वर्णन में निरञ्जनी-पन्थ का सम्बन्ध जगन्नाथजी से व्यक्त होना चाहिए था। पर भक्तमाल में नानक, कबीर और दादूजी के वर्णन के पश्चात् निरञ्जनी-पन्थ वर्णन से निरञ्जनी-सम्प्रदाय का निरूपण किया गया है और उस निरूपण में उन बारह निरञ्जनी-महात्माओं का वर्णन है, न कि जगन का तथा न ही जगन्नाथदासजी का। बारह महन्त-वर्णन में प्रथम या पहिला नाम जगन्नाथदासजी का है और हरिदासजी का नाम पाँचवें नम्बर में है—पर जैसा कि मैंने ऊपर हरिदासजी के वर्णन का छप्पय दिया है उससे तथा डीडवाणे में आवास-सम्बन्ध हरिदासजी का है। जगन्नाथदासजी का आवास-स्थान थिरोली लिखा है।

मनहर—थिरोली में जगन्नाथ स्यामदास दत्तवास
कान्हड़ जू चाड़सू में नीके हरि ध्याये हैं।
आनदास लिवाली मोहनदास देवपुर
सेरपुर तुरसी जू चांणी नीकी ल्याये हैं॥
पूरण भंभोरे रहे षेमदास सिवहाड़
टोडा मध नाथजू परम पद पाये हैं॥
ध्यानदास म्हार भये डीडवाणे हरिदास
दास जगजीवण सू भादवे लुभाये हैं॥१॥

उक्त छन्द में बारह निरञ्जनी-महन्तों या महात्माओं के निवास-स्थानों का विवरण दिया है। इसमें डीडवाणे में रहने का उल्लेख हरिदासजी ही का है। बारह महन्तों के निरूपण में हरिदासजी को छोड़कर और किन्हीं की करामातों का दिग्दर्शन

नहीं कराया है। उनकी अपनी-अपनी विशेषता का दिग्दर्शन है। हरिदासजी का निरूपण है वहीं—यह विवरण दिया है—

प्रथम पीपली प्रसिद्ध सिला नागौर विशेषो।
नयो गयंद अजमेर फुनिग टोडे पण पेषो॥
गिरि सूँ गागर गिरी नीर राख्यो घट सारो।
देवी को सिष करी ज्यायो विष पित्र उधारो॥
सिंहपरचौ आमेर राव राजा सब जाँणे।
अपंग विप्र पथ चल्यो साह सुत जियो सिंघाणे॥
सिर पर कर प्रयागदास को गोरषनाथ को मत लियो॥
जन हरिदास निरंजनी ठौर ठौर परचो दियो॥२६॥

उक्त करामातों के दिग्दर्शन से हरिदासजी सिद्ध पुरुष थे—यह व्यक्त होता है। इस पद्य में भी हरिदासजी के साथ निरञ्जनी शब्द का प्रयोग हुआ है। निरञ्जनी-पंथ का प्रमुख-स्थान भी डीडवाणा ही है। अतः करामाती सिद्ध पुरुष हरिदासजी से ही नरञ्जनी-सम्प्रदाय चला इसमें न किसी तरह के संशय को स्थान है और न किसी प्रमाण की आवश्यकता है। "जगन" शब्द के प्रयोग के विषय में जैसा मैंने ऊपर लिखा है कि यह लेखन की न्यूनता-मात्र है।

४—हरिदासजी, दादूजी के शिष्य—प्रयागदासजी विहाणी के शिष्य थे।

चौथा प्रश्न है हरिदासजी किसके शिष्य थे? भक्तमालकार के परचों के निरूपण करने वाले छप्पय में "सिर पर कर प्रयागदास को" इस चरण में प्रयागदासजी का कर सिर पर रखने का उल्लेख है। इसी के आधार से तथा प्रयागदासजी के शिष्य-नामों में हरिदासजी का नाम किसी पत्र में लिखा होने से पुरोहितजी ने हरिदासजी को प्रयागदासजी का शिष्य होना लिखा है। पर उसकी पूर्वापर संगति का उनने कोई उल्लेख नहीं किया। प्रयागदासजी के आठ-दस शिष्यों में एक नाम हरिदासजी भी है, उसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि वे ये ही हरिदासजी थे। नामसाम्य तो हमें सैंकड़ों-हजारों जगह मिलता है। नामसाम्य से यह नहीं सिद्ध होता कि अमुक नाम वाला व्यक्ति यही है। महाराज दादूजी के एक सौ बावन शिष्यों में भी कई एक के नाम हरिदासजी आये हैं। प्रहलाददासजी के शिष्य भी हरिदासजी थे। मतलब, केवल नामसाम्य व नामोल्लेख से हरिदासजी दादूजी महाराज के शिष्य प्रयागदासजी के शिष्य नहीं हो सकते। दूसरे, हमने पीछे वखनाजी, जग्गाजी, खेमजी व चैनजी के उद्धरण दिये हैं। उनने अपने उद्धरणों में हरिदासजी

का उल्लेख किया है। उनका काल सत्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। वखनाजी तथा चैनजी की रचना सम्वत् १६८५ मे पहिले की है। पुरोहितजी ने हरिदासजी का दोक्षा-काल १६५६ लिखा है। साथ ही उनने लिखा है कि प्रयागदासजी के शिष्यत्व का परित्याग कर ये कबीर-पंथी हुए, फिर नाथों से दीक्षित। मतलब, इस शृङ्खला से दो-दो, चार-चार वर्ष का अन्तर भी मानें तो उनका नाथों से सम्बन्ध १६६५ से बाद का सिद्ध होता है। पुरोहितजी ने इनका मृत्युकाल भी १६७० लिख दिया है। उधर वखनाजी व चैनजी की रचनाओं में नानक, कबीर, नामदेव, रैदास आदि महात्माओं के साथ इनका उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वखनाजी व चैनजी की रचना से पहिले ही इनका देहावसान ही नहीं हो गया, इनकी सिद्धियों से प्रसिद्धि भी पर्याप्त हो गई व इनके अनुयायियों की अच्छी संख्या हो गई थी। अतः पुरोहितजी के उक्त निरूपण की संगति युक्तियुक्त नहीं बैठती। अब भक्तमाल-कार के "सिर पर कर प्रयागदास का" क्या अभिप्राय समझा जाय? इसकी महत्ता तो इससे जुड़े हुए आगे के पद से व्यर्थ हो जाती है–जिसमें लिखा है कि "गोरखनाथ को मत लियो" शिष्यत्व जब प्रयागदासजी का था, तब गोरखनाथजी का मत अपनाने का क्या अर्थ है? भक्तमालकार के हमने पीछे जो उद्धरण दिये हैं वहां उनके एक पदभाग का उद्धरण है जो राग सीधू कडषैं पद का है। इस पद में एक युद्ध के रूपक का निरूपण है—आध्यात्मिक अभ्यासी महात्माओं ने किस तरह काम, क्रोधादि शत्रुओं तथा जागतिक-प्रलोभनों से त्याग-वैराग्य की दृढ़ता द्वारा टक्कर ली तथा कैसे उनने जन्म-मृत्यु रूप काल से विजय पाई। इस पद में बारह चरण हैं। इसमें प्राचीन ध्रुव-प्रहलादादि-भक्तों के निरूपण के साथ रामानन्दजी से लेकर आधुनिक महात्माओं का निरूपण किया है। उसमें सातवाँ चरण इस तरह है--

दादूदास हरिदास रु नानग, ये ग्यानी औघाट हिये ॥
काम क्रोध मद मोह मछर, मार तड़ातड़ गद किये ॥७॥

इससे अधिक और क्या स्पष्ट होगा कि राघोदासजी ने यहां हरिदासजी को नानक, दादूजी, कबीरजी आदि के समान ही स्मरण किया है। यहां यह शंका की जा सकती है कि ये हरिदासजी और कोई महात्मा होंगे। इसका प्रत्युत्तर है कि राजस्थान में ही नहीं, राजस्थान से बाहर भी ऐसा कोई और "हरिदासजी" महात्मा प्रख्यात नहीं है जिसके नाम पर पन्थ या सम्प्रदाय चला हो। यहाँ हमें सुन्दरदासजी की गुरुवन्दनाष्टक में लिखी हुई उस उक्ति पर ध्यान देना चाहिए जो इस रूप में लिखी हुई है--

"कोई कहे हरिदास हमारे जु यों सब ठानत वाद-विवादू।"

यहाँ विविध पन्थों के निरूपण का प्रसङ्ग है। इसीमें उक्त पंक्ति द्वारा निरंजनी-पन्थ व उनके प्रवर्त्तक का निर्देश है, अतः वखनाजी, जग्गाजी, खेमजी, चैनजी ने अपनी-अपनी रचनाओं में हरिदासजी का उल्लेख किया है। वे यही हरिदासजी हैं, इसमें अन्य विकल्प को कोई स्थान नहीं है। राजस्थान में यही सिद्ध महात्मा हरिदासजी हुए हैं जिनके पश्चात् निरंजनी सम्प्रदाय चला। स्वयं राघोदासजी ने ही अपनी भक्तमाल में उक्त पन्थ का निरूपण किया है जिसमें निरंजनी विशेषण व कई चमत्कारी सिद्धियाँ प्रदर्शित करने वाले यही हरिदासजी हैं। प्रयागदासजी का कर सिर पर रखने वाले वाक्य का स्वतः ही अन्य उद्धरणों से महत्व नहीं रहता, न वह युक्ति पर ठीक उतरता है। सम्भव है ऐसा उल्लेख कुछ साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से किया गया हो। क्योंकि राजस्थान में सन्त-परम्परा में "दादूपंथी और निरंजनी ही प्राचीन हैं।

इसी प्रसङ्ग में उस मत पर भी विचार करना सङ्गत है जो कि स्वामी पूर्णदासजी नवलगढ़ परचई-लेखक स्वामी जानकीदासजी बालोतरा-निवासी ने अपने निर्मित हरिपुरुषजी के जीवन-चरित्र में व्यक्त किया है। इन दोनों ने हरिदासजी को पयहारी कृष्णदासजी के शिष्य अग्रदासजी के शिष्य प्रयागदासजी से दीक्षा लेने का उल्लेख किया है। अग्रदासजी के शिष्य प्रयागदासजी का काल सम्वत् १६५० से पीछे आता है। यदि इन्हीं से हरिदासजी ने दीक्षा ली है तो उनका दीक्षाकाल सोलह सौ साठ-सत्तर के बीच आता है। दीक्षा में तिलक-माला-कण्ठी लेने तथा सगुणोपासना अपनाना अनिवार्य था। क्योंकि वैष्णव-सम्प्रदायें सभी सगुणोपासक ही हैं और उनने भक्तिमार्ग पर ही बल दिया है। हरिदासजी ने यदि इनसे दीक्षा ली होती तो वे निर्गुण उपासक नहीं होने चाहिएँ थे। पर वे परम निर्गुण उपासक थे। उनने तिलक-माला-कण्ठी-मूर्ति आदि का तीव्रता से खण्डन किया है। इस स्थिति में हरिदासजी ने वैष्णव-मत में दीक्षा ली—यह कैसे संगत माना जाय ? दूसरे, काल का मेल भी नहीं बैठता। हरिदासजी अग्रदासजी के काल से पहिले ही ब्रह्मलीन हो गए थे। फिर पूर्णदासजी तथा जानकीदासजी ने ऐसा क्यों उल्लेख किया ? हम इस पर संक्षेप में इनके प्रमाणरूप उद्धरणों को जहाँ पहिले स्थान दिया है, वहीं विवेचन कर आये हैं। यहाँ थोड़ा और विस्तार से विचार किया जाता है—

मेरे विचार से हरिदासजी के पश्चात् खेमजी, चत्रदासजी, पोकरदासजी, दयालदासजी, सेवादासजी व अमरपुरुषजी इन छः महापुरुषों की परम्परा तक निरंजनी सम्प्रदाय निर्गुण उपासक ही रहा। यह काल सत्रहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध तक आता है। इसके पश्चात् मन्दिर, बगीची आदि स्थान अपनाने से मूर्तिपूजा का प्रारम्भ हुआ; साथ ही फिर तिलक-माला-कण्ठी-जनेऊ आदि अपनाये गए। इस परिवर्तित स्थिति को प्राचीनता से मिलाने के विचार से ही उक्त

दोनों लेखकों ने वैष्णव-सम्प्रदाय से सम्बन्ध जोड़ प्रयागदासजी से दीक्षा लेने का उल्लेख किया। उधर हरिदासजी आमेर में पहुँचे, तब वे अपनी साधना से सिद्धि प्राप्त कर चुके थे। सिंह का परचा आमेर ही का है। कालसाम्य का अभाव, वाणी में प्रबलता से निर्गुण भक्ति का प्रतिपादन तथा तिलक-माला-कण्ठी, मूर्ति आदि के खंडन से सिद्ध हो जाता है कि पूर्णदासजी व जानकीदासजी का वैष्णव-सम्प्रदाय में दीक्षित होने का उल्लेख काल्पनिक व निराधार है। उसकी कोई युक्तिसङ्गत प्रामाणिकता नहीं है। सारांश–हरिदासजी महाराज ने न तो प्रयागदासजी दादूजी महाराज के शिष्य से, न ही अग्रदासजी के शिष्य प्रयागदासजी से दीक्षा ली। वे आरम्भ से ही गोरखनाथजी से या उनकी परम्परा के किन्हीं सिद्ध नाथ-महात्मा से दीक्षित हुए–यही संगत है।

जाति-सम्बन्धी मतभेद, जो "दबिस्तानुलमुजाहिब" के लेखक ने व्यक्त किया है, इसका संक्षेप में हम प्रारम्भ में निराकरण कर आये हैं। अतः पुनः उस पर और कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है।

रामचन्द्रजी गुजराती के शिष्य आशारामजी दाधीच ने भी अपने द्वारा रचित जीवन-चरित्र में "हरिदासजी" के उपदेष्टा विप्ररूपधारी परमेश्वर को बताया है। जैसे एक विशेष परिस्थिति से प्रेरित हो पूर्णदासजी तथा जानकीदासजी ने वैष्णव-महात्मा से उपदेश दिलाने का उल्लेख किया है, उसी तरह यह आशारामजी की कल्पना है। हरिदासजी के उपदेशक दादूजी के शिष्य प्रयागदासजी थे या अग्रदासजी के शिष्य प्रयागदासजी थे या विप्ररूपधारी परमात्मा थे—इस सबका औचित्य स्वयं महाराज हरिदासजी ने ही निरस्त कर दिया है। जबकि वे अपनी वाणी में स्पष्ट उल्लेख करते हैं—

गुरु हमारे गोरष बोलिये, पाडा हमारी चेली ॥
सत का शब्द सहज घर खेलूँ, इहिं विधि दुरमति पेली ॥३॥

× × × गुरुदेव का अंग

मांई मूँडूँ सिद्ध कीं, भजूँ निरंजन नाथ ॥
हरिदास जन यूँ कहै, सिर गोरष का हाथ ॥५॥

× × × गुरुदेव का अंग

जन हरिदास नाथ का बालक, रहे नाथ की छाया ॥
पूर्ण ब्रह्म परम सुषदाता, निरभै निरंजन राया ॥६॥

× × × गुरुदेव का अंग

"घट में गोरष ज्ञान विचार"

× × × ज्ञान-उपदेश जोग-ग्रन्थ

पिंड ब्रह्मण्ड में दोय सिध , ज्ञान अरु गोरष लहिए ॥
जन हरिदास भ्रम छाँड़ि , ज्ञान गोरष तहाँ रहिए ॥

× × × ज्ञान-उपदेश जोग-ग्रन्थ

गोरष भवण गवण करि जीवे , सुख में सींगी बाजै ॥

× × ×

अवधू ऐसा ज्ञान विचारा ?
ज्यौं में अलख अकल अविनाशी , सुरति सु यह मति जागी ॥
गोरष गोपी परसि पर निरभै , अनहद सींगी बाजी ॥

× × ×

जग सोवे गोरष जन जागे , ऐसा परम निधानी ॥

× × ×

सूता गोरष लिया जगाय , जन हरिदास ताको बल जाय ॥

× × ×

जाणैं जोग भोग नहिं जाणैं , नाथ इसी विधि खेलै ॥
जन हरिदास गोरष सत सन्मुख, अमी महारस झेलै ॥

यह कुछ पंक्तियाँ महाराज हरिदासजी की वाणी से उद्धृत की गई हैं। इनसे सिद्ध हो जाता है कि हरिदासजी महाराज गोरखनाथजी या उनके किन्हीं योग्यतम अनुयायी से दीक्षित हुए थे। विकल्प में इस विचार से लिख रहा हूँ कि गोरखनाथजी के काल का समन्वय हरिदासजी से बैठता है या नहीं—यह अभी संदिग्ध है। वैसे तो गोरखनाथजी अजर-अमर भी माने जाते हैं।

स्वयं हरिदासजी की वाणी की रचना भी यह सिद्ध करती है कि उनने वाणी की रचना में भी नाथ-वाणियों का अनुगमन किया है। उनने आरम्भ से लघु-ग्रन्थों की रचना की है। उन सबके आमुख में प्रकरण नाम दिये गए हैं। वे सब नाम माला जोगग्रन्थ, ज्ञान-उपदेश-जोगग्रन्थ इस तरह दिये गए हैं। सभी के अन्त में

जोगग्रन्थ अवश्य दिया गया है। इनमें से कई ग्रन्थों की रचना भी नाथ-वाणियों के सदृश है।

जैसे–प्राणमात्रा जोगग्रन्थ है—

रहता सो भाई बहता सो वहणा,
अवधू उलटा गोता मार आकास में रहणा।
अरथ की अन्ध्यारि मिथ्या न भाखवा,
निरंजन मात्रा जतन सू राखवा ॥

मनचरित्र जोगग्रन्थ—

प्र०–स्वामीजी कोंण अंधारा कोंण उजास,
कोंण अस्थान निज करण प्रकाश।
कोंण अस्थान मन रहे समाय,
कोंण अस्थान मन भूखा जाय ॥

उ०–अवधू त्रिविध अंधारा ज्ञान उजास,
नाभि कँवल निज किरण प्रकाश।
ता अस्थान मन रहे समाय,
इन्द्रिय अस्थान मन भूखा जाय ॥

सूर-समाधि जोगग्रन्थ—

साग धक धूणि भुज मुख हाथ फेरताँ।
आज के द्योस की बाट नित हेरताँ ॥
कोट दौढ़े बुरज दुसमणां दलां खेरताँ।
भौमि वापे तणे देखिजे फेरतां ॥
जेर जोगी मरद आपणी जेरताँ।
जन हरिदास साहिब सन्मुख सही सूर तिण वेर का।
सूर समाधि अगाध व्रत जन हरिदास मन मांहि।
पैला न भाजै भला आपण भाजि न जाहिं ॥६॥

अन्य महात्माओं की वाणियों में इस तरह जोगग्रन्थ नहीं मिलेंगे, न ही इस प्रकार की रचना मिलेगी। इन रचनाओं में नाथ-वाणियों का आदर्श स्पष्ट है। तीसरा एक व्यावहारिक आधार भी है। वह है डीडवाणे में जोगामंढी नाम से नाथों का स्थान। जिसकी महत्ता को निरंजनी सम्प्रदाय ने सैंकड़ों वर्षों तक मान्यता दी।

डीडवाणे में जहाँ महाराज हरिदासजी (हरिपुरुषजी) का समाधि-स्थान है, वहाँ वसन्त-पंचमी से सायंकाल धमाल-फाग-होरी आदि का गायन आरम्भ हो जाता है, जो कि फाल्गुन सुदी ६ तक बराबर चलता है। पहिले बहुत से महात्मा वसन्त-पंचमी को डीडवाणे पहुंचते थे और वे वहाँ महाराज हरिदासजी की निधन-तिथि (फाल्गुन सुदी ६) तक धमाल-होरी-फाग, सत्संग, भजनों का आनन्द लेते थे। मेरी बाल्यावस्था तक इस धमाल के प्रारम्भ करने से पहिले, वसन्त-पंचमी को समागत तथा आगत साधु प्रातः जोगामंढी जाते थे तथा वहाँ नारियल भेंट करते थे, अबीर-गुलाल चढ़ाते तथा वहीं धमाल का आरम्भ करते थे। यह क्रम हरिदासजी महाराज के ब्रह्मलीन होने से लेकर बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध-भाग तक चलता रहा है। इस व्यावहारिक रिवाज से सिद्ध होता है कि हरिदासजी महाराज को जिन नाथ महात्मा ने या गोरखनाथजी ने उपदेश दिया था। उनके आवास का सम्बन्ध इस जोगामढी स्थान से है। यह स्थान पर्याप्त प्राचीन है। इस तरह स्वयं हरिदासजी महाराज के कथन, वाणी की रचना तथा व्यावहारिक-पद्धति का प्रचलन—ये इतने सुस्पष्ट प्रमाण हैं कि इनके पश्चात् हरिदासजी के गुरु कौन थे ? उनने किससे दीक्षा ली ? इस विषय में किसी तरह की शंका-समाधान की आवश्यकता नहीं रहती। हरिदासजी के उपदेष्टा नाथ थे—यह सिद्धान्त युक्तियुक्त व सप्रमाण सिद्ध है।

स्वामी हरिदासजी का काल—

अब हम काल-सम्बन्धी प्रश्न पर विचार करते हैं। हरिदासजी का काल कबसे कब तक का माना जाय—यह प्रश्न विवादग्रस्त है। इसमें जो-जो विरोधाभास हैं, उनको प्रमाण व युक्ति की कसौटी पर परख कर निश्चय करना है। काल के बारे में किन-किन का क्या अभिमत है तथा उस अभिमत का आधार क्या है—इसको भी सम्यक् परखने की आवश्यकता है। वैसे हरिदासजी के कुछ जीवन-चरित्र लिखने वालों ने तो उनका जन्म-काल सम्वत् १४७५ तथा निधन-काल सम्वत् १५९५ लिखा है। पुराने परचई-लेखकों में केवल रघुनाथदासजी ने काल का उल्लेख किया है। वह इस रूप में है—चवालीस वर्ष घर में रहते हुए गृहस्थ-जीवन बिताया। पश्चात् चवालीस वर्ष भजन-तप-साधना-सिद्धि व भ्रमण में बिताए। इनने मृत्युकाल सम्वत् १६०० फाल्गुन शुक्ला ६ लिखा है। इनके विचारानुसार अठ्यासी वर्ष हरिपुरुषजी ने शरीर रखा। इस विधि से उनका जन्म-काल १५१२ आता है। हरिरामजी तथा प्यारेरामजी ने काल का कोई उल्लेख नहीं किया है।

मंत्रराज-प्रभाकर के लेखक, परचई-लेखक पूर्णदासजी, रामचन्द्रजी गुजराती के शिष्य आशारामजी दाधीच तथा जानकीदासजी ने सम्वत् १४७५ में जन्म तथा १५९५ में ब्रह्मलीन होना लिखा है। 'जोधपुर की हिस्ट्री' में सम्वत् सोलह सौ से निरञ्जनी सम्प्रदाय का प्रारम्भ लिखा है। पंचोली - वंशीलालजी जिनका वंश-परम्परागत मारवाड़ राज्य से प्रशासनिक सम्बन्ध है तथा उनको मारवाड़ राज्य द्वारा दी गई निरंजनी सम्प्रदाय की सनदों की विशेष जानकारी है, उनका मत भी यही है कि हरिपुरुषजी का देहावसान सोलह सौ से पहिले हो गया। एक प्राचीन पत्र स्वामी सम्पतरामजी की पुस्तकों में था। उसमें कबीरजी आदि कई महात्माओं के जन्म-काल व निधन-काल के ज्ञापक-दोहे लिखे हुए हैं, उसमें भी महाराज का काल वही चौदह सौ पिचहत्तर व पन्द्रह सौ पचाणवे लिखा है। उपर्युक्त सभी लेखक मानते हैं कि हरिपुरुषजी की आयु एक सौ बीस वर्ष की रही। परचई-लेखक रघुनाथ-दासजी के अनुसार आयु अठहत्तर वर्ष की रही।

"दविस्तानुलमुजाहिब" के लेखक ने हरिपुरुषजी का निधन-काल सम्वत् १७०२ लिखा है। जोधपुर से वाणी का प्रकाशन हुआ है, उसमें लिखे गए जीवन-चरित्र में भी सम्वत् १७०० निधन-काल लिखा है। हिन्दी-साहित्यकारों का उल्लेख हम पीछे कर आए हैं, उनने इनके काल के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है। उत्तर-भारत की सन्त-परम्परा के लेखक माननीय श्री परशुरामजी चतुर्वेदी एम. ए., एल-एल. बी. ने उनके काल के बारे में प्राप्त सभी मतों का उल्लेख किया है। पर उनने निश्चित कोई मत इस विषय में व्यक्त नहीं किया। उनने गुलेरीजी, पुरोहित हरिनारायणजी आदि के मतों का उल्लेख किया, पर स्वयं हरिदासजी महाराज की छै चकवै वाली साखी में अकबर के नाम का उल्लेख देखकर उनका विचार किसी एक मत पर टिका नहीं। चन्द्रधरजी गुलेरी एम. ए. के नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में लिखे गये लेख में, जो कि सम्वत् १९७७ के अङ्क में निकला है—उनने उसमें हरिदासजी का रचना-काल सम्वत् १५२० से १५९७ तक का माना है। पुरोहित हरिनारायणजी ने "सुन्दर-ग्रन्थावली" की भूमिका में सम्वत् १६५६ दीक्षाग्रहण-काल व सम्वत् १६७० इनका अवसान-काल लिखा है।

काल-निर्णय में विशेष बाधक श्री हरिपुरुषजी की वह साखी है, जिसमें छः चक्रवर्त्तियों का उल्लेख किया गया है।

छै चकवै मुचकंद कहाँ, कहाँ विक्रम कहाँ भोज ॥
सामंत पृथ्वी चौहाण कहाँ, कहाँ अकबर नोरोज ॥

—हरिदास वाणी
भ्रमविध्वंस जोगग्रन्थ

उपर्युक्त मत-मतान्तरों से हमारे सामने चार मत ऐसे आते हैं जो १६७०, १७००, १७०२ और १६५० से १६७०–७५ तक आता है। इन चारों मतों पर क्रमशः विचार करना उपयुक्त रहेगा।

सम्वत् १६७० अवसान-काल हरिपुरुषजी का था–यह अभिमत पुरोहित हरि-नारायणजी बी. ए. जयपुर का है। उनके इस मत का समर्थक है–एक प्राचीन पत्र की नकल जिसमें प्रयागदासजी के शिष्यों का विवरण दिया है। उसमें हरिदासजी निरंजनी का भी उल्लेख है। अवश्य प्रयागदासजी के आठ-दस शिष्यों में हरिदासजी भी एक शिष्य थे और सम्भव है उनका देहावसान भी सोलह सौ सत्तर में हुआ हो। मेरो बाल्यावस्था में मैंने पुराने महात्माओं से सुना था कि बड़े भंडार के क्षेत्र में दादू-पन्थियों के कोई स्मारकस्थान हैं। सम्भव है प्रयागदासजी के किन्हीं शिष्यों के स्मृतिरूप कोई चबूतरी या छत्री हो। पर प्रयागदासजी विहाणी के शिष्य हरिदासजी थे, वे ये ही निरंजनी-सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक हरिदासजी थे—ऐसा युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। क्योंकि प्रयागदासजी के समकक्ष दादूजी के शिष्य वखनाजी, जग्गाजी व सुन्दरदासजी ने अपनी रचनाओं में हरिदासजी महाराज का समादर के साथ नानक, कबीर, नामदेव, रैदास आदि महात्माओं के समकक्ष-कोटि में स्मरण किया है। सन्तों के परिचयात्मक साहित्य में नाभादासजी की भक्तमाल के पश्चात् राघोदासजी की भक्तमाल का स्थान है। राघोदासजी ने सगुण चार सम्प्रदाय के भक्तों का निरूपण करने के पश्चात् नानक, कबीर, दादू तथा निरञ्जनी सम्प्रदाय का निर्गुण उपासकों में निरूपण किया है। यदि हरिदासजी प्रयागदासजी के ही शिष्य थे तो फिर निरञ्जनी सम्प्रदाय का दादू-पन्थी सम्प्रदाय से भिन्न अस्तित्व ही कहाँ से आया और निरञ्जनी हरिदासजी का निरूपण क्यों किया गया? इसके समाधान में पुरोहितजी ने लिखा है कि सम्वत् १६५६ में हरिदासजी ने प्रयागदासजी से दीक्षा ली। बाद में वे नाथों के अनुयायी बन गये और १६७० में उनका देहावसान हो गया। जैसा पीछे मैंने शिष्यत्व के प्रश्न पर विचार करते हुए स्वयं हरिदासजी के ही वे उद्धरण दिये हैं जिनमें उनने गोरखनाथजी से ज्ञान ग्रहण करने का स्पष्ट उल्लेख किया है। ईश्वर-चिंतन में लगने वाले मरात्माओं की वृत्ति ऐसी उच्छृङ्खल नहीं होती कि वे तीसरे दिन गुरु बदलते रहें। सभी महात्माओं ने अपमे उपास्य ईश्वर से भी अधिक गुरु को महत्व दिया है। अतः हहिदासजी वस्तुतः प्रयागदासजी विहाणी के शिष्य होते तो वे अपने को गोरखनाथ से ज्ञान लेने का कदापि उल्लेख नहीं करते। यहाँ यही मानना होगा कि पुरोहितजी ने नामसाम्य के कारण ही हरिदासजी को प्रयागदासजी का शिष्य लिख दिया है। उनने उन उल्लेखों पर ध्यान नहीं दिया जो जग्गाजी, वखनाजी, सुन्दर-दासजी, रज्जब शिष्य खेमजी, जनगोपाल-शिष्य चैनजी तथा भक्तमाल-रचनाकार राघोदासजी ने अपनी-अपनी कृतियों में किया है। यहाँ उन उद्धरणों को पुनः देने की आवश्यकता नहीं। वे सब पीछे तत्-तत् प्रसङ्ग में उद्धृत हैं।

दूसरे दो मत हैं–"दविस्तानुलमजाहिब" व जोधपुर से प्रकाशित वाणी में जीवन-चरित्र देने वाले साधु देवादासजी का। मजाहिब लेखक ने सम्वत् १७०२ हरिदासजी का अवसान-काल लिखा है, जन्म-काल लिखा नहीं। जोधपुर से प्रकाशित वाणी में जीवन-चरित्र में–जन्म सोलहवीं शताब्दी तथा अवसान-काल सम्वत् १७०० फा० शु० ६ लिखा है। दोनों ही लेखकों ने किस आधार से यह काल लिखा है उसका कोई विवेचन नहीं है। देवादासजी ने तो स्वीकार भी किया है कि जीवन-चरित्र की प्रामाणिक सामग्री है नहीं, जो कुछ सुना है उसी के आधार पर लिखा जाता है। केवल श्रुत आधार की काल के बारे में विशेष प्रामाणिकता नहीं मानी जा सकती। जबकि उसके विरुद्ध पड़ने वाले प्रमाण अधिक सहेतुक हों। जिन उपपत्तियों से पुरोहितजी के कालोल्लेख का समन्वय नहीं बैठता, तब उनके लिखे काल से भी ३०-३२ वर्ष और आगे के काल की संगति का उन प्रमाणों से कैसे मेल बैठ सकता है ? अतः इन तीनों कालों के विषय में यही कहा जा सकता है कि इनका औचित्य अन्य प्राप्त प्रमाणों से संगत नहीं है।

अब हम छै चकवै वाली साखी पर आते हैं। वह साखी स्वयं हरिदासजी की है। प्रकरण है भ्रमविध्वंस का। उसमें निरूपण किया गया है कि बड़े-बड़े सामन्त, महान् योद्धा व विपुल धन-सम्पत्ति वाले सम्राट् सब समाप्त हो गये। हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, रावण, कंस, शिशुपाल, पाण्डव और कौरवों की असारता व्यक्त करते हुए ही अन्त में यह साखी आती है। इस साखी के पूर्वार्द्ध में मुचकुन्द, विक्रम, भोज का उल्लेख आता है। उत्तरार्द्ध में पृथ्वीराज, अकबर व नोरोज का उल्लेख है। नोरोज अकबर का विशेषण नहीं है–ऐसा हो तो फिर छः चक्रवर्त्ती न रहकर पांच ही रह जायँ। अतः अकबर तथा नोरोज को दो भिन्न-भिन्न सम्राट् मानने चाहिएँ। मेरे विचार से यहाँ अकबर का जो उल्लेख है, वह मुगल सम्राट् न होकर कोई अन्य अकबर होना चाहिए। क्योंकि यदि मुगल सम्राट् अकबर ही इस उल्लेख में माना जाय तो फिर हरिदासजी का अवसान सत्रह सौ के करीब ही आता है। कारण, अकबर का अवसान सम्वत् १६६४ में हुआ। हरिदासजी ने अपनी रचना में उसके मरने से पहिले–जीवन-काल में ही उसका उल्लेख अपनी वाणी में किया हो तो भी सम्वत् सोलह सौ पचास से पहिले का यह उल्लेख नहीं माना जा सकता। स्वामीजी की रचना जब सोलह सौ पचास के आस-पास ठहरती है तो फिर उनका निधन भी सोलह सौ सत्तर-अस्सी के करीब आता है। ऐसा मानने से फिर जिन-जिन महात्माओं ने, जिनका कि काल सोलह सौ चालीस से नब्बे तक का है। बखनाजी, जग्गाजी, चैनजी व खेमजी ने अपनी-अपनी रचनाओं में हरिदासजी को नानक, कबीर, रैदास के साथ स्मरण किया है—वह असंगत है या समसामयिक मानकर उनका उल्लेख किया है। उनने जो उल्लेख अपनी रचनाओं में किया है वह समसामयिक मानकर नहीं किया, क्योंकि समसामयिक स्थिति में न तो सम्प्रदाय ही का कोई स्वरूप माना

जा सकता है, न उनका ही । अतः उक्त रचनाकारों ने हरिदासजी का उल्लेख उनके निधन के पश्चात् तथा उनकी सम्प्रदाय बन जाने पर ही किया है—यह युक्तियुक्त पक्ष है । हरिदासजी की छठी पीढ़ी में महात्मा सेवादासजी हुए हैं, जिनकी परचई पोता-शिष्य रूपदासजी ने लिखी है । उनने सेवादासजी का जन्म-काल इस तरह लिखा है—

सोलह सौ सताणवें , चैत सुदि नौमी दिन ।।
ता दिन बाजे बाजिये , प्रगटै सेवा जन ।।
ईश्वरकला अवतार जन , राजगुरु घर संत ।।
रूपदास जन का कहूँ , महिमा बहोत अनंत ।।
नवव्याकरण भागवत पढ़ि, पायो सतगुरु ज्ञान ।।
महा विरक्त वैराग होय , धार्‌यो निरगुण ध्यान ।।
सतरा सो अठाणवे , वद पड़वा जेठ मास ।।
जन सेवा स्वर्ग सिधाइया , कियो ब्रह्म में वास ।।४।।

रूपदासजी की परचई की उक्त चार साखियोंसे सेवादासजी का निश्चित काल-ज्ञान होता है—सोलह सौ सताणवे उनका जन्म-काल, सत्रह सौ ग्यारह दीक्षा-काल व सत्रह सौ अठाणवे अवसानकाल । यदि हरिदासजी का ही हम सोलह सौ सत्तर-अस्सी तक रहना मानें तो फिर क्या खेमजी, चत्रदासजी, पोकरदासजी, दयालदासजी ये सब चार पीढ़ियाँ दस वर्ष में ही समाप्त हो गई । इन चारों के निधनकाल निम्न रूप से भाट की बही में दर्ज है । खेमजी संवत् १६१२ जेठ सुदी ६, चत्रदासजी संवत् १६६४ वैशाख बदी ११, पोकरदासजी का देहावसान संवत् १६६६ और दयालदासजी १७४५ में । दयालदासजी के ही शिष्य सेवादासजी थे । उक्त कालक्रम में कोई असंगति प्रतीत नहीं होती । अतः यह मानना कि हरिदासजी सोलह सौ सत्तर-अस्सो तक रहे, उक्त कालों से विपरीत पड़ता है । अतएव यही मानना होगा कि छै चकवै की साखी में उद्धृत अकबर मुगल साम्राज्य वाला न होकर कोई अन्य अकबर होना चाहिए । इसी तरह नौरोज भी कोई और प्राचीन सम्राट होना चाहिए । ऐसा मानने ही से दादूपन्थी लेखकों व निरंजनी लेखकों के मतों का औचित्य रहता है, अन्यथा सब मतों के उल्लेख असम्बद्ध होते हैं, जिसका कि कोई अकाट्य विरोधी प्रमाण नहीं है । अब हम कुछ फुटकर रचनाएँ नीचे उद्धृत करते हैं जिनका सम्बन्ध कालक्रम से है—

बालोतरे से प्राप्त—

चौदह सो पिचोहतरे, जन्म लियो हरिदास ॥
सांखल के घर अवतरे, क्षत्रिय वंश निवास ॥
क्षत्रिय वंश निवास, तेजस्वी मूर्ति विराजै ॥
क्षत्रिय सूर न होय, मात को दूध जे लाजै ॥
पीछे गोरखनाथ जी, दीन्हों ज्ञान प्रकाश ॥
चौदह सो पिचह्योतरे, जन्म लियो हरिदास ॥१॥
पन्द्रह सो पिचाणवे, कियो जोति में वास ॥
फागण सुदि की षष्ठमी, परम जोति प्रकाश ॥
परम जोति प्रकाश, भेद सब सतगुरु जान्या ॥
अलख निरंजन इष्ट, ताहि का तत्व पिछान्या ॥
बीसा सो वपु राखियो, जन हरिदास निज दास ॥
पन्द्रह सो पिचाणवे, कियो ज्योति में वास ॥२॥

सम्पतरामजी का प्राचीन पाना—

पन्द्रह सौ बारोतरे, फागण सुदी छठ सार ॥
बैराग ग्यान भक्ति कूँ, लियो हरी अवतार ॥
पन्द्रह सै के बारह गये, हरि धारयो अवतार ॥
ज्ञान भक्ति वैराग्य दे, जीव किये भव पार ॥
पन्द्रह सै छप्पन समय, वसन्त पंचमी जान ॥
तब हरि गोरष रूप धरि, आय दियो ब्रह्मग्यान ॥
सोलह सैरे सई के, छठि सुदि फागण मास ॥
परम धाम भये प्रापतीं, नगर डीड हरिदास ॥४॥

कालपोषक दो मुख्य विचार हैं—पहिला संवत् १४७५ से १५९५। दूसरा संवत् १५१२ से १६००। परचई-लेखकों में सबसे पुराने हरिरामजी हैं। पर उनने

काल का उल्लेख किया नहीं। उनके पश्चात् हैं रघुनाथदासजी। इनने वही काल लिखा है जो प्राचीन पत्र-साखियों में है। जोधपुर हिस्ट्री का भी यही मत है। चन्द्रधरजी गुलेरी के लेख गत काल का समन्वय भी इसी काल से बैठता है और यही उपयुक्त भी बैठता है। अतः मैं उपर्युक्त सब विवरणों के ऊहापोह के पश्चात् इसी पक्ष पर पहुंचता हूँ कि हरिदासजी महाराज का काल सोलहवीं शताब्दी ही ठीक है। उनका जन्म-काल पन्द्रह सौ बारह, दीक्षाकाल पन्द्रह सौ छप्पन, निधन-काल संवत् सोलह सौ। जब तक इसके विपरीत कोई अकाट्य संपुष्ट प्रमाण उपस्थित नहीं होता, तब तक यही काल मानना उचित व संगतिपरक है।

॥ इति परिचयखण्ड ॥

विवेचनात्मक उत्तरखण्ड

भूमिका

१. संक्षिप्त-जीवनी

परिचय-खण्ड में महाराज श्री हरिपुरुषजी (हरिदासजी) के जीवन का विस्तार से विश्लेषण आ गया है, पर वह शृङ्खलाबद्ध नहीं है। इसलिए यहाँ पुनः संक्षिप्त जीवनी का उल्लेख किया जा रहा है।

हरिदासजी का जन्म सम्वत् १५१२ में हुआ। वे शांखला गोत्र के क्षत्रिय थे। ग्राम कोलिया उस समय शांखला क्षत्रियों की जागीर का प्रमुख स्थान था। कोलिया से उत्तर-पूर्व दो कोस पर कापड़ोद ग्राम था। यह कापड़ोद ग्राम ही महाराज हरि-पुरुषजी की जन्मस्थली है। आज भी यह ग्राम आबाद है। शांखलों के भी कुछ घर अब भी हैं। प्राचीन समय में क्षत्रियों का आजीवन भूमि-अधिकार से या लूट-डकैती से चला करता था। हरिसिंहजी का बाल-जीवन अन्य बालकों की तरह ही व्यतीत हुआ। उनके माता-पिता का नाम ज्ञात नहीं हुआ है। वयस्क होने पर उनका विवाह हो गया तथा गृहस्थी के पालन के लिए उनने भी डकैती का मार्ग अपनाया। डीड-वाणे से कोलिये को आने वाले मार्ग में जंगल में एक कुआ था, जिसकी संज्ञा पीछे से खोसल्या कुआ हुई, वही उनके लूटने का प्रमुख स्थान था।

कालक्रम से एक दिन एक महात्मा का उधर आने का संयोग हुआ। हरि-सिंहजी ने उनको भी लूटने के विचार से रोका। महात्मा ने उनको समझाया कि मनुष्य-जन्म पाकर यह पाप-कर्म कर रहे हो–इसका फल कौन भोगेगा ? हरिसिंहजी ने कहा कि जो लूट के माल से मेरा कुटुम्ब पेट भरता है, वही इस पाप का फल भोगेगा। महात्मा ने कहा–इसकी जाँच तो करो। तब हरिसिंहजी ने महात्मा को एक पेड़ से बाँध दिया तथा घर आकर कुटुम्बियों से पूछा कि कहो, मैं जो यह लूट-डकैती करके नर-हत्या से धन लाता हूँ, उस पाप के भागीदार कौन होंगे ? कुटु-म्बियों ने उत्तर दिया कि 'जो हत्या-लूट करेगा, वही उस पाप का भागीदार होगा।' इस उत्तर ने हरिदासजी की सहज मानवीय भावना को उद्वेलित किया। वे वापिस लौटते हुए अपने इस कुकर्म पर विचार करने लगे। महात्मा के पास आने तक उनका अन्तर्मन बदल गया। उनको अत्यन्त आत्मग्लानि हुई। महात्मा को खोल, विनयान्वित हो, उनसे क्षमा माँगी तथा अपने कल्याण के लिए मार्गप्रदर्शन की प्रार्थना की।

महात्मा ने आध्यात्मिक-पथ का उपदेश दिया तथा आत्मचिन्तन में लगने का निर्देश कर अन्तर्धान हो गए। श्रुत-परम्परा में इन्हें गोरखनाथजी कहा जाता है। उक्त उपदेश प्राप्त हुआ उस समय उनकी अवस्था चवालीस वर्ष की थी-स्त्री-पुत्रादि कुटुम्ब भी था। आपने महात्मा मे उपदेश प्राप्त करते ही अपने शस्त्रादि उसी "खोसल्ये कुए" में डाल वहाँ से दो-तीन कोस पर पहाड़ी प्रदेश की सबसे बड़ी पहाड़ी 'तीखी डूंगरी' की ओर प्रस्थान कर दिया। उस पहाड़ी में पहुंचकर ईश्वर-चिन्तन में लग गए। तीव्र वैराग्य की उत्पत्ति हो गई और वे अनवरत आत्मचिन्तन में लग गये।

उनका निरन्तर आत्मचिन्तन पर्याप्त समय तक इस डूंगरी पर चला। जब स्थितप्रज्ञ की स्थिति हो गई व चिन्तन का कार्य स्थायी वृत्ति में सम्यक् स्थान पा गया, तब आप अपनी अनुभूति के अनुसार जन-समुदाय को मार्ग-प्रदर्शन के लिए भ्रमण को निकल पड़े। अनेक स्थानों का भ्रमण कर अन्तिम समय के समीप डीडवाणे में आये तथा यहीं सम्वत् सौलह सौ की फाल्गुन शुक्ला षष्ठी को वे ब्रह्मलीन हो गए। इस तरह आयु का पूर्वार्द्ध सांसारिक जीवन में व्यतीत हुआ और उत्तरार्द्ध आत्मचिन्तन में लगा। अठ्यासी वर्ष की आयु का उपभोग कर, संसार को शुभ संदेश प्रदान कर वे अपनी विशुद्ध साधनानुभूति के निचोड़रूपी "अनुभव वाणी" को हमें प्रदान कर गए जिसके आधार से हम भी आज तक सन्मार्ग प्राप्त कर रहे हैं। उनका नश्वर शरीर चला गया, पर उनकी अनुभूति आज भी अक्षुण्ण है।

डकैती का कार्य निर्दयता की पराकाष्ठा है। आजीविका के लिए हरिसिंहजी ने यह मार्ग अन्धानुकरण से अपनाया था। वे प्रतिदिन खोसल्ये कुए के पास के जंगल में छिपे रहते थे और इन्तजार करते रहते थे इक्के-दुक्के पथिक का। मुसाफिर ही उनका शिकार था और उस शिकार का धन-दौलत थी उनकी आजीविका की पूर्ति का साधन। उनने इस काम को करते समय कभी यह नहीं सोचा था कि यह काम अच्छा नहीं है। कुटुम्ब भी प्रसन्न था उनके इस पैदावार के सिलसिले से। मनुष्य में सत्संस्कार भी दबे रहते हैं, कदाचित् उनको अंकुरित करने का कोई हेतु आ जाय तो मनुष्य की चालू परिस्थिति में बहुत बड़ा अन्तर हो जाता है। हरिसिंहजी के जीवन को बदलने का भी एक दिन मौका आ गया। दैवात् उस पथ पर एक दिन एक आत्मजयी महात्मा आ निकले। हरिसिंहजी ने नित्यकर्मानुसार उनको भी रोका। महात्मा ने विचारा कि एक मानव किस तरह रास्ता भूल गया है। सर्वोत्कृष्ट मानव शरीर पाकर तथा बुद्धि व विचार की क्षमता रखते हुए भी प्रलोभन तथा अपने उत्तरदायित्व को ठीक से निर्वाह करने का सही मार्ग न पकड़ पाने से यह हिंसा तथा तस्करकर्म में ही अपना श्रेय मानने लग गया है। महात्मा का हृदय दयार्द्र होता ही है। उनका ध्येय प्राणिमात्र का कल्याण है। महात्मा ने निश्चय

किया कि इसको इस जघन्य पापकर्म से हटाना चाहिए। उनने हरिसिंहजी को सम्बोधित कर उनकी अन्तर्निहित सद्भावना को जागृत किया कि हे मानव! कुलीन क्षत्रिय वंश में जन्म लेकर तू प्राणिमात्र का रक्षक होने के स्थान पर इस कर्म से भक्षक बन गया है-यह किसलिए? इस चौरकर्म से धनोपार्जन कर झूठी ममता से जिस कुटुम्ब को अपना मान उसका पालन-पोषण करता है, क्या वह भी तेरे इस पापकर्म के फलभोग में तेरा साथी है? इस प्रश्न पर तुमने कभी विचार किया है। हरिसिंहजी ने तपाक से उत्तर दिया—जिनके भरण-पोषण के लिए ही मैंने यह कार्य अपनाया है तथा उन्हीं की आरामदारी के लिए मैं दिन-रात जो कष्ट उठा रहा हूँ-वे मेरे इस कर्म के फलभोग में क्या भागीदार नहीं होंगे? अवश्य ही मेरे वे साथी हैं। महात्मा ने प्रेरणात्मक-भावना से उनको प्रेरित किया कि तुमने यह मिथ्या विश्वास कैसे अपनाया है? क्या कभी तुमने अपने कुटुम्ब से इस बात की चर्चा की है? नहीं की है तो आज यह परीक्षा तो कर लो कि वस्तुतः तुमने जो धारणा बना रखी है-वह ठीक है या गलत। हरिसिंहजी के मन में संशय पैदा हुआ कि हमने इसका निर्णय तो कभी नहीं किया, आज देख तो लें कि कुटुम्ब की भावना क्या है? वे महात्मा को वहीं बाँधकर कुटुम्ब के पास गए तथा उक्त प्रश्न किया। कुटुम्बियों ने प्रत्युत्तर दिया कि दुनिया में क्या कभी ऐसा हुआ है कि करेगा कोई और भरेगा कोई? हम तो तुम्हारे आश्रित हैं, तुम चाहे जैसे कमाओ, हमारा भरण-पोषण तुम्हारे जिम्मे है। जिस कार्य से तुम धनोपार्जन करोगे उसका परिणाम तो तुम्हीं को भोगना होगा—कर्म में कोई किसी का भागीदार नहीं बन सकता। हरिसिंहजी की चिरकाल से प्रसुप्त सद्भावना जागृत हुई। कुटुम्ब की झूठी ममता के बन्धन हिल उठे। वे आत्मग्लानि से सन्तप्त, उन्हीं पैरों वापिस लौटकर महात्मा को खोल, उनके चरणों में नतमस्तक हो प्रार्थना करने लगे कि हे महात्मन्! मेरा कल्याण कीजिए। मुझे वह सत्पथ बतलाइए, जिस पर चलकर मैं इस मानव शरीर द्वारा कल्याण प्राप्त कर सकूँ। महात्मा ने हरिसिंहजी के व्यामोह को विगलित देख उपदेश दिया और संकेत किया कि तेरा कल्याण आत्मचिन्तन में है। महात्माजी की यही प्रेरणा हरिसिंहजी के गृह-त्याग का कारण बनी। उनने उसी क्षण शस्त्र-पाती कुएँ में डाल सामने दिखाई देने वाली 'तीखी डूँगरी' का रास्ता लिया। इस तरह महात्मा का मिलन उनका उपदेशहेतु बन हरिसिंहजी के जीवन को आध्यात्मिक-चिन्तन का साधक बना दिया।

२. साधना

कापड़ोद के डकैत हरिसिंहजी अब हरिदासजी हो गए थे। उनने 'तीखी डूँगरी' को अपना चिन्तन-स्थान बनाया। डूँगरी के शिखर पर ही उनने अभ्यास आरम्भ कर दिया। वृक्ष और पहाड़ी के टोले ही उनके चिरसङ्गी बने। दीक्षा-गुरु

गोरखनाथजी थे या कोई आत्मनिष्ठ अन्य नाथ-महात्मा ? उनने साधना का क्या मार्ग बतलाया–यह तो स्पष्ट नहीं है। पर हरिदासजी महाराज ने साधना के पश्चात् जो अपनी अनुभूत वाणी रची, उसके विविध प्रसङ्गों से पता लग जाता है कि उनने साधनाकाल में योग और निर्गुण-भक्ति का आधार लिया। चित्तवृत्ति के निरोध के लिए योग के विविध मार्ग हैं—हठयोग, राजयोग और लययोग। उनने हठयोग की कौन-कौन सी क्रियायें कीं या अन्य किस योग-मार्ग का अवलम्बन लिया, इस विकल्प में इतना ही स्पष्ट विदित होता है कि—आसन का अभ्यास तो हुआ ही, प्राणायाम का अभ्यास भी किया गया है। देह और मन के निग्रह में उक्त दोनों साधन अत्यावश्यक हैं। आसन से शरीर को काबू में किया जा सकता है। सामान्यतः शरीर निरन्तर एक रूप में नहीं रखा जा सकता। उसके चलने-फिरने, बैठने, सोने आदि के विविध कर्म हैं, पर आसन का अभ्यास उसके इन विविध कर्मों को एक रूप में बदल देता है। इसी तरह मन के उत्थान तथा अनेकताओं का सम्बन्ध प्राण से है। प्राण की क्रिया को कुम्भक के अभ्यास से स्थिर किया जा सकता है। जब प्राण स्थिर हो जाते हैं, तब मनोवृत्ति में भी स्थिरता आ जाती है। प्राण और देह पर साधक का पूरा अधिकार हो जाने पर साधक को स्वस्वरूप की अनुभूति सहज में ही हो जाती है। वृत्ति द्वारा विविध विषयोपभोग में लगी इन्द्रियाँ अन्तर्मुख हो शरीरपिण्ड में होनेवाली विविधताओं के आनन्द लेने लगती हैं। साधकों की अनुभूति से प्रतीत होता है कि शरीर में स्थित षट् या अष्ट चक्रों, इड़ा, पिंगला, सुषुम्णा, वंक-नाल, त्रिकुटि, शून्य स्थान, अमृत-निर्झर, अनहद नाद, दिव्य-प्रकाश आदि अनेक आश्चर्यकारक आधार हैं, जिनकी ओर वृत्ति का प्रवाह मुड़ जाने पर वृत्ति में बाह्य संसार के किसी भी पदार्थ की वासना उत्पन्न नहीं होती। प्राणायाम का महत्व सर्वविदित है, जिसका कि आर्य-संस्कृति में दैनिक-जीवन में अनिवार्य उपयोग आवश्यक माना गया है। प्राणायाम का अभ्यास प्राण के प्रवाह को ठीक रखने का एक-मात्र साधन माना गया है। यदि कोई व्यक्ति नियमतः थोड़ा सा भी प्राणायाम का साधन अपनाए हुए हैं तो उसके चमत्कारी फल से वह व्यक्ति अपरिचित नहीं रह सकता। आध्यात्मिक-साधना में तो यह अपना विशेष स्थान रखता ही है–समाधि का यह अनिवार्य अंग है। समाधि ही वह अवस्था है, जब वृत्ति का स्वस्वरूप में विलय होता है और यही वह परमानन्ददायिनी अवस्था है, जिसकी कि सब प्रकार की साधना के निर्देशकों ने परम प्रशंसा की है। जैसा कि ऊपर व्यक्त किया गया है कि हरिदासजी महाराज की वाणी के प्रसङ्ग मे ही उनकी साधना की कुछ झलक हमारे सामने आ जाती है। जैसा कि उनके निम्न वाक्यों से व्यक्त होता है—

जोगी ज्ञानखड्ग कर धारे, मनसा जीति मनोरथ मारे ॥
आसण छाँड़ि अनत नहिं जाय, ता संगि रमें निरंजन राय ॥

डूगरी
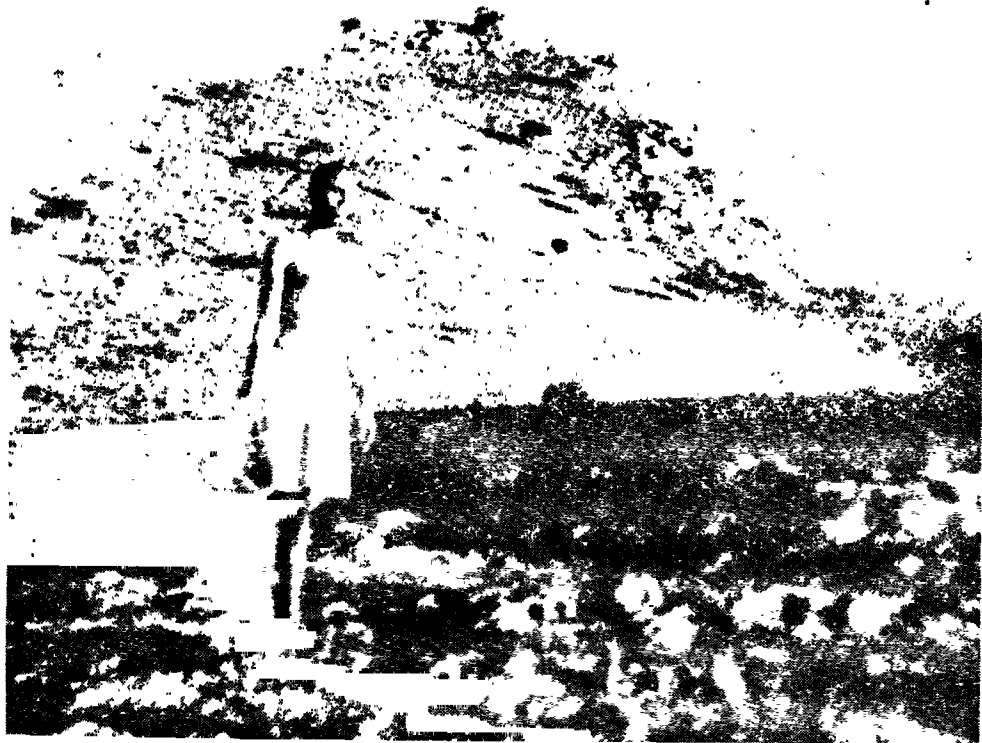
खोसले कूवे के पास का तिबारा

कापडोद

कापडोदग्राम

विषय विष तजौ भजौ हरिवीर , सुनि मंडल में निरभै नीर ।।
ऊंच नीच सब सूँ सम भाय , मन वच कर्म रहो मन लाय ।।
नाथ निरंजन निरभै जोगी , जुरा न जन्म भोग नहिं रोगी ।।
खरच्याँ घटे न दीयाँ जाय , सोई वित चित में रह्या समाय ।।

साधक जोगी को क्या करना है ? उसको वासनामय शत्रुओं को जीतने के लिए क्या तैयारी करनी है ? कैसे वह उस अलौकिक धन की प्राप्ति कर सकता है जो न घटता है, न विभाजित होता है ? हरिदासजी कहते हैं—

वैस निरन्तर अलख जगावे , आसण अमर अगम भर पावे ।
भूखा रहे न धापि न खाय , मनसा चले न पर घरि जाय ।।
ब्रह्म अग्नि में काया दहै , मन चंचल निहचल होय रहै ।
काम कोध का झड़े जंजीर , परम सिद्ध जहाँ जाल न कीर ।।
वार पार नहिं अगम अछेह , धरती वरषे अम्बर तेह ।
निर्मल धार अपार अनन्त , ता सुष लाग रहे सब सन्त ।।
निगम अगम गुरुगम मग होय , पवन निर्लेप अम्बर धोय ।।
रमताराम निरंजन राय , राषी वसत साह कूँ खाय ।।
जग में यहै जोग संग्राम , कोई करो आपणां काम ।
ए पासा चोपड़ ए सारी , अबकै जीति जाहू भावे हारि ।।

जोगसंग्राम-ग्रन्थ—८

उपर्युक्त उद्धरण में व्यक्त किया गया है कि साधक को अपने साधन-काल में सुस्थिर आसन से रह ज्ञान खड्ग ले काम-क्रोधादि प्रबल रिपुओं को मार, मनसा को वश में करना चाहिये, तभी वह उस चिरन्तन सुख की उपलब्धि कर सकता है जिस सुख में अब से पहिले के साधक-सन्त निवास कर रहे हैं। इस जोगसंग्राम में सफल होने पर ही साधक का लक्ष्य पूरा हो सकता है–इस साधन को अपनाकर कोई भी साधक अपना काम कर सकता है। इसी से मिलती-जुलती भावना निम्न पदों से व्यक्त होती है—

हम हेरूँ अवगति कूँ हेरे , जाता मनकूँ उलटा फेरे ।
महादेव का मता पिछाणै , मन दशों दिशा सूँ उलटा आंणे ।।

मनसा देवी सबकूं खावे, हमको मनसा साच बतावे।
हम जोगी जोग जुगति जांणे, वहती नदी अपूठी आंणे॥
पवन गोट का पारा वांधे, उलटि सुरति गगन को सांधे।
काम क्रोध का मूल उपारे, गगन मंडल में आसण धारे॥
अगम पियाला भर भर पीवे, अरूप रूप विचारत जीवे।
हरि सुखसिंधु तहाँ भय नाहीं, हरिजन हँस वसे ता मांहि॥

उक्त उद्धरण भी जोगसंग्राम की भावना का ही द्योतन करता है। हरिदासजी ने अपने लिए तथा आध्यात्मिक साधक के लिए दोनों ही स्थानों में जोगी शब्द का प्रयोग किया है। जोगी से–यहाँ यही अभिप्राय है कि देहस्थित चेतनतत्व को उसके मूलाधार अखण्ड ब्रह्मवाच्य-चेतन से मिलाने की साधना करना। इस पथ के पथिक को पथभ्रष्ट करने वाले षड्रिपुओं में काम-क्रोध का प्राबल्य माना है। काम से अभिप्रेत विषय की सभी प्रकार की कामना से है, जिसका हम चाह शब्द से भी व्यवहार किया करते हैं। वैसे काम स्त्री-संभोग के अर्थ में भी रूढ़ है, पर यहाँ ज्ञानेन्द्रियों की सभी वासनाओं को लेकर काम शब्द का प्रयोग है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में भी निर्देश किया है—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

(गीता अध्याय ३)

भगवत्प्रयुक्त रजोगुणसमुद्भव काम शब्द की नीलकण्ठी टीकाकार ने इसी भाव को व्यक्त करने वाली व्याख्या की है। वे कहते हैं—

काम एष इति। एषः प्रसिद्ध कामः "सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीय" इति श्रुतेरिदं मे भूयादिदं मे भूयादिति तीव्राभिलाषहेतुभूतश्चेतसोऽनवस्थितत्वापादको वृत्तिविशेषः। इसी अभिप्राय का पोषण मधुसूदनी तथा श्रीधरी में हुआ है। क्रोध भी काम का ही परिवर्तित रूप कहा गया है। कामना के विघात तथा अहङ्कार के आवेग से काम ही क्रोध का रूप धारण करता है। अतः काम-क्रोधरूपी शत्रु को विजित करना साधक के लिए अत्यावश्यक है। हरिदासजी ने अपनी वाणी में इसी विचार से काम-क्रोध की समाप्ति का उल्लेख किया है।

साधन-काल में एकाग्रवृत्ति बने रहने के लिए आवश्यक है कि वे गुण-धर्म जो वृत्ति में क्षोभ पैदा करने के हेतु हैं, सबसे पहिले निवृत्त किये जायँ, अन्यथा साधनाजन्य क्लेश को प्रसन्नता से सहन करने की क्षमता उत्पन्न नहीं होती। बिना ऐसी

क्षमता के साधक का लम्बे समय तक कठोर साधना में लगे रहना कैसे सम्भव बने ? अतः कामादि शत्रुओं को परास्त कर देह तथा मन को वश में कर लेने से ही साधक वृत्तिनिरोध की भूमिका सम्पादन करने में समर्थ बनता है।

हरिदासजी ने ऐसा ही किया। वे काम, क्रोध, अहङ्कारादि विकारी भावों से मुक्त हो शरीर-मन पर पूरा निग्रह रखते हुए मनोजयी बने। साधन के प्रारम्भ में वृत्ति के आधार के लिए किसी अवलम्बन की साधक को आवश्यकता रहती है, तदर्थ नामजप का अवलम्बन अत्यन्त उपयोगी रहता है। निर्गुण हो या सगुण दोनों ही प्रकार के भक्तों ने नामजप को प्रमुख साधन के रूप में अपनाया है। योगियों ने त्रिकुटि, अनहद नाद को वृत्ति का अवलम्बन माना है। प्रणव का जप–सोहं का जप प्राण के आवागमन के साथ करने का भी निर्देश है। निर्गुण सन्त-साधकों ने परम शुद्धस्वरूप समष्टिव्यापक शुद्धब्रह्म को "राम" शब्द से गृहीत कर उसी के जप का अभ्यास किया तथा उसी का उपदेश किया है। उनके विचार से राम वही है जो अशेष-प्राणी-अप्राणी सृष्टि में व्याप्त है। दृश्य-अदृश्यसृष्टि का कोई भी भाग उसकी व्यापकता से विरत नहीं है—वह सबमें है, सब उसमें है, वही उनका उपास्य राम है। ब्रह्म के व्यवहार के लिए अनेक नाम वेदोपनिषदों, स्मृतियों, पुराणों में प्रयुक्त हुए हैं। ब्रह्म से उस व्यापक-चेतन का संकेत है–जो जाति, गुण, धर्म, काल, कर्मादि की किसी उपाधि से आवृत नहीं। इसी ब्रह्म का उपयुक्त वाच्य-शब्द निरंजन भी है। हरिदासजी ने अपनी रचना में स्थान-स्थान पर ब्रह्मवाचक इस निरंजन शब्द का प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनने जप के लिए निरंजन राम को अपना उपास्य बनाया। इसके प्रमाणभूत उनके कुछ वचन इस तरह हैं—

भजि करुणानिधि करतार नांम नारायण लीजै।
भजि निरामूल निरसिंघ काम आरम्भ यह कीजै॥
भजि अलख निरंजननाथ, छाँडि विष अमृत पीजै।
भजि परम उदार अपार ज्ञान गहि ध्यान धरीजै॥
जन हरिदास वारपार कीमत नहिं राम नाम मोटो रतन।
उरमंडण उर धारि प्रेम प्रीति दीजै जतन॥१६॥

× × ×

परम ग्यान पर ध्यान परम गुरु गुरुगमि गावौ।
राग दोष रस पांच रखै मन तहां न चावौ॥
काम क्रोध अभिमान कुपह कांटा मत लावौ।
अलख भजन उर धरौ मरो मति मौत चुकावौ॥

जन हरिदास मन गहि पवन ब्रह्म अगनि विष वन दहौ ।
अगम वस्तु अन्तरि अगह तहाँ उनमनि लागा रहौ ।।८।।
(कवित्त)

उक्त दो पदों में अलख भजन, ब्रह्म अग्नि, अलख निरंजन, राम नाम मोटो रतन—ये शब्द हैं जो उपर्युक्त धारणा को सिद्ध करते हैं। निरंजन राम का और भी स्पष्टीकरण देखिए—

अलख निरंजन उर वसै, राम नाम निज भेद ।।
राम विसारयां होत है, सही कन्ध का छेद ।।१।।
हरि अपार पार को नांहीं, साधू जन खेलै ता मांही ।
जन हरिदास भज केवल राम, निरमल नाम तहाँ विसराम ।।

हमारी आतमा ए रामसनेही जांणि,
आदि अंत था हरि सब सोई, तूँ तासूँ वांणक वांणि ।।टेर।।
जाति वरण कुल नांहीं जाके, सो निकुला निरधार ।
ऊँडो अथघ थाघ नहिं आवे, नहीं वार नहिं पार ।।
× × ×
सतगुरु दीया भेद बताय, रहै राम दूजा सब जाय ।
धरी देह तेता आकार, सो क्यूँ कहिये सिरजनहार ।।
जाके रागद्वेष कछु व्यापै नाहिं, सोई रमता राम सकल घट मांहिं ।।

उक्त उद्धरणों से निरंजन-राम का सम्यक् समर्थन हो जाता है। वाणी में ऐसा कोई प्रकरण नहीं है जिसमें महाराज हरिदासजी ने परब्रह्म का ही रामनाम से वर्णन न किया हो। हरिदासजी ने अपने साधन-काल के आरम्भ में गुरु-उपदेशानुसार इसी व्यापक ब्रह्मस्वरूप-चेतन का रामनाम से स्मरण किया, उसी का ध्यान किया, उसी में वृत्ति को आरूढ़ कर अपनी साधना को सफल बनाया।

हमारी आर्य-संस्कृति के मूलाधार वेद, उपनिषद्, स्मृतियां, पुराण, गीता आदि सभी ने उस अशेष व्यापक चेतन-तत्व का—जो किसी भी उपाधि से आवृत नहीं है—"ब्रह्म" शब्द से निरूपण किया है। जैसा कि श्रुतियों तथा गीता के उद्धरणों से प्रमाणित होता है—
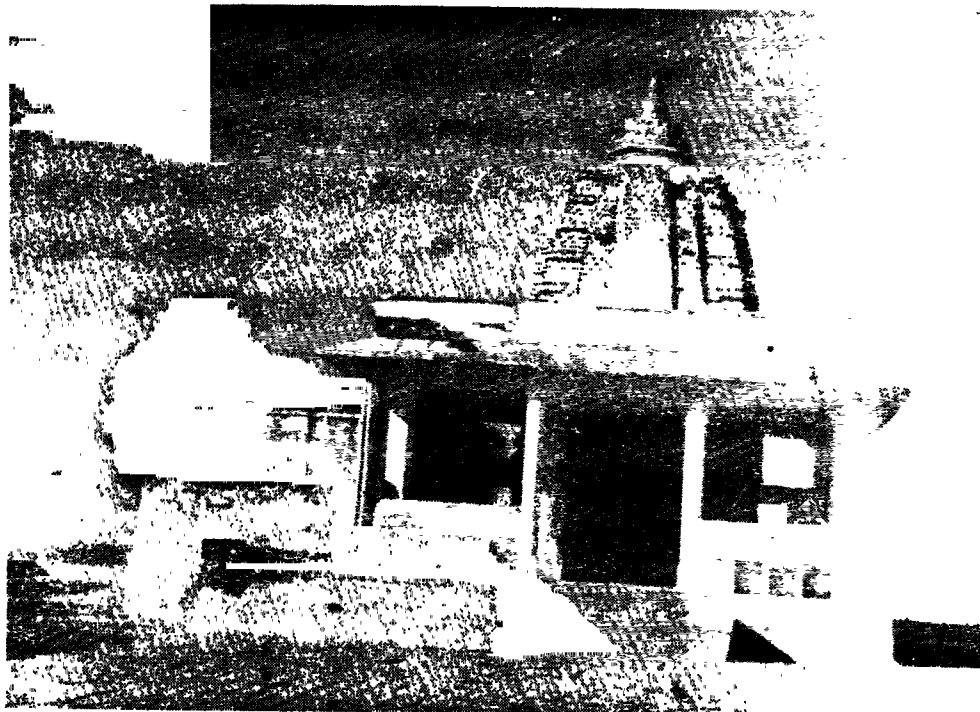
सर पाडादेवी जी का मन्दिर

पीपली मन्दिर

भूताबावड़ी, नागौर
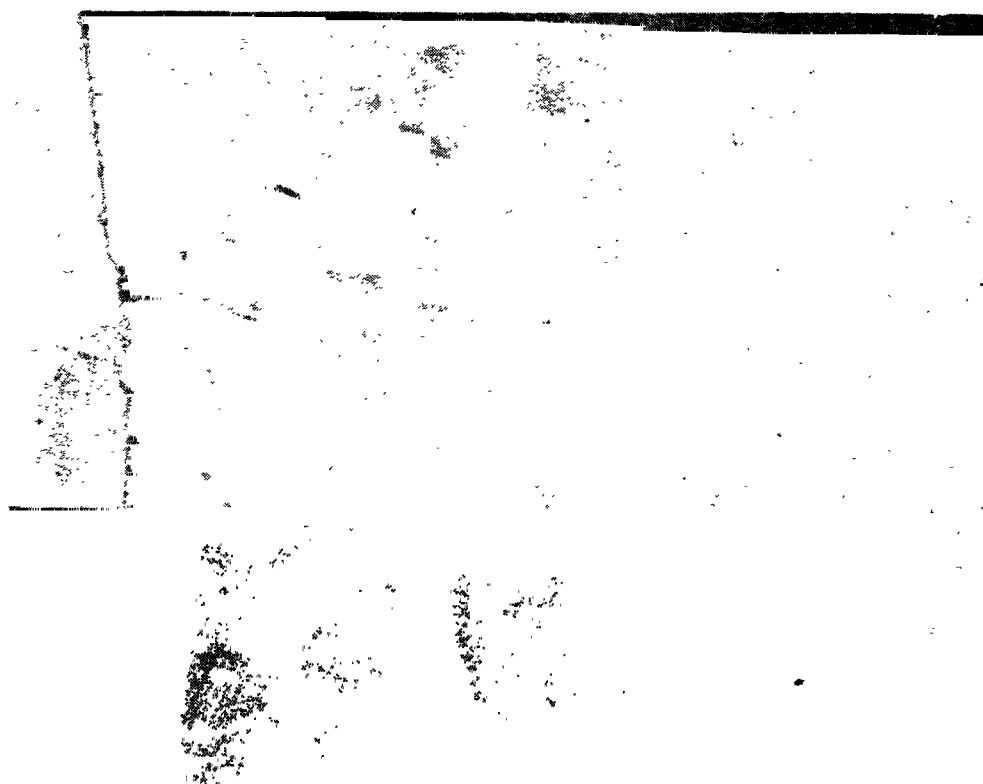
गोमती कूप

श्रुति में—सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत ?

× × ×

सच्चिदानन्दात्मानमद्वितीयं ब्रह्म भावयेत् ।

× × ×

अहं ब्रह्मास्मीति अनुसंधानं कुर्यात् ।

× × ×

मायाकार्यमिमं भेदमस्ति चेद् ब्रह्मभावनम् ।
देहोऽहमिति दुःखं चेद् ब्रह्माहमिति निश्चयः ॥

× × ×

ज्योतिर्लिङ्गं भ्रुवोर्मध्ये नित्यं ध्यायेत् सदा मुनिः ।
आत्मनमात्मनः साक्षात् ब्रह्मबुद्ध्या सुनिश्चलम् ॥
देहजात्यादिसंबन्धान् वर्णाश्रमसमन्वितान् ।
वेदशास्त्रपुराणान पदपांसुमिव त्यजेत् ॥

× × ×

भ्रान्ता एवाखिलास्तेषां क्व मुक्तिः क्वेह वा सुखम् ।
अद्वितीयं ब्रह्मतत्त्वं न जानन्ति यदा तदा ॥

× × ×

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।
यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत् ।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं तत्वमेव त्वमेव तत् ॥

× × ×

सर्वव्यापारमुत्सृज्य अहं ब्रह्मेति भावय ।
अहं ब्रह्मेति निश्चित्य त्वहंभावं परित्यज ॥

× × ×

सत्यमात्मा ब्रह्मैव ब्रह्मात्मैवात्र ह्येव न विचिकित्सितव्यम् ।
त्वं ब्रह्मास्मि अहं ब्रह्मास्मि आवयोरन्तरं न विद्यते ॥

त्वमेवाहमहमेव त्वम् ।

× × ×

स्वतः पूर्णः परात्ममात्र ब्रह्मशब्देन वर्णितः ।
अस्मीत्यैक्यमरामर्शात्तेन ब्रह्म भवाम्यहम् ॥
एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम् ।

× × ×

ब्रह्मशब्देन तद् ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम् ।
मायाविद्ये विहायैव उपाधी परजीवयोः ॥
अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्म विलक्ष्यते ।

× × ×

रामपरक श्रुति—आद्यो रा तत्पदार्थः स्यान्मकारस्त्वं पदार्थवान् ।
तयोः संयोजनमसीत्यर्थे तत्वविदो विदुः ॥
नमस्त्वमर्थो विज्ञेयो रामस्तत्पदमुच्यते ॥

× × ×

उपर्युक्त ब्रह्मनिरूपक-श्रुतियों का दिग्दर्शनमात्र है। सब उपनिषद् ब्रह्म ही का निरूपण करते हैं। अब कुछ उद्धरण "गीता" के दिये जाते हैं—

गीता— एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्म निर्वाणमृच्छति ॥७२॥

× × × [गीता अध्याय २]

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ॥
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

× × × [गीता अध्याय ३]

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना ॥२४॥

× × × [गीता अध्याय ४]

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

× × × [गीता अध्याय ५]

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥२१॥

× × × [गीता अध्याय ५]

योन्तःसुखोऽन्तरारामः तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

× × × [गीता अध्याय ५]

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२६॥

× × × [गीता अध्याय ७]

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् !
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ॥
अनन्त देवेश जगन्निवास !
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥

× × × [गीता अध्याय ११]

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः-
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ॥
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम-
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

× × × [गीता अध्याय ११]

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥२॥

× × × [गीता अध्याय १३]

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥३–४॥

× × × [गीता अध्याय १४]

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

× × × [गीता अध्याय १८]

उक्त गीता के उद्धरण उसी ब्रह्म चेतन तत्व का निरूपण करते हैं, जिनका पीछे श्रुतिवाक्यों में निरूपण है। कबीर, नानक, दादू, हरिदास, हरिनामदास, दरियाव, रामचरण, रामदास आदि सब महात्माओं ने इसी निर्गुण-चेतन को ही रामनाम से सम्बोधित करते हुए स्वयं आराधना की है तथा इसी राम का स्मरण-ध्यान करने का उपदेश दिया है। मैंने पीछे व्यक्त किया है कि–इन निर्गुण उपासक सन्त-भक्तों ने श्रुति-निरूपित शुद्ध व्यापक-चेतन-ब्रह्म को निरंजन शब्द से भी व्यवहार किया है। स्वामी हरिदासजी ने तो निरंजनरूप राम का ही चिन्तन किया था। उनके पश्चात् निरंजनी-सम्प्रदायके सन्त भी अपने स्मरण तथा जप में राम के साथ निरंजन शब्द को जोड़ राम निरञ्जन हरि निरञ्जन इसी नाम का चिन्तन करते आए हैं। इस निरञ्जन शब्द की उपासना के कारण ही यह सम्प्रदाय निरञ्जनी कहलाया, न कि कबीरजी के बाद उनकी परम्परा के सन्त कबीर-पन्थी तथा दादूजी के पश्चात् उनकी परम्परा के सन्त व सम्प्रदाय दादू-पन्थी कहलाते हैं। वैसे हरिदासजी के अनुयायी-सन्तों की संज्ञा हरिदास-पन्थी होनी चाहिए थी, पर निरञ्जन की उपासना के कारण वे हरिदास-पन्थी न कहलाकर निरञ्जनी कहलाए। सम्भव है कि हरिदासजी की साधना पर उपदेशदाता गोरखनाथजी या अन्य नाथ-महात्मा का प्रभाव भी हुआ हो, जैसा कि नाथ-वाणियों में अलख तथा निरञ्जन शब्द का बहुप्रयोग मिलता है। हम नाथ-

वाणियों के उद्धरण यहाँ नहीं दे रहे हैं, पर जिनने नाथ-वाणियों का अवलोकन किया है, उनसे यह बात छिपी नहीं है। हरिदासजी की वाणी में नाथ-वाणियों का अनुगमन है, यह हम वाणी-विवेचन-प्रसङ्ग में करेंगे। यहाँ तो इतना ही व्यक्त करना है कि हरिदासजी ने अपनी साधना के प्रारम्भ में जिस रामनामजप को आधार बनाया, वह निरञ्जनरूप राम था न कि अवताररूप धारण करनेवाला राम। हरिदासजी धीरे-धीरे अपनी साधना में सफलता प्राप्त करते हुए आगे बढ़ते गए। जब मन विषय-वासना के विष से मुक्त हो गया तथा उसका सम्बन्ध विषय-प्रवृत्त इन्द्रियों से न रह कर आत्मतत्व से हो गया तब वह मन जागतिक-पदार्थों से उदासीन होकर आत्मतत्व के रसास्वादन में लग गया। मनोनुबन्ध से इन्द्रियों के सहचार से विविध भोग-वासनाएँ जागृत होती थीं, उनका उच्छेद हो गया। काम, क्रोध, लोभ, अहङ्कार, राग-द्वेषादि परम शत्रुओं से वे मुक्त हो गए। जब त्रिगुणात्मक-भावना से वृत्ति हट कर सुरति-निरति रूप से उस एक ही आधारभूत आत्मतत्व में स्थिर होगई तब सभी प्रकार के अनिष्टहेतु समाप्त हो गये। महाराज हरिदासजी निश्चल मन और स्थिर-वृत्ति से आत्मनिष्ठ होकर साधना की सुदृढ़ भूमिका में आ गए, तब फिर उन्हें नाम-जप के आधार की आवश्यकता नहीं रही। साधना की यह दशा ही सिद्धि का हेतु होती है। साधक में जब त्रिपुटी का सामञ्जस्य हो जाता है तब फिर साध्य, साधक व साधना की विभिन्नता नहीं रहती। गुरु-निर्देशानुसार आत्मसंयम में दृढ़ रहकर हरिदासजी ने वह अवस्था प्राप्त कर ली और वे साधक से सिद्ध-कोटि में आ गए। वे अविद्या के विकारों से ग्रसित जीव-भाव की स्थिति से निकल ब्रह्मभाव की स्थिति में आ गए। अब वे एक सामान्य हरिदास मानव न रहकर विश्वव्यापक अखण्ड निर्मल चेतन ब्रह्मतत्व में ही समाहित हो गए थे और उसी के स्वरूप हो गये थे। इस तरह वे अपनी दृढ़ तथा कठोर साधना से साधक से सिद्ध बनने में सफल हुए।

३. गाढा विहारणी—

जिस समय महात्मा के उपदेश से हरिदासजी को अपने स्वार्थी कौटुम्बिक जनों से अत्यन्त ग्लानि हुई तथा वे वैराग्य के उद्वेग से अपने डकैत जीवन का परित्याग कर आत्मचिन्तन के विचार से 'तीखी डूँगरी' पर आए तब उनके पास ऐसा कोई साधन नहीं था कि वे अपने जीवनयापन को बिना किसी तरह की विघ्न-बाधा से चला सकें। आरम्भ में उन्हें किस तरह की कठिनाइयाँ आई होंगी, क्योंकि वे अपने निर्दय कर्म से उस क्षेत्र से तो परिचित थे ही। सम्भव है उनके कुटुम्बियों ने पूरा प्रयास किया होगा कि वे अपने कौटुम्बिक जीवन में ही वापिस आएं। पर उन पर उनका कोई असर नहीं हुआ और वे उस निर्जन स्थान में ही अपना डेरा लगा अपनी साधन-क्रिया में संलग्न हो गए। इस 'तीखी डूँगरी' के इधर उधर और भी पहाड़ियाँ हैं। पहाड़ियों के बीच के नाले-खोले तथा झाड़ियों के कारण यह

स्थान और भी भयावह था। सामान्यतः वह स्थान एक तरह से चोर-डाकुओं का आश्रयस्थान था। इस तरह के स्थान में नागरिकों का आवागमन कैसे सम्भव होता। हरिदासजी ने कितने समय तक इस स्थान पर एकाकी रहकर अपने आहार-पानी की क्या व्यवस्था की ? इसको ठीक से कहना शक्य नहीं है। संभव है उनकी इस तरह की कठोर साधना के आस-पास के ग्रामक्षेत्रों तक चरवाहों द्वारा समाचार पहुंचे हों और श्रद्धालु मनुष्यों ने उनके आहार-पानी की व्यवस्था की हो। ऐसे ही श्रद्धालु मनुष्यों में सर्वोपरिगणनीय स्थान गाढा वियाणी का है। गाढा जी डींडवाणे के रहने वाले थे। 'तीखी डूंगरी' डोडवाणे से तीन कोस दूर है। वे नित्य नियम से प्रातःकाल घर से भोजन तथा एक जल की गगरी लेकर डूंगरी पहुँचते और महाराज के दर्शन कर भोजन-पानी रख वापिस लौट आते। उनका यह क्रम उस समय तक चलता रहा, जब तक कि हरिदासजी महाराज डूंगरी पर साधना करते रहे। हरिदासजी महाराज का शायद पहला चमत्कार इस गाढे भक्त को ही मिला। चमत्कार की घटना इस तरह है—एक दिन ग्रीष्म ऋतु में गाढाजी नित्यनियमानुसार भोजन व जल की गगरिया लिये डूंगरी पर चढ़ रहे थे कि उनके पैर फिसल गये जिससे वे गिर गये साथ ही भोजन व जल का पात्र भी गिर गया। भोजन तो किसी पात्र में व्यवस्थित होने से सुरक्षित रह गया पर मिट्टी की गगरिया पहाड़ के पत्थर पर पड़ कैसे सुरक्षित रहती ? वह फूट गई पानी सब बह गया। भोजन का समय हो ही गया था गाढाजी को जल नष्ट होने का परम क्लेश हुआ। वे सोचने लगे कि यदि वापिस चलकर डीडवाणे से पुनः जल लाता हूँ तो आज का दिन समाप्त हो जायगा और महात्मा भूखे-प्यासे कितना कष्ट पायेंगे। यदि केवल भोजन ही लेकर चलूं तो जल की समस्या कैसे हल होगी ? इस तरह की पशोपेश में कुछ समय बिता क्षीण और दुःखी मन से केवल भोजन लेकर ही वह डूंगरी पर पहुंच गये। महाराज को नमस्कार किया। भोजन आगे रख खड़े ही रह गये। महाराज ने उन्हें खिन्न-उदास देख पूछा कि गाढाजी ! आज क्या कारण है ? इतने उदास क्यों हो ? गाढ़ाजी ने उत्तर दिया महाराज दुर्भाग्य से या मेरी असावधानो से आज जल की गागर यहाँ ऊपर आकर फूट गई और सारा जल बह गया। अब आप कैसे तो भोजन करेंगे और कैसे जल की व्यवस्था होगी इस क्लेश से मैं अत्यन्त-खिन्न हूँ। महाराज सब स्थिति समझ गये। सहज भाव से उनने कहा—गाढाजी, इसका ऐसा क्लेश करना ठीक नहीं है। गागर तो फूटी नहीं है शायद आपको भ्रान्ति हो गई हो। जाइये देखिये तथा गागर भरी है ले आइये। गाढाजी स्तंभित से हुए उनके मन में संकल्प हुआ कि गागर तो फूट ही चुकी महाराज उसके भरी होने का कैसे निर्देश कर रहे हैं ? गाढाजी बोले–महाराज गागर तो फूट ही गई उसके तो छोटे-छोटे टुकड़े हो गये। उसमें अब पानी रहन कैसे सम्भव है ? आप तो अब भोजन करिये। महाराज ने पुनः शान्त-चित्त से निर्देश किया कि आप जायँ तो सही,

गागर भरी न मिले तों वहाँ तक जाने का ही श्रम है। गागर गिरी वह स्थान चोटी से बहुत दूर नहीं था, कठिनाई से फर्लाङ्ग भर की दूरी होगी। गाढ़ाजी संशयात्मक भावना से चले और जहाँ गागर गिरी थी वहाँ पहुंचे-देखते हैं कि वस्तुतः गागर वही की वही है और स्वच्छ जल से भरी है। गाढ़ाजी के हर्ष का पारावार नहीं रहा। उन्हें जो आत्मग्लानि गागर गिरने से हो रही थी, वह परम हर्ष में बदल गई। वे गागर उठा शीघ्र से ऊपर आए तथा जल की गागर रख अत्यन्त श्रद्धा से महाराज के चरण पकड़ लिये। महाराज ने सान्त्वना दी तथा घर लौटने का निर्देश किया। गाढ़ाजी हर्षोन्मत्त से वापिस घर को चल दिये और महाराज की इस सिद्धि का बार-बार स्मरण करने लगे।

हरिदासजी महाराज के प्रति गाढ़ाजी की वैसे ही अत्यन्त श्रद्धा थी, पर इस चमत्कारी घटना के पश्चात् तो वे उनके अनन्य श्रद्धालु-सेवक बन गए। गाढ़ाजी निःसंतान थे—उनके कोई पुत्र-पुत्री उत्पन्न नहीं हुए थे। दूसरे, अवस्था भी अब बुढ़ापे की ओर जा रही थी। वे डीडवाणे से तीन कोस नित्य आने-जाने में भी कुछ क्लेश मानने लग गए थे। हरिदासजी महाराज की साधना सिद्ध हो गई थी, इसलिए अब महाराज भी डूँगरी पर ही रहना अनिवार्य नहीं समझते थे। गाढ़ाजी ने महा-राज की प्रसन्नता देख अपनी दोनों ही आकांक्षाएँ उनके सामने रखीं। महाराज ने उनकी दोनों ही इच्छा पूर्ण होने का निर्देश कर दिया। डूँगरी का परित्याग कर महाराज डीडवाणे पधार आये। उनने नगर से उत्तर की ओर जङ्गल में आसन कर लिया। गाढ़ाजी को अब घर से एक मील आने-जाने का रह गया, वे उसी तरह भोजन और जल वहाँ पहुँचाने लगे। समय पाकर उनके सन्तान भी हो गई, जिसका नाम द्वारिकादासजी सुना जाता है। गाढ़ाजी ने महाराज के निवास-स्थान के पास एक कूप भी बना दिया, जो गोमती कूप के नाम से अब भी भंडारजी महाराज के स्थान के पास अच्छी स्थिति में मौजूद है। इस तरह गाढ़ाजी की भक्तिभावना व सेवा का क्रम डूँगरी की तरह यहाँ भी उस समय तक चलता रहा, जब तक महा-राज का शरीर रहा। डूँगरी का परित्याग कर डीडवाणे पधार आने के पश्चात् महाराज यदा-कदा भ्रमणार्थ जाने लगे। इच्छानुसार भ्रमण कर पुनः डीडवाणे पधार आते थे। डीडवाणे पधारते ही गाढाजी द्वारा उसी प्रकार सेवा का क्रम प्रारम्भ हो जाता था। गाढाजी की इस परम निष्ठा तथा प्रेम के कारण ही महाराज ने उनके नाम की निरन्तर स्मृति के लिए इस स्थान की संज्ञा ही गाढ़ा हो जाने का निर्देश कर दिया था। बावन बीघे का यह भूमि-क्षेत्र आज भी गाढा नाम से प्रसिद्ध है। राज्य के सर्वे विभाग में भी इसका दाखिला गाढ़ा के नाम से ही है। इस तरह सेवक और स्वामी का यह ओतप्रोत सम्बन्ध सोलहवीं शताब्दी से आरम्भ हो आज इक्कीसवीं शताब्दी तक उसी क्रम से अक्षुण्ण चल रहा है।

४. भ्रमण व चमत्कार-प्रदर्शन

महाराज हरिदासजी डीडवाणे में निवास कर कुछ काल के लिए राजस्थान के भ्रमण को निकल पड़े। उनके भ्रमण का ठीक-ठीक निरूपण तो शक्य नहीं है, पर परचईकार रघुनाथदासजी ने अपनी परचई में जैसा उल्लेख किया है, उसी आधार से उनकी भ्रमण-यात्रा का निरूपण किया जा रहा है। राजस्थान भ्रमण का विवरण आरम्भ करने से पहिले एक स्थानीय घटना का निरूपण करना आवश्यक है जिसका सम्बन्ध डीडवाणे नगर से है। महात्माओं के परचई-लेखकों का मुख्य लक्ष्य उन द्वारा किये गए अलौकिक चमत्कारी कार्यों का निरूपण करना रहा है। उसी का अनुसरण महाराज हरिदासजी के तीनों परचई-लेखकों ने किया है। तीनों में प्रमुखता मैं रघुनाथदासजी को देता हूँ। उनने ही महाराज की परचई कुछ विस्तार से लिखी है। उसमें जन्म-मृत्यु, आयु, काल आदि का विवरण भी है। पिछले प्रकरण में व्यक्त किया जा चुका है कि गाढ़ा वियाणी के आग्रह से महाराज 'तीखी डूँगरी' से डीडवाणे आ गए थे। डूँगरी पर तो गागर का चमत्कारी परचा गाढ़े को दिखाया ही गया था—डीडवाणे में भी इसी तरह की एक चमत्कारी-घटना घटित हुई थी। महाराज हरिदासजी नगर में किसी के यहाँ भिक्षा पाने जा रहे थे। रास्ते में एक स्थान पर एक गृहस्थ अपना घर बनवा रहा था। घर की भूमि में एक पीपल का वृक्ष भी था—वैश्य उसके कटवाने का विचार कर रहा था। पीपल के कटने की बात को लेकर कुछ अन्य नागरिक भी एकत्रित हो गए थे। एकत्रित व्यक्तियों में कुछ पीपल को काट देने की राय दे रहे थे, कुछ न काटने की। महाराज हरिदासजी ने भी उधर से निकलते यह चर्चा सुनी, उनने भी व्यक्त किया कि पीपल न काटा जाय। वैश्य ने नम्रता से निवेदन किया कि महाराज इसको न काटने से आगे जब इसकी वृद्धि होगी, तब इसके विस्तार तथा मूल (जड़) शाखाओं से, स्थान को क्षति पहुँचना अनिवार्य है। महाराज ने कहा—इसकी वृद्धि के भय-वश ही इसको काटना चाहते हो तो यह तथा तुम्हारा वंश दोनों ही वृद्धि नहीं करेंगे। ये इसी रूप में रहेंगें, अतः इसको काटना नहीं। महाराज इतना कहकर चले गए। वैश्य दुविधा में उलझ गया, अन्त में पीपल न काटने का ही निश्चय रहा। वह पीपल अद्यावधि तक उसी रूप में अवस्थित है। अब उस स्थान को मन्दिर का रूप प्राप्त हो गया है। आज भी हम उक्त पीपली-मन्दिर में जाकर उस पीपली को देख सकते हैं, जो सवा-चार सौ—साढ़े चार सौ वर्षों से उसी रूप में वर्तमान है।

उक्त घटना के पश्चात् जैसा ऊपर लिखा है, महाराज की राजस्थान-यात्रा आरम्भ हुई। वे डीडवाणे से पश्चिम की ओर चले। पैदल यात्रा करने वालों के लिए कोई निश्चित संकेत नहीं रहता। मौज आई जितना चले, जहाँ इच्छा हुई वहाँ ठहर गए। महाराज हरिदासजी की वैसे बाहरी स्थानों में चर्चा भी हो गई थी कि वे
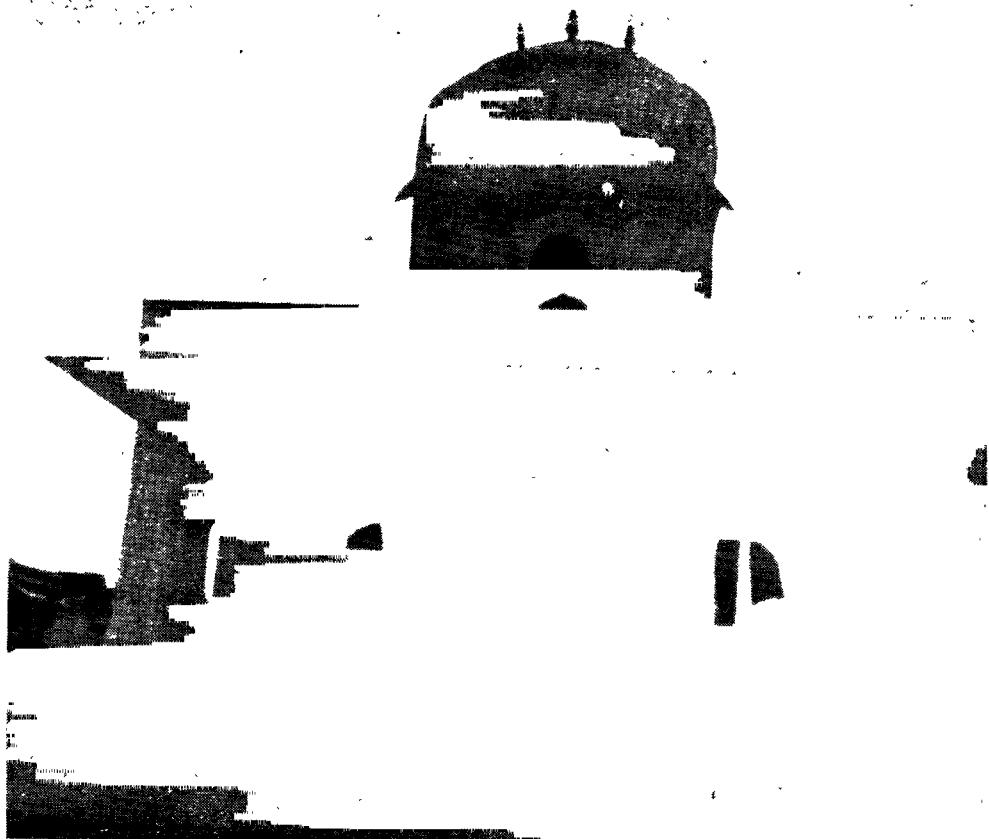
हरिपुरुष जी महाराज की समाधि

समाधि के समीप के स्थान

समाधि-प्रवेश द्वार, डीडवाना

रामसर कूप

एक खूँखार डाकू से पलट कर महान् सिद्ध पुरुष हो गए हैं। उनका तप-तेज भी साधारण नागरिक को आकर्षित करने वाला था। वे जहाँ जिस ग्राम में ठहरते, वहाँ सत्संग तथा आध्यात्मिक चर्चा भी अवश्य चलती। वे जन-साधारण में आध्यात्मिक-चिन्तन की भावना को जागृत करते रहते थे। धीरे-धीरे चलते-चलते वे नागौर में जा पहुंचे। नागौर उन दिनों एक स्वतन्त्र राज्य था। राष्ट्रकूट (राठौड़) क्षत्रिय वहाँ राज्य करते थे। नगर के पश्चिम में कुछ दूरी पर एक सुन्दर बावड़ी थी। बावड़ी में मधुर जल का स्रोत भी था। पर बावड़ी पर भूत-निवास की चर्चा फैल जाने से लोगों का आना-जाना नहीं था। नगर से दूर होने तथा जङ्गल में होने से महाराज को वह स्थान उपयुक्त लगा। उनने बावड़ी पर ही आसन लगा लिया। रात्रि में बावड़ी पर रहने वाले भूत ने विविध चेष्टाएँ, महाराज को भयभीत करने की कीं। पर उनकी दृष्टि से तो सभी तरह की भेद-भावना समाप्त थी, अतः भूत की चेष्टाओं का उन पर क्या प्रभाव होता? वे आत्मचिन्तन में मस्त थे। भूत ने समझ लिया कि यह कोई साधारण प्राणी नहीं है। अन्यथा मेरे द्वारा की गई वीभत्स चेष्टाओं से प्रभावित हुए बिना रहता नहीं। अन्त में भूत ने महाराज से अपने उद्धार की प्रार्थना की। महाराज ने वाणी के प्रारम्भिक ग्रन्थ 'ब्रह्मस्तुति' का पाठ करने का उपदेश किया, इसीसे भूत का अनिष्ट-योनि से छुटकारा हुआ तथा उस बावड़ी के लिए जो एक भीतिभरी भावना फैली हुई थी, उसका भी निवारण हो गया। नागरिक महाराज के पास सत्संग के लिए आने लगे। कुछ दिन तक ज्ञान-चर्चा कर महाराज नागौर से आगे मेड़ते की ओर प्रस्थान कर गए। नागौर की इस भूत-बावड़ी का बहुत थोड़ा सा ऊपरी भाग आज भी दिखाई पड़ता है। उस ऊपरी अंश को छोड़ शेष पूरी बावड़ी मिट्टी से भर गई है और भूमि के गर्भ में है।

नागौर से चलकर मेड़ते में कुछ काल ठहर आगे अजमेर की ओर महाराज ने प्रस्थान किया। रास्ते में आने वाले ग्रामों में आवास करते हुए सत्संग-ज्ञान-चर्चा से जन-साधारण की मनोभावना में आत्मचिन्तन की प्रवृत्ति को जागृत करते जाते थे। धीरे-धीरे यात्रा करते हुए, पुष्कर होकर कालान्तर में अजमेर पहुंच गए। अजमेर उस समय यवन प्रशासकों के प्रशासन में था। हिन्दू और इस्लामन-धर्मों की दो संस्कृतियों का वह एक तरह से संघर्ष-काल था। शासक के नाते मुसलमानों का प्राधान्य तो था ही; धार्मिक मतभिन्नता भी गहरी थी। हिन्दू-धर्म की प्रतीक-उपासना का एकेश्वरवादी इस्लाम-धर्म में कोई स्थान नहीं था। मूर्ति-पूजा को मुसल्मान बुतपरस्ती मानते थे। उनकी मान्यता थी कि खुदा को छोड़ इस तरह पाषाण-मूर्तियों की उपासना ईश्वर से गद्दारी है, इसलिए वे एक तरह से हिन्दुओं को काफिर समझते थे। यह भावना एक तरह से व्याप्त होने के कारण हिन्दू-धर्मी सन्त-महात्माओं के प्रति भी उनका दृष्टिकोण प्रतिगामी रहना स्वाभाविक था।

महाराज अजमेर पहुंचे। शायद उस समय के अजयमेरु (अजमेर) नगर से कुछ बाहर जहाँ आजकल दौलत बाग है, सामान्य जंगल के क्षेत्र में ठहर गए। धीरे-धीरे नागरिकों को पता लगने पर महाराज के पास पर्याप्त नागरिकों का आवागमन होने लगा। अधिकारियों के पास भी चर्चा हुई। उनको एक हिन्दू-फकीर का इस तरह महत्व बढ़ना शायद अच्छा न लगा होगा। सम्भव है किसी संकेत से या अनायास एक मदोन्मत्त हाथी उधर आ निकला—लोगों ने महाराज से आग्रह किया आसन छोड़ने का, पर सन्त जन को भीति किसकी? उनका हृदय सब प्राणियों की ओर प्रेममय रहता है। लोग भय से इधर-उधर हो गए, महाराज स्वस्थान पर उसी तरह बैठे रहे। हाथी समीप आया—उसकी मस्ती न मालूम कहाँ गई? उसने अपना मस्तक महाराज के चरणों पर रख दिया। महाराज ने उसके मस्तक पर अपना दयार्द्र-कर फेर शान्त और सीधे रहने का निर्देश किया। कहते हैं कि उसके पश्चात् उस हाथी ने जो कि पहले बड़ा बदमिजाज था, प्राणियों का हनन करता था—कभी किसी प्राणी पर आक्रमण नहीं किया। हाथी का यह परिवर्त्तन देख नागरिकों की श्रद्धा महाराज में और बढ़ी तथा उस स्थान पर एक भाटे का हाथी बनाकर रख दिया, अब तक भी वह स्मारक 'हाथी-भाटे' के नाम से प्रसिद्ध है। वह स्थान अब नगर में आ गया है तथा निरंजनी सन्तों के अधिकार में है। इस घटना के कुछ काल पश्चात् अजमेर में निवास करते हुए वे सिद्ध अजयपाल से तथा परशुरामजी व खोजीजी से भी मिले, ऐसा निरूपण परचईकार ने किया है।

अजमेर से पुनः प्रवास-यात्रा आरम्भ हुई। घूमते हुए किसी ग्राम में एक चारण से विविध चर्चा चली—इसी प्रसंग में "बारहपदी जोगग्रन्थ" का निरूपण हुआ व चारण को उपदेश भी। आगे चलते-चलते टोडा रायसिंह पहुंच गए। टोडा रायसिंह भी बहुत प्राचीन कस्बा है। उस समय उसकी प्राकृतिक शोभा भिन्न रूप में ही रही होगी। टोडे में महाराज ने जहाँ आसन किया, वहाँ एक सर्प की बाँबी का मुख था। कहावत थी कि-यह सर्प कोई भोमिया है तथा किसी खजाने पर रहता है। सर्प अति भयङ्कर भी था। सर्प का नाम ताषो लिखा गया है, शायद यह तक्षक का अपभ्रंश रूप है। महाराज तो निश्चिन्तता से अपने ध्यान में मग्न थे ही उन्हें यह ज्ञात नहीं था कि: आज आसन किसी सर्प की बाँबी पर लग गया है। रात्रि में सर्प बाँबी से निकला तो बाँबी पर एक तेजस्वी महात्मा को बैठे देखा। महाराज का ध्यान तो अन्तर्निहित था, उन्हें पता नहीं था कि बाँबी से सर्प निकल उनके सम्मुख ही स्थित है। सर्प का स्वभाव वैसे क्रोधी होता ही है, पर ताषो ने महाराज को ध्यानावस्थित देख किसी प्रकार का रोष नहीं किया व वैसे ही बैठा रहा। कुछ काल पश्चात् जब महाराज ने नेत्र खोले तो सामने एक भयङ्कर सर्प को देखा। महाराज ने अपने साधन-काल में अहिंसा-वृत्ति की दृढ़ता प्राप्त कर ली थी। जैसा कि योग-दर्शनकार का निर्देश है—

सूत्र— अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः ॥३५॥
(साधन-पाद)

महाराज की मनोजयी-दशा तथा सत्वोद्रेक के कारण उनके समक्ष आने वाले प्राणी पर उनका प्रभाव अवश्य ही पड़ता था। सर्प की मनोवृत्ति भी बदली, वह शान्त तथा धीरभाव से अपनी जगह पर बैठा रहा। महाराज ने निर्देश किया कि जिस भूगर्भ के धन पर तू रक्षा के रूप में आरूढ़ है यह निरर्थक है। इस व्यामोह का परित्याग कर एकत्रित सम्पत्ति को सत्कर्म में आने दे, ताकि तेरा कल्याण हो। ताषो ने महाराज का निर्देश ध्यान से सुना तथा अपनी मनोवृत्ति का परिवर्तन कर उस योनि से मुक्त हुआ। महाराज ने कुछ दिन टोडे में निवास किया। ईश्वर-चिन्तन, सत्संग व उपदेश द्वारा जन-कल्याण का लक्ष्य भी साथ-साथ चलता रहा।

टोडे से प्रस्थान कर महाराज उत्तर दिशा में चल दिये। वे स्थान-स्थान पर आवास करते हुए, सत्संग से अपने अनुभव को व्यक्त करते हुए भ्रमण में प्रवृत्त थे। कहते हैं कि इस यात्रा में महाराज हरिदासजी को एक सिद्ध महात्मा भी मिले। इस आइस सिद्ध ने जब सुना कि एक अच्छे महात्मा इस ओर भ्रमण-यात्रा कर रहे हैं, तो आइस ने महाराज हरिदासजी की परीक्षा करनी चाही कि देखें इनमें कैसा महात्मापन है?

आइस ने सिंह का रूप बनाया और महाराज के सामने पहुंचा। महाराज हरिदासजी सिद्ध आइस की भावना को समझ गए। जब सिंह रूप में आइस महाराज के सामने आया, तो महाराज ने उसको 'खर' नाम से सम्बोधित किया, जिससे कि सिंह का धारण किया हुआ रूप खरस्वरूप में बदल गया। एक-दो दिन व्यतीत हो जाने पर जब आइस सिद्ध वापिस अपने स्थान पर नहीं गए, तब शिष्यों ने गुरु की तलाश की। प्रमुख शिष्य महाराज हरिदासजी के समीप पहुंचे। महाराज ने शिष्यों से कहा कि आप लोग किनको तलाश कर रहे हो? सिद्धजी तो देखो—वे खर बने हुए घास चर रहे हैं। शिष्यों ने गुरुजी की स्थिति देख महाराज हरिदासजी के चरण पकड़ लिये। महाराज ने पुनः उनको स्वस्वरूप में हो जाने का निर्देश किया और सिद्धजी पुनः स्वस्वरूप में बदल गए। आइस ने महाराज की करामात देख उनकी वन्दना की। हरिदासजी महाराज ने सिद्ध को संकेत किया कि इस तरह हरिजनों के साथ संघर्ष करना संगत नहीं। आत्मचिन्तन ही साधु का मुख्य कर्त्तव्य है, उसी में संलग्न रहना चाहिए।

सिद्ध आइस को इस तरह चमत्कार दिखा महाराज ने पुनः अपनी यात्रा की और धीरे-धीरे चलते जोबनेर पहुंच गए। जोबनेर उस समय अच्छा कस्बा था।

महाराज ग्राम से बाहर एकान्त स्थान में विराज गए। धीरे-धीरे ग्रामवासी महाराज के पास आने-जाने लगे और सत्संग द्वारा लाभ उठाने लगे। पूरे कस्बे में महाराज को लेकर यह चर्चा चल गई कि एक बहुत ही अच्छे महात्मा यहाँ पधारे हैं। उस समय जोबनेर में एक वैष्णव महात्मा भी थे, जिनकी अच्छी प्रतिष्ठा कस्बे में थी। इन महात्मा के पास भी महाराज हरिदासजी की महिमा सुनाई पड़ी। महात्मा ने सोचा कि यदि यह महात्मा अधिक दिन यहाँ रहेंगे तो सम्भव है अपनी मान्यता तथा प्रतिष्ठा में कमी आए। महात्मा ने न मालूम क्यों ? एक दिन ऐसा संकल्प किया कि इनको क्यों न विष दे दिया जाय ? यह विचार उठते ही महात्मा ने एक विषमिश्रित जल का पात्र अपने शिष्य को देकर कहा कि जाओ उन महात्मा के पास और उन्हें ज्ञात करो कि आपके गुरु गोरखनाथजी ने यह जलपात्र प्रसादरूप में भिजवाया है, सो इसका पान करो। महात्माजी के शिष्य ने, निर्देशानुसार वह पात्र ले जाकर महाराज के आगे रख दिया तथा जैसा गुरुजी ने कहा था वैसे ही उनको निवेदन कर दिया। महाराज हरिदासजी सब बात समझ गए। शिष्य ने जो जलपात्र रखा था, उठा कर सब विषगर्भित-जल का पान कर लिया और पात्र उनको वापिस कर दिया तथा शिष्य से कहा कि आप महात्माजी से जाकर कह देना कि गुरु महाराज द्वारा भेजा हुआ वह अमृत-रस बड़ा ही सुस्वादु था। शिष्य ने लौटकर ज्ञात कर दिया कि महात्मा ने बड़ी प्रसन्नता से उस जल का पान कर लिया और यह पात्र वापिस कर दिया है। गुरुजी ने मन में विचारा कि रात को ही महात्माजी परमधाम पहुंच जायेंगे। दूसरे दिन वैष्णव-सन्त यह समाचार सुनने को आतुर थे कि समागत महात्मा ब्रह्मलीन हो गए। पर वैष्णव महात्मा की मनोवृत्ति पूरी न हुई। महाराज हरिदासजी पर उस विषवारि का कोई प्रभाव नहीं हुआ। वे नित्य की तरह ही प्रसन्न मुद्रा में आत्मचिन्तन में संलग्न थे। प्रसंग से बातचीत में जब वैष्णव-महात्मा को पता लगा कि वे महात्मा तो बड़े आनन्द में हैं तथा प्रतिदिन की तरह ही आत्म-चिन्तन व सत्संग में रत हैं। वैष्णव-महात्मा को अपनी कृति पर बड़ी ग्लानि हुई, वे हरिदासजी महाराज के पास गए तथा अपने द्वारा किये गए उस निंद्य-कर्म के लिए उनने अत्यन्त नम्रता से क्षमायाचना की तथा प्रार्थना की कि वे उन पर अनु-ग्रह करें, जिससे उनकी मनोवृत्ति आत्मचिन्तन में संलग्न हो। हरिदासजी महाराज ने कहा कि महात्मन् ! ईर्ष्या-द्वेष को आश्रय मत दो—भेदबुद्धि का परित्याग करो। सब सृष्टि एक ही चिरन्तन-शक्ति में समाहित है। जाति, धर्म, गुण-भेद से भेद करना सङ्गत नहीं। सबसे प्रेम करो, सबको अपना ही स्वरूप समझो। वैष्णव-महात्मा पर महाराज के इन वाक्यों का प्रभावोत्पादक असर हुआ। उनने अपनी सब भौतिक सम्पत्ति महात्माओं की सेवा में लगा देने का निश्चय किया। बहुत विशाल सन्त-सम्मेलन किया गया और अपनी सब सम्पत्ति का उसमें उपयोग कर दिया गया। वैष्णव सन्त-महात्मा हरिदासजी में परम श्रद्धा रखने लगे।

महाराज हरिदासजी को जोबनेर में पर्याप्त समय हो गया था, अतः महाराज ने अपनी यात्रा पुनः प्रारम्भ कर दी। वे जोबनेर से भ्रमण करते आमेर आ गए। आमेर उन दिनों कछवाहों की राजधानी थी। महाराज ने आमेर में आकर एक गहन पहाड़ी पर आसन किया। उन दिनों इन पहाड़ों में घने जंगल तथा अनेकों जलस्रोत थे। सिंह-व्याघ्रादि हिंसक जन्तुओं का भी यहाँ प्रवास व आवागमन रहता था। महाराज ने जिस डूंगर पर आवास किया था, वहाँ भी सिंह-व्याघ्रों का प्रतिदिन आवागमन होता था।

रात्रि को महाराज ध्यानावस्थित थे। घूमते हुए एक सिंह आया। उसने महाराज को देखा। उनकी अहिंसामय शान्त शीतल दृष्टि पड़ते ही सिंह की हिंसा-वृत्ति का निवारण हो गया, सिंह भी कुछ समय तक वहीं बैठा रहा। प्रातःकाल का समय होने लगा तो सिंह जंगल में चला गया, महाराज वहीं विराजे रहे। चरवाहों द्वारा नागरिकों को महाराज के पहाड़ पर विराजने का पता लगा। लोगों का आवागमन होने लगा। लोगों को पता था कि इस स्थान पर रात्रि में हिंसक प्राणी आते हैं अतः उनने महाराज को नीचे चलने का बहुत आग्रह किया। पर महाराज के तो हिंसा-वृत्ति का लवलेश शेष नहीं था, अतः वे वहीं विराजे रहे। लोगों को भी ज्ञात हो गया कि रात्रि में हिंसक पशु आते हैं, पर वे महाराज के पास वैसे ही बैठे रहते हैं-जैसे कि अहिंसक प्राणी बैठा करते हैं। कुछ दिन आमेर में निवास कर महाराज ने पुनः अपनी यात्रा आरम्भ की। वे आमेर से खेतड़ी की ओर प्रस्थान कर रहे थे। रास्ते में एक ग्राम में महाराज विश्राम कर रहे थे—वहाँ कुछ ग्रामवासी महाराज के दर्शनार्थ आए, उनमें एक पंगु ब्राह्मण भी था। सन्त-महात्माओं के प्रति चिरकाल से भारतीय जनता परम श्रद्धा रखती आई है। पंगु ब्राह्मण में भी उस श्रद्धा के अंकुर थे। उसके स्फुरणा हुई कि क्या महात्मा के प्रसाद से मेरा यह पंगु-दोष निवृत्त नहीं हो सकता? विप्र की इस स्फुरणा के साथ ही महाराज का ध्यान भी उसकी ओर आकर्षित हुआ। महाराज ने उसकी दैन्य-दशा देख ब्राह्मण को सम्बोधित किया कि हे विप्र देवता! ऐसे अक्रिय कैसे बैठे हो, खड़े होओ तो। महात्मा की अमोघ वाणी ने अपना प्रभाव दिखलाया। विप्र के पैर-जो वर्षों से अक्रिय थे, सक्रिय हो गए। विप्र खड़ा हो गया और अन्य मनुष्यों की तरह चलने-फिरने लगा। स्वामीजी आगे चलकर सिघाणे ग्राम पहुंचे। वहाँ कुछ दिन का आवास रहा। ग्राम के अनेकों नर-नारी महाराज के दर्शन व प्रवचन से लाभ उठाते थे। उन सत्संगी पुरुषों में ग्राम के एक शाहजी भी थे। शाहजी ग्राम के सभी कार्यों में सहयोग देते थे, धर्मात्मा प्रवृत्ति के पुरुष थे। शाहजी के एक ही पुत्र था। दैवयोग से शाहजी के उस पुत्र का अचानक देहावसान हो गया। महाराज हरिदासजी ग्राम में किसी सज्जन के भोजन करने को पधार रहे थे। रास्ते में ही शाहजी का घर था। शाहजी के घर पर ग्राम-जनों की भारी भीड़ लग गई थी, सभी लोग शोकातुर थे, रोना-पीटना

मच रहा था। महाराज ने साथ चलने वाले भक्त मे इस कारुणिक-दृश्य का कारण पूछा। उसने बताया कि महाराज ! आपके परम श्रद्धालु-धर्मात्मा अमुक शाहजी के इकलौते पुत्र का देहावसान हो गया है। सारे ही ग्राम में इस घटना से परम शोक छा गया है। महाराज ने उक्त समाचार सुने, उनका दयार्द्र-हृदय द्रवित हो गया। वे शाहजी के घर गए, महाराज को आए देख शाहजी ने धैर्य अपनाकर महाराज का स्वागत किया। महाराज ने शाहजी से कहा—आज क्या बात है ? किस कारण सारा घर तथा समागत-जन शोक-संतप्त है ? शाहजी ने उत्तर दिया—महाराज कुछ नहीं, आपका जो एक बच्चा था वह चल बसा है। उसी के कारण सब ओर शोक छाया हुआ है। महाराज ने मृत बच्चे के पास बैठ, उसके सिर पर हाथ फेरते हुए सम्बोधित कर कहा कि—भाई ! इतने क्या सोये हो ? उठो, अब सोने का समय नहीं है। बच्चा आँख खोलकर तुरन्त खड़ा हो गया। शाहजी, परिवार व एकत्रित जन-समुदाय बच्चे को जीवित देख परम हर्ष में मग्न हो गए। महाराज शाहजी के घर से निकल, जिस सज्जन के घर निमन्त्रित थे, वहाँ चले गए। ग्राम में घर-घर महाराज के इस चमत्कार की ही चर्चा होने लगी, महाराज ने अब अधिक ठहरना उचित नहीं समझा। दूसरे दिन सिंघाणे से पुनः यात्रा प्रारम्भ कर दी। सिंघाणे से चलते हुए खेतड़ी, सीकर आदि का भ्रमण करते हुए पुनः डीडवाणे आ गए। सम्भव है उनने और क्षेत्रों का भी भ्रमण किया होगा। उपर्युक्त भ्रमण का निरूपण रघुनाथदासजी कृत परचई में आया हुआ है। इन भ्रमण-स्थानों का परचईकार ने उल्लेख किया है, उन सब स्थानों में चमत्कारी-घटनाओं का सम्बन्ध था। चमत्कारी-घटनाएँ सत्य मानी जायँ या काल्पनिक ? आज के इस युग में इस विषय पर मतभेद हो सकता है। योगी और आत्मजयी महात्माओं में अलौकिक-शक्ति आ जाती है, इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। आज के युग में भी ऐसी अनोखी घटनाएँ घटित होती रहती हैं। अतः उपर्युक्त घटनाओं को कपोल-कल्पना ही माना जाय ऐसा आग्रह क्यों किया जाय ? घटनाओं को बाद दे दिया जाय तो भी इन स्थानों के भ्रमण में तो किसी प्रकार की शङ्का नहीं है। इस भ्रमणवृत्ति से सिद्ध होता है कि हरिदासजी महाराज ने आत्मनिष्ठ होने के पश्चात् राजस्थान के विस्तृत क्षेत्र में भ्रमण किया और अपनी साधना तथा अनुभूति से लोक-कल्याण के लिए पर्याप्त प्रयास किया। उनकी भ्रमण-यात्रा डीडवाणे से ही आरम्भ हुई थी और डीडवाणे में ही आकर समाप्त हुई। यह यात्रा इनकी एक-कालिक है या भिन्न-भिन्न-कालिक—इसका कोई प्रामाणिक उत्तर नहीं है। परचईकार के उल्लेख से तो यह एककालिक ही प्रतीत होती है, यदि एककालिक न हो तो भिन्न-भिन्न-कालिक होने पर भी यात्रा के औचित्य में किसी तरह का अन्तर नहीं आता। पुनः डीडवाणे पहुंचने के पश्चात् महाराज डीडवाणे ही विराजे। किस काल से किस काल तक यह यात्रा हुई, इसका काल मेरी समझ से १५७० से १५८५ माना जाना सङ्गत है। रघुनाथदासजी के उल्लेख से

उनका जन्म १५१२, गृहत्याग तथा साधना का आरम्भ १५५६, साधना की पूर्ति १५७०, डीडवाणे आना तथा वहाँ निवास १५८०, पश्चात् यात्रा। यात्रा से वापसी के पश्चात् अन्तिम समय तक डीडवाणे निवास। सम्वत् १६०० में ८८ वर्ष की आयु में देहत्याग। गाढाजी का देहावसान महाराज से पहिले हुआ या पश्चात्–इसका कोई प्रामाणिक आधार नहीं है।

५. वाणी, भाषा और विषय—

वाणी—महात्माओं की रचना की संज्ञा "वाणी" है। जैसे प्रामाणिकता के विचार से आर्ष-रचना का महत्व है, इसी तरह पहुंचे हुए महात्माओं का अनुभव-निचोड़ जिस रचना में आता है–वह रचना आर्ष-रचना के सदृश मानी जाती है। भाषा-साहित्य में उसके लिए "वाणी" शब्द का प्रयोग है।

इस शब्द का नाथ-सिद्धों की रचना के लिए शायद सबसे पहिले प्रयोग प्रचलित हुआ है। उसके पश्चात् महात्मा कबीर, नानक, हरिदास, दादू आदि महान् सन्तों की रचना के लिए इस शब्द का व्यवहार हुआ।

महाराज हरिदासजी की "वाणी" में क्या निरूपण किया गया है तथा उनकी भिन्न-भिन्न क्या रचनाएँ हैं? यह ठीक से समझने के लिए उनकी रचना की पूरी तालिका दे देना उचित प्रतीत होता है।

वैसे उनकी रचना का प्रारम्भ "लघुग्रन्थावली" से है। सैंतालीस ग्रन्थों के पश्चात् उन्नीस राग-रागनियों में एक सौ बयासी पद हैं। पदों के अन्त में तीन आरती हैं। कड़खा बारह आठ रेखते हैं। कवित्त सोलह, कुण्डलियाँ १०९ और चान्द्रायण चौसठ हैं। अन्त में साखी भाग है, चौतीस अंगों की तीन सौ चार साखी हैं। चार श्लोक भी आए हैं, जिसकी प्रकरणानुसार तालिका इस रूप में है—

लघु ग्रन्थावली—

१–ब्रह्मस्तुति, २–मूलमंत्र जोगग्रन्थ, ३–नाममाला, ४–नाम-निरूपण, ५–निरंजन-लीला, ६–साधुचाल, ७–अगाध अचरज, ८–जोगसंग्राम, ९–अष्टपदी, १०–वन्दना, ११–निराकार-वन्दना, १२–निरपषमूल, १३–प्राणप्रसिद्ध परमात्मापूजा, १४–समाधि-जोग, १५–योगध्यान, १६–प्राणमात्रा, १७–आत्म-अभ्यास, १८–उत्पत्ति-हेतु, १९–शब्द-परीक्षा, २०–वीरा रस-वैराग, २१–भ्रमविध्वंस, २२–उपदेश-चितावणी, २३–मनचरित, २४–मनमद-विध्वंस, २५–मनहर, २६–मनप्रसङ्ग, २७–मनमत प्रकार, २७–मन उपदेश, २९–ब्यावला, ३०–तोडरमल, ३१–अमृतफल, ३२–ज्ञान-उपदेश, ३३–वारजोग, ३४–हंस-प्रमोद, ३५–बड़ी तिथि, ३६–लघुतिथि,

३७–चालीसपदी, ३८–चतुर्दशपदी, ३९–तीसपदी, ४०-बारहपदी, ४१–बावनी, ४२–सूर-समाधि, ४३–सूरसमाधि अर्थ, ४४–प्रवृत्ति-निवृत्ति, ४५–माया छन्द, ४६–जोगमूल सुखजोड़, ४७–ज्ञान-अज्ञान परीक्षा। इन सैंतालीस लघुग्रन्थों में दो—वन्दना व निराकार-वन्दना केवल गद्य में हैं, शेष पैंतालीस छन्दोबद्ध हैं। पद्यबद्ध अधिकांश ग्रन्थ साखियों में हैं। शेष में दो-तीन तरह के छन्दों का प्रयोग हुआ है। विषय-निरूपण प्रायः ग्रन्थ के नामानुसार हुआ है। किसी-किसी ग्रन्थ का निरूपण रूपक द्वारा किया गया है। कृषि, युद्ध, मद्य-निर्माण आदि को आधार बना आध्यात्मिक विषय का विवेचन किया गया है। ग्रन्थों के नामकरण, छन्द तथा विषय-निरूपण की शैली से सिद्ध होता है कि महाराज हरिदासजी की ये रचनाएँ नाथ-वाणियों का अनुकरण करती हैं। प्रश्नोत्तर-रूप में विषय-विवेचन करना, अवधू के सम्बोधन से विषय-विवेचन करना नाथ-वाणियों की प्रमुखता है। हरिदासजी महाराज ने इन लघुग्रन्थों में उसी पद्धति को अपनाया है।

पद—

ग्रन्थों के पश्चात् पद-रचना है। पद-रचना का विश्लेषण इस रूप में है—१–राग गौड़ी पद गुणतीस, २–राग भैरव पद दो, ३–राग रामकली पद दस, ४–राग आसावरी पद अठारह, ५-रागसोरठ पद छब्बीस, ६-राग भैरों पद उन्नीस, ७–राग विलावल पद चौदह, ८–रागगूजरी पद एक, ९–राग टोडी पद एक, १०–राग का लंगड़ा पद एक, ११–राग नट पद छः, १२–राग मल्हार पद तीन, १३–राग सारंग पद छः, १४–राग वसन्त पद आठ, १५–राग अडांणो पद दो, १६–राग कान्हड़ा पद ४, १७–राग मारू पद ग्यारह, १८–राग केदारो पद ४, १९–राग विहंगड़ो (विहाग) पद दो, २०–राग धनाश्री पद पन्द्रह, अन्त में तीन आरती हैं। कड़खा व रेखता ये पद भाग में ही सम्मिलित समझने चाहिए। इनकी संख्या बारह, आठ, बीस है।

कवित्त, कुण्डलियाँ, चान्द्रायण—

पदों के पश्चात् सोलह कवित्त हैं। विभिन्न प्रकरणों पर एक सौ नौ कुण्डलियां हैं। अंग विशेष पर चौसठ चान्द्रायण हैं।

साखी भाग—

वाणी का चौथा अंग साखी भाग है। जिसका विश्लेषण इस रूप मेंहै—१–गुरुदेव का अंग, दस साखी। २–गुरु-सिख पारख अंग, तेरह साखी। ३–सुमिरण का अंग, बारह साखी। ४–विरह का अंग, छः साखी। ५–परचै का अंग, पन्द्रह साखी। ६–चितावणी अंग, उन्तीस साखी। ७–मन का अंग, बीस साखी। ८–माया का अंग, चौबीस साखी। ९–चाणक का अंग, अठाईस साखी। १०–भ्रमविध्वंस का

अंग, तेरह साखी। ११-भेष का अंग, सात साखी। १२-सांच का अंग, दो साखी। १३-साधु का अंग, अठारह साखी। १४-मध का अंग, एक साखी। १५-उपदेश का अंग, सात साखी। १६-विचार का अंग, एक साखी। १७-विश्वास का अंग, ग्यारह साखी। १८-पतिव्रता का अंग, छः साखी। १९-विरक्त का अंग, दो साखी। २०-सूरातन का अंग, चौबीस साखी। २१-कर्त्ता का अंग, दस साखी। २२-संजीवन का अंग, तीन साखी। २३-दया-निर्वैरिता का अंग, एक साखी। २४-साध-महिमा का अंग, छः साखी। २५-करुणा का अंग, एक साखी। २६-कामी नर का अंग, चौदह साखी। २७-साधु परीक्षा का अंग, सात साखी। २८-साधु संगति का अंग सात साखी। २९-हेतु प्रीति का अंग, तीन साखी। ३०-निन्दा का अंग, तीन साखी। ३१-भय का अंग, एक साखी। ३२-कुशवद का अंग, एक साखी। ३३-दुविधा का अंग, चार साखी। ३४-चितकपटी का अंग, चार साखी। इस तरह चौतीस अंगों में तीन सौ चार साखियाँ है। अन्त में चार श्लोक भी दिये गए हैं। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि हरिदासजी महाराज की संपूर्ण वाणी चार भागों में विभक्त है—१-लघुग्रन्थ, २-पद, ३-कुण्डलियाँ, कवित्त व चान्द्रायण। ४-साखी भाग। उक्त चतुर्विध रचना में सबसे बड़ा पहिला भाग है। पूरी रचना का जोड़ अनुमानतः तीन हजार है।

भाषा—

वाणी की भाषा उस समय की हिन्दी कही जा सकती है। हम यहाँ भाषा के विकास-क्रम का विशद निरूपण आवश्यक नहीं मानते। किस तरह संस्कृत से प्राकृत, पैशाची व अपभ्रंश भाषा का रूप बना। अपभ्रंश में भी फिर प्रदेश-विशेष में बोल-चाल की भाषा के मिश्रण से भाषाओं के प्रायोगिक-रूपों में अन्तर आया। महाराज हरिदासजी का जन्म तथा कार्यक्षेत्र राजस्थान का मारवाड़ उपप्रान्त है। उक्त प्रदेश में बोली जाने वाली मारवाड़ी राजस्थानी भाषा के शब्द भी हरिदासजी महाराज की रचना में आने अनिवार्य थे। मेरी समझ में हरिदासजी की वाणी में हिन्दी का जैसा रूप है, वह आगे चलकर खड़ी बोली के रूप में कही जाने वाली हिन्दी भाषा के अधिक निकट है। राजस्थान में जितने भी महात्मा-सन्त रचनाकार हुए हैं, प्रायः उनकी भाषा का एक-सा ही रूप सामने आता है। जो महात्मा कुछ शिक्षित थे, उनकी भाषा में कुछ प्रांजलता अधिक है। अधिकांश सन्त-महात्मा साधक थे, उनने विधितः संस्कृत आदि भाषाओं का अध्ययन किया हो-ऐसा प्रतीत नहीं होता। फिर भी उनकी रचनाओं में भाषा का जो रूप सामने आता है, वह विशेष भाषाशास्त्र के सिद्धान्तों से विपरीत नहीं है। हरिदासजी महाराज संस्कृत भाषा के जानकार थे या पठित थे-ऐसा प्रतीत नहीं होता। पर उनकी अधिकांश रचना सुसम्बद्ध है। कहीं-कहीं छन्दों के प्रयोग में मात्रा या वर्णों का ठीक से प्रयोग नहीं हुआ है। व्याकरण के सिद्धान्तों का निर्वाह सम्यक् रूप से होना सम्भव नहीं, क्योंकि जब वे व्याकरण

के सम्यक् जानकार नहीं तो उसके प्रयोग में भूलें रह जाना स्वाभाविक है। भाषा के शाब्दिक प्रयोग-भेद से दो रूप माने गए हैं--डिंगल और पिंगल। डिंगल भाषा वह है-जो प्राकृत के अधिक समीप है। पिंगल भाषा का वह रूप है, जिसमें अपभ्रंश शब्दों के प्रयोग बहुत कम होते हैं। हरिदासजी महाराज की रचना भाषा के पिंगलरूप में आती है। लघुग्रन्थों में एक-दो रचनाएँ कुछ ऐसी हैं, जिनमें कुछ डिंगल का सा आभास होता है। भाषा की वास्तविकता तो आप जब उनकी वाणी का अनुशीलन करेंगे तो आप ही आपको प्रतीत हो जाएगी। फिर भी यहाँ कुछ उद्धरण दे देना आवश्यक है, जिससे भाषा-शैली का स्वरूप हमारी समझ में अच्छी तरह आ सके।

ऊँच नीच निरभै मते, कोई भजो मुरारि॥
भवसागर तिरवो कठिन, हरि नांव उतारे पारि॥
नारायण के नांव की, मैं बलिहारि जाव॥
भृङ्गी कीट पतङ्ग ज्यूँ, दुरे दूसरो नांव॥
अलष अगम अविगत कहो, कहो निरंजन राम॥
अरत कहो अलिपत कहो, अंत धणी सूँ काम॥
गुरु हम सूँ ऐसी करी, जैसी गुरु सूँ होय॥
अगम ठौर आनंद सदा, पला न पकड़े कोय॥

ये रचना की चार साखियां हैं। पहिली साखी में 'तिरवो' शब्द के स्थान पर "तिरना" कर दें तो मेरी समझ से यह विशुद्ध खड़ी बोली का रूप बन जाता है। तीसरी साखी में "धणी" शब्द ठेठ मारवाड़ी का प्रयुक्त हुआ है। 'धणी' शब्द मालिक या स्वामी के लिए प्रयोग किया जाता है। यदि 'धणी' शब्द के स्थान पर 'प्रभु' शब्द का प्रयोग कर लिया जाय तो पूरी साखी विशुद्ध खड़ी बोली में परिणत हो जाती है। चौथी साखी के प्रथम व द्वितीय चरण में "सूँ" का प्रयोग है, इसको "सैं" में बदल देने पर यह साखी भी विशुद्ध खड़ी बोली में परिणत हो जाती है। उक्त उद्धरणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में हिन्दी के जैसे रूप का प्रयोग रचनाओं में हुआ है, उस पर व्रजभाषा का प्रभाव रहा है। उक्त काल का हिन्दी-साहित्य प्रायः ही व्रजभाषा की प्रधानता से युक्त था। राजस्थान में हिन्दी-भाषा का जो रूप चला उसमें व्रजभाषा तथा गुजराती भाषा का मिश्रित रूप देखने में आता है--

गहि गुरु ग्यान अगम कूँ ध्यावे, अगम अथाह थाह कोई पावे।
घट घट अघट सकल घट सोई, गुरगम तास लहै जन कोई॥

उलटा खेल सहज घर आवे, धुनि में ध्यान तहाँ मन लावे ।।
अवगति अगम अगम गम कीया, नौ ग्रह पलट गगन रस पीया ।।
ता रस मुनि जन रया समाय, ता रस मनवा उलटि न जाय ।।
आपा गलि मिटिया अभिमान, अब हम जाण्यां जान सुजान ।।
दरिया रूप वार नहिं पारं, तामें मच्छा प्राण हमारं ।
काल न जाल नहीं भै नेरा, भूले न खेले मांज बसेरा ।।

सहज पियाला परम सुख, भरि भरि पीवे प्राण ।
आतम अंतरि देषिये, अवगति का अहनांण ।।

उक्त उद्धरण में यदि "कूँ" "तास" "ता" "जाण्यां" "भूले" "मांज" इन शब्दों के स्थान पर "को" "ताहि" "तिहिं" "जाना" "माँहि" इन शब्दों का प्रयोग हो तो यह पद बदल कर आधुनिक-हिन्दी के बहुत समीप आ जाता है। उक्त पद्य में 'जाण्या' तथा 'भूले' शब्द मारवाड़ी के हैं। पद्य में शब्द-योजना तथा प्रवाह अर्थ को व्यक्त करने में स्पष्ट है। भाषा का स्वरूप जैसा है, उससे यह नहीं कहा जा सकता कि रचनाकार सर्वथा ही अशिक्षित है। पद्य अपने आपमें पूर्ण है, छन्द की पूर्ति है, अर्थानुबोध स्पष्ट है, भाषा में चुस्ती है, शब्द-योजना प्रदेशानुबन्ध से सङ्गत है।

पद—गाफिल नींद न करिए रे ?

जीवण नहीं मरण शिर ऊपर ता मरणे से डरिए रे ।।टेर।।
रजनी मोह नींद भर सूता, परम भेद नहीं पाया रे ।
अति अभिमान वदत नहिं काहू, हीरा सा जन्म गमाया रे ।।
गहि गुरु ज्ञान जागि जिव जोगी, झूठे भरम भुलाना रे ।
हरि सूँ विमुख नाच नाना विधि, छाडि तजे सुलताना रे ।।
आयौ थौ तूँ सांचे सौदे, काचे लागो भाई रे ।
अठवाडा हम बिछड़त देख्या, जागो राम दुहाई रे ।।
अब तूँ समझि देषि निसि बीति, पैंडा करणा ल्योई रे ।
तस्कर बहुत दूर घर तेरा, साथी संग न कोई रे ।।
जन हरिदास राम भजि भाई, देखि देखि पगि धरणा रे ।
हरि दरबार झूठ नहिं भावे, तिल तिल लेषा भरणा रे ।।

यह एक पद का उद्धरण है। भाषा का रूप प्रादेशिक प्रयोग से स्पष्ट है। ता, तिस, काहू, सुं, आयौ थौ, पैंडा, आदि शब्दप्रयोग व्रजभाषानुबन्धी है। भावाभिव्यक्ति में कोई न्यूनता नहीं है।

सूरसमाधि जोगग्रन्थ—

आपणे आपणे गह भरयां बोलतां।
घणां अमला कियां आंखि नहिं खोलता॥
खारकां वायकां और कूँ छोलता।
सारधारा मँही देखि तन तोलता॥
मूँछ गहि सापुरस न्याय हसि बोलता।
आज का दयौस नें खडग सत मोलता॥
पडिया लग करि दाहिणें, वांवे भुज गहि ढाल।
आप अखाड़ै आयके, सब को दीसै माहल॥

इस पद में प्रादेशिक भाषा की प्रधानता है; साथ ही यह डिंगल रचना के अधिक समीप है। पद में प्रयुक्त शब्दों से अर्थ को सरलता से नहीं जाना जा सकता। पद में दुरूहता है। उपर्युक्त चार उद्धरणों से वाणी में प्रयुक्त भाषा शैली का स्वरूप हमारे सामने आ जाता है। राजस्थान के अन्य महात्मा दादू, हरिनामदास, दरियाव, रामचरण, रामदास आदि की रचनाओं की अपेक्षा हरिदासजी की रचनाओं में प्रादेशिक शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है। जैसा कि निम्नलिखित शब्दों से प्रतीत होता है—

मारवाड़ी भाषा के शब्द—

सारिषो, गुडै, सवला, वापडा, निवेडा, रिण, टूक व्है, मूछाला, ददकारता, वाथौं, दाखिओ, परणवाना, वाग, पैला, पिसण, माल्हता, घणां, थोड़ा, वावडै, घुरे, खसै, कायरां, चुडला, भाजसी, कुंजरा, धमके, उरां, भलका, हेरता, काने, पगडा, हुडकणी, सूंधो, पलान, बूडा, ऊंडो, थाघ, दाघा, कांठे, खूंणे, मैंगल, आँणिवा, अस्थान, भांडा, भैचक, खिरे, अपूठे, मांडे, पूठा, डाव, मंडया, काची, जामै, सीम, बटपाडे, रूँधा, लूँणहरामी, मेवासा, नाह।

उपर्युक्त कुछ शब्दों का उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट ध्यान में आ जाता है कि रचनाकार ने अपनी भावना व्यक्त करते समय बोलचाल की भाषा में प्रयुक्त होने वाले शब्दों की उपेक्षा नहीं की, प्रत्युत उनका स्थान स्थान पर प्रयोग कर अपनी

प्रादेशिकता को सम्यक् सिद्ध कर दिया है। हरिदासजी राजस्थान के थे, अतः राजस्थानी में व्यवहृत होने वाले शब्दों का प्रयोग उनकी वाणी में होना अनिवार्य था। वाणी में प्रयुक्त भाषा का क्या रूप है? इसका थोड़ा सा दिग्दर्शन ऊपर किया जा चुका है। बहुत विस्तृत विवेचन की इसलिए आवश्यकता नहीं है कि पाठक-जन वाणी का अनुशीलन करेंगे तो भाषा की विभिन्न स्थिति उनके सामने स्वतः आ जायगी अतः एतद्विषयक जो निरूपण किया गया है, वह पर्याप्त है।

वाणी में विषयनिरूपण—

विवेच्य विषयों का वर्गीकरण किया जाय तो उनको दो भागों में बाँटा जा सकता है–पहिला पारमार्थिक व दूसरा व्यावहारिक। इन्हीं को अपर शब्दों में कहें तो आध्यात्मिक-भौतिक नाम से भी कह सकते हैं। आध्यात्मिक विषय में उन प्रतिपाद्य विषयों का समावेश समझना चाहिए, जिनमें चेतन तथा जड़ तत्वों की वास्तविकता का निरूपण कर मानवीय जीवन की सार्थकता के एकमात्र लक्ष्य मुक्ति या मोक्ष का निरूपण किया जाता है। व्यावहारिक या भौतिक विषयों में वे सब विषय सम्मिलित हैं, जिनमें जागतिक भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति, विकास तथा उनकी प्राप्ति व प्रयोग का विवेचन रहता है। दोनों ही विषयों का प्रतिपादन संसार में अनादिकाल से चला आ रहा है। विश्व की सभी भाषाओं में इन्हीं दोनों वर्गगत विषयों का विवेचन चलता रहता है। हमारे देश के साहित्य में भी सहस्रों वर्षों से ये विषय प्रतिपादित होते रहे हैं। वेद, वेदांग, उपनिषद्, दर्शन, स्मृतियाँ, धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण आदि के रूप में जो हमारा उच्चतम साहित्य है, उसमें इन उभय वर्गों पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया गया है।

महात्मा हरिदासजी ने संसार की असत्यता व निःसारता समझ महात्मा के निर्देश से गृहत्याग किया था। उनके मानस में कौटुम्बिक स्वार्थपरायणता के विपरीत असत्य संसार से उदासीनता व आत्मतत्व की प्राप्ति की तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न हुई थी, अतः अपनी साधना के पश्चात् उनमें आध्यात्मिक-भावना की ही प्रधानता रहना अनिवार्य था। अस्तु, उनकी वाणी में एकान्ततः आध्यात्मिक विषय का ही प्रतिपादन हुआ है।

महात्मा हरिदासजी एक साधक थ, वे लेखक या रचनाकार नहीं थे। अतः उनकी वाणी में हम एक परम साधक की अनुभूति का ही सम्यक् दिग्दर्शन देख पाते हैं। वाणी में उनने अपनी साधना का भी दिग्दर्शन कराया है तथा साधना से वे जिस निश्चय पर पहुँचे, उसका निरूपण किया गया हैं।

आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रमुखतया तीन साधन-मार्ग निश्चित किये गए हैं—ज्ञान, भक्ति व कर्म। इन त्रिविध मार्गों से साधना द्वारा आत्मस्वरूप

की प्राप्ति व चिरन्तन आनन्द को उपलब्धि की जा सकती है। ज्ञान में तात्विक निश्चय, भक्ति में विविध उपासना व कर्म में योग का समाहार है।

महाराज हरिदासजी ने आत्मानन्द की प्राप्ति की-वह संयुक्त दो साधनों के द्वारा उन्हें प्राप्त हुई—ऐसा उनकी वाणी के अनुशीलन से कहा जा सकता है। वे दो साधन थे-निर्गुण भक्ति तथा योग। अतः वाणी में प्रमुखतया इन्हीं विषयों का विशद विवेचन हुआ है।

निर्गुण भक्ति तथा योग—

भक्ति शब्द का व्यावहारिक प्रयोग तो मेरी समझ से सगुणोपासना के ही लिए है। भक्ति शब्द का मूल अर्थ है सेवा। सेवा अभेद में नहीं की जा सकती है। सेव्य और सेवक दो होने से ही सेवा की सार्थकता होती है। सगुणोपासना के आधार से ही नवधा-भक्ति का निरूपण किया गया है। अर्चन, स्मरण, कीर्त्तन आदि तभी किये जा सकते हैं, जब हम अपने उपास्य को अपने से भिन्न मानें। इसीलिए भक्ति-समर्थकों ने अद्वैत सिद्धान्त को न अपना, द्वैत सिद्धान्त को स्वीकार किया। द्वैत तथा अद्वैत के सिद्धान्तों पर भारतीय शास्त्रों में बहुत विस्तृत विवेचन हुआ है। जैमिनि, बादरायण, कपिल, कणाद, गौतम, पातञ्जलि आदि दार्शनिकों ने अपने-अपने दर्शनों में द्वैत-अद्वैत विषयों का निरूपण किया है। अद्वैत के निरूपणकर्त्ता महर्षि बादरायण हैं। महर्षिकृत इस दर्शन का नाम वेदान्त-दर्शन है। यह दर्शन एकान्ततः अद्वैतपरक है, उसकी स्थापना भगवान् शङ्कराचार्य ने की। अतः इसका अब 'शङ्कर-वेदान्त' के नाम से भी व्यवहार होता है। दार्शनिकों के मतभेद तथा उनका विवेच्य विषय अत्यन्त गम्भीर है। उस पर यहाँ कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं। महात्माओं ने भक्ति को तो अपनाया पर द्वैतपरक भक्ति को उनने नहीं माना। उनकी भक्ति अद्वैतपरक है, इसीलिए उसकी संज्ञा निर्गुण भक्ति हुई। निर्गुण भक्ति का अभिप्राय मेरी समझ से यह है कि अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार एक ही नित्यसत्य-तत्त्व में अनन्य निष्ठा रखना। महात्माओं ने इसी अद्वैत ब्रह्मतत्व में अपनी परम श्रद्धा स्थापित की अतः ये निर्गुण भक्त कहलाए। महाराज हरिदासजी ऐसे ही निर्गुण भक्त थे। उनने अपनी वाणी में स्थान-स्थान पर इस परम तत्व की उपासना व इसका चिन्तन करने का निर्देश किया है। इस तत्व की उपासना में न पूजा की, न अर्चना की आवश्यकता है; इसमें केवल अपनी मनोवृत्ति को तन्निष्ठ करने की आवश्यकता है। वृत्ति में विविध विकल्पों का उत्पत्ति-विनाश होता रहता है। वृत्ति के इस चांचल्य का निवारण करने के लिए मन तथा इन्द्रियों को अधीन करना आवश्यक है-तदर्थ योग की साधना की आवश्यकता हुई। योग की साधना के भी कई रूप हैं--राजयोग, लययोग, हठयोग आदि। महात्माओं ने योग की साधना में प्रमुखतया राजयोग का

आश्रय लिया है। कोई-कोई क्रिया हठयोग की भी अपनाई गई है। सबसे अधिक प्राण के नियन्त्रण पर बल दिया गया है। प्राण का नियन्त्रण–प्राणायाम-साध्य है। अतः प्राणायाम का योग में विशद निरूपण है। इसी से फिर सविकल्प, निर्विकल्प समाधियों की पूर्ति होती है। महात्माओं ने मनोनिरोध के लिए हो प्राण साधना को अपनाया और इड़ा, पिंगला व सुषुम्ना पर नियन्त्रण कर उन्मनि दशा को प्राप्त किया। इस दशा को सहजावस्था भी कहा गया है। जब वृत्ति निश्चल हो जाती है, तब उसमें किसी प्रकार का सङ्कल्प-विकल्प नहीं होता। क्षोभ की तरंगें नहीं उठतीं, यही वृत्ति की सहज दशा है, यह दशा उत्पन्न होने पर ही साधक स्थितप्रज्ञ बनता है। स्थितप्रज्ञ अवस्था का भगवान् कृष्ण ने गीता के द्वितीय अध्याय के पचपनवें श्लोक से बहत्तरवें श्लोक तक सम्यक् निरूपण करते हुए स्थितप्रज्ञ दशा को ही ब्राह्मी स्थिति बतलाया है–यही मुक्तावस्था है। महात्माओं ने अपनी साधना में निर्गुण भक्ति तथा योग द्वारा इसी अवस्था की प्राप्ति की थी। अतः उनकी वाणी में साधन के निरूपण में इन्हीं दोनों का स्थान-स्थान पर प्राबल्य प्रकट होता है। हम यहाँ एतद्विषयक कुछ वाणी के बचन सङ्कलित करते हैं ताकि आप उनसे उक्त कथन का औचित्य जान सकें—

निर्गुण नाम–

राम भजे तो आनन्द होय।

दीनानाथ दयाल दयानिधि, चिंताहरण सकल विधि सोय ॥टेर॥

हरिदासजी का राम कैसा है? ध्यान दें—

परम उदार अपार अखंडित, पूर्णब्रह्म भजन कर लोय।
औसर एसो वहौडि नहिं पावे, हरि विन कवहूँ भला न होय॥
आनन्दरूप अखिल अविनाशी, करणहार करता रस जांणी।
जहाँ तन धरे तहां ही साथी, प्रेम प्रीति कर ताहि पिछाणी॥
नारायण निर्वाण निरख नित, गरवहरण गोविन्द उरधारी।
जन हरिदास भजो अविनाशी, गुरगम यो ही ज्ञान विचारी॥

अवधू ऐसा ज्ञान विचारा।
है हरि अकल सकल विच व्यापी, रहे सकल तै न्यारा ॥टेर॥
ल्यौ में अलख अकल अविनाशी, सुरति सु यह मति जागी।
गोरष गोपी परसिपर निरभे, अनहद सींगी वाजी॥

निजपुर प्राण बसे निति निहचल , पवन सुरति सति माला ।
ब्रह्म छोल में झूलैं खेलैं , पीवे अगम पियाला ।।
निकट नाथ निज रूप निरन्तर , नाम निरंजन राया ।
जन हरिदास तिनहीं को वंदो , मन फिर मनहिं समाया ।।

भज मन अकल देव मुरारी ।
नांव गहि रे नांव गहि , हरि लेत उतारे पारि ।।टेर।।
निकट नांव निजरूप वड निधि , सुखसिंधु वार न पार ।
ता सिंधु मांहि वसे हंसा , चुगे मोती चार ।।
अगम अगाध अपार नरहरि , निरख रे दिल मांहि ।
दास जन तहां सदा सनमुखि , हिन्या हीरा खांहि ।।
जहां गांव न ठांव न वरण वाडी , मन पकड़ रे निधि जोय ।
जन हरिदास रसना राम रटि हूँ , पीव सदा संग सोय ।।

उपर्युक्त तीन पदों मे नाम के विशेषणों पर ध्यान दीजिये । उक्त विशेषणों से स्पष्ट है कि हरिदासजी का उपास्य वही अगाध ब्रह्म है, जिसको हम सत्-चित्-आनन्दरूप से निर्देश करते हैं । "आनन्द रूप अखिल अविनाशी, 'ब्रह्म छोल में झूलै खेलै, "निरख रे दिल मांहि" ये तीन पदों की तीन पंक्तियाँ किस विशेष का संकेत करती हैं—यह स्पष्ट है । आगे साधना में योग के अनुसरण को व्यक्त करने वाले भी दोतीन पद उद्धृत किये जाते हैं—

मन रे उलटि सहज घरनाया ? तब लग वादि वक्या वोराया ।।टेर।।
नाभि कँवल में पवन निरोधे , तो सत गुरु का चेला ।
मन गहि पवन अगम घर खेलूँ , करूँ अगम सूँ मेला ।।
उलटा खेलि गगन में पेसूँ , सुरति सहज घर धारूँ ।
परम जोति सूँ हिलमिल खेलूँ , एसा अरथ विचारूँ ।।
जन हरिदास निरभै निधि परसूँ , परम सिन्धु में न्हाऊँ ।
जठर अगनि में प्राण न होमूँ , आवागमन चुकाऊँ ।।

अणबोल्या गावे जे कोई , अजपा जाप निरन्तर होई ।।टेर।।
भजौ निरंजन भरम गमाय , जुरा न व्यापै काल न खाय ।
जोनी संकट आवे नांहि , प्राण समावे हरिपद माँहि ।।
सुषमनि फेरि घेरि घर आनें , अरथ विचारे अगम पिछाणे ।
मूल कँवल में पवन निरोधे , तब मन कूँ मनही परमोधे ।।
त्रिविध ताप तज सहज विचारे , जागि न सोवै जीति न हारें ।
त्रिवेणी तट बैसे जाय , धुनि में ध्यान रहे लौ लाय ।।
आसा मेट निरास संभारे , सून्यमंडल में आसण धारे ।
सात समंद मसि डारे धोय , जन हरिदास जोगी जन सोय ।।

×

अब हम रामभजन सुख पाया ।
काम किवांडी जड़ी जतन सूँ , मोह मता मुरझाया ।।टेर।।
विकसत कँवल सबद सत सुनिया , सुनि मंडल में सारं ।
वरसै सुन्नि गगन रस भींजे , सदा अखंडित धारं ।।
चन्द सूर एकै रथ बैठा , पवन विरोले वाई ।
गंग जमन मधि हीरा दरसै , सुषमनि सहज समाई ।।
स्यो धरि सकति सकति सूँ मेरा , भरम गया भै भागा ।
गगनमंडल में वसै उडांगर , ऊँचे आरंभ लागा ।।
निराकार निरलेप निरन्तरि , महल मिलै वनमाली ।
सुख में सीर अखिल अविनासी , परम जोति सूँ तालीं ।।
घट घट अघट अगह अविनाशी , वंकनालि रस पाया ।
पांचू थकत छक्या रस खेलै , आनन्द अरथ समाया ।।
नवधण धरा गरक गुण तीनूं , रामरतन धन नेरा ।
वूठै मेह पहम रुति पलटै , सुख में रहे वसेरा ।।
है हरि अकल सकल की शोभा , जागि लहै सो जीवै ।
जन हरिदास तातै रावलिया , अगम पियाला पीवै ।।

उपर्युक्त तीन पदों में साधन-काल में महात्मा हरिदासजी ने योग का आश्रय लिया तथा आगे भी साधक को यदि वह निर्गुण उपासना का इच्छुक है तो योग का आश्रय लेना चाहिए-यह व्यक्त होता है। उदाहरण और देने की मैं आवश्यकता नहीं समझता। उक्त उदाहरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि महाराज की वाणी में निर्गुण भक्ति तथा योग का पर्याप्त निरूपण है, अतः यही वाणी का मुख्य विवेच्य विषय सिद्ध होता है।

६. सैद्धान्तिक पक्ष—

वाणी के स्वरूपज्ञान के पश्चात् पाठक को यह जिज्ञासा उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि महात्मा हरिदासजी ने व्यावहारिक-जीवन के लिए क्या सिद्धान्त स्थिर किये तथा पारमार्थिक-जीवन के लिए क्या साधना तथा क्या लक्ष्य रखे ?

जैसा मैं पीछे व्यक्त कर आया हूँ कि हरिदासजी के उपदेशक गुरु महात्मा गोरखनाथजी या अन्य कोई नाथ-महात्मा थे। उनने अपनी साधना में वही मार्ग अपनाया, जैसा कि नाथ सिद्ध महात्मा अपनाते आये थे। वाणी की रचना में भी नाथ-वाणियों का अनुगमन किया गया है, तब सैद्धान्तिक पक्ष पर नाथ-सिद्धों की मान्यताओं का प्रभाव न होता यह कैसे हो ?

मेरी मान्यता है कि पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर अब तक की शताब्दियों में जितने भी निर्गुण सन्त-साधक हुए हैं, उन पर नाथ-सिद्धों की विचारधारा का प्रभाव किसी न किसी अंश तक अवश्य पड़ता रहा है। निर्गुण भक्त-साधकों की परम्परा का प्रारम्भ कबीरजी से हुआ है। कबीरजी के समकक्ष तथा उनसे पीछे होनेवाले महात्माओं ने कबीरजी का अनुगमन किया है। कबीरजी केवल एक सन्त या साधक ही नहीं थे, वे उच्च कोटि के विचारक भी थे। कबीरजी ने कुछ सिद्धान्त नाथ-सिद्धों के स्वीकार किये जैसे केवल शास्त्रीय पक्ष की ही मान्यताओं से जीवन को बाँध दिया जाय—यह युक्तियुक्त नहीं है। किसी पक्षविशेष से युक्त ही धर्म धर्म है, ऐसा कहना या मानना असंगत है। जातीय भेदभाव व ऊँच-नीच की कल्पना असंगत है, यदि उसका निरूपण किन्हीं शास्त्रों में हुआ हो। इसीलिए स्वयं कबीरजी ने तथा परवर्त्ती सभी निर्गुण साधक-सन्तों ने वेद, कुरान, सापेक्ष धर्म तथा जातिवाद से अपना मतभेद व्यक्त किया है। कबीरजी ने कुछ अपनी स्वकीय विचारधाराएँ भी व्यक्त की हैं। कबीरजी के पश्चात् या समकाल में होनेवाले महात्माओं का झुकाव इसी रूप में देखा जाता है कि वे नाथ-सिद्धों तथा कबीरजी के निश्चयों से सहमत हैं।

अवतारवाद—

महात्मा हरिदासजी की वाणी में आप देखेंगे कि उनने सगुण भक्ति को मान्यता नहीं दी। इसलिए अर्चन, पूजन, कीर्त्तनादि तथा अवतारवाद का उनने

कोई महत्व स्वीकार नहीं किया। उनकी धारणा है कि दस अवतार या चौबीस अवतारों की केवल कल्पना है। जो परम चेतन-सत्ता, जिसको हम व्यापक ब्रह्म के नाम से स्मरण करते हैं, वह बराह, मत्स्य, हयग्रीव, नृसिंह, वामन आदि के रूप में अवतार धारण करे—इसका कोई औचित्य नहीं है। उन्हें ईश्वरावतार मानकर उस व्यापक-विशेष चेतन-सत्ता (ब्रह्म) की अवज्ञा करनी है। उनके विचार में परम सत्ता-चेतन ब्रह्म अवतार-विशेष के रूप में अवतरित नहीं होना चाहिए। जिनको हम अवतार संज्ञा देते हैं, वे अन्य सृष्टि के प्राणियों की तरह ही उत्पन्न हुए हैं। उनमें अपनी साधना से कुछ विशेषताएँ आयीं—यह दूसरी बात है। अवतारों के विषय में गोरखनाथजी, कबीरजी व हरिदासजी की रचना के निम्न अंश देखिए—

तुझ पर वारि हो अणघड़िया देवा।
घड़ी मूरति को सब कोई सेवै, ताहि न जांणे भेवा ॥टेर॥
तूँ अविनासी आदू कहिए, मोहिं भरोसा पड़िया।
सब संसार घड्या है तेरा, तूँ किनहूँ नहिं घड़िया ॥१॥
दश औतार औतिरिया तिरिया, वै पण राम न होई।
कमाई अपणी उनहूं पाई, करता औरे कोई ॥२॥
तूँ पूरण ब्रह्म पुरुष प्रिथमी का, सूरति मूरति सारा।
श्रवणों सुण्या न नैनां देख्या, तेरा घडने हारा ॥३॥
तूँ तो आप आप तैं हूवा, तूँ देष्या उजियारा।
गोरष कहै गुरु के सबदां, तूँ ही घड़ने हारा ॥४॥

(पद ५८ गोरख वाणी पृ० १५४)

तिंहि साहब के लागहु साथा, दुइ दुख मेटिके होहु सनाथा।
दशरथ कुल अवतरि नहिं आया, नहिं लंका के राव सताया।
नहिं देवकि के गरभहिं आया, नहीं जसोदा गोद खेलाया।
प्रिथमी रमन दमन नहिं करिया, पैठ पताल बली नहिं छलिया।
नहिं बलिराज से मांडल रारि, नहिं हिरनाकुस वछल पछारी।
होय वराह धरनि नहिं धरिया, छत्री मारि निछत्रि न करिया।
नहिं गोवरधन कर नहिं धरिया, नहिं ग्वालन संग वन वन फिरया।
गंडक सालिगराम न सिला, मच्छ कच्छ होय नहिं जला हिला।

द्वारावती शरीर न छाड़ा, लै जगनाथ पिंड नहिं गाड़ा।
साखी—कहहिं कबीर पुकार कै, वा पथ मति भूल ॥
जिहि राखे अनुमान कै, थूल नहीं अस्थूल ॥
(रमैणी बीजक पृ० ८४-८५)

दस औतार दसूँ ए देसो, औरां और चढावे।
सो बाजीगर भला क नांही, एक कूँ करे गमावे ॥टेर॥
परम पुरष का पार न पावे, आसा सूँ रस लूधा।
सूधा राह सहज नहिं छोड्या, ऊजड़ पड्या अलूधा ॥१॥
निराकार निरभै रे सन्तो, जो आकार सजावे।
हीडागर हीडा को बौड़े, सो भी धणीं कहावे ॥२॥
तरंग सिन्धु सो भी हरि नांहि, निहचै जाय विलावै।
जन हरिदास अविनासी भजतां, भौजल निकट न आवे ॥३॥
(वाणी पद भाग पृ० २०१)

सतगुरु दीया भेद बताय, रहै राम दूजा सब जाय ॥
धरी देह तैता आकार, सो क्यूँ कहिए सिरजनहार।
जाकै राग-द्वेष कछु व्यापै नाँही, सोइ रमता राम सकल घट माँही।
भक्ति हेत कोइ भक्त पठाया, आप अगाध यहाँ नहिं आया।
पहरचाँ भेष मिटी भषभूरी, नैडा राम बतावे दूरी ॥२॥
दस ओतार कहो क्यूँ भाया, हरि अवतार अनन्त करि आया।
जल थल जीव जिता अवतारा, जल ससि ज्यूँ देखो तत सारा ॥३॥
हरि अपार पार को नाँहीं, साधू जन खेले ता माँहीं।
जन हरिदास भज केवल राम, निरमल नांव तहाँ विसराम ॥४॥
(वाणी पद भाग पृ० २८८)

उपर्युक्त चार पदोंमें एक गोरखनाथजी का व एक कबीरजी का तथा दो हरिदासजी के हैं। चारों पदों में एक ही भाव है कि परमपिता परब्रह्म परमेश्वर अवतार धारण नहीं करता। हरिदासजी की वाणी में अनेक स्थानों में इसी आशय का निरूपण है। हम और उदाहरण नहीं देते—उनका 'चालीसपदी ग्रन्थ' इसी भावना से ओतप्रोत है।

मूर्त्तिपूजा—

जब अवतारवाद को हरिदासजी ने स्वीकार नहीं किया—तब मूर्त्तिपूजा में उनकी निष्ठा होने का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि मूर्त्तिपूजा का आधार ही सगुणोपासना है। अवतार की मान्यता को लेकर ही राम-कृष्णादिकों की मूर्त्तियों व मंदिरों का निर्माण हुआ। मूर्त्तिपूजा का औचित्य है या नहीं, यह पर्याप्त विवादग्रस्त विषय है। जड़ वस्तु को परम चैतन्य के रूप में मानना व देखना संगतिपरक नहीं। मूर्त्तियाँ मनुष्यों के द्वारा बनाई जाती हैं। मूर्त्तियों के रचयिता कारीगर सामान्य मनुष्य होते हैं। अतः महात्माओं ने उस परब्रह्म परमेश्वर को मूर्त्ति में अवरुद्ध करना उचित नहीं माना। उनकी तो मान्यता है कि वह परमपिता परमेश्वर अणु-अणु में व्याप्त है। कौन सा ऐसा क्षेत्र है, कौन सी ऐसी जगह है, जहाँ उसका अभाव है ? हरिदासजी ने इस विषय में अपनी क्या सम्मति व्यक्त की है—उसको देखने पर उनकी भावना को समझने में कोई बाधा नहीं होगी। वे कहते हैं—

ज्यूँ मूरति त्यूँ ही सिला, राम बसे सब माँहि ॥
जन हरिदास पूरण ब्रह्म, घाट वाधि कछु नाँहि ॥१॥

माणस परमेश्वर किया, सो तो करता नाँहि ॥
जन हरिदास करता पुरसि, व्यापि रह्या सब माँहि ॥२॥

नहिं देवल सूँ वैरता, नहिं देवल सूँ प्रीति ॥
कृत्रिम तज गोविन्द भजै, या साधाँ की रीति ॥३॥

लोक दिखाओ मत करै, हरि देखे त्यूँ देख ॥
जन हरिदास हरि अगम हैं, पूरण ब्रह्म अलेख ॥४॥

जन हरिदास साची कहै, साहबजी की सौंह ॥
पाहन को करता कहै, ताका काला मौंह ॥५॥

देवल माँही देव है, घट घट धरया बणाय ॥
जन हरिदास या चूँध है, तूँ गुण गोविन्द का गाय ॥६॥

हरिदासजी के उपर्युक्त वाक्यों में मूर्त्तिपूजा सम्बन्धी उनकी भावना का चित्र स्पष्ट सामने आ जाता है। उनका तर्क है कि यदि मूर्त्ति में भगवान् साक्षात् रूप में विराजमान हैं तो उस शिला में, जिससे मूर्त्ति बनती है, परमेश्वर क्यों नहीं है ? मूर्त्ति मनुष्य द्वारा ही बनाई जाती है, अतः मनुष्यकृत मूर्ति उस परमेश्वर का प्रातिनिध्य कैसे करे ?—जो मनुष्य का स्वयं निर्माणकर्त्ता है। हरिदासजी मूर्त्तिपूजा को

लोक-दिखावा मानते हैं। उनका निर्देश है कि कृत्रिममूर्त्ति में परमेश्वर को खोजने की अपेक्षा उसकी सर्वत्र व्यापकता विद्यमान है, उसी में अपना ध्यान लगाना ठीक है। हरिदासजी के मत में अवतारवाद और मूर्त्तिपूजा का कोई औचित्य नहीं है।

धर्मविशेष और जातीयता—

निर्गुण सन्त साधकों ने इन दो पक्षों के विरुद्ध बहुत बल दिया है। धर्म को पक्षापक्षी में बाँटना तथा जातीयता के आधार पर मनुष्य-मनुष्य में भेद करना वे सर्वथा असंगत समझते हैं, क्योंकि उनका व्यावहारिक आधार आत्मतत्व है। महात्माओं ने प्राणिमात्र के लिए एक धर्म माना है, जिसको हम प्राणिमात्र का धर्म या मानव-धर्म नाम से कह सकते हैं। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि विभिन्न धर्मों की कल्पना का कोई तात्विक आधार नहीं है, सब धर्मों में प्राणि-मात्र के हित की धारणा अपनाई गई है, जो कुछ भेद माना गया है वह विविध रूढ़ियों पर अवलम्बित है। महात्माओं ने तथ्य की ओर ही ध्यान दिया है। तथ्य में परिवर्तन की आवश्यकता नहीं। रूढ़ियों में कालानुबन्ध से पुनः पुनः परिवर्त्तन होता रहता है, इन्हीं के कारण एक-एक धर्म में और उपधर्मों की कल्पना बनती है। उदाहरणतः सनातन धर्म इसमें फिर शैव, शाक्त वैष्णव धर्मों की कल्पना। इसी तरह रूढ़ियों की हेरा-फेरी से सापेक्षिक धर्म विशेषों में उपधर्मों की उत्पत्ति होती रहती है। इसका परिणाम फिर आगे जाकर वर्गवाद में पनपता है, जिससे विश्वकल्याण का मार्ग रुक जाता है। वर्गवाद की प्रबलता का परिणाम फिर आपसी संघर्ष को जन्म देता है। इतिहास के पृष्ठों में इस संघर्ष से उत्पन्न विश्वयुद्धों के भयानक चित्र अङ्कित हैं।

महात्माओं की दृष्टि आत्मा पर होती है। आत्मा में न विभिन्न धर्म हैं, न विशेष जाति, अतः वे सब प्राणियों के साथ आत्म-बन्धुभाव से व्यवहार करने के समर्थक होते हैं। उनके सामने न कोई हिन्दू है न कोई मुसलमान, न कोई बौद्ध है, न कोई ईसाई। न वे किसी को ब्राह्मण मानते हैं, न वे किसी को शूद्र। न उनके सामने कोई संन्यासी है न कोई शेख, उनके सामने एक ही चेतन तत्व है जिससे उनमें सजीवता है। इस चेतन तत्व से सम्बन्ध विच्छिन्न होने पर किसी भी प्राणी का धर्म व जाति उसका अस्तित्व कायम नहीं रख सकते। अतः वे सब निःसार व काल्पनिक हैं। विश्व-कल्याण, देशोन्नति या समाज के उत्थान का आधार यह महात्माओं का सिद्धान्त बने, तभी सबका उत्कर्ष बढ़ सकता है, अन्यथा धर्म विशेष और जाति-विशेष का यह विष न विश्व में शान्ति रख सकता है, न मनुष्य-मनुष्य को समीप ला सकता है, अतः सन्त साधकों ने धर्मविशेष तथा जातीयता को अनुपादेय बताया है तथा उसमें वस्तुतः विचार किया जाय तो औचित्य भी है।

उक्त विषयों पर उनका दृष्टिकोण क्या है? तदर्थ नीचे कुछ उक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

हिन्दू तुरक एक कल लाई, राम रहींम दोय नहिं भाई॥
यहाँ बामण वहाँ मुल्लव करे, वेद कतेब कथे विसराम।
राम संभारि दूर कर मैं तैं, आखरि एक अलह सूँ काम॥
ये सब जीव उपाया साहब, ता सूँ मार पड़ो क्यों दूरि।
जन हरिदास यह अरथ विचारे, ता सूँ खालिक सदा हजूरि॥
पाँच तत्व का पूतला, रज वीरज की बूँद।
एकै घाटी नीसरया, बामण चत्री सूद॥
शूद्र वैश चत्री विप्र, विद्या विसतार न वादं।
नहिं हिन्दू नहिं तुरक, सराह नहि सबद न साधं॥
चारि वरण का मूल कहाँ, हरि परम सनेही पीव।
हारि जीत भुरकी पड़ी, तहां अलूधा जीव॥
विविध धर्म तपस्या विविध, चलत देह के भाय।
सु तो पंथ कोई और है, जहाँ सात समद लंघि जाय॥

उपर्युक्त साखियों का अर्थ स्पष्ट है।

नामस्मरण—

महात्मा हरिदासजी ने निर्गुण-भक्ति को अपनाया था। अतः भक्ति में नाम-चिन्तन का आधार भी लिया जाता है और पिछले साधकों को मार्ग-दर्शन मिलता है। स्वयं हरिदासजी ने भी नामस्मरण को आरम्भ में अपनाया था, ऐसा प्रतीत होता है और वह नाम था—निरञ्जन राम का। वाणी के प्रायः सभी प्रकरणों में जहाँ भी प्रसङ्ग आया है, महाराज हरिदासजी ने निरञ्जन शब्द का प्रयोग किया है। मैं पीछे "साधना" के विवेचन में इस विषय पर पर्याप्त लिख आया हूँ, पुनः उसके उल्लेख की आवश्यकता नहीं है। निरञ्जन शब्द व्यापक विशुद्ध (माया-अविद्या रहित) ब्रह्म के लिए विशेषण रूप में प्रयुक्त होता है।

श्रुतियों में तथा दर्शनों में जहाँ तत्व-विवेचन किया गया है, वहाँ ब्रह्म के निरूपण में यही उल्लेख किया गया है कि वह केवल एक ही विशुद्ध तत्व के रूप में

अशेष ब्रह्माण्ड में व्यापक है। निर्गुण शब्द भी एक तरह से इसी बात को व्यक्त करता है कि जो तत्व गुण-धर्मरहित है, वह निर्गुण-शब्दवाच्य है। यहाँ गुण शब्द प्रकृति के त्रिगुणात्मक रूप के लिए व्यवहृत है। जहाँ कपिल ने जड़ प्रकृति को एक तत्व के रूप में स्वीकृत किया है, वहाँ अन्य दार्शनिकों ने माया-अविद्या नाम से जड़ का निरूपण किया है। निर्गुण तथा निरञ्जन एक ही अर्थ को सिद्ध करते हैं कि वह परब्रह्म व्यापक तत्व गुणरहित अंजन (माया-अविद्या) रहित है। हरिदासजी का राम यह निरञ्जन राम था। हरिदासजी ने इस नाम को क्यों अपनाया ? इसका सीधा प्रत्युत्तर यह है कि हरिदासजी के गुरु गोरखनाथ या कोई नाथ-महात्मा थे, उनने ब्रह्म को "अलख निरञ्जन" शब्द से सम्बोधित किया है। कबीरजी ने भी नाम-चिन्तन में "निरञ्जन राम" का निर्देश किया है। हरिदासजी ने भी उसी का अनुगमन किया है। मैं यहाँ नाथवाणी, बीजक या हरिदासजी की वाणी के उद्धरण देकर लेख-वृद्धि करना संगत नहीं मानता। उक्त महात्माओं ने "अलख निरञ्जन" या "निरंजन राम" का नाम-चिन्तन अपनाया, अतः निरंजनी सम्प्रदाय में आज तक नामस्मरण में "अलख निरंजन सब दुखभंजन—राम निरंजन हरि निरंजन" का व्यवहार प्रचलित है। साधना का हम पीछे दिग्दर्शन कर आये हैं। मेरे विचार में हरिदासजी के सिद्धान्त पक्ष में जो वैशिष्ट्य है वह ऊपर व्यक्त किया जा चुका है। सगुणोपासना, मूर्त्तिपूजा, धर्मविशेष, जातीयता, विविध देवी-देवता—इन पक्षों को हरिदासजी ने स्वीकार नहीं किया। वे व्यापक मानव-धर्म के अनुयायी थे, उसी का उपदेश किया। प्राणिमात्र में स्नेह, अपने में अकिंचनता या परम गरीबी, सब प्राणियों के साथ आत्मिक सम्बन्ध, उस अचिन्त्य व्यापक चित्‌शक्ति में अनन्य श्रद्धा—यह ही उनका लक्ष्य या ध्येय था, इसकी पूर्ति उनने निरंजन राम के स्मरण-चिन्तन से तथा यौगिक-साधना द्वारा मन-इन्द्रियों को वश में करके की।

७. द्वादश-महन्त निरंजनी—

राघोदासजी कृत भक्तमाल में द्वादश निरंजनी-महन्तों का विवरण है। इससे यह तो स्पष्ट है ही कि उक्त विवरण में दिये सभी महात्मा निरंजनी थे। उक्त बारह निरंजनी महात्माओं का क्रम इस तरह है—१–लपट्यौ जगन्नाथ, २–श्यामदास, ३–कान्हड़दास, ४–ध्यानदास, ५–खेम, ६–नाथजी, ७–जगजीवन, ८–तुरसीदास, ९–आनदास, १०–पूर्णदास, ११–मोहनदास, १२–हरिदास। इस क्रम में हरिदासजी का नाम अन्त ही अन्त में है। पर जहाँ बारहों का भिन्न-भिन्न वर्णन किया है उस वर्णन-क्रम में हरिदासजी छठे हैं। इससे स्पष्ट है कि भक्तमालकार ने उक्त विवरण में नामोल्लेख किये हैं, उनका पहिले या पीछे, बड़े-छोटे से सम्बन्ध नहीं है। उनके विचार से उक्त बारह महात्मा ही निरंजनी सम्प्रदाय में प्रमुखस्थानीय थे। इसी भाव का समर्थन स्वामी हरिरामजी के इस कथन से होता है—

जन हरिदास हरि सुमर दास तुरसी तत्त पाया।
श्याम तजी सब श्यामता पद पूरण ध्याया ॥
ध्यान धरत हरि मिले नाथ मतिनाथ ही गाया।
कान्हड़दास कृपालु खेम पुनि पेम समाया ॥
मोहन भजे मुरारि दास जगजीवन सिद्धवर।
आनदास जगन्नाथ भये प्रभु के अनुचर ॥
घाटवाध इनमें नहीं अधिकारी निज धाम के।
द्वादश महन्त निरंजनी सदा बसहु हरिराम के ॥१॥

राघोदासजी की भक्तमाल का रचनाकाल १७७० माना जाय, तो हरिरामजी का काल भी अठारहवीं शताब्दी है। जैसा उनने स्वरचित 'छन्द रत्नावली' के अन्त में काल का निर्देश किया है—

सम्वत् सर नव मुनि शशि नभ नवमी गुरु मानि।
नगर डीड दृढ़ कूप तहिं ग्रन्थ जन्मथल जानि ॥

अङ्कगणना के विपरीत क्रम से १७९५ का सम्वत् 'छन्द रत्नावली' की रचना का है। मतलब—राघोदासजी व हरिरामजी समसामयिक से ही थे। हरिरामजी ने अपने इस पद्य में सभी को उच्च महात्मा के रूप में स्मरण किया है। निरंजनी सम्प्रदाय में दर्शनदासजी के शिष्य प्यारेरामजी ने भी भक्तमाल की रचना की है। उसमें उनने हरिदासजी महाराज को छोड़ शेष एकादश का स्थानादि सहित इस तरह निरूपण किया है—

जगन्नाथ थिरोली में थिरता जु पाय रहे,
पूर्णदास पूरे मत भंभोर रहाइये।
तुरसीदास शेरपुर सार सार काढ लियो,
टोडा माँहि नाथ जिन निरंजन गाइये ॥
श्यामदास दत्तवास दुविध्या को दूर कर,
आनदास लुहाली में सदाई रहाइये।
मोहनदास मोह तजि देवपुर रहे आय,
कान्हड़दास चाड़स्यू परचो जिन पाइये ॥

महर जू सामोद माँहिं ध्यानदास धर्यो ध्यान,
जगजीवण भादवे मेलो जू रचाइये ।
षेमदास सिवहाड़ साचो मत जिन थाप्यो,
बारै ठौर बारे म्हंत ऐसी विधि गाइये ।

अन्तिम चरण में 'बारै' का उल्लेख है। बारहवें डीडवाणे हरिदासजी हैं, जिनका निरूपण विस्तार से भक्तमाल के आरम्भ में किया है। प्यारेरामजी की भक्तमाल का काल १८८३ है।

हरिरामदासजी महाराज के शिष्य रामदासजी, उनके शिष्य दयालदासजी, जिनकी पर्याप्त रचनाएँ हैं, उनने भी भक्तमाल की रचना की है। उनका काल १८४० से १८८० है। उनकी भक्तमाल में जहाँ निरंजनी सम्प्रदाय का निरूपण प्रारम्भ हुआ है, उनने भी पहिले द्वादश निरंजनी महात्माओं का परिचय दिया है—

हरिदास पुनि श्यामदास तुरसी धन पूरण ।
जगन्नाथ जन षेमदास मोहन मन चूरण ।।
कानड़ ध्यान जू दास भया जगजीवन पारा ।
आनदास जू नाथ भाल तथ अरथ विचारा ।।
राम सुमर मन जीत जग षट् सरोज उर मंजनी ।
अंजन तज निरंजन मिले पंथ द्वादश निरंजनी ।।४१५।।छंद.

इनने महाराज हरिदासजी के बावन शिष्यों का भी परिचय नामोल्लेख से किया है। हरिदासजी से छठी पीढ़ी में हुए परम सन्त महात्मा सेवादासजी का भी उक्त भक्तमाल में निरूपण है। उपर्युक्त सभी सन्त-लेखकों ने इन बारह सन्तों को निरंजनी निर्गुणोपासक भक्त माना है। हरिदासजी निरंजनी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक माने गए है। राघोदासजी ने इनका विवरण करते हुए व्यक्त किया है कि ये सब कबीरजी में श्रद्धा रखने वाले थे। उनकी उक्ति यह है—

"अब राषहिं भाव कबीर को इम एते महन्त निरंजनी"

जैसा मैं पहिले निवेदन कर आया हूँ कि कबीरजी के पश्चात् हुए सभी महात्माओं ने उनको परम श्रद्धा से स्मरण किया है तथा अनेकों महात्माओं ने उनमें गुरुभाव भी प्रदर्शित किया है। राघोदासजी ने अपने छप्पय के अन्तिम चरण में इसी का संकेत किया है।

जगन्नाथजी, तुरसी, श्याम, खेमदासजी आदि निरंजनी ही थे—यह तो सिद्ध है। पन्थ-प्रवर्त्तक हरिदासजी महाराज हुए—यहभी स्पष्ट है। "उत्तर-भारत की सन्त-परम्परा" के माननीय लेखक पं० परशुरामजी चतुर्वेदी ने राघोदासजी की भक्तमाल के आधार पर चार निर्गुण सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक नानक, कबीर, दादू, जगन—माने हैं। जगन नाम से उधर द्वादश महन्त निरंजनी में कोई है नहीं, अतः चतुर्वेदीजी ने सम्भावना की कि शायद राघोदासजी ने लपट्यो जगन्नाथ के नाम से प्रथम जिनका निरूपण किया है, दूसरे छप्पय में उन्हीं का संक्षेप "जगन" कर लिया गया है और वे ही निरंजनी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक कहे जा सकते हैं। चतुर्वेदीजी ने स्वयं ही आगे इस सम्भावना को अप्रामाणिक मान लिया है। मेरी समझ से राघोदासजी के छप्पय को ध्यान से देखा जाय तो इस सम्भावना का निराकरण हो जाता है।

राघोदासजी का छप्पय इस रूप में है—

नानक सूरज रूप भूप सारे परकासे।
मघवा दास कबीर ऊसर सूसर वरषा से॥
दादू चन्द सरूप अमी कर सबको पोषे।
वरन निरंजन मनो त्रिषा हरि जीव संतोषे॥
ये चार महन्त चहुँ चक्कवै च्यारि पंथ निरगुन थपे।
नानक कबीर दादू जगन राघो परमातम जपे॥३४२॥

उक्त छप्पय में चारों निर्गुण मत-प्रवर्त्तकों का नामोल्लेख है। जैसे नानक को सूरज रूप, कबीर को इन्द्र रूप और दादू को चन्द्र रूप व्यक्त कर चौथी लाइन में "हरिदासजी" का हरि नाम से उल्लेख है जैसा कि "वरन निरंजन मनो त्रिषा हरि जीव संतोषे" से स्पष्ट है। हरि से यहाँ अभिप्रेत हरिदासजी हैं न कि हरि का अर्थ यहाँ हरना–दूर करना है। यदि हरना–दूर करना अर्थ मानते हैं तो फिर आगे जो "ये चार महन्त चहुं चकवै" की सङ्कलना कैसे ठीक बैठेगी? क्योंकि नानक, कबीर, दादू ये तो तीन ही हुए। चौथी लाइन का अर्थ यह कर लेते हैं कि इन तीनों ने निरंजन का निरूपण कर सन्ताप रूपी तृषा से पीड़ित प्राणियों की तृषा की निवृत्ति की, तो चौथा फिर कौन आयेगा? अतः यहाँ चतुर्थ लाइन में हरि शब्द का प्रयोग हरिदासजी के लिए ही व्यवहृत है। कारण, उन्होंने प्रमुखतया निरंजन का निरूपण ही अपनी वाणी में विशेष किया है। मेरी समझ से छप्पय की चतुर्थ लाइन का यही अर्थ है—हरिदासजी ने संसार के विविध भोग-पदार्थों की तृषा से पीड़ित मनुष्यों को निरंजन के विवेचन द्वारा संतोषे–सुखी किये। तभी "ये चार महन्त चहुं चक्कवै" की

सार्थकता होती है। इसी छप्पय की अन्तिम पंक्ति में "नानक कबीर दादू जगन राघो परमातम जपे" लिखा है। यहाँ चौथे हरिदासजी होने चाहिए थे, पर नाम जगन का आया है। आगे जहाँ राघोदासजी ने द्वादश महन्तों का निरूपण किया है, वहाँ किसी जगन का वर्णन नहीं है। अतः यहाँ जगन पद में या तो लेखक की भूल से दिया गया है या अन्य कोई भूल हुई है। मेरी समझ से जगन की जगह "जु हरि" ऐसा शब्द होना चाहिए था। जिससे पीछे की तथा आगे के वर्णन की सङ्गति बैठती है। राघोदासजी ने द्वादश महन्तों के निरूपण में हरिदासजी के लिए ही निरंजनी विशेषण का प्रयोग किया है, जिससे निरंजनी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक रूप में हरिदासजी को माना जाय। मैंने भूमिका के परिचय खण्ड में इस पर पर्याप्त विचार किया है, अतः उसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है। निरंजनी सम्प्रदाय में आरती के साथ धमाल तथा गुदड़ी के गाने की पद्धति चिरकाल से प्रचलित है। गुदड़ी एक लावणी भजन है, जिसके रचयिता भाऊदासजी नाम के निरंजनी महात्मा हुए हैं, इनके कुछ अन्य भजन भी हैं। यह गुदड़ी भजन हरिदासजी महाराज की गुदड़ी को लक्ष्य कर रचा गया है। इसका प्रारम्भ है—

श्री हरिपुरुष महाराजा गुदड़ी तुम्हारी पातक जारणी ॥
सतगुरु चरण रंज मैं धारूँ, गुरु गोरष का ज्ञान विचारूँ।
तीखे शिखर ध्यान हरि धार्‌या, भर्म कर्म सब दूर निवार्‌या ॥
कठिन साँकड़ा मौतज फन्दा, हरिदास जन हरि का बन्दा।
एक पलक में सब तज दीन्हा, काम क्रोध ममता मारणी ॥१॥

इस पद में उपर्युक्त रूप की आठ कड़ियाँ हैं। सातवीं कड़ी में उन द्वादश महात्माओं का उल्लेख किया गया है—

कानड़ मोहन षेम हजूरी, आनदास पूर्ण मत पूरी।
श्याम साँकड़े ध्यान लगाया, जगजीवन तुरसी तत्त पाया ॥
नाथ ध्यानजी है अवधूता, जगन्नाथ केवल पद पहुँता।
जिनकी पदरज जो कोई ध्यावे, जन्म जन्म अघ हारणी ॥७॥

× × ×

नरीदासजी नरहरि दूजा, दास नारायण पीपा सूँगा।
परशुराम शारंग मत वाला, धन्य मनोहर पोकर काला ॥
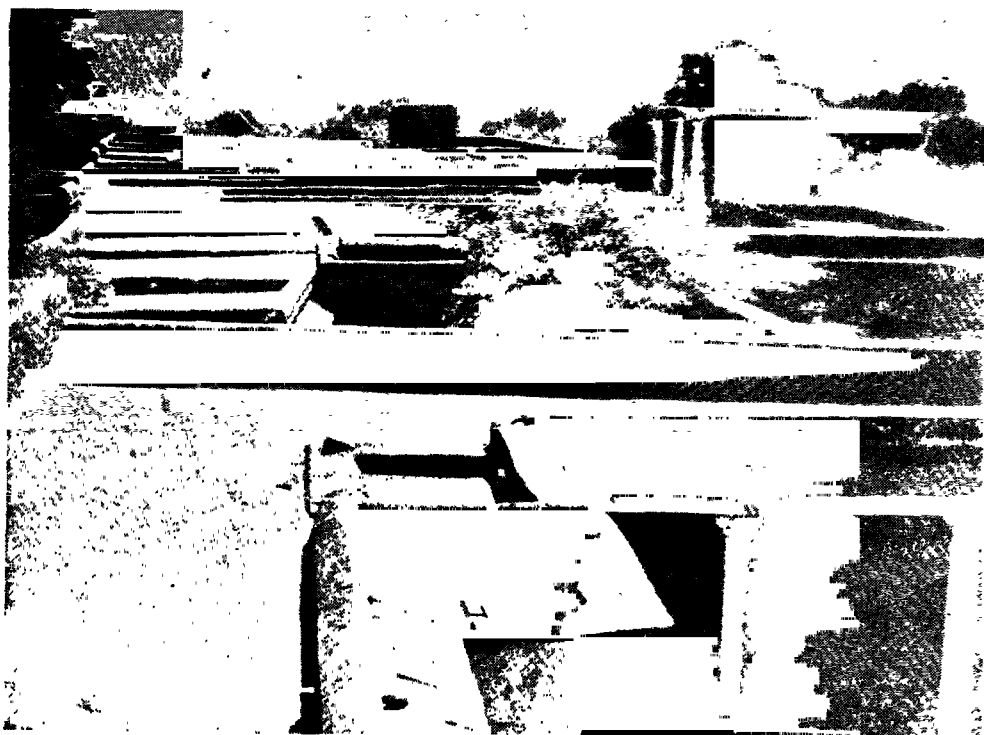
विरक्तवाड़ा
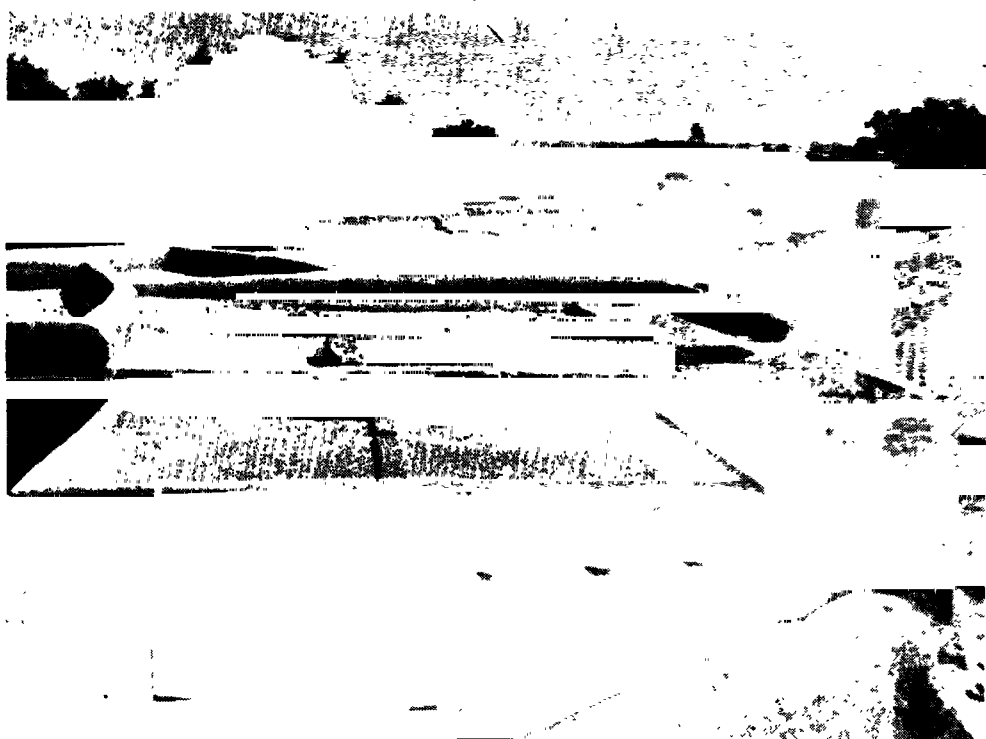
अमरपुरुष जी महाराज की समाधि के पूर्व की फोटो (मकानों की)
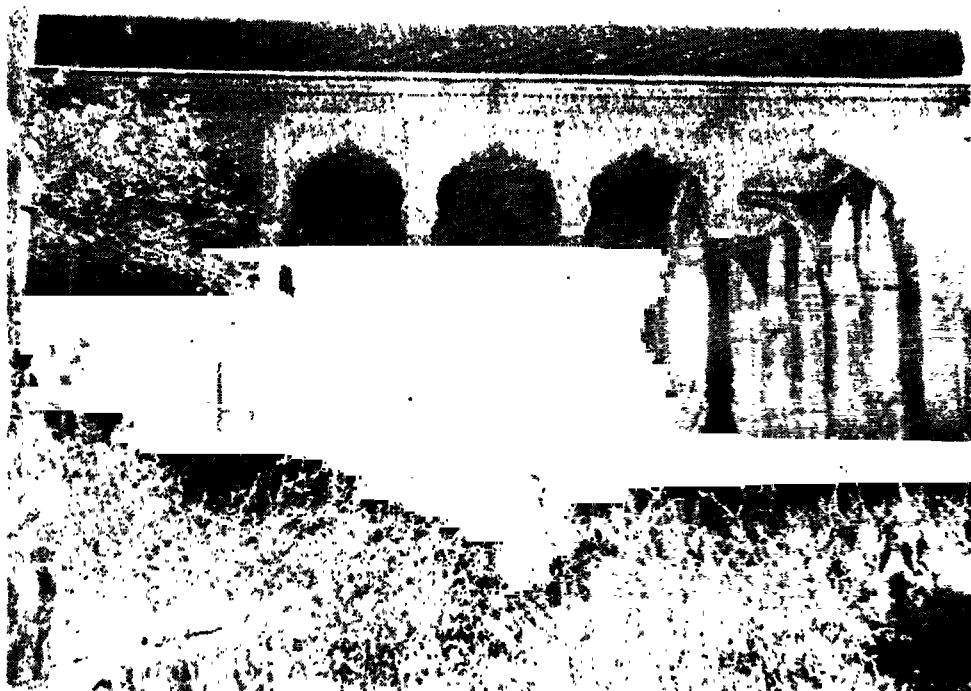
श्री सेवादासजी महाराज की समाधि
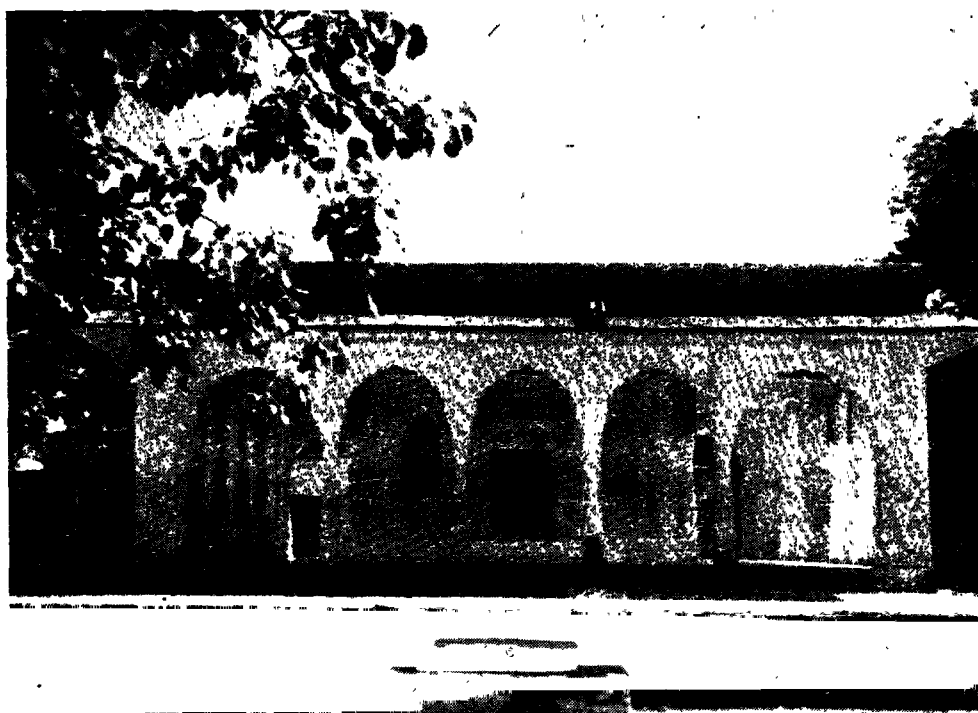
श्री अमरपुरुषजी महाराज की समाधि, डीडवाना

महरवान मन की गति जानी , बावन शिष्य भये परवाणी ।
जन भाऊदास कै शीश विराजै, ऐसा यह सन्त निरंजणी ॥८॥

उक्त दो पद्यों में हरिदासजी महाराज के बावन शिष्यों में से कुछ प्रमुख शिष्यों के नाम दिये गए हैं। द्वादश निरंजनी सन्तों में हरिदासजी से शेप एकादश का पहिले उल्लेख किया है, पश्चात् औरों का। इससे प्रतीत होता है कि ये-तुरसी आदि एकादश महात्मा भी हरिदासजी में गुरुभाव रखते थे, चाहे वे उनके ही शिष्य हों या साथी। दूसरी परम्परा गाढे में जहाँ हरिदासजी महाराज की समाधि है, उसके चारों ओर पहिले इन सब सन्तों की बारह सालें यानी तिबारे बने थे। इसका सार यह है कि सबका यहाँ गाढे में ही निवास था और इनके उत्तराधिकारी भी सब डीडवाणे से ही सम्बन्ध रखते हैं। खेमजी, नाथजी, मोहनदासजी व पूर्णदासजी हरिदासजी के ही शिष्य थे। खेमजी ने तो "वैराग्य लच्छी ग्रन्थ" के अन्त में स्वयं लिखा है—

"गुरु मेरे हरिदास , कियो जिन ब्रह्म प्रकाश"

नाथजी भी शिष्य थे। परम्परा से व गुरुमान्यता तथा व्यावहारिक-अब तक के सम्बन्ध से अन्यों के लिए यह तो कहा ही जा सकता है कि वे हरिदासजी महाराज में गुरुभाव रखने वाले थे। भाऊदासजी ने गुदड़ी की रचना की, उस समय सम्प्रदाय में प्रचलित विचारधारा से एकादश निरंजनी महात्मा हरिदासजी के अनुगामी थे तथा बावन शिष्यों में अग्रणी थे। खेमजी, नाथजी, मोहनदासजी, पूर्णदासजी, जग-जीवनजी आदि का शिष्यत्व सिद्ध है। अतः जब तक अन्य कोई विरोधी प्रमाण सामने न आए, तब तक इन एकादश महात्माओं के लिए यही निश्चय रखना सङ्गत है कि ये हरिदासजी के शिष्य तथा अनुगामी थे।

८. शिष्य-प्रशिष्य—

हरिदासजी के जीवनकाल में अनेकों उनके शिष्य हो गए थे। उनके सब शिष्य तथा शिष्यों के शिष्य कितने थे? इसकी वास्तविक संख्या का कोई आधार नहीं है। परम्परा-प्रचलित उनके बावन प्रमुख शिष्य माने गए हैं, जिनकी परम्पराएँ पर्याप्त समय तक चलती रही हैं। बावन शिष्यों की प्रधानता का एक और कारण भी माना जा सकता है—संन्यासियों के पश्चात् चार वैष्णव सम्प्रदायों का आविर्भाव है। वैष्णवों में बावन द्वारा माने जाते हैं। मेरे विचार से इन बावन द्वारों का अनुकरण वैष्णव सम्प्रदाय से पीछे बनने वाले सम्प्रदायों ने बावन शिष्यों के रूप में किया है। प्रायः ही कई सम्प्रदायों में सम्प्रदायाचार्यों के पश्चात् उनके बावन शिष्य होने की परम्परा प्रचलित है। दादूजी के भी बावन शिष्य प्रमुख गिनाये गए हैं।

महाराज हरिदासजी के हो सकता है बावन से भी अधिक शिष्य हों, पर परम्परागत व्यवहार में बावन का ही प्राधान्य है और इन बावन की 'थांभा' संज्ञा की गई थी। जैसा ऊपर द्वादश निरंजनी महन्तों के विवरण-प्रसङ्ग में भाऊदासजी की "गुदड़ी" के दो चरणों में इक्कीस नामों का उल्लेख कर आगे "बावन शिष्य भये परवाणी" कह कर शेष इकतीस के नाम "गुदड़ी" में व्यक्त नहीं किये गए हैं। पुराने साधुओं की परम्परा से सुने-लिखे नाम हैं, उन्हीं की मान्यता सङ्गत है। वैसे निरञ्जनी सम्प्रदाय का एक वही भाट भी है जिसकी बही में भी बावन शिष्यों के नाम लिखे हैं। हम यहाँ दोनों ही सूचियाँ दे रहे हैं। सम्भव है-अनेकों नाम दोनों सूचियों में हों व कुछ नामों में विभिन्नता हो।

साधुपरम्परा के आधार की सूची—

१–खेमदासजी बड़ा, २–महरबानजी, ३–ऊधोदासजी, ४–टीकूदासजी, ५–गोविन्ददासजी, ६–सुन्दरदासजी, ७–चरणदासजी, ८–सारंगदासजी नागौरी, ९–कल्याणदासजी, १०–नरहरिदासजी तपस्वी, ११–दयालदासजी वैद्य, १२–रामदासजी पीपावंशी, १३–नारायणदासजी खीची, १४–दयालदासजी काबरा, १५–भगवानदासजी, १६–नारायणदासजी नारनौली, १७–केवलदासजी, १८–अमरदासजी, १९–मोहनदासजी बड़ा, २०–रामदासजी निराकारी, २१–नरीदासजी, २२–भगवानदासजी मथरिया, २३–नारायणदासजी काबरा, २४–ठाकुरदासजी मेड़ीवाला, २५–भगवानदासजी चेल्यो, २६–गोपालदासजी गोकली, २७–श्दामदासजी वलीवाला, २८–खेम हजूरी, २९–खेमदासजी खाटरा, ३०–जगन्नाथदासजी काबरा, ३१–कल्याणदासजी लाम्बे, ३२–वोहिथदासजी, ३३–राघोदासजी पीपावंशी, ३४–राघोदासजी अवधूत, ३५–रामदासजी इवाणी, ३६–दयालदासजी विजैवर्गी, ३७–पूर्णदासजी डोकरा, ३८–परमानन्दजी डोकरा, ३९–नरहरिदासजी नामावंशी, ४०–ध्यानदासजी, ४१–मनोहरदासजी, ४२–पेखादासजी, ४३–ध्यानदासजी दूसरा, ४४–रामदासजी लोहाटी, ४५–ध्यानदासजी विजैवर्गी, ४६–दयालदासजी पीपावंशी, ४७–नारायणदासजी मेवाड़ा, ४८–बलरामदासजी झँवर, ४९–मोहनदासजी ज्ञानी, ५०–मथुरादासजी पूर्विया, ५१–गोपालदासजी हरड़ और ५२–गोपालदासजी घनावंशी।

सन्त-परम्परा से उपर्युक्त बावन शिष्यों की नामावली है। महाराज के कुछ और शिष्यों के नाम भी सन्त-परम्परा से प्राप्त हैं, वे इस रूप में हैं—१–केसोदासजी रीरीवाला, २–बालकदासजी (नाथजी), ३–खेमदासजी तोषणीवाल, ४–विष्णुदासजी, ५–तुरसीदासजी चूलीका, ६–दास सूँघाजी, ७–दास पीपाजी, ८–जोगीदासजी, ९–ईसरदासजी नरीयवंशी, १०–वेणीदासजी ठाडेश्वरी, ११–दयालदासजी कावरा, १२–श्यामदासजी, १३–श्यामदासजी धाकर, १४–परसदासजी, १५–दयालदासजी नरसरावत, १६–राघोदासजी संन्यासी, १७–महरदासजी काबरा, १८–महर-

दासजी पीपावंशी, १९-श्यामदासजी काबरा, २०-सुखरामदासजी विजैवर्गी, २१-जयमलरामजी, २२-माधोदासजी अग्रवाल, २३-विष्णुदासजी सोढाणी, २४-नाथी बाई मालपाणी और २५-रामा बाई नागौरवाली ।

ब्रह्मभाट की बही के आधार की सूची—

१-खेमदासजी बड़ा, स्थान--काला डेहरा । २-३-रामदासजी, महरवानजी, ग्राम-चौमू । ४-ऊधोदासजी, खानपुर । ५-भगवानदासजी, लाडनूँ । ६-सारंगदासजी, नागौर । ७-८-चत्रदासजी, मनोहरदासजी, ग्राम-साँभर । ९-नारायणदासजी खीची, जोधपुर । १०-११-१२-महरुमदासजी, गोविन्ददासजी, विष्णुदासजी, ग्राम-भावरी । १३-नारायणदासजी, ग्राम-नारनौल । १४-नरहरीदासजी, ग्राम-नारेली । १५-१६-केवलदासजी, श्यामदासजी, पचेवर । १७-नरीदासजी, फतेहपुर (शेखावाटी) । १८-राघोदासजी, झुंझुनूँ । १९-२०-२१-दयालदासजी, रामदासजी, खेमदासजी, देवगाँव । २२-२३-२४-छोटे खेमजी, भगवानदासजी, मथुरादासजी, ग्राम-आसोप । २५-२६-सूरदासजी, वनमालीदासजी ग्राम--नीमेड । २७--नारायणदासजी ग्राम-वामण । २८--बालकदासजी (नाथजी) डीडवाणे । २९-३०--पहलाददासजी, टीकूदासजी, ग्राम--चूला । ३१-३२--नारायणदासजी काबरा, रामदासजी निराकारी, स्थान--ढढेरू । ३३-३४-३५-३६-३७--टीकू, घीसा, केसोदासजी, काला, चरणदासजी, ग्राम--ढढेरू । ३८--कल्याणदासजी । ३९--पिंडदासजी । ४०--रूपदासजी । ४१--मोहनदासजी । ४२--दास पीपाजी । ४३--दास सूँघाजी । ४४--पाड़ा देवी । ४५--रघुनाथदासजी । ४६--दामोदरदासजी । ४७--सुन्दरदासजी । ४८--टीकूदासजी । ४९--गोविन्ददासजी । ५०--परमानन्दजी । ५१--गाढाजी वियाणी ।

उपर्युक्त दोनों सूचियों में आठ-दस नामों का अन्तर है, शेष नामों में साम्य है । अतः दोनों ही सूचियों की उपादेयता है, ऐसा स्वीकार करना संगत है । भाऊदासजी ने अपने गुदड़ी भजन में जिन इक्कीस नामों का उल्लेख किया है । वे इन दोनों सूचियों में आ गए हैं ।

यह अनुमान करना अनुचित नहीं है कि महाराज हरिदासजी के बावन शिष्यों में अनेकों ऐसे थे कि जिनके अनेकों शिष्य बन गए थे । उनके नामों का पता लगने का कोई साधन नहीं है । उक्त शिष्य नामावली की परम्परा में आज भी सैकड़ों स्थान विद्यमान हैं जिनमें उनकी परम्परा प्रचलित है । जैसे हरिदासजी महाराज के शिष्य बड़े खेमजी उनकी परम्परा में इस समय भी सैकड़ों स्थान तथा कई सौ सन्त मौजूद हैं । खेमजी महाराज की सातवीं पीढ़ी में महान् सिद्ध महात्मा अमरपुरुषजी महाराज हुए हैं । उनके छियानवे शिष्य थे और सब ही सिद्ध-कोटि के महात्मा हुए । गाढे में जो विरक्तवाड़ा संज्ञा से स्थान-विशेष है, वह सब अमरपुरुषजी महाराज के शिष्यों की

परम्परा मे सम्बन्धित हैं। इनकी नामावली को किसी ज्ञानराय नामक चारण ने पद्यों में निरूपित किया है वह इस रूप में है—

चौपाई—विरकत साध सन्त है भारी, ज्ञान के पूरण अधिकारी।
तासु सिष है अति ब्रह्मचारी, अमरदास निरंजनी अवतारी॥
बड़ो सिष षेमजी है नाम, केवल एक राम सूँ काम।
दास प्रहलाद पूरण सन्त, बीच के जुग में केवल मन्त॥
दास मंगल है साध सवाई, आषण कियो जोधपुर माँई।
कंठी बांध र पाट बैठायो, नारायणदास तिलक निज पायो॥
नरहरदास पूरण साध, खाटू बैठा मतै अगाध।
जीवणदास विहारीदास, कोड़ी एक न राषै पास॥
दामोदरदास देवीदास, की जिन सभी कल्पना नास।
रतनदास रु कृपाराम, हरि बिन और न कोई काम॥
रूपदास सन्त है भारी, अनभै वाणी विसतारी।
हरजीदास दास भगवान, सन्त जन राखै उनका मान॥
मोहनदास नाम दो सिष, माधोदासजी पूरण रिष।
देईदास निरंजनराम, रतनदास अरु शिवराम॥
टीकमदास अरु बुधदास, राम भजत है श्वासोश्वास।
पूरणदास जू जगराम, निहचै भजे हरि को नाम॥
परमानन्द साध दो भारी, निसदिन हरि की कथा उचारी।
वेणीदास मनोहरदास, विचरै जग में रहे उदास॥
मनोहरदास केवलदास, थिर मन रहे बारह मास।
तुलसीदास अरु केसो, पन्थ गहि साध कै तैसो॥
सुखरामदास दास जैराम, निरभै भजै प्रभु को नाम।
राघोदास दास मुनिलाल, रातें रहें हरि के ष्याल॥
रामजीदास दास मलूक, बासी खाय माँग र टूक।
कोमलदास मुकुन्ददास, सुन्दर रहै जगत उदास॥

ाति या समाधि स्थान

कोलिया बगीची

रामकिसनजी महाराज

मोतीरामजू सूरतराम , निसदिन एक हरि सूँ काम ।
रामजीदास दासआनन्द , देवादास कोई न फन्द ॥
किरपादास अगरधर भेष , जग में विचरै राषै टेक ।
मगनीराम है केसोदास , वे नहिं पड़े जम की पास ॥
शीतलदास अगमदास , वे नहिं पड़े जम की पास ।
सदाराम दास है लिषमी , भजन सूँ काटी वार विषमी ॥
हेमदास है गरीबदास , राम भजै सब बात उदास ।
रामजनदास दास है भूधर , विचरे धरा मुलक इहिं मुरधर ॥
कुशलदास अरु लाल ही दास, जुगलदास जग रहै उदास ।
लछीराम पुनि सहज ही राम, निहचलदास सरै सब काम ॥
षेमदास पुनि तिलोकदास , मेटी उनने जम की त्रास ।
हरवंशदास चरण निज दास, राम रटत है बारह मास ॥
दयाराम अरु दास जयराम , दरसणदास जपै निज नाम ।
निर्मलदास दास भगवान , थिर ये रहे न एकै स्थान ॥
मेघदास है हिरदै राम , भजन करत है आठों याम ।
भक्तराम है जगन्नाथ , दास गोपाल है जिनके साथ ॥
विशनदास है उदयराम , राम भजै कर गुरु के काम ।
बलरामदास है अतीतराम , आँख मूँद भजै हरि नाम ॥
मयाराम है संगदास , राम भजै वन करै वास ।
हरभक्तराम पुनि दीपदास , राम रटैं ये एक श्वास ॥
चरणदास दास है केसो , काहू सूँ नहिं राषै लेसो ।
कानड़दास दास है साजन , ता कै गुरु को माने राजन ॥
सहजराम अरु कृपाराम , भगवत भजन और नहिं काम ।
कृपादास है चैनराम , वन वास करै फिर रटेराम ॥

दोहा— वाई वीजाँ वामणी , छोटो खाटू वास ॥
राम भजन सूँ कामहै , जग सूँ रहे उदा ।

हरिदास के पंथ में, अमरदास है सिष ॥
छिनवें मूरत साध हैं, विरकत पूरे रिष ॥२॥

चौपाई—अमरदास के शिष्य सुप्यारे, वन में रहें जगत सूँ न्यारे ।
ज्ञानराय निज करे डंडोत, सब सन्तन कूँ पावाँधोक ॥

दोहा— ज्ञानराय के वंश में, जनम्यो है दानूँ राय ।
दोनों कर जोड़े वीनती, सन्तों के चरणाय ॥२८॥

उक्त विवरण अमरपुरुषजी महाराज के शिष्यों का है । अमरपुरुषजी महाराज का काल सत्रह सौ पिचहत्तर से अठारह सौ बयालीस तक का है । अमरपुरुषजी का जन्म सत्रह सौ पचपन, वैराग्य-धारण सत्रह सौ पिचहत्तर, स्वर्गारोहण अठारह सौ बयालीस, कार्तिक बदी चौदस । यह एक खेमजी की परम्परा का दिग्दर्शन है । नाथजी, शारंगदासजी, महरवानजी, नारायणदासजी आदि हरिदासजी के अन्य शिष्य-प्रशिष्यों का बहुविस्तार है, अतः उसका निरूपण शक्य नहीं है । आगे हम परिशिष्ट में कुछ तालिकाएँ देंगे, जिससे इस पर विशेष प्रकाश पड़ेगा । हरिरामदासजी महाराज सींथल रामस्नेही सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक के पोताशिष्य महाराज दयालदासजी ने भी अपनी भक्तमाल में हरिदासजी महाराज के बावन शिष्यों के नामोल्लेख किये हैं । यह नाम परम्पराप्राप्त नामावली व ब्रह्मभाट की बही की नामावली से अधिकांश मिलते हैं, अतः उनका उल्लेख भी यहाँ नहीं किया गया है ।

६. सम्प्रदाय का प्राक्मध्य उत्तररूप—

किसी भी महात्मा का सम्प्रदाय चलाने का लक्ष्य नहीं हुआ करता । वे तो व्यक्तिशः ही जन-कल्याण के लिए निःस्वार्थ भाव से प्रयास करते हैं । अपनी अनुभूति तथा धार्मिक लक्ष्यों की वास्तविकता को बताकर जन-समुदाय की भ्रान्त धारणाओं का निराकरण ही उनका एकमात्र ध्येय रहता है । ऊँचे आदर्श वाले महान् पुरुषों के पुनीत आचरण तथा निर्मल विचारधारा से आकर्षित सैंकड़ों-सहस्रों व्यक्ति उनके सानिध्य में आते हैं उनमें से अनेकों मायिक-पदार्थों का मोह त्याग आत्मकल्याण के लिए उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लेते हैं । धीरे-धीरे इन्हीं शिष्यों की परम्परा एक सम्प्रदाय व एक पन्थ का रूप ग्रहण कर लेती है ।

महाराज हरिदासजी का निरञ्जनी पन्थ या सम्प्रदाय इसी तरह बना । आरम्भ में इसमें वे ही साधक सम्मिलित हुए, जो हरिदासजी की कथनी-करणी से प्रभावित हुए । यह इस पन्थ का प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है । इस प्राक्रूप के समय में जितने भी महाराज के शिष्य-प्रशिष्य हुए, वे अपने-अपने घर-कुटुम्ब व धन-

सम्पत्ति का त्याग कर परम वीतराग-भावना से ओतप्रोत थे। अतः ये सभी सिद्ध-पुरुष तथा "निर्मानमोहा जितसंगदोषाः" थे। न इनको घर की आवश्यकता थी—क्योंकि घर तो ये स्वकीय छोड़-छोड़कर आए थे। न इनको धन की, कुटुम्ब की, पद की, मान की चाह थी। ये थे त्याग-वैराग्य की मस्ती वाले फकीर। आत्मचिन्तन ही इनका लक्ष्य था—त्याग ही इनका भूषण था। न इनमें किसी तरह की बनावट थी, न था दम्भ-कपट। एक गुदड़ी तथा एक पात्र—यही इनकी साज-सज्जा थी। हरिदासजी महाराज का अवसानकाल सम्वत् पन्द्रह सौ पिचानवे या सोलह सौ सूचित है। एक शताब्दी तक सम्प्रदाय का यही रूप चला। इसका अनुमान इससे किया जा सकता है कि निरञ्जनी सम्प्रदाय के स्थानों में शायद ही कोई स्थान हो जो सत्रहवीं शताब्दी का बना हुआ हो। सबसे पुराने स्थान डीडवाणे में होने चाहिए। महाराज हरिदासजी की समाधि तथा प्रमुख एकादश महात्माओं की शालाएँ-ये सब सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में या अठारहवीं के आरम्भ में बनी हुई होनी चाहिए। अठारहवीं शताब्दी के तो अनेकों स्थान उपलब्ध हैं। अतः इस स्थान बनने की प्रवृत्ति से यही अनुमान होता है कि जब तक सम्प्रदाय में-परम त्यागी, अत्यन्त वैराग्यवान् महात्मा रहे, तब तक प्रवृत्ति का कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हुआ। अतः हरिदासजी महाराज के ब्रह्मलीन होने के पश्चात् की एक शताब्दी तक का काल प्राक्काल के रूप में माना जा सकता है, जिसमें न स्थानों का निर्माण था, न ही अन्य किसी प्रकार के संग्रह की प्रवृत्ति को स्थान था। यह इस सम्प्रदाय का श्रेष्ठ से श्रेष्ठ काल कहा जा सकता है, जिसमें सभी महात्मा परम त्याग-वैराग्य से सम्पन्न थे।

मध्यकाल—सम्वत् १७०१ से १८७५—

अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी के तीन चरण निरञ्जनी सम्प्रदाय का मध्यकाल माना जा सकता है। इसी काल में इस सम्प्रदाय का पर्याप्त विस्तार हुआ। इसी काल में बहुत से आध्यात्मिक-साहित्य के संरक्षण तथा निर्माण का कार्य भी हुआ। महाराज के समसामयिक तुरसीदासजी, मोहनदासजी, जगजीवनजी, खेमजी, ध्यानदासजी की रचनाएँ उपलब्ध हैं। महाराज हरिदासजी की वाणी की तरह ही मोहनदासजी व तुरसीदासजी की वाणियाँ हैं। तुरसीदासजी की वाणी हरिदासजी महाराज की वाणी से शायद दुगुनी बड़ी है। मोहनदासजी की वाणी हरिदासजी की वाणी से छोटी है। जगजीवनजी की रचना अभी पूरी प्राप्त नहीं है। जितना अंश प्राप्त हो रहा है, उससे यह अनुमान तो अवश्य होता है कि इनकी रचना पर्याप्त होनी चाहिए। खेमजी की रचना बहुत थोड़ी प्राप्त है। ध्यानदासजी की रचना भी जो उपलब्ध है, वह खेमदासजी की रचना से कुछ अधिक है। कल्याणदासजी की रचना पर्याप्त है। मतलब—महाराज हरिदासजी के समसामयिक व शिष्यगणों में अधिकतः साधक व आत्मजयी महात्मा थे। उनमें से कुछ ने अपनी अनुभूति को अपनी रचनाओं द्वारा भी व्यक्त किया था।

महाराज हरिदासजी के ब्रह्मलीन होने के पश्चात् उनके सहयोगी तथा शिष्यों में से कोई उनका उत्तराधिकारी हुआ या आचार्य-परम्परा प्रचलित हुई—ऐसा कोई प्रामाणिक आधार सामने नहीं है। क्योंकि महाराज के साथियों व शिष्यों में भी कोई इस तरह की भावना थी नहीं कि कोई महाराज हरिदासजी के स्थान पर आचार्य या महन्त बने। अल्पांश में कोई किसी का नाम इङ्गित करता है तो उसका कोई प्रमाण नहीं। वैसे व्यवहार में स्पष्ट है कि पूरे निरञ्जनी सम्प्रदाय का कोई महन्त नहीं है।

जैसा ऊपर व्यक्त किया गया है कि महाराज हरिदासजी के शिष्य बड़े खेमजी का परिवार इस सम्प्रदाय में सबसे अधिक विस्तृत हुआ। उनकी सातवीं पीढ़ी में सेवादासजी महाराज के शिष्यों में अमरपुरुषजी महाराज अत्यन्त तेजस्वी व महात्मा तथा परम प्रभावशाली व्यक्ति हुए। उनके शिष्यों-प्रशिष्यों की संख्या कई सैंकड़ों में थी। उनके शिष्यों में भी अनेकों महात्मा ऐसे हुए, जिनके शिष्य-प्रशिष्यों का बड़ा परिवार बन गया। डीडवाणे में विरक्त बाड़ा इसका प्रबल प्रमाण है। उक्त बाड़ा अमरपुरुषजी महाराज के शिष्य-प्रशिष्यों का ही स्थान है। मैंने स्वयं इस बाड़े में सम्वत् १९६० के समय करीब पाँच-छः सौ साधुओं को देखा है। अमरपुरुषजी महाराज की इस परिवार-वृद्धि में बाड़े के महन्तों की परम्परा प्रारम्भ हुई। संख्या-बल व स्थान-बाहुल्य के कारण ये बाड़े के महन्त ही आगे चलकर सब निरञ्जनी-सन्तों में महन्त के रूप में मान्यता पाने लगे।

खेमजी महाराज की तरह ही नाथजी महाराज की परम्परा में भी साधुओं का बाहुल्य रहा और भी महाराज के शिष्य-प्रशिष्यों में पर्याप्त वृद्धि के कारण इस मध्यकाल में सम्प्रदाय का स्वरूप पर्याप्त विवर्द्धित हुआ तथा उसका विस्तार भी काफी हुआ। राजस्थान में प्रायः सभी रियासतों में निरञ्जनी सन्तों के स्थानों की स्थापना हुई। कुछ स्थान राजस्थान से बाहर भी स्थापित हुए, पर अधिक वृद्धि राजस्थान में, राजस्थान में भी जोधपुर-मारवाड़ का स्थान सबसे आगे है। मारवाड़ का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं था कि जहाँ इस सम्प्रदाय के साधुओं का स्थान स्थापित न हुआ हो। वृद्धि और ह्रास कालज स्वभाव है।

जिस तरह सोलहवीं शताब्दी से इस सम्प्रदाय का आरम्भ हो धीरे-धीरे अभिवृद्धि हुई, वह अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी में पराकाष्ठा पर पहुँची। जब अधिक विस्तार हुआ, अधिक स्थान बने। अधिक प्रचार हुआ तो फिर जन-सम्पर्क की अधिकता से समाज में कई तरह की कमजोरियों ने अपना स्थान बनाना आरम्भ किया। त्याग-वैराग्य में न्यूनता आने लगी, जागतिक-भावनाओं का प्राबल्य हुआ, पूजा-प्रतिष्ठा ने अहङ्कार की अभिवृद्धि की और आध्यात्मिक-जीवन के स्थान पर लौकिक-

भावनाप्रधान जीवन ने धीरे-धीरे प्रवेश प्रारम्भ किया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के पश्चात् वृद्धि का रूप रुका तथा ह्रास का श्रीगणेश हुआ।

उत्तरकाल—१८७५ से अब तक—२०१८ तक—

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में वृद्धि का प्राबल्य रुका, पर उस समय भी सैंकड़ों महात्मा इस रूप में थे कि जिनके कारण सम्प्रदाय के महत्व में अधिक कमी नहीं आई। बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध तो अधिक ह्रास वाला नहीं कहा जा सकता। संख्या में साधुता में पूर्वापेक्षा न्यूनता का श्रीगणेश हुआ, वह धीरे-धीरे पनप रहा था। बीसवीं शताब्दी का उतरार्द्ध एक तरह से इस सम्प्रदाय का ह्रासकाल कहा जा सकता है। डीडवाणे के मेले पर जहाँ अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी में साधु कई सहस्रों की संख्या में उपस्थित होते थे, वह संख्या प्रबल वेग से न्यून हो रही थी। बीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में यह संख्या घटते-घटते एक सहस्र के आसपास ही आ गई।

इस कमी के कई कारण माने जा सकते हैं। मुख्य कारण तो यही था कि धीरे-धीरे प्रशस्त साधुओं की कमी होती जा रही थी। जैसे त्यागी-वैरागी व भजनीक महात्मा पिछले काल में अधिक संख्या में सम्प्रदाय में थे, अब वैसे महात्माओं की संख्या अत्यल्प हो गई थी। दूसरा हेतु, बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्लेग, इनफ्लुएञ्जा आदि महामारियों का प्रकोप। इससे सैकड़ों ही साधुओं की सहसा न्यूनता हो गई। तीसरा, विचारधारा का परिवर्त्तन—लोगों में नवीन विचारसरणी के संस्कार प्रवेश कर रहे थे। सामाजिक नेताओं का तथा राजनैतिक नेताओं का रुख साधुवर्ग के सर्वथा विपरीत था। वे जनसमुदाय के समक्ष बिना किसी सम्यक् जानकारी के विविध प्रकार के आक्षेपों का आरोप करते रहते थे। साधुवर्ग का जनसमाज में महत्व होने के कारण अनेकों जातियों ने नकली साधु बन जनता को ठगने का सिलसिला जारी कर दिया। चोर, उचक्के, खूनी व्यक्ति अपने अपराध को छिपाने के लिए साधु का वेष बना पुलिस को धोखा देने लगे। इस तरह विविध प्रकार के कारण मिलकर न केवल निरञ्जनी सम्प्रदाय का ही; अपितु अशेष साधुवर्ग का ह्रास करने लगे। जिन साधु-समाजों में संख्या लाखों तक थी, उनका ह्रास होते हुए भी वह वैसा प्रतीत नहीं हो सकता था, जैसे संन्यासी वैष्णव सन्त-समाज। जिनकी संख्या सहस्रों तक ही थी, उनका ह्रास अत्यधिक प्रतीत होने लगा। वह क्रम अब भी जारी है। अब साधु बनने की प्रवृत्ति तो बहुत ही न्यून है, जो बने हुए हैं उनका ह्रास दिन-दिन होना अवश्यम्भावी है।

जब निरञ्जनी सम्प्रदाय अपनी वृद्धि तथा महत्व में अच्छी स्थिति में था, तब इसका व्यावहारिक सौकर्य के विचार से सात मण्डलों में विभाजन किया गया था।

उनकी संज्ञाएँ निम्न थीं—१-डीडवाणा मण्डल, २-शेखावाटी मण्डल दो, ३-मेड़ता मण्डल, ४-बीकानेर मण्डल, ५-नागौर मण्डल और ६-जोधपुर मण्डल। आज भी ये मण्डल तो उसी रूप में हैं पर अब इन मण्डलों के साधुओं की संख्या जहाँ सहस्रों थी, वहाँ सैंकड़ों और जहाँ सैंकड़ों थी वहाँ अब कुछ इकाइयों में रह गई है। इस तरह आरम्भ, मध्य तथा उत्तरकाल का रूप हमारे सामने है। सम्भव है जो स्थिति आज है, तदनुसार इक्कीसवी शताब्दी के अन्त तक निरञ्जनी सम्प्रदाय का अस्तित्व नगण्य सा ही रहेगा—ऐसा अनुमान करना असङ्गत नहीं है।

१०. निरञ्जनी सन्तों की हिन्दी साहित्य को देन—

हिन्दी साहित्य के इतिहास का अवलोकन करने वाले सज्जनों से यह छिपा नहीं है कि हिन्दी की प्रारम्भिक रचनाएँ प्राकृत के अपभ्रंश भाषावर्ग में प्रारम्भ हुई थीं। मेरा जहाँ तक ध्यान है–महात्माओं द्वारा भाषा में अपने विचारों को व्यक्त करने का आरम्भ नाथ-सम्प्रदाय से आरम्भ हुआ है। राजस्थान में अभी तक प्राचीन साहित्य के अन्वेषण का कार्य जिस तत्परता से होना आवश्यक है, उस तरह से होना आरम्भ नहीं हुआ है। सन्त-साहित्य की ओर तो और भी कम से कम ध्यान दिया जाता है। इस स्थिति का सामान्य दिग्दर्शन मैं भूमिका के पूर्व खण्ड में कर आया हूँ।

राजस्थान में सोलहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक के काल में कई साधु-सम्प्रदायों का जन्म हुआ है। निर्गुण भक्ति-उपासना का आरम्भ जब से हुआ, तब से नाथों, योगियों तथा कबीर, नानक, हरिदास, दादू, हरिरामदास, रामचरण, दरियाव, रामदास आदि महात्माओं ने इस धारा को अपने-अपने अनुभव रूपी स्नेह-सलिल से सिंचित कर इसका राजस्थान में पर्याप्त पोषण किया। निर्गुण भक्ति में मन्दिर, छुआछूत, शैव, वैष्णव, शाक्त, तान्त्रिक आदि के आपसी विवाद को कोई स्थान नहीं है। उस परब्रह्म परमेश्वर को जिस किसी नाम से चिन्तन करना मात्र इस भक्ति का ध्येय रहता है। जिस समाज में उपासना की एक-रसता नहीं रहती, वह समाज एक रूप से संगठित नहीं रहता—जब समाज का सगठित एक रूप नहीं रहता तो वह न तो अपने धर्म की सुरक्षा कर सकता, न अपने देश की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रख सकता। उपासना की विविधता समाज को विविध वर्गों में बांटकर उनमें नीच-ऊँच, छुआछूत आदि की कलुषित भावनाएँ उत्पन्न कर देती है। सगुणोपासना में इसीलिए विविध वर्गों का रूप सामने आता है। महात्माओं ने, सिद्ध-योगियों ने इसी दोष को ध्यान में रख उस अचिन्त्य शक्ति को निर्गुण रूप में स्मरण करने पर ही अपना सारा प्रभाव लगाया। यह बात उनने अपनी ओर से की हो ऐसा नहीं है। अपने यहाँ तो अनन्त काल से परमेश्वर को निर्गुण, अरूप, निर्धर्म निर्देश करते ही आए हैं। वेद-उपनिषदों ने इसका अत्युत्तम निरूपण किया है। उत्तर-मीमांसा

दर्शन तो इसी के निरूपण में बना है। "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" सूत्र में उपलक्षित ब्रह्म क्या है ? वह अशेष ब्रह्माण्ड में व्यापक अचिन्त्य-चेतनसत्ता ही निर्गुण ब्रह्म है। महात्माओं ने इसी ब्रह्म को अपनी उपासना का लक्ष्य बनाया। निरंजनी सम्प्रदाय की तो संज्ञा ही इस अर्थ को स्पष्टतः व्यक्त करती है, क्योंकि विशुद्ध ब्रह्म का ही अपर-पर्याय निरञ्जन शब्द है। सब प्रकार के प्रकारों का नाम ही अंजन या माया है। उससे रहित आत्मशक्ति का नाम निरञ्जन है। उस निरंजन की उपासना करने के कारण ही इस सम्प्रदाय की संज्ञा निरंजनी हुई है।

निरञ्जनी सम्प्रदाय के महात्माओं की अब तक जितनी भी रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, वे सब हिन्दी भाषा में ही हैं। केवल दो स्तोत्र ही अब तक की रचना में ऐसे सामने आए हैं जो संस्कृत में हैं—एक है डीडवाणा निवासी पंडित रामचन्द्रजी गुजराती कृत तथा दूसरा स्तोत्र है किसी कालिदास कवि कृत। रचनाकारों में सब संस्कृत से अनभिज्ञ थे—ऐसा नहीं है। कई महात्मा संस्कृत के अच्छे विद्वान् होते हुए भी उनने रचना हिन्दी में की। प्राप्त रचनाकारों का काल सोलहवीं शताब्दी से बीसवीं शताब्दी तक का है। रचनाकारो की रचना का संक्षिप्त परिचय दो रूपों से दिया जा सकता है—पहिला कालक्रम से व दूसरा विषयक्रम से।

मेरी समझ से कालक्रम की अपेक्षा विषयक्रम अधिक उपयुक्त है। अतः तदनुसार संक्षेप में उसका विवरण उपस्थित किया जाता है—

विषयक्रम से अब तक प्राप्त साहित्य के तीन वर्ग किये जा सकते हैं; जैसे— १—वाणियाँ, २—अनुवाद और ३—स्वतन्त्र रचनाएँ। सन्त-साहित्य में वाणियों का प्रथम स्थान है, उस रचना में रचयिता महात्मा के अनुभव की प्रतिच्छाया स्पष्ट सामने आती है। वाणी-रचना में प्रमुखतः दो विभाग रहते हैं–साखी भाग, पदभाग। साखी भाग में प्रकरणानुसार विषय-निरूपण किया जाता है; जैसे—गुरुदेव का अंग, गुरुमहिमा का अंग, स्मरण का अंग, साधु का अंग, माया का अंग व काल का अंग। अंग शब्द प्रकरण-निर्देशक है। स्मरण, साच, काल, माया आदि विषय-निर्देशक शब्द हैं। अनेकों महात्मा वाणियो में कुछ ग्रन्थ विशेष भी लिखते हैं। कवित्त, झूलना, सवैया, छप्पय, पवंगम आदि कई छन्दों में भी रचनाएँ मिलती हैं। पद भाग में राग-विशेष में पद-रचना होती है।

आत्मतत्वानुसन्धानकर्त्ता साधक-महात्माओं में अधिकांश ने वाणियाँ ही लिखी हैं और वे ही महात्माओं की रचना में उत्कृष्ट स्थान रखती हैं। दूसरे वर्ग में अनुवाद के ग्रन्थ हैं, जो या तो किसी पुराण-गाथा से सम्बन्धित हैं या फिर किसी आध्यात्मिक विषय की रचना का अनुवाद है। स्वतन्त्र रचनाओं में विविध विषयों का समावेश है पर वे हैं—या तो सन्त परिचय ज्ञापक या नैतिक आध्यात्मिक विषय का निरूपण

करने वाली। उपर्युक्त तीनों विषयों से सम्बन्धित रचनाओं का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार से है—

१. विषय—वाणियाँ

निर्गुणपरा भक्ति वाले उपासक आत्मनिष्ठ महात्माओं ने अपनी रचनाए वाणी रूप में की हैं। उनका एक ही लक्ष्य था—स्वस्वरूप का परिचय। अतः उनने अपने साधना-सिद्ध जो भी विचार व्यक्त किये, वे वाणी संज्ञा से ही प्रचलित हैं। निरञ्जनी सम्प्रदाय के जिन-जिन महात्माओं ने वाणियाँ लिखीं, उनका प्रारम्भ महाराज हरिदासजी की वाणी से होता है।

हरिदासजी महाराज की वाणी—

महाराज हरिदासजी की वाणी का परिचय इसी भूमिका के खण्ड में सम्यक् आ चुका है, अतः उस पर विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं। महाराज की वाणी का रचनाकाल सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। जैसा कि पीछे व्यक्त किया जा चुका है।

तुरसीदासजी की वाणी—

महाराज तुरसीदासजी हरिदासजी महाराज के समसामयिक थे। भक्तमालकार राघोदासजी ने जिन द्वादश निरञ्जनी महापुरुषों का अपनी भक्तमाल में निरूपण किया है, उन्हीं में एक तुरसीदासजी हैं। ये शेरपुर में रहते थे–ऐसा व्यक्त किया गया है। तुरसीदासजी क्या हरिदासजी के शिष्य थे या निरंजन की उपासना करने के कारण निरञ्जनी कहलाये। इस पर यहाँ अधिक विचार सम्भव नहीं। भाऊदासजी की रचना "गुदड़ी" में तो उनने जगजीवनजी, श्यामदासजी, तुरसीदासजी आदि को महाराज हरिदासजी के ही शिष्य कहे हैं। वे कहते हैं—

कानड़ मोहन पेम हजूरी, आनदास पूर्ण मत पूर ॥
श्याम सांकड़े ध्यान लगाया, जगजीवण तुरसी तत पाया ॥

× × ×

महरवान मन की गति जाणी, बावन शिष्य भये परमाणी ॥
जन भाऊदास के सीस विराजै, यह सब सन्त निरंजनी ॥

उपर्युक्त पद्य स्पष्ट है। फिर भी तुरसीदासजी की रचना में गुरुरूप में हरिदासजी का उल्लेख न मिलने से यह तर्क उठता है कि वे गुरु थे; तो उनका उल्लेख आवश्यक था। तर्क असंगत नहीं–उनने गुरुरूप में कबीरजी का उल्लेख भी किया है।

अतः इस प्रसंग पर तुरसीदासजी की वाणी के उद्धरणों का निरूपण होगा, वहीं कुछ विवेचन संगत रहेगा। निरञ्जनी सम्प्रदाय की पंच-वाणियों में तुरसीदासजी की वाणी को स्थान दिया गया है; साथ ही इनकी वाणी मिलती भी निरंजनी सम्प्रदाय में है। इनका रचनाकाल महाराज हरिदासजी के समसामयिक होने से सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध ही कहा जा सकता है। इनकी वाणी के अन्य वाणियों की तरह ही दो भाग हैं। साखी भाग में दो सौ प्रकरणों में चार हजार दो सौ दो साखियाँ कही गई हैं। चार लघुग्रन्थ हैं, उन्तीस रागनियों में चार सौ इकतालीस पद कहे गए हैं। कुल रचना अनुष्टुप् श्लोक या दोहे के रूप में छः हजार व इससे कुछ ऊपर हो सकती है। इनकी वाणी में योग तथा वेदान्त के विषयों का विस्तार से विवरण है। भाषा भी एकान्ततः ग्रामभाषा नहीं है।

जगजीवनजी, मोहनदासजी, ध्यानदासजी, कल्याणदासजी, सेवादासजी, नरीदासजी, आत्मारामजी, रूपदासजी की भी वाणियाँ प्राप्त हैं। इनमें से कल्याणदासजी, सेवादासजी, मोहनदासजी की वाणियाँ प्राप्त हैं। वे साखी-पद भाग से युक्त हैं। कल्याणदासजी व मोहनदासजी महाराज हरिदासजी के शिष्य थे—ऐसा विदित होता है। मोहनदासजी द्वादश निरञ्जनी महापुरुषों में हैं। सेवादासजी हरिपुरुषजी महाराज की छठी पीढ़ी में दयालदासजी महाराज के शिष्य थे। विस्तार के विचार से इनकी वाणी भी तुरसीदासजी की वाणी से भी कुछ बड़ी है, जैसा कि विभिन्न रचनाओं से स्पष्ट है। साखी भाग में अंग ५७, साखी ३५६१ हैं। ग्रन्थ संख्या दस है। कुण्डलियाँ अंग ३४, संख्या तीन सौ निन्नानवे हैं। छप्पय बीस, सवैये चार, चान्द्रायण अंग बारह, संख्या एक सौ चोतीस है। रेखते अंग नौ, संख्या चवालीस। पद भाग राग इक्कीस, पद चार सौ दो हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण रचना का जोड़ दोहे-छन्द से आठ हजार से ऊपर जाता है। इनका जन्मकाल सम्वत् सोलह सौ सतानवे व अवसानकाल सत्रह सौ अठानवे है। अतः रचनाकाल अठारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध मानना चाहिए। सेवादासजी महाराज की रचना सुन्दर है।

मोहनदासजी व कल्याणदासजी की वाणियाँ पूरी प्राप्त नहीं हैं। जितना अंश देखने में आया है उसी से सिद्ध होता है कि इनकी रचनाएँ और भी होनी चाहिएँ। इनका काल सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध व सत्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध समझना चाहिए। क्योंकि वे महाराज हरिदासजी के शिष्य होने के नाते उनके समक्ष रहे हैं। महाराज हरिदासजी का काल सम्वत् पन्द्रह सौ बारह से सोलह सौ तक का है। सम्वत् पन्द्रह सौ छप्पन तक वे गृहस्थ थे। सम्वत् पन्द्रह सौ छप्पन के अन्त में उनने गृह-परित्याग कर नाथजी से दीक्षा ग्रहण की थी। अतः मोहनदासजी व कल्याणदासजी आदि का सम्बन्ध हरिदासजी महाराज से पन्द्रह सौ साठ-सत्तर के पश्चात् ही होना संगत है।

दोनों की प्राप्त रचनाओं में साखी भाग-ग्रन्थ, चान्द्रायण तथा पद मिले हैं। कल्याणदासजी की रचना ग्राम जावले वाली वाणी में पर्याप्त है। ग्राम कोलिये की बड़ी वाणी में भी कल्याणदासजी की रचना प्राप्त है, पर वह जावले वाली पुस्तक से न्यून है। इनकी पूरी रचना दोनों वाणियों में नहीं है। मोहनदासजी की रचना अगरचन्दजी नाहटा, बीकानेर के "अभय" पुस्तकालय में एक गुटके में है—अन्य कोई प्रति उपलब्ध नहीं है। प्राप्त प्रति में जो रचना है, वह पूरी है—ऐसा प्रतीत नहीं होता।

जगजीवनजी व ध्यानदासजी भी महाराज हरिदासजी के समकालीन थे। द्वादश निरंजनी महन्तों में इनकी गणना है। निरंजनी सम्प्रदाय की परम्परा से ये महाराज हरिदासजी के शिष्य थे। अतः इनका रचनाकाल भी सोलहवीं शतो का उत्तरार्द्ध व सत्रहवीं का पूर्वार्द्ध मानना चाहिए। उक्त दोनों सन्तों की अब तक प्राप्त रचना अपूर्ण है। मेरे संग्रह की तीन-चार पुस्तकों में इनकी जो रचना उल्लिखित है, उसमें साखी-ग्रन्थ-पद भाग है। जगजीवनजी की प्राप्त रचना से ध्यानदासजी की रचना और भी न्यून है। जब तक पूरी रचना सामने नहीं आए-रचना की विभिन्नता व संख्या के विषय में कुछ कहना संगत नहीं है।

नरीदासजी—

नरीदासजी महाराज हरिदासजी के बावन शिष्यों में थे। इनकी रचना का संग्रह केवल फतेहपुर के बड़े अस्थल में ही मिला है, और कहीं किसी पुस्तक में अब तक देखने में नहीं आया है। उक्त पुस्तक में भी जो रचना इनकी है, वह अपूर्ण है। रचना का आरम्भ पदों से है। उन्नीस राग-रागनियों में ग्यारह सौ बानवे पद हैं। उन्नीसवीं रागनी में मारू के पद अट्ठावन अङ्कित हैं। साखी, ग्रन्थ, चान्द्रायण, रेखता, कवित्त, सवैये आदि भी इनने रचे या नहीं—यह नहीं कहा जा सकता। पदों की रचना सरस है। काल इनका सत्रहवीं शताब्दी का मध्यकाल समझना चाहिए।

आत्मारामजी—

महाराज आत्मारामजी सिद्ध पुरुष थे। इनकी रचना से ध्वनित होता है कि ये सुशिक्षित भी थे। महाराज विजयसिंहजी इनमें अत्यन्त श्रद्धा रखते थे। उनने अपने जोधपुर राज्य के नागौर आदि सभी किलों में इनकी छतरियाँ बनवाई थीं। इनका देहावसान सम्वत् अठारह सौ पन्द्रह-सोलह में हुआ था। इनकी रचना भडारी जयरामदासजी, डीडवाणे की एक प्रति में उपलब्ध है। कुछ रचना बाड़े के महन्तजी के संग्रह की एक प्रति में भी है, पर पूरी रचना किसी में भी नहीं है। प्राप्त रचना में इनके कुण्डलियां, सवैये, चान्द्रायण तथा पद उपलब्ध हैं। साखी भाग नहीं जैसा है। कुण्डलियों में ही कहीं-कहीं साखियां आई हैं। इनकी रचना में नीति का

निरूपण सुन्दर है। मारवाड़ी भाषा के शब्दप्रयोग भी पर्याप्त हुए हैं। ये महाराज हरिदासजी के किस शिष्य की परम्परा में थे—यह विदित नहीं है। इनका रचना-काल अठारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध सिद्ध है, क्योंकि उन्नीसवीं के प्रारम्भ में तो ब्रह्मलीन हो गए थे।

रूपदासजी—

रूपदासजी की भी रचना वाणी के रूप में प्राप्त है। रूपदासजी महाराज हरिदासजी की आठवीं पीढ़ी में हुए हैं। इनकी जो रचना प्राप्त है, वह पूरी है या नहीं—यह संशयास्पद है। रूपदासजी की परम्परा का स्थान बालोतरे में है। सन्त जानकीदासजी, जिनने महाराज हरिदासजी का पद्यमय जीवन-चरित्र लिखा है, इन्हीं की परम्परा में हैं। रूपदासजी की रचना ग्राम लाघड़िया स्थान की एक प्रति में प्राप्त है। उसमें उनकी ५३५ साखियाँ, कुण्डलियाँ एक सौ पैंतीस, चान्द्रायण तेईस, सवैये चौदह, रेखते उन्तीस तथा पद उन्यासी हैं। उक्त प्रति में रूपदासजी की रचना के अन्त में फुटकर वाणी सम्पूर्ण इस उल्लेख से ही स्पष्ट हो जाता है कि इनकी उक्त प्रति में उल्लिखित रचना पूरी नहीं है। रूपदासजी सुशिक्षित थे; साथ ही साधक-सन्त थे। उनने सेवादासजी की परचई भी पद्य में लिखी है। उनकी रचनाओं का अनेकों पुस्तकों में उल्लेख मिलता है। रचना का क्रम सङ्गत है। काल इनकी रचना का अठारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा उन्नीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। क्योंकि इनने सेवादासजी की परचई के अन्त में सम्वत् अठारह सौ तीस में उसकी पूर्त्ति का उल्लेख किया है।

इस तरह उपर्युक्त महाराज हरिदासजी सहित दस निरंजनी सन्तों की वाणियाँ प्राप्त हैं। यहाँ इनका सामान्य परिचयमात्र दिया है। इनका विवेचन प्रसङ्गानुसार किया जायगा।

२. अनुवाद-रचनाएँ—

वाणियों की रचना के पश्चात् दूसरा वर्ग अनुवाद-रचनाओं का है। इस वर्ग में अधिक रचनाएँ नहीं हैं। अब तक जो साहित्य देखने में आया है, उसमें तीन ग्रन्थ अनूदित सामने आए हैं—१-अध्यात्मरामायण, २-वैराग्यवृन्द और ३-कार्तिक-माहात्म्य। तीनों पुस्तकों के रचनाकार स्वामी भगवानदासजी निरञ्जनी हैं। ये सुशिक्षित तथा साधक महात्मा थे। इनकी रचनाओं से प्रतीत होता है कि ये संस्कृत के भी अच्छे ज्ञाता थे। कारण, जिन तीन पुस्तकों का इनने पद्यानुवाद किया है, वे तीनों ही मूलतः संस्कृत-साहित्य की पुस्तकें हैं। अध्यात्मरामायण प्रमुखतया वेदान्त-विषय का निरूपण करने वाला ग्रन्थ है। इसका पद्यानुवाद जैसा किया गया है, उससे सिद्ध हो जाता है कि अनुवादक उक्त विषय का सम्यक् ज्ञाता है; साथ ही

भावाभिव्यक्ति में कुशल है। 'वैराग्यवृन्द' यह 'भर्तृहरि-शतक' का पद्यानुवाद है। भर्तृहरि-शतक की रचना संस्कृत वाङ्मय में अपना विशेष स्थान रखती है। उसका पद्यानुवाद साधारण शिक्षित व्यक्ति से होना सम्भव नहीं। संस्कृत-श्लोक के पूरे भाव को हिन्दी पद्य में ले आना कुशल रचनाकार का ही काम है। वैराग्यवृन्द का पद्यानुवाद व्यक्त करता है कि उसका रचनाकार विज्ञ तथा भावाभिव्यक्ति में कुशल है। भर्तृहरि का प्रथम पद्य व उसका अनुवाद देखिए—

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानंतचिन्मात्रमूर्त्तये ॥
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥१॥

अनुवाद-कवित्त—देस काल भेद नाँहि वस्तु सो अछेद कांही
मनहर — अनंत सरूप आं ही चिदानन्द रूप है।
आप ही को आपु जानैं आप अनुभो प्रमानै
जैसे मणि जोति नामै निर्मल अनूप है ॥
तेज हूं ते तेजरूपी शीतल सदा अनूप
व्यापक विविध भूत महाराज भूप है।
कर ले नमसकार भगवान उर धार
नीकै कै निहार सो तो तेरो ही सरूप है ॥१॥

संस्कृत-श्लोक के निहित भाव का हिन्दी पद्य में स्पष्टीकरण कर दिया गया है। रचना में उचित प्रवाहमय भाव-व्यञ्जना का सम्यक् विकास है। तीनों शतकों का यह पद्यानुवाद अभी प्राचीन संग्रह की ही विभूति है। इसके प्रकाशन की तो बात ही क्या कही जाय ? शायद इस रचना का अभी तो साहित्यकारों को परिचय ही नहीं है। रचनाकाल सम्वत् सत्रह सौ तीस है। कार्त्तिक-माहात्म्य भी इसी तरह हिन्दी पद्यों में अनूदित किया गया है। उसका रचनाकाल सम्वत् सत्रह सौ बयालीस है। अध्यात्मरामायण का काल इसके बाद का है। अनुवाद-वर्ग में ये ही तीन रचनाएं दृष्टिगत हुई हैं। तीनों के रचयिता एक ही हैं—स्वामी भगवानदासजी निरञ्जनी। इनकी अन्य स्वतन्त्र रचनाएं भी हैं।

३. वर्ग तृतीय—विभिन्न विषयों की रचनाएँ

उपर्युक्त दो विषयों में ग्यारह रचनाकारों के नाम आए हैं; शेष सोलह रचनाकार ऐसे हैं, जिन्होंने स्वतन्त्र रचनाएं की हैं। अब तक के अन्वेषण से इन सत्ताईस महात्माओं की रचनाकार के रूप में जानकारी मिली है। ग्यारह महात्माओं

की रचना का संक्षिप्त विवरण ऊपर आ गया है; शेष का विवरण आगे दिया जा रहा है। कालक्रम से इनके नाम इस तरह आते हैं—

१–खेमजी, २–भगवानदासजी, ३–मनोहरदासजी, ४–रामजीदासजी, ५–लालदासजी, ६–हरिरामदासजी, ७–सन्तदासजी, ८–अमरपुरुषजी, ९–जगरामदासजी, १०–चतुर्भुजदासजी, ११–रूपदासजी, १२–रघुनाथदासजी, १३–प्यारेरामजी, १४–रतनदासजी, १५–भाऊदासजी, १६–उदयरामजी, १७–पूर्णदासजी और १८–जानकीदासजी। भगवानदासजी व रूपदासजी के नाम वाणी, रचना व अनुवाद विषय में आए हुए हैं। दुबारा नाम इसलिए आए कि इनकी अन्य स्वतन्त्र रचनाएँ भी हैं।

उक्त सोलह सन्तों की रचना में सामान्य-विशेष सभी तरह की रचनाएँ हैं। उक्त वर्ग में पहिला नाम खेमजी का है, जो कि महाराज हरिदासजी के बावन शिष्यों में हैं। खेमजी की रचनाएँ—१–चिन्तामणि, २–वैराग लच्छी ग्रन्थ तथा पद मिले हैं। इनकी और भी रचना है या नहीं—यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता।

भगवानदासजी रचित अमृतधारा, विचारमाला, अनभै हुलास–ये तीन ग्रन्थ और प्राप्त हैं। तीनों ही में वेदान्त के विषय का निरूपण है। मेरी समझ से भाषा-साहित्य में वेदान्त विषयक-निरूपण का यह अन्यतम प्रयास था।

भगवानदासजी के समकालीन ही मनोहरदासजी हुए हैं। ये भी शिक्षित व्यक्ति थे। इनके दो ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं—१-षट् प्रश्नोत्तरी, २–सप्त-भूमिका।+षट्-प्रश्नोत्तरी गद्य-पद्यात्मक है—विषय वेदान्त है। सप्तभूमिका में साधना के अंग हैं। इनकी रचना और भी होनी चाहिए। खेमजी का काल सत्रहवीं शताब्दी तथा भगवानदासजी व मनोहरदासजी का रचनाकाल अठारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। रामजीदासजी की रचना बहुत कम प्राप्त है। ये महाराज हरिदासजी के शिष्य या साथी मोहनदासजी के शिष्य थे। कुछ सवैया पद ही इनके प्राप्त हैं। लालदासजी की एक चितावणी प्राप्त है, और रचना होना संदिग्ध है। हरिरामदासजी सुशिक्षित तथा साधक सन्त थे। वे साहित्य तथा छन्दशास्त्र के मर्मज्ञ थे। उनने छन्दशास्त्र से सम्बन्धित "छन्द रत्नावली" पद्यमय निर्मित की। दूसरा ग्रन्थ उनका "परमार्थ-पंच-सतसई" है। यह परमार्थ सम्बन्धी यानी नैतिकता के जीवन से सम्बन्धित विषयों पर अच्छा प्रकाश डालती है। और भी इनकी फुटकर रचनाएँ है। काल इनका अठारहवीं शताब्दी है। इनकी 'परमार्थ पंचसतसई' प्रकाशित होने तथा जनसमुदाय के हाथ में जाने जैसी है। सन्तदासजी का एक अष्टकमात्र प्राप्त है। अमरपुरुषजी सेवादासजी के शिष्य थे। इनके मात्र ९ पद प्राप्त हैं। जगरामदासजी व चतुर्भुज-दासजी ये आत्मारामजी के शिष्य थे। इनकी भी फुटकर रचनाएँ हैं। रूपदासजी की

+ इनके चार ग्रन्थ और मिले हैं।

वाणी से भिन्न सेवादासजी की परचई और है। रघुनाथदासजी ने हरिदासजी महाराज की परचई रची है। इनके फुटकर पद भी हैं। प्यारेरामजी ने भक्तमाल की रचना की है। रचनाकाल उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। रतनदासजी की होलियाँ तथा धमाल व भाऊदासजी की गुदड़ी प्राप्त है। उदयरामजी की रचना "सारसंग्रह" है। यह निरञ्जनी सम्प्रदाय के महात्माओं की वाणियों का एक तरह से संग्रह है। प्रमुखतया हरिदासजी, तुरसीदासजी और सेवादासजी के एक विषयात्मक वचनों का अंगानुक्रम से संग्रह है। रचनाकाल उन्नीसवीं शताब्दी का अन्त व बीसवीं का प्रारंभ काल है। पूर्णदासजी व जानकीदासजी ने हरिदासजी महाराज का जीवन-चरित्र लिखा है। काल पूर्णदासजी का बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। जानकीदासजी का उत्तरार्द्ध है। इस तरह अब तक प्रकाश में सत्ताईस महात्माओं की रचनाओं का यह संक्षिप्त परिचय है। सब रचनाएँ हिन्दी भाषा में हैं। विषय-विचार व स्वानुभव के अनुसार इनका कितना महत्व है—यह उन सज्जनों से छिपा नहीं है, जिनने सन्त-साहित्य का कुछ रसास्वादन किया है। इन सन्तों की हिन्दी-साहित्य को यह महत्व-मय देन अनुपम है। हिन्दीसेवियों ने हिन्दी-साहित्य के रीति, भक्ति, काव्य, छन्द, नाटक, कथा-कहानी, उपन्यास, इतिहास आदि विषयों पर जितना ध्यान दिया है, वहाँ सन्त-साहित्य की एक तरह से उपेक्षा-सी की गई है। कुछ साहित्य-सेवियों ने इधर ध्यान दिया है। उनकी तरह और भी साहित्य-प्रेमियों को राजस्थान के इन सन्तों की हिन्दी-साहित्यसेवा का मूल्याङ्कन करना चाहिए; अन्यथा यह अलभ्य साहित्य धीरे-धीरे क्षीण होता हुआ प्रलुप्त न हो जाय। इस खतरे को न होने देना—यह राज्य तथा साहित्य-सम्पत्ति की रक्षानिमित्त बनी संस्थाओं का प्रमुख कर्त्तव्य है। आशा है वे राजस्थान में उपेक्षित सन्त-साहित्य की अब और उपेक्षा नहीं करेंगे।

११. उपसंहार—

महाराज हरिदासजी की जीवनी तथा निरञ्जनी सम्प्रदाय का परिचयात्मक विवरण उपर्युक्त दो भागों में समाप्त हुआ है। हरिदासजी महाराज के परिचय में आए विवरण के कुछ अंश सम्प्रदाय-परिचय में पुनः आये ह। विषय के स्पष्टीकरण के विचार से ही ऐसा किया गया है। उक्त दोनों विवरण लिखे गए हैं–उनमें इस बात का ध्यान रखा गया है कि केवल अपनी कल्पना के आधार पर किसी तथ्य को आधारित न किया जाय। प्रमाण व युक्तियुक्त विवेचन में जिसका औचित्य प्रतीत हो, उसी को मान्यता दी जाय। काल को छोड़कर अन्य सब विषय मेरी समझ से निर्भ्रान्त है। काल के बारे में मतभेद हो सकता है, पर जिस मत को गृहीत किया गया है वह साधार है। आधारों की प्रामाणिकता को तब तक चुनौती नहीं दी जा सकती, जब तक उसके विपरीत वैसे ही आधार प्रमाण सहित न हों।

महाराज की वाणी की रचना का विशद विवेचन इसलिए नहीं किया गया है कि वाणी सम्पूर्ण दी जा रही है। वाणी का स्वाध्याय करते समय यह ध्यान में

रखना आवश्यक है कि यह कोई काव्य-ग्रन्थ नहीं है—यह महात्माओं की सहज वाणी से निकली उनके अनुभव की प्रतिध्वनि है। हरिदासजी की गणना साहित्यकारों में नहीं है; उनकी गणना है आत्मानुभूति करने वाले वीतराग-साधकों में। अतः उनकी रचना में भाषा, छन्द, भाव, अलङ्कारादि साहित्यिक अङ्गों के परिपुष्ट रूप देखने की भावना न रख यह, देखना है कि उनने जिन तथ्यों का निरूपण किया है वे तथ्य उनके जीवन में कहाँ तक व्यवहृत हुए। इसीसे उनकी प्रामाणिकता व अनुभूति को आँकना है। तभी हम उनके विषय में तथ्य के अधिक समीप पहुंच सकेंगे।

प्रत्येक व्यक्ति का सोचने-विचारने का अपना तरीका होता है। अतः एक व्यक्ति का विचार सर्वमान्य नहीं माना जाता। भारतीय संस्कृति में इसीलिए आर्ष-वाक्य ही प्रमाण माने जाने का निर्देश है। आर्ष वे व्यक्ति हैं, जिनका जीवन सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो गया है—विश्व उनका कुटुम्ब है, विश्व का कल्याण ही उनका लक्ष्य है। अपने लिए जिनको किसी भी प्रकार की इच्छा नहीं है। राग और द्वेष रूपी कल्मष का कोई किञ्चित् अंश शेष नहीं है। ऐसे महापुरुष ऋषिपुङ्गवों के वाक्य निर्भ्रान्त कहे जा सकते हैं।

मेरी विचाराभिव्यक्ति मेरी समझ के अनुसार है। अतः यह प्रामाणिक समझी जाय—ऐसी मेरी भावना नहीं है। सम्भव है मेरे कथोपकथनों में कहीं सदोषता हो; तदर्थ ज्ञात होने पर उसका परिशोध करना मैं अपना कर्त्तव्य मानता हूँ। हरिदासजी महाराज के जीवनवृत्त व निरञ्जनी सम्प्रदाय का परिचयात्मक यह विवेचन कैसा है? यह सन्तप्रेमी साहित्यिकों की भावना पर निर्भर है।

भाद्रपद शुक्ला १० सम्वत् २०१८
ता० २०-९-१९६१ सन्
(दादू महाविद्यालय, जयपुर।)

मङ्गलदास स्वामी

परिशिष्ट

॥ निरंजनी सम्प्रदाय का प्राप्त साहित्य ॥

लेखकों के नाम व उनकी रचनाएं

संख्या	रचयिता का नाम	रचनाएं	काल	मुद्रित-अमुद्रित	विशेष
१	श्रीमान् महात्मा हरिदासजी (हरिपुरुषजी)	वाणी (साषी, कुण्डलियां पद भाग) लघुग्रन्थ संख्या ४६	सोलहवीं का अंतिम चरण	मुद्रित प्रथम संस्करण	मंदिर कुञ्जविहारीजी जोधपुर के महात्मा देवादासजी द्वारा सम्वत् १९८८ में जोधपुर से प्रकाशित ।
२	,, स्वामी तुरसीदासजी	वाणी (साषी पद भाग) लघुग्रन्थ ४	सोलहवीं का अन्त सत्रहवीं का प्रारम्भ	अमुद्रित	गुसांई तुरसीदासजी द्वादश निरञ्जनी महात्माओं में हैं। (इनका केन्द्रस्थान शेरपुर कहा गया है।)
३	,, स्वामी जगजीवणजी	लघु ग्रन्थ दो तथा पद प्राप्त हैं	,, ,,	अमुद्रित	इनकी और रचनाएं भी होनी चाहिए, ये भी द्वादश में हैं।
४	,, स्वामी ध्यानदासजी	लघु ग्रन्थ ३ तथा चान्द्रायण प्राप्त है	,, ,,	अमुद्रित	इनकी ये ही रचनाएँ हैं, ऐसा न मान और रचनाएँ मिलने की संभावना है। (द्वादशमें)
५	,, स्वामी मोहनदासजी	वाणी (साषी पद भाग प्राप्त है)	,, ,,	अमुद्रित	ये भी द्वादश निरञ्जनी महात्माओं में हैं।
६	,, स्वामी षेमदासजी	इनका एक ग्रन्थ तथा कुछ पद मिले हैं, एक चितावणी है ।	सत्रहवीं सदी	अमुद्रित	हरिदासजी महाराज के शिष्य द्वादश महन्तों में भी।
७	,, स्वामी नरीदासजी	इनकी प्राप्त रचना पद भाग १९ रागों में प्राप्त है वह अपूर्ण है।	सत्रहवीं का उत्तरार्द्ध	अमुद्रित	ये महाराज हरिदासजीके बावन शिष्योंमें हैं फतेहपुर शेखावाटीमें इनका स्थान है।

८	,, स्वामी मनोहरदासजी	१. षट्प्रश्नोत्तरी, २. शतप्रश्नोत्तरी ३. ज्ञानमंजरी, ४. वेदान्त-परिभाषा ५. ज्ञानचूर्ण वचनिका, ६. सप्तभूमिका	अठारहवीं का पूर्वार्द्ध	अमुद्रित	ये सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध काल के हैं, इनकी रचनाएँ प्रशस्त हैं। रचनाकाल अठारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।
९	,, स्वामी भगवानदासजी	१. अमृतधारा, २. वैराग्यवृन्द, ३. अध्यात्म रामायण, ४. कार्तिक-माहात्म्य।	,, ,,	मुद्रित अमुद्रित	इनका समय सतरहवीं शताब्दी का उत्त-रार्द्ध व अठारहवीं का पूर्वार्द्ध–सम्भव है इनकी रचना और मिले।
१०	,, स्वामी सेवादासजी	वाणी (साखी, पदभाग, कवित्त, चान्द्रायण) लघु ग्रन्थ संख्या १०।	अठारहवीं सदी	अमुद्रित	ये खेमजी की पाँचवीं पीढ़ी में हुए, इनका रचनाकाल अठारहवीं सदी है। गुसाईं तुरसीदासजी के समान ही इनकी रचना है।
११	,, स्वामी आत्मारामजी	वाणी (कवित्त, कुण्डलियां, इन्दव आदि तथा पद।	,, ,,	अमुद्रित	अब तक की प्राप्त रचना पूरी नहीं है, इनकी और रचना है।
१२	,, कल्याणदासजी	वाणी (साषी पद भाग, लघु ग्रन्थ ग्यारह।	सत्रहवीं-सदी	अमुद्रित	इनकी भी जो रचना मिली है, वह पूर्ण नहीं है। और भी रचना है। लेखनकाल १८२६।
१३	,, हरिरामदासजी	१. परमार्थ पंच सतसई, २. छन्द रत्नावली, ३. हरिदासजीको परचई ४. कुण्डलियां १४७।	अठारहवीं सदी	छन्द रत्नावली मुद्रित है, शेष रचना अमुद्रित है	परमार्थ पञ्चसतसई की जो प्रति है, उसका लेखनकाल १८५२ है।
१४	,, रामजीदासजी	सवैया पद गुरुमहिमा के।	अठारहवीं सदी	अमुद्रित	ये मोहनदासजी के शिष्य थे, इनकी और रचना अप्राप्त है।

संख्या	रचयिता का नाम	रचनाएँ	काल	मुद्रित-अमुद्रित	विशेष
१५ ,,	जगरामदासजी	गुरुवन्दना के छप्पय व पद	अठाहरवीं सदी	अमुद्रित	ये महात्मा सिद्ध आत्मारामजी के शिष्य थे। सम्भव है इनकी और भी रचना हो।
१६ ,,	चतुर्भुजदासजी	गुरु-महिमा की साखियां	,, ,,	,,	,, ,, ,,
१७ ,,	अमरपुरुषजी महाराज	केवल कुछ पद	उन्नीसवीं सदी	,,	ये महाराज सेवादासजी के शिष्य, सिद्ध व महान् महात्मा थे।
१८ ,,	रघुनाथदासजी	हरिदासजी महाराज की परचई	,, ,,	,,	ये महाराज अमरपुरुषजी के शिष्य थे।
१९ ,,	रूपदासजी	१. वाणी (साखी, पद, चांद्रायणादि) २. सेवजी की परचई।	,, ,,	,,	ये भी महाराज अमरपुरुषजी के शिष्य थे, इनकी रचना पर्याप्त तथा प्रशस्त भी है।
२० ,,	प्यारेरामजी	भक्तमाल।	,, ,,	,,	ये अमरपुरुषजी के पोताशिष्य दर्शन-दासजी के शिष्य थे।
२१ ,,	उदयरामजी	सारसंग्रह।	उन्नीसवीं बीसवीं सदी	अमुद्रित	इस ग्रन्थ में हरिदासजी, सेवजी, तुरसी, कबीरजी आदि महात्माओं की रचना का संग्रह है।
२२ ,,	सन्तदासजी	अष्टक गुरुवन्दना मात्र।	,, ,,	,,	इनकी अन्य कोई रचना अब तक तो प्राप्त नहीं है।
२३ ,,	रतनदासजी	पद होलियाँ।	,, ,,	,,	इनकी होलियाँ तथा धमालें भी हैं।
२४ ,,	भाऊदासजी	गूदड़ी।	,, ,,	मुद्रित	इनकी अभी तक तो यही रचना प्राप्य है।
२५ ,,	कोमलदासजी	हरिपुरुषजी की परचई।	बीसवीं सदी	अमुद्रित	छन्द, दोहे व चौपाइयों में रचना है।
२६ ,,	पूर्णदासजी	,, ,, ,,	,, ,,	अमुद्रित	ये नवलगढ़ शेखावाटी के रहने वाले थे।

२७	,, पं० रामचन्द्रशर्म्मा गुजराती	दयालुस्तोत्र (संस्कृत में रचना)	बीसवीं सदी	मुद्रित	ये डीडवाणे के ही निवासी थे। मुद्रण-काल १८४८।
२८	,, आशारामजी दाधीच	दयालुपुरुषमहिमा।	,, ,,	,,	ये पंडित रामचन्द्रजी के शिष्य थे तथा डीडवाणे के ही निवासी थे।
२९	,, कालीदासजी	दयालु अष्टक (संस्कृत में)।	,, ,,	अमुद्रित	रचयिता का ठीक पता नहीं है।
३०	,, स्वामी जानकीदासजी	श्री हरिपुरुष जीवन-चरित्र	,, ,,	मुद्रित	ये निरञ्जनी संत बालोतरा निवासी हैं। रचनाकाल १८६२।

॥ महाराज हरिदासजी के बावन शिष्यों में से कुछ शिष्यों की परम्परा ॥

षेमजी की परम्परा

१ महाराज हरिदासजी
२ षेमजी बड़ा
३ चत्रदासजी
४ पोकरदासजी
५ दयालदासजी
६ सेवादासजी
७ अमरपुरुषजी
८ नारायणदासजी
९ दोनदासजी
१० जीवणदासजी
११ श्रीरामदासजी
१२ गोविन्दरामजी
१३ हनुमानदासजी
१४ बालमुकुन्दजी (वर्त्तमान)
डीडवाणा

शारंगदासजी की परम्परा

१ महाराज हरिदासजी
२ शारंगदासजी
३ जगजीवणजी
४ राघोदासजी
५ भूधरदासजी
६ चेतनदासजी
७ देवादासजी
८ जुगलदासजी
९ जानकीदासजी
१० अखैरामजी
११ चैनरामजी
१२ पीताम्बरदासजी
१३ केशोदासजी
१४ आशारामजी (वर्त्तमान)
नागौर

पींपाजी की परम्परा

१ हरिदासजी महाराज
२ पींपाजी
३ शीतलदासजी
४ ऊधोदासजी
५ गरीबदासजी
६ मानदासजी
७ जैरामदासजी
८ सन्तदासजी
९ हरिकिसनदासजी
१० श्यामदासजी
११ शीतलदासजी (२)
१२ नवलदासजी
१३ चतरदासजी
१४ हनुमानदासजी
१५ रामदासजी
१६ नृसिंहदासजी (वर्त्तमान)
नागौर

मोहनदासजी की परम्परा

१ हरिदासजी महाराज
२ मोहनदासजी महाराज
३ भगवानदासजी
४ वनमालीदासजी

५ पोकरदासजी नागा
६ प्रेमगौड़जी
७ बालकिसनजी (लोटनजी)
८ जयरामदासजी
९ आत्मारामजी
१० अगमदासजी
११ भरतदासजी
१२ वल्लभदासजी
१३ चन्द्रदासजी
१४ पूर्णदासजी (वर्त्तमान)
डीडवाणा

*नरहरदासजी की परम्परा

१ हरिदासजी महाराज
२ नरहरदासजी
३ कल्याणदासजी
४ लिषमीदासजी
५ गङ्गादासजी
६ मनीरामजी
७ कल्याणदासजी
८ नारायणदासजी
९ आशानन्दजी
१० रामदासजी
११ परमेसजी
१२ भरतदासजी (बीकानेर)

* यह विवरण भाट की बही के आधार पर है। संभव है नरहरदासजी व कल्याणदासजी के बीच दो पीढ़ी के नाम नहीं आये हैं।

नारायणदासजी की परम्परा

१ हरिदासजी महाराज
२ नारायणदासजी
३ हरीरामजी
४ रूपदासजी
५ सीतलदासजी
६ लक्ष्मणदासजी
७ गङ्गादासजी
८ नृसिंहदासजी
९ मनशारामजी
१० वलरामदासजी
११ किसनदासजी
१२ आशारामजी
१३ पीताम्बरदासजी×

× इनके पश्चात् एक पीढ़ी और हो गई है-- (जोधपुर)

महाराज हरिदासजी के बावन शिष्यों में से कइयों की परम्परा अभी तक चल रही है जैसा ऊपर व्यक्त किया है। महाराज के शिष्य नाथजी, परसरामजी, जगजीवणजी, नारायणदासजी, महरवानजी आदि की परम्पराएँ भी विद्यमान हैं। इनकी प्रणालियां यथावत् प्राप्त न होने से नहीं दी गई हैं।

हरिदासजी महाराज के कुछ शिष्यों की परम्परा का विशेष विस्तार हुआ, जैसे षेमजी, नाथजी, महरवानजी आदि। इनमें भी षेमजी की परम्परा अधिक विस्तृत हुई।

॥ निरञ्जनी सम्प्रदाय के कुछ महापुरुषों की नामावली ॥

१ महाराज हरिदासजी
२ षेमजी
३ नाथजी
४ जगजीवणजी
५ ध्यानदासजी
६ तुरसीदासजी
७ मोहनदासजी
८ जगन्नाथदासजी
९ श्यामदासजी
१० आनदासजी
११ कानड़दासजी
१२ पूर्णदासजी
१३ कल्याणदासजी
१४ नरीदासजी
१५ पींपाजी
१६ नारायणदासजी
१७ परसरामजी
१८ शारंगदासजी
१९ महरवानजी
२० नारायणदासजी (नारनौल)
२१ मनोहरदासजी
२२ पोकरदासजी
२३ दयालदासजी
२४ सेवादासजी
२५ आत्मारामजी
२६ अमरपुरुषजी
२७ हरिरामदासजी
२८ रूपदासजी
२९ रामदासजी
३० बालकदासजी

विद्वान् साधक

१ मनोहरदासजी
२ भगवानदासजी
३ हरिरामदासजी
४ सेवादासजी
५ रूपदासजी
६ रमतारामजी महाराज
७ मगनीरामजी महाराज
८ मधुसूदनजी महाराज
९ महन्त हनुमानदासजी
१० पुरुषोत्तमदासजी
११ घनश्यामदासजी
१२ पं० मोतीरामजी
१३ पं० माधोदासजी
१४ पं० लक्ष्मणदासजी

योगी—साधक—भजनीक

१ नाथजी
२ तुरसीदासजी
३ सेवादासजी
४ अमरपुरुषजी
५ दरसणदासजी
६ मुनिजी महाराज
७ आत्मारामजी
८ नारायणदासजी
९ प्रेमदासजी
१० प्रहलाददासजी
११ मनोहरदासजी
१२ राघोदासजी
१३ भक्तरामजी
१४ तुलसीदासजी
१५ रामाकिसनजी

॥ भाऊदासजी की गुदड़ी ॥

(हरिपुरुषजी के शिष्यों पर प्रकाश)

श्री हरिपुरुष महाराजा गुदड़ी तुमारी पातक जारणी ।।टेर।।
सतगुरु चरण रंज में धारूँ , गुरु गोरष का ग्यान विचारूँ ।
तीषे सिषर ध्यान हरि धारया, भर्म कर्म सब दूर निवारया ।।
कठिन साँकड़ा मौतज फन्दा , हरीदास जिन हरि का बन्दा ।
एक पलक में सब तज दीन्हा , काम क्रोध ममता मारणी ।।१।।

श्री हरिपुरुष महाराजा गुदड़ी तुमारी पातक जारणी ॥टेर॥

कठिन पन्थ सन्तों का मारग , सतगुरु शब्द सुनाया तारग ।
पाँवर जीव कील में केता , सतगुरु शरणै आया जेता ।।
सतगुरु शरण अभय पद पाया, ग्यान घटा अमृत झर लाया ।
नाम प्रताप ऐसो है भाई , आवा जू गमन निवारणी ।।२।।

श्री हरिपुरुष महाराजा गुदड़ी तुमारी पातक जारणी ॥टेर॥

कनक कामणी नदियाँ भारी , जा में वह गये सब नर नारी ।
उनको तिरकर जो कोई भागा , केवल नाम निरंतर लागा ।।
मोह द्रोह माया मद लूटे , सतगुरु शरणाँ आये छूटे ।
कठिन पन्थ सन्तों का मारग , खाँडे की धार दुधारणी ।।३।।

श्री हरिपुरुष महाराजा गुदड़ी तुमारी पातक जारणी ॥टेर॥

धन्य भूमि वह सन्त विराजे , नगर डीडपुर शोभा राजे ।
जाके दर्शन जो कोई आवे , मनवांछित मुक्ति फल पावे ।।
वेर वेर दर्सन वलिहारी , सन्त शिरोमणि मंडली भारी ।
दर्सन सेती सब दुख नासै , गूदड़िया सन्त उधारणी ।।४।।

श्री हरिपुरुष महाराजा गुदड़ी तुमारी पातक जारणी ॥टेर॥

फागण सुद छठ का मेला, त्यागी तपसी होवे भेला।
शीतल कोमल पर उपकारी, भजन भूमिका लागै प्यारी ॥
ऐसे सन्त बड़े अवधूता, वाना तो विरकत गुदड़ी धारणी ॥५॥
श्री हरिपुरुष महाराजा गुदड़ी तुमारी पातक जारणी ॥टेर॥

रामानन्द के दास कबीरा, नामदेव भक्तन में शूरा।
कलियुग में नीसान बजाया, निराकार का पन्थ चलाया ॥
निर्गुण भक्ति करी कलियुग में, युग युग में भक्ति वधारणी ॥६॥
श्री हरिपुरुष महाराजा गुदड़ी तुमारी पातक जारणी ॥टेर॥

कानड़ मोहन खेम हजूरी, आनदास पूर्ण मत पूरी।
श्याम साँकड़े ध्यान लगाया, जगजीवण तुरसी तत पाया ॥
नाथ ध्यानजी है अवधूता, जगन्नाथ केवल पद पहुँता।
जिनकी पदरज जे कोई धारे, जन्म जन्म अघ जारणी ॥७॥
श्री हरिपुरुष महाराजा गुदड़ी तुमारी पातक जारणी ॥टेर॥

नरीदास जन नरहरि दूजा, दास नारायण पींपा सूँधा।
परसराम शारंग मतवाला, जन मनोहर पोकर काला ॥
महरवान मन की गति जांणी, बावन शिष्य भये परवाणी।
जन भाऊदास के सीस विराजै, यह सब सन्त निरंजणी ॥८॥
श्री हरिपुरुष महाराजा गुदड़ी तुमारी पातक जारणी ॥टेर॥

॥ सन्तदासजी कृत अष्टक ॥

धन्य धन्य स्वामी हरिदासजी दयालु पदवी हरि दई।
मरुधर अपावन भूमि ताको प्रगट पावन कर दई॥
आदि निरंजन पन्थ पकड्यो पाप ताप निकंदना।
जन हरिदास ब्रह्मप्रकाश सतगुरु सन्त रज पद वंदना ॥१॥
ज्ञान गोरष मिले जब तें मूठ काठी कर गई।
कर भजन ले वैराग्यपूर्ण सुरति हरि में रम रही॥
काया कसणी देय भलि विधि जोग जुगति जानंदना।
जन हरिदास ब्रह्मप्रकाश सतगुरु सन्त रज पद वंदना ॥२॥
पांच तत्व गुण रचित माया तहां मन नहिं लाइयो।
निर्गुण रमताराम व्यापक ब्रह्म उर मधि धाइयो॥
पवन षरचै सदा अरचै भाव भक्ति चित चंदना।
जन हरिदास ब्रह्मप्रकाश सतगुरु सन्त रज पद वंदना ॥३॥
जोति जगमग धूरे अनहद आतमा हरि पद छिवे।
पांच सखि भर देत प्याला हरिदास जन हरिरस पिवे॥
दत्त गोरख कबीर नामदेव छके सनक सनंदना।
जन हरिदास ब्रह्मप्रकाश सतगुरु सन्त रज पद वंदना ॥४॥
निवृत्ति, ग्यान, विचार, शील संतोष भलि विधि धारियो।
प्रवृत्ति, मोह, अज्ञान, मत्सर काम क्रोध जु मारियो॥
देव निरंजन गादि दीन्ही पटा वगस्या अति घना।
जन हरिदास ब्रह्मप्रकाश सतगुरु सन्त रज पद वंदना ॥५॥
जो जीव जगप्रवाह तें टल शरण तुमरी आइहैं।
करि भजन ले वैराग्य ग्यान विचार हरिपद पाइहैं॥
पांच कोटि जू जीव तुम संग काटिहै कर्म बंधना।
जन हरिदास ब्रह्मप्रकाश सतगुरु सन्त रज पद वंदना ॥६॥

जोबनेर में भक्त कपटी जहर पी समझाइयो।
अजयमेरु में मस्त हस्ती चरण शीश नवाइयो॥
नागौर प्रेत स सर्प टोडे सिंह को पलट्यो मना।
जन हरिदास ब्रह्मप्रकाश सतगुरु सन्त रज पद वंदना॥७॥
डीडपुर में डूंगरी ज्यूं गागरी गिरि राखिहै।
देवि को दीक्षा दई जन हरीदास हरि आप है॥
विप्र पंगु पंथ चाल्यो शाहसुत आनंद घना।
जन हरिदास ब्रह्मप्रकाश सतगुरु सन्त रज पद वंदना॥८॥
वर्ष सौ पीछे जु तिन तें प्रगट सेवादासजी।
करि भजन ले वैराग्यपूर्ण नाम दृढ़ विश्वासजी॥
पंथ निरंजन प्रगट जग मैं सब ही सन्त सुलक्षणा।
जन हरिदास ब्रह्मप्रकाश सतगुरु सन्त रजपद वंदना॥६॥
यह अष्टक स्वामी हरिदासजी को पढ़े सुने अरु गावही।
जन्म जन्म के पाप नासे भक्ति मुक्ति फल पावही॥
सन्तदास जू सदा सुखिया मिलै हरि आनंद घना।
जन हरिदास ब्रह्मप्रकाश सतगुरु सन्त रज पद वंदना॥१०॥

॥ इति सन्तदासजी कृत अष्टक सम्पूर्ण॥

श्री हरि पुरुष जी महाराज, डीडवाना

श्रीदयालवे नमः

महाराज श्री हरिदासजी की वाणी

ग्रन्थ-ब्रह्मस्तुति*

ग्यान न ध्यान अवीह अजाप, अरत अतत न माइ न बाप ॥
जगदीस अरीस निकंप निघात, हतोज हतोज विशंभर तात ॥१॥

अवीह=भयरहित। अरत=अरक्त। अतत=पञ्चतत्व नहीं। अरीस=क्रोधरहित। निकंप=स्थिर। निघात=कालादि चोटरहित। हतोज=ऐसा।

अमुरीद् अपीर अहेत अहाथ, अदुष असुष निरंजन नाथ ॥
अहुंमेव न टेव असेव अदेव, अबात अघात असिंभ अभेव ॥२॥

अमुरीद=किसी का शिष्य नहीं। अपीर=गुरुरहित। अहेत=हेतहीन, ममतारहित। निरञ्जन=मायारहित। अहुंमेव=प्रमाणरहित। टेव=आदत। अदेव=देवतारहित। असिंभ=अजन्मा।

निरलेप निसाज निहचोभ निसोभ, निहकाम निजाम निरास निर्लोभ ॥
निमू॑ल निस्थूल निरसिंध त्रिधंध, अजीत अतीत अबन्ध अकन्ध ॥३॥

निहचोभ=आकांक्षारहित। निजाम=जन्मरहित। निरसिंध=संयोगरहित। त्रिधंध=जिसका स्वयं काम नहीं। अतीत=कालादिक्रमरहित। अकन्ध=देहहीन।

निदोह निछोह निमोह निसास, निपंक निसंक निडंक निरवास ॥
निरंक निटंक निरवंट नितास, अनन्त सनन्त ब्रह्म प्रकास ॥४॥

निपंक=मलरहित। निरंक=निरक्षर। निरवंट=अविभक्त। निटंक=तोलहीन। नितास=निर्भय। सनन्त=उपाधिभेद से शान्त।

पाठभेद—मूलपाठ का आधार पांच पुस्तकें हैं। उनके लेखनकाल के क्रम से १-२-३-४-५ इन अंकों में व्यक्त किया है। पाठ का भेद किन प्रतियों में है—यह "शब्द" के आगे दिये अंकों से जानिये।

निरलोभ=३-४-५। नि॑ के स्थान में नृ=३-४-५।

---

* महाराज हरिदासजी निर्गुण उपासक हुए हैं। निर्गुण चित्‌शक्ति को शास्त्रों ने ब्रह्म शब्द से प्रतिपादित किया है। इसलिए महात्मा हरिदासजी सर्वप्रथम अपने उपास्य की स्तुति करते हैं। ब्रह्मस्तुति में उस व्यापक अधिष्ठान चैतन का विविध रूपों में स्मरण किया गया है।

अमान अथान अरुति अवाट , अचिंत अनंत अथित अघाट ॥
निदोष निपोष अरेह अथाट , गोपाल गुवाल अमित अपाट ॥५॥

अवाट=बिना रास्ते। अथित=स्थानरहित। अरेह=सीमारहित। अथाट=आडम्बर-विहीन। अमित=अपार। अपाट=स्थायी विस्तार नहीं।

दयाल अकाल अजाल विराट , अभाल अपाल अताल निराट ॥
सालूम मालूम लतीफ गुंजार , हकीम फहीम सतार जवार ॥६॥

विराट=सर्वव्यापी। अभाल=अदृष्ट। अपाल=सीमाहीन। अताल=अथाह। निराट=वस्तुतः, बिलकुल। सालूम=सत्यस्वरूप। मालूम=ज्ञानस्वरूप। लतीफ=आनन्द-मय। गुञ्जार=गर्जना करने वाला। हकीम=चिकित्सक। फहीम=सर्वज्ञ। सतार=कुलीन। जवार=महापराक्रमी।

वेचगुनि वेचुनि लहंग करीम , बेआदि बेदादि षुदाइ रहीम ॥
बेसवेह बेनिवेह बेनिगेह बेताब , बेनिमुनि बेहूनि षांना न षराब ॥७॥

वेचगुनि=रंगरहित। वेचूनि=अनुपम। लहंग=निहंग। करीम=कृपालु। बेदादि=सर्वोपरि सुनने वाला। षुदाइ=खुदा, परमात्मा। रहीम=दयालु। बेसवेह=निराकार। बेनिवेह=अजन्मा। बेनिगेह=दृष्टि से न दिखने वाला। बेताव=शान्तस्वरूप। वेनिमुनि=उपमारहित। बेहूनि=कहा न जाय। षांना=श्रेष्ठ। षराब=बुरा।

खहूह अरूह अगम इलाज , नापैद नाकैद षुदीन अवाज ॥
हजूरिन दूरिन वैरिन मार , षालिक मालिक अथाह अपार ॥८॥

खहूह=विश्वम्भर। अरूह=अन्तःकरणरहित। अगम=शोकरहित, अगम्य। इलाज=औषधरूप। नापैद=अनुत्पन्न। नाकैद=बन्धनरहित। षुदीन=स्वयं में स्थित। अवाज=शब्द से आगे। हजूरि न=सामने नहीं, अप्रत्यक्ष। दूरि न=दूर नहीं। वैरि न=शत्रु नहीं। मार=काल, मृत्यु। षालिक=कर्ता।

हाजिर नाजिर सहसदयाति , औजूद जहूद न जीवन जाति ॥
हिरस विरस न जेर गुमान , सिरजनहार विरध न ज्वान ॥९॥

हाजिर=प्रकट। नाजिर=नजर में आने वाले। सहसदयाति=अव्यक्त स्वरूप। औजूद=देहरहित। जहूद न=मजहबरहित। हिरस विरस न=हर्ष-शोकरहित। जेर=दुर्बल नहीं। गुमान=गर्वविहीन।

सालूम मालूम सबै सुलतान , षालिक मालिक अजब निसांन ॥
जाहिर माहिर सदैव बशीर , अलैव अलाह अमुरींद अपीर ॥१०॥

पाठभेद—अथिति=३-४।

माहिर=सर्वज्ञ, प्रवीण। सदैव=नित्य, अविनाशी। बशीर=सहायक। अलैव=अलख। अलाह्=देशकाल-परिछेदरहित।

परवरदिगार निरविकार निगर्व गनिय, दानाई साहिब फुनान फनिय ॥
राजक रजाइ सुरजन सूर, सबजांन अमान अषंडित नूर ॥११॥

गनिय=महाधनी। दानाई=सर्वश्रेष्ठ। फुनान फनीय=अविनाशी। राजक=रिजक देने वाला। रजाइ=आज्ञा, कृपा। सुरजन=देवरूप।

रजा न सजा तन तोष न त्रास, हठ हार न जीत अभ्यास न नास ॥
बेरजान बेरान हैरान मुकाम, कलाम न ताम न सीत न घाम ॥१२॥

बेरजान=अकाम। बेरान=महाशून्य। हैरान=चकित। मुकाम=आश्रयस्थान। कलाम न=अकथनीय। ताम न=अधिष्ठान नहीं।

उदार अपार अजार अरूप, अषार अलार असार अधूप ॥
अधूप अदेह अधर अडर, अषिर अतिर अछेह अमर ॥१३॥

अजार=अजर। अषार=अक्रोधी। अलार=पीछा करने वाला नहीं। असार=निरालम्ब। अधूप=त्रिविध तापहीन। अधर=आधारहीन। अषिर=अखंडित। अतिर=अलंघनीय। अछेह=अपार। अमर=नित्य।

अरेष अदेष अभेष निजोग, अलेष अरीझ अषीज निभोग ॥
अबीज अनाथ अवाथ निरोग, अलष अभष अजष अलोग ॥१४॥

अरेष=असीम। अदेष=अदृश्य। निजोग=सम्बन्धहीन। अषीज=अक्रोधी। निभोग=वासनाहीन। अवाथ=अगृहीत। अभष=कालरहित। अजष=शान्त। अलोग=सबसे अलग, देशरहित।

अदष अपष अचष अवोट, अभूल अभाल अडोल अचोट ॥
अतोल अमोल अबोल निषोट, अझोल अभेद अछेद अलोट ॥१५॥

अदष=अकथनीय। अचष=स्वादरहित। अवोट=अछूत। अभूल=अज्ञान विहीन। अभाल=अदृश्य। अडोल=स्थिर। अचोट=आघातहीन। अबोल=अनिर्वचनीय। निषोट=मलविक्षेपरहित। अझोल=अकम्पित। अछेद=अखण्ड। अलोट=अपरिवर्त्तनीय।

अभंग अरंग असाथ असंग, अजेर अजोर अफेर अजंग ॥
असूर अकूर अमिल अमोड, हरिनंट सनंट अनंत अथोड ॥१६॥

अभंग=अविभाजित। असाथ=एकाकी। अजेर=दौर्बल्यरहित। अजोर=किसी

पर बल नहीं करना। असूर=स्वयंप्रकाश। अक्रूर=दयालु। अमोड=बदलने वाला नहीं। हरिनंट=बाजीगर। सनंट=परम नट। अथोड़=अनल्प।

असोच अपोच अलोच गंभीर, अबद्ध न सिद्ध धराधर पीर ॥
असोस अदोस अलिप अगाध, तोंहि वार न पार अचोर न साध ॥१७॥

अपोच=कायर नहीं। अलोच=आलोचना से रहित। गंभीर=गहरा। अबद्ध=बन्धनरहित। धराधर=पृथ्वी को धारण करने वाला। पीर=औलिया। असोस=शोषणहीन। अदोस=विकाररहित। अलिप=अलिप्त। अगाध=अथाह। अचोर=चोर नहीं।

अछीन अदीन अभूष अपान, विश्वंभर नाथ अनाथ अदान ॥
अहर अपर अचर निधाह, अमर अधर अजर अथाह ॥१८॥

अछीन=क्षयरहित। अनाथ=जिसका कोई स्वामी नहीं। अदान=दानदाता नहीं। अहर=हरण न किया जा सके। अपर=परात्पर। निधाह=सन्तापहीन। अजर=जरारहित।

अचढ अपड़ पुरुष न नारि, अभ्कर अभार अधार बिचारि ॥
अपैर अनैर निवैर निषंड, नितोज नितोज रच्यो ब्रह्मंड ॥१९॥

अचढ़ अपड़=चढ़ने-पड़ने से रहित। अभ्कर=स्रावहीन। अपैर=पैररहित। अनैर=न्यारा नहीं। निषंड=अविभाजित। नितोज नितोज=सत्यस्वरूप।

सरवंग संवूह वयम विथार, जहां स तहां मुकता दरबार ॥
इला नहिं अंब न तेज न वाइ, अकास न वास जुरा नहिं ताइ ॥२०॥

सरवंग=सर्वव्यापक। संवूह=समष्टिरूप। वयम=व्ययहीन। विथार=पीड़ारहित। जहाँ से तहाँ=सर्वत्र। मुकता दरबार=मुक्तद्वार। इला=पृथ्वी। अंब न=पानी नहीं। वाइ=वायु। वास=निवास। ताइ=उसके।

अविहड़ अजड़ *अपड़ अगढ़, अघड़ अनड़ अभड़ अजढ़ ॥
विनांण प्रवाण वप नांव न नेह, अगणित निहार उछाह अछेह ॥२१॥

अविहड़=वियोगरहित। अजड़=मूल बिना। अघड़=बनावट विहीन। अनड़=अनाड़ीपन नहीं। अभड़=योद्धा नहीं। अजढ़=ज्ञानस्वरूप, जड़ता रहित। विनांण-प्रवाण=परम चतुर। वप=अशरीरी। नांव न=संज्ञाहीन। निहार=हार नहीं, थके नहीं। उछाह=उत्साहरहित। अछेह=अन्तरहित।

पाठभेद—अवंग=३-४-५। अव्यंद=२। अघूत=५।

अकाज न राज अठग विचारि , गहर गंभीर समाधि मुरारि ॥
अदेह असाज अगेह अविंद , असलि अहल अचल अजिंद ॥२२॥

अकाज=कार्यहीन। न राज=जिस पर कोई राजा नहीं। समाधि=निश्चल दशा। मुरारि=निरञ्जन। असाज=कोई सामग्री नहीं। असलि=वास्तविक, सही। अहल=अकम्पित। अजिद=जीवभाव नहीं।

गरीबनिवाज समंद निगाज , मछ कछ न नीर न कीर न साज ॥
भयानन भूत औधूत न धूत , उदास न तास पिता नहिं पूत ॥२३॥

समंद निगाज=समुद्रवत् गम्भीर। भयानन=महाकालवत्। भूत न=पञ्चभूत नहीं। धूत न=धूर्त नहीं। उदास न=सब सृष्टि पर ध्यान देने वाला।

मठ मोनि न जोनि न स्याम न सेत , न मोह न दोह न क्रोध न हेत ॥
अलिंग असंग निअंग निसोर , रहैति कहैति जनम न जोर ॥२४॥

अलिग=चिह्नरहित। निअंग=अवयवविहीन। रहैति=रहणी नहीं। कहैति=कहणी नहीं।

अदत अमत अवत अजत , अगिर अतिर असर अहत ॥
निराकार अपार अरुप न रुप , रसराज न रैत न दुष न सुष ॥२५॥

अदत=अदेय। अमत=मतमतान्तररहित। अवत=वाणीरहित। अजत=अजेय।

रस वेद कतेव न रोज न राग , सुष सेझ न दुष अनींद अजाग ॥
निगम अगम त्रिविध न त्रास , तत आनंदमूल अनंत प्रकास ॥२६॥

रस वेद=वेद का पक्ष नहीं। कतेब न=कुरान का हुक्म नहीं। रोज न=रोना नहीं, रोजे नहीं। न राग=गाना नहीं। सेझ=शय्या। निगम अगम=वेदशास्त्र नहीं। त्रिविघ=तीन गुण नहीं। त्रास=भय। तत=तूँ।

सुष आदि अनादि विजोग न सोग , वप वोट न चोट अजिग अजोग ॥
इकलस पुरिस हरि ऊँच न नीच , तन ताप न तेज विघन न बीच ॥२७॥

विजोग=वियोग। न सोग=शोक नहीं। वोट=आड़ नहीं। चोट=प्रहार। इकलस पुरिस=एकरस रहने वाला। बीच=मध्य नहीं।

तूँ पाक अछाक अछिय अभेव , निरंजन नाथ इहै तोहि टेव ॥
निरसिंध निरधार अरथ न आंन , परम पुरुष पयोधर पान ॥२८॥

पाक=पुनीत। अछाक=अतृप्त। इहै=यह। तोहि टेव=तेरी आदत। अरथ न आन=दूसरा कोई धन नहीं। पयोधर पान=तूँ स्तनपान नहीं करता, अजन्मा।

पाठभेद—अछिक–२। यहै–३–४। पुरिष–२।

अभूष अरूष अजर जहाज , तोहि काम न क्रोध न लोभ न लाज ॥
तत आस उदास अहेत न हेत , जष जोनि न जीव रगत न रेत ॥२६॥

अरूष=स्निग्ध, रौक्ष्यहीन। अजर जहाज=जीर्ण न होने वाला वाहन। तत=तत्व नहीं। जोनि न=कोई योनि नहीं। रगत=रज। रेत=वीर्य नहीं।

अधर अकर सुखाँ सुखरासि , समाधि अगाध इह अरदासि ॥
अहल अचल अपल अवैद , अपार विचार अधार अकैद ॥३०॥

अकर=करणोरहित। इह अरदासि=यही प्रार्थना। अहल=अज्ञेय। अपल=कालातीत। अधार=निराधार। अकैद=बन्धन-विहीन।

दोहा– जन हरिदास अरचित अनंत, गिणती ग्यांन न कोइ ॥
साध जांण सुमरिण करै , मन आलंबन होइ ॥३१॥
साची माला सुरति की , लै सुनि समाना चित्त ॥
धुनि मांहि धन पाइया , राम सरीषा वित्त ॥३२॥
जन हरिदास अनगति अगम , रहै सकल तैं दूरि ॥
सतगुरु मिले तो पाइए , हरि जहाँ तहाँ भरपूरि ॥३३॥

जांण=समझ। आलंबन=आधार। लै=लय। सरीषा=समान।

॥ इति ब्रह्मस्तुति समाप्त ॥

पाठभेद—सुमरण–५। आलंबन–१। धुन्य मांहीं–२। पाइये–२।

॥ अथ मूलमन्त्र जोगग्रन्थ ॥

दोहा—सुर नर मुनि द्रिगपाल दिनि, रोम सिध थिर नांहि ॥
येक सकति की पलक में, कितना आवै जांहि ॥१॥
अलष पलक लागे नहीं, हरि सकल भवन पतिराइ ॥
अणहूवा सो रहेगा, जो हूवा सो जाइ ॥२॥
पारब्रह्म सूँ प्रीति परम निज भेद विचारे ॥
ज्ञान षड्ग ले हाथि आंन अनरथ अरि मारे ॥३॥
साजनिवाजि निरभै करण, हरि सुरनर सबका ईस ॥
नाथ निरंजन परदुषहरण, जहाँ तहाँ जगदीस ॥४॥
उपजि न विनसै येक रसि, हाजिर जहाँ हजूर ॥
पूरण ब्रह्म अकास ज्यौं, जहाँ तहाँ भरपूर ॥५॥
लकड़ी काटी कटत है, अगनि न काटी जाइ ॥
दार अगनि ज्यों परम गुरु, जहाँ तहाँ समिभाइ ॥६॥
फूल वास तिल मैं दुरी, तिल का तैल फुलेल ॥
हरिजन हरि ऐसे मिल्या, अरस परस यहु षेल ॥७॥
वार पार मधि नाहिं, राम भजि भेद बताया ॥
जहाँ तहाँ गोपाल, गाइ ज्यौं आगे गाया ॥८॥
नाराइण निरवांण, ताहि कोइ विरला जांणै ॥
धागै लागा जाइ, आप कूँ आप पिछाणै ॥९॥
हारि जीति हठ सुपठ, निकट निज वसत न दरसै ॥
झूठ तहाँ जाइ दुरै, फिरै तो पारस परसै ॥१०॥
निरसंसै निरदंद, जोर नहिं जेर न जरणां ॥
नादविंद नहिं जीव, जनम नहिं अवधि न मरणां ॥११॥

पाठभेद—दुषहरन-१-३-५। एकरसि-३-४-५। ज्यूँ-२-३-४-५। नृवांण-३-५। निकटि-२-३-४-५। बस्त-३-४-५।

शब्दार्थ—दिनि=सूर्य। रोमसिध=लोमस ऋषि। साजनिवाज=सब सिद्धि देने वाला। दार=काष्ठ। दुरी=समाई। धागै लागा=सुरति द्वारा। जेर=दौर्बल्य।

निराकार निहचल अचल , हरि अभराभरण अनंत ॥
परम ग्यान पर ध्यान दे , हरि सुपह लगावे सन्त ॥१२॥

तरवर अगम अरुति , बीज अंकुर नहिं आया ॥
पंचतत नहिं पोष , फूल फल डाल न छाया ॥१३॥

निरालंब निरलेप , निडर निरभै निहकामी ॥
निरामूल निहकर्म , सुतौ हरि अन्तरजामी ॥१४॥

ब्रह्मविचार अपार अजीत , अरि लगै न नरहरि ॥
अखिल अतिर सुचि सुथिर , गया भजतां भै थरहरि ॥१५॥

परगट परमगति परममति , परमनाथ परपोष ॥
परम सनेही परम सुष , अलैह अगैह निरदोष ॥१६॥

अषिर अपर बेहद सुथिर , अजर अमर निज नाथ ॥
अधर सुधर मीठा मधुर , चितहित मनकरि हाथ ॥१७॥

अछल अमल अनहित अटल, अकल सकल बलि जांव ॥
ए सब करि सबतैं अगम , बहुड़ि अकरता नांव ॥१८॥

अधर गहर विसंभर अकर , तन धन सुत वनिता नहिं प्रीति ॥
भजि इकलस एक अनेक गत, रजा तहाँ रस रीति ॥१९॥

अलिप अछिप जहाँ तहाँ छिप्या, छाया पड़े न छोह ॥
सकल भवनपति सतिसदा , निरामोह निरदोह ॥२०॥

अहत अमित अवगति अजित, अनंत सनंत मुरारि ॥
चिदानन्द अरिंचित अरत , चित मांही वित धारि ॥२१॥

पाठभेद—मूल–१ । क्रम–२–३–४–५ । प्रगट–३–४–५ । अलह–अगहै–४–५ । अक्षर–५ । ये–२ । यकलस–३–४ । अहित–५ । अहैत–४ । अजत–४–५ ।

शब्दार्थ–अभराभरण=न भरने वाले को भर देने वाला । सुपह=सन्मार्ग । अरुति=बेमौसम । अरि=शत्रु । भै=भय । थरहरि=कम्पायमान । अषिर=अक्षर । अकल=कलन रहित, कलारहित । इकलस=निरन्तर । रजा तहां रसरीति=ईश्वर आज्ञा में रहे तभी उस आत्मरस-प्राप्ति की रीति आती है । छाया पड़े न छोह=उस निराकार में न माया की छाया पड़ती है, न गुणों के सम्बन्ध से कोई क्षोभ होता है । सतिसदा=सर्वदा सत्य । सनंत=अन्तरहित । अरचित=अनिर्मित । अरत=अनाशक्त ।

रस रोग भोग जोगी नहीं, निरादेह निरवास ॥
बरणबिबरजित कहि अकहि, उदर उबर नहिं सास ॥२२॥
अघट सनट नहिं करमपट, भरम न कोई भेष ॥
घट धरि घड्या न अब घटै, अपरंपार अलेष ॥२३॥
प्राणनाथ अकरण करण, भगवंत धरणीधर हरि ॥
राम नाम गोविन्द भजौ, परपंच पष परिहरि ॥२४॥
अलख निरंजन अवगति राम, निराकार निरभै विसराम ॥
हरीदास जन यूँ कहै, ररंकार मूल निज नाम ॥२५॥
मूलमंत्र सतगुरु दिया, दुष सुष दोइ दुरया सराप ॥
आठ पहर की उनमनी, अंतरि अजपा जाप ॥२६॥
ग्यान ध्यान यहु दान, नांव उनमानि ज्यौं लीजै ॥
गरब छाडि गोविन्द भजौ, भजि इम्रित पीजै ॥२७॥
नांव धरूं तौ में डरूं, वहुड़ि भजन तहाँ नाँव ॥
जन हरीदास की बीनती, वाप राम बलि जांव ॥२८॥
बेकीमति कीमति कहा, भजि परपंच पष तजि दोइ ॥
जन हरीदास हरि सुमिरताँ, काँटा लगै न कोइ ॥२९॥

॥ इति मूलमन्त्र जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

पाठभेद—अव घडै–४–५। गोविंद–३–४–५। न्यरभै–२। त्रिभै–१। यों–४–५। विष तज अमृत पीजै–५। वहौड़ि–२–३–४। सुमरता–१–४–५।

शब्दार्थ—उदर=जन्म लेना। उबर=बचना। सनट=सुनृत्यकर्त्ता। घड्या=बनाया, रचा। दुरया=हरया, छिपा। उनमनी=अन्तर्वृत्ति। यहु=यही। नांव धरूं तो मैं डरूं वहुड़ि भजन तहाँ नांव=परब्रह्म का कोई नाम नहीं, उसके नामकरण से मैं डरता हूँ–फिर भी स्मरण के लिए नाम की कल्पना की जाती है। पष तज दोइ=द्वैत का पक्ष त्याग। कांटा=जन्ममरणरूप, दुःख-सुखरूप।

॥ अथ नाममाला जोगग्रन्थ ॥

भजि करुणांनिधि करतार, करम भै भरम निवारण ॥
समरथ सिरजनहार, बिवधि जम का फंद जारण ॥१॥
केसो रमताराम, हाथ जन कै सिर धारण ॥
नाराइण गोपाल, संत राषण रिप मारण ॥२॥
परम सनेही नाथ, त्रिविध गुण गहर गुदारण ॥
अबिनासी हरि अषिल, करण निरविष दुषदारण ॥३॥
इनका करो प्रहार, रघुनाथ निज आँषि उधारण ॥
गैबलि करि गोविंद, चिंता अरि विरष उपारण ॥४॥
अपरंपार अपार, पार भौसिंध उतारण ॥
तुम नरहरि निरवंस, वंस तोहि साध सुष कारण ॥५॥
निरसंसै सूँ प्रीति, ताहि संसो क्यों ग्रासै ॥
जहां अजपा तहां वैसि, बात अणभै अभ्यासै ॥६॥
नट निरभै निरभेष, अरीझ हरि रीझै नाँहि ॥
निरमल निकट हजूरि, अगहि अभि अंतर माहि ॥७॥
परम रीति पर प्रीति, परम निधि आपण स्वामी ॥
जुरा काल भै हरण, करण निरभै निज नामी ॥८॥

पाठभेद—सम्रथ-३-४। बिबिधि-४। रुघनाथ-४-५। भौस्यंध-२। स्यों-१। क्यूं-२-५। नृमल-३-४। अगह-३-४-५।

शब्दार्थ—नाममाला जोगग्रन्थ=निरञ्जननाममाला के निरूपण का ग्रन्थ। जन कै= साधक भक्त की। त्रिविध गुण गहर गुदारण=त्रिगुणात्मक गंभीर माया को हटाने वाला। इनका=कामादि षड्रिपुओं का। गैबलि=हस्ती की तरह बल दो। तुम नरहरि निरवंस, वंस तोहि साध सुष कारण=हे नरहरि! आप निर्वंश हैं—सन्तानरहित हैं, पर साधु जन आपकी सन्तान हैं तथा आपको सुख पहुंचाते हैं—आप अपने भक्तों तथा साधकों से ही प्रसन्न रहते हैं। जहां अजपा तहां वैसि, बात अणभै अभ्यासै=जिस हृद्गुहा में अजपा-जाप का स्थान है, वहीं वृत्ति को स्थिर कर अभ्यास द्वारा आत्मानुभूति करिये। नट=जगन्निर्माता नट है। अभि अन्तर=हृदय की जानने वाले, बाह्य तथा अन्तर की जानने वाले। पर प्रीति=अतिस्नेह। आपण=अपनी। जुरा=बुढ़ापा।

परम पुरिष परकास, लहै कोई गुरु गम सूरा ॥
सोई ब्रह्म सचराचर, सकल विश्वव्यापी पूरा ॥९॥
परम तेज परजोति, परम दुषभंजरा सोई ॥
परमसुनि परदेव, जीव जागि सुमिरै नहिं लोई ॥१०॥
परम ग्यान पर ध्यान हरि, परम सुष साच बतावे ॥
परम जोग पर भोग हरि, परम गति ले पहुँचावे ॥११॥
निरालंब निरलेप, अचल चरणां चित धारं ॥
हरि निरगुण निरछेह, वार नहि लाभै पारं ॥१२॥
अकल अभेद अछेद, निरूप निरभै घर पाया ॥
निराकार निरवाण, प्राण मन तहाँ समाया ॥१३॥
अवगति अगम अलेष, ताहि कोई विरला परसै ॥
अजोनी असथिर अचिंत, अभि अंतरि दरसै ॥१४॥
अदिष्टि अषिर अरूप, अथाह निरमोह स न्यारं ॥
निरामूल निरधार, निकुल निरपष निज सारं ॥१५॥
परमतत्त परभेद, सकल जुग मंड़ण जोगी ॥
पारब्रह्म हरि अषिल, रस रोग रसना नहिं भोगी ॥१६॥
अधर अजर समि भाय, जीव सत्र जलि थलि पोषै ॥
अकह निरंजन देव, साध सुमिरै मन चोषै ॥१७॥

पाठभेद—आतम-३। गुर-२-३-४-५। विस्व-२-३। विस-४। भंजन-३-४-५। घर के स्थान पर "पद"-३। नृवांण-२-५। प्रसै-१। अस्थिर-४-५। अदिष्ट-१। निरमोह सूँ-४। प्रभेद-१। जग-४। सम-४-५। अकहि-३। साधु-१।

शब्दार्थ—परकास=ज्ञानज्योति। गम=भेद। लोई=हे जीव। निरछेह=निःसीम। लाभै=मिले। परसै=स्पर्श करे। असथिर=स्थिर। निकुल=वंशविहीन। परभेद=(परम ज्ञान) परम भेद या अभेदी भेदरहित। रसरोग=जो रसास्वाद का इच्छुक नहीं—जो इन्द्रियभोग रहित है। सम भाय=सबका मित्र। पोषै=पोषण करे। अकह=अकथनीय। चोषै=अच्छे, शुद्ध मन से।

अहत अछीज अनेक, निरास निरभै सुष सारं ॥
अकरम अरत अलोक, विरषा रस इमृत धारं ॥१८॥
येकमेक भरपूरि, दूरि तोहिं कहूँक नेरा ॥
निज तरवर निरसिंध, प्राण तहाँ पंषी मेरा ॥१९॥
अषंड षंड ब्रहमंड, सकल में साच लुकाया ॥
जन हरीदास हरि अघट, आथि गुर गम तै पाया ॥२०॥
जहाँ हरि राषै तहाँ मैं रहूँ, हरि पठवै तहाँ जाँव ॥
जन हरीदास की बीनती, मैं हरि नहिं छाडूँ हरि नाँव ॥२१॥

॥ इति नाममाला जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

पाठभेद—अहैत-४। ब्रषा-२। इम्रत-३-५। एकमेक-३-४-५। निइरा-४। ब्रह्मंड-१-५। गुरु-१। छाड़ौं-१-५।

शब्दार्थ—येकमेक=ओतप्रोत, व्याप्त। निज तरवर=माया अविद्यारहित ब्रह्मरूप निज तरवर-आप ही ऊर्ध्वमूल अधःशाखा वाले अश्वत्थ वृक्ष हो "प्राण तहाँ पंषी मेरा" वहाँ सद्-असद् वृत्तिमय पंखों से रहित प्राणमय मेरा पक्षी निवास करता है। आथि=अर्थ, तत्व, अन्त में।

॥ नामनिरूप जोगग्रन्थ ॥

नाम निरूप परम सुष, जांणे बिरला कोइ ॥
जन हरीदास ताकूँ भजै, तबही आनंद होइ ॥१॥
परापरै पूरणब्रह्म, फेरि तहाँ मन लाइ ॥
गरब छाँड़ि गोविन्द भजो, जनम अमोलक जाइ ॥२॥
सतगुरु मिले तो पाइये, हरि परम सनेही तात ॥
बहौड़ि बहौड़ि लाभै नहीं, इह औसर इह घात ॥३॥
भै छाँड़ो निरभै भजो, गुणाँ रहित गोपाल ॥
अगम ठौर आनंद सदा, जुरा जनम नहिं काल ॥४॥
जोगारंभ का मूल है, हरि अवगति अपरंपार ॥
सुषसागर समरथ धणी, सबका सिरजनहार ॥५॥
निरभै पद नर करि चढ्या, मनिष जनम भल देह ॥
निराकार निसदिन भजौ, हरि अगणित अनंत अछेह ॥६॥
मनिष जनम षरचै रषे, हरि बिण दूजी ठौर ॥
सास उसासां नांव लै, नर दौरि सकै तो दौर ॥७॥
जागि जीव सोवे कहा, प्रथम मोह तजि मांण ॥
साध मुलक तहाँ वास करि, जम ले सकै न दांण ॥८॥
भगति करौ भगवंत की, मन दीन्हा सिधि होइ ॥
मन बिण दीन्हा मन लडू, षाइ न धाया कोइ ॥९॥
पाप पुनि दोन्यौं बिरष, तहाँ करै मन पान ॥
मन ये दोन्यौं तरवर तजै, तब पावे भगवान ॥१०॥

पाठभेद—भजो-२-५। ग्रब-१। बहुड़ि-१। यह-३-४-५। रहैत-२-४। रहत-३-५। जन्म-३। अविगति-१। सम्रथ-२-३-५। चढ्यो-१। दौड़ि-१। डांण-४-५। दोन्यू-३-५। ए-३-४-५।

शब्दार्थ—बहौड़ि=बहुरि, पुनः। औसर=मौका। घात=ताक। करि चढ्या=हाथ लगा। प्रथममोह=अनादि अज्ञान। मांण=मान, अहङ्कार। दांण=(दंड) कर। धाया=तृप्त हुआ।

भरम छांड़ि निरभै मतै, निरभै बसत विचारि ॥
गुरु आषिर कर बांण धरि, मोह महा रिप मारि ॥११॥
करि धारण केसौ भजौ, समझि न कीजै सोच ॥
यहु औसर चलि जायगा, बहौड़ि न लाभै पोच ॥१२॥
राम भजौ विषया तजौ, घर मांही घर एक ॥
ता घर स्यूँ लागा रहौ, छांड़ो द्वार अनेक ॥१३॥
हरि सुमिरण हिरदै धरो, विथा न पहुँचै वीर ॥
काइर टलि कांनै चल्या, लग्या न सुष को सीर ॥१४॥
परम पुरिष मैं रिप भजौ, लता न लागै लोइ ॥
अवधि घटै ग्रासै जुरा, हरि भजतां होइ स होइ ॥१५॥
नांव विसंभर नाथजी, लष चौरासी प्रतिपाल ॥
सब काहू की करत है, ता तैं राम दयाल ॥१६॥
मन सजन तो सूँ कहूँ, मानौं साच हदीस ॥
काल जाल लागै नहीं, सुमिरतां जगदीस ॥१७॥
ऊँच नीच निरभै मतै, कोई भजौ मुरारि ॥
भौसागर तिरबो कठिन, हरि नाँव उतारै पारि ॥१८॥
भूधर तैं बाजी रची, बाजी मांहि कलाम ॥
षट दरसण षोजत फिरैं, पषापषी विसराम ॥१९॥
कालहरण करता पुरिस, सुमिरताँ गुण एह ॥
चित माँही चित ले रहो, ज्यूँ बहौडि न धरिये देह ॥२०॥
वनमाली भजताँ भला, जुरा जनम नहिं तोहि ॥
मैं नहिं छाँड़ो राम को, राम न छाँड़ै मोहि ॥२१॥

पाठभेद—बस्त–१-३। अक्षर–३। सूँ–३-४-५। कायर–२। पुरुष–१-४-५। होय–३। प्रतपाल–२-५। तोस्यो–१। कह्यो–१। द्रसण–१। येह–२। च्यत–२। धरिए–४-५।

शब्दार्थ—आषिर=अक्षर, उपदेश। करि धारण=धारणा, श्रद्धासहिता। पोच=डरपोक, कायर। विथा=पीड़ा। काइर=डरपोक, पोच। कांनै=एक ओर, टाला देना। लता=लात, धक्का। लोइ=लोक। हदीस=निश्चित शब्द। कलाम=हद कर दी।

बात हाथ रघुनाथ कै, सदा साध कै साथि ॥
पैलै अंगि छाड़ै नहीं, जाकौं पकड़ै हाथि ॥२२॥

नाराइण के नाँव की, मैं बलिहारी जाँव ॥
भृङ्गी कीट पतंग ज्यूँ, दुरै दूसरो नाँव ॥२३॥

परमानन्द के आसरै, जाइ पड़ै जब जीव ॥
हरि महरि निजर देषै जबै, तबै जीव सूँ सीव ॥२४॥

सकल वियापी संगि बसै, हरि समरथ सिरजनहार ॥
साहिब ही तैं पाइये, साहिब का दींदार ॥२५॥

अविनासी आसण अमर, अजरावर नग एक ॥
राम दया तैं पाइये, हरि सुमिरण भाव विवेक ॥२६॥

इलम पढ़ै पढ़ आरबी, च्यारि पढ़ै मुष वेद ॥
सदगति सुख सब तैं अगम, सब कोई करै उमेद ॥२७॥

अषिल तुम्हारी बंदगी, बहोत करे वहौं भाइ ॥
अलाह कृष्ण अरिहंत कहै, कोई कहैं षुदाइ ॥२८॥

सब कोई चाहे तुझकूँ, तूँ तौ सब ही माँहि ॥
तुम ही तैं तुम पाइये, बन्दे तैं कुछ नांहि ॥२९॥

पारब्रह्म परदुषहरण, प्राण तहाँ मन लाइ ॥
भेद सहित भै रिप भजौ, हरि गाई जै त्यूँ गाइ ॥३०॥

मिहरि कहौ मीरां कहौ, कोई कहौ अनंत ॥
निराधार निरगुण कहौ, तथा कहौ भगवंत ॥३१॥

पाठभेद—रुघनाथ–४-५। जाकू–२-३-४-५। कै–४। ज्यों–१। अंगी–२। मिहिरि–१। मैहैरि–४। संम्रथ–३-४। चारि–१। बहु–१। अलहा–३-५। अल्ह–४। तुझि कूँ–३-४। सहत–३-५। सहैत–४। महरि–३।

शब्दार्थ—पैलै=दूसरे के, अन्त तक। पैलै अंग=प्रथम अंग, चरण। महरि=दया, अनुग्रह। सीव=ब्रह्म। नग=अमूल्य रत्न। विवेक=सत्यासत्य विचार। इलम=विद्या। आरबी=अरबी, कुरान। भेदसहित=सत्यासत्य विवेक सहित। मिहरि=दयालु। मीरां=महान्।

निरामूल निरपष कहौ, कहौ निरषर नांव ॥
निरमोही निरदुंद कहौ, वा अरचित की वलि जाँव ॥३२॥

अलष अगम अवगति कहौ, कहौ निरंजन राम ॥
अरत कहौ अलपत कहौ, अंत धणी सूँ काम ॥३३॥

धरती धारण अमरवर, नांव दया धौ ज्ञान ॥
आतम अंतर राषिये, धणी तुम्हरौ ध्यान ॥३४॥

अपणी अपणी अकलि लै, सब को पठवै पांण ॥
पार न लाभै पैर तां, इहै रजा रहमांण ॥३५॥

हारि जीत सुष दुष रहत, निगम अगम रस एक ॥
हरि ज्यूँ का त्यूँ ही देषिये, यौ ही बड़ा बमेक ॥३६॥

कहा अतोल को तोलिये, अलष अभेद अदेह ॥
ग्यान ध्यान मति गति अगम, अजपा राम अछेह ॥३७॥

निराकार निरभै निड़र, निरामुल निज नाथ ॥
भुज अनंत लोचन अनंत, परै न पहुंचे हाथ ॥३८॥

जहाँ तहाँ हरि देषिये, वार पार मधि नाँहि ॥
सकल बियापी संगि बसै, ताहि छाड़ि मति जांहि ॥३९॥

मोह दोह मैं तैं मनी, काम क्रोध भ्रम दूरि ॥
मन उनमनि लागा रहै, तहां बस्त भरपूरि ॥४०॥

चित चंचल निहचल भया, मन कै पड़ै न राइ ॥
हरि निरगुण निरभै मतै, जहाँ तहाँ समि भाइ ॥४१॥

पाठभेद—निरदुंद–१। अविगति–१। अलपति–१। धणी स्यूँ–१। आतम–२-४। अहै–२। रहमान–२-३-४। रहैत–२-३। ज्यौं–१। त्यौं–१। तोलिए–३-४-५। देषिए–४-५। बसत–२-४। च्यत–२।

शब्दार्थ—अरचित=अनिर्मित, अनादि। अलपत=निर्लिप्त। धणी=स्वामी। पांण=बल, ताकत। रजा=हुक्म। मनी=अहंकार, मान्यता। बस्त=अलभ्य वस्तु, परब्रह्म।

हरि चिंतामणि सबमें बसै , जाणें बिरला कोइ ॥
राम दया तब जाणिये , साध कहै त्यूँ होइ ॥४२॥
गंग जमन मधि मुकति फल, सतगुरु दिया बताइ ॥
मन लोभी लालचि पड्या , ता सुष में रह्या समाइ ॥४३॥
अनंत साध आगे भया , परसि परसि भौ पार ॥
जन हरीदास सिर कै सटै , जहाँ तहाँ दीदार ॥४४॥

॥ इति नामनिरूपण जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

॥ अथ निरञ्जनलीला जोगग्रन्थ ॥

गाइ गाइ गावे कहा , गावण मांहि बिमेक ॥
एक गाइ दह दिसि गया , एकां परस्या एक ॥१॥
गुर हम स्यूँ एसी करी , जैसी गुर तैं होइ ॥
अगम ठौड़ आनंद सदा , पला न पकड़ै कोइ ॥२॥
गुर निरभै चेला निड़र , गुर निराकार सब माँहि ॥
चेला तन धरि तहाँ मिल्या , सो तन धरि नाचै नांहि ॥३॥
प्रगट परम गुर पारब्रह्म , परम सनेही सोइ ॥
आप दिषावे आप कूँ , करम किंवाड़ी षोइ ॥४॥
राषणहारा राषि तूँ , आप आपणें हाथि ॥
भी फिरि मन चाले नहीं , ऊठि और के साथि ॥५॥

पाठभेद—च्यंतामणि–२ । :त्यौं–१ । मुक्ति–३ । लालच–४-५ । प्रसि–१ । दिहि–३ । दिस–४-५ । हम सूँ–३-४-५ । सूँ–२ । ठौर–१ । परगट–१-५ । उठि–१-५ ।

शब्दार्थ—गंग जमन मधि मुकति फल=इडा-पिंगला के बीच सुषुम्ना में प्राण आधारित करने पर मुक्तिरूपी फल मिलता है । ता सुख में=विषय-वासना के सुख में । भौ=संसार । दीदार=दर्शन, आत्मपरिचय । परस्या=मिला, प्राप्त किया ।

साजिनिवाजि निरभैकरण, भरम विथा भै दूरि ॥
परम पुरष परदुषहरण, हरि जहाँ तहाँ भरपूरि ॥६॥
अरस परस आनंद सदा, थक्या आंन सब गोंण ॥
हरि समरथ सुष निभर भरि, कीमत करै स कौंण ॥७॥
निरगुण का गुण का कहूँ, कथिये कहा अकथ ॥
अकल तुम्हारे आसिरे, सकल भवन समरथ ॥८॥
गंग जमन मधि एकरस, सुष में सुरति निवास ॥
जोगारंभ लागा रहै, त्रिवेणी तटि वास ॥९॥
परापरै परसिध पुरष, माया रहैत अभंग ॥
सेवग की सेवा करै, साध तहाँ परसंग ॥१०॥
नानाविधि सुणि सुणि असुणि, बहु विधि करै विचार ॥
जन हरीदास लहि लहि अलहि, हरि अवगति अपरंपार ॥११॥
त्रिविध ताप संसौ न सूल, परमभेद आनंदमूल ॥
उदै न अस्त आवे न जाइ, सकल वियापी सहज भाइ ॥१२॥
मोह दोह आसा न पास, बरणबिबरजित सुयंप्रकास ॥
काम क्रोध त्रिष्ना न ताप, ग्यान ध्यान जोगी न जाप ॥१३॥
तात मात सांसो न संक, साह वैद रोगी न रंक ॥
घट घटा रसना न रीति, ऊँच नीच परसै न प्रीति ॥१४॥
निरालंब निरलेप राइ, रहण डसण वप नहीं ताहि ॥
धरणी गिगनि समंद न हीर, जल ज्वाला मछी न कीर ॥१५॥

पाठभेद—गोंन–२-३-५। सू–२-३। निरगुन–१। भुवन–१। येकरस–२। रहत–३-४-५। वहो–३-५। अपरम–४। त्रिवधि–२-३-५। असत–२-५। संसो–१। ग्यगनि–२।

शब्दार्थ—साजनिवाजि=सब सामग्री का दाता। भरम=सत् में असत्, असत् में सत्। विथा=जन्म-मृत्यु की पीड़ा। भै=द्वैतभय। थक्या=हारा। गंग जमन=मन प्राण, इडा पिंगला। जोगारंभ=चित्तवृत्तिनिरोध। त्रिवेणी=त्रिकुटी। अभंग=अविभक्त। त्रिविध ताप=आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक। सांसो=सशय। रसण डसण= रसना का स्वाद।

पुरिष नारि श्रवणां न सास , षांन पान इन्द्री न आस ।।
गुण गीत नाद न्यारा न नेह , हरि वृद्ध बाल छोटा न छेह ।।१६।।
तेजपुंज निहचल निवास , बाहरि भीतरि ज्यूँ आकास ।।
जन हरीदास भजि सहज भाइ, सकल वियापी राम राइ ।।१७।।

अस्तुति इंदव छन्द

सुतो हरि हुवा न होसी न आवे न आया , हितहीन बितहीन भूषा न धाया ।।
ग्यानेन ध्यानेन वरणै न भेषं , अकजै न काजे न रूपे न रेषं ।।१८।।
सिध ही न साधेन सेवा न पूजा , गुरहीन चेला न एकै न दूजा ।।
घटहीन पटहीन नटहीन बाजी , नैडा न न्यारा न रूसै न राजी ।।१६।।
नादेन विंदेन सिधि न गाई , छलहीन बलहीन मारै न षाई ।।
धरती न गिगने न चंदे न सूरा , सिलतान सिन्धेन वोछा न पूरा ।।२०।।
उपजे न विनसै न त्रिधै न वालं , करणा न क्रोधं न काया न कालं ।।
घरहीन वनिता न वस्ती न सून्यं , रसिया न रोगी पापै न पुन्यं ।।२१।।
जपहीन तपहीन कुलहीन लाजै , मतिहीन मुगधै न रुतहीन गाजै ।।
मरिहीन मारै न जीवैन जौरा , रनहीन वनहीन वाड़ी न भौंरा ।।२२।।
आदे न अंतहीन वारै न पारं , वीजै न वकला न मीठा न षारं ।।
वंधहीन मुकता न कलपै न कहरं, निरभै न भैहीन मिश्री न जहरं ।।२३।।
जरणा न जोगी न इच्छ्या न वाचै, नरहीन नारी न हीरा न काचै ।।
गुणहीन गाथा न भरमै न भेदं , तनहीन त्रासै न कंधहीन छेदं ।।२४।।

पाठभेद—त्रिध–१ । सहजि–२-३ । गुरु–१ । गगने न–४-५ । वृद्धे न–३-४ । पुनि–४ । मुग्धै–१ । अंछया–४ ।

शब्दार्थ—छेह=अन्त, पार । सहज भाइ=स्वभाव, सहजवृत्ति से । रूसै=नाराज । सिलता=सरिता, नदी । सिन्धे=समुद्र । मुगधै=मोहित । रुत=ऋतु, मौसम । जौरां=बल, मद । कहर=काल, क्रोध । वाचै=वाणी का विषय । कंध=(धड़) ग्रीवा ।

वपहीन त्रिनसै न ग्रभै न मूलं , मंत्रै न वैरी न संसै न सूलं ॥
रिणहीन राजा न सेन्या न साथी , मुलकै न माया न असहीन हाथी ॥२५॥
राचै न विरचै न रीभै न रोवे , मनहीन मौनी न मैला न धोवे ॥
रहता न बहता फूटा न सारं , सुषहीन दुषहीन चिंता न चारं ॥२६॥
थितहीन थांनै न आसा न पासं , बैठा न चलिहै न देवे न दासं ॥
सूद्र न षत्रीन विप्रेन वंसै , गिरहीन तरहीन सरहीन हंसैं ॥२७॥
जरणा न षीजै न कणहीन छोहो , इंद्री न धाते न मांसै न लोही ॥२८॥

दोहा– वारपार मति गति अगम , परै न पहुँचै हाथ ॥
जन हरीदास सो कौंण है , भरे आभ सूँ बाथ ॥२९॥
मसि कागद पहुँचै नहीं , अगम ठौड़ है लोइ ॥
जन हरीदास ऐसी कथा , जाणें विरला कोइ ॥३०॥
जन हरीदास अवगति अगम, जहाँ भ्रांति नहिं छोति ॥
हम बात तहाँ की लिखत हैं , कर लेषणि विण दोति ॥३१॥

॥ इति निरञ्जनलीला जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

पाठभेद—मित्रै-१ । च्यंता-२ । थितिहीन-१ । छत्रीन-२ । विनि-४ ।

शब्दार्थ—मंत्रै=मित्र, सखा । रिण=युद्धभूमि । ग्रस=अश्व, घोड़ा । राचै=आसक्त, अनुरक्त । विरचै=विरक्त । थित=स्थिति । पास=बन्धन । षीजै=क्रोध करे । छोही=छिलका, तुस । आभ=आकाश, बादल । मसि=स्याही । छोति=छुआछूत, अस्पृश्यता । दोति=दवात ।

॥ अथ साधचाल मोतीदाम छंद ग्रन्थ ॥

पाँच अटकि उलटा चलै , डोरै लागा जाय ॥
येक दिहाड़ै साच मैं , सहजै रहै समाय ॥१॥

आपा का ईंधण करै , काम क्रोध फुनि छार ॥
येक दिहाड़ै साच मैं , सहजि मिलै भरतार ॥२॥

आपै न चढणाँ , वादै न करणाँ ॥
निरति सूँ चालिबा , सुरति सूँ बोलिबा ॥३॥

काम कूँ ग्रासिबा , मिथ्या न बोलिवा ॥
तीनि गुण पाइबा , रवि ससि मेलिबा ॥४॥

परम पद पाइबा , नौ नाथ नाथिबा ॥
सात सागर सोषिवा , नौसे नदी उलटिचालिबा ॥५॥

प्राण पुरिस पोषिवा , बहत्तर छाजा न षेलिवा ॥
दुष सुष मेटिबा , सुर तैतीस तारिवा ॥६॥

अहुं मेव मारिवा , गिगन चढ़ गरजिवा ॥
इन्द्र उपदेसिवा , अथाह थाविवा ॥७॥

अदिष्ट विचारिवा , कोड़ी सूँ न षेलिवा ॥
हीरा न हारिबा , अरथ का नेत्र उघाड़िबा ॥८॥

अनरथ न पालिवा , सील संतोष की सनाह अंगि पहरिवा ॥
सुमिरण की सौंज लेवा , अगम कूँ चालिवा ॥९॥

पाठभेद—एक-३-४-५ । खेलिवा-१ ।

शब्दार्थ—अटकि=रोककर । डोरे=सुरति रूप धागे से । दिहाड़े=दिन । आपा=गर्व । निरति=निरख कर, देखकर, निराधार वृत्ति । सुरति=ध्यानमय, साधार वृत्ति । रवि=प्राण, इडा । ससि=मन, पिंगला । नौ नाथ=नवद्वार । सागर=रसादि सप्त धातु । नदी=नाड़ियां । बहत्तर=बहत्तर कोठे । अहुं=आपा । गगन चढ़ गरजिवा=निराधार वृत्ति से अनहद नाद । थाघिवा=थाह लेना । कोड़ी=मायिक पदार्थ । हीरा=मनुष्यजन्म (ब्रह्मरत्न) । अरथ=सत्यज्ञान । सनाह=कवच ।

धरचा में अधर दरसिवा , सुष कै स्यंधि पैसिवा ॥
परम जोति परसिवा , पाँच परमोधिवा ॥१०॥
मेर चढ़ि बोलिवा , काया गढ़ सोधिवा ॥
मन कूँ कंचन ज्यूँ तोलिवा, सुरति सहज घर आंणिवा ॥११॥
मान अमान एक करि जांणिवा, काची सराफी षोटा न लेंणा ॥
मंहगे मोल का मन है रे , अवधू सुँहगा न देंणा ॥१२॥
सतगुरु सवदां षेलिवा , कलस मैं कूप आंणिवा ॥
नीर उलटेगा पालि सोषेगा , तव परापरै परमभेद जाणिवा ॥१३॥
विहंगम उलटेगा मालै में आवेगा, व्रिछ कुँ ग्रासिवा परमभेद पावेगा ॥
मैं तैं मेटिवा मेर में वसुधा रोपिवा, गगनमंडल की गुफा में पेसिवा ।१४।
धोषे न धोषिवा मूलकँवल दिष्टि रोपिवा, पीव का मिलाप कूँ तरसिवा ॥
अगम पियाला पीयवा , अलेष पुरस परसिवा ॥१५॥
अलेषं अथाहं उंडौ अपारं , वसुधा न गगनं ज्वाला न धारं ॥
पाणी न पवन वारै न पारं, चंदै न सूरं द्योसे न राती ॥१६॥
काया न माया न पूजा न पाती, संसैं न सोगं न भोगं न रोगं ॥
जोगैं न वाणी न , जाण्यों न जांणी ॥१७॥

पाठभेद—प्रम–१ । सरापी–३-४-५ । गिगनि–१ । दिसटि–३-४ ।

शब्दार्थ—धरचा में अधर दरसिवा=स्थूल शरीर में आत्मतत्व देखना । पांच= ज्ञानेन्द्रियां। परमोधिवा=उपदेश देना। (अन्तर्मुख करना) सुरति=वृत्ति । काची= नकली । सुँहगा=सस्ता । ऊँडो=गंभीर, गहरा ।

मेर चढि बोलिवा=दशम द्वार में प्राण का निरोध कर अजपा जाप करना ।

१३ वीं साखी=सतगुरु के शब्दों को धारण कर प्राणरूपी कलश में ब्रह्मनिश्चय-रूपी कूप लाना । वृत्तिप्रवाहरूपी नीर उलटेगा, आत्मपरक होगा तब विविध वासना-मय पाल समाप्त होगी और परापर विशुद्ध चेतन का रहस्य जानेगा ।

१४ वीं साखी—मनरूपी पक्षी बाहर से पलटकर अन्तर्मुखी होगा । माले में–अपने आत्मस्वरूपरूपी घोंसले में आवेगा तब विविध भोगेच्छारूपी वृक्ष को उखाड़ेगा और आत्मज्ञानरूपी परम रहस्य का भेद पावेगा ।

मेर में–दशम द्वार में वृत्तिमय वसुधा को स्थित करना । गगनमंडल हृदयरूपी गुफा में मन का प्रवेश कर समाधिस्थ होना ।

नमो देव करणामई, परमदेवाय नमो ॥
अथघ थाघ्यो न जाइ, अगम भेवाय नमो ॥१८॥

पार उर वार तिस थाह नांहि नमो, मोह ममता नहीं धूप छांही नमो ॥
समद् गिगन नांहि जड़ता जोगं नमो, मेर गिरवर नहीं भोग रोगं नमो ।१९।
डाँण डाकर नही घणो थोड़ै नमो, ग्वाल नहीं ग्वालणी कंस जोड़ं नमो।२०।
जनम जठरा नही त्रिघ वालं नमो, आइ जावे नहीं नदी नालं नमो ॥
उठि वैठे नहीं जागि सोवे नमो, आदि नहीं अंत नहीं त्रिघ्न होवे नमो ।२१।
परसि परिवार नहीं रोसे रंगं नमो, निकट निरलेप निज साध संगं नमो ॥
गहर गुण रूप गुण तीन नांही नमो, षंड ब्रह्मंड सब तुझ मांही नमो ॥२२॥
गहर गलता न करमो न काया नमो, अगम असथांन निज भेद पाया नमो ॥
अमर असथूल वरणं न वासं नमो, सकल सिरि साच आसा न पासं नमो ।२३।
सवद् नहीं स्वाद सरवंग सांई नमो, करण करतार मैं तुझ तांई नमो ॥
वाद वकवाद विटरूप नाँही नमो, परम निज रूप सर्वज्ञ सांई नमो ॥२४॥
दिष्टि नहिं मुष्टि देवै न दासं नमो, डाल नहीं मूल नहीं नांव नासं नमो ॥
अमर अजरा जनमैं न जाया नमो, अषंड करणामई राम राया नमो ॥२५॥

जन हरीदास अंतरि अगहि, परम भेद निज रूप ॥
बाहरि सुषसागर मैं अणसरचा, ते उलटि न झाँकै कूप ॥२६॥

॥ इति साधचाल मोतीदाम छंद जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

पाठभेद—वैसे-१ । विघ्न-१ । गहैर-३-४ । अस्थान-१-५ । अस्थूल-१ ।

शब्दार्थ—अथघ=अथाह । डांण डाकर=दंड, टैक्स, लाग । रोसे=क्रोध । विट-रूप=विकृत रूप, बहुरूपिया । अणसरचा=प्रवेश नहीं किया । झांके=देखे

॥ अथ अगाध अचरज जोगग्रन्थ ॥

गोरष हणूँ भरथरी सुषदेव , सिध सनकादिक सुषसारं ॥
नारद संकर मुनि ब्रह्मादिक , अगणित साध परस भये पारं ॥१॥
चंद सूर कीया दोइ दीपक , करि तारामंडल करतारं ॥
अनंत लोक विसपाल विसंभर , सकल सह्याया तो सारं ॥२॥
रूप न रेष भरम नहिं भंजन , ताहि भजौं भजि भ्रमजारं ॥
बेद कतेब कहै दोइ बाताँ , दोइ आगै नर निसतारं ॥३॥
ग्यांन न ध्यान पाप नहिं पुनियर, अधर अलेष नहिं चकचालं ॥
भेद अभेद अरीझ अछेदं , सूनि सदा रस रहतालं ॥४॥
राज न रीति प्रीति नहिं परघत , कलपि न झलकै करतारं ॥
रमता राम सकल विसव्यापी , निरषि निरषि सो निरधारं ॥५॥
निज निरसिंघ अगहै अभि अंतरि, अकल अनूप नहिं त्रिध वालं ॥
धरणि अकास व समंद सुमेरं , लष चौरासी प्रतिपालं ॥६॥
उपजि न विनसै जागि न सोवे , आलस नींद न आकारं ॥
पुरष न नारि करै नहिं क्रीड़ा , अगम अगोचर ततसारं ॥७॥
गॉंव न ठाँव विघन नहिं वासं , सास उसास न नौद्वारं ॥
पूरण ब्रह्म परम सुषदाता , आस उदास न आचारं ॥८॥
× नौ से नदी बैहतरि छाजा , इन्द्री पांच न चित चारं ॥
पेट न पीठि नैन नहिं नासा , हाथ न पांव न घट धारं ॥९॥
जोति न छोति सूँनि नहि संकट , तेजस पुंज न भूमारं ॥
भेष अरेष अलेष अदेषं , आदि अषंडित अघजारं ॥१०॥

पाठभेद—दीपग–२-३-४ । चितचालं–२ । विस्व–१ ।

शब्दार्थ—हणूँ=हनुमान । विसपाल=जगतपालक, दुःख से रक्षा करने वाला । कतेब=कुरान । चकचालं=चक्र की तरह घूमने से रहित । विस=विश्व, व्याप्त । वासं=निवास, लेशमात्र । छोति=स्पर्श रहित । अरेष=असीम, निराकार ।

× नौ से नदी=नौसे नाड़ियां । वैहतरि छाजा=बहत्तर कोठे ।

वार न पार मुनि नहि वकता , अगहि अकहि तहाँ धुनि धारं ॥
ऊँच न नीच वरण नहिं अवरण, कहर न व्यापै तसकालं ॥११॥

अवगति अगम अगैह अभि अंतर, नाथ निरञ्जन निरकारं ॥
गरजै गगन मगन मन उनमनि , निसदिन दरसै दीदारं ॥१२॥

निज निरलेप सकल जुग करता , सकलस पोषै सुष न्यारं ॥
सकल निरंतर सरमन व्यापै , आनंदरूप अगम पारं ॥१३॥

दिष्टि न मुष्टि ग्यान नहि गुष्टि , संकट व्रत न विणजारं ॥
नेह न गेह भोग नहि रोगं , जटा न जोगी नभ नालं ॥१४॥

सीत न धूप मीन नहिं पांणी , कीर न डालै किस जालं ॥
स्याम न सेत रगत नहिं रेतं , तरवर मूल न तिसडालं ॥१५॥

भवण न गवण पिता न सहोदर , मोह न दोह न परिवारं ॥
परम उदार परम निधि निरभै , निज चिंतामणि चितधारं ॥१६॥

अरध न उरध जोग नहिं जापं , अजर अजोनी ×तसभालं ॥
अगम अथाह परम सुषसागर , नाथ अनाथं प्रतिपालं ॥१७॥

ज्यूँ आकास सकल भंजन जल , सब मैं दीसै आकारं ॥
हाथ गहया कांई गहत न आवे , यूँ सब घट मैं घटधारं ॥१८॥

निरभै निरवांण अषिल अविनासी, अबरण बरण न विसतारं ॥
दीरघ लघु लोभ षिम्यां नहिं षीजै, हरि निरसिंध निकट न्यारं ॥१९॥

निरगुण निरधात गात गुण नांहीं , निज निरमूलस निज सारं ॥
जोग न भोग पाप नहिं पुनियर , पूत अऊतन परिवारं ॥२०॥

पाठभेद—अगह-अकह–१-३-४ । सुरमन–१ । गुष्टं–१ । तसडालं–१ । च्यंतामणि–२ । ज्यों–१ । यों–१ ।

शब्दार्थ—मुनि=मौनि । कहर=क्रोध । तसकालं=काल का काल । सरम=श्रम, थकावट । गुष्टि=गोष्ठी, विचार द्वारा । व्रत=वृत्ति-आजीविका । विणजारं=व्यापार । नालं=अल्प नहीं । कीर=धीवर । रेतं=वीर्य । कांई=कुछ । गहत=पकड़ में । निरधात=रजवीर्यरहित । ×तसभालं=उसको देखो ।

वल नहिं अवल निरूप निरषर , सदा सनेही सुषसारं ॥
निड़र निराट विराट अनंत हरि , सब कुछ करि सब तै न्यारं ॥२१॥
अषर अरूप अथाह अजूंनी , अनंत अमूरति अषजारं ॥
दीनदयाल काल नहिं करणा , त्रिविधि न व्यापै ततसारं ॥२२॥
हरपति प्रांण सदा संगि समरथ , परसि परमतत भै पारं ॥
उदै न अस्त आंन नहिं अटपट , तरवर मूल न इलधारं ॥२३॥
सुभ नहिं असुभ गिणत नहिं अगणित, भष नहिं अभष मधुर षारं ॥
विक्रत नहिं विकल अकल अभि अंतर, तन मनमा मन तहाँ धारं ॥२४॥
इम्रत नहिं जहर कहर नहिं करणा मनहिं अमर न औतारं ॥
नर नहिं अनर अजर अमरानंद , है पण सारां सिरसारं ॥२५॥
वल नहिं अवल अचल नहिं चंचल, धर नहिं अधर न अहंकारं ॥
लालच नहिं लोभ भ्रम नहिं निहभ्रम, नट बाजी करि नट न्यारं ॥२६॥
निरमल निरछोह निरास निरंतरि , निज तत तहाँ निज मन धारं ॥
संकट नहिं सरम करम नहिं अकरम, भरम न व्यापै तिस भारं ॥२७॥
परम जोति परकास परमसुष , अगम अगम सोई उर धारं ॥
ऊँच न नीच वरण नहिं अवरण, गति नहिं अगति न है कारं ॥२८॥
सकल वियापी अलष अप्रंपर , लष नहिं अलष न मै मारं ॥
परम उदार अपार अषंडित , रटि रसना रटि ररंकारं ॥२९॥
अगैह अकैह उर तैं अषजारण , सूँनिमंडल में सहज प्रकास ॥
जन हरिदास पति परसि परमसुष , अरिदल जीति अभैपुर वास ॥३०॥

॥ इति अगाध अचरज जोगग्रन्थ संपूर्ण ॥

पाठभेद—अजोनी–१ । समथ–२-३-४ । विकरत–१-३-४ । अमृत–१ । अमर–३ । भरम–२-३-५ । प्रकास–१-५ । वर्ण–१ । अपरंपर–१ । सूँन–१ ।

शब्दार्थ—निराट=निपट, कतई, बिल्कुल । अजूनी=अजन्मा । करणां=करुणा । आंन=अन्य । इलधारं=पृथ्वी का धारक । निरछोह=क्रोधरहित । अप्रंपर=अपरम्पार ।

॥ अथ जोगसंग्रामजोगग्रन्थ ॥

जोगी ग्यान षड़ग करि धारै , मनसा जीति मनोरथ मारै ॥
आसण छाड़ि अनत नहिं जाइ , ता संगि रमै निरंजन राइ ॥१॥
दीरघ रोग विवोग निवारै , कौड़ी सटै न हीरा हारै ॥
परधन हरै डरै नहिं लोइ , आपा डारै तो यूँ होइ ॥२॥
विषया विष तजौ भजौ हरि वीर, सूँनिमंडल में निरभै नीर ॥
ऊँच नीच सब सूँ समभाइ , मन वच कर्म तहाँ मन लाइ ॥३॥
निरभै नृवांण परम सुषसार , आदि अनादि वार नहिं पार ॥
जुरा न व्यापै काल न षाइ , हम कूँ सतगुर दिया बताइ ॥४॥
अलष अभेद गहर गुणग्रामी , प्रांणनाथ हरि अंतरजामी ॥
कोई ग्यानी लहै ग्यान गुर औैर , षीर नीर ज्यूँ सब ही ठौर ॥५॥
भजि भगवंत असुर अरि मारि , सूँनिमंडल में मंढ़ी सँवारि ॥
ताली लागी बैठा मांहि , गंग जमन जल पीवै नांहि ॥६॥
मोह दोह मैं तैं करि दूरि , रमता राम रह्या भरपूरि ॥
व्यापक अंगनि बसै सब मांहि , गुर विण गैला लाभै नांहि ॥७॥
अप्रवांण निधि अगम विचारै , आप तिरै साथी संगि तारै ॥
पवन पियाला उलटा धरै , भरि भरि पीवै अजराजरै ॥८॥
नाथ निरंजन निरभै जोगी , जुरा न जनम भोग नहिं रोगी ॥
परच्याँ घटै न दिया जाई , सोई वित चित में रह्या समाई ॥९॥

पाठभेद—यों–१-३ । स्यों–१ । ल्यौ–३ । निरवांण–१-५ । षाय–१ । सतगुरु–१ । सतगुरि–२ । प्राननाथ–१ । अंतरिजामी–१ । ज्यौं–१ । सून–१ । गुरुविण–१ । द्रोह–१ । संग–१-५ ।

शब्दार्थ—अनत=अन्य, दूसरी जगह । दीरघ रोग विवोग निवारै=आत्मतत्व के वियोगरूपी दीर्घ रोग का निवारण करे, जन्ममृत्युरूपी दीर्घ रोग । परधन हरे= साधना द्वारा ब्रह्म के सत् चित् आनन्दरूपी धन को प्राप्त करे । नृवांण=गतिरहित, मोक्षरूप । गुरऔर=गुरु सम्मुख । ताली=लगन, समाधि । अप्रवांण=प्रमाणरहित । वित=धन ।

८ वीं साखी—पवन पियाला उलटा धरे=प्राण को सुषुम्ना द्वारा दशम द्वार में स्थित करे ।

काल न जाल जीव नहिं जाया , नट ज्यूँ घट धरै न घट धरि आया ॥
पूरण ब्रह्म परसि पति प्रांण , दुरमष पड़ै न जम ले डांण ॥१०॥
ग्रह वैराग न विरह विवोगी , पाप पुनि परवेस न भोगी ॥
उलटी सुरति सूँनि मैं धारि , तब जाइ दरसै देव मुरारि ॥११॥
थिर नहिं अथिर अरूप अछाया , निरगुण निरधार निरंतर पाया ॥
गरजै गिगन मगन मन लोई , हरि कूँ भजै सो हरि सम होई ॥१२॥
षिर नहिं अषिर सरम नहि सोग, वप नहिं विथा वैद नहिं रोग ॥
जहाँ प्रगटै तहाँ ऐसी करै , अवरण अगनि विथा वन चरै ॥१३॥
आस उदास मोह नहि माया , ग्यान विग्यान धूप नहिं छाया ॥
करम किंवाड़ी कल सूँ षोई , है तो सही लहैज कोई ॥१४
संकट नहि सरम भरम नहि भेद , जठरा नहि जुरा कंध नहि छेद ॥
सकल वियापी सव तैं दूरि , अवगति जहां तहां भरपूरि ॥१५॥
छल नहिं अछल चिंत नहिं चाही, घट पट अघट भरम नहिं ताही ॥
तज अभिमान अगैह यूँ गहणाँ, जागि लागि नर उनमनि रहणाँ ।१६।
ड़र नहिं निड़र निरगुण निजरूप, उदै न अस्त सीत नहिं धूप ॥
घर नहि अघर पुरष नहिं नारि , परपंच प्रीति जीति नहिं हारि ॥१७॥

पाठभेद—गृह–१-३ । प्रवेस–१-५ । गिगनि–१ । स्यों–१ । यौं–१ । असत–२-३ । पुरिष–१ । प्रपंच–१ ।

शब्दार्थ—षिर नहिं अषिर=क्षराक्षररहित । सरम=श्रम, थकावट । वप=वपु, शरीर । कल=कला-अभ्यास, ज्ञान-कर्म-भक्ति । चाही=चाहना ।

११ वीं साखी—उलटी सुरति सूंनि में धारि=वृत्ति को अन्तर्मुख कर शून्य-ब्रह्मस्थान में धारण करे ।

१२ वीं साखी—गरजै गिगन मगन मन लोई=अनहद नाद में लगकर मन मगन-मस्त हो जाय ।

१३ वीं साखी—जहां प्रगटै तहां ऐसी करै , अवरण अगनि विथा मन चरै=जिस घट में ज्ञानाग्नि प्रज्ज्वलित हो जाती है, उस घट में ऊपर कथित स्थिति उत्पन्न हो जाती है । ज्ञानाग्नि वर्णविहीन है–उसका स्थूल रूप नहीं है, उसके प्रकट होते ही सांसारिक व्यथाओं का वन दग्ध हो जाता है ।

नरहरि भजन अहोनिसि करै , ताहि जालै अगनि न मारचा मरै ॥
संकटि पड्याँ साथ रुघनाथ , जहां तहां जन कै सिर हाथ ॥१८॥
उलटा षेलि अपूठा आवे , जैसी भूष तिसा भरि भावै ॥
निरभै निज नांव निरंतरि रहणा , सापणि डसै न परलै बहणा ॥१९॥
अनरथ अनंत तहां जीव जाइ , ता कूँ सरप सदा संगि षाइ ॥
जहर दाढ़ि कंठ लागी दोइ , राम भज्यां नर निरविष होइ ॥२०॥
बैसि निरंतर अलष जगावै , आसण अमर अगम घर पावे ॥
भूषा रहै न धापि न षाइ , मनसा चलै न परघरि जाइ ॥२१॥
ब्रह्म अगनि मैं काया दहै , मन चंचल निहचल होइ रहै ॥
काम क्रोध का झड़ै जंजीर , परमस्यंध जहाँ जाल न कीर ॥२२॥
वार पार नहि अगम अछेह , धरती वरसै अंबर तेह ॥
नृमल धार अपार अनंत , ता सुषि लाग रहै सब संत ॥२३॥
निगम अगम गुर गमि गम होइ , पवन नीर लै अंबर धोइ ॥
रमताराम निरंजन राइ , राषी वसत साह कूँ षाइ ॥२४॥
परम उदार अपार अनंत , अवरण वरण अगेह भगवंत ॥
उलटी गंग जमन मैं आंणि , तोहि पिछांणैं ताहि पिछांणि ॥२५॥

पाठभेद—जिन–१ । अनर्थ–१ । कंठि–२-४ । परमसिंध–३-४-५ । निरमल–१ । सुष–३-५ । अवर्ण–१ । वर्ण–१ ।

शब्दार्थ—सापणि=माया । अनरथ अनंत तहाँ जीव जाइ=अनन्त संसारी-पदार्थों में जीव जाता है । सरप=काल रूपी सर्प । ब्रह्म अगनि=ब्रह्मज्ञान । झड़ै=झड़ जाय ।

२० वीं साखी—जहर दाढ़ि कंठ लागी दोइ=रागद्वेष रूपी दो जहर भरी दाढ़ मन में लगी हुई है ।

२३ वीं साखी—धरती बरसै अंबर तेह=धरती–सद्वृत्ति हृदयाकाश में आत्मानन्द की वर्षा करती है, उसकी सरसता हृदय में बैठती है ।

२४ वीं साखी—पवन नीर लै अंबर धोइ=प्राणायाम साधना रूपी जल से हृदय के कल्मष की शुद्धि करे, मन निर्मल करे । राषी बसत साह कूँ षाइ=वासनामय साहूकाररूपी मन सांसारिक-भोगों की इच्छा रखता है–वह इच्छा या वासना ही उसका काल है, भोगों के फल प्राप्त करने को जन्ममृत्युमय कारण बनता है ।

२५ वीं साखी—उलटी गंग जमन मैं आंणि=मन रूपी गङ्गा को यमुना रूपी प्राण में लगाओ ।

ग्रिह वन नहि तहाँ मठ छाइ , वंकनालि इंम्रत रस षाइ ॥
ग्यान गुफा में आरंभ करै , जोगी जीवैं जोरां मरै ॥२६॥
भौ सागर इर अनंत अपार , ता तिरिवे कौ इहै विचार ॥
मन विष छाड़ि विसंभर भजौ , काम क्रोध विषया विष तजौ ॥२७॥
परमानंद परम सुषसार , ताहि भजौ भज तजौ विकार ॥
जामण मरण जुरा भै डरणा , अब मरि साहिब मारग सिर धरणां ।२८।
काहू सूरवीर का काम , काइर कदे कहै नहिं राम ॥
मांड़ि संग्राम घाव घटि सहै , परदल जीति परम गति लहै ॥२६॥
जुग में इहै जोग संग्राम , कोई करौ आपणां काम ॥
ए पासा चौपड़ि ए सारि , अबकै जीत जाहु भावै हारि ॥३०॥
जन हरीदास कहै मंत एह , वड़ निधि हाथ चढी नर देह ॥
गोविन्द भजौ राम की आंण , वहोड़ि न लागै जम का बांण ॥३१॥

॥ इति जोगसंग्रामग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

पाठभेद—गिरह–१ । भव–१ । तरिवे–१ । ये–२ । वहुड़ि–१ ।
शब्दार्थ—वंकनालि=श्रुति, सुषुम्ना । मंत=मन्त्र । एह=यही । आंण=सौगन्ध ।

२६ वीं साखी—ग्रिह वन नहीं तहाँ मठ छाइ=शरीररूपी, घर संसाररूपी वन को छोड़, भौतिक पदार्थों का त्याग कर आत्मरूप चेतन में घर बनावे, स्थिति करे । वंकनालि इम्रत रस षाइ=मेरुदण्डगत सुषुम्ना द्वारा प्राण को सहस्रारदल–ज्ञान-चक्र में स्थिर कर समाधिस्थ हो आत्मस्वरूपप्राप्ति रूपी परमानन्ददायी अमृत रस का पान करे । अब मरि साहिब मारग सिर धरणां=अब जीवन्मृत हो परमेश्वर-प्राप्ति के मार्ग को ही शिरोधार्य कर ।

॥ अथ अष्टपदी जोगग्रन्थ ॥

हम हेरूँ अवगति कूँ हेरैं, जाता मन कूँ उलटा फेरैं ॥
महादेव का मता पिछांणैं, मन दसूँ दिसा तैं उलटा आंणैं ॥१॥
मनसा देवी सब कूँ षावे, हम कूँ मनसा सांच बतावैं ॥
हम जोगी जोग जुगति गम जांणे, बहती नदी अपूठी आंणे ॥२॥
पवन गोटि का पारा बांधे, उलटी सुरति गिगन कूँ सांधैं ॥
काम क्रोध का मूल उपाड़ैं, गगनमंडल मैं आसण धारैं ॥३॥
अगम पियाला भरि भरि पीवैं, रूप अरूप विचारत जीवैं ॥
हरि सुषसिंध तहाँ मैं नांहीं, हरिजन हंस बसैं ता मांही ॥४॥
परम जोति अंतर मन राषैं, ×हरि हीरा विण चूणि न भाषैं ॥
जन हरीदास निज निरषिये, मन की ठौड़ उठाइ ॥
सुरति सुलटि उलटा चढ़ै, तौ अगम तहां चलि जाइ ॥१॥
लहिये अगम निगम तैं आगे, अंतरि नींद नेत जब जागे ।
*ससिहर कै घर सूर समावे, उलटि कवल कँवलापति पावे ॥
सब मैं राम दूर हरि नांहिं, ज्यूँ ज्वाला काष्ठ घृत पै मांहिं ।
यहु निज सुष जाग्या सों जांणै, सूता अरथ कहां सूँ आंणै ॥

पाठभेद—सुषस्यंध–२ । सिसहरि–१ । ज्यौं–१ । कासट–२ । स्यों–१ ।

शब्दार्थ—हेरूँ=खोजी, तलाश करने वाला । महादेव का मता पिछांणे=शंकर का मत है–निरन्तर चिन्तन, उसको पिछाणें, जानें । मनसा=लालसा, चाह । अपूठी=वापिस । आंणे=लावे । सुलटि=सुलभ । नेत=नेत्र । ससिहर=चन्द्रमा के स्थान, इडा-नाड़ी में । सूर=सूर्य, पिंगला नाड़ी । कँवल=हृदयकमल–षट् कमल को ऊर्ध्वमुख हो । पै=पय, दूध ।

दूसरी साखी—बहती नदी अपूठी आंणै=ज्ञानेन्द्रियों की विषयों की ओर जाने वाली वृत्ति रूप नदी को आत्मस्वरूप प्राप्ति की ओर मोड़े–अन्तर्मुख करे ।

तीसरी साखी–पवन गोटि का पारा बाँधै=प्राणप्रवाह को प्राणायामादि की साधना से स्थिर कर उसकी गुटिका द्वारा चञ्चलतामय मनरूपी पारे को बाँधे, निश्चल करे ।

× हरि हीरा विण चूणि न भाषैं=विशुद्ध स्थिर हुआ मनरूपी हंस स्वस्वरूप-चिन्तन रूप हीरे-मोतियों को छोड़ सांसारिक भोगरूपी चुग्गे को अब नहीं खाता ।

* ससिहर के घर सूर समावे=दशम द्वार में इडा नाड़ीरूप चन्द्रमा सहस्रारदल-ज्ञानचक्र में स्थित है, वहाँ प्राणरूपी सूर्य को समाहित करे, स्थिर करे ।

अगम अथाह वार नहिं पारं, ता का कैसा भेद विचारं।
वरण विवोग रोग नहि जाना, परम भेद ऐसा असथांना ॥
सकल समीपी सकल सुहावा, तीन लोक त्रिभवनपति रावा।
सुषमनि उलटि गगन मैं आंणी, सुनिमंडल में पेलै प्रांणी ॥
सुषमनि परमसिंध मैं झूलै, तारुति कँवल केतकी फूलै।
नाभि सरोवर निज जल नेरा, मन मतवाला झूलै मेरा ॥
भागा भरम भेद जब पावा, तब मन उलटि सहज घरि आवा।
गगन गरजि वृषा भई, छीलर भया निवांण।
जन हरीदास हरिसिंध मैं, पेलै साध सुजांण ॥२॥
सो अणभै जोगी नांव अनंता, जटा न जूट पांच नहिं तंता ॥
सकल समीपि अकल निज नांमी, प्रांण अधार गहर गुणग्रामी।
आदि अंति हरि की हरि जांणै, सुनि रूप वहु वाणिक वांणै ॥
आदि न अंति लहै कोई भेवा, सुरति संबाहि परमसुष लेवा ॥
जुरा न जनम आइ नहिं जावा, अगम अथाह थाह को पावा।
तेरू समद तिरण व्रत धरि है, वार न पार कहां लगि तिरि है ॥

पाठभेद—प्रम–१-२। अस्थांना–१। तीनि–४। त्रिभुवन–१। केतगी–१-२। घर–३-४-५। व्रषा–१-२। समीप–५। वहो–५। जन्म–३। लूं–२। तरि–१।

शब्दार्थ—असथांना=अगम स्थान। तारुति=उस समय। कँवल=हृदयकमल। केतकी=ऋतंभरा प्रज्ञा, त्रिकालज्ञ। निज जल=आत्मानन्द। झूलै=स्नान करे। छीलर=ओछा पानी। निवांण=निचाई। अणभै=अनुभव। तंता=तत्व। सकल समीपी=सबका साक्षी। वहु वाणिक=विविध रचना।

गगन गरजि वृषा भई, छीलर भया निवांण=गगन–दशम द्वार में जब प्राण का स्थैर्य हो अनहद नाद की गर्जना के तत्रस्थ चन्द्रमा द्वारा अमृत की वर्षा होने लगी, तब निवांण–नीचे अकिञ्चन विषय-भोग सब छीलर–महत्वहीन हो गये, निष्प्रभ हो गये।

पंषी उलटि गिगन कूँ धावै , ऊँचा अगम कौंण गम पावै ।
×चेला पांच मिलावणि मेलै , सो परम जोग का घर मैं षेलै ॥
अगम भेद आगा लगू , हरि परम सनेही सोइ ।
अब मन तहाँ विलंबिया , उलटि न पूठा होइ ॥३॥
तस नांव निरंजन अवगति राया, परम उदार परम सुष छाया ।
तरवर अकल अगम फल हूवा , चंचा चोल रहै तहाँ सूवा ॥
कामी काग वहाँ नहि आवै , आसा कीचि उलटि तहाँ जावै ।
सकल समीपि अकल निज पावा , अवरण वरण भिन नहिं भावा ॥
सब सूँ एक रंक क्या राणा , दुष पावे तै करम बंधाणा ।
करम बंधाइ बहुत दुष पावै , चढ्या दिसावरि षोटा षावै ॥
षोटा षाइ मूल मति हारै , रषेन बूड़सि कुल कै गारै ।
कुल करतूति कहाँ लौं करिहौं , जांमि जांमि जामौं फिरि मरिहौं ॥
परपंच प्रीति मोह नहिं दोहा , सरणि उधार परम सुष सोहा ।
हरि सफसफा गहर गंभीरं , नहिं सो षीर नहीं सो नीरं ॥
निरभै निरगुण निज निराकारं , मीठा नहीं नहीं सो षारं ।
तिस परिवार पिता नहिं माया , ना ग्रिह करै न काहू जाया ॥
आदि अंत ना उपज न आया , जो उपज्या सो सहज विलाया ।
सहजि विलाया तै सति नांही , ऐसे समझि देषि मन मांही ॥
नहिं आवै नहिं जाइगा , आवै जाइस और ।
निराकार निज रूप है , सो व्यापि रह्या सब ठौर ॥४॥

पाठभेद—मिलावनि—३-४ । मिलावन—५ । जोति—३-४-५ । अविगति— १ । उहाँ—१-३-५ । भिन्न—१ । कर्म—१ । रिषेन—१ । फुनि—१ । त्रिगुण—२ । न्यज—२ । गिरह—१ । सहज—१ ।

शब्दार्थ—रषेन=रखना, कदाचित् । बूड़सि=डूबेगा । गारै=कीच । करतूति=करणी । सफसफा=शुद्ध, माया-अविद्यारहित । ग्रिह=घर । जाया=पैदा किया । विलाया=विलीन हुआ ।

×चेला पाँच मिलावणि मेले=जो पांच ज्ञानेन्द्रिय रूप मन के चेले हैं, विषय-प्रवृत्ति में भिन्न-भिन्न तरह की प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होते हैं, उनको मिलावण मेले—एक स्थान में आत्मस्वरूप की ओर लगावे । जहाँ पाँचों ही एक स्वस्वरूप रूप विषय में ही रत हो जायँ—लग जायँ ।

तहाँ सीत न धूप गांव नहिं ठांम, परम सनेही मन विश्राम।
दिष्टि अदिष्ट भेद अभेदं, तरवर डाल मूल नहि छेदं॥
अजर अरीझ आस नहिं पासं, उतपति षपति नांव नहिं नासं।
व्यापक ब्रह्म मोह नहिं माया, वेहद पड्या भेद मल पाया॥
प्रगट गुपत गुपत गोपालं, संकर इष्ट काल का कालं।
अगम अरूप सांसौ नहिं सोगं, नांव निरषर भोग न रोगं॥
हरि है हेम वार नहिं पारं, समद गगनन वेद विचारं।
मूल अमूल करम नहिं काया, अंतरि अगह परम सुष पाया॥
सकल समीपि सकल सुष, सकल भवनपति राइ।
अब मन तहाँ विलंविया, सो सुष मैं रह्या समाइ॥५॥
या औसर हरि का होइ रहिये, भवण रच्या सो भूधर कहिये।
नांव विसंभर विसपति रावा, पूरण ब्रह्म परसि पति पावा॥
×करता करण चरण चित धारं, दामणि दिष्टं जोति उजारं।
निज निरलेप निकटि निराकारं, अगम अषंडित अगम विचारं॥
*ससि परकास्यां तिमिर विलाया, मन भया मगन परम सुष पाया।
देवाधरदेव तहाँ मन धरिहूँ, मन गहै पवन इहै व्रत करिहूँ॥
हरि निरस्यंध निकुल निरधारं, अंतरि निरंतरि निकटि न न्यारं।
निधि पाई निरभै भया, निधि परम सनेही राम॥
प्राणी मांही पैसि करि, मनि पाया विसराम॥६॥

पाठभेद—ठांव-३-५। दिसटि-२। गुप्त-३। इसट-२। निरक्षर-३-४। अगहि-२। भुवण-१। प्रसि-१। च्यत-२। निकट-१। प्रकास्यां-१। हौं-१। न्यकुल-२। न्यधि-२। विश्राम-३-४।

शब्दार्थ—दिष्टि अदिष्टि=रूपरहित। अरीझ=अनासक्त। पासं=बन्धन। सांसो=संशय। सोगं=शोक। हेम=सुवर्ण की तरह शुद्ध, शीतल। विलंविया=लगा। भवण=संसार। देवाधरदेव=देवताओं का उपास्य-देव। गहै=पकड़े। निकुल=वंशविहीन, अजाति।

× वही कर्त्ता है, वही करण साधन है, उसी के चरणों में चित्त लगाओ।

* ससि-मन ज्ञान-ज्योति से प्रकाशित होने पर मल, विक्षेप, संशयरूपी तिमिर नष्ट हो गया।

गहि गुर ग्यान अगम कूँ ध्यावै, अगम अथाह थाह कोई पावै।
घटि घटि अघट सकल घट सोई, गुर गमि तास लहै जन कोई ॥
उलटा षेलि सहज घरि आवै, धुनि मैं ध्यान तहाँ मन लावै।
अविगति अगम अगम गमि कीया, नौ ग्रह पलटि गिगन रस पीया ॥
जा रसि मुनि जन रह्या समाई, तारसि रुचि मन उलटि न जाई।
आपा गलित मिथ्या अभिमाना, अब हम जान्यां जान सुजाना ॥
दरिया रूप वार नहिं पारं, ता मैं मछला प्राण हमारं।
काल न जाल नहीं भै नेरा, झूलै षेलै मंझि वसेरा ॥
सहजि पियाला परम सुष, भरि भरि पीवै प्रांण।
आतम अंतरि देषिये, अवगति का अहिनाँण ॥७॥
सो परमेसुर प्रथमी प्रतिपालं, करम विपाक हरण अघजालं।
पारब्रह्म चरणां चित्त धरिहूं, हरिपति छाँड़ि और नहिं वरिहूं ॥
तात न सीत नहीं सो षारं, जुराहरण जगदीस जुहारं।
गुणग्राही गोविंद गुण गावा, भजि भजि राम परमपद पावा ॥
परमसंध मैं प्राणी डारं, उनमनि लागा प्रेम वधारं।
आतम परआतम सूँ मेलौ, परमहंस सूँ हिलिमिलि षेलौ ॥
परमजोति आचार विचारं, परमसुनि मिलि प्राण उधारं।
जन हरीदास हरि अगम है, अथघ न थाघ्यो जाइ ॥
तहाँ नामा दास कबीर सा, केता रह्या समाइ ॥८॥

॥ इति अष्टपदी जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

पाठभेद—ऊँचो अगम कौंण गम पावै–१। गम–३-५। नौग्रिह–३-४। नवगृह–५। जाण्यां-जांण-सुजाण–१। मंझ–२-५। प्रान–३-५। प्रमेसुर–१। वरहूँ–५। जुरा-हरन–५।

शब्दार्थ—गुर गमि=गुरु उपदेश से। धुनि=अनहद नाद। नौग्रह=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, चार अन्तःकरण। आपा गलित=देहाध्यास नष्ट। मछला=मच्छी रूप। मंझि=भीतर। अविगत=विगतरहित, अविवेच्य। अहनांण=निशान, चिह्न, प्रतिरूप। तात=गर्म।

॥ अथ वन्दना जोगग्रन्थ ॥

नमो नमो परब्रह्म, परमगुर नमसकार ।
आतमा अभ्यास, परमात्मा प्राणनाथ ॥
परम पुरिष निरंजन निराकार, निरामय निरविकार निरास ।
अविनासी निराधार एकंकार, अपरंपार उदार ॥
पारब्रह्म करणहार करतार, जगत गुर अंतरजामी ।
अजनमा सरवजांणणहार, अजपा जाप ब्रह्म अगनि प्रकास ॥
अनेक असाध रोग जारणहार, अलिप अछिप निरालंब ।
निरलेप निरदंद निरमूल निरसिंघ, परमजोग परमभोग परमगति निरगुण ब्रह्म ॥
प्रममत प्रमग्यान प्रमध्यान, प्रमतेज प्रमजोति ।
प्रमधाम प्रमविश्राम, अधर अमल × अहल अजर ॥
अतिर अथिर अषिर अपर, अषर अधर मीठा मधुर ।
अरंग अभंग निअंग, निमोह निछोह निभोग ॥
निजोग निरूति निरोग, संजोग विजोग न सांसा नांही सोग ।
हुवा न होसी न आवै न आया न, जनमै न जीवै न छायान मायान ॥
जागै न सोवै न भूषा न धाया न, उठै न वैसै न रीझै न क्रोधम ।
जपहीन तपहीन, ध्यानै न बोधम ॥
इन्द्री न ततहीन गातैन घातैन, वनिता न सुतहीन जनमै न तातैन ।
अलष पुरष की आठौं पहर, करै वंदना कोइ ॥
जन हरीदास कालवांण लागैं नहीं, हरि भजि निरमल होइ ॥१॥
मन उनमनि लागा रहै, कहाँ संझ्या कहाँ प्रात ॥
जन हरीदास ता साध कूँ, जम करि सकै न घात ॥२॥

पाठभेद—नमस्कार-१ । प्रमातमा-२ । श्रव-२-४ । अल्यप-२ । प्रमजोग प्रमभोग प्रमगति-१-२ । पुरुष-१ । आठूँ-१ ।

शब्दार्थ—अलष पुरस=ब्रह्म । घात=प्रहार । × अहल=कम्पनरहित ।

सिध साधक की वंदना, ग्यान घ्यान धरि देष ॥
जन हरीदास एक अमरफल कर चढ्यो, अपरंपार अलेष ॥३॥

॥ इति वंदना जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

॥ अथ निरञ्जन निराकार वंदना ॥

नमो नमो परब्रह्म परम गुर आतमा अभ्यास,
प्रमातमा आलोकन ।
आनंद परमानंद सिध साधिक नमसकार,
नमो नमो रमताराम नारायण नरस्यंघ ॥
सकल निरंतरि नरहरि निरवाण निरविग्रह,
नमो नमो निरामय निरविकारं ।
स्वयंब्रह्म सकल वियापी, निरंजन निराकारं ।
जन हरीदास वंदते एकाकारं, अविनासी अपरंपार उदारं ॥

॥ इति निरञ्जन निराकार की वन्दना समाप्त ॥

॥ अथ निरपषमूल जोगग्रन्थ ॥

गुर सिष सूँ समझाइ करि, भजन बताया राम ।
या सेवा या वन्दगी, यहु आरंभ यहु काम ॥१॥

पाठभेद—आतमा–२-५ । प्रमात्मा–३-४ । नमस्कार–१ । सुयंब्रह्म–३-४-५ । स्यूँ–१ । याह–१ ।

शब्दार्थ—एक अमर फल=स्वस्वरूप प्राप्ति रूप । आलोकन=अवलोकन, देखना ।

झूठा सुष संसार का, कलई का सा रंग।
हौड़ा हौड़ी पड़त है, तामैं जीव पतंग ॥२॥

काहे कूँ परदुष सहे, दूर पड़ेगा जाइ।
मनिषा जनम अनूप है, मन सकै तौ हरि गुण गाय ॥३॥

काम क्रोध त्रिसना तजौ, त्रिविधि ताप गुण देह।
सांई का सुमिरण करौ, परम सयाणप एह ॥४॥

मन अपणां सूँ कहत हूँ, अपणा ग्यान विचार।
गोविंद भजि भरमैं कहा, धसि मति डूबै धार ॥५॥

विष पीवै इम्रत कहै, कनक कटोरा मांहि।
याह मरणै की सौंज है, पीवैस जीवै नांहि ॥६॥

निसवासुरि ग्रासै जुरा, मन सोवै कहा गँवार।
लालच तजि मैं तैं मनी, भजि राम नाम ततसार ॥७॥

पाँचो इन्द्री फेरि करि, सुरति सहज घर धारि।
अनंत साध आगै चल्या, सोई राह संभारि ॥८॥

मोह द्रोह की अगनि मुंषि, दाझत है जीव जाइ।
जलत जलत भरमत फिरत, यौं ही गया बिलाइ ॥९॥

सूतां सरवस जात है, जागिर करौ विचार।
हरि परम सनेही परमसुष, अगम वार नहिं पार ॥१०॥

जोगी जागै जुग सोवै, मोह महल मैं जाइ।
मोह महल मैं सरप है, जब सोवै तब षाइ ॥११॥

सोवण का सुष और है, जागण का सुष और।
जब जाग्या तब एकरस, तहाँ साधाँ की ठौर ॥१२॥

पाठभेद—मानषा–३। त्रिष्ना–३-४-५। देह–२। निसवासुर–३-४-५। सर्प–३।

शब्दार्थ—होड़ा होड़ी=देखादेखी। परदुख=परपदार्थजन्य दुःख। सयाणप=चातुर्य। धसि=प्रवेश कर। कनक कटोरा=मनुष्य देह। दाझत=जलता। सूतां=मोह-निद्रा में। सरप=वासनारूपी सर्प। जागण=विवेक-विचार से सचेष्ट रहना।

जीव जोगी जागै सदा, कबहूँ सोई न जाइ।
इंहि आरंभ लागा रहै, धुनि मैं ध्यान लगाइ ॥१३॥

माया के रसि रसक हैं, बात कहत हैं दोइ।
राम रसायण अजब है, पीवेस रसिया होइ ॥१४॥

कहूं स्वामी कहूँ सेवगी, माया हो परि मूँठि।
लड़त जुड़त यूँ ही करत, गया किता ही ऊठि ॥१५॥

मरकट का कर कब गह्या, मूंठि दई फंद माही।
मूठी छांड्या छूटि है, तौ घर घर नाचैं नांही ॥१६॥

कुंजर कै भै मैं ड़रूँ, सो ड़र सह्या न जाइ।
काम हेति परवसि पड्या, बेड़ी लागी पाइ ॥१७॥

काहू कै रस रहत का, काहू कै रस काम।
काहू कै रस जोग का, हरि जन कै रस राम ॥१८॥

काहू कैं रस ग्यान का, काहू कैं रस नाद।
काहू कै रस भांमिणी, काहू कै रस वाद ॥१९॥

काहू कै रस मांनि का, काहू कै रस भेष।
काहू कै रस वैरता, ×सदा निरंतरि रेष ॥२०॥

कोइला जलि काला भया, वहौड़ि कसोटी षांहि।
अगनि दिपां तैं प्रजलै, कसर रही कछु मांहि ॥२१॥

कसरि मानि जहाँ तहाँ वसै, जांणै विरला कोइ।
साँध्या आटै लूँण ज्यूँ, कैसे न्यारा होइ ॥२२॥

जिन सूँ हरि किरपा करी, अपणै अंगि लगाइ।
तिनकै अंतरि हरि वसै, हरि विण कछु न सुहाइ ॥२३॥

पाठभेद—अंहि–१। यहि–४। लाग्या–१। फंध–५। परजलै–३। सूँद्या–४-५। ज्यौं–१। स्यूँ–१। हरि विन–४-५।

शब्दार्थ—जोगी=साधक, सचेत। दोइ=द्वैतभाव। मूंठि=हाथ, पकड़। रहत=रहनी, बनावटी रूप। भांमणि=स्त्री। वाद=विवाद। वहौड़ि=पुनः। सांध्या=मिलाया।

तन माँही तीरथ भला, तहाँ मन निरमल होइ।
पाँचो इन्द्री फेरि करि, झूलै विरला कोइ ॥२४॥
काया माँही कँवलदल, तहां बसै करतार।
अवरण वरण अकैह अगैह, अगम वार नहिं पार ॥२५॥
काया माँही कँवलदल, तहां वसै भगवंत।
जन हरीदास षेलै तहां, कोई कोई विरला संत ॥२६॥
पवन पलटि निरभै भया, गगन पहूँता जाइ।
काल चोट चूकै नहीं, अंति पड़ै मैं आइ ॥२७॥
धरम नेम तीरथ वरत, अट पट पूजा आंन।
जोग जिग तपस्या तुला, ए जन कै जहर समांन ॥२८॥
दिष्टि रूप दीसै जिको, एक सबद विसतार।
ऊँच नीच अवरण वरण, मैं तैं मोह विकार ॥२९॥
कहुं इम्रत कहुँ कहुँ जहर, कहुँ नाहर कहुँ गाइ।
कहुं मारै कहुं मारिये, कहुँ षाजै कहुँ षाइ ॥३०॥
कहुँ हिंदू कहुँ घटि तुरक, वाल व्रिध कहुं कैद।
कहुँ नारी कहुं घटि पुरष, कहुँ रोगी कहुं वैद ॥३१॥
कहुं सूकर कहुं स्वान गति, मोर म्रिघ उर काग।
कहुं जोगी कहुँ भोगिया, कहुँ रोवै कहुँ राग ॥३२॥
सुद वैस षत्री विप्र, कहुँ मछली कहुँ नीर।
कहुं निरभै निरवैरता, कहुं जाली कहुं कीर ॥३३॥
हैवर षर कुंजर गहर, कहुं काइर कहुं सूर।
कहुं राजा होइ रिण मैं मंड्या, दहुं दिसि वाजै तूर ॥३४॥

पाठभेद—पांचू–२-५। अवर्ण–१। वर्ण–१। अकह–५। अगह–५। तपसा–१। जक्यो–१। इमरत–१। जहैर–२। मिरग–१। मृघ–३-४। शुद्र–१। क्षित्री–१। नृभै–५। गहैर–२-४।

शब्दार्थ—कँवलदल=हृदयकमल, अष्टदल। पवन=प्राण। ए जन के जहर समान=ये आत्मचिन्तक साधक के लिए विषतुल्य हैं। म्रिघ=मृग। हैवर=घोड़ा।

सीत उसन विरषा कहुँ, जढ़ चेतन बहु जाति।
कहुँ दिनकर अंवर अरक, कहुँ ससिहर कहुँ राति ॥३५॥
करामाति दे ले कहुँ, पैकंबर कहुँ पीर ॥
गुपत प्रगट विचरत फिरत, करि दीरघ सुलप सरीर ॥३६॥
अठ सिधि नव निधि सुभ असुभ, कहुँ कंचन कहुँ काच ॥
कहुँ धीरज हरि ध्यान मैं, कहुँ निकलप विट वाच ॥३७॥
अरथ गरथ आगम सुगम, सिध साधै गहि ठौड़ ॥
राम भजन सुष अगम है, ए सब वैलि दौड़ ॥३८॥
घर अंबर तारा तिमर, गिर सर समंद अथाह ॥
कहुँ दाता कहुँ षोसिलैं, कहुँ तोटा कहुँ लाह ॥३९॥
सवद सवद पैनें चलै, सवद सवद कूँ षाइ ॥
सवद सवद कूँ पोष दे, सवदै सवद समाइ ॥४०॥
दोइ सवद दीसै दुरसि, एक कहै सो कौंण ॥
अषिर सवद अवगति मिलै, सिषर दसूँ दिस गौंण ॥४१॥
वेद सवद का भेद है, ब्रह्म सवद सुष और ॥
ब्रह्म सवद पै वेद की, कहौ कहाँ लौं दौर ॥४२॥

पाठभेद—नौनिधि–४-५। धीरजि–२-४। ठौर–३-५। पोषिदे–२। दुरस–१-४। दिसि–१। कहांलूं–१।

शब्दार्थ—अरक=सूर्य। ससिहर=चन्द्रमा। सुलप=छोटा, अल्प। अरथ=अर्थ। गरथ=ग्रन्थ, शास्त्र। आगम=पुराणेतिहास। वैलि=समीप की, उरली। तोटा=घाटा, नुकसान। लाह=लाभ, फायदा। पैने=तीखे।

४१ वीं साखी—दोइ सवद दीसै दुरसि=द्वैतपरक शब्द दुःखदायी है। कोई साधक ज्ञानी ही एक ब्रह्म का निरूपण करता है।

ब्रह्म निश्चयात्मक अक्षर शब्द से अव्यक्त में मिलता है। सिषर भेदजनक शब्द से, भ्रमित मन दसों दिशाओं में विविध वासनाओं में उलझता है।

४२ वीं साखी—वेद त्रिगुणात्मक विषय का निरूपण करता है कर्म का निरूपण करता है अतः वह भेदपरक है। ब्रह्म के निरूपण करने वाले शब्द अभेदक हैं, उनका सुख अक्षय है।

वेद सवद की मूढि मन , जहां तहां चलि जाइ ॥
अगम सवद सूँ मन मिलै , तौ अटपट कछु न सुहाइ ॥४३॥
सपतपुरी भरमत फिरै , नौ ऊँषर भरमैं और ॥
राधा रस गोपीचरित , इहै वेद की दौर ॥४४॥
अघट कहत है घट धरचा , घट घट अघट न होय ॥
वेद कथा सठ समझि मन , इष्ट कहत हैं दोइ ॥४५॥
दुवध्या दिल तैं दूर करि , इहै जाणि जीव मांहि ॥
माया का गुण अनंत है , परमेसुर दोइ नांहि ॥४६॥
साध सुमरि सदगति भया , परापरै पति येक ॥
परमेसुर दोइ कहत है , मन अपणां की टेक ॥४७॥
मन सज्जन तोसूँ कहूँ , समझिर करौ विंचार ॥
यहु कछु उदबुद देषिये , दोइ कहै करतार ॥४८॥
भगति हेति हरि वप धरचा , भरम करण कूँ दूरि ॥
करता सवलक भरम धूँ , भरम रह्या भरपूरि ॥४९॥
इहै दैत दुनिया इहै , मारै षोसे षांहि ॥
समरथ की वाजी रची , घटै वधै कछु नाहिं ॥५०॥
वाजी सूँ वाजी रमै , करि करि नाना रूप ॥
कहुँ ग्रासै कहुँ ग्रासिये , सहर साह कहुँ भूप ॥५१॥
नहिं हिन्दू सूँ वैरता , नहिं मुसलमान सूँ प्रीति ॥
सब कछु करि सबतैं अगम , याह साहिब की रीति ॥५२॥

पाठभेद—स्यूँ–१ । भ्रम–३-४ । च्यरित–२ । यहै–३ । दुविध्या–१ । एक–३-४-५ । तोस्यूँ=१ । भगत हेत–५ । सम्रथ–२-३-४ । कुछ–२-१ ।

शब्दार्थ—दुवध्या=संशय । दैत=द्वैत, मैं-तैं ।

४३ वीं साखी—कर्मनिरूपक वेदवाक्यों से मूर्ख मन इधर-उधर हो सकता है । जब मन एकात्मक निरूपक शब्द निश्चय से आत्मनिष्ठ हो जाता है तब फिर उसको वासनामय अटपट विविध प्रवृत्तियां अच्छी नहीं लगतीं ।

सप्तपुरी—अयोध्या मथुरा माया काशी काँची अवन्तिका ॥
पुरी द्वारावती ज्ञेया सप्तैते मोक्षदायिकाः ॥१॥

नौ ऊषर=नौ क्षेत्र–कुरुक्षेत्र प्रभासक्षेत्रादि ।

तुरक कहै मका भला, जहां साहिब की ठौर ॥
हिंदु जाइ मथुरा बस्या, इहै दहुँ की दौर ॥५३॥
हिंदु थापै देहरा, मुसलमान मसीति ॥
पषा पषी जग पचत है, इहै दहूँ की रीति ॥५४॥
मुसलमान रोजा करैं, हिंदू ग्यारसि आंन ॥
मैं बड़ मैं बड़ होत है, इहै बड़ा हैरांन ॥५५॥
हिंदू चाल्या तीरथां, तुरक पीर तहां जांहि ॥
दिल मांही दीदार था, गोता मारया नांहि ॥५६॥
जिबह किया बकरी भिसति, लिषी कतेबा मांहि ॥
तौ अपणां गला कटाइ करि, भिसति वसै क्यूँ नांहिं ॥५७॥
अपणै करि कांटा चुभै, तब काढ्यां ही सुष होइ ॥
यूँ साहिब सूँ वैरान है, बात कहत हैं दोइ ॥५८॥
काजी का बेटा मरै, तब काजी कै उरि पीर ॥
यूँ परमेसुर सबका पिता, भला न मानैं वीर ॥५९॥
गाइ भिसति मुरगी भिसति, जिवह किया जीव और ॥
ए दोजिग मैं दुरत हैं, नहीं भिसति मैं ठौर ॥६०॥
मनिष मरै तब जालिये, जालिर न्हावण जांहि ॥
हिन्दू की करणी कहा, जे मारि मड़ा कूं षांहि ॥६१॥
भैंरू आगै वाकरा, भैंसा मारै जाइ ॥
×चाँवड़ चिन्ता डाकणी, मांही बैठी षाइ ॥६२॥

पाठभेद—जुग-१। दुहुं-१। क्यौं-१-३। यौं-१। भिस्ति-२-३-४-५। ज्यवह-२। जिवहि-१। ये-२। जग-१। मिनष-५। च्यंता-२।

शब्दार्थ—दहुँ=दोनों। जिवह=कुर्बानी, कत्ल। भिसति=स्वर्ग। कतेबां=कुरान। वैरान=विमुख। दोजिग=नरक। दुरत=गिरते। मड़ा=मृत, मुर्दा, मेंडा। चाँवड़=देवी।

× चांवड़—चाह विविध भोग की वासनारूपी चिन्ता वही डाकिणी है—आयु को खाती रहती है।

पषा पषी मन छाड़ि कै, निरपष होइ सुष देष ॥
निरपष सूँ निरपष मिलै, तौ पूरण ब्रह्म अलेष ॥६३॥
पषा पषी सब को मिलै, निरपष मिल्या न जाइ ॥
जौ कबहुं निरपष मिलै, तौ निरपष पष कूं षाइ ॥६४॥
नहिं उपजै नहिं षपेगा, नहिं आवै नहिं जाइ ॥
सब कुछ करि सब तैं अगम, जहाँ तहाँ रह्या समाइ ॥६५॥
मन सबका असवार है, पैंड़ा करे अनेक ॥
मन उपरि असवार है, विरला कोई एक ॥६६॥
जन हरीदास मैदान मैं, मन अपणां दौड़ाइ ॥
दिसूं दिसा सूं फेरि करि, अगम तहाँ लै लाइ ॥६७॥
जन हरीदास मन माछली, माया का जल मांहि ॥
जब विछुरै तब ही मरै, ता तैं विछुरै नांहि ॥६८॥
जो हूवा सो ना रहै, था सो रह्या समाइ ॥
जन हरीदास आछै मतै, तहाँ रहौ लै लाइ ॥६९॥

॥ इति निरपषमूल जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

॥ अथ प्राणपसिद्धि परमात्मापूजा जोगग्रन्थ ॥

औधू जोगी जुग तैं न्यारा,
घटै न वढै सदा ज्यूं का त्यूं, रहै सकल तैं न्यारा ॥१॥
पहली हुवा न पीछे विनसै, जागि तहाँ मिलि रहिये ॥
जांमण मरण जुरा भै जमडंड, काहे कूं सिर सहिये ॥२॥

पाठभेद—रह्यो–१। दसौं–१। विछुड़ै–५। जग तैं–३-५। ज्यौं–१। त्यौं–१।

शब्दार्थ—असवार=चालक। पैंडा=विविध वासनामय मार्ग। दसूं दिसा=भौतिक पदार्थों की ओर। विछुरै=अलग हो। आछै मतै=मुक्ति की चाह, आत्म-जिज्ञासा। औघू=मन, साधक, शिष्य। जोगी=जगनिर्माता।

तरवर संसार विवधि फल लागा, जीव तहाँ सब जीवै ॥
उपजै षपै वसै ताही मैं, मगन हुवा रस पीवै ॥३॥
कहिये कहा कौंण यह मानैं, यहु रस सब कूँ भावै ॥
एक आध सापणि का सुत ज्यूं, अदिष्टि होइ सुष पावै ॥४॥
यहु सुष तजै न वा सुष लागै, जागति जाइ न जाणी ॥
पहुंचै कौंण दूरि बेगमपुर, बीचि गहर गुण पांणी ॥५॥
सवद सुणैं सुणि सांच पिछाणैं, जोग मूल गहि जागै ॥
उलटा षेलि परमसुष पहुँचै, माया वांण न लागै ॥६॥
निरपष वसत निजरि मैं राषै, पष दोन्यौ पर षोवै ॥
सरम सिला अरि उर तै षेसै, अवला उदरि न सोवै ॥७॥
काया करम भरम करि कांनैं, निज विश्रांम न लहिये ॥
आतम कै असथांनि न पहुँचै, तब लग परलै वहिये ॥८॥
पष की पासि पचत है सबको, सत पुरषां सुष दूजा ॥
वाहरि भेष दसा तन मिरतग, उरि आदर की पूजा ॥९॥

पाठभेद—काहि–१। कुंण–१। याहि–१। येक–२। अदिष्ट–२। अदृष्ट–५। इहु–२-४। षेल–५। वस्त–३-४। निजर–५। दोन्यू–४। उदर–३-४। विसरांम–३। आत्म–२-५। प्रलै–१। पास–१। पहुँचत–१। मृतग–३-४। मृतक–५। उर–३-५।

शब्दार्थ—विवधि फल लागा=वासना, लोभ, मोह-मदादि। बेगमपुर=अमरापुर, मुक्तिस्थान। गहर=गम्भीर। गुण=त्रिगुणात्मक संसार। उलटा षेलि=आत्ममय मनोवृत्ति से। निरपष वसत=निर्गुण ब्रह्म। कांनै=एकओर। परलै=जन्ममृत्यु के प्रवाह में। पासि=बन्धन। पचत=पचाती, खाती।

४थी साखी—जैसे सर्पिणी के बच्चों में से कोई उस परिधि या घेरे से निकल जाता है, वही बचता है। अन्यथा जो घेरे में रहते हैं, उनको सर्पिणी खा जाती है। इसी तरह वासना के घेरे से जो प्राणी निकल जाते हैं वही स्वस्वरूप में निष्ठ हो जीते हैं, अन्यथा विविध कर्मों के फल भोगने को जन्मते-मरते रहते हैं।

७ वीं साखी—सरम सिला अरि उर तै षेसै=सरम सिला लोकाचार रूपी भावनामय शत्रु को उर से दूर करे, तभी जन्ममृत्यु से बचे।

९ वीं साखी–वाहरि भेष दसा तन मिरतग=बाहर से देखने पर तो साधक में भी कोई न कोई भेष दिखाई पड़ता है, पर अन्तर से मन को मृतक बना लिया—संकल्प-विकल्परहित कर लिया है।

नर औतार जात है हरि विणि, सूनी सेभ न सोई ॥
यांह बातां कोइ पार न पहुँता, साध कहै सब कोई ॥१०॥
यहु सुष छांड़ि और सुष आगै, बात अगम की कहिये ॥
है हरि अगम निगम तैं न्यारा, गुर गमि होइ तौ लहिये ॥११
जैसे कहै रहै भी तैसे, चित मैं भरम न आंणै ॥
पैंडा करै मरै नहिं मारचा, पंथ पुरातम जांणै ॥१२॥
पहुंचै विथा न विष वन पैसे, वप तजि वसत विचारै ॥
निरभै नाथ भजै भजि निरभै, वाजी सूँ षेल न हारै ॥१३॥
वसि दरवारि मरिसि मां हठ करि, अगम तहां मन दीजै ॥
राम विसारि सोइमां हरि भजि, अवधि घटै तन छीजै ॥१४॥
अंतरि और कहै कछु औरै, अरथ और ही बूझै ॥
सवद कहै ताहि राह न चालै, साच सवद मैं सूझै ॥१५॥
ना दुष गहै न सुष को सोधै, अगम अरथ उर धारै ॥
गहि गुर ग्यान मोह तजि मैं तैं, काम क्रोध रिप मारै ॥१६॥
सतगुर सवद आथि संग साथी, झूठै भरमि न लागै ॥
नौ षंड पुहुमि उलटि मन उनमनि, नांव निडर ले जागै ॥१७॥
निरभै वसत सकल विस्वव्यापी, घट तजि अघट विचारै ॥
जोगी मरै न जोरां जीवै, हीरा जनम न हारै ॥१८॥

पाठभेद—हरि विन–३-५। इहां–२। यां–५। पहुंचै–३। इहु–२। चिति–१। पुरात्म–१-३-५। वनि–२-४। वस्त–३-४। दरवार–१। मरसि–३-४। कूँ–२-३। पहौमि–२-४। विस–१-५। जन्म–३।

शब्दार्थ—आणै=लावे। पैंडा करे=साधना द्वारा मुक्ति मार्ग की पूर्ति करे। पुरातम=प्राचीन, वास्तविक। वप तज=देहाध्यास छोड़। मरिसि मां=मरेगा नहीं। सोधे=षोजे। बूझै=समझै। आथि=अन्त में। नौषंड पुहुमि=नवद्वार वाली देह, नौ खंड वसुधा। जोरां=जबरन।

१३ वीं साखी–पहुंचै विथा न विष वन पैसे=विष—विषयरूपी जहर से दूर रहे, वासना के जङ्गल में प्रवेश करे नहीं तो त्रिविध ताप की कोई पीड़ा नहीं पहुंचती।

आसण अचल मेर गिर उपरि , मन हसती गहि बांधा ।।
उलटा चल्या सवोड़ि पहूँता , पैंडे पार न लाधा ।।१९।।
सासि उसासि अगम अरि जीत्या, जागि परम गुर पाया ।।
अधर अरेष अथाह अषंडित , नांव निरंजन राया ।।२०।।
वसुधा जीति वास हम कीया , षबर षालिक की जांणी ।।
अरथ विचारि अंक भरि उलटा , सुष में सुरति समांणी ।।२१।।
जोगी जागि न सोवै निसदिन , ग्यान गुफा में आया ।।
भैंरू कीलि कसर सब काढ़ी , सूता वीर जगाया ।।२२।।
ग्यान गूदड़ी सहज निरालंव , पिसण पवन गहि वांधी ।।
गंग जमन मधि आसण अवधू , चेलै सतगुरु लाधी ।।२३।।
अषिल अछेद निरूप निड़र घर , फेरि तहाँ मन लाया ।।
नलिनी का सूवा की नांई , आपैं आप बंधाया ।।२४।।
ना विष गहै न इंम्रत छाड़ै , पाप पुनि दोइ दूजा ।।
साध धरमि अंतर नहिं पाड़ै , तौ अवगति की पूजा ।।२५।।
आलस करै न आरंभि लागै , ता कूँ जमराइ न मारै ।।
अजरा जरै अरीभ रिझावे , जीतण कूँ षपै न हारै ।।२६।।

पाठभेद—आसन-१ । ऊपरि-३ । हस्ती-३-४ । षलक-१ । भैंरो-५ । कील- १ । सहज्य-२ । मध्य-२ । औधू-३-४ । अमृत-१ । धरम-३-४ ।

शब्दार्थ—मेर गिरि=गगनमंडल । सवोड़ि=किनारे, अन्तिम लक्ष्य पर । सास-उसास=प्राणस्थैर्य द्वारा । वसुधा=देह, पृथ्वी, जगत् । षालिक=खलक का स्वामी ब्रह्म । समांणी=समाई । भैंरू=क्रोध । कीलि=वश में कर । पिसण=कामादि चोर । पवन गहि=समाधिस्थ हो । दूजा=न्यारा, अलग । साध धरम=साधक के कर्त्तव्य में । पाडै=पड़ने पर ।

२३ वीं साखी—गंग जमन मधि आसण अवधू=इडा-पिंगला के बीच सुषुम्ना में प्राण का आसन करना, प्राणप्रवाह करना ।

२६ वीं साखी—आलस करै न आरंभि लागै=साधना में आलस्य न करे, न ही सांसारिक वासनाओं या प्रवृत्तियों में उलझे । अजरा जरै अरीझ रिझावे=सूक्ष्म संस्कार की वासनाओं को जारै—पचा ले, शुद्ध चिन्तनस्वरूप परमतत्व जो किसी वस्तु से रीझता नहीं—प्रसन्न नहीं होता उसको विरहरूपी परम प्रेम से रिझावे ।

निरभै भया गया डर ड़रतां , साच सबद मैं पाया ॥
चेला ले नाथ गुफा मैं पैठा , तहां कछु अलष लषाया ॥२७॥
चंद सूर समि सुरति सहज घरि , अरथि अलूधी आसा ॥
परम जोति परकास परमसुष , तहाँ हमारा बासा ॥२८॥
मन निहचल निरभै सुष लागा , रहै सकल तैं न्यारा ॥
गंगा मूल अमूल अधर घर , तहाँ पड़ि रह्या विचारा ॥२९॥
जहाँ जहाँ बरण तहाँ बहु बंधण , काल कहर की छाया ॥
अबरण अगम सुगम जब समभया, तन ही मैं तत पाया ॥३०॥
सत रज तम गुण रजा रहत रस , तहाँ विलंब्या चींया ॥
चेला पाँच पसरताँ थाका , रस ही मैं रस पीया ॥३१॥
कहन सुनन सुष तैं सुष आगै , अगम सहै रहै लोई ॥
तहाँ बसै ताहि दाँण न लागै , पहुँचै विरला कोई ॥३२॥
या मन तै मन और अगम है , सकल वियापी सारा ॥
परम सुनि परवाण न कोई , निज विश्राम हमारा ॥३३॥
साथ संवाहि सहज घरि राषै , वंकनालि रस पीवै ॥
इला पिंगला सुषमनि समि करि , परचै लागा जीवै ॥३४॥
राम दयाल देव करणां मैं , परम तत पति पूरा ॥
अरस परस आनंद अभि अंतरि , बाजै अनहद तूरा ॥३५॥

पाठभेद—निहिचल–२-४ । पड़–५ । वहो–२ । अवर्ण–३ । रहैत–४ । सह–३-४ । न्यज–२ । विसराम ५ । समाहि–१ । प्यंगला–२ । अभ्य–२ ।

शब्दार्थ—अरथि=आत्मतत्व । अलूधी=लगी रहे । आसा=चाह । बरण=वर्ण, जातिभेद । रजा=छूटा । रहत रस=नित्य सत्य आत्मतत्व । चीया=विशुद्ध मन । पाँच= पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ । पसरताँ=विषयों में जाते । थाका=थका, विरत हुआ । सहै=सो, वह । दांण=दण्ड, कर । परवाण=नापतोल । साथ संवाहि=साथियों को संभाल । वंकनाल= मेरुदण्ड ।

२७ वीं साखी—चेला ले नाथ गुफा मैं पैठा=नाथ—निश्चल मन ने चेला—चलने वाली इन्द्रियों को अन्तर्मुख कर हृदयगुहा में प्रवेश किया ।

२९ वीं साखी—गंगा मूल अमूल अधर घर=परम आनन्दरूपी गंगा की धारा का मूल वह अमूल परब्रह्म है ।

परम जोति परकास परमसुष , आतम अंतरि लहिये ॥
करम कपाट भरम करि कांनै , अगम तहाँ मिल रहिये ॥३६॥
आसण छाँड़ि पराँ विणि उड़िया , अलष विष घर पाया ॥
रस फल षाइ बहुड़ि मन रसिया , रस ही मांहि समाया ॥३७॥
उलटा पवन आकासि पहुँता , अकर तहाँ कर दिया ॥
परम उदार अपार अषंडित , वास तहाँ हम कीया ॥३८॥
आसा मेटि निरास निरंतरि , गुर गमि गैला लाधा ॥
×बादल विण बीज व्यौम मैं चमकै, घण वरिषा वन दाधा ॥३९॥
इंद्री मन प्राण अरथ कै आसणि, अगम तहाँ फिरि लागा ॥
धुनि मैं ध्यान परसि पद निरभै , भरम गया भै भागा ॥४०॥
मन निहचल निरधार निरंतरि , मछ मूँवा विण पांणी ॥
पष दोऊँ परला मैं डूबा , धुनि मैं धजा समांणी ॥४१॥
*आसण अनंत फिरै था फेर्‌या , गावै था सो गाया ॥
पारस परसि भया मन कंचन , निज विश्राम समाया ॥४२॥
जोग न भोग जुरा भै जीत्या , भूलि पड्या भै नांही ॥
शून्यमंडल मैं सकल वियापी , प्राण वसैं ता मांही ॥४३॥

पाठभेद—आतम–३-४ । परां विन–३-५ । उड्या–१ । विष–३-४ । विरष–५ । न्यरास–२ । विणि–२ । विरषा–३ । यन्द्री–२ । आसण–५ । न्यरंतरि–२ । विणि–२-३ । दौड़–१ । न्यज–२ । विस्राम–२ । विसराम–५ । सुनि–४-५ ।

शब्दार्थ—परां विणि=माया, ममतारूपी पङ्खों के बिना । अलष विष=अगोचर समष्टि चेतनरूपी । आकासि=दशम द्वार । लाधा=मिला, पाया । मछ=मन मीन । विण पांणी=वासनारूपी जल बिना । पष=पक्ष, समर्थन । धुनि=अन्तर्नाद, अनहद-शब्द । धजा=ब्रह्मवृत्ति । भूलि पड्या भै नांही=वह भूलकर भी संसार की भोगवासना में नहीं आता, न ही जन्ममृत्यु के भय से त्रस्त होता है ।

× व्योम–दशम द्वार में निराधार वृत्ति से बिना बादल के ज्ञानज्योतिरूपी बिजली चमकने लगी । परमानन्द प्राप्तिरूप वर्षा से वासनारूपी वन का विनाश हो गया ।

* मन के विषयप्रवृत्तिरूपी अनन्त आसन थे, जिनमें वह भ्रमित था, उसको निश्चल कर अन्तर्मुख किया ।

संकट नहिं सरम करम नहिं अकरम, धरे अधर घर षाया ॥
ता सुषि लागि सहज घर मूंनि, बोलै नहीं बुलाया ॥४४॥
ग्यांन न ध्यांन जोग नहिं भोगी, नहिं तहाँ गरू न चेला ॥
घटै न वधै सदा ज्यूँ का त्यूँ, अरिचित नाथ अकेला ॥४५॥
पूरण ब्रह्म अलष हरि अरिचित, रूप अरूप अछाया ॥
षीर नीर ज्यूँ सकल निरंतरि, ना तस काल न काया ॥४६॥
राग दोष रस मैं तैं नांही, जीव जनम नहिं जोगी ॥
अंग न भंग निरंग निरषर, ना तहाँ वैद न रोगी ॥४७॥
अरत अथाह उजागर अर रिपु, सतगुरि साच बताया ॥
मनसा चलै न यहु मन छाड़ै, प्रांणनाथ पति पाया ॥४८॥
वप नहिं विथा वरण नहिं अवरण, ग्यांन ध्यांन नहिं दूजा ॥
नाथ निरंजन निरभै जोगी, तहाँ हमारी पूजा ॥४९॥
ग्यांन विचार वमेक अगम गति, वार पार नहिं लहिये ॥
हरि दरिया सुष देषि दसौं दिसि, तहाँ ठग्या सा रहिये ॥५०॥
जलि थलि जहाँ तहाँ करणा मैं, रहै सकल तैं न्यारा ॥
जन हरीदास मन ता सुषि लागा, गुरगमि अगम विचारा ॥५१॥
सब देवां सिरि देव दयानिधि, छिपै न काहू छाया ॥
जन हरीदास मन ता सुषि लागा, सतगुरि साच बताया ॥५२॥

॥ इति प्राणप्रसिद्धि परमात्मापूजा जोगग्रन्थ ॥

पाठभेद—अक्रम–४। मौनी–३-५। ज्यौं–१। त्यौं–१। अरिच्यत–२। अरचित–३। जन्म–४। न्यरंग–२। अरि–३-५। इहु–४। विवेक–१। दसूं–२-४। गुरुगमि–१। सतगुरु–१। सतगुर–५।

शब्दार्थ—सरम=सुख। मूंनि=मगन, दत्तचित्त। अरचित=अनादि। ना तस=नहीं उसको। अर रिपु=काम-क्रोधादि शत्रुओं का शत्रु। वप=शरीर। ठग्या सा=लुभाया हुआ, फिदा। छाया=आवरण।

॥ अथ जोगसमाधि जोगग्रन्थ ॥

अवधू जोगी जुग तैं न्यारा,
पद निरवांण निरंतरि बैठा, चिंता का करि चारा ॥१॥
सबद विचारि सहज घरि षेलै, नांव निरंतरि जागै ॥
×मनसा डाकणि मारती मारै, तौ नगरी चोर न लागै ॥२॥
इन्द्री कसै धसै मन दह दिसि, मन कूँ अटकि न राषै॥
तन पाटण तहाँ मन मैवासी, नांनां विधि रस चाषै ॥३॥
चिंता कूँ चिंता फिरि ग्रासै, अगनि अगनि कूँ सोषै ॥
जल विणि न्हाइ निरंतरि षेलै, अब मन पड़ै न धोषै ॥४॥
तन जीतै ताकूँ तत दरसै, तत रहै गुणां तै जूवा ॥
जाणैगा कोई जोगेसुर, जा घट परचा हूवा ॥५॥
अधर अगम कोई विरला पहुँचै, सतगुरि साच बताया ॥
जा सुष कूँ हम न्यारा कहता, सो सुष नैड़ा पाया ॥६॥
दांणी मारि दांण मैं दीया, अपणा मूल न हारं ॥
पूँजी रहै विणज त्यूँ विणजूँ, पैंड़ा अगम अपारं ॥७॥
ना ग्रिह करूँ न वन वसि भरमूँ, घर मांही घर पाया ॥
सो घर सकल घरां तै न्यारा, ता घरि प्रांण समाया ॥८॥

पाठभेद—औधू–१। नृवांण–२-४। डाकण–५। दिहि–४। विन–३-४। तब–१। द्रसै–१। त्यौं–१। विणजौ–५। ग्रह–२-५। करौं न–२। भ्रमूं–५।

शब्दार्थ—निरवांण=गतिरहित, मुक्त। चिन्ता=वासना। कसै=निग्रह करे। धसै=प्रवेश करे। अटकि न=निरोध कर। पाटण=नगर। मैवासी=गढ़पति, अधिपति। चिंता=भोगवासना। चिंता=चिन्तन, आत्मचिंतन। अगनि=संतापाग्नि। अगनि=ज्ञानाग्नि। जल विण न्हाइ=भोगवासनामय जल को त्याग आत्मानन्द रस में स्नान करे। तत=आत्मतत्व। जूवा=जुदा। नैडा=पास, समीप। दांणी=दण्ड दिलाने वाला, चञ्चल मन। दांण=कर। पूंजी=नामचिन्तनरूपी सम्पत्ति। पैंडा=मार्ग, राह।

× मनसा—चाह या वासनारूपी डाकिनी सब प्राणियों को भोग भोगने में प्रवृत्त कर मृत्युबन्धन में डालती है। जो साधक वासनारूपी डाकिनी से छुटकारा पा लेता है, उस साधक के मनुष्य-जीवनरूपी नगरी में काम, क्रोध, लोभादि चोर नहीं लग सकते।

प्रगटी सुवधि कुवधि कण षूटा, भरम गया भै हारी ॥
अंजन मांहि निरंजन दरसै, अण भै कथा विचारी ॥९॥

नीच करम न्यारा हम न्यारा, भया अचंभा भारी ॥
पैंडे चलूँ न काँटा लागै, उलटी पंष सँवारी ॥१०॥

गुणगत गया मिल्या मोहि निरगुण, निरगुण सुष वार न पारा ॥
सहज समाधि पवन गहि पांचू, हम दहूँ पषा तैं न्यारा ॥११॥
मैं मेरा मन अकलि उजालै, अगम तहां लै लाया ॥
उलटा चढ्या अनल का सुत ज्यूँ, सहजै सूँनि समाया ॥१२॥
पैंडे चलेस पारि पहुँचै, वेसि रहै सो हारै ॥
अरथ कियां अनरथ सब छूटै, ऐसा अरथ विचारै ॥१३॥
सील संतोष दया दरवारी, षिमा हमारै दाई ॥
ग्यांन विचार वमेक सिंघासण, सुष मैं सुरति समाई ॥१४॥
×निरभै डंड निरास अधारी, कंथा अजर अपारं ॥
भिष्या अगम निरंतरि डीवी, आसण सूनि हमारं ॥१५॥
जोग विचारि जुरा हम जीती, अगम वसत सो पाई ॥
निरभै भया निरंतरि मेला, उलटी ताली लाई ॥१६॥
पूरब छाड़ि पछिम नहि षेलौं, कजली वन विष बारी ॥
*देस कांवरू कर गहि तौलौं, सींगी सूनि हमारी ॥१७॥

पाठभेद—चलौं न–१-५ । ले–४-५ । वैठि–२-३ । छिमा–१ । जोगि–१ । लायी–१ ।

शब्दार्थ—सुवधि=तात्विक मति । कुवधि=कुमति, भोगवासनामय मति । अंजन=माया, माया का कार्य । पैंडे चलूँ=आत्मचिन्तन के मार्ग चलूँ । दहूँ=दोनों । अकलि उजाले=कलनरहित ब्रह्मप्रकाश में । अनल=अनल पक्षी । वेसि रहे=बैठ रहे, साधना को त्याग दे । कंथा=ब्रह्मरूपी गूदड़ी । ड़ीवी=पात्र । पूरब=ज्ञानसूर्य । पछिम=अज्ञान-तम । कजली वन=भोगों का जङ्गल ।

× निर्भयतारूपी डंड डंडा–आशाहीन भावना का आशा ।

* वासनाजन्य भोगमय संसारसुख को ज्ञान-विचाररूपी तुला में तोलूँ ।

आसा का ईंधण हम कींया , चिंता अगनि बुझांणी ॥
×नदी निवासै वहती थाकी , चढ्या अपूठा पांणी ॥१८॥
※काम हमारे कागद बांचै , आषर अगम विचारै ॥
यहु मत गहैस पारि पहूंचै , वैसि रहै सोई हारै ॥१९॥
मंझ देस तहाँ मंढी हमारी , तन बावंवर कीया ॥
धूंई ध्यान सहज की मुद्रा , अगम पियाला पीया ॥२०॥
मेरडंड का मारग लाधा , उलटा पवन चढ़ाया ॥
दसवैं द्वारि निरंजन जोगी , हम गुरगम तैं पाया ॥२१॥
तेरह तीन प्रांण घर चौथे , परम सूनि मन पूरा ॥
+सोषी भया पिसण पिसण भया सोषी, गढ़ पड़ि सकै न चूरा ॥२२॥
दषिण देस दूरि हम छाड्या , उतर हमारा वासा ॥
निरभै भया निरंतरि मेला , अणभैपद अभ्यासा ॥२३॥
जोगी सदा सहजि घर षेलै , =वसुधा गहि वसत विचारी ॥
जा गिरवर तैं गंगा निकसै , ता गिरि गुफा हमारी ॥२४॥

पाठभेद—च्यन्ता-२। अगन्य-२। इहु-२। पार-१-५। तेरै-३। दक्षण-३-४-५।

शब्दार्थ—आसा=आगन्तुक भोग। चिन्ता=वासनारूपी चिन्ता। यहु मत=आत्मविचार। वैसि रहे=सांसारिक भावों में लिप्त रहे। मंझ देस=हृदयमन्दिर। धूंई ध्यान=ध्यानरूपी धूणी। तेरह=अष्ट प्रकृति पंचभूत। तीन=सत, रज तम—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति। चौथे=तुर्यावस्था में। पिसण=लुटेरे, शत्रु। दषिण देस=संसार। उतर=अध्यात्म देश। गिरवर=दशम द्वार, सर्वोपरि ब्रह्म। गंगा=आनन्दरूप गङ्गा।

× आशा-तृष्णा की नदी जो संसार के भोगों की ओर बही जा रही थी, बंद हो गई तथा उलट कर आत्मस्वरूप की ओर बहने लग गई।

※ काम मोक्षरूपी भावना हमारे कागद वांचै—वेद, उपनिषदादि का स्वाध्याय करे।

+ विषयसुख जो पहिले सोपी—सुखदायी मित्र लगते थे, वे अब पिसण—शत्रु हो गए हैं। जो विवेक विचारादि पहिले शत्रु से लगते थे, वे अब अति मित्र से लगने लगे हैं।

= वसुधा—बुद्धि को गहि स्थिर कर वसत—सत्य ज्ञानमय वस्तु का विचार किया।

इला पिंगुला सुषमनि मेला, त्रिवेणी तटि न्हाया ॥
जोग समाधि प्राण ले सूता, जागै नहीं जगाया ॥२५॥

×अरथ विचारि अगनि मैं पैठा, नऊँ नाथ संगि लीया ॥
※आइस बलै अंगीठी तापै, ऊपरि आसण कीया ॥२६॥

+सात समंद मोती फिरि सोष्या, मछ मूवा विण पांणी ॥
गोपी तजि कान्ह अगम कूँ चाल्या, अनभै कथा पिछांणी ॥२७॥

मरकट पै बाजीगर नाचै, सब्द निरंतरि बाधा ॥
पूरा बासण कदे न झलकै, जौ झलकै तौ आधा ॥२८॥

तीतरि बाज पगां तलि रौंध्या, छाली बिग्रह चारै ॥
गूँगा अरथ अगम का बूझै, बहरा अरथ विचारै ॥२९॥

पाठभेद—पिंगला-१ । सुषमन-१-५ । अगम-३ । आय-५ । उपरि-१-२ ।

शब्दार्थ—अगनि=ब्रह्माग्नि । नऊँ नाथ=पांच ज्ञानेन्द्रियां, चारों अन्तःकरण ।

× अरथ विचारि-तात्विक विषय विचार ज्ञानज्योति में प्रवेश किया । नऊँ-नाथ-चारों अन्तःकरण व पांचों ज्ञानेन्द्रियों को साथ लिया ।

※ आइस-मन जोगी के विकार जल रहे हैं-वह ज्ञानज्योति से तप रहा है, निखर रहा है ।

+ विवेकरूपी मोती ने षड्‌रिपु—काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष तथा अहङ्कार रूपी सातों समुद्रों का शोषण कर लिया । कुवृत्ति रूपी मछलियां मर गईं । विविध वृत्तिरूपी गोपियों को विशुद्ध मनरूपी कान्ह अगम स्वस्वरूप की ओर ले चला । तब जो अध्यात्मज्ञान कथारूप में सुनते थे, उसको स्वकीय अनुभव में जान लिया ।

२८ वीं साखी—निरन्तर अनहद शब्द में बँधा हुआ वृत्ति वाला जीव बाजीगर मन रूपी मरकट को वश में कर नाच रहा है-प्रसन्न हो रहा है ।

२९ वीं साखी—संतोषरूपी तीतर ने लोभरूपी बाज को पैरों तले रौंद दिया । अकिंचनतारूपी बकरी ने अहङ्काररूपी व्याघ्र को चर लिया—खा लिया ।

सांसारिक पदार्थों से उदासीन मौनी—मनरूपी गूँगा अगम इन्द्रियातीत आत्म-पदार्थ के अर्थ को बूझै-जानै । लौकिक-वार्त्ता सुनने से विरत बहरा मन ही आत्म-तत्व के अर्थ को विचारता है ।

पिंगुला ऊठि पगां विण चाल्या , आंधै लोचन लाधा ॥
तरवर पात फूल फल डाला , बीज समूला षाधा ॥३०॥
धूजै धणक उलटि सर लागा , लोग तमासै आया ॥
मुरगी वपरी जिबैह मुलांना , काजी न्यौंति बुलाया ॥३१॥
चींटी कै मुष मेर समानां , मूसैं गिली मंजारी ॥
दादर सरप समंद मैं डारया , लौंकी परि असवारी ॥३२॥
मकड़ी का सिर माषी तोड्या , जंबक स्यंघ जगाया ॥
कुंजरि मग्र दंत तव चूरया , हिरणी चीता षाया ॥३३॥
रवि ससि पकड़ि दाढ़ तलि राष्या, नकटी नाथि नचाई ॥
सुसा हमारै षेती राषै , वाड़ी मिरघ न षाई ॥३४॥

पाठभेद—विणि–२-४ । धनक–३-५ । वपड़ी–१ । ज्यवह–२ । न्यूंति–४-५ । समांणां–१ । सिंघ–३-४ । हिरनी–१ । मृघन–४-५ ।

३० वीं साखी—चञ्चलता–कल्पनारूपी पैरों से हीन पंगुल मन –ऊठि–सजग हो आत्माभिमुख हो गया । अज्ञान और अविवेक नेत्रों से विहीन अन्धे मन ने विवेक विचार रूपी नेत्र प्राप्त किये । निर्भ्रान्त सत्य ज्ञानरूपी बीज ने अज्ञानरूपी वृक्ष के वासनाजन्य प्रवृत्ति, विषयभोग, कामक्रोधादि पत्ते फल-फूल डाल सहित खा लिये ।

३१ वीं साखी—गुरु–उपदेश रूपी बाण उलट अन्तर में लगा तो मनरूपी धनुष धूजने लगा । शील, सन्तोष, त्याग, वैराग्यादि गुण रूपी लोग पलटे हुए मन के चरित्ररूपी तमाशे को देखने आए । निश्चल बुद्धि रूपी मुर्गी ने मलिन मुल्लारूपी मन को जिबह किया–कत्ल किया, आत्मतत्व जीवरूपी काजी को निमंत्रित कर बुलाया ।

३२ वीं साखी—अन्तर्मुखवृत्तिरूपी चींटी के मुख में अहङ्काररूपी मेरु समाया–विलीन हो गया । आत्मविचाररूपी मूसे ने वासनारूपी बिल्ली को निगल लिया । लयरूप वृत्ति पर आधारित नाम चिन्तनरूपी दादुर–मेंढक ने संशयरूपी सर्प को ज्ञान-समुद्र में डाल दिया ।

३३ वीं साखी—परा भक्तिरूपी मक्खी ने मायारूपी मकड़ी का सिर तोड़ दिया । परम प्रेममय जम्बुक ने जीवात्मारूपी सिंह को जगाया–सचेष्ट किया । वैराग्य-रूपी मस्त हाथी ने मोहरूपी मगर को चूर-चूर कर दिया । शीलमय वृत्तिरूपी हिरणी ने कामरूपी चीते को खा लिया ।

३४ वीं साखी—रवि-शशि–प्राण तथा मन को साधना द्वारा वशीभूत कर माया रूपी नकटी के ज्ञान की नाथ डाल नचाई । षट् साधना रूपी खरगोश ने आध्यात्मिक अभ्यासरूपी खेती की रखवाली की । जिससे विषय विकाररूपी मृग उस बाड़ी को किसी तरह का नुकसान न पहुंचा सके ।

मांनि अमांनि अगनि दोई दीरघ, सुर नर असुर संघारया ॥
जो मारग जीतण कूँ षपता , सो पैंडा हम हारया ॥३५॥

अकल अभेद अछेद अषंडित, निरामूल निरधारं ॥
इंहा न उहाँ निकटि नहिं न्यारा, अगम वार नहिं पारं ॥३६॥

सोई निरभै निज नाथ सदा संगि मेरे, जुरा मरण भै भागा ॥
अनहद सवद गिगन मैं गरजै , मूलकँवलि मन लागा ॥३७॥

उपजि न विनसै जुरा न व्यापै , ना सो मरै न मारै ॥
षिजै न षेलै जागि न सोवै , सोई निरगुण इष्ट हमारे ॥३८॥

ना तस मोह दोह पण नांही , ना तस काल न काया ॥
ना सो पुरष नारि भी नांही , ना तस धूप न छाया ॥३९॥

जोग न भोग न्यकटि नहिं न्यारा, उदै असत दोइ नांही ॥
मैं तैं तजे भजेगा सोई , ब्याप रह्या सब मांही ॥४०॥

घणा कहूँ तो कहणि न आवे, थोड़ा कहूँ तो षारा ॥
घटै न वधै सदा ज्यूँ का त्यूँ, रहै सकल तैं न्यारा ॥४१॥

जन हरिदास पति परस परमसुष, झड्या सहज में ताला ॥
जोग समाधि जुरा नहिं व्यापै, जा घटि अगम उजाला ॥४२॥

जुरा न व्यापै जोगियां , चिंता काल न षाई ॥
करम भरम धुंई किया , सुष मैं रह्या समाई ॥४३॥

सुष अगाध सब तैं अगम , पहुंचै विरला कोई ॥
जन हरीदास तहाँ षेलिये , तब ही आनंद होई ॥४४॥

पाठभेद—सिघारया–३-५ । वहां–२-५ । न्यकटि–२ । उपज्यन–२ । तस्य–१ । निकट–३-४ । च्यंता–२ । षाय–१-४ ।

शब्दार्थ—गिगन=शून्यमण्डल, दशम द्वार । मूलकँवल=हृदयकमल । षिजै न=क्रोध न करे । ना तस=नहीं । मैं=मेरा । तैं=तेरा । झड्या=पड़ा, गिरा । धूंई किया=जलाया, भस्म किया ।

जोग भेष सतगुरु दिया, आतम कूँ उपदेस ॥
जन हरीदास मन तहाँ वसे, जहाँ संतन का परवेस ॥४५॥
जोग समाधि अगाध व्रत, पारब्रह्म सूँ प्रीति ॥
जन हरीदास तहाँ षेलिये, तन मन त्रिसना जीति ॥४६॥

॥ इति जोगसमाधि जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

॥ अथ जोगध्यान जोगग्रन्थ ॥

दूर देस तहाँ सौदा मेरा, सतगुरि आय जगाया ॥
पैंडे चलूँ न काँटा लागै, उलटी राह बताया ॥१॥
×मन घर प्रांण प्रांण घर मनसा, बंकनालि में बाई ॥
अगम अर्थ सोई कथा कहत हूँ, सतगुरि वसत बताई ॥२॥
तन पाटण तहाँ वास हमारा, नौ दरबार जड़ाया ॥
सूँनिमंडल में जोति चमकै, उलटा पवन चढ़ाया ॥३॥
※आवध विन संग्राम करम विण आरंभ, त्रिगुण सषी सुत षाया ॥
=जटा पंषि पाणी में पैठी, मीन सूनि घर पाया ॥४॥

पाठभेद—चलों न–१। सून्य–२।

शब्दार्थ—दूरदेश=ब्रह्मलोक। पैंडे चलूँ न=विषय-वासना के मार्ग चलूँ नहीं। काँटा=चुभन, विषय अप्राप्तिजन्य संताप। उलटी राह=अन्तर्मुखवृत्ति। नौ दरवार=नौ दरवाजे। आवध=शस्त्र। त्रिगुण सषी=सद्‌बुद्धि। सुत=ज्ञानरूपी पुत्र।

× मन का घर–हृदय वहाँ प्राण को ले जाय, प्राण का घर नाभि–वहाँ मनसा-वृत्ति को ले जावे। वंकनाल में प्राण का वहन करना इस अभ्यास से अगम पदार्थ मिलता है।

※ आध्यात्मिक संग्राम बिना शस्त्र का है, आत्म-परिचय का साधन लौकिक-कर्म से निवृत्त वृत्ति से है। निश्चल वृत्तिरूपी आत्मसखी के ज्ञानरूपी पुत्र ने त्रिगुणात्मक धर्मों के भावों को खाया–समाप्त किया।

= विवेकमय-बुद्धिरूपी मयूरी ने आत्मप्रेम रूपी पानी में प्रवेश किया। सुरति वृत्तिरूपी मीन ने सूनि घर–दशम द्वार में स्थान पाया।

+राजा भयो रैत रैत भई राजा, ऊपर आसण कीया ॥
=रुति पलट्यां रस फीका लागै, यैकै रस वस जीया ॥५॥
मीठा जहाँ तहाँ मन लागा, फल करि गहूँ न षारा ॥
घरि घरि चैन राज रस यैकै, निरभै नगर हमारा ॥६॥
निरगुण निज भेद सकल तैं न्यारा, सकल निरंतर दरसै ॥
घटि घटि अघट करम पट लागा, विरला कोई परसै ॥७॥
ऊँनिण आइ आकास गिरास्या, विणि विरषा रुति आई ॥
ता रुति साष सहज मैं निपजै, षेती विष वावन लागै काँई ॥८॥
कांटी झड़ै प्राण कण निपजै, विणि परचै कण छीजै ॥
डूबै उदिकन अगनिन ग्रासै, ऐसा आरंभ कीजै ॥९॥

पाठभेद—एकै–४-५ । फल कर–३-५ । ऊंन्यण–४ । ऊंनरण–५ । ग्रास्या–१ । गरारया–३ । किरण–२ । विरण–४ । प्रचै–१ । बूड़ै–१ ।

+ अज्ञानावस्था में मन राजा था, वह ज्ञानावस्था में प्रजा बन गया । बुद्धि, विवेक, विचारादि जो मन के राज्य में प्रजावत् थे, वे अब राजा हो गए । यानी मन, इन्द्रियों के संचालक हो गए । ऊपर—शून्यमंडल दशम द्वार में निवास किया ।

= रुति पलट्यां—संसार में लगी वृत्ति बदली–आत्मपरक हुई । ऋतु-परिवर्त्तन हुआ तब संसारी पदार्थों का रस फीका लगने लगा । येकै रस वस–आत्मानन्द रूपी एक ही रस में लगकर जीया–जन्ममृत्यु से छूट कर अमर हुआ ।

७ वीं साखी—निर्गुण तत्व अपने भेदरहित सबसे–जड़ प्रपंच से न्यारा है पर सब में सर्वदा दिखाई देता है । घट घट में-सब प्राणियों में वही अघट चेतन तत्व व्याप्त है । कर्मजन्य अज्ञान का पर्दा आड़ा आया हुआ है अतः जो कोई विरला साधक कर्म-बन्धनों से मुक्त होता है वही उस तत्व को परसता है–प्राप्त करता है ।

८ वीं साखी—विरहरूपी ऊंनिण–अग्नि ने आकर हृदयाकाश को व्याप्त किया, उत्कट आत्मप्रेम रूपी वर्षा बिना ऋतु के आई । उस स्थिति में सहज ही आध्यात्मिक खेती की उत्पत्ति हुई, उस खेती को अब विषय-वासना रूपी झोला कभी लगने का नहीं ।

९ वीं साखी—हे साधक ! साधना का ऐसा आरम्भ करिए, जिससे कर्मरूपी कांटी झड़ जाय, प्राणसाधना से आत्मपरिचय रूप कण की उत्पत्ति हो । यदि आत्म-तत्व की प्राप्ति नहीं हुई तो जीवनरूपी कण बिना लक्ष्य प्राप्ति के नष्ट हो जायगा । इसलिए ऐसे साधन में लगो, जिससे न तो भवसागर में डूबो, न ही कालाग्नि से ग्रसित हो ।

गिरवर मैं धात धात मैं गिरवर, गिरवर धात न षाया ॥
भेष भरोसे मति कोई भूलै, जब लग यहु मत नाया ॥१०॥

चौमासे दोइ चात्रिग ग्रास्या, निरपषि निजरि समाया ॥
सात समद मोती मैं वास्या, मरजीवा ले आया ॥११॥

नवघण छूटा वरसती थाकी, भार अठारह पाई ॥
चिंता षिवणि गाजै गत आपौ, वसुधा गिगन समाई ॥१२॥

गागरिका पांणीं कूवा पीवै, भया अचंभा भारी ॥
उलटी नेज अगम सूँ लागी, पड़ि फूटी पणिहारी ॥१३॥

पाठभेद—इहु-२। चात्रग-२। निरपष-३-४। नौघण-१। स्यूं-१।

१० वीं साखी—गिरवर-सर्वोच्च, सर्वश्रेष्ठ चेतनतत्व के धातु त्रिगुणात्मक, पंचभूतात्मक, स्थूल तत्व आश्रित हैं। धातु स्थूल तत्वों में चेतन व्याप्त है, पर चेतन-तत्व स्थूल देहादि का नाशक नहीं है, उनका नाश कर्मानुबन्धिकालजन्य है। केवल भेष से काल की चपेट टल जाय ऐसी भूल कोई न करे। काल जब ही जीता जायगा, जब साधना से आत्मज्ञान की प्राप्ति की जाय।

११ वीं साखी—एकाग्र आत्मरत वृत्तिरूपी चातुर्मास दशा ने अज्ञान तथा मोहरूपी दो चात्रज्ञ पक्षियों को ग्रसित किया, जिससे द्वैत बुद्धि का निवारण हो। निरपष—धर्म, जाति, कुलादि का पक्ष निवृत्त हो व्यापक समत्व दृष्टि प्राप्त हुई। विशुद्ध मन रूपी मोती में साधना की सत्य भूमिका सिद्ध हुई। इस तरह-मरजीवा-जीवन्मृतक साधक जीवन्मुक्त अवस्था को ले आया-प्राप्त हुआ।

१२ वीं साखी—नवघण—पाँचों इन्द्रियाँ व चारों अन्तःकरणरूपी बादलों की घटायें बरस-बरस थक गईं। भार अठारह—आठ महत् दस लघु सिद्धियाँ पुष्ट हुईं। चिंता षिवणि—वासना रूपी बिजली की गरज व प्रधानता समाप्त हुई। गत आपौ-अहंकार नष्ट हुआ। वसुधा वृत्ति गगन-दशम द्वार में स्थिर हुई अर्थात् समाधिदशा प्राप्त हुई।

१३ वीं साखी—आत्मतत्वरूपी कूआ देहध्यासरूपी गागर का पानी पीने लगा, जिससे अति आश्चर्य हुआ, उलटी नेज-वृत्तिरूपी नेज-डोरी अन्तर्मुख आत्माभिमुख हुई। अगम सूं-ब्रह्म से लगी, ब्रह्मनिष्ठ हुई। वासनामय पणिहारी पड़ी-खत्म हुई, तब भोगरूपी गगरी भी फूट गई।

मेरडंड वाई चढ़ छेद्या, जलमल अगनि ग्रास्या ॥
मिट गया त्रिवधि तिमिर या तन तैं, परम सूर परकास्या ॥१४॥
सीमरता सकला जुग सूता, पडदा परहा न होई ॥
उदै कँवल तहाँ अगनि वलत है, जागि न देषे कोई ॥१५॥
सत रज तम गुण काम क्रोध मद, मोह दोह कस दीया ॥
पांणी जलै अगनि जल सोषै, ऐसा आरंभ कीया ॥१६॥
मुद्रा सवद सुवधि कंठि सींगी, ग्यांन चक्र करि धारं ॥
चेला पांच जटा सिरि जरणां, आसण सूनि हमारं ॥१७॥
पैंडा अधर अगम उरिं अंतरि, उदबुद कथा अभेदं ॥
षिम्यां षड़ग लै ऐसे षेलूँ, जनम मरण सिरि छेदं ॥१८॥

पाठभेद—मेरदंड-१ । सुवुधि-१ । षेलौ-१ । जन्म-४ ।

१४ वीं साखी—वाई प्राण-मेरुदण्ड सुषुम्ना मार्ग द्वारा गगनमंडल में पहुंचा, प्रदीप्त योगाग्नि ने वासना के जल व भोग के कालुष्य का शोषण किया, देह के त्रिविध ताप निवृत्त हो गए-मल, विक्षेप, अध्यासरूपी तिमिर-अज्ञानान्धकार का भी निवारण हुआ और परम सूर-विशुद्ध ब्रह्मतेज का प्रकाश फैला।

१५ वीं साखी—सांसारिक भोग-विलासमय शीत से त्रस्त सब संसार सो रहा है-अज्ञानरूपी अन्धकार का पर्दा दूर नहीं हो रहा है। उदै कँवल-नाभिकमल में ज्ञानज्योति जल रही है पर कोई जागकर-सचेत होकर देख नहीं रहा है।

१६ वीं साखी—त्रिगुणात्मक अन्तःकरण के धर्म, काम, क्रोध, मोह आदि सब को कस दिये-काबू में कर लिये। ज्ञानाग्नि प्रदीप्त हो विषयवासना के जल को जला रही है-शोषण कर रही है। ऐसा आरंभ कीया-इस तरह की साधना में लगा हूँ।

१७ वीं साखी—साधक रूपक द्वारा अपना भेष बता रहा है। शब्द-अनहद शब्द का श्रवण मुद्रा है, कण्ठ में अजपा-जाप होता है वह सींगी है, ज्ञानरूपी चक्र वही हाथ में कड़ा है, पाँचों ज्ञानेन्द्रियां हैं वे ही शिष्यवर्ग हैं, जरणां है वही सिर पर जटा है, शून्य-गगनमंडल में वृत्ति की स्थिति वही आसन है।

१८ वीं साखी—पैंडा-मार्ग हमारा अधर निरालंबी है, चेतन से सम्बन्धित है, अगम-इन्द्रियातीत स्वस्वरूप है वही हृदय में निवास करता है। यह अभेदरूपी ज्ञानकथा उदबुद-अद्भुत् है। क्षमारूपी खड्ग को ले जन्ममृत्यु के कारणरूप काल का सिर काट देता हूँ।

अजपा जाप मंत्र मैं सीष्या , लोभ लहरि सब झाड़ं ॥
काली नागणि डसण न पावै , गिणि गिणि डाढ उपाड़ं ॥१९॥
पाणी मैं पैसि न परसूँ पांणी , अगनि वस अगनि न ग्रासं ॥
गुणां पैस निरगुण होइ निकसूँ , आसा वसि रहूं निरासं ॥२०॥
आरंभ करूँ कर रहूं निरारंभ , जीवण कूँ षपूँ न हारूँ ॥
छाडूँ साथ न साथी राषूँ , ना मैं मरूँ न मारूँ ॥२१॥
अटक्यां रहूँ न आण्यां आऊँ , चालूँ नहीं चलाया ॥
सोऊँ सहज न हठ करि जागूँ , भूषा रहूं न धाया ॥२२॥

पाठभेद—प्रसौ–१ । गिरास–२-४ । निकस्यूँ–१ । करौ–१-५ । रहौं–१ । कौं–१ । षपौं–१ । हारौं–१ । छाड़ौं–१ । राषौं-१ । मरौं–१ । मारौं–१ ।

१९वीं साखी—मैंने अजपा जाप वृत्तिमय चिन्तन का मन्त्र सीखा है । लोभ-लालसा की लहरें सब झाड़ झड़क दी हैं–दूर कर दी हैं । मायारूपी काली नागिन अब काट नहीं सकती, उसकी विषय-वासना–काम क्रोधादि सब डाढ जड़ें गिन-गिन कर निकाल दी हैं ।

२०वीं साखी—रज-वीर्यरूपी पानी से उत्पन्न इस देह में रहकर भी देहाध्यास रूप पानी का स्पर्श नहीं करता । काम-क्रोधादि की इस देह में अग्नि जलती रहती है, पर मैं उस काम-क्रोधादि विषयवासनादि अग्नि से ग्रसित नहीं हूँ । त्रिगुणात्मक शरीर में रहकर भी मैं निर्गुण होकर उससे तटस्थ हूँ । विविध आशा वाले मन के साथ रहते हुए भी मैं सब आशाओं से मुक्त हूँ ।

२१वीं साखी—साधना रूपी कर्म का आरम्भ करता हूँ, पर वह कर्म निष्काम है । अतः आरम्भ दिखते हुए भी निरारम्भ है । मुक्त होने के प्रयास में हूँ, इसमें आने वाली बाधाओं से हारूँगा नहीं । अपने आत्मस्वरूप का साथ छोड़ूँगा नहीं, ज्ञानेन्द्रियों को अन्तर्मुख कर साथ रखूँगा । न मैं काल-कवलित होऊँगा, अभेदभावना से किसी का मैं मारक भी नहीं ।

२२वीं साखी —कामादि प्रवृत्तियों से रुकूँ नहीं, लोभ-लालसा के बुलाने पर आऊँ नहीं, मन के चलाने से चलूँ नहीं, सहज दशा प्राप्त कर समाधि में सोऊँ । सांसारिक प्रवृत्तियों के दुराग्रह से जागूँ नहीं, अपनी साधना छोड़ूँ नहीं, स्वस्वरूप-प्राप्ति के परमानन्द से तृप्त रहूं पर उससे धापूँ नहीं–विरत नहीं होऊँ ।

ज्यूँ आकास सहज गुण ग्रासै, गुण कोई व्यापै नांही ॥
अवधू तन मन ऐसे राषै ज्यूँ, चंदा जल मांही ॥२३॥
साहिब अघट साध सब घट धर, कीमति कहत न आवै ॥
वार पार कोई मधि न जांणै, सब कोई अगम बतावै ॥२४॥
परमपुरिष परग्यांन परमसुष, परापरै पति पाया ॥
जन हरीदास मन उनमनि लागा, सहजैं सुनि समाया ॥२५॥
पारब्रह्म पति परम सनेही, समद रूप सब मांहीं ॥
जन हरीदास साध सुषि लागा, धार पार कछु नांही ॥२६॥

॥ इति जोगध्यान जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

॥ अथ प्राणमात्रा जोगग्रन्थ ॥

ॐ प्राणमात्रा सुणौ हो साधौ,
हरि भजन का भेद, कांम क्रोध का करिवा छेद ॥
एकपहि राषिवा पाँच साथी, मन मैमंत मारिवा हाथी ॥१॥
मैं तैं मोह दल जीतिवा जोगी, जुरा भै मेटिवा पवन रस भोगी ॥
सवद की गूदड़ी सास सव धागा, अचाहि की सूई लै सींवणै लागा ॥२॥

पाठभेद—ज्यौं–२। कहैत–२। उनमन–२। पंच–१।

शब्दार्थ—प्राणमात्रा=प्राण का काल से नियन्त्रण। एकपहि=एक स्थान, एकाग्र। मैमंत=मस्त। मैं तैं=मेरा तेरा। पवन रस भोगी=प्राणसमाधि रस। अचाहि=अनिच्छा।

२३वीं साखी–जैसे आकाश में विविध वर्णों की प्रतीति होते हुए भी आकाश सब वर्णों से अलिप्त रहता है–ऐसे ही आत्मसाधना में लगा साधक अपने तन-मन को सब विषय-भोगों से अलिप्त रखे जैसे जल; में चन्द्रमा।

निरास मैं मुद्रा सील संतोष सति चेला, ध्यांन की धूई तहां सिधां का मेला ॥
दया धीरज डंड साच करि गहिवा, विचार कै आसण उनमनि रहिवा ॥३॥
सवद की सींगी सहज की माला , जत की कोपीन तहाँ जोग का ताला ॥
निरमोह मढी निहचल वासा , जरणां की जटा सिरि देषिवा तमासा ॥४॥
निरास उड़ाणी अकल की छाया, अवर उठि चालिवा तजिवा काम क्रोध काया॥
भेद सिर टोपी तन वाघंवर , निरगुण जो घोटा सूनि वस्ती न घर ॥५॥
×पाताल का पांणी आकास कूँ चढ़ाइवा, कलपना सरपणी पवन मुषि षाइवा ॥
सतगुर सवद लै अगह अगम उर धारिवा, ग्यांन का चक्र लै काल कूँ मारिवा
वारह सोलहकला लै एक घरि आणिवा, जोगका मूल यह जुगति सब जांणिवा ।
गुर का सवद लै भौंरा जगाइवा , सरप वंवई तजि अगम तहाँ जाइवा ।७।
देषि पग धरिवा दया पंथ करिवा , उद्र भरि न सोइवा धात करि न धरिवा ॥
भैभीत नग्री मोहनी माया , कामना मिटी तव जोग पंथ पाया ॥८।
रहता सो भाई वहता सो वहणां, अवधू उलटा गोता मारि आकास मैं रहणां ॥
अरथ की अंधारी मिथ्या न भाषिवा, निरंजन मात्रा जतन सूँ राषिवा ॥९॥

पाठभेद—दंड–१ । वसती–२ । अपणी–१-५ । अगैह–१ । बारह–३-५ । देषि पांव धारिवा–१ । उदर–१ । नगरी–१ । अर्थ–४-५ ।

शब्दार्थ—भेद=रहस्य, ज्ञान, तथ्य । वारह=सूर्य की कला, पिंगला । सोलह= चन्द्रमा की सोलह कला, इड़ा । इड़ा-पिंगला को एक घर सुषुम्ना में आणिवा–लाना । भौंरा=जीवात्मारूपी भ्रमर । सरप वंवई=संशय का मूल । देषि=ज्ञानदृष्टि से । दया पंथ करिवा=मन, वचन, कर्म से अहिंसक रहना । उद्र भरि=अति आहार कर । धात करि न धरिवा=सोना, चांदी आदि धातु को लेना नहीं । भयभीत नग्री= देह रूपी नगरी कालभय से भयभीत है । रहता=एकाग्र मन । वहता=चंचल मन । अरथ की अंधारी=रूप, रस, शब्दादि विषयों का अन्धकार न आने देना ।

× पांणी–शुक्ररूपी द्रव जो स्वभावतः अधोगति है, जिसके निकलने का स्थान मूत्रेन्द्रिय है । उस पाताल स्थान से वीर्य को आकाश में चढ़ाना–ऊर्ध्व रेता होना । मन की चंचलतारूपी सर्पिणी को प्राणायाम की साधना द्वारा समाप्त करना, सतगुरु के उपदेशानुसार पकड़ में न आने वाले इन्द्रियातीत चेतन तत्व की स्वानुभूति करना, नित्यानित्य विवेक रूपी चक्र से काल पर विजय पाना ।

डीवी सवूरी ओर कूँ न देवा, आकास की भिष्या भाव सूँ लेवा ॥
*वाई न झलकै भरम सब छाड्या, परमतत परसतां मेर मधि गाड्या ॥१०॥
बैसि निरंतरि आरंभ करिवा, काया कमंडल अमीरस भरिवा ॥
×चिंता डाकणी फिरि गई लाजै, अनहद सींगी गगन सुर बाजै ॥११॥
जीवता मरै सु जुगि जुगि जीवै, अगम का पियाला छक्या रस पीवै ॥
उरम धूरम सुषमना भोगी, अकल तरवर तहाँ वसै प्राणनाथ जोगी ॥१२॥
जन हरीदास सतगुर सवद कहै त्यौं कीया, अकलि कै आसरै अगम गढ़ लीया
साध सब ही वसै तहां भै नांही, जन हरीदास मन सुरति प्राण वसै ता मांही॥
जन हरीदास चेत्या सतगुर चितावै, सोवै सो षोवै जागै सो पावै ॥१३॥

॥ इति प्राणमात्रा जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

॥ अथ आत्माअभ्यास जोगग्रन्थ ॥

व्योम नहीं वसुधा नहीं, पवन जल तेज न लोई ॥
अगम ठौड़ करसण तहां, चोर कर लगै न कोई ॥१॥
पांणी विणि पांणी, अतिर हाथां विणि तिरणां ॥
वारिन रहणां थाकि, पारि जाइ वहुड़ि न फिरणां ॥२॥

पाठभेद—जुग जुग–५। अकल–३-४। श्रुति–४। वार न–३-५। पार–३। वहौड़ि–३-४-५।

शब्दार्थ—डोवी=पात्र। आकास की भिष्या=अनायास प्राप्त भिक्षा। उरम धूरम=इडा पिंगला। अकल=कलनरहितचेतन। अकलि कै=साधना द्वारा, शुद्ध बुद्धि से। चेत्या=सावधान हुआ। अगम ठौड़=परमधाम, आत्मनिष्ठ। करसण=कृषि, खेती। वारिन=इसी किनारे, संसार में ही। पार जाइ=पार पहुंच, आत्मसाक्षात्कार कर। वहुड़ि=वापिस, पीछा।

* वाई न झलकै—प्राण अनवस्थित न हो यौगिक क्रियानुसार ही उसका प्रवाह रहे।

× विषयभोग की वासनारूपी चिन्ता लज्जित होकर चली गई।

एकै साथी साथि, गया साथी गत दूजा ॥
देवलि देवलि पैसि, पसरि मन करे न पूजा ॥३॥
हारि जीति दोइ देस, तहां सब जीव का वासा ॥
देषि तमासा डर्‌या, वहौड़ि मोहि आवै हासा ॥४॥
चिंता की लगै न चोट, वोट सतगुर की आया ॥
सतगुर साहस धीर, सु तौ सतगुर तैं पाया ॥५॥
ग्यांन सिंघासणि वैसि, एक आरंभ हम कीया ॥
ब्रह्म अगनि परजालि, पवनमुषि परवत दीया ॥६॥
गया पाप परचंड, त्रिवधि मैं तैं भ्रम भागा ॥
उलटा गोता मारि, प्रांण निरभै सुषि लागा ॥७॥
पाँच सषी लै साथि, परम सुषसागरि झूल्या ॥
विवधि वेलि फल झड्या, कँवल विणि पाणी फूल्या ॥८॥
डाल समाया मूल, काम यहु सतगुर कीया ॥
त्रिवेणि असथांनि, जड़ां मैं पावक दीया ॥९॥
×गंग जमन मधि वेसि, चंद घरि सूर समाया ॥
परम जोति परकास, अगम गुरगम तैं पाया ॥१०॥

पाठभेद—स्यिंघासणि–१। प्रजाल–१-५। प्रवत–१। प्रचंड–१। भरम–१-५। नृभै–२-४। विविधि–१। असथांन–५।

शब्दार्थ—देवलि देवलि=मन्दिर-मन्दिर। हासा=हसी। वोट=आड़, ओट। एक आरंभ=आत्मचिन्तन। परजालि=प्रज्वलित कर, जलाकर। पवनमुषि=प्राण-सिद्धि। परवत दीया=अहङ्कार हटाया। पाँच सषी=अन्तर्मुखी पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ। झूल्या=स्नान किया, ओत-प्रोत हुआ। विवधि वेलि=वासनामय लता। कँवल विणि पानी फूल्या=हृदयकमल बिना विषयभोगरूपी पानी के प्रफुल्लित हुआ। डाल समाया मूल=डाल रूपी जीव मूल व्यापक ब्रह्म में समाया। त्रिवेणी असथांनि जड़ां मैं पावक दीया=तीन गुणों के प्रपञ्चरूप भौतिक भावनाओं की जड़ में ज्ञान की अग्नि लगाई।

× गंग जमन–श्वास-प्रश्वासरूपी प्राण सुषुम्ना द्वारा दशम द्वार में समाय

धेनि धाम परहरया, पसरि पांणी नहिं पीवै ॥
परम सूँनि घरि धसै, कुपह केरड़ा न जीवै ॥११॥
अरचित अरत अभंग, नाथ निरभै निरभेदं ॥
जहाँ तहाँ भरपूरि, पूरि लै आस उमेदं ॥१२॥
वार पार मधि नांहि, छिपै नहिं काहू छाया ॥
अदिष्टि अषिर अरूप, अगह उरि अंतरि पाया ॥१३॥
तहाँ सापणि नहि संचरै, ड़हकि दोइ डंक न धारै ॥
प्रथम चढ़ै नहिं जहर, =मंत्र गारड़ू न मारै ॥१४॥
भैरूं न लगै न भोग, सीस भोपी नहिं तौलै ॥
देवल विणि देव अभेव, तहां कुलफ कोइ जड़ै न षोलै ॥१५॥
अरध छांड़ि उरधै चढ्या, राग विणि रागनि वाजै ॥
ब्रह्म अगनि आभरण, सबद विणि सींगी वाजै ॥१६॥
तुला नहीं तहाँ तुल्या, विप्रा विणि वेद पढाया ॥
अगनि विना अस होम, पुनि विण पुन्य समाया ॥१७॥

पाठभेद—ध्येन-२। प्रहरया-१। अक्षर-३-५। अगहि-४। डहक-३। पुन्य-२।

शब्दार्थ—धेनि धाम परहरया=स्थिर वृत्तिरूपी गाय ने सांसारिक घर का परित्याग किया-मोह छोड़ा। पसरि पांणी नहिं पीवै=वृत्ति अब सांसारिक पदार्थों में जा विषयभोग के पानी को नहीं पीती। कुपह=कुमार्ग। केरड़ा=बछड़ा। सापणि=वासना, माया। डहकि=उचककर। दोइ डंक=राग, द्वेषमय। गारडू=सतगुरु, मंत्र-दाता। भैरूँ=काल। भोपी=माया। कुलफ=कुन्दा, साँकल। अरध=नीचे। उरधै=ऊपर, ऊँचा। आभरण=गहने, आभूषण। तुला=विचार, तकड़ी।

१७ वीं साखी—बिना तकड़ी के विचाररूपी तुला में तुला। बिना पंडितों के सतगुरु उपदेश से वेद-आत्मज्ञान पढ़ा। बिना बाहरी अग्नि के ज्ञानाग्नि में सब प्रकार की वासनामय सामग्री का होम किया। जप, तप, दानादि पुण्य कर्म किये बिना परम पुण्य-स्वस्वरूप की प्राप्ति की।

आरंभ बिंणि आरंभ , करम बिंणि करम स कीजै ।।
बिंणि तपस्या तप तहाँ , पाठ बिंणि पाठ पढीजै ।।१८।।

ईंधण बिंणि ईंधण , अगनि बिंणि अगनि स जारै ।।
बिंण ही निद्रा नींद , भूष बिंणि भूष संभारै ।।१९।।

नव नाथ लै साथि , मेर चढ़ि आसण धारया ।।
जोगारंभ बिंणि जोग , भोग बिंणि भोग विचारया ।।२०।।

नीर न झलकै पारा मारया , यहु आरंभ हम कीया ।।
ठगता जिकै सुतौ ठग ठावा , पकड़ि अगनि मुषि दीया ।।२१।।

पाठभेद—अग्नि–१ । इहु–२ । ज्यके–२ ।

१८ वीं साखी—बिना किसी स्थूल क्रिया के आत्मचिन्तन का आरम्भ किया । स्थूल कर्मों के बिना चिन्तन, ध्यान, समाधि आदि कर्म में लगा । तितिक्षामय पञ्चाग्नि आदि तप को छोड़ मनःसंयम का तप होने लगा । बाहरी वाणी के पाठ बिना धारणा वृत्ति से स्वस्वरूपरूपी पाठ निरन्तर पढ़ने लगा ।

१९ वीं साखी—काम, क्रोध, लोभ, मोहादि ईंधन वाली विषयाग्नि को छोड़ त्याग, वैराग्य, शील, जरणा आदि की ईंधन वाली ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित कर सम्पूर्ण कर्म जलावे । बाह्य निद्रा-सुषुप्ति के बिना समाधिरूप योगनिद्रा ले । भोग-पदार्थों की भूख को छोड़ ब्रह्मानन्द रस की भूख जागृत करे ।

२० वीं साखी—अन्तर्मुख पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, चारों अन्तःकरण–ये नव नाथ साथ ले मेर चढ़-सुषुम्ना द्वारा प्राण को दशम द्वार में पहुंचा, आसन धारया–प्राण को स्थिर किया । बिना यम-नियमादि अष्टांग योग की साधना के राजयोगरूपी योग के अभ्यास में लगे । सांसारिक भोगों के बिना स्वस्वरूप प्राप्ति रूप परम भोग भोगने का निश्चय किया ।

२१वीं साखी—नीर न झलकै–मन में चचलता न रहे, पारा मारया–वीर्य का पाचन कर ऊर्ध्वगामी बनाया । हमने यह साधन प्रारम्भ किया । लोभ, मोह, तृष्णा, काम आदि ठग मन को ठगने वाले थे, उन सबको ज्ञानाग्नि द्वारा दग्ध किया ।

जन हरीदास सतगुर का चेला, डरै न सोवै जागै ॥
उनमनि रहै निरंतरि निसदिन, तौ नगरी चोर न लागै ॥२२॥

॥ इति आत्माअभ्यास जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

॥ अथ उतपति अहेत जोगग्रन्थ ॥

व्योम नहीं वसुधा नहीं, पवन जल तेज न पांणी ॥
द्योस नहीं जदि राति, तदि कहि कौंण विनांणी ॥१॥

सात समद मरजाद, नहीं गिर भार अठारा ॥
चौरासी लष जाति, नहीं जदि मंडल तारा ॥२॥

आदि सकति नहिं सेस, विष्ण ब्रह्मा नहिं आया ॥
जनम जुरा नहिं मौत, जीव नहिं काल न काया ॥३॥

पुरष नारि रस पाँच, हाट पाटण न पसारा ॥
दामणि गिगनि न गाज, नहीं विरषा घण धारा ॥४॥

पाठभेद—कूंण-१ । गिरि-१ । विष्णु-१ । विसन-२ । पुरिष-१ । पाटणि ४ । वरिषा-३ । वृषा-५ ।

शब्दार्थ—व्योम=आकाश । द्योस=दिन । विनांणी=चतुर, विशेषज्ञ । रस पाँच=शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध विषय पाँच । हाट=बाजार, दुकान । पाटण= नगर, कायानगरी । दामणि=विषय-वासनामय बिजली । गाज=गर्जना । घण=बादल ।

२२ वीं साखी—महाराज हरिदासजी कहते हैं कि सतगुरु-कृपा से अब न तो षड्रिपुओं का भय है । अज्ञान निद्रा में सोवें नहीं, योग-साधना द्वारा सदा सजग रहते हैं । सर्वदा सहजावस्था में वृत्ति को स्थिर किये हुए हैं, तब अब इस काया नगरी में काल-कर्मादि चोर कोई नहीं लग सकते ।

गरड़ नौ कुली नाग, मंत्र गारडू न गहरं ॥
डसण नहीं अह डंक, नहीं इम्रत नहिं जहरं ॥५॥
वीरविदोष न पोष, भूत डार्काणि नहिं भेदं ॥
भैरूं जोगनि भोग रस रोग, रसना नहिं कंध न छेदं ॥६॥
सात वार रुति तीन, घड़ी महूरत नहिं लोई ॥
पहर दिन पष मास, वरस जुग वरणन कोई ॥७॥
षुध्या त्रिसा नभ नींद, सेज सुष सोभ न घर ही ॥
नहिं वैरी नहिं मित्र, नहीं निरभै नहिं डर हो ॥८॥
सुद्र वैस षत्री विप्र, विद्या विसतार न वादं ॥
नहिं हिंदू नहिं तुरक, सरा नहिं सवद न स्वादं ॥९॥
नहीं चंद नहिं सूर, हारि हठ जीति न मनही ॥
मुकति सिधि नव निधि, चित नहि चाहि न धन ही ॥१०॥
सिध साधिक जोगी जती, पीर नहीं पैकंबर ॥
नहीं कुतब नहिं गौस, दत्त नहिं देव दिगंबर ॥११॥
नहिं तपस्या जिग जाप, नहीं करता नहिं कीया ॥
नहीं जोर नहिं जेर, जोग गोरष नहिं लीया ॥१२॥
नहीं सूर नहिं गाइ, जवै तन तेग न तूटा ॥
नहीं हेत मुष हाथ तदि, स्वाद कहुँ लिया न छूटा ॥१३॥
नहिं पाप नहीं पुंनि, दया निरदै नहिं माया ॥
नहीं मोह नहिं दोह, दूत दुसह नहिं दुष सुष छाया ॥१४॥

पाठभेद—इमरित–१। व्रस–१। विस्तार–१। मुक्ति–५। डिगंवर–३-४। ज्यग–२। जग–३। निरदय–३।

शब्दार्थ—नौ कुलि=नौ वंश सर्पों के। डसण=काटना। वीरविदोष=तान्त्रिक। कंध=ग्रीवा, धड़। रुति=सर्दी, गर्मी, वर्षा। षुध्या त्रिसा=भूख-प्यास। नभ=नाभी, गहरी। सरा=कुरान की दण्डनीति। जवै=जिबह, हलाल। तेग=करद, छोटी तलवार। निरदै=निर्दयी, क्रूर।

नहीं सील संतोष, गहर मति गुरू न चेला ॥
नहीं ग्यांन नहिं ध्यांन, आप तदि अलष अकेला ॥१५॥
नहीं विरह वैराग, नहीं सेवग नहिं स्वामी ॥
षट् दरसण पष नहीं, तदि आथि अरचित वहु नांमी ॥१६॥
महल दरगह सेझ सुष, नहिं वहौ नारी छंदा ॥
नहीं जोध जर कंवर, नहीं गै गौड़ि करंदा ॥१७॥
नहिं पाइक नहीं फौज, चूक नहिं चाल न धरही ॥
सूंब जाचिग दातार, नहीं कौड़ी नहिं कर ही ॥१८॥
रैंत नहीं राजा नहीं, दैत नहीं देवाइर ॥
नहिं षत्री नहिं षड़ग, सूर रिण तूर न काइर ॥१९॥
नहीं नाद नीसांण, है न बहता गैवा वल ॥
नहिं सांवत नहिं सूर, भींछ रिण हांकन कावल ॥२०॥
तदिस अषंडित राम, आथि अव साथी सोई ॥
सब जीवां का जीव, तास गति लषै न कोई ॥२१॥
जहाँ तहाँ गोपाल, गोप सब मैं गोपालक ॥
नहीं जोर नहिं ज्वान, नहीं बूढा नहिं वालक ॥२२॥
सिरजनहार अपार, नांव नाराइण लीजै ॥
निरामूल निरस्यंध, तहाँ फिरि सरवस दीजै ॥२३॥
ये सब करि सब तैं अगम, हरिजन हरीदास निरभै निड़र ॥
प्रांण हंस मोती चुगै, मांनसरोवर मंझि घर ॥२४॥

पाठभेद—इकेला-५। अरिचित-४। वहो-३-४। वहु-१। जरकंव-३-४। जाचिक-१। आदि-३। फिर-३। ए-३-४।

शब्दार्थ—षट् दरसण=जोगी, जंगम, सेवड़े, बौद्ध संन्यासी, शेष। जरकँवर=धन, सन्तान। गै गौड़ि करंदा=मस्ती वाले हाथी नहीं। पाइक=दास, सेवक। गैवावल=दैवी वल। सूंब=सूम। जाचिग=मांगने वाला। दैत=दैत्य। देवाइर=देवता। रिण=रणभूमि। तूर=तुरही। सांवत=अति शूरवीर। भींछ=सेनापति। कावल=उल्टा, विपरीत। तदिस=तहाँ। आथि=आखिर, अन्त में। मंझि=मध्य, बीच।

जन हरीदास उदबुद कथा , परमगति गुर गमि लहिये ।।
घर वन गिरि तर कंदरा , राम राषै तहाँ रहिये ।।२५।।

।। इति उतपतिग्रहेत जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ।।

।। अथ सवदपरीछा जोगग्रन्थ ।।

भगत जंगम जोगी जती , सोफी कहा संन्यास ।।
माया की छाया छश्या , निरभै ठौड़ निरास ।।१।।
वाद कियां वित घटत है , ×अपत परमदत जाइ ।।
मनिष जनम धरि हरि भजै , मन फिरि मनही समाइ ।।२।।
राग दोष मैं तैं मनी , जहां तहां मन देत ।।
प्राणनाथ पति छांड़ि करि , भार सगै सिर लेत ।।३।।
ग्यांन आंषि माया मुदित , जीव जागि सकै तौ जागि ।।
अपणा पला छुड़ाइ करि , पतित परम सुष लागि ।।४।।
विप्र वेद काजी इलम , दहूँ पषा दोइ तात ।।
वीचि समंद उभा इथां , कहै तहां की वात ।।५।।
जैन धरम कांटा करम , भरम करि सकै न दूरि ।।
चिदानंद सब तैं अगम , जहां तहां भरपूरि ।।६।।
च्यारि वरण का मूल कहां , हरि परम सनेही पीव ।।
हारि जीति भुरकी पडी , तहां अलूंधा जीव ।।७।।

पाठभेद—गिर–२-३ । जहाँ–२ । परम दत–३-४ । सिरि–३-४ । दहौं-५ । चारि-१ ।

शब्दार्थ— तर=तरु, वृक्ष । छक्या=धापा, तृप्त हुआ । ग्यान आँषि माया मुदित=ज्ञानरूपी नेत्र प्राप्त हैं पर अज्ञान से ढके हुए हैं । इलम=कुरान, विद्या । दहूँ पषा=दो पक्ष, हिन्दू-मुसलमान । इथां=यहां । कांटा=शूल, कर्मबन्धन की झाड़ी । च्यारि वरण=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र । अलूंधा=उलझा ।

× अपत–अर्पित प्राप्त मनुष्य जन्मरूपी परम दत–परम धन जाइ–व्यर्थ जा रहा है ।

षट् दरसण सोध्या सबै, सु तौ और ही रीति ॥
ऊलामाली जहां तहां, पषा पषी विपरीति ॥८॥
गावण सूँ रोवण भला, रोवण गावण मांहि ॥
राम वियोगी जीव कै, तलफि तलफि मरि जांहि ॥९॥
लाष गरंथ का अरथ यह, कोटि पदां पद सेष ॥
साहिब सवतैं सनमुषि सदा, तूँ सनमुष होइ देष ॥१०॥
अनंत साषि साधाँ कही, मांहि रतनपति राम ॥
उलटा गौता मारि करि, करो आपणां काम ॥११॥
तज तनसुष चोवा चंदन सूँधो, सब अंगि हीरा हेम उजास ॥
सु तौ सिंगार कोइ और है, जहां मिटै काल की त्रास ॥१२॥
सिला वैसि तपस्या करै, कंद मूल षणि षाइ ॥
वा तपस्या कोइ और है, जहां त्रिवधि ताप सब जाइ ॥१३॥
वहौ विधि भोजन लेत है, दुरचा देह की वोट ॥
वौह भौजन कोई और है, तहां मिटै काल की चोट ॥१४॥
धर्म नेम तीरथ विरत, प्रीति हेत मन मांहि ॥
सु तौ तीरथ कोई और है, जहां सबै पाप झड़ि जांहि ॥१५॥
चारत लै देही डंडै, अन आंवलि करि षात ॥
सु तौ चारत कोई और है, जहां काम क्रोध भ्रम जात ॥१६॥
पांच अगनि साधै सु तौ, फल ताकै तहां जाइ ॥
ब्रह्म अगनि प्रगटी नहीं, डाल मूल सब षाइ ॥१७॥
देह षेह निरगुण दसा, अनफा सूँ निरगुण लेत ॥
निरभै पदि पहुँता नहीं, लग्या कौंण सूँ हेत ॥१८॥

पाठभेद—विवोगी–४-५। इहै-२। यहै–३। साष–२। षिणि–२। वहु–१। तीर्थ–५। व्रत–१। आमल–५। भरम–१-५। पद–३-५। स्यूँ–१।

शब्दार्थ—उल्टा गोता=वृत्ति अन्तर्मुख करि। सूंधो=इत्र। हैम=सोना। उजास=प्रकाश। षणि=खोद कर। वहौ=अनेक, विविध। दुरचा=छिपा। वोट=ओट, आड़। चारत=व्रत विशेष, चान्द्रायणादि। डंडै=दण्ड दे, कष्ट दे। आंवलि=मलिन। अनफा सू=विनानफे, निष्काम। पहुँता=पहुंचा। हेत=प्रेम, स्नेह।

विवधि धरम तपस्या विवधि, चलत देह कै भाइ ॥
सु तौ पंथ कोई और है, तहां सात समंद लंघि जाइ ॥१६॥

सतगुर सबदां मन बह्या, घाटि उतारया आथि ॥
दूजा लाडू दूरि गया, एकै लाडू हाथि ॥२०॥

चिंतामणि दरई तहां, सु तौ सबै सुष लेत ॥
वा चिंतामणि कोई और है, प्रगट परम पद देत ॥२१॥

धाह अगनि मुष प्रजलै, तांवा लीया ताइ ॥
सु तौ तांवा कंचन भया, जब पारस परस्या जाइ ॥२२॥

स्याह लाल जरदा सुपेद, गिरवरि सुत हाथि हजूरि ॥
लोह पलटि कंचन करै, सो पारस कहूँ दूरि ॥२३॥

हीरा की सोभा कहा, सु तौ चौर ले जाइ ॥
वो हीरा कोई और है, उलटि चौर कूँ षाइ ॥२४॥

मांनि अमांनि दोइ गरव गत, प्रगट परमपद हाथि ॥
कांमधेन सुरही सवै, सु तौ कांमधेन तहां साथि ॥२५॥

मन मरजीवा तन समद, उलटा गोता षाइ ॥
हीरा ले न्यारा रह्या, षारा जल न सुहाइ ॥२६॥

चंदन तरवर की संगति, वसै स चंदन होइ ॥
अरस परस गति एक है, नांव धरण कूँ दोइ ॥२७॥

चंदन तरवर विवधि वन, चंदन मिलै न काहू रंगि ॥
और व्रिछ चंदन भया, मिलि चंदन कै संगि ॥२८॥

पाठभेद—परगट-४। मुषि-३। परजलै-३। सपेत-४-५। गिरवर-४-५। वोह-१। ग्रव-१। कांमधेनि-३-५। येक-२। विविधि-१। व्रिष-१। विरछ-३।

शब्दार्थ—सात समंद=षड् विकार, काम-क्रोधादि तथा सातवां अहङ्कार। दूजा लाडू=सांसारिक पदार्थ। दरई=द्रवित, प्रसन्न। धाह=लपट, ज्वाला। हीरा की सोभा कहा सु तौ चौर ले जाइ=उस मनुष्य-जन्मरूपी हीरे की क्या शोभा है? जिसको काम, क्रोधादि चोर चाहे जिधर ले जाय। सुरही=गाय।

कलप त्रिछ सब तैं अगम, सतगुरि दिया बताइ ॥
जा परस्यां दोजग दुरै, काम क्रोध भ्रम जाइ ॥२९॥
दत्त आपै दालिद गमै, मन का तोटा दूरि ॥
सु तौ दाता सब तैं अगम, जहां तहां भरपूरि ॥३०॥
जात लगी जोगी ठग्या, भजन करत सब साध ॥
सब देवां सिरि देव है, हरि अपरंपार अगाध ॥३१॥
सुष सीतल इम्रत सुधा, मन करत प्रेम धरि पांन ॥
सु तौ चंद कोई और है, प्रगट हरै अभिमांन ॥३२॥
कँवल विगसि प्रगटी किरणि, घट मैं अघट उजास ॥
पछिम दिसि ऊगा अरक, नष सिष नाभि प्रकास ॥३३॥
आठ पहर इम्रत सुधा, अरस परस रस एक ॥
सु तौ इन्द्र कोई और है, दूजा इन्द्र अनेक ॥३४॥
जनम जुरा घट पट नहीं, जम की लगै न गाज ॥
सु तौ राजा कोई और है, जा का सब परि राज ॥३५॥
सब देवां सिरि देव है, सब साहां सिरि साह ॥
सब सुलितांना सिरि सुलतांन है, हरि पूरण ब्रह्म अथाह ॥३६॥
लष चौरासी जीव जहाँ तहां, नाना विधि दीदार ॥
ए सब करि सब तैं अगम, अनंत जोग विसतार ॥३७॥
वसै कहां नांहीं कहां, कौंण सकै औगाहि ॥
वार पार कीमति नहीं, नांव धरत है ताहि ॥३८॥

पाठभेद—भरम–१। दाल्यद–२। दालद–५। इमरित–१। येक–२। सुलतांना–५। ये–२। विस्तार–४।

शब्दार्थ—परस्या=स्पर्श किये। दत आपै=आनन्दरूपी धन दे। दालिद गमै=गरीबी जाय। सु तौ=वह। जात लगी जोगी ठग्या=जो साधक पुजने लगता है, वह ठगा जाता है। कँवल विगसि=नाभिकमल खिला। प्रगटी किरणि=ज्ञान-ज्योति जगी। पछिम दिसि=आत्मनिष्ठ दशा। ऊगा=उदय हुआ। अरक=सूर्य, ज्ञानभानु। इम्रत सुधा=चन्द्रकिरण। साहां=साहूकार। सुलतांन=बादशाह। दीदार=आकार, दर्शन। औगाहि=पता लगा सके।

नांव धरूँ तौ मैं डरूँ, हरि अपरंपार अछेह ॥
सुत तात मात वनिता नहीं, गांव देस नहिं देह ॥३९॥
जन हरीदास पति का वरत, अपणैं हिरदै धारि ॥
पर पांणी लागै नहीं, उलटी पंष सँवारि ॥४०॥
परमसिंध परवांण कहां, वहौ कीमति करत गये हारि ॥
जन हरीदास निरभै मतै, निरभै वसत विचारि ॥४१॥

॥ इति रुवदपरीछा जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

॥ अथ वीरारस वैराग जोगग्रन्थ ॥

क्या कहिये कहणी कहा, रजमां रहणी मांहि ॥
सो साहिब के हाथि है, दै तौ अचरिज नांहि ॥१॥
रहणी तो जे हरि भजै, रहै निरन्तरि लागि ॥
बलता बुझै अंगार सब, वहौड़ि न झलकै आगि ॥२॥
को चरचै को वंदिजै, को निंदै गहि छार ॥
पेलै साध समाधि मैं, कलपै नहीं लगार ॥३॥
जौ कलपै तौ कसर है, कछु किरची मन मांहि ॥
अगम तहाँ पड़दा इहै, निज तत परस्या नांहि ॥४॥
ज्यूँ हम देषैं त्यूँ कहै, ऊँची करि करि वांहि ॥
कुरंग स्यंघ वैसे नहीं, एक व्रिछ की छांहि ॥५॥

पाठभेद—धरौं–१-५। डरौं–१-४। व्रत–१। परमस्यंघ–१। न्यज–२। सिंघ–३-४। येक–३-४।

शब्दार्थ—पति=ब्रह्म। वरत=व्रत। परवांण=परिमाण, नाप-तोल। रजमां=महल। चरचै=पूजे। वंदिजै=वन्दना करे। कलपै=तरसता रहे। =कसर=कमी। किरची=अंस, सदोषता। इहै=यही। निजतत=आत्मतत्व। कुरंग=मृग। स्यंघ=सिंह।

दुनिया सूँ वांई दई, परमेसुर सूँ प्रीति ॥
साधाँ का सुष अगम है, याह कछु उलटी रीति ॥६॥

करम कठिन रहणी कठिन, कठिन साध की टेक ॥
ज्याँह वाताँ साँई मिलै, सो कोई कठिन विवेक ॥७॥

विरह चोट लागी नहीं, साध सवद सुष दूरि ॥
काम क्रोध मैं तैं मनी, पग दे सक्या न चूरि ॥८॥

या बेदनि कटिवौ कठिन, जांणै विरला कोइ ॥
दया जहां आरंभ नहीं, आरंभ दया न होइ ॥९॥

दया देस तहां वास करि, निरभै पद भजि रांम ॥
धीरज मैं धन मिलेगा, यहि औसर यहु कांम ॥१०॥

मन चंचल निहचल भया, गळ्या ग्यांन की पालि ॥
जाग्या सो भरमै नहीं, सूता पड़ै जंजाल ॥११॥

×पाणी मांहि पैसि करि, धरै निरन्तर ध्यान ॥
मन मछली चितवत रहै, वड़ी विपति यहु ग्यांन ॥१२॥

अगम तहाँ पहुँता नहीं, गुण इन्द्र्या का प्रतिपाल ॥
गुर भीवर सिष माछली, तकि तकि म्हैलै जाल ॥१३॥

साध तहां सुरभष सदा, हरि सुमिरण सूँ हेत ॥
ष्याल पड्या षर षात है, जा का सूँना षेत ॥१४॥

पाठभेद—परमेश्वर-३-५ । व्यरह-२ । तहाँ-१ । न्यहचल-५ । प्रितपाल-३ । भष्य-१ ।

शब्दार्थ—टेक=जिद, आग्रह । बेदनि=पीड़ा । दया=अहिंसा । आरंभ=सकाम कर्म, यज्ञादि । गळ्या=रुप गया । भीवर=मछुवा । सुरभष=सुकाल, जमाना । ष्याल पड्या=संसार के खेल में पड जाने से । षर=गधा ।

× बगुला पानी में बैठ निरन्तर ध्यान करता है पर उस ध्यान का लक्ष्य मछली की हिंसा है । अतः इस तरह वक-ध्यान लगाने से लक्ष्य-प्राप्ति नहीं हो सकती ।

प्रांण सनेही सोइ मां, सुमरि सनेही रांम ॥
अलप आव आलस कहा, सुपना का सा कांम ॥१५॥

बार बार तो सूँ कहूँ, तूँ करै न अपणा काज ॥
गोविंद भज जीवण इसा, जिसा वील का राज ॥१६॥

काल कहर चितवत रहै, तकि तकि रोपै डांण ॥
डांण पड्यां कहि कहा करै, अज्या सिंघ सूँ मांण ॥१७॥

गोरू ग्वाल ही छाड़ि करि, षेत विडाणा षाइ ॥
मार सहै संकटि पड़ै, संकटि पड़ि पछिताइ ॥१८॥

आप सराहै आप कूँ, चाहे मांनि सुहाय ॥
साहिब साध न आदरै, यौ ही बड़ा अभाग ॥१९॥

साध तहां निरवैरता, जहां वैर तहां प्रेत ॥
परमेसुर पति छांड़ि करि, नरक जांण सूँ हेत ॥२०॥

मन मरकट मति छाड़ै नहीं, कूरम मति सूँ दूर ॥
उलू आंषि अछौप है, तौ दोस कहा कहि सूर ॥२१॥

चिंता की डाली भई, सुसा प्रांण ता मांहि ॥
काम क्रोध आंष्या अड्या, मरणा सूझै नांहि ॥२२॥

पांच स्वान पांचूं दिसा, आइ पहूँता वीर ॥
कुवधि काल चितवत रहै, तकि तकि मारै तीर ॥२३॥

मोह पासि करि काल कै, फांध्या सब संसार ॥
मिरघ तहां पगि मति धरै, यौ ही अरथ विचार ॥२४॥

पाठभेद—सुमिरि–१। सुमर–५। कहौं–१-५। जीवन–३। क्या–३-५। अजा–१। नरकि–२। मत–३-४। च्यंता–२। कुबुधि–१।

शब्दार्थ—सोइमां=सोवे मत। आव=आयु। वील=जुगनू। डांण=दाव, मौका, कर। गोरू=गाय-बैल। विडाणा=दूसरों का, औरों का। आदरै=सत्कार करे। मरकट मति=चंचल बुद्धि। कूरम मति=अन्तर्वृत्ति। अछौप=अदृश्यता, नहीं देखना। डाली=छबड़ी, पींजरा। अड्या=अटका, रुका। पाँच स्वान=काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय। फांध्या=फँसाया। मिरघ=मन मृग।

रांवण सूँ मन मति मिलै, न करि कंस सूँ प्रीति ॥
ब्रह्मा का वर छाड़ि दै, संकर का वर जीति ॥२५॥
तिण परि किण की वोस की, जीवण ऐसा जांणि ॥
रांम सनेही सुमरि मन, सुरति सहज घरि आंणि ॥२६॥
विष तरवर तैं फल जड़ै, सो फल विष ही होइ ॥
ताकूँ साध न आदरै, कोटि करै जै कोइ ॥२७॥
भरम छाड़ि भरमै कहा, करम कठिन छिन वात ॥
राम कहत झड़ि जांहिगा, ज्यूँ तरवर का पात ॥२८॥
निसप्रेही निरभै मतै, सूंनि सुधा रस षाइ ॥
उलटा षेलि आकास मैं, सुष मैं रहै समाइ ॥२९॥
लोकारंजन होत है, मनिष जनम का भंग ॥
हिरस धका दे जात है, इहै स काचा रंग ॥३०॥
जहाँ आपौ तहाँ ऊरमी, हरस तहाँ विभचार ॥
ए दोन्यों मोटी व्यथा, संतौ करौ विचार ॥३१॥
राम रसाइण अजब है, दूजा रस करि दूरि ॥
या वेदन कूँ हरि जड़ी, है हाजरां हजूरि ॥३२॥
नैडा है न्यारा नहीं, न्यारा नैडा नांहि ॥
परमेसुर सब तैं अगम, व्यापि रह्या सब मांहि ॥३३॥

पाठभेद—अघ–२। मृघ–२। मृग–५। जाइगा–५। न्यस–२। हुरसि–१। हरस–२। अहैस–३। ये–२। व्याप–१।

शब्दार्थ—किणकी=फुंहार, लघुबिन्दु। निसप्रेही, निःस्पृह बेलाग। सूंनि-सुधारस षाइ=निराधार वृत्ति से आत्मनिष्ठ हो परमानन्द रूपी अमृत का पान करे। उलटा षेलि आकास मैं=अन्तर्मुखवृत्ति हृदयाकाश में स्थिर कर। लोकारंजन=जाति-कुल व्यवहार में। हिरस=चाह, आसक्तिमय प्रेम। ऊरमी–षट्ऊर्मि=हर्ष, शोक, लोभ, मोह, मद, इर्ष्या। मोटी=बड़ी, महान्। दूजा रस=भोग-वासनामय रस। हाजरां हजूरि=सब काल मौजूद।

साखी २५–वीं रांवण सूं मन मत मिलै=कामरूपी रावण क्रोधरूपी कंस से सम्बन्ध मत जोड़। ब्रह्मा का वर=सांसारिक पदार्थों की ममता छोड़। शंकर का वर=रजोगुण की भावनाओं को जीत।

मन मैला हरि निरमला, मन चंचल हरि थीर ॥
मन थिर होइ न हरि मिलै, सांभलि आतम वीर ॥३४॥

अवगति भजि आलस कहा, इहै वाधक फंद जांणि ॥
रांम विसारयां होत है, मनिष जनम की हांणि ॥३५॥

ज्यूँ मकड़ी माषी गहै, कंठ पकड़ि ले जाइ ॥
यूँ निगसावा जीव कूँ, काल विधूंसै आइ ॥३६॥

माया दीपक देषिये, रांम न सूंझै पीव ॥
आप अंधारे आपकै, पड़ि पड़ि दाझै जीव ॥३७॥

धरम नेम तीरथ वरत, तुला तुलत है जाइ ॥
छाज बजावे डोकरी, ऊँट षेत कूँ षाइ ॥३८॥

राजा की चौरी करै, दुरै रंक की वोट ॥
रंक वोट कहि क्यूँ टलै, कहर काल की चोट ॥३९॥

षांट गाइ करि वारणै, सुषी न देष्या कोइ ॥
लात मारि चलि जात है, भाजन का भंग होइ ॥४०॥

जल माया जिव माछली, षुसी वसै ता मांहि ॥
काल कीर वाँसै वहै, निहचै छाड़ै नांहि ॥४१॥

लोक लाज सिर देत हैं, देत न लावै वार ॥
सिर साहिब कूँ सौंपतां, तूँ क्यूँ करै विचार ॥४२॥

सती जलै सूरा मरै, कठिन वात पल कांम ॥
निसप्रेही निज साधकै, राति द्योस संग्राम ॥४३॥

पाठभेद—नृमला–२। आत्म–४-५। यहै–३ एह–५। वधिक–१। विधौंसे–१-५। दीपग–२-५। व्रत १। क्यों–३-४। लोग–१। दिवस–१।

शब्दार्थ—मैला=वासना से कलुषित। थीर=स्थिर, निश्चल। निगसावा=स्वामिहीन, गुरुहीन, विना सहायक, निस्सहाय। विघूंसै=नाश करे। माया दीपक=भौतिक दृष्टि से। ऊँट=अहंकाररूपी ऊँट। दुरै=छिपै, ओट ले। भाजन=वर्त्तन। वांसै वहै=साथ चलता है। राति द्योस=रातदिन।

अजव बात पैंडा अगम , जीव जागि सकै तो जागि ॥
मन सज्जन तोसूँ कहूं , यहु वीरा रस वैरागि ॥४४॥
कजली वन रेवा नदी , गै रापै मन मांहि ॥
ऐसे हरि सूँ मन मिलै , तौ फिरि विछुड़ै नांहि ॥४५॥
पैंडे मरै तौ परमसुष , पहुँता हरि समि होइ ॥
जन हरीदास हरि भजन की , घाटी लहै न कोइ ॥४६॥
जन हरीदास कहि क्यूँ दुरै , रांम भजन रस रीति ॥
भृकुटी मांही देषिये , जाकै जैसी प्रीति ॥४७॥

॥ इति वीरारस वैरागजोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

॥ अथ भरमविधूंस जोगग्रन्थ ॥

आलम षलक ऊपरै षालिक , करता करण वरण विसतार ।
वसुधा तुया अगनि तत वाई , रवि ससि सोभा भार अठार ॥१॥
चौदा भवण गवण गुण ग्रामी , तारामंडल रचण त्रिय लोक ।
सागर सपत अष्ट गिर परवत , नदी निवासै वहै अलोप ॥२॥
स्यो सभि सक्ति विष्ण ब्रह्मादिक, नव घण दांमणि इंद्र कुमेर ।
षांणी च्यारि च्यारि विधि वांणी, घटि घटि अहुँ मंडाणा मेर ॥३॥

पाठभेद—गह-१ । स्यूँ-१ । सौ-५ । विछुरै-१ । भ्रकुटी-१ । विस्तार-१ । त्रय-१ । सप्त-३ । असट-२ । सकति-२ । विसन-२ । नौ-१-३ । चारि चारि-१ । चहु-१ ।

शब्दार्थ—अजव बात=आत्मचिन्तन में लगना अजब अनोखी बात है । पैंडा अगम=मार्ग निराधार है । गै=गयन्द, हाथी । विछुडै=अलग हो । घाटी=कठिन रास्ता । क्यूँ दुरै=क्यों छिपै । भृकुटी=आंखों में । आलम=सर्वज्ञ । षलक=संसार । तुया=पानी । भार अठार=अशेष वनस्पति । चौदा भवण=चौदह लोक । त्रिय लोक=पाताल, भू, स्वर्ग । स्यौ सभि सक्ति=शक्ति सहित शिव । कुमेर=कुवेर । षांणी च्यारि=चतुर्विध सृष्टि-अंडज, स्वेदज, उद्भिज, जरायुज । च्यारि विधि वांणी=परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी । अहुँ=अहङ्कार । मंडाणा=बना हुआ । मेर=मेरु पर्वत ।

सुर नर असुर षसै आप मैं , माया दडी स ममता जेरि ।
षेलि षिरया कै अजहूं षेलसि , माया घटै न ममता फेरि ।।४।।
ब्रह्मा कै वरसि अनंत जुग वीचै, सोई ब्रह्मा ड़रै विघन वप काल ।।
वोछी आव अणुरा षोटा , ए झूठे सुष झूठा भोपाल ।।५।।
वांणी तजि कठिन कुव धिकारि कानैं, सुमरि सुमरि अंतरि निज सार ।।
निज पुरिष निरषि निरषि निज नैडो, जन हरीदास हरि परम उदार ।६।
हैवर गैवर गांव गढ़ , महल मगन रस राज ।।
छत्र सिंघासण सेझ सुषि , वाजा गहरी गाज ।।७।।
नरपति भोपति दरि षड़ा , सिजदा तन तोलंत ।।
जा दिसि देषें सौ नवैं , हुँकारै वोलंति ।।८।।
तषत षड़ा कौड़ी षुसी , राता काचै रंगि ।।
अरक अगनि मैं ऊजला , वो हरि हीरा नहि संगि ।।९।।
माल मुलक पुंगडा पुहौंम , षग पतिवरता नारि ।।
कर जोड्या आगै षड़ी , अरस परस दीदार ।।१०।।

पाठभेद—अणौरा-५ । ये-२ । भूपाल-२ । दिस-४ । पुहम-१ । पतिभरता-१ ।

शब्दार्थ—कांने=एक ओर । निज नैडो=अपने अति समीप । हैवर=घोड़े । गैवर= श्रेष्ठ हाथी । दरि षडा=आगे खड़े । सिजदा=नमस्कार, सलामी । पुंगड़ा=बाल-बच्चे । पुहौंम=भूमि, राज ।

४थी साखी—ममतारूपी छोटी मायारूपी दड़ी को लेकर मनुष्य, देवता, राक्षस षसै-लड़ते हैं, खेलते हैं । बहुत से खेलकर धाप गये, बहुत से और खेलेंगे । पर यह ममता तथा माया का फेर कभी न घटता है, न कम होता है ।

५वीं साखी–ब्रह्मा के एक वर्ष में अनेकों युग बीत जाते हैं । वही ब्रह्मा काल-रूपी विघ्न से डरता है । तब अति अल्प आयु वाले हे मनुष्य ! तू व्यर्थ ही इन झूठे सुख देने वाले मायिक पदार्थों में क्यों उलझता है ?

९वीं साखी—सिंहासनों पर बैठने वाले बादशाह कौडी–राज्यसंपत्ति आदि सामग्री में ही खुशी हैं, प्रसन्न हैं । पर उनका यह सब साज-बाज विनाशी है, कच्चा रंग है । जो सूर्य तथा अग्नि को प्रकाश व ताप देमे वाला चेतन तत्वरूपी हीरा है, वह हीरा उसने प्राप्त करने का प्रयास नहीं किया । अतः उसका जागतिक प्रयास व्यर्थ है ।

राग कलावंत हुड़कणी, काजी मिसर वमेक ॥
अगम उरक अंतरि नहीं, वैली कथा अनेक ॥११॥
वहौ विधि वागा वहु सषी, वहौ सौंधा वहु पान ॥
वहौ विधि भोजन वहु रतन, हीरां जड़त पलांण ॥१२॥
हेम जड़त हथ सांकलां, गलि मोतिन की माल ॥
या जल मैं वूड़ा घणां, ऊँडो अनंत अताल ॥१३॥
हरि तजि परकीरति रता, साच न मांनै कोइ ॥
के दाधा के दाभसी, या दीवा की लोइ ॥१४॥
पांच कडी षडकै सदा, त्रिवधि ताप का जाल ॥
के मारया के मारिसी, कांठै उभौ काल ॥१५॥
लंकापति रांवण कहां, कुंभकरण कहाँ वंस ॥
हिरणाकुस हिरणाषि कहां, महिसासुर कहां कंस ॥१६॥
जुरासिंध सिसपाल कहां, दुसासण कहां भींव ॥
कैरुंदल पांडु कहां, षगां जू पडती सींव ॥१७॥
छ चकवै मुचकन्द कहां, कहां विक्रम कहां भोज ॥
सांवत पृथी चौहाण कहां, कहां अकबर नौरोज ॥१८॥
एती मन तोसूँ कहूं, सुणि सति सोभा कानि ॥
मैं तैं तजि तूँ राम भजि, कह्यौ हमारो मानि ॥१९॥

पाठभेद—मिश्र–१। वहु–१। जडित–१। प्रकीरति–१। त्रिविधि–१। महिषासुर–१ जुरास्यंध–२। स्यसपाल–२। सिसुपाल–१। कैरों–१। पंडो–१। प्रथी–२। प्रिथी–४। येती–२। तज्य–२। भज्य–२।

शब्दार्थ–वागा=कीमती पोशाक। सौंधा=इत्र। ऊँडा=गहरा। परकीरति रता=त्रिगुणात्मक प्रकृति के पदार्थों में लगा हुआ। दाधा=जला। दाभसी=जलेंगे। पांच-कड़ी=शब्दादि पांच विषयों की कड़ी। त्रिवधि ताप=आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक। कांठै=पास, समीप। षगां जू=फौज में, सेना में। सींव=सीमा, फटाव। सति शोभा=सत्य की शोभा।

११वीं साखी–कलावतों के गाने, पंडित-काजियों के उपदेशादि अनेक प्रवृत्तियां निःस्सार हैं, जो अगम्य आत्मतत्व है उसको देखने के लिए जब तक ज्ञानभानु का उर में उदय न हो, तब तक अन्य उपर्युक्त सब प्रयास व्यर्थ हैं।

घूंणै बैठा क्या करै, करि कछु वेगि उपाइ ॥
अलष पुरिस कै आसरै, चौडे मंडे न आइ ॥२०॥

दुषदारण दुरमतिहरण, मैं तैं हरण गुमान ॥
त्रिवधि ताप तृष्णा हरण, भजि भूधर भगवान ॥२१॥

गरव गुमान आपां हरण, तारण तिरण मुरारि ॥
वोछामन पूराकरण, हरि भजि भेद विचारि ॥२२॥

कांम क्रोध पांचो पिसुण, दुष सुष नदी विकार ॥
ए दीरघ वोछा करण, भजि भौ भंजनहार ॥२३॥

साच कहूं तौ मैं डरूँ, कहिस्यूँ रह्यो न जाइ ॥
राम संतोष्या सकल सुष, भावै दुनिया रहौ रिसाइ ॥२४॥

रामरसिक हरिरस षुसी, आन रसिक रीसांहि ॥
हरीदास जन यूँ कहै, मैं हरि छाड़ो नांहि ॥२५॥

राम न छाड़ौं मैं डरूँ, ऊँडै घसै वलाइ ॥
पतिवरता पति कूँ तजै, तब ही षोटा षाइ ॥२६॥

प्यास्या जब ही जल पिवै, तव ही आनंद होइ ॥
विष की किरची मेल्हि करि, पीयां न जीवै कोइ ॥२७॥

आल वाल करता फिरै, साध हौंण की सोम ॥
पैलै मनि देषै पतित, मन अपणां की षोम ॥२८॥

जन हरीदास दुनियां तरक, राम भजन की टेक ॥
लागि रह्या ते ऊवरया, दाधा और अनेक ॥२९॥

पाठभेद—पिसुण–१ । ये–२ । दीर्घ–१ । कहिस्यूं–१ । यों–१ । छाडूं–३–४ । डरौं–१–५ । पतिव्रता–१ । प्यासा–१ । हूंण–५

शब्दार्थ—वोछामन=ओछा मन, संसारी वासना में लगा मन । वोछा=छोटा, क्षुद्र । कहिसूं=कहूंगा । रीसांहि=नाराज होंगे । आल-वाल=टालमटोल, इधर-उधर । होंण की=होने की । षोभ=क्षोभ, खीज ।

जन हरीदास दुनियां तरक , विकट रूप विष झाल ॥
साँच कहूँ तौ लड़ि पड़ै , मिलि षेलूँ तौ काल ॥३०॥

॥ इति भरमविधूंस जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

॥ अथ चिंतावणी उपदेस जोगग्रन्थ ॥

आन ध्यांन गुर ग्यांन विणि , चलत देह कै भाइ ॥
अपणां षोटा ही षरा , करि षोटौ षोटा षाइ ॥१॥
मन मछली करि कीर कै , गिण्यां भरत है सास ॥
लोभ जाल लागा रहै , विपति नदी मैं वास ॥२॥
अपरि अथिर षर करत है , चिर सुष पल न सुहात ॥
इतवत चितव्रत विवधि रस , अलप सुष छिन मात ॥३॥
वालक कालै ना डरै , देत सरप मुषि हाथ ॥
कै चाल्या कै चलेगा , भरि अनरथ उरि वाथ ॥४॥
छाया छवि काया उदै , देह दिवासा होइ जात ॥
बड़ा हुवा दीया बुझ्या , विपति वड़ाई वात ॥५॥

पाठभेद—षेलौं-१ । इतउत-३ । षिर-५ । छिव-१ ।

शब्दार्थ—आन=मर्यादा, कांण । विणि=बिना । षोटो=बुरा, देहाध्यासी । करि कीर कै=धीवर के हाथ में । अपरि अथिर षिर करत है=मनुष्य संसार में आ और और नष्ट होने वाले कामों में ही लगा रहता है ।

४थी साखी —बालक-अज्ञानी मनुष्य काल से डरता नहीं, विषय-वासनामय सर्प के मुख में हाथ देता है । अनर्थ को अपनाने से या तो नष्ट हो गया या हो जायगा ।

५वीं साखी—बच्चे में छाया छवि-माता पिता का प्रतिबिंब होता है, उसीसे उसके शरीर का विकास होता है । तरुणावस्था में उसी से लावण्य प्रतीत होता है । पर बड़ा हुआ बुढ़ापा आया तो वह लावण्य समाप्त हो जाता है काल पाकर देह का नाश हो जाता है, ऐसे शरीर का गर्व करना विपत्ति बढ़ाना है ।

झटकि पटकि आसा अटकि , भटकि धरत उरि काच ।।
त्रिवधि ताप मैं सोइ रह्या , समझि न देखे साच ।।६।।

चंचल चपल जम चोट सिरि, दुरया देह की वोट ।।
आठ पहर अचवत जहर , कहि कौंण जनम का षोट ।।७।।

षट मद छक उदमाद छक , छक माया छक आंन ।।
पाव धरत छाया तकत , पसरि करत पष पांन ।।८।।

डिंभ सिंभ इन्द्री अटकि , चलौ लहौ येक लोभ ।।
लहौ गहौ गलि मिलि रहौ , है हरि सब संतन की सोभ ।।९।।

तमकि धमकि त्तगति पतित, काल ठगत ठग तोहि ।।
मोह मंढी में सोइ रह्या , इहै अचंभा मोहि ।।१०।।

पाठभेद—कूंण–१ । स्यंभ–२ । इक–३ । गहि–३ ।

६ठी साखी–झटपट सचेष्ट हो भोगों की आशा को रोक। इन भोगों में भटक हीरे के भरोसे काच क्यों ग्रहण करता है ? क्यों त्रिविध तापों से संतप्त हो रहा है ? समझि–सचेत हो जो सत्य आत्मचिंतन है उसमें लग ।

७वीं साखी—अरे नटखट दुराग्रही चपल मन ! देहाध्यास की ओट-आड ले क्या ? यम-काल की चोट सिर आती है उससे बच सकेगा। निरन्तर विषय-वासनारूपी जहर को पी रहा है । अरे ! यह किस जन्म का पाप है ?

८वीं साखी—रे मन ! षट मद छक–छै मदों (जाति, रूप, विद्या, राज, धन, पद) में मस्त है–उन्मत्त हो रहा है, माया के फेर में पागल है, गर्व में अन्धा हो रहा है, पैर धरती पर नहीं टिकते हैं, छाया देख–अपना प्रतिबिम्ब देख देख अकड़ता है संसारी उलझनों में फँस भेदमय विष को पी रहा है। चेत इस सबका परिणाम क्या होगा ? विचार और इनसे अपने को मुक्त कर ।

९वीं साखी—डिंभ सिंभ पाखंड तथा ठगी की आड़ में इन्द्रियलोलुपता की पूर्ति करते रहना मनुष्यजन्म का लक्ष्य नहीं है। मानवजीवन की सफलता आत्म-प्राप्ति में है। उसी लक्ष्य की पूर्ति के साधनों में घुलमिल जाओ, तद्रूप बन जाओ। सब महात्माओं ने इसी उद्देश्यपूर्ति को शोभनीय बताया है।

१०वीं साखी—संसारी भोगों में उछल-कूद कर उस परमतत्व की प्राप्ति के प्रयास में तू पिछड़ रहा है। कालरूपी ठग तेरे को ठग रहा है। तू मोहरूपी महल में निश्चिन्त सो रहा है। तेरी इस स्थिति को देख बड़ा अचम्भा हो रहा है।

अईयाह अकलि कहिये कहा, सू तो कौंण उपदेस ॥
मनिष जनम नग परमदत, कुपह करत क्यों पेस ॥११॥
तूंवी तजि सति गति गजत, लजत वजत लघ लोभ ॥
तिरत तकत विचि ही थक्या, अईया चढ़त है सोभ ॥१२॥
चमक चेति चकत भया, जहाँ तहाँ जल पूरि ॥
आसा वसि चिंता डस्या, सू तौ घाट कहुँ दूरि ॥१३॥
हरि करौ दया द्यो मिहरि परि, उर धरि ऊँडौं आज ॥
पीव जीव मरि जाइगा, सुणत समंद की गाज ॥१४॥
विवधि अवधि गति मति गई, है वाकी भी जात ॥
चिंता चिंत चित मैं वसै, चित मैं भी चिंता की वात ॥१५॥
ठगत ठगत ठग ठगि गया, वुग उजल वैठा आइ ॥
गत जोवन जीती जुरा, चल्या देह छवि छाइ ॥१६॥

पाठभेद—कुपहि–२। क्यूं–२। तज्य–२। अया–१। चक्रित–१। चकृत–३। च्यंता–१।

शब्दार्थ—अईयाह=यह। नग=रतन। परमदत=सर्वश्रेष्ठ धन मानवजीवन। कुपह=कुमार्ग। पेस=हाजिर। द्यो=देवो। मिहरि परि=दया के साथ।

१२वीं साखी—तूंबी-पात्र का परित्याग कर अपने को परम त्यागी दिखाता है पर समय आने पर लोभ को लेकर झगड़ता है। यह दिखावा तो तिरने का करता है पर झूठी शोभा के लालच में पार न पहुंच बीच ही में थक जाता है।

१३वीं साखी—चेति–उपर्युक्त दशा से जब चेता–सावधान हुआ तो चमक चकित हो देखने लगा। तो वासना, तृष्णामय समुद्र भरा है। आशा के वशीभूत चिन्ता से डसा हुआ है, जिस संसार सागर से पार–अगले किनारे पहुँचना है वह घाट तो बहुत दूर है।

१५वीं साखी—संसार के अनेक प्रपंचों में ही बुद्धि तथा आयु चली गई, जो कुछ शेष है वह भी जा रही है। नाना भावनाओं की चिन्ता चित्त में बसी हुई है साथ ही मन में कालचक्र की स्मृति भी पैदा होती है, पर इन सब उलझनों से मोह तथा अज्ञान के कारण छुटकारा नहीं मिलता।

१६वीं साखी—मिथ्या, छल, कपट से जो मनुष्य दूसरों को ठगने-धोखा देने में लगा रहा, वह स्वयं भी वासना, तृष्णा, लोभ मोह द्वारा ठगा गया। इसी उधेड़-बुन में बगुले की तरह देह का लावण्य, सौन्दर्य खो मनुष्य जन्म को व्यर्थ खोकर कालकवलित हो गया।

तन जीरण धूजत डरत , मरत मुदित अभिमांन ।।
लोकलाज सुधि बुधि गई , पसरि करत पष पांन ।।१७।।
धमकि न धर पांव धरि सकै, नैंण झरत धुनि सीस ।।
कर कंपै श्रवणां असुण , अजहुं भजत नहिं ईस ।।१८।।
वारौडी बैठो रहै , बोलै तौ मुषि छारि ।।
कटुक वचन सब सिरि सहै , वह्या मोह की धारि ।।१९।।
सवद् कहत रसनां अटत , नटत घटत नहिं घाट ।।
लटकि लटकि लुटि लुटि उठत, तकत टटोलत षाट ।।२०।।
जीव हलचल धरतो धरया , मरत कुटंब सूँ हेत ।।
यूँ करियो यूँ मति करो , सीष अजहुँ यह देत ।।२१।।
इहै विरति सब जीव कीं , देत काच समि हेम ।।
जीव काया तरवर तजि पंषी चल्या, वहौड़ि कुटंब सूँ पेम ।।२२।।
आंन ध्यान गोविंद विमुष , दुरया काल की छांह ।।
तात मात नौतन कुटंब , नौतन भाई बांह ।।२३।।

पाठभेद—नैंन-३ । कुटक-३-४ । यौ-१ । अजौं-१ । गोव्यंद-२ ।

शब्दार्थ—वारोडि=बाहर, द्वार पर । अटत=अटकती, लडखड़ाती । विरति= वासना, चाह । आंन ध्यान=भौतिक पदार्थों की चिन्ता । दुरया=छिपा । नौतन=नूतन, नवीन ।

१७वीं साखी—शरीर जीर्ण हो गया, कांपने लगा, मृत्यु भय से भीत है पर फिर भी अभिमान में मर रहा है । समझ-बूझ, लोक-लाज समाप्त हो गई, फिर भी वासना के चक्र में पड़ विषयपान के फेर में है ।

१८वीं साखी—धमाके के साथ अब पांव धरती पर नहीं पड़ते बुढापे के कारण आंखों में पानी आता है, सिर कांपने लग गया है, हाथ भी धूज रहे हैं, कानों से सुनना कम हो गया है, तो भी परमेश्वर को याद नहीं करता ।

२०वीं साखी—शब्द बोलते जीभ अटकती है, बुढापा आ गया है पर विषय-वासना की भावना न घटी है, न उससे दूर होने की सोचता है, सहारा ले ले कठि-नाई से उठ पाता है नेत्रों का जोर लगा खाट को टटोलता है-यह अवस्था होते हुए भी संसारबन्धन से मुक्त होने का विचार उत्पन्न नहीं होता । कैसी खेद की बात है ?

२३वीं साखी—संसारी-भोगों में ही लगा रहा, परमेश्वर से विमुख हुआ काल की छाया में छिपा, पर अन्त में जीवन समाप्त कर नये माता, पिता, भाई, बहन, कुटुम्ब प्राप्ति की भावना लिये चला गया ।

जांखि बूझि बौरा भया, देत सिला तलि हाथ ॥
जन हरीदास निरभै मतै, भजौ निरंजन नाथ ॥२४॥

॥ इति चिंतावणी उपदेस जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

॥ अथ मनचरित जोगग्रन्थ ॥

गुरु कीजै कछु ग्यान कूँ, सतगुर ग्यान बताइ ॥
किसि विधि निरभै आतमां, निज तत परसै जाइ ॥१॥
सतगुर चरणां सिर धरूँ, मैं सति पूछौं तोहि ॥
परमसनेही कहां वसै, कहि समझावौ मोहि ॥२॥
को मुरीद माला कहां, लीजै कवण बुलाइ ॥
कहां रहिये कहां गाइये, सतगुर भेद बताइ ॥३॥
अवधू मन मुरीद माला मतौ, सुरति सहज घर लाइ ॥
आतम कै असथानि रहौ, अणबोल्या कछु गाइ ॥४॥
स्वामीजी मनहि चरित मनसा लहरि, केता लिया तुड़ाइ ॥
मन ऊँडै ले अणसरै, सतगुर भेद बताइ ॥५॥
अवधू मन कूँ पालिवा अगम कूँ चालिवा, अगम कै आसरै प्राण लावे ॥
रूप विणि राचिवा मद विणि माचिवा, तौ काल की चोट मैं
कौण आवे ॥६॥

पाठभेद—किहि-१। त्रिभै-१ प्रसै-१। धरौं-२-५। पूछूं-२-३। कौंण-५। औधू-१। च्यरित-२।

शब्दार्थ—बौरा=पागल। मुरीद=शिष्य, चेला, जिज्ञासु। मतौ=मत, विचार। अणबोल्या=अजपा जाप। तुड़ाइ=अलग हो, सम्बन्ध छोड़। अणसरै=बिना अटके।

२४वीं साखी—समझबूझ कर भी पागल हो काल की शिला के नीचे हाथ दे रहा है। हरिदासजी महाराज कह रहे हैं—अरे! निर्भय हो काल पर विजयी होने को उस निरंजननाथ को क्यों नहीं भजते?

मन है स फूटे मांडे का नीर है   स्वांनरूपी रूप करता है फटक मणि
फूस की आगि है ,   ज्यूँ फूट जावे ॥
मन कै मतै न षेलिवा रे अवधू , मन के मतैं षेलै सो षोटा षावे ॥७॥

स्वामीजी सति का सवद विचारिवा   फूस की आगि तें कौंण मन बोलिये
फूटे भांडै कै नीर तें कौंण मन बोलिये,   कौंण मन फटकमणि ज्यूँ फूट जावे ॥
स्वानरूपी कौंण मन बोलिये , कोण मनवा अभेदी ना भेद पावे ॥८॥

अवधू फूटै भांडे का नीर बोलिये, जे पाँचों चूरा चरै ॥
फूस की आगि बोलिये , जे दसों दिसा परजरै ॥
स्वांनरूपी रूप करतां परम झांई पड़ै, फटकमणि ज्यूँ मन फूटि जावे ॥
उलटेगा मन मन को वेधेगा , तब यौ ही मन हीरा कहावे ॥९॥

स्वामीजी मन कै कौंण राह कौंण चाल, कौंण मूल कौंण डाल ॥
परमभेद तैं कौंण मन लहै , सतगुर होइस वूझ्यां कहै ॥१०॥

अवधू मन के मनसा राह अनंत चाल, धीरज मूल मोह डाल ॥
उलटा षेलि मन मन कूँ गहै , तौ मन कै अग्र परम निधि लहै ।११।

स्वामीजी मन कै कौंण रूप कौंण चाल, कौंण रंग कौंण काल ॥
कौंण असथांनि मन उनमनि रहै, कौंण असथांनि मन अगहा गहै ।१२।

अवधू मन कै बहौतरि रूप दोइ चाल, तीनि रंग सहज्य काल ॥
गगन असथांनि मन उनमनि रहै, नाभि असथांनि मन अगहा गहै ।१३।

स्वामीजी कौंणस मैंगल कौंणस भोई, कौंण महावत कौंणस छोई ॥
वेड़ी कौंण परसि मन जीवे , प्यासा कौंण कहां मन पीवे ॥१४॥

पाठभेद—पूछया–१ । अगरि–१ । अग्र–३ । बहतरि–१-३ । सहज–३-४ । प्रसि–१ ।

शब्दार्थ—वूझयां=पूछने पर । अग्र=आगे, परे । वहौतरि=अनेक तरह के, विविध । दोइ चाल=संकल्प-विकल्प, प्रवृत्ति-निवृत्ति । तीन रंग=सात्विक, राजस, तामस । असथांनि=जगह, स्थान । उनमनि=सहजावस्था । अगहा=मन, बुद्धि, इन्द्रियों से पकड़ा न जाय ।

अवधू मनस मैंगल धीरज भोई, ग्यांन महावत ध्यानस छोई ॥
वेडी प्रेम परसि मन जीवे, प्यासा प्रेम सूंनि रस पीवे ॥१५॥

स्वामीजी कौंण कूँ राषिवा कौंण कूँ ग्रासिवा, कौंण करिवा नव षंडं ॥
कौंण सवद् ले निरंतरि षेलिवा, कौंण षड़ग लै मेलिवा रवि चंदं ॥१६॥

अवधू मन कूँ राषिवा मनसा कूँ ग्रासिवा, त्रिवधि करिवा नव षंडं ॥
सतगुर सवद् ले निरंतरि षेलिवा, ग्यान षड़ग ले मेलिवा रवि चंदं ॥१७॥

स्वामीजी कौंण को मारिवा कौंण घरि आंणिवा, कौंण विधि राषिवा वारी ॥
कौंण के पहरै जागिवा, कौंण असथांनि मिल षेलिवा सारी ॥१८॥

अवधू मन कूँ मारिवा सहज घरि आंणिवा, काया वन राषिवा वारी ॥
सील संतोष ले पहरै जागिवा, गगन असथांनि मिलि षेलिवा सारी ॥१९॥

स्वामीजी कौंण कूँ पकड़िवा कौंण कूँ चरिवा, कौंण का मेटिवा पसारा ॥
कौंण सवद् लै निरभै षेलिवा, कौंण सवद् गहि वांधिवा पारा ॥२०॥

अवधू मन कूँ पकड़िवा संसै को चरिवा, मोह का मेटिवा पसारा ॥
निरषर सवद् लै निरभै षेलिवा, मन पवन गहि वांधिवा पारा ॥२१॥

स्वामीजी कौंण गयास गया कौंण जाता राषणां, उलटी सुरति कौंण रस चाषणां
कौंण रस पीवेगा स जीवेगा, कौंण रस लेणां ॥
कौंण रस विष करि छांड़णां, सो इम्रत करि न पीवणां ॥२२॥

अवधू मन गया सो गया जाता राषणां, उलटी सुरति अगम रस चाषणां ।
पीवेगा स जीवेगा, तत रूप लेणां ॥
पांचूँ इन्द्री रस विष करि छाड़णां, सो इम्रत करि न पीवणां ॥२३॥

पाठभेद—पेम–१। म्यल–२। गिगन–१। अस्थांन–१। पांचों–१। यन्द्री–१। इमरति–१।

शब्दार्थ— मैंगल=मस्त हाथी। भोई=सेवक, पालक। छोई=हौदा, झूला, बिछावना। त्रिविध=तीन गुण, तीन ताप। नव षंडं=टुकड़े-टुकड़े कर देना। रवि चंदं=प्राण–मन। चरिवा=खा जाना, खत्म कर देना। पसारा=फैलाव, विस्तार। पारा=शुक्र, वीर्य।

स्वामीजी विष रूप तैं कौंण बोलिये , अगनि रूप तैं कौंण छाया ॥
सुष रूप तैं कौंण बोलिये परम भेद तैं कौंण बोलिये, तहां काया न माया २४
अवधू विष रूप तैं ग्यांन दगधी , अगनि रूप तैं काम छाया ॥
सुष रूप तैं परम संगी , परम भेद तैं निरंजन राया ॥२५॥
स्वामीजी कौंण तत पलटिवा कौंण घर आंणिवा, कौंण पुरस लेवा पाली ॥
कौंण असथानि मन उनमनि रहिवा, कौंण असथानि लाइवा ताली ॥२६॥
अवधू पांच तत पलटिवा सहज घर आंणिवा, प्रांण पुरस लेवा पाली ॥
अरध असथांनि उनमनि रहिवा , परम असथांन लाइवा ताली ॥२७॥
अवधू भरम का भांडा भांजिवा
त्रिवधि ताप मेटिवा , इला पिंगुला राषिवा नारी ॥
लोभ लू टालिवा वंकनाल चालिवा , तहां देषिवा झिलमिल जोति
उजाली ॥२८॥
स्वामीजी भरम का भांडा तैं कौंण
बोलिये , त्रिवधि ताप तैं कौंन बोलिये ॥
कौंण बोलिये , इला पिंगुला नारी ॥
लोभ लू तैं कौंण बोलिये वंकनालि तैं कौंण बोलिये , तहां देषिवा झिलमिल जोति
उजाली ॥२९॥
अवधू भरम का भांडा ते भेंचक
बोलिये , त्रिवधि ताप तीनि गुण बोलिये ॥
मन पवन बोलिये , इला पिंगुला नारी ॥
लोभ लू तें कनक कामणि बोलिये , वंकनाल सुषमनि बोलिये ॥
उलटेगी सुषमना परमसिंध भेदेगी , तहाँ देषिबा झिलमिल जोति
उजाली ॥३०॥

पाठभेद—कूंण–५ । प्रम–१-५ । अस्थान–१-३ । पुरिस–१ । भ्यांजवा–२ । टाल्यवा–२ ।

शब्दार्थ—ग्यांन दग्धी=दिखावटी या वाचक ज्ञानी । परमसंगी=चिरसाथी । पांच तत पलटिवा=पांचों ज्ञानेद्रियों को शब्दादि विषयों से हटा आत्माभिमुख करना । प्रांण पुरस लेवा पाली=प्राण पुरुष श्वास-प्रश्वास का प्राणायाम द्वारा निरोध करना । अरध अस्थांनि=नाभिप्रदेश । परम अस्थांन=गगनमंडल, दशम द्वार ।

अवधू दुष सुष मेटिवा संतोष धरि
रहिवा, सहज समाइवा ते जोगं ॥
हंस सूँ परमहंस मिलाइवा तहां लागि काटिवा काल रोगं ॥३१॥
स्वामीजी दुष सुष का घर कौंण
वोलिये, संतोष का घर कौंण वोलिये ॥
सहज समाइवा ते कौंण जोगं, परमहंस ते कौंण वोलिये तहाँ
लागि काटिवा काल रोगं ॥३२॥
अवधू दुष सुष का घर अहमेव
वोलिये, संतोष का घर समता वोलिये ॥
सहज समाइवा ते परमजोगं ॥
परमहंस पारब्रह्म वोलिये तहाँ लागि काटिवा काल रोगं ॥३३॥
स्वामीजी पांच इन्द्री पचीस प्रकृति, कौंण अस्थानि राषिवा ॥
, कौंण अस्थानि राषिवा वाई ॥
कौंण अस्थानि मन कूँ राषिवा, कौंण अस्थानि रहिवा समाई ॥३४॥
अवधू पाँच इन्द्री पचीस प्रकृति, उनमनि अस्थानि राषिवा ॥
वंकनाल में वाई ॥
मूल अस्थांनि मन कूँ राषिवा, सूँनि अस्थांनि रहिवा समाई ॥३५॥
ज्यूँ कुंभ जल सूँ भरया जल मांहि
धरया, अंतरि निरंतरि नीर माया ॥
यूँ भरमि भूला पसू भेद पावे नहीं, सकलव्यापी कहै राम राया ॥३६॥
स्वामीजी कौंण फुनि फुनि षिरै
कौंण भ्रमता फिरै, कौंण के आसिरे सच कौंण पावे ॥
सति का सवद वोलो हो स्वामीजी, काल की चोट में कौंण आवे ॥३७॥

पाठभेद—धर-१। सहजि-४। स्यूं-१। मिलायव-२। प्रकृति-२। असथानि-२। यौं-१। भरमता-२। सत्य-२।

शब्दार्थ—अहमेव=अहंकार ही। समता=समभाव। सहज=स्वाभाविक, माया अविद्य रहित चेतन। वाई=प्राण। वंकवाल=सुषुम्ना। षिरै=नष्ट हो, खंड खंड हो।

अवधू काया फुनि फुनि षिरै हंस
भ्रमता फिरै, हंस परमहंस नहिं पाया ॥
हंस परमहंस पावेगा तब नहीं
भ्रमेगा, जब साच पाया ॥३८॥

स्वामीजी भोजल ते ऊँडो अथाह, अजर सवद विकारं ॥
माया मोहनी पांच प्रबल बहै, कहां लागि उतरवौ पारं ॥३९॥

अवधू मैं तै मेटिवा संतोष धरि रहिवा, अजर सवद करिवा आहारं ॥
परम जोति कै परचै षेलिबा, उनमनि लागि उतरिवा पारं ॥४०॥

स्वामीजी कोंण तुमारी जाति बोलिये
कोंण तुम्हारा कुल बोलिये, कोंण ग्यान ले भया उदासं ॥
कोंण देस कोंण दिसा, कहां तुम्हारा प्राण पुरिस का वासं ॥४१॥

अवधू अनिल पुरिस हमारी जाति करतूति हमारै कुल बोलिये।
बोलिये, ब्रह्मग्यान ले भया उदासं ॥
दया देस एक दिसा बोलिये, परम सूनि तहां हमारा प्राण
पुरिस का वासं ॥४२॥

स्वामीजी कोंण तरवर कोंण छाया, तुम्ह कहां के पंषी कहां आया ॥
कोंण उडाणा कहाँ समाया ॥

अवधू अकल तरवर सकल छाया, अम्हे परमसूनि के पंषी अरध सूनि आया।
उलटि उडाणा परम सूंनि समाया ॥४३॥

पाठभेद—प्रमहंस-१-४। आया-१। उतरिवा-१-५। अैहारं-४-५। प्रम-१। प्रचै-१। सून्य-२। हमे-१-५।

शब्दार्थ—हंस=जीवात्मा। ऊँडा=गहरा। अथाह=जिसकी गहराई का पता नहीं। अजर सवद=कटुवचन। अनिल पुरिस=प्राणपुरुष। करतूति=करणी, साधना। परमसूनि=परब्रह्म। अकल=कलनरहित, शुद्ध। सकल छाया=सर्व व्यापक। अम्हे=हम। उलटि उडाणा=अन्तर्मुख हो।

स्वामीजी कोंण अषंडित कोंण अरूप, कोंणस सीतल कोंणस धूप ।
कोंणस कलपै कोंणस वहै, कोंणस विनसै कोंणस रहै ॥
कोंण अस्थानि मन उलटा जाई, कोंण अस्थानि मन रहै समाई ॥४४॥

अवधू ब्रह्म अषंडित मनस अरूप, मनस सीतल पवनस धूप ।
चित्तस कलपै मनसा वहै, दिष्टि विनसै अदिष्टि रहै ॥
गगन अस्थांनि मन उलटा जाइ, सहज सूंनि में रहे समाइ ॥४५॥

स्वामीजी कोंण अंधारा कोंण उजास, कोंण अस्थांनि निज किरणि प्रकास ।
कोंण अस्थांनि मन रहै समाइ, कोंण अस्थांनि मन भूषा जाइ ॥४६॥

अवधू त्रिवधि अंधारा ग्यांन उजास, नाभि कंवल निज किरणि प्रकास ॥
ता अस्थांनि मन रहै समाइ, इंद्र्या अस्थांनि मन भूषा जाइ ।४७।

स्वामीजी कोंणस तरवर कोंणस छाया, पंषी प्राण कहां विलमाया ॥
पंषी तिको कोंण फल खाय, सति सति स्वामीजी कहो समझाय ॥४८॥

अवधू अकल तरवर सकल छाया, पंषी प्राण तहां विलमाया ॥
उलटा षेलि अगम फल लहै, सतगुरु सवदां निरभै रहै ॥४९॥

स्वामीजी तुम्हे अगम भेद कि वार पारं, अगम अरथ कि ध्यान धारं ॥
दया दरगह कि मिहरि दसतं, विग्यान पैठे कि ग्यान गुष्टं ॥
जुरा जीती कि दसवैं द्वारं, ×उरघ फूट्या कि झड्या तालं ॥५०॥
अवधू हमे अनंत भेदं अजब स्वादं, परम दिष्टि अगम नादं ॥
दया दरगह मिहरि दसतं, विग्यान पैठे ग्यान गुष्टं ॥
जुरा जीती दसवैं द्वारं, ×उरघ फूट्या झड्या तालं ॥५१॥

पाठभेद—द्रष्टि–५ । अद्रष्टि–५ । गिगनि–१ । जाय–१ । समाय–१ । औघू–१ । तुमे–१-५ । के–५ । गुसटं–२ । फूटा–३-४-५ । अम्हे–३ । अमे–५ । दिसटी–२ । दस्तं–३-४ ।

शब्दार्थ—कलपै=तरसे, कल्पना करे । दिष्टि विनसै=दिखने वाले सब पदार्थ नष्ट होते हैं । अदिष्टि रहै=मन, इन्द्रिय से गृहीत न होने वाला अगोचर तत्व ही नित्य रहता है । उजास=उजाला, प्रकाशमय । × उरघ फूट्या=मेरुदंड का ऊपरी अवरोध दूर हुआ ।

स्वामीजी तुम्हे कोंण ग्राही कहां सीधा, कोंण मोती कहां वीधा ॥
कोंण उलटि षेल्या कोंण पीया, सेस के मुषि कोंण दीया ॥
कोंण मेला कहां वैठा, पांच जोगी कहां पैठा ॥५२॥
अवधू हमें सारग्राही सवदि सीधा, मन मोती निज अरथि वीधा ।
मन उलटि षेल्या पवन पीया, *सेस के मुषि सिंघ दीया ॥
रवि ससि मेला चौकि वैठा, पांच जोगी गुफा पैठा ।
नव नाथ निहचल देषि भाई, गंग उलटी गगनि आई ॥५३॥
स्वामीजी कोंण धागा कहां लागा, कोंण निहचै भरम भागा ।
कोंण जोगी अवधूत वाला, कोंण आसण कोंण मृगछाला ॥५४॥
अवधू सुरति धागा सहज लागा, भेद पाया भरम भागा ।
प्रांण जोगी अवधूत वाला, गगनि आसण मन मृगछाला ॥५५॥
स्वामीजी कोंण टोपी कोंण कंथा, कोंण चेला कोंण पंथा ॥
कोंण झोली कोंण सिष्या, कोंण डीवी कोंण भिष्या ॥
कोंण जाप कोंण माला, कोंण जोगी कोंण पियाला ॥५६॥
अवधू तत टोपी षवरि कंथा, पांच चेला अगम पंथा ॥
उरध झोली सवद सिष्या, ग्यांन डीवी अजर भिष्या ॥
अजपा जाप मन माला, प्रांण जोगी पवन पियाला ५७॥
स्वामीजी कोंण धूई कोंण पलीता, कोंण अगनि कोंण वलीता ॥
कोंण चौपड़ि कोंण सारी, कोंण षेलै ध्यान धारी ॥५८॥

पाठभेद—स्यंघ–२। नो–१। मृघछाला–२। मृघछाल–३। भ्रम–१। झ्पष्या–२। भष्या–५। झ्पष्या–२ प्रान–४। अग्नि–१।

शब्दार्थ—ग्राही=ग्राह्य, चाहना। सीधा=सिद्ध हुआ, सफल हुआ। कंथा=गूदड़ी। सिष्या=शिक्षा, सीख। भिष्या=भिक्षा, भीख। चौपड़ि=चौपड़।

५३वीं साखी—इडा-पिंगला का मेल हुआ, मन वृत्ति हृदय में स्थित हुए, पांच जोगी पांच प्राण गुफा में पैठा नाभि में स्थिर हुए। पांचों ज्ञानेन्द्रियां चारों अन्तःकरण निश्चल हो गये, सुषम्ना उलट गगन मंडल में, दशम द्वार में आ गई।

* कुण्डलिनी रूपी सर्प के मुख में प्राण रूपी सिंह को दिया।

अवधू धुनि धूई प्रेम पलीता, ब्रह्म अगनि कांम क्रोध वलीता ॥
चित चौपड़ि पचीस सारी, प्राण षेलै ध्यान धारी ॥५६॥
दोहा—मनहि चरित निज ग्यांन है, सतगुरु दिया बताय ॥
जन हरीदास हरि अघट है, घटि घटि रह्या समाय ॥६०॥

॥ इति मनचरित जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

॥ अथ मनमदविधूंस जोगग्रन्थ ॥

सतगुर कह्या सो आरंभ करिहूँ, अलष निरंजन हिरदै धरिहूँ ॥
हरष सोग चिंता सब जाई, मृघी पकड़ि सिंघ कूँ षाई ॥१॥
मनसा घटा गहर जल पूरि, चेला पांच अगनि मुषि चूरि ॥
पांणी जलै मीन मन मरै, ऐसा आरंभ जोगी करै ॥२॥
आसा नदी अपूठि वहै, इम्रत झरै गगन रस रहै ॥
नव सै नदी निवासी निहचल भई, आसा त्रिष्ना भूषी गई ॥३॥
आसण अधर पवन मन हाथि, सुरति जोगणी जागै साथि ॥
परम जोति आनंद अभ्यास, निरभै भया काल का नास ॥४॥
आसा कै घरि चिंता वसै, काल रूपणि जीवहि डसै ॥
गंग जमन मधि वैसे जाई, तब जोगी चिंता कूँ षाई ॥५॥

पाठभेद—पेम १। च्यंता–२। मिरगी–१। म्रघी–१। इमिरत–१। तिसना–१।

शब्दार्थ—पचीस सारी=पचीस पंचभूतों की प्रकृति, वे ही सारी हैं, गोटें हैं। मृघी पकड़ सिंह कूं षाई=निश्चल वृत्ति रूप मृगी मन रूपी सिंह को खा लेती है, स्थिर कर लेती है। चेला पांच अगनि मुषि चूरि=पांच ज्ञानेन्द्रियों की बाह्यवृत्ति को ज्ञानाग्नि से दग्ध करो। पांणी जलै मीन मन मरे=संसारी भोग भोगने की वासना रूप पानी जल जाय, तब मीनरूपी मन स्थिर हो मरे। आसा के घरि चिंता वसै=वासना जब तक है, तब तक चिन्ता भी बनी रहती है।

सत रज तम तिमर मोह तजि माया, मन निहचल निरभै घरि आया ॥
पूठा फिरचा छाड़ि घट घाट, ग्यांन ध्यांन गढ़ि लग्या कपाट ॥६॥
त्रिकुटि कोट में आसण मांड़ै, राजा तीन दंड दै षांड़ै ॥
षोलि कपाट घाट घट लहै, परहरि डाल मूल निज गहै ॥७॥
इन्द्री पांच परपंच करि घेरै, जोग मूल कै धागै जेरै ॥
*जुगति विचारै अजरा जरै, गुरगमि ध्यांन निरंतरि धरै ॥८॥
असलि गरीबी आपा डारै, मरणहार कहा ले मारै ॥
सूनै घरि विसहर कहा षाइ, मन दूजै घरि रह्या समाइ ॥ ९ ॥
हारि जीति का पासा डारचा, वाजी जीती ड़ाव विचारचा ॥
षेलणहार गया मुष गोइ, ता का पला न पकड़ै कोइ ॥१०॥
जोग मूल गहि जोगी जागै, पैंडै चलै न कांटा लागै ॥
धूंई ध्यान ग्यान की छाया, मुद्रा सवद निरंतरि पाया ॥११॥
पांच तत की मंढी संवारै, मिरतग होइ काल कूँ मारै ॥
सतगुर कहैस सोई सूझै, ×तव अगम गाइ घर ही में दूझै ।१२।
अलष निरंजन साथी मेरा, परम जोग पद पूरा ॥
काइर उलटि जात जहां का तहां, पहुँचै कोई सूरा ॥१३॥

पाठभेद—नृभै–५ । गढ़–३-५ । प्रपंच–१ । मुंह–१ । म्रितग–२ । मृतक–३ ।

शब्दार्थ—निरभै घरि=स्वस्वरूप रूपी घर । त्रिकुटि=भृकुटि मध्य । राजा तीन=मन की त्रिगुणात्मक दशा । षोलि कपाट=कुण्डलिनी-कपाटरूप मेरुदंड के कपाट । परपंच करि घेरै=विषयों से विमुख करे । विसहर=काल, सर्प । ड़ाव=दाव, मौका । मुष गोइ=मुंह छिपाकर, विविध चाह वाला मन जब अन्तर्मुख हुआ, तब उसने सांसारिक भोगों का परित्याग कर दिया । धूंई ध्यान=ध्यान ही की धूंणी । पांच तत की मंढ़ी संवारै=शरीर रूपी घर को ज्ञानज्योति से सज्जित करे । मिरतग होइ=जीवन्मुक्त होकर ।

* जुगति विचारै अजरा जरै=यम-नियमादि साधनों का युक्तिपूर्वक प्रयोग कर अजरा–मन की वासनामय वृत्ति उसको जरै, पचावे–वृत्ति में एकाग्रता लावे ।

× तव अगम गाइ घर ही में दूझै=गुरु उपदेशानुशार साधक स्वस्वरूपप्राप्ति के साधन में लगे तो मन-वाणी से अप्राप्त आत्मतत्त्वरूपी गाय घर में–अपने ही भीतर परमानन्दरूपी दूध देने लगे ।

ग्यांन गदा लै मन कूँ मारै , ब्रह्म अगनि दे लंका जारै ।।
होम जिग अंतरि धुनि होइ , पाप पुंनि तहां लकड़ी दोइ ।।१४।।
+अब तो एक एक सूँ लग्या , जब लाग्या तब मन मन ठग्या ।।
दीनदयाल सतगुर की छाया , सहज समाधि परमपद पाया ।।१५।।
पैंडा अधर उलटि परवरै , नहीं घाट कंटकि कहा करै ।।
तारामंडल चंद सूर तजि ऊंचा जाई, परम जोति में रहे समाइ ।।१६।।
भोलि भूल ममता सब गई , अब तो बात और ही भई ।।
परम उदार अबगति की दया , करता राज रैति सो भया ।।१७।।
जोगमूल का जांणे भेद , जनम जुरा कंध नहिं छेद ।।
छिपी बात अभि अंतरि लहै , सबद विचार उनमनी रहै ।।१८।।
मन गहि पवन मेर गिर चूरै , भँवर गुफा में आसण पूरै ।।
ससिहर कै घर आंणे सूर , सबद अनाहद बाजै तूर ।।१९।।
मन भया मगन परम सुष मांही , ग्यांन गुफा मन छाडै नांही ।।
अरस परस आनंद रस एक , हारि जीति की रही न टेक ।।२०।।
त्रिवेणी तटि तालि लागी , मन थिर पवन सुषमना जागी ।।
दसवैं द्वार बस्या मन जाइ , वंकनालि इम्रत रस षाई ।।२१।।

पाठभेद—ज्यग–२ । धुन्य–२ । येक यक–२ । सों–१ । कंटक–३-४ । तज्य–२ । रैत–४-५ । येक–१ ।

शब्दार्थ—लंका जारै=वासनामय गढ़ रूपी लंका को दग्ध करे । भोलि भूल ममता सब गई=सत्य चेतन को असत्य असत्य, पंचभूतात्मक शरीर को सत्य समझने की भोली भूल तथा देहाध्यास की ममता सब दूर हो गई । करता राज रैत सो भया=विषय में लगा मन इन्द्रियों पर राज करता था, वह अब विषय से हट आत्मा की ओर हो रैत–प्रजा की तरह वश में हो गया । जोगमूल=चित्तवृत्ति की एकाग्रता, सहजावस्था प्राप्त करना यही जोग का मूल है । मन गहि पवन मेर गिरि चूरै=मन-प्राण को एकाग्र कर वासना तथा अहंकार के पहाड़ का चूर्ण करे । भँवर गुफा=दशम द्वार । त्रिवेणी तटि=त्रिकुटी तीर । वंकनालि=सुषुम्ना प्रणाली ।

+ अब तो एक एक सूं लग्या=अब तो निश्चल हुआ एकाग्र मन उसी व्यापक विभु एक तत्व में ही लग गया है ।

सुनिमंडल मैं सींगी वाजै , मानों घटा दसूँ दिसि गाजै ॥
सहजि पियाला भरि भरि पीवै , मन मतिवाला जोगी जीवै ॥२२॥
ब्रह्म अगनि सवहि मन दह्या , तरवर एक अषंडित रह्या ॥
ता तरवर मैं मेरा वासा , परम जोति पूरण परकासा ॥२३॥
तहां काम क्रोध जोग नहिं भोग, मांनि अमांनि हरष नहिं सोग ॥
अलष निरंजन निरभै नाथ , राग दोष हेत नहिं हाथ ॥२४॥
राजन रीति अंग नहि भंग , घर परिवार सुत वनिता नहिं संग ॥
ता दरवारि लेषक को लहै , दिल मालिक सव दिल की लहै ॥२५॥
सव मैं वसै सकल की लहै , मुष तैं फेरि ज्वाव नहिं कहै ॥
वारपार नहिं अगम अगाध , तहाँ एक आध कोई पहुँचै साध ॥२६॥
रसना मुष सीस हाथ नहिं पांव , घर नहिं अघट वैर नहिं भाव ॥
रूप अरूप भेष नहिं जहां , माया अगनिन व्यापै तहाँ ॥२७॥
काल न जुरा देह नहिं दीन , जीवन जनम पुष्ट नहिं षीन ॥
ताकी कीमत कोई कैसे कहै , कहत कहत वौरा होइ रहै ॥२८॥
जन हरीदास तहां काल न जाल, पूरण ब्रह्म अनंत प्रतिपाल ॥
रमता राम निरंजन राइ , अब तौ मन तहां रह्या समाइ ॥२९॥
दिल मालिक षालिक साहिब मेरा, जन हरिदास वरि जाया चेरा ॥
पकड़ि हाथ जिन छाडो मेरा , पड्या रहूं चरणां तै नेरा ॥
काल जाल लै करै न केरा ॥३०॥

॥ मनमदविधूंस जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

पाठभेद—मानूं–२-४ । सहज–५ । येक–२ । प्रकासा–५ । हेति–१ । रीत–५ । जाव–१ । नहिं–२-४ । छीन–१ । कहैत कहैत–२-४ । मालक–५ । भै–५ ।

शब्दार्थ—सूनिमंडल=दशम द्वार । सहज पियाला=सहज अवस्था रूपी प्याला । वन दह्या=विषय-वासनारूपी जंगल ज्ञानाग्नि से जल गया । तरवर एक=चेतन तत्वरूप एक वृक्ष । हेत=हित, स्नेह । ता दरवार लेषक को लहै=उस अखंड व्यापक ब्रह्म के दरबार का कौन लेखक वर्णन कर सकता है, वह वर्णनातीत है । ज्वाव=उत्तर । षीन=क्षीण, दुर्बल । षालिक=जगत्पिता ।

॥ अथ मनहठ जोगग्रन्थ ॥

*बांण पकड़ि ऊभा रह्या, मन फिरि लागा झूठ ॥
नीसांणा न्यारा रह्या, मंडी और ही मूंठि ॥ १ ॥
साच सबद माने नहीं, झूठ तहा चलि जाइ ॥
मनसा वाचा करमनां, गनिका को व्रत ताइ ॥ २ ॥
*मन हम सूँ घड़ि कूल ज्यूं, रषे दिषावै छेह ॥
वाई का गुण छाड़ि दे, वसुधा का गुण लेह ॥ ३ ॥
अगम तहाँ पहुँता नहीं, रही भरम की रेष ॥
मन का मारचा मरैहगा, करि करि नाना भेष ॥ ४ ॥
माया का कादौं मंड्या, कल्यासु निकसै नांहि ॥
अरस परस होइ मिल रह्या, ज्यौं माषी गुड़ मांहि ॥ ५ ॥
सिंघ स्याल रनिवनि वसै, वसती सकै न चूरि ॥
के वसती के वनि वंध्या, साध दोहूं सूँ दूरि ॥ ६ ॥
साध वंध्या हरि अवंध सूँ, हरि वंध्या साध कै भाइ ॥
परम सनेही परम सुष, तहां रह्या ल्यौ लाइ ॥ ७ ॥
हरि सुमिरण मन हठ मतौ, सो मैं छाडौ नांहि ॥
रामरतन धन अजब है, ले राष्या मन मांहि ॥ ८ ॥

पाठभेद—चल्य–२। क्रमनां–२। गन्यका–२। ताहि–१। सौं–१। ज्यौं–१। मरैगा–१। कादू–१-३। ज्यूं–१-४। रनवन–४-५। दूहूँ सू–१-३। स्यूं–१। रहे–५। छाडू–२-४।

शब्दार्थ—गनिका=वेश्या। ताइ=वह, उस मन का। वाई का गुण छाड़ि दे= वायु अस्थिर होती है, तद्वत् चंचलता का त्याग कर। कादौं=कीचड़। कल्यासु=फँसा। रनिवनि=एकान्त जंगल में। भाई=भाव।

* गुरु-उपदेश रूपी बाण लगा पर साधक शिष्य उभा रह्या–वैसे ही बना रहा–साधना में नहीं लगा तब उसका मन फिर उन्हीं संसार के झूठे पदार्थों में उलझ गया। नीसांणा–लक्ष्य न्यारा ही रह गया और ही मूंठ मंडी–उपदेश निष्फल रहा।

रंक हाथि हीरा चढ्या, सतगुरि दिया वताइ ॥
ताकूँ मैं छाडूँ नहीं, छाड्यां सरवस जाइ ॥ ९ ॥

पातिसाह वल करि कह्या, नांमां कहौ षुदाइ ॥
सदा संगि गऊ वछ ज्यूं, जन कै राम सहाइ ॥१०॥

राम धणी सनमुषि सदा, सकल काल का काल ॥
पातिसाह नामौं कहै, तूँ मति पड़ै जंजाल ॥११॥

तव नामैं मन हठ किया, गहि गुर ग्यांन विचार ॥
मैं हरि सुमिरण छाडूं नहीं, सिर परि समरथ सिरजनहार ॥१२॥

यै पांया पाषांण कूँ, देवल फेरया देह ॥
माया जल भेदै नहीं, छांनि छवाइ एह ॥१३॥

सेज मंगाई जला सूँ, सो वहुडि न जल में जाइ ॥
तव नामै मन हठ किया, मूंई जिवाइ गाइ ॥१४॥

एक वोड़ि हिंदू तुरक, एकै दास कबीर ॥
मन हठ ले ऊभा रह्या, सिर परि साहस धीर ॥१५॥

टेक रहो तन मति रहो, टेक गया पण जाइ ॥
ऐसी टेक कबीर की, चौड़े रह्या वजाइ ॥१६॥

फुनि वात सुणो प्रहिलाद की, कहि समझाऊँ लोइ ॥
मन हठ करि गोविंद भज्या, धका न लागा कोइ ॥१७॥

गिर जल ज्वाला तैं वच्या, पिसण गया पचि हारि ॥
नहीं साध कूँ सांकडौ, यौ ही अरथ विचारि ॥१८॥

ध्रू बालक कैसी करी, धरचा न कोइ भेष ॥
मन हठ करि मांड्या मरण, जहां इष्ट तहां देष ॥१९॥

पाठभेद—सनमुष-१-५ । येह-२ । स्यौं-१ । येक-२ । गिरि-१। पिसुण-१ ।

शब्दार्थ—रंक=दरिद्री । वलकरि=जोर देकर । छांनि=छप्पर । पिसण=हत्यारा । सांकड़ौ=कष्ट, दुःख ।

अगम सवद सुषदेव सुण्या, संकरि कह्या सुणाइ ॥
तन दीया राष्या सवद, यूँ मन हठ सूँ घर जाइ ॥२०॥

इन्द्रलोक सूँ ऊतरी, रंभा करि सिंगार ॥
तव सुषदेव न्यारा रह्या, धस्या न वहती धार ॥२१॥

जनक जनक सव कहत है, अमरलोक सूँ वाथ ॥
जनक मता कछु और था, दुष सुष रहत अनाथ ॥२२॥

पांव अगनि मुष ऊवरै, जनक कहावे सोइ ॥
इहां दाधा वहां दाझि है, इहै भरोसा मोहि ॥२३॥

जाइ मछंदर पड़ि रहया, माया तर की छाँह ॥
गोरष कछु भोला न था, जिन गुर काढ्या गहि वाँह ॥२४॥

राजपाट तजि भरथरी, किया आपणा काज ॥
जोग ध्यान राजा लहै, तौ वै क्यूँ छाड़ै राज ॥२५॥

हस्ती घोड़ा गांव गढ़, सुत वनिता परिवार ॥
कहै माता मैंणावती, तजि गोपीचंद यहु छार ॥२६॥

यहु सुष विष समि देषिये, लाधी सौंज न हारि ॥
अगम वस्त अंतरि वसै, उलटा गोता मारि ॥२७॥

वल छाड्या निरवल भया, गहि गोपीचंद गुर ग्यांन ॥
सूनि मंडल मैं रमि रह्या, अगम ठौड़ असथांन ॥२८॥

पाठभेद—यौं–१। तैं–१। यन्द्र–२। सिणगार–५। को कहै–४-५। कुछ–१। यहाँ–२। मछिद्र–१। मछंद्र–५। ज्यनि–२। क्यौं–३-४। हसती–२। वसत–२। न्यरवल–२।

शब्दार्थ—धस्या न=प्रवेश नहीं किया। वाथ=आलिंगन। दाधा=जला। दाझि=जलेगा। छार=राख, नष्ट होने वाले। लाधी=प्राप्त हुई। सौंजन=सौभाग्य, मनुष्य देह रूप सामग्री। वल छाड्या=सांसारिक राज्य-बल को त्यागा। निरवल=दीन, गरीब, गर्व परित्याग। सूंनमंडल=दशम द्वार। अगम ठौड़=ब्रह्मप्रदेश।

छत्र सिंघासण छाड़ि गया, ऐसी व्यापी आइ ॥
माया संगि सांई मिलै, तो बलक छोड़ि क्यों जाइ ॥२९॥
सेहभ्भ तुलाइ गीदवा, इहै रंक कै ईद ॥
पथर तलै बिछाइ करि, सांई भज्या फरीद ॥३०॥
रतन पारषू मन हठि किया, षोज्या सब ही भेष ॥
तब वाकूँ गोरष मिल्या, ए मन हठ का गुण देष ॥३१॥
ग्रन्थ नांव मन हठ मतौ, मन कै मन हठ दोइ ॥
एकै मन हठ हरि मिलै, एकै पड़दा होइ ॥३२॥
काम क्रोध मैं तैं मनी, पग दे सक्या न चूरि ॥
था मन हठ मन बूड़िये, हरि सूँ पड़िये दूरि ॥३३॥
गुण जीतै गोविंद भजै, निरभै निज घरि आइ ॥
या मन हठि मन नीपजै, झांई पड़ै न काइ ॥३४॥
काल कहर गरजत फिरै, दिन दिन व्यापै रोग ॥
जन हरीदास हरि भजन विन, जहां तहां विपति विवोग ॥३५॥
जन हरीदास दुरभष तहाँ, जहां न हरि सूँ हेत ॥
जे नर लग्या न हरि हठी, जम द्वारै डंड देत ॥३६॥
जन हरीदास गोविंद भजौ, भूलां भली न होइ ॥
अब भूला ते फिरैहगा, ऊझड़ पैंडा दोइ ॥३७॥

॥ इति मनहठ जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

पाठभेद—स्यंघासरण–२। वलष–५। क्यूँ–२। ये–२। न्यरभै–२। स्यों–१। ते–१। उजड़–३। उजड़ि–५।

शब्दार्थ—सेहभ्भ=अति मुलायम बिछावना। गींदवा=तकिया। पड़दा=आवरण। झांई=मायिक पदार्थों की परछांई। दुरभष=काल, दुःख। उभ्भड़=ऊबड़-खाबड़, जन्म-मरण रूप बीहड़ मार्ग में।

॥ अथ मनपरसंग जोगग्रन्थ ॥

मनपरसंग सुणो हो माधो, तुम सूँ कहूँ सुणाइ ॥
कवहूंक मन विषया तजै, कवहूँक विष फल षाइ ॥१॥

मनसा का लाड्डू करै, कछू न आवै हाथि ॥
मन भूषो भरमत फिरै, गुण इन्द्र्या के साथि ॥२॥

या मन की या रीति है, जहां तहां चलि जाइ ॥
कवहूँक लौटे छार में, कवहूंक मलि मलि न्हाइ ॥३॥

यहु मन पुरिष नारि सुत मात, यहु मन वन्धु यहु मन तात ॥
यहु मन मूरिष यहु मन देव, या मन का कोई लहे न भेव ॥४॥

यहु मन सक्ति रूप होइ जाइ, यहु मन भजै निरंजन राइ ॥
तुला वैसि कंचन दे काटि, यहु मन विकै विडाणों हाटि ॥५॥

यहु मन दाता होइ दत करै, यहु मन भूषो मांगै मरै ॥
आरंभ करै रहै निरदंद, यहु मन मुकता यहु मन वंध ॥६॥

यहु मन द्वादस पैंडा करै, पसु ज्यूँ षेत विडाणा चरै ॥
आप आपकूँ रोपै पास, यहु मन करै आपका नास ॥७॥

लष चौरासी घट यहु मन धरै, पलक पलक मैं जामें मरै ॥
कवहू भूषा कवहू धाया, मन ही मन को चेटक लाया ॥८॥

यहु मन माह वैद ठगराज, सूकर स्वान सिंघ गै वाज ॥
स्याह लाल पीली मध रेष, यहु मन करै किरकटा भेष ॥९॥

पाठभेद—मूरष–५ । हुइ–२-४ । निरदुंद–१ । मुक्ता–१-५ । इहु–२-३ । स्यंघ–२ । करकटा–१ ।

शब्दार्थ—परसंग=प्रकरण, विषय । तुला बैसि कंचन दे काट=त्याग, वैराग्य की तुला में बैठ धन-सम्पत्ति की वासना को छोड़ । विडाणों=औरों के, विषयों के । हाट=दूकान । निरदंद=तटस्थ, अलिप्त । मुकता=मुक्त, स्वतंत्र । द्वादश पैंडा=बारह बाट, अनेक मार्ग । पास=फांसी, बन्धन । चेटक=करामात, करिश्मा । गै=गज, हाथी । वाज=वाजि, घोड़ा । किरकटा=किरकट की तरह विविध रूप बदलना ।

यहु मन तरवर यहु मन छाया , यहु मन विरकत यहु मन माया ॥
राति द्योस मन रहै उदास , यहु मन करै गुफा मैं वास ॥१०॥
यहु मन सुर नर असुर अतीत , जरष रींछ मृघा भयभीत ॥
सतगुर कहैस यहु मन करै , छाड़ै कुपह सुपह पग धरै ॥११॥
साध सबद मानै सुषसार , या मन का कछु अगम विचार ॥
यहु मन रनवन यहु मन सहर , यहु मन इम्रत यहु मन जहर ॥१२॥
तीरथ वरत करै समि भाइ , यहु मन अगम तहां चलि जाइ ॥
यहु मन अमरी वजरी जरै , सबद फुरण कूँ या विधि करै ॥१३॥
पैंडा अनंत न आवै वोड़ , कहौ कहां लौं दीजै जोड़ ॥
जोग ध्यांन धुनि यहु मन धरै , यहु मन भेष वहोत्तरि करै ॥१४॥
जन हरीदास कै याही रीति , अरस परस हरि ही सूँ प्रीति ॥
जन हरीदास या मन सूँ डरै , राति द्योस हरि सुमिरण करै ॥१५॥

॥ इति मनपरसंग जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

॥ अथ मनमतो जोगग्रन्थ ॥

फिटि फिटि रे मन विकट , वहौत नाटक कहा नाचै ॥
कबहू दाता होइ दत करै , कबहू जाचिग होइ जाचै ॥१॥
मन जोगी जंगम सेष , मन बहु भेष वणावै ॥
दूधा धारी होइ , फिरै भरमै दुष पावै ॥२॥

पाठभेद—मिरघ-१ । म्रिघा-२ । मृगा-५ । इमिरत-१ । फुरन-१ । धुन्य-१ । स्यौं-१ । ज्याचग-२ ।

शब्दार्थ—कुपह=कुपथ, बुरा मार्ग । सुपह=सुपथ, अच्छा रास्ता । रनवन=वीरान जंगल । अमरी=अमर होने की । वजरी जरै=वज्रोली क्रिया से वीर्य को ऊर्ध्वगामी बनाये । फुरण=फुरणा । धुनि=अनहद नाद । वहोत्तरि=विविध, बहत्तर कोठों में घूमे । फिटि-फिटि=धिक् धिक् । जाचिग=याचक, माँगने वाला ।

मन गहि वैसे मूंनि, निज मुनि की षबरि न पावे ॥
माथो मूंछ मुड़ाइ, छापा बहु तिलक वणावे ॥३॥
चौका देवे चाहि, रसना कै हाथि बंधावे ॥
मन विषिया संगि रमै, मन माया सूँ लावे ॥४॥
मन सूरातन सबल, मन मुष मोड़ि करि भागै ॥
मन इन्द्र्या आधीन, दौड़ि काया गढ़ लागै ॥५॥
मन वहौ जोधा बलवन्त, मन वहौरंगा विरंगा ॥
मन रूपक परिजलै, दीपक ज्यूँ जलै पतंगा ॥६॥
मन गिरवर मन कूप, मन गंभीर मन गंदा ॥
मन अंधा मन घोर, मन सीतल मन चंदा ॥७॥
मन नीकौ मन नीच, मन फलै मन फूलै ॥
मन फिरि मरै पियास, मन परम सुषसागरि झूलै ॥८॥
मन तारै मन तिरै, मन ले पार उतारै ॥
मन चौरासी का जीव, फेरि ऊँडै दह मारै ॥९॥
मन जंबक मन गिरभ, कऊवा का रूप वणावै ॥
मन सूकर मन स्वान, महापरलै वहि जावै ॥१०॥
मन पांणी मन लाइ, मन कौड़ी मन हीरं ॥
मन कंचन मन काच, मन मुरीद मन पीरं ॥११॥
मन मैलो मन निरमलौ, मन साचो मन सूचौ ॥
मन नीकौ मन नीच, मन उतिम मन ऊँचौ ॥१२॥

पाठभेद—मौंन–३-४। वहौ–३-५। वहु–१। ज्यौं–१। ऑंडे–१। दहि–१। कवा–१। नृमला–३-५। नक्यो–१।

शब्दार्थ—मूंनि=मौन धारण कर। रूपक=रूप पर, सौन्दर्य पर। परिजलै=प्रज्वलित हो, जल जाय। नीकौ=अच्छा, भला। ऊंडै=गहरे, गंभीर। दह=जल से भरा गड्ढा। जंबक=जम्बुक, स्याल। गिरभ=गृध्र, गीध। मुरीद=शिष्य, जिज्ञासु। सूचौ=शुद्ध, पवित्र। ऊँचौ=सर्वोत्तम

मन मोती मन सीप, मन वहो दीप दिषावे ॥
मन सिलता मन सिंध, मन फिरि मन ही समावे ॥१३॥
सुषमनि उलटि फेरि, साच मन निकट वतावे ॥
वंकनालि विश्राम, फेरि नाभी सूँ लावे ॥१४॥
*पांणी मांही पैसि, अगम का हीरा ल्यावे ॥
मन फिरि ग्रासै कांम, क्रोध की ठौर उठावे ॥१५॥
मैं तैं गरव गुमान, निमष तहां रहण न पावे ॥
गगनमंडल मठ छाय, अगम सूँ सुरति लगावे ॥१६॥
आगै अणभैं सीर, गगन रस उलटा आवे ॥
जन हरीदास मन विकट है, वहुत रूप करि जाइ ॥
पकड़ीजै तौ परमसुष, ढीलौ छोड्यां षाइ ॥१७॥

॥ इति मनमतौ जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

॥ अथ मनउपदेस जोगग्रन्थ ॥

कवहू फाड़ै कवहू जोड़ै, कवहू सीवै कवहु तोड़ै ॥
कवहू सोवै कवहू जागै, कवहू जोग ध्यान सूँ लागै ॥१॥
कवहूक अलप आहारी थोड़ा षाई, कवहूक टूका लेइ अघाई ॥
कवहू हेत प्रीति अणरागी, कवहू सुरति निरंजन लागी ॥२॥

पाठभेद—वहु-१ । स्यंघ-२ । निकटि-४-५ । ठौड़-३-४ । स्यौं-१ ।

शब्दार्थ—सुषमनि=सुषुम्ना नाड़ी । वंकनालि=सुषुम्ना मार्ग, मेरुदंड से दशमद्वार तक । निमष=पल भर, क्षण । अणभै=अनुभूत, प्रत्यक्ष । अघाई=धाप कर ।

* पांणी मांही पैसि अगम का हीरा ल्यावे=सहस्रार दल में चन्द्रमा द्वारा स्रवित पानी में प्राण स्थिर कर अगम आत्मारूपी हीरा लावे, स्वस्वरूप की प्राप्ति करे ।

कबहूँ चिंता कै घरि बहै, कबहूँ अटकि अपूठा रहै ॥
कबहूँ ग्यान ध्यांन उरि धारै, कबहूँ ऊलटि आपकौं मारै ॥३॥

कबहूँ जरणां अजराजरै, कबहूँ सबद कह्यां षिजि मरै ॥
कबहू पांचू इन्द्री दवै, कबहूं मेर तेर ले ऊँचा भवै ॥४॥

कबहूँ मोह विरछ फल षाइ, कबहूँ साध संगति चलि जाइ ॥
कबहूं त्रिविधि ताप मैं बसै, कबहूँ ब्रह्म अगनि मैं धसै ॥५॥

कबहूं हरि तरवर तहां जाइ, कबहूं वैसै पूठा आइ ॥
कबहूं ल्यौ कै पैंडे जीवे, कबहूँ अगम पियाला पीवे ॥६॥

कबहूं हारि जीति रस रीति, कबहूँ राम भजन सूँ प्रीति ॥
कबहूँ काया कांमणी कसै, कबहूँ काया सूँ मिलि षेलै हसै ॥७॥

कबहूँ चंद सूर समि करै, कबहूँ ध्यांन अलष का धरै ॥
कबहूँ त्रिवेणी संगि न्हावै, गुरगमि वस्त अगोचर पावै ॥८॥

कबहूँ उलटा षेलि काया सब सोधै, सुंनिमंडल मैं पवन निरोधै ॥
हठ करि मरै न वैसे हारि, अगम ध्यांन धरि सहज विचारि ॥९॥

षटचक्र मैं एकै डोरि, सतगुर सबद गया मन चोरि ॥
एकमेक अंतरि कछु नांहि, पूरण ब्रह्म बसै ता मांहि ॥१०॥

वंकनालि इंम्रत रस षाइ, मन माया छाया वैसे न जाइ ॥
मेरडंड मधि डोरी लहै, ब्रह्म अगनि काया वन दहै ॥११॥

पाठभेद—च्यंता–१। कूँ–३-४। पांचो–१-५। व्रिछ–२। वृछ–३। चकर–१। येक–२। कुछ–१। इमिरत–१।

शब्दार्थ—अणरागी=राग से रहित, अनासक्त। आपकौं मारे=अपना निग्रह करे। षिजि=कुपित हो, गुस्से में हो। दवै=जलावे, दग्ध करे। ऊँचा भवै=अभिमान करे, गर्वित हो। धसै=बूडे, प्रवेश करे। पूठा=पीछा, वापिस। ल्यौ=लौ, ध्यान, आत्म-चिन्तन की लगन। चन्द्र सूर समि करै=इडा-पिंगला में चलने वाले विषम प्राण को सम करै–सुषुम्ना में लावे। त्रिवेणी=त्रिकुटिस्थान। षट्चक्र मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञाचक्र। एकै डोरी=सुषुम्ना-प्रवाह।

दसवैं द्वारि वसै मन राजा , सबद अनाहद बाजै बाजा ॥
जन हरीदास मन वसि भया , गया भरम सब और ॥
एक एक सूँ मिलि रह्या , तब पाइ निरभै ठौर ॥१२॥

॥ इति मनउपदेस जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

॥ ×अथ व्याहलो जोगग्रन्थ ॥

दिषण देस सहर कुंदनपुर , पवणि छतीस सुषारी ॥
राजा भलो लोग निति निरभै , कन्या राजकंवारी ॥१॥
रांणी कहै सुणौ राजाजी , विलम न कीजै कांई ॥
वाई वडी बडो बर हेरो , आदू आदि सगाई ॥२॥
निज पुरि नगरि वसै कँवलापति , सकल सिरोमणि स्वांमी ॥
बर वे आदि विघन नहिं बेगम , घटि घटि अंतरजामी ॥३॥
घटै न वधै सदा ज्यूँ का त्यूँ , विरचि न बुरो लषावे ॥
राम भरतार परम सुषदाता , सो म्हारै मन भावे ॥४॥

पाठभेद—येकयेक-२ । ज्यों-त्यों-२ । भ्रतार-२ ।

शब्दार्थ—दक्षिण देस=देह, शरीर । पवणि छतीस=पंचभूत, पचीस प्रकृति, तीन गुण, मन, प्राण, वृत्ति । राजा=आत्मा । भलो=शुद्ध । राजकुंवरि=सुरतिवृत्ति । राणी=सद्‌बुद्धि । विलम न=विलम्ब, देर । निज पुरि नगरि=अपने हृदय में । वसै कँवलापति=साक्षी चेतन ।

× व्याहलो जोगग्रन्थ एक वैवाहिक रूपक के रूप में वर्णन किया गया है—उक्त रूपक में यह बताया है कि कैसे जीव राजा वत्ति रूप कुंवरि को साक्षी चेतन से सम्बन्धित करना चाहता है पर मनरूपी रुकमैया इसमें बाधा डालता रहता है । रूपक में पात्रादि का यह स्वरूप है । नगरी शरीर । छत्तीस जाति, त्रिगुण मन, प्राण पंचभूत भूतात्मक प्रकृतियाँ । राजा=आत्मा, जीव । रांणी=सद्‌बुद्धि । कुंवरि=सुरति वृत्ति । रुकमैया=मन । वर=साक्षी चेतन है । अन्त में सद्‌वृत्ति रूप कुंवरी का साक्षी चेतन से सम्बन्ध हो गया है, मन की चाल या बाधा चली नहीं ।

सकल भवन करता करणां में , विथा न व्यापै कांई ॥
राजा कहै सुंणो रुकमईया , तहां दीजै रे ! वाई ॥५॥
रुकमईयौ कांइ कह्यौ न माने , आंन सगाई हेरै ॥
राजा कहै देषि वर वरि स्यां , अटकि अपूठा फेरै ॥६॥
चंदेरी सिसपाल असुर अरि , लगन तहां लिष दीया ॥
हैवर गैवर पाइक पाला , वहौ जोधा संग लीया ॥७॥
केहरि कहो घास क्यूँ चरिहै , आंण्या असुर वुलाई ॥
जीवण नहीं मरण सिर ऊपरि , जीभ षांडि विष षाई ॥८॥
सांसो सिसपाल चंदेरी चिंता , सो वर तहां वसीजै ॥
गरव गुमान दंत वहौतेरा , ममता को रस पीजै ॥९॥
परमसनेही प्रांणनाथ हरि , सदगति सदा सगाई ॥
अलष पुरिस अवगति वर सिर परि, किरतम बरयो न जाई ॥१०॥
किरतम तिकौ सकल सति विनसै, अविनासी म्हारौ सांई ॥
आदि अंति हरि सदा सनेही , प्रांण वसै ता मांही ॥११॥
विप्र वुलाइ अवला पाइ लागी , रांम तहां चलि जाई ॥
भींव भलो कांई दोष न दीजै , रुकमईयौ दुषदाई ॥१२॥
अव हरि रषे हाथ तैं छाड़ौ , पति म्हारा हूँ थारी ॥
व्याकुल भई माघ नित हेरौं , दरसौ देव मुरारी ॥१३॥
ब्राह्मण विरह भींव मैं म्हारै , कहौं तिका मन भावै ॥
रुकमइयो रौस कह्यो नहिं माने , भूंडौ भरम उठावै ॥१४॥

पाठभेद—सिसुपाल–१ । ल्यष–२ । वहुतेरा–१ । विणसै–२-५ ।

शब्दार्थ—रुकमईया=मन । आन=ओर, सांसारिक वासनाओं में । सगाई=सम्बन्ध । हेरे=तलाश करे । अटकि=मनाकर, रोककर । अपूठा=पीछा, वापिस । सिसपाल=संशय । हैवर=घोड़े । गैवर=हाथी । पाइक=सेवक । वहु जोधा=काम, क्रोध, लोभ मोहादि । केहरि=सिंह । आंण्या असुर=अहंकारादि राक्षस । किरतम=बनावटी, जगत् के पदार्थ । विप्र=विरहरूपी विप्र । माघ=मार्ग, वाट । भूंडौ=बुरा, बेतुका ।

घड़ी मुहूरति आज सुदिन दिन , पतिव्रता यौं भाषै ॥
चीरी लिषी विप्र नैं दीन्हीं , रषे विप्र विचि राषै ॥१५॥
मन सुध विप्र गयो बेगमपुर , लिष्या सु ले पहुँचाया ॥
देषि देषि हरि कागद वांच्या , चलौ विप्र म्हे आया ॥१६॥
साचा सबद राषि सिर ऊपरि , आनंद अंगि न मावै ॥
ब्राह्मण हरिसुष हेरि वधाई मांगै , नैंड़ी जान बतावै ॥१७॥
अनंत कोटि ब्रह्मंड सौंज संगि , इन्द्र कुमेर घणेरा ॥
ब्रह्मा अनंत महादेव अगणित , चंद सूर बहोतेरा ॥१८॥
ए नवनाथ सिध चौरासी , सुर तेतीस सवाया ॥
नारद मुनि जन साध सकल संगि, हरि इसा भेद सूँ आया ॥१९॥
सील संतोष सति दया सबूरी , करम कपूर उडाया ॥
यूँ सै उठि सहैले दौड्या , पवन तुरी चटकाया ॥२०॥
आरती करि करि चरन पलोटै , के चरचै के गावै ॥
प्रेम प्रीति चंदन घसि इंहि विधि, परसि परसि सुष पावै ॥२१॥
साथि सषी लै षेलण कै मिसि , निज बर हेरण आई ॥
चढ़ कँवार हरि देष निजरि भरि , नषसष रह्या समाई ॥२२॥
वड़ विसरांम तहां हरि उतरै , आतम अंतरि नेरा ॥
सषी सहेली मंगल गावै , मनसा चांवरि फेरा ॥२३॥

पाठभेद—विप्र–४ । सुधि–१ । आणंद–१ । सूंज–५ । ये–२ । सिद्ध–१ । स्यों–१ । सत–२-५ । चरण–१ । प्रसि–१ । षेलन–५ । निजर–४-५ । नषसिष–१ । विश्राम–३-५ । आत्म–३-४ । चांवर–५ ।

शब्दार्थ—चीरी=लगनरूप चिट्ठी । घणेरा=बहुत सा, अनेकों । भेद=प्रकार । पलोटै=चांपे, दबावे । मिसि=बहाना । बड विसराम=हृदयरूपी महल ।

नैंणां राम वसौ हरि वैंणा, सकल सुषां सुष लाधा ॥
*सुर तेतीस घेरि घर आया, सतगुर डोरा वांधा ॥२४॥
अरधैं उरधैं चौंरी चरचै, तहां हथलेवा दीया ॥
अति उछाह अवला मनि आनंद, हरि सूँ फेरा लीया ॥२५॥
रली रंग राग नाना विधि, ×सूनिमंडल कै छाजै ॥
पति सूँ प्रीति जीति गुण दूजा, वेणि गगन मैं वाजै ॥२६॥
ग्यान गुलाल केसरि वहौ करणां, अरथ अवीर पिंडाया ॥
आजि सषी हरि महल पधारया, भल म्हारै मनि माया ॥२७॥
सुंदरि सेज साच उर अंतरि, समता सौडि विछाई ॥
राम राइ तहां आय विराज्या, सो सुष कह्या न जाई ॥२८॥
गात गुफा में गम करि राषूँ, सेझ सनेही आया ॥
विणि दीपग दह दिसि उजियाला, आंगणि चौक पुराया ॥२९॥
घरि घरि मंगलचार सदा सुष, वर वरयौ वनमाली ॥
सुष में सीर अषिल अविनासी, परम जोति सूँ ताली ॥३०॥
परणि परसि हरि संगि कर लीन्ही, पति को पलौ न मेल्हूँ ॥
जन हरीदास निसदिन अति आनंद, ता आनंद में षेलूँ ॥३१॥

॥ अथ व्याहलो जोगग्रन्थ समाप्त ॥

पाठभेद— वसै–१। मन–५। सों–१। स्यों–१। गिगन–१। वहु–१। आज–१-५। भल–१५। सुन्दर–५। राषौं–१-५। दीपक–३। उजियारा–५। घर-घर–५। स्यू–१। संग–१-५।

शब्दार्थ—नैंणा=नेत्र। वैंणा=वांणी। अरधै उरधै=मूल–अपान स्थान। उरधै दशम द्वार के बीच में हृदय-गुहा। रली–मनचाही। गात=काया, शरीर। गुफा=हृदयगुहा। मेल्हूँ=छोड़ूँ, धरूँ।

* सुर तेतीस घेरि घर आया=सुर प्राण तेतीस मेरुदण्ड तथा ग्रीवा के म्होरों में से सुषुम्ना नाड़ी द्वारा प्रवाहित हो घर आया—दशम द्वार सहस्रार दल में स्थिर हुआ।

× सूनिमंडल के छाजे=गगनमण्डल-ब्रह्मरन्ध्र के छाजे–किनारे।

॥ ×अथ टोडरमल जोगग्रन्थ ॥

अनहद वेणि बजाइ, तोड़रमल जीतोजी ॥
हरि भज उतरे पार, तोड़रमल जीतोजी ॥१॥

मन गहि पवन अगम गम कीया, परम सनेही पाया ॥
पांच सषी मिलि मंगल गावै, आंगणि चौक पुराया ॥२॥

चित चौकी हरिचरणां राष्या, , कंवल सिंघासण दीया ॥
इला पिंगुला करै आरती, प्रेम कलस उरि लीया ॥३॥

गगनमंडल मैं रच्यो मांडहौ, पांच तणी ल्यौ तांणी ॥
आतम परआतम हथलेवौ, पीव संगि षेलै प्रांणी ॥४॥

जन हरीदास हरि अरस परस होइ, नैंणा नेह बंधाया ॥
जाकी थी सो महल पधारया, राम सनेही आया ॥५॥

॥ इति टोड़रमल जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

॥ अथ इमृतफल जोगग्रन्थ ॥

असलि भाव जब अंतरि आवे, ग्यान विचार बमेक बतावे ॥
दया सबूरी जरणां जोग, त्रिवधि ताप का लगै न रोग ॥१॥

पाठभेद—च्यत–२। स्यंघासण–२। विमेक–१। त्रिविध–१।

शब्दार्थ—तोडरमल=जीवात्मा। पांच सषी=पांचों ज्ञानेन्द्रियां। कँवल=हृदय-कमल। उरि=अन्त:करण में। मांडहौ=विवाह-मण्डप, मांडा। नैंणा=नजरों में, नेत्रों में। जरणां=सहनशीलता।

× यह ग्रन्थ भी एक रूपक रूप में है। विवाह के पश्चात् कुछ उत्तरकर्म होते हैं, व्याजतः यहाँ भी उसका निरूपण किया गया है।

सील संतोष फुनि अजपा जाप , परिहरि गया पुरातम पाप ।।
सत अर सहज पवन मन हाथि , मनसा पांचो चेला साथि ।।२।।
इतउत कोई सकै न फूटि , मूल गया ममता का छूटि ।।
समता सुबुधि विद्या मन साथि , भगति जोग दोइ लाड्डू हाथि ।।३।।
काम गयंद चींटी फिरि घेरया , पकड़ि सील सांकलि सूँ जेरया ।।
निरभै भया नगर मैं राज , तीतर कै मुषि देष्या वाज ।।४।।
पवन पियाला इम्रत पान , एकादसी अषंडित ध्यान ।।
हेतभाव प्रेम का बंध , मन का छूटि गया सब दंद ।।५।।
सतगुर एक इम्रत फल दीया , सो हम हेतप्रीति सूँ लीया ।।
मीठा अजब अकल समि भाइ , ताकी फंकि बिथा सब जाइ ।।६।।
यहु इम्रत फल जापै होइ , ताका पला न पकड़ै कोइ ।।
पैंडा अधर अपूठीं चाल , अब कै सतगुर किया निहाल ।।
हारि जीति का पासा गया , ऊजल निरमल निरभै भया ।।७।।
जांणि बूझि जागै सो जीवै , सहज समाधि सदा रस पीवै ।।
अजपा जाप भजन बलि जांव , ऊजड़ गया बस्या फिरि गांव ।।८।।
सो इम्रत फल हिरदै धारया , हिरदै धारि काल मैं मारया ।।
माया दीन्हा मोलि न लहिये , सरबस दे ताका होइ रहिये ।।९।।
ग्रासै जुरा अवधि तन छीजै , तन मन दै लाभै त्यूँ लीजै ।।
रूप न रेष वार नहिं पार , या फल का कछु अगम विचार ।।१०।।

पाठभेद—वत–१ । मुष-५ । सुवधि–२-४ । अषंडत–५ । धंध–१ । सौं–१ । अकलि–१ । इहु–१-५ । सहजि–२-४ । हुइ–२ । त्यों–१ ।

शब्दार्थ—पुरातम=पुराना, अनेक जन्मों का । पांचों चेला=अन्तर्मुखी ज्ञानेन्द्रियां । चींटी=आत्माकार वृत्ति । जेरया=वश में किया । तीतर के मुष देख्या वाज=विषयप्रवृत्त मन रूपी वाज तीतर रूप चित्त पर आक्रमण किया करता था, वही वाज रूप मन विषयविमुख हो अन्तःकरणस्थित चित् शक्ति रूप तीतर के मुख में है, वश में है । एकादसी=एकाग्रवृत्ति, स्थिरवृत्ति । फंकि=फाकी, प्रयोग, साधना । जांणिवूझि=पहचान, ज्ञात कर, सोच-समझ । ऊजड़=सूना, उजड़ा हुआ । लाभै=मिले, प्राप्त हो ।

तरवर डाल फूल फल नांहि , साषीभूत वसै सव मांहि ॥
मात पिता गांव नहिं ठांव , अलष निरंजन ताका नांव ॥११॥
विद्यानगरि वसैं सव लोग , मन का छूटि गया सव सांसा सोग ॥
जन हरीदास अव ऐसी भई , मनसा उलटि अगम तहां गई ॥१२॥
ल्यौ की डोरि सुरति मधि धागा, मन निहचल निरभै सुषि लागा ॥

॥ इति इम्रतफल जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

॥ अथ ज्ञानउपदेश जोगग्रन्थ ॥

पांच तत्त गुण तीन , धात तहां सात समोई ॥
जाग्रत सुपन सुषपति पांच , ज्ञान इंद्रि पचीस प्रकति लोई ॥
हेत अहेति अलसाक निद्रा , चित चंचल निहचल नांही ॥
पांच कर्म इन्द्री दुष सुष , मन प्रांण वसै ता मांही ॥१॥
राग दोष अभिमान , डिंभ पाषंड अहंकारा ॥
कांम क्रोध भ्रम मोह , आसा हठ लोभ अग्यांन अंधारा ॥२॥
सीत उसन षुध्या त्रिषा , मांनि अमांनि पष पोषै ॥
ममत मनोरथ मोच पोच , संगि सांसौ सोषै ॥३॥
कुवधि अविद्या कलपना , चिंता त्रिसना तहां लहिये ॥
च्यारि अवस्था षट्चक्र , घट सूँ औघट यूँ कहिये ॥४॥

पाठभेद—नगर–४-५ । कर्म–१ । करम–४ । त्रिष्ना–३-४ ।

शब्दार्थ—विद्यानगरि=आध्यात्मिक-विद्या या परा विद्या की बस्ती । सांसा=संशय, भ्रम । पांच तत्त=पांच तत्व–आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी । गुण तीन=सत्व, रज, तम । धात तहां सात समोई=रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि, शुक्र, सात धातुओं का संयोग । अलसाक=आलस्य, अकर्मण्यता । दोष=द्वेष । डिंभ=छल । च्यारि अवस्था=जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्या ।

घट में गोरष ग्यांन ब्रह्मविचार, हणवंत हेत त्रिसन वमेक ॥
भरथरी भाव महादेव मन, जलंधरी पात्र जोग नारद नेह ॥४॥

लषमणां कंवार लषण वत्तीस, सुषदेव संतोष गोपीचंद आनंद ॥
सिंगी रिष सील चरपट चित्र, प्रेम प्रहलाद परमगुर प्रकास ॥६॥

धू धूनि अजैपाल अरथ, जनक जांणपणै चौरंगीनाथ चोथी दसा ॥
अंवरीक अचाही सती कणेरी साच, सनक स्वांति नागाअरजन नेह ।७।

सनक सनंदन सहज हठताली हठ, नेम कँवार निहक्रम हालीपात्र हेत ॥
निहकंप कवीर मींडकीपात्र परमोध, नांमदेव नेठाव धू धलीमल घ्यान।८।

रहति रैदास औघड़नाथ अघट, पण पींपो प्रथीनाथ प्राण ॥
सर्मभि सोझो रहणी रामचंद, दत्त दया मगरधज मुनि ॥६॥

घटि घटि गोरष ग्यांन, सु तौ सब घट की देषै ॥
दया करै ताहि कहै, और के पडे न लेषै ॥१०॥

नाथ पाकड़ै हाथ, पकड़ि हरिचरणां राषै ॥
भजौ निरंजन नाथ, सवद सतगुर यूँ भाषै ॥११॥

पिंड ब्रह्मंड मैं दोइ सिध, ग्यांन अर गोरष लहिये ॥
जन हरीदास भ्रम छाडि, ग्यांन गोरष तहां रहिये ॥१२॥

॥ ज्ञानउपदेश जोगग्रन्थ ॥

पाठभेद—कुमार-१ । अंवरीष-१ ।

शब्दार्थ—वमेक=विवेक, ज्ञान । धुनि=शब्द, अखण्डित शब्द । जांणयणै=जानकार, तत्ववेत्ता । अचाही=बेचाही । स्वांति=शान्ति, अक्षोभ । सहज=स्वाभाविक । हठ=आग्रह । निहक्रम=निष्काम । निहकम्प=अचञ्चल । परमोघ=उपदेश, शिक्षा । नैठाव=सर्वथा, बिल्कुल, दृढ़निश्चयी । रहति=रहनि, चरित्र । पण=प्रतिज्ञा, व्रत ।

॥ अथ वार जोगग्रन्थ ॥

वार वार मनकूँ परमोधूँ , मन गहि पवन सहर सव सोधूँ ॥
आदित अगम ग्यांन उरि धारै , सात वार का भेद विचारै ॥१॥

जोग मूल गहि जोगी जागै , धुनि मैं ध्यांन तहां मन लागै ॥
हरि सुष वार पार मधि नांहि , निरभै घर लाधा घर मांही ॥२॥

सोमवार सहजि मन जागै , पवन निरोधै आरंभ लागै ॥
×अरध उरध मधि घूंम चढावै , वहौत भांति सूँ वेगर लावै ॥३॥

काया करम मैल सव षोवै , धूप लगावै अंवर धोवै ॥
मंगलवार वार है नीका , और सकल रस लागै फीका ॥
मन गहि पवन अटकि घर आवै, गंग जमन मधि पैंडा पावै ॥
वरषै अमी अखंडित धारा , सुषमनि सींचै वाग हमारा ॥४॥

वुधवार अनभै वुधि वांणी , अगम वसत अभि अंतर जांणी ॥
त्रिवेणी तट ताली लागी , इन्द्री पांच सुवधि ले जागी ॥
वंकनालि इंम्रत रस पीवै , परचै लागा जोगी जीवै ॥५॥

वृसपति विष वन मांहि न रहिये , विष फल षाइ वहोड़ि दुष सहिये ॥
विष वन वारपार मधि नांहि , सुर नर असुर वसै ता मांहि ॥
पैंडा अधर परमगति भूला , पूठा फिरै न जम वंध षूला ॥६॥

पाठभेद—परमोधौं–१ । सोधौं–१ । आरंभि–४ । आरंभ्य–२ । वहुत–१ । आया–१ । पाया–१ । अणभै–३-४ । वस्त–३-४ । विसपति–१ । त्रिसपति–२ ।

शब्दार्थ—सहर=कायानगरी । सोधूँ=साफ करूँ, शुद्ध करूँ । आदित=रविवार । अगम ग्यांन=परम ज्ञान, आत्मज्ञान । अटकि=रोककर । पैंडा=पथ, मार्ग । त्रिवेणी=भृकुटिस्थान । ताली लागी=लौ लगी, ध्यान लगा । विष वन=संसार । पैंडा अधर=निराधार वृत्तिमय मार्ग । पूठा=पीछा, वापिस ।

× श्वास-प्रश्वास रेचक-पूरक प्राणायाम के पश्चात् विभिन्न प्राणायाम की साधना कर इन्द्रियों और मन के मैल को साफ करे । ज्ञानज्योतिरूपी धूप लगावे, गगनमण्डल की स्वच्छता करे ।

सुकरवार सहज घर लाधा, नीर न झलकै पारा बांधा ॥
भार अठारा पसरि न पोषै, नभ वहणि पवन धरणि नहि सोषै ॥
निरभै भया भरम सब भागा, त्यौं की डोरि उनमनि लागा ॥७॥

थावर थिर सतगुर समझाया, पूरण ब्रह्म तहां काल न काया ॥
परम जोति परकास विराजै, सुनिमंडल मैं सींगी बाजै ॥
सो धन मुझि किरपण का हीरा, देषि देषि मन राषूँ धीरा ॥८॥

सात वार का भेद विचारूँ, पैंडे चलूँ न वैठा हारूँ ॥
औघट घाट तहां मन जागै, भया अपंक पंक नहिं लागै ॥
जन हरीदास सतगुर की छाया, सहज समाधि परमपद पाया ॥९॥

॥ इति वार जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

॥ अथ हंसपरमोध जोगग्रन्थ ॥

स्वामीजी पड़दा कौंण परमनिधि आड़ा, कहां षेलि दुष पावै ॥
पहिरया स्वांग साच नहिं दरसै, सो फिर कहाँ समावै ॥१॥

पाठभेद—शुक्रवार-१। सहज्य-२। मुभ-१-३। विचारौं-१। हारौं-१। कूंण-१। फेरि-४।

शब्दार्थ—थावर=शनिवार। हारूँ=खोऊं, हार जाऊं। अपंक=शुद्ध, निर्मल। पंक=कीच, विषयवासनामय। पड़दा=आवरण, आड़। स्वांग=बनावटी भेष।

७वीं साखी—सुकरवार सहज घर लाधा=शुक्रवार लाभदायी वार है जिसमें अपना स्वाभाविक घर-आधार ब्रह्म प्राप्त हो गया। बद्ध पारा जैसे विचलित नहीं होता है वैसे ही न तो प्राणमय न ही वीर्यमय पानी उछलता है–प्राण तथा वीर्य दोनों स्थिर हैं। बीस दिन की भार संज्ञा है–वर्ष के अठारह भार होते हैं। अभिप्राय है कि मन अब किसी भी दिन पसरि–विषयों में जाकर पोषण प्राप्त नहीं करता। नभ वहणि पवन=गगनमण्डल ब्रह्मरन्ध्र में स्थित हुए प्राण मूलाधार में–अपानस्थान में आ उस अमृत का शोषण नहीं करते, जिसका स्राव ब्रह्मरन्ध्र–केन्द्र में चन्द्रमा द्वारा होता रहता है।

अवधू त्रिवधि ताप मैं भूलै षेलै , परम भेद नहिं पाया ।।
अंतरि अगनि गोपि ज्यूँ की त्यूँ , देषा देषि दुराया ।।२।।
स्वामीजी काँटा कौंण कहाँ सूँ लागा , कौंण सूई लै काढ़ै ।।
वांणी कौंण अगम घरि षेलै , मेर कहाँ लै षाढ़ै ।।
अवधू काँटा कुवधि गड्या उरि अंतरि, ग्यांन सूई लै काढ़ै ।।
वाणी ब्रह्म अगम घरि षेलै , मेर गगन मुष चाढ़ै ।।४।।
स्वामीजी उदबुद कथा कहा कहि वरणूँ, त्रिवधि ताप की छाया ।।
दिष्टि पड़ै पण निकसै नांही , या काँटै सब षाया ।।५।।
अवधू निहचा पषै परम पद न्यारा , निरमल ग्यांन न आया ।।
जहाँ निज ग्यांन सुरति कै नाकै , तहाँ काँटा चूणि षाया ।।६।।
स्वामीजी सूना सहर कौंण विधि वासै, सहजि समाधि लगावै ।।
×उलटा षेलि आकास गरासै , गम मैं अगम बतावै ।।७।।
अवधू सतगुर का चेला समि षेलै , गुण तज निरगुण दरसै ।।
लोहा पलटि होइ जब कंचन , तब पारस मणि परसै ।।८।।
स्वामीजी कौंण किवाड़ी जड़ै जतन सूँ , कौंण पियाला चाषै ।।
जाता कौंण फेरि घरि आंणै , सुरति कहाँ लै राषै ।।
अवधू काम किंवाडी जड़ै जतन सूँ , पवन पियाला पीवै ।।
मन कूँ पकड़ि सहजि घरि आंणै , ल्यौ कै पैंडे जीवै ।।१०।।

पाठभेद—ज्यों–१ । त्यों–१ । कुवुधि–१ । गिगनि–१ । दिसटी–२ । द्रष्टि–५ । ग्रासे–१ ।

शब्दार्थ—गोपि=छिपी हुई । दुराया=छिपाया । उदबुद=अद्भुत, अनोखी । दिष्टि पड़ै=नजर पड़ती है, ध्यान जाता है । निहचा=संशय-विपर्यय रहित, दृढ़ धारणा । पषै=पक्ष, सापेक्षिक-धर्म, व्रत, तप, पुण्यादि । आंणै=लावे ।

× उलटा षेलि आकास गरासै=प्राणप्रवाह को जो अपान से उठकर मुख मार्ग में आता-जाता है, सुषुम्ना द्वारा मेरुदण्ड की ओर उलट कर गगनमंडल में प्रवेश करे, तभी गम में–दृश्यमान इस पञ्चभूतात्मक देह में–अगम चेतन तत्व बतावे, प्राप्त करावे ।

स्वामीजी कौंण अटकि अरि उर तैं डारैं, मुकतैं महल विराजै ॥
गोरष भँवरण गवँण करि जीवै, सुष मैं सींगी वाजै ॥११॥
अवधू सतगुर सवद साहि सति आवध, तसकर मारि मनावै ॥
आसण अचल तहां मन निंहचल, निरभै वस्त वतावै ॥१२॥
स्वामीजी दीरघ घटा कौंण मुषि सोषै, वादल विघन विछौवै ॥
सात समंद जल तिरण कठिन है, कैसें परचा होवै ॥१३॥
अवधू मनसा घट पवन मुषि पीवै, मोह मनोरथ मारै ॥
मन गहि पवन गवन बेगमपुरि, सुरति सहज घरि धारै ॥१४॥
स्वामीजी कौंण वसत कर सूँ गहि डारै, प्रांण कहां सुष पावै ॥
मन कूँ कहां कसैं कंचन ज्यूँ, सौलैह कला दिषावै ॥१५॥
अवधू गरव गुमान चरणां तलि चूरै, अरथ अवीर षिंडावै ॥
मन कूँ ब्रह्म अगनि मैं होमै, सुवधि सुहागा लावै ॥१६॥
स्वामीजी कौंण घटै तन कौंण प्रकासै, नौधा भगति न भावै ॥
सीतल ठौड़ सदा रस पीवै, निरभै निज घरि आवै ॥१७॥
अवधू रजनी घटत उदै भया सूरं, दोइ दोइ चरण दुराया ॥
षेलैं प्रांण निगम तैं आगै, निज तरवर की छाया ॥१८॥
स्वामीजी जोगी कहो कौंण रस छाडे, कौंण जडी लै जीवै ॥
कौंण गुफा मैं निसदिन षेलै, कौंण पियाला पीवै ॥१९॥

पाठभेद—मुक्तै-५। भुंवण-१। कठिण-२। प्रान-१-५। सोल्है- ४-५। तल्य-२। अर्थ-१। नृभै-५। चरन-३-५।

शब्दार्थ— साहि=साहूकार, सहायक, बौहरा। सति=सत्य। आवध=आयुध, शस्त्र। बेगमपुरि=स्वस्वरूप, आत्माधिष्ठान ब्रह्म। रजनि=अज्ञानमय अन्धकार, तमोगुण। उदै भया सूरं=ज्ञानमय सूर्य उदय हुआ। दोइ दोइ चरण दुराया=मेरा-तेरा-मैं-तू रूप भेदवृत्ति, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि द्वन्द्व दुराया—छिप गए, समाप्त हो गये।

११वीं साखी—साधक गुरु से ज्ञात करता है कि किसको रोकना, किन शत्रुओं को भगाना, किस मुक्त महल में स्थिर होना जिससे ज्ञान द्वारा उस आधार-अधिष्ठान में पहुँचकर जन्म-मृत्यु से छुटकारा पाऊँ, चिरन्तन सुख में मस्त रहूँ, अनहद नाद की सींगी बजती रहे। इसका साखी बारह में प्रत्युत्तर है।

अवधू निरभै नौ दरवार न जाचै , षिमां जड़ी लै जीवै ॥
ग्यांन गुफा मैं निसदिन षेलै , अगम पियाला पीवै ॥२०॥
स्वामीजी मौजिग मांही मंढी विराजै, सुर तैंतीस पिछाणैं ॥
चांवड कै सिरि चोट लगावै , भैंसा राषै थांणैं ॥२१॥
अवधू भोपा भू का भार उतारै , भैंरू का भै न्यारा ॥
अनहद सवद एक रस अंतरि , छाड़ि गया पूजारा ॥२२॥
×त्रिवधि ताप तिण तूल तरक तजि , मूल कँवल दल फूलै ॥
ग्यांन चक्र लै अरिदल जीतै , त्रिवेणी संगि झूलै ॥२३॥
स्वामीजी कौंण जोग तामैं मन निरभै, रोग रति भरि तोड़ै ॥
आसण कौंण कहां सो वैठा , सुरति कहां ले जोड़ै ॥२४॥
अवधू मन निहचल निज वस्त वतावे, रोग पलटि होइ जोगी ॥
ग्यांन तषत वैठा रस पीवे , परम सूनि रस भोगी ॥२५॥
स्वामीजी आतुरि छाड़ि अगम घरि षेलै, अंतरि अलष लषावै ॥
ताका रूप कहां धू कैसा , समझि विना सुष नावै ॥२६॥

पाठभेद—षिम्या–२ । येकरस–२ ।

शब्दार्थ—नौ दरवार न जाचे=नेत्र, मुख, श्रवणादि द्वारा विषय की चाह न करे । षिमां=क्षमा । मौजिग मांहि मढी विराजै=संसार में देहरूपी घर है । सुर तेतीस पिछाणैं=शरीर में इन्द्रियों तथा अङ्गविशेषों के देवताओं को पहचाने—सुर शब्द देवपक्ष व प्राणपक्ष दोनों में लग सकता है । चांवड=तृष्णा, चिन्ता । भैंसा=भावरूप भैंसे को थांणे—स्वस्वरूप में ही लगाए रखे । आतुरि=आतुरता, जल्दबाजी, बिना-सोचे विषयों में लग जाना ।

× त्रिविध ताप देने वाले विषयरूपी तृण वासनारूपी रुई को तर्क से-विचार से तज—छोड़ ।

२२वीं साखी—हे अवधू ! भोपा, पंडे, पुजारी, पुरोहितादि जो सकाम कर्म की प्रवृत्ति में जनसाधारण को उलझाए रहते हैं जो कि तीर्थस्नान, व्रत, पुण्यादि, दानादि से पाप-निवारण का चकमा देते हैं । भैंरू—अभिमान का भय साथ है । जब आत्मचिन्तन में लगने पर ब्रह्माण्ड में व्यापक एकरस अनहद नाद की अन्तर में प्रतीति होने लगती है तब सकाम-कर्म की भावना वाला पुजारी नहीं रहता—चला जाता है, फिर भोपों का भी असर नहीं होता है ।

अवधू हरि परस्या तब ही मन निरभै, कै हरि परस्या नांही ॥
उनमनि लाग भया मन हीरा, वहौडि न व्यापै झांई ॥२७॥
सतगुर सबद सांच करि मानौं, सतगुर साच बताया ॥
ब्रह्म जीव का ज्यौं है मेला, त्यौं सतगुर समझाया ॥२८॥
जल मैं अगनि अगनि मैं जल है, सब कूँ दीसै पांणी ॥
प्रगटि झाल अगनि जल सोष्या, तब अगने अगनि समांणी ॥२९॥
स्वामीजी या तो अजर कहो क्यौं जरिये, षुध्या बिना क्यूँ भावै ॥
पांणी अगनि किसी विधि सोषै, मन परतीति न आवै ॥३०॥
अवधू सतगुर सबद अगम की पैडी, ता चढ़ि लंघै पारा ॥
काव्या कष्ट अगनि में डारया, तब जलि बलि भया अंगारा ॥३१॥
स्वामीजी संजम कौंण कहाँ धसि झूलै, धोती कौंण मंगावै ॥
निरभै डोरि कहां लै राषै, कौंण कलस भरि ल्यावै ॥३२॥

पाठभेद—वहुड़ि–१। प्रतीति–१-५। लंघो–५। कसट–२।

शब्दार्थ—परस्या=स्पर्श किया, मिला। झांई=परछांही, प्रतिबिम्ब।

२९वीं साखी—पंचभूत वाले इस शरीर की उत्पत्ति शुक्र-शोणितरूप जल से-तरल से है। उसी शरीर में जो आत्मतत्व है वह तेज-प्रकाशरूप होने से अग्नि है। उस आत्मतत्व के एकांश में माया है वह जलरूप है। अतः स्थूल दृष्टि से सब पानी ही प्रतीत होता है। पंचभूत व माया ही दिखाई देते हैं। जब ज्ञानाग्नि की झल प्रज्वलित हुई तो उसने पंचभूतात्मक शरीर के अध्यासरूप पानी को व अविद्या-जनित मिथ्या जगत् में सत्य की भ्रान्तिरूप जल का शोषण कर लिया, तब देहस्थ आत्मतत्वरूप तेजोमय अग्नि अपने मूल अधिष्ठान ब्रह्म में समाहित हो गई–अभेद स्थिति बन गई–यही अग्नि में अग्नि का समाना है।

३०वीं साखी—साधक गुरु से प्रश्न करते हैं कि अजर वस्तु का जरना पानी का अग्नि को शोषण करना इसकी मन में प्रतीति कैसे हो। इसका उत्तर साखी में नहीं है। सामान्यतः अविद्या अजर है। असत्य जगत् की प्रतीति अविद्या से ही है पर जब सत्यासत्य का निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है तब अजर अविद्या जर जाती है–पच जाती है, समाप्त हो जाती है। इसी तरह विरहाग्नि का शोषण स्वस्वरूपानन्द पानी कर लेता है।

अवधू संजम सील ग्यांन धसि झूलै, धोती ध्यान लगावै ॥
सुषमनि डोरि गगन मैं रोपै, षिमां कलस भरि ल्यावै ॥३३॥
स्वामीजी कौंण वस्त जा सूँ मन परसै, कैसे चौका देवै ॥
कौंण वस्त लै आगै अरपै, कौंण जतन सूँ सेवै ॥३४॥
अवधू आतम परमातम पति परसै, मनसा चौका देवै ॥
प्रेम प्रीति लै आगै अरपै, वहौत जतन सूँ सेवै ॥३५॥
स्वामीजी देवल कौंण कहां सो मूरति, सेवग क्यूँ सुष पावै ॥
चौकी कौंण कहां सो राषै, पाती कौंण चढावै ॥३६॥
अवधू ऊंधा कँवल सुलटि करि सूधा, वटवै वस्त बतावै ॥
चित चौकी हरिचरणां राषै, तन मन पाती लावै ॥३७॥
स्वामीजी पैंडा कौंण किसी विधि चलिवो, निरषि निरास विचारै ॥
रूपकि रचै न धरि धरि नाचै, जुरा जोगिणि हारै ॥३८॥
अवधू पैंडा अधर पगां विणि चलिवो, आंषि अनूप उघारै ॥
आनंद सहित एक रस पीवै, करम कणूँका डारै ॥३९॥
स्वामीजी अवला कौंण अगम घर षेलै, पूत परीषित जाया ॥
जामत सबै सकल कुल सनमुषि, परम सूँनि सूँ लाया ॥४०॥
अवधू बाँझ भई जब बेटा आया, बेटै बनषंड जारा ॥
रसना पषै पेम रस विलसै, परचै प्रांण अधारा ॥४१॥

पाठभेद—प्रसै–१। आतम–१-४। परमातम–१-४। वहुत–१। विन–३-५। सनमुष–३-५।

शब्दार्थ—धसि=प्रवेश कर, तन्मय हो। झूलै=स्नान करे, एकमेक हो। वस्त=अमूल्य पदार्थ, आत्मतत्व। अरपै=भेंट करे, समर्पण करे। ऊँधा कँवल सुलटि करि सूधा=षट् चक्रों के कमल अधोमुखी होते हैं उनको सुषुम्ना में प्राण प्रवाहित कर ऊर्ध्व-मुख करना। वटवै=हृदयरूपी वटुए में। रूपक रचे न=सांग न बनावे, कार्पटिक ढोंग रचना। आंषि अनूप=ज्ञानरूप नेत्र। पगा विणि= बिना पैरों के, सुरति द्वारा। वांझ भई=निश्चल हुई, वासनारहित। वेटा=पुत्र, निर्भ्रान्त रूप ज्ञानमय पुत्र। वैसे लोक में बाँझ के सन्तान संभव नहीं पर आत्मसाधना में बुद्धि स्थिर हो वासनाहीन हो तब वह बांझवत् हो जाती है–तभी ज्ञानरूप पुत्र उत्पन्न करने में सक्षम होती है। वनषंड=जंगल, विविध वासनामय जंगल।

स्वामीजी तीन लोक नांना रस विलसै, अंति काल दुषदाई ॥
तीन लोक आगै सुष स्वामी, सो सुष देह वताई ॥४२॥
अवधू दिष्टि न मुष्टि ध्यांन नहि गाथा, रहै सकल तैं न्यारा ॥
तीन लोक आगे सुष जैसा, ताका वार न पारा ॥४३॥
स्वामीजी सो सुष कहो किसी विधि लाभै, करम न व्यापै काया ॥
जन हरीदास सतगुर कूँ पूछै, समझावो गुरराया ॥४४॥
अवधू आत्म के असथांन लहीजै, मन थिर है तो पावै ॥
परसत सवै देह गुण त्यागै, पीव मैं प्राण समावै ॥४५॥
स्वामीजी आत्म का अस्थांन कहां है, जा मैं अलष लुकाना ॥
मैं स्वामी सतगुर सति पूछौं, तुम हो बहौत सयाना ॥४६॥
अवधू सवद जहां तैं उठि चलत है, उलटा पवन समाई ॥
सौंज सहित सुषमनि नदी, तहां मिलै जो जाई ॥४७॥
स्वामीजी मन मतिवाला प्रेम का, पीवै प्रेम अघाई ॥
रोम रोम तन मन मिलै, एकमेंक सुष थाई ॥४८॥
अवधू अंतरि कुछ दीसै नहीं, ज्यूँ जल जल ही समाइ ॥
तव हरि हरिजन एक है, जन हरीदास सति भाइ ॥४९॥

॥ इति हंसपरमोध जोगग्रन्थ समाप्त ॥

पाठभेद—कौं–१ । प्रसत–१-५ । लुकांणा–१ । वहुत–१ । सियांणा–१ । महैन–२ । सहत–५ । विलै–३ । येक–२ ।

शब्दार्थ—गाथा=कथा, कहानी । लुकाना=छिपा, अदृश्य । सयाना=प्रवीण, स्यांणा, परम विज्ञ । सौंज सहित=रेचक, पूरक, कुंभकसहित-प्राणायामादि सहित । अघाई=तृप्त होकर, धाप कर ।

॥ अथ तिथि जोगग्रन्थ ॥

ग्यान सबद सति अरथ विचारै , मावस मन का मेल उतारै ॥
सुरति संवाहि बसै निरदावै , सांच न छाड़ै झूठ न भावै ॥
मैं तैं मोरचा मोटा मांही , तिल तिल काढ़ै राषै नांही ॥
*सोलह कला समझि घरि आवै , अरधै उरधै ताली लावै ॥
करम कलणि कांने करै , ब्रह्म अगनि मैं जारि ॥
जन हरीदास मावस बरत , कोई करसी साध विचारि ॥१॥
पड़वा पलटि सुपह पथ जांणै , मूल मता मैं मनसा आंणै ॥
भरम न भेदै मन न डुलावै , गुर परसाद परम पद पावै ॥
×सतजुग आदि जागि जुगि जीवै, पवन निरोधै अंबर धोवै ॥
जुरा न व्यापै जुगि जुगि जीवै, सहज समाधि सदा रस पीवै ॥
पड़ता पासा छाड़ि दै , बैसै अजर जहाज ॥
जन हरीदास पड़िवा सुपह , सकल तिथ्यां सिरिताज ॥२॥
बीज बिवधि विष बांण चुकावै , मन गहि पवन गगन मठ छावै ॥
यहु पण साहि पिसण पड़ि पैलै, अगम उजास तहां मिलि षेलै ॥
हरि सुष हेरि हजूरि बतावै , आनंद मैं गोविंद गुण गावै ॥

पाठभेद—अर्थ-५ । मुरचा-२-३ । सोल्ह-५ । गुरु-१ । तिथां-५ । वांणि-१ । गगनि-१ । इहु-२ । मिल्य-२ ।

शब्दार्थ—संवाहि=संभाल, वृत्ति को अन्तर्मुख कर । मोरचा मोटा=भेदभावना का प्रबल सामना । करम कलणि कांने करै=सकाम कर्म के दलदल को दूर करे । मूल मता में=तत्वविचार में वृत्ति को लगावे । बीज=द्वितीया तिथि । विष बांण=जहरीले तीर, विषय-वासनामय विषाक्त बाण । पण=व्रत, प्रतिज्ञा । साहि=साहूकार, श्रेष्ठ पुरुष, दृढ साधक । पिसण=लुटेरे, डाकू, काम-क्रोधादि । हजूरि=सम्मुख ।

* सोलह कलामय चन्द्रमा ब्रह्मरन्ध्रगत मध्यबिन्दु में है, उसको समक्ष जान वहीं प्राण का घर है, प्राण को वहां ला-समाधिस्थ हो ।

× जो तत्व सतयुग आदि युग युगों में पहिले है, उसीको सचेत हो सम्पूर्ण विश्व में देख प्राण का प्राणायाम द्वारा निरोध कर समाधि-साधना में लगे ताकि हृदयाकाशरूप अम्बर स्वच्छ हो-निर्मल हो ।

कांम न झलकै कलपि न जांणै , ये नौ नाथ हाथ मैं आंणै ॥
बीज इसी विधि कीजियै , ज्यूँ सति मानैं साह ॥
साहिब सूँ मिलि पेलिये , आगै वसत अथाह ॥३॥
तीजस त्रिसना तिल तिल षांडै , तीन गुणां आगै पग मांडै ॥
*इला पिंगुला सुषमनि मेलै , वैसि निरंतरि चौपड़ि पेलै ॥
साध मंडली साथि विराजै , अनहद नाद अषंडित बाजै ॥
चंद सूरि समि अरथ विचारै , धुनि मैं ध्यांन कँवल दल धारै ॥
तीज रमत पींव तैं डरूँ , पिव रूठां कहां ठौर ॥
जन हरीदास आनंद भया , छूटि गया भ्रम और ॥४॥
चौथिस च्यारचों चोट चुकावै , मंझि सुदेस वसै सुष पावै ॥
करज न काढ़ै मूल न हारै , आंन न जाचै राम जुहारै ॥
आइ सारि समझि घरि आवै , यहु सुष साहि सदा सुष पावै ॥
करम कपाट झड्या सब ताला , आतम अंतरि जोति उजाला ॥
चौथिस चौपड़ि पेलिये , दोइ दोइ चौट चुकाइ ॥
तीन तजि सारी मेल्हिये , चौथा घर मैं जाइ ॥५॥
पांचै पांच पलटि पहिलावै , वैसि दुलीचै लोग बुलावै ॥
साजन सैंण पिसण को नांही , अरथ अबीर पड्या सब मांही ॥
ग्यांन गुलाल केसरि वहौ करणां , अंग लगाइ चलो हरिचरणां ॥

पाठभेद—ए-३-४ । ज्यौं-१ । स्यूँ-१ । त्रिष्ना-३-४ । डरौं-१ । च्यारूं-५ । वहु-१ ।

शब्दार्थ—कलपि=तरस, लालायित । वैसि=बैठ, स्थिर हो । साध मंडली= दैवी सम्पत्तिगुणसम्पन्न । च्यारचों चोट=काम, क्रोध, लोभ, मोह का वार । मंझि सुदेस=शुद्ध हृदयदेश के मध्य । दोइ दोइ=भेद भाव, कामादि दो दो के द्वन्द्व मेरा-तेरा । तीन तजि=तीनों गुण, तीन अवस्था जागृतादि । पांच पलटि पहलावै=पांचों ज्ञानेन्द्रियों को पलटि अन्तर्मुखकर आत्मा में लगावे । दुलीचै=गलीचे, जाजम, हृदय-प्रदेश में बैठ । साजन=हितैषी, शील, सत्य, सन्तोषादि । पिसण=चोर लुटेरा, काम-क्रोध-अहंकारादि । अरथ=मतलब, सत्यज्ञान ।

* इडा, पिंगला, सुषुम्ना तीनों को सम कर त्रिकुटि-भ्रूमध्य स्थान में लावे ।

सूकड़ि समता उरि घसि लाई , सषी सहेली साथि बुलाई ॥
पाँचै पीव परसण भया , भेद सहित भगवंत ॥
रासमंडल मैं होत है , घरि घरि राग वसंत ॥६॥
छठि छक्या छक लाधा भारी , महलि पधारे देव मुरारी ॥
×गंघा उलटि जमन में आँणी , वाहरि भीतर एकै पांणी ॥
गिरवर गरक गया ता मांही , अगम अथाह थाह कछु नांही ॥
रूप अरूप मोह नहिं माया , निज निरलेप निरंजन राया ॥
चाँदणि छठि आई सषी , मिटि गया मोह अंधार ॥
अरस परस मिलि षेलिये , अब औसर याह वार ॥७॥
सातैं समझि पड़ी सुष पाया , आनंद सहित अरथ मैं आया ॥
*निरभै सीर नीर निज नेरा , ता सुषि लागि रह्या मन मेरा ॥
वहौत दिनै तैं या रुति आई , वस्त अथाह न जाइ छिपाई ॥
जाँणि वूझि ऐसा कछु कीया , अब हरि हम अपणाँ करि लीया ॥
सातैं सातौं समि सदा , निजपुर नगर निवास ॥
विथि वादल वरसा सदा , छह रुति वारह मास ॥८॥

पाठभेद—ल्याई-५ । सहैत-२ । या-३ । वहुत-१ । सातूँ-२ ।

शब्दार्थ—सूकडि समता=समता रूपी चन्दन । घटि छक्या छक लाधा भारी= अन्तःकरण तृप्त हो गया—भारी मौका मिला । जांणि वूझि=सोच-समझकर । सातों= ज्ञानेन्द्रियां पांच, मन, प्राण—समि सदा-सम स्थिति में बनाये रहे ।

× गंगा उलटि मन को अन्तर्मुख कर जमन में—प्राण में आँणी-मिलावे । मन-प्राण दोनों सुस्थिर हों तो पिंड-ब्रह्मांड में व्याप्त परमानन्द रूप एक ही पानी की प्रतीति हो । जब परमानन्द की प्राप्ति हुई तो उस अगम अथाह आनन्दसमुद्र में अहंकाररूपी महापर्वत गरक हो गया—विलीन हो गया ।

* कालादि भयों से रहित सत् चित् आनन्दरूप ब्रह्म की सीर—प्रवाह से अमृत नीर प्रवाहित है, वह आत्मा के अत्यन्त समीप ही है ।

आठैं आठ काठ करि कांनैं, छल वल छाड़ि इहै हरि मानैं ।।
जंबुकि स्वान सिंघ दोइ मारया, हिरणी आगे चीता हारया ।।
मूसा के मुषि चढ़ी मंजारी, तीतरि बाज करां वींचि धारी ।।
×पंष सवांहि समद मैं पैठा, आला अटल तहां जाइ बैठा ।।
आठैं अरथ विचारिया, फूली सब वन राइ ।।
भंवर कंवल रस षात है, पर दोइ दई उड़ाइ ।।६।।
आज सषी नैं नींद न आवैं, जागि न सोऊँ कंत रिसावैं ।।
वंकनालि मैं गरजै बाई, सेझ सुहाग मिलै सुषदाई ।।
वरसै धरणी गगन रस आवै, रांम भरतार भजौं मोहि भावै ।।
परम उदार सकल सुषरासी, अगम अलेष अगह अविनासी ।।
नौ द्वारौं मन ना वहै, दसवैं रह्या समाइ ।।
जन हरीदास आतुर मिटी, आनंद मैं दिन जाइ ।।१०।।

पाठभेद—स्यंघ–२। संवारि–२। वण–३। मजू–२-४। आणंद–१।

शब्दार्थ—आठैं आठ काठ करि कानें=आठों प्रकार के (रूप, धन, विद्या, पदादि) अहङ्काररूपी काठ को दूर करो। जंबुकि=आत्मनिष्ठ वृत्तिरूप शृगाली ने। स्वान सिंघ दोइ मारया=कामवृत्तिरूप कुत्ते को और क्रोधरूपी सिंह दोनों को मार लिये। हिरणी आगे चीता हारया=स्थिर बुद्धि रूपी हिरणी से चञ्चल मनरूपी चीता हार गया। मूसा के मुषि=ज्ञानरूपी चूहे के मुख। चढ़ी मंजारी=ममतारूपी मंजारी-बिल्ली खत्म हुई। तीतरि वाज करां वोचि धारी=संतोषरूपी तीतर ने लोभरूपी बाज को अपने पंजे में दबोच लिया है। वंकनालि=सुषुम्ना मार्ग। वरसै धरणी=सुरतिवृत्ति आत्मनिष्ठ हो एक रस से बरस रही है। गगन=दशम द्वार–ब्रह्मरंध्र में निरन्तर अमृत रस का स्राव हो रहा है।

× निश्चल शुद्ध मन विवेक–विचाररूपी पंख संभाल–ब्रह्म समुद्र में प्रविष्ट हुआ–अटल स्थान में जा बैठा। पर दो दई उड़ाइ=द्वैतभावमय दोनों परों को उड़ा दिया–हटा दिया।

दसमी देव दया करि आया , सीतल नैंण वैंण सुष पाया ॥
जल मैं कुंभ कुंभ मैं पांणी , सकल वियापी यूँ सति जांणी ॥
+अकलि उजालै मेर उड़ाया , ×भंवरां का रस वेलि षाया ॥
ग्यांन निजरि भरि देषैं लोई , सव घटि राम और नहिं कोई ॥
दसमी हरि दरसण दिया , हरि परम सनेही पीव ॥
सव सेझां सांई वसै , जागि न देषै जीव ॥११॥

ग्यारसि करत वहौत दिन वीता, एकादसी न जांणै रीता ॥
जव लग निज तत निजरि न आवै, दुवध्या षेल वहौत दुष पावै ॥
कंचन छाड़ि काच वसि काचा , षड़चर षिम्यां नही सति वाचा ॥
या सुष वा सुष अंतर भारी , कहां दिनकर कहां राति अंधारी ॥
अंतरि धुनि एकादसी , वंकनाल रस षाइ ॥
मन उनमनि लागा रहै , नांना नेह चुकाइ ॥१२॥

पाठभेद—नैन वैन–३-५ । भौंरा–१-५ । सकल–५ । वहुत–१ । षिमा–१-५ । सत्य–१ । सत–५ ।

शब्दार्थ—जल में कुंभ कुंभ में पांणी=जैसे तालाब, कुण्ड, कूण्डी आदि में जल भरा है उसमें से घड़ा भरते हैं तो घड़ा जल में डूबता है, घड़े में भी जल है–मतलब घड़े में तथा घड़े के बाहर एक ही जल है। इसी तरह व्यापक चेतन घट रूप शरीर में तथा बाहर व्याप्त है। सव सेझां=सब पलंगों पर, घट-घट में। एकादसी=एकरूपता, अनन्य दशा। रीता=रीति, तरीका। दुविध्या=संशय में पड़, अनिश्चित स्थिति। कंचन=आत्मचिंतन रूप सोना। काचा=कच्चा, अदृढ़, अस्थिर मति। षडचर=पशुतुल्य। षिम्या=क्षमा।

+अकलि उजालै मेर उड़ाया=अकलि–कलन रहित व्यापक ब्रह्म का घट में साधना से प्रकाश कर संशयरूप मेर–पहाड़ को उड़ा दिया, हटा दिया।

× मन रूप भँवरे का जो कि इन्द्रियों द्वारा विषय रस ग्रहण करने में संलग्न था, उसके रस को निश्चल वुद्धि रूपी बेलि ने खा लिया–मन-इन्द्रियों को विषयों से हटा अन्तर्मुख कर आत्मनिष्ठ कर दिया।

*बारसि दांन पुनि क्यों कीजै , मनिष जनम धरि यहु सुष लीजै ॥
गरब गुमांन षरचि निरदावै , अगम अगाध सहज सुष आवै ॥
सत रज तम गुण मोह पसारा , यह दत द्यौ नर जागि संवारा ॥
पति सूँ प्रीति जीति गुण दूजा , हाथ पसारि करौ यह पूजा ॥
हरि सुमिरण हिरदै सदा , पाप पुनि दोइ दांन ॥
बारसि तहां मिलि षेलिए , जहां न दूजी आंन ॥१३॥

तेरसि तहां बसै मन मेरा , नहिं सो दूरि नहीं सो नेरा ॥
ना कोउ लहै न काहु लाधा , हिंदु तुरक दोऊं पषि बांधा ॥
×वेद कतेब कथै रुचि मांनी , +यहु पण साहि रहे अभिमांनी ॥
अपणै अपणैं रसि मतिवाला , सब जग छक्या विरध काहा बाला ॥
तेरसि ताहि पिछांणि रे , निर्कोट निरंजन राइ ॥
परम सनेही संगि बसै , प्राण तहां मठ छाइ ॥१४॥

चवदसि रांमचरण नहिं छाडूँ , जुवारी ज्यों तन मन वाडूँ ॥
दरसण देषि रेष तजि राई , जहां पड़दा तहाँ आन सगाई ॥
रटताराम अट्या अरि हार्या , ÷मूँवा जिवाया जीवत मार्या ॥

पाठभेद—वृध–५ । न्यरंजन–२ । प्रम–१ । छाड़ौं–१ । वाड़ौं–१ ।

शब्दार्थ—निरदावै=निष्पक्ष । दत्त=वैभव, सम्पत्ति । वाडूं=वारूँ, न्योछावर करूँ, दाव पर लगाऊँ । अट्या=अटका, मन स्थिर हुआ ।

* बारसि दांन पुनि क्यौं कीजै=कर्मबन्धन के कारण दान-पुण्य क्यों किये जायँ ।

× वेद कतेव कथै रुचि मांनी=वेद-कुरान के कथन में विश्वास करने वाले ।

+ यहु पण साहि रहे अभिमांनी=जो साधक इसी हठ में–इस प्रतीक्षा में रह गये कि काम्य-कर्म ही जीवन का लक्ष्य है, वे सापेक्षिक धर्म, जाति आदि के ही अभिमान में उलझ गये ।

÷मूँवा जिवाया जीवत मार्या=वृत्ति, विवेक, बुद्धि आदि जो मृतवत्–निष्क्रिय थे, उनको प्रबुद्ध किये, जागृत किये, सक्रिय किये । मन, इन्द्रियाँ जो विषय-भोग में लग जीवित थे, सक्रिय थे, उनको मारा–विषय–वासना से छुड़ा अन्तर्मुख किया ।

मन निहचल निरभै निधि मांही, जहां तहां राम दूरि हरि नांही ॥
चौदसि चितवणि सब मिटी, अणबोल्या कछु गाइ ॥
जन हरिदास चंचल गया, निहचल रह्या समाइ ॥१५॥
सुर तैंतीस घेरि घरि आया, ❋ पून्यौं मन फिरि मन ही समाया ॥
सकल समीपि सकल तैं न्यारा, पूरण परमानंद पियारा ॥
दुरमति दूरि दूरि हरि नाहीं, सबतैं अगम बसै सब मांही ॥
परमसिंध सुष वार न पारा, ता सुषि लागा प्राण हमारा ॥
जन हरीदास सोलाह सुतिथि, सदगति सुपहि लगाइ ॥
पून्यूँ पीव परसण भया, अंतरजामी आइ ॥१६॥

॥ इति तिथि जोगग्रन्थ समाप्त ॥

॥ अथ लघुतिथि जोगग्रन्थ ॥

मावस मन उलटा चढ्या, कला सँवारै चंद ॥
फिरि लागा उनमनि सूँ, छूटि गया सब दंद ॥१॥

पाठभेद—नृभै–५। चितवनि–१-५। पून्यूं–४-५। पूरन–२। सुपैह–१-५। दुंद–१।

शब्दार्थ—चितवणि=याद, स्मृति, विषयचिन्तन। अणबोल्या=बिना शब्द किये, ध्यानवृत्ति से स्मरण। सुर तैंतीस=आठ वसु=(पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, सूर्य, चन्द्र, तारे) एकादश रुद्र=(ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-मन) बारह आदित्य= प्रति राशि प्रतिमास। इन्द्र और प्राण। दश इन्द्रियाँ, दश प्राण, पांच अन्तःकरण, आठ प्रकृति।

❋ पून्यौं मन फिरि मन ही समाया=स्थूल मन भोग–वासनामय बदल कर आत्माभिमुख सूक्ष्म मन में समा गया–बदल गया तब पून्यों का प्रकाश व्याप्त हुआ।

१ ली साखी—मावस मन–तमोमय मन भोगों से विमुख हो उल्टा चढ्या– अन्तर्मुख हुआ आत्मनिष्ठ हुआ। चन्द्रमा की तरह प्रकाशमय मन अब शील, सन्तोष त्याग, वैराग्यादि कलाएँ संवार रहा है। फिर उनमनि–सहजावस्था में बदल सब आठ द्वन्द्वों से–कालकर्मादि से मुक्त हो गया है।

पड़िवा पष पर सब तजी , सु तौं और ही वाट ॥
गगनमंडल आसण किया , लांघ्या औघट घाट ॥२॥
वीजस वीज न षोइये . राषौ वीज अछीज ॥
जन हरीदास गरजै गगन , सहजि चमकै वीज ॥३॥
तीज त्रिगुण रस घेरि करि , ब्रह्म अगनि मैं जारि ॥
दौं लागी ×दरिया जलै , तुरिया भेद विचारि ॥४॥
चौथि चाह चक्रत भया , उलटी तालो लाई ॥
गंग जमन मधि पैसि करि , मीन मगर गई षाई ॥५॥
पांचैं पांचौ फेरि मन , सुरति सहजि घरि धारि ॥
मन तारामंडल छेदि गया, उलटी पंथ सँवारि ॥६॥
छठि अछिप घट मैं छिप्या, पूरण परमानंद ॥
परसि परसि पावन भया , जहां तहां आनंद ॥७॥
सातैं सर ऊसर भया , पहमि पलटि गत नीर ॥
मछली वसै आकास मैं , लगी प्रेम की सीर ॥८॥
आठैं अरि सब परिहरि गया, असलि उदै भया ग्यांन ॥
आठ पहर इम्रत सुधा , वाज पियालै पांन ॥९॥

पाठभेद—फेरिकै–५ । अग्नि–१ । चक्रित–१ । वैसिकै–५ । पांचू–२ ।

शब्दार्थ—वाट=राह, साधनमार्ग । वीजस वीज न षोइये=वीज-द्वितीया तिथि वही सफल है जिसमें आत्मचिंतन रूपी बीज को भुलाया न जाय। वीज=बिजली, ज्ञानज्योति । दौं लागी=लाय लगी । चक्रत=चकित । मीन मगर गई षाई=स्थिर बुद्धि रूपी मीन–मछलीनें–मन रूप मगर को खा लिया विषयों से हटा आत्माभिमुख कर दिया । पाँचौ=पंच ज्ञानेन्द्रियां । तारामंडल=गगनमंडल, दशम द्वार । अछिप= नहीं छिपने वाला, प्रत्यक्ष । सर=सरोवर, विविध वासनामय तालाब ।

८ वीं साखी—सातैं सर ऊसर भया=वासनामय सरोवर ऊसर हो गये-सूख गये । पहमि-भावनामय भूमि बदली, त्रिष्णा तरल सूख गया, सुरतिवृत्ति रूपी मछली हृदयाकाश में पहुँच आत्म प्रेम की सीर में लग गई ।

× दरिया जलै=विविध भोगों की भावना का समुद्र जलने लगा ।

+ नौंमी नवैं सँवारिये, अनड़ न मोड़े अंग ॥
मन फेरयां तन फिरत है, मनिष जनम कौ भंग ॥१०॥
दसमी देह दुरंग गढ़, दिह दिसि सौर लगाइ ॥
मेवासी करसा भया, मिल्या रैति होइ आइ ॥११॥
एकादसी अभंग है, जहां दुवध्या तहां दोइ ॥
जन हरीदास एसा वरत, जांणै विरला कोइ ॥१२॥
दोइ राह तजि द्वादसी, जोगी देष्या जागि ॥
ब्रह्म अगनि मैं घरि किया, रह्या निरंतर लागि ॥१३॥
तेरसि तन मैं परम तत, पांच तत ते और ॥
वसै कहां नांही कहां, जहां तहां सब ठौर ॥१४॥
चौदसि मन चौथी दसा, गया लोक तज लाज ॥
चंद मिल्या आनंद सू, अनहद सबद अवाज ॥१५॥
पून्यूँ पष पूरा भया, सहजि सरया सब काम ॥
जन हरीदास आतम अंतरि, परम सनेही राम ॥१६॥

॥ इति लघुतिथि जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

पाठभेद—व्है–१। येकादसी–२। दुविध्या–२। तज्य–२। चवदसि–१।

शब्दार्थ—एकादसी अभंग है=साधना से प्राप्त सहज दशा अभंग है, अडिग है। दुविध्या=भेदवृत्ति, अनिश्चित स्थिति। दोइ राह तज द्वादसी=द्वादसी वही सार्थक है जब दोइ राह दो-मार्ग हिन्दू–मुसलमान, प्रवृत्ति–निवृत्ति के विकल्प को छोड़े, एक ही मार्ग अपनावे। ब्रह्म अगनि=ब्रह्मप्रकाश। परम तत=चेतन तत्व, श्रेष्ठ सारमय। चंद मिल्या आनंद सू=नूरमय शुद्ध मन आनंद रूप ब्रह्म से मिला।

+ नौमी नवें सँवारिये=नौमी को नवें पांच ज्ञानेन्द्रियों, चारों अन्तःकरणों को सँवारिये–स्वच्छ करिये, चेतन तत्व में लगाइये।

११ वीं साखी—दशमी तिथि कब सफल हो, जब इस देहरूपी दुरंग गढ़, पखा पखी, भेद–भावनामय, प्रवृत्ति–निवृत्ति रूप गढ़ के चारों ओर विवेक–विचार-मय दारु बिछा दी जाय इससे वागी मन जो शासक-सेनापति रूप था, वह अब रैति-प्रजा बन, कृषक हो आध्यात्मिक खेती में लग जाय।

॥ अथ चालीसपदी जोगग्रन्थ ॥

आतम ग्वालणि हे सषी , हरि भजि विलम न लाइ ॥
निरभै नांव निरंजनां , तूँ तासूँ ताली लाइ ॥१॥
अवगति की गति लषै न कोई, साधां सुष कूँ गाया ॥
गगनमंडल मैं गुफा सोधि लै, तहां निरंजन राया ॥२॥
मछ रूप करि वेद उधारया, ऐसा अचरिज कीया ॥
भगति हेति हरि आप पधारया, लै ब्रह्मा कूँ दीया ॥३॥
*भूला तोले कूप सिंधु सूँ , कूप सिंध क्या कीजै ॥
कूप कलै सागर अविनासी , अविनासी रस पीजै ॥४॥
कूरम रूप मथ्या मैंणारंभ , मथि मधकीटक मारया ॥
अकल आप अविनासी आया, जन का कारिज सारया ॥५॥
अविनासी कहूँ आइ नहिं जावै, हम देष्या सब मांही ॥
जठर अगनि तैं रहे निराला , लिपता जाण्यां नांही ॥६॥
भगति हेत वाराह विधूँस्या, धरणि दाढ़ धरि राषी ॥
हरि आपणां आप निवाजै , स्यौ सनकादिक साषी ॥७॥
स्यौ सनकादिक अपणां सुष कूँ, उनमनि ताली लावै ॥
मरजीवा हीरा ले आवै , वार पार नहिं पावै ॥८॥
जन प्रहलाद बहौत दुष पाया, छूटी नांही ताली ॥
तब हरि नरहरि रूप बनाया, जन परतग्या पाली ॥९॥

पाठभेद—ग्वालनि-१ । तास्यौं-१ । इचरिज-२ । विधौंस्या-१ । प्रतंग्या-१ ।

शब्दार्थ—तोले=तुलना करे, बराबरी करे। कलै=क्षीण हो, नष्ट हो। मैंणारंभ=समुद्र। वाराह=वाराह अवतार। विधूंस्या=नाश किया, मधुकैटभ का संहार किया। निवाजै=प्रसन्न हो, महरवान हो। स्यौ=शिव। मरजीवा=समुद्री गोताखोर। ताली=लौ, लगन।

* कूपसदृश अवतार सिंधु समान व्यापक ब्रह्म को भूले-बेसमझ मनुष्य बराबर कहते मानते हैं पर उनकी बराबरी कैसी? कूप अवतार क्षीण सत्ता होते हैं, नष्ट हो जाते हैं। समुद्र रूप व्यापक चेतन अविनाशी है, इसलिये सगुणोपासना में न उलझकर निर्गुण उपासना द्वारा ब्रह्मानन्द रस का पान करिये।

नरहरि रूप कहौं क्यूँ हरि का , तेजपुंज परकासा ।।
माई बाप कुल नांही वाकै , सुनिमंडल मैं वासा ।।१०।।
बलि राजा पूरा जिग कीया , तब इंद्र हेत हरि आया ।।
पांव पतालि सीस असमाना, लंब तड़ंग कहाया ।।११।।
कहन सुनन की या विधि नांही, कह्या सुन्या बनि नावैं ।।
हरि अपार पार को नांही , अगह गहण क्यूँ आवैं ।।१२।।
परसराम षत्री जब आया , तब दैतां बल कीया ।।
असुर विधूंसि हरि विप्र निवाज्या, भगतां कूँ सुष दीया ।।१३।।
भगत भला जो प्रीति पिछांणैं , मन परफूलत नाचै ।।
हरि हीरा हिरदै मैं राषै , कौड़ी रूप न राचै ।।१४।।
रामचंद्र बाण जब लीया , सुर तेतीस छुड़ाया ।।
रांवण मारि लंका गढ़ तोड्या , राज बभीषण पाया ।।१५।।
रमतारांम और है भाई , समझि देषि मन मांही ।।
षुध्या त्रिसा रोग नहिं व्यापै, वार पार कछु नांही ।।१६।।
हरि गोकल मैं ग्वाल नचाया, निरविष कीया काली ।।
कंस केस चांणौर पछाड्या , मथुरा मैं बनमाली ।।१७।।
ना वनि वसै न मथुरा आवै, अलष लष्या नहिं जांही ।।
अवरण वरण ऊँच क्या नीचा, परपूरण सब मांही ।।१८।।
बुध अवतार महाबल कीयौ , अघासेनि दल मारया ।।
भगति हेति हरि ऐसे आया , भू का भार उतारया ।।१९।।

पाठभेद—प्रकासा–१-५ । ज्यग–२ । तड़ाक–१ । कहण-सुणण–१-५ । सुण्या–१-५ । वंणि–१-५ । न्यवाज्या–२ । प्रफुलति–१ । कुछ–१ । गोकुल–१ । चांणूर–४-५ । जाई–१ ।

शब्दार्थ—असमाना=आकाश, आसमान । कौडी रूप न राचै=भौतिक नाशवान् पदार्थों में आसक्त न हो । निरविष=विषरहित । काली=यमुना का कालियादह । अघासेनि=पापों की फौज का संहार किया ।

भू कूँ भार न जाण्यां कोई , जाकै हरि रषवाला ॥
हम तो हरि ऐसें करि देष्या , वृद्ध तरुण नहि वाला ॥२०॥

वेद कहै हरि सांभलि आवै , सूरज संकट निवारण ॥
निहकलकी औतार कहावै , कली कालिग कूँ मारण ॥२१॥

हरि कूँ कलंक न जांण्या कोई, कलंक न कोई लागै ॥
हरि अगाध ऐसे करि देषो , वांवै दाहिणैं पीछे आगै ॥२२॥

निराकार आकार एकही , दुविध्या जाणीं नांही ॥
हरि थोड़ा कैसे करि देषूँ , है साहिव सव मांही ॥२३॥

तुम भूले औतार न जांण्या , साधां का सुषदाई ॥
निराकार कूँ सोई सेवै , जो सहजै सुंनि समाई ॥२४॥

*हम भूले तुम पढ़ि पढ़ि वूड़े , सवद सुणैं कहा माषै ॥
उतपति पावक परलौ व्है तव , जीव कहां ले राषै ॥२५॥

निरमल देव सदा निहकांमी , नांव निरंजन राया ॥
यो ही पावक यौ ही परलौ , सव याही मांहि समाया ॥२६॥

पाठभेद—अवतार–१ । न्यराकार–२ । येकही–२ । अवतार–१ । प्रलो–१ । होइ–१ । नृमल–४ ।

शब्दार्थ—सांभलि=संभलकर, सुमरण के साथ । दुविध्या=दो रूप, द्वैतपन । सेवै=पूजै, ध्यावे, ध्यान करे । सहजै=अनायास, आसानी से । पावक परलौ=वडवाग्नि द्वारा प्रलय हो ।

२१ वीं साखी—जिस शक्ति ने पानी में–गर्भ पर आवृत जलीय स्थिति में गर्भपोषक अग्नि को रखा, उसी शक्ति का सम्पूर्ण संसार में रजमा है–करामात है, प्रभाव है । उसी महाशक्ति में सम्पूर्ण प्रकृतिजन्य समग्र दृश्य पदार्थों का विलय होता है । उस महान् सर्वदा रहने वाली शक्ति को न जान अवतारादि में भ्रान्त होना अज्ञान है ।

* हम भूले तुम पढि पढि वूडे=साधक वाचक ज्ञानी से कहता है कि हम निर्गुण उपासना में लग भूल करते हैं तो तुम केवल विना–विचार के शास्त्र पढ़ उनका रहस्य जाने विना अज्ञान में डूब रहे हो ।

साहिब अधर धर्‌या सब दूजा , मिलता जांण्या नांही ॥
हम कूँ कहो पढ़ो समझाओ , आसंक्या मन मांही ॥२७॥
चौदा लोक रच्या जिनि बाजी , सो बाजीगर नहिं पाया ॥
उतपति पावक परलो ह्वै तब , सागरि जाइ समाया ॥२८॥
परलौ कहौ कहां है स्वामी , ज्यूँ याह आसंक्या भागै ॥
घटि घटि जठर अगनि का बासा, घट घट मांही जागै ॥२९॥
घट तौ पांच तत का मेला , रहता जांण्या नांही ॥
जठर अगनि का बासा क्यौंरौ , आसंक्या मन मांही ॥३०॥
जठर अगनि पांणी मैं राषी , कुछ रज मां जुग मांही ॥
ता रज मैं सारा जुग छीजै , रहता जाण्यां नांही ॥३१॥
छीजै जैसा उपजै तैसा , घटता जांण्या नांही ॥
तुम अगाध बोछी मति मेरी , याह आसंक्या मन मांही ॥३२॥
मैं सब मांही सकल तैं न्यारा , जे कोइ सतगुर सरणैं आवै ॥
आपा मानि तहां मैं नांही , म्रतग ह्वै सोई पावै ॥३३॥
आपा बड़ाक ना तुम्ह स्वामी , आपै का भै कीया ॥
बाजी सबै तुम्हारी दीसै , तुम ही आपा दीया ॥३४॥
कहण सुणण की या विधि नांही, कह्या सुण्यां बणि नावै ॥
पीर जति अवतार अवलिया , ऐसा रूप दिषावै ॥३५॥
रूप कहो कैसा है स्वामी , हम तौ देष्या नांही ॥
अब बंदे कूँ रूप दिखाओ , दरसण देहु गुसांई ॥३६॥

पाठभेद—चवदा-१ । जब-४ । सम्रि-१ । मिरतग-१ । मृतग-५ ।

शब्दार्थ—आसंक्या=आशंका । छीजै=नाश हो । उपजै=पैदा हो । बोछी=अल्प, थोड़ी । म्रतग=अहंकार रहित, आपा छोड़, जीवन्मुक्त । बडाक=महान्, विशाल ।

३२ वीं साखी—छीजे जैसा उपजे तैसा=तू न उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है नहीं घटता-बढ़ता है । तेरे इस एक रस रहने वाले रूप को कैसे समझे ? यह शंका कैसे निवृत्त हो ?

परिहरि पाप जाप जपि अजपा, नांव निरंजन लीजै ॥
त्रिवेणी तटि ताली लागी, ता आनंद मन छीजै ॥३७॥
आनंद कहौ किसी विधि लाभै, वहौड़ि न सांसो सौषै ॥
ब्रह्म अगनि मैं वैसि सहज घरि, आतम तरवर पोषै ॥३८॥
घर ही मांही दरस परस है, काया मंज्या पावै ॥
सतगुर सवद साच करि पकड़ै, ता डौरै लागा आवै ॥३९॥
रामसनेही चिती चढ्या, दूजा देषण चंग ॥
हरि रंग चढ्यौ न ऊतरै, उड़ि उड़ि जाइ पतंग ॥४०॥
जब हरि हीरा करि चढ़ै, मेल्है रंक छिपाइ ॥
जन हरीदास हरि अवट है, कोई गाफिल षोटा षाइ ॥४१॥

॥ इति चालीसपदी जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

॥ अथ चौदापदी जोगग्रन्थ ॥

सतगुर का चरणां चित धरिहूँ, अनिन्न भृगति सोई मैं करिहूँ ॥
गुर विन ग्यांन न पावै कोई, जो पावै तौ नृमल न होई ॥
धाग धाग करि गुर सुलभावै, गुर की सुलभि उलभि नहिं आवै ॥
गुर किरपा तैं हरि निधि पाई, जिन पाई तिन वहौत छिपाई ॥

पाठभेद—निरंतर-५। तट-५। च्यती-२। चित-३-५। शिर-१। निरमल-१। ज्यन्य-२। वहुत-१।

शब्दार्थ—लाभै=मिले, प्राप्त हो। ब्रह्म अगनि=आत्मतत्व की ज्योति में। मंज्या=साफ हुए, शुद्ध हुये, मंजकर। चंग=चंगा, सुन्दर, अच्छा। गाफिल=असावधान। नृमल=विशुद्ध, निःसंशय। धाग धाग करि=तार-तार सुलझाकर।

*परगट करैस परगट पैंडा, परगट आइ पहूँचै नेड़ा ॥
पारि पहूँता उलटा ल्यावै, महापुरष तातैं वन छावै ॥
रनि वनि रहे जगत तैं न्यारा, राम भजै सारां सिर सारा ॥
गरव कलणि केता कल्या, तिन का लेषा नांहि ॥
वात चलावै सुरग की, षेलै नरकां मांहि ॥१॥
गुरगमि नहीं दुनी भरमावै, वा निज साहिव की षवरि न पावै ॥
आपै चढ्या करम संग लीया, राम भजन कवहूँ नहिं कीया ॥
राम भजन विन जेती आसा, तेती सकल काल की पासा ॥
करमहीण ऐसा वैरागी, हरि तजि माया मीठी लागी ॥
माया वार पार कछु नांही, तेरू थकित भया ता मांही ॥
भांति भांति करि आड़ी आवै, ता तैं कोई वचण न पावै ॥
एक समैं स्योजी डहकाया, वांसै लाग्या दौड्या आया ॥
माया का बल अनंत है, बचण न पावै कोइ ॥
रे मन! कौड़ी मति गहै, यहु हीरा रूप न होइ ॥२॥
तौ हरि हीरा जौहरी पिछाणै, कौड़ी रूप निकट नहिं आंणै ॥
राम रसांइण सव तैं मीठा, सो तो जुग षारा करि दीठा ॥
तरसि ढूकि पीवै को नांही, गरक भये सव माया मांही ॥
माया मीठी नैडा आंणै, वांह पकड़ि नरकां कूँ तांणै ॥

पाठभेद—प्रगट-१ । महापुरिष-१ । स्वरग-५ । थकत-१-थकति-२ । जुगि-२ । जुग-४-५ ।

शब्दार्थ—गरव कलणि=अभिमान के कीचड़ में । डहकाया=बहकाया, भ्रान्त किया । वांसै लाग्या=माया से मोहित । तरसि ढूकि पीवै को नांही=लालायित हो उस राम-रसायन को ढूकि-लगकर कोई पीता नहीं । नैडा आंणै=समीप ले, मोहित कर अपनी ओर खींचे ।

* आत्मप्राप्ति का जो विज्ञापन करता है-ढिंढोरा पीटता है तो उसका पैंडा-साधना दिखाऊ ही समझनी चाहिये । दिखावे की वासना से साधक सिद्धि के समीप पहुँचकर भी वापिस लौट आता है, स्खलन हो जाता है । इसीसे महापुरुष एकान्त निवास करते हैं, जिससे संगदोषवश साधना में बाधा उपस्थित न हो ।

राम भजन विन विधि व्यौहारा, तेती सकल काल की मारा ॥
नर निवला सवली है माया, धाई नहीं सकल चुणि षाया ॥
रोग वध्या दारू घणी, लावै कोई नांहि ॥
तातैं रोगी वापड़ा, हसतां नरकां जांहि ॥३॥
यो ही भोग रोग होइ आवै, जैसा करै स तैसा पावै ॥
आपै चढ्या अरथ नहिं आवै, सोइ मरै जको विष षावै ॥
मूल मंत्र जांणै कछु नांही, विसहर लै मेल्है गल मांही ॥
जैसा फुनग तैसी है माया, जे षाया तै वहोड़ि न आया ॥
माया कलणि कल्या जुग सारा, है कोई साच बतावणहारा ॥
हरि इंम्रत रस छांड़ि करि, विष कूँ दौड्या जाहि ॥
कूवै राता मींडका, समंद समझि कछु नांहि ॥४॥
गुरगम समझि इसी परि आई, ऐसा अकल सकल पति राई ॥
नांव निरंजन अंतरयामी, हरि निरमल परपूरण स्वांमी ॥
तव सात समंद नहिं भार अठारा, तव था सोई अव सिरजनहारा ॥
गिर परवत नहिं मंडल तारा, समझि नहिं कछू वार न पारा ॥
निराकार आकार विनि, अनंत भवन के राव ॥
ताकूँ भज रे ! प्राणियां, दुर्लभ ऐसो डाव ॥५॥
जोग ध्यांन सूँ जव धुनि लाई, तव हरि एक एक रे ! भाई ॥
पवन न पांणि धरणी आकासा, चंद न सूर देव नहिं दासा ॥
द्योस न राति जाति नहिं कांई, अव याह जाति छोत ले आई ॥
छोति छोति करि जगत भुलाया, तातैं निज कणि हाथ न आया ॥

पाठभेद—ज्यको–२। जिको–५। तिसी–५। समद–१-४। न्यरमल–२। ग्रि–१। येक्येक–२। दिवस–१। जगति–२।

शब्दार्थ—निवला=कमजोर, असमर्थ। धाई नहीं=तृप्त नही हुई, सबको खाती हुई भी माया अतृप्त रहती है। दारू घणी=औषध बहुत है, मायाजन्य रोग की औषध भी अपार है पर करता कोई नहीं। विसहर=कालरूपी सर्प। फुनग=फणी, सर्प। कल्या=फँसा, गरक हुआ। राता=अनुरागी, लालायित। राव=राजा। डाव=दाव, अवसर। छोति=अस्पृश्यता।

परपंच रातौ प्रांणिया, हरि सूँ नांही हेत ।।
परवसि पड्यौ विगूचसी, अब तूँ चेत अचेत ।।६।।
मन परपंच करि वहोत भुलाया, उलभ्या वार पार नहिं पाया ।।
पकड्या झूठ साच नहिं न्हालै, आप जलै औरा कूँ जालै ।।
पार गहै कोई जन पूरा, पूरा गुर का सेवग सूरा ।।
सूरातन की सौंज संभारै, काम क्रोध त्रिष्णा सब मारै ।।
मन की तरंग सकल चुणि षावै, ×उलटै अरहट वाडी पावै ।।
ता वाड़ी मांही पौहप परकासा, तहां निज सेव करै निज दासा ।।
सौंज संवारी भजन कूँ, अब कै यहु आकार ।।
कौड़ी गहि हीरा तजै, ताकूँ वार न पार ।।७।।
जब आकार न था अवतारा, ब्रह्मा सिसटि उपावणहारा ।।
स्यौ सनकादिक नारद नांही, समझि समझि देष्या मन मांही ।।
हरि विण और न देवी देवा, सालिगरांम न क्यूँ ही सेवा ।।
जल ज्वाला परवेस न कीया, विसन वेद पीछे कर लीया ।।
ता वाजीगर की षवरि न पाई, सब वाजी मांहि रह्या उलझाई ।।
कउवा क्यौं मोती चुगै, हंसा तजि कहां जाहि ।।
मान सरोवरि सकल सुष, तहाँ वैठा केलि कराहि ।।८।।
जब दुष सुष था न गुरू नहिं चेला, पांच तत्त का नांही मेला ।।
सीत न धूप राग रंग नांही, जामै मरै न आवै जांही ।।
जब कोई विप्र न था विप्रेला, वो एकाएकी रमे अकेला ।।

पाठभेद—वहुत–१। तिष्ना–१। प्रकासा–२-४। इहु–२-४। सिष्टि–१-३। देई–१। विष्णु–१। प्रवेस–१। रहे–५। झूठा–२। वोह–१। येकायेकी–२।

शब्दार्थ—विगूचसी=दुःख भोगेगा। न्हालै=देखै। जल ज्वाला=जन्म तथा मृत्यु वाले अवतार परब्रह्म के नहीं है। केलि=कल्लोल, खेल। विप्रेला=ब्राह्मणपन, जाति–परम्परा।

× उलटै अरहट वाडी पावै=मन को अन्तर्मुख कर वृत्तिरूप वाड़ी को पावे वृत्ति को सुदृढ़ बनावे।

वा कै नांही रूप न रेषा, अब कछु रूप तमासा देषा ॥
*रूप रूप कूँ रसि रसि गावै, ×रूप चल्या ताकी सुधी न पावै ॥
निराकार हरि निरमला, नांव निरंजन देव ॥
अब जिनि भूले प्रांणिया, तूँ रहता कू सेव ॥९॥
भूला वहौत समझि नहिं कांई, ऊँच नीच की वात चलाई ॥
=आवै जाइस ऊँचक नीचा, * ता मैं ले ले डारे सींचा ॥
आडा ले ले चौका ढारे, पसुवापरी यौं क्यूँ न संभारे ॥
कौंण ऊँच कौंण है सुद्रा, जामैं मरैस एकै उद्रा ॥
गरभवास में जब ले दीया, दिया संकटि रूहि रुचि पीया ॥
पी पी सहिरे रह्या दस मासा, अब कछु ऐसा कहै तमासा ॥
कहणी सुणणी दूरी करि, अंतरि षोट न राषि ॥
तूँ हरि भजि रे! प्रांणिया, सुणि साधां की साषि ॥१०॥
कहै सुणै पणि रहणी झूठा, जमसूं रजू रांम सूँ रूठा ॥
ऊँधै मुषि दस मास झुलाया, भजन षोट दै वाहरि आया ॥
×कलि की वाव भषी सुष पाया, आवत समै षसम विसराया ॥

पाठभेद—वहुत–१। येकै–२। ग्रभ–१-५। पिण–१। वाहिर–५।

शब्दार्थ—सींचा=पानी के छींटे देना। पसुवापरी=पशुपना। पी पी सहिरे=माता का रस–रक्त पीकर। रहणी=चरित्र। वोट=आड़। कलिकी=माया की। वाव=हवा। षसम=मालिक, स्वामी।

* रूप रूप कूँ रसि रसि गावै=ईश्वर के अवतार मानकर सगुण उपासना गा-गाकर करता है।

× किन्तु अवतार के प्रतीक मूर्ति या–चित्र को हटा लें तो फिर उस सगुण अवतार की खबर कैसे पावे।

= आवै जाइस ऊँचक नीचा=अस्पृश्यता मानने वाला औरों से स्पर्श न हो, इसलिये आते जाते ऊँचा–नीचा टल टल कर चलता है।

+ तामें ले ले डारे सीचा=भूमि में शुद्धि के लिये पानी के छींटे देता है।

× कलि की वाव भषी सुष पाया=माया की हवालगी कि भोगों में सुख मनाने लगा।

वाचा दे दे आयो भाई, सो वाचा क्यों भूलै लाई ॥
जोर करै मसकीन सतावै, जठर अगनि दिन चीत न आवै ॥
जब तूँ परलै कीट पतंगा, तब यह गरब कहाँ थौ गंदा ॥
गरब गुमान सब दूरि करि, वा निज साहिब कूँ जांणि ॥
वा निज साहिब कूँ विण भज्या, मनिष जनम की हांणि ॥११॥
हांणि कह्या कोई न पतीजै, निहचै मृघ वधिक कूँ धीजै ॥
जम नित वधक सदा नर हिरणां, चौरासी में दौड्या फिरणां ॥
कबहूँ षर पसु कीट पतंगा, मोर मृघ गति नाना रंगा ॥
कबहूं सूकर स्वांन सियारा, कबहूँ कउवा गति विचारा ॥
कबहूं इजगर पंषी गोहा, ए दुष पावै हरि सूँ दोहा ॥
परला मांही आवै जावै, आंधा पसु बहौत दुष पावै ॥
रांम भजै तौ सकल सुष, नहिंतर सब दुष साथि ॥
षोटा पटा लिषाइया, षरा न आवै हाथि ॥१२॥
नाई सुबुधि कुबधि सूँ काला, साध नहीं कोई विष ज्वाला ॥
भजन भेद जांणै कछु नांही, *कुबधि षड़हिया काषां मांही ॥
छापा तिलक भरम की पूजा, अंतरि करम कातरी दूजा ॥
मनसा मन कै मतै चलांणै, अंतरि की साहिब सब जांणै ॥
अंतरि षोट तहां हरि नांही, तातै बूड़ा परला मांही ॥
करम भरम सब दूरि करि, रहसि रहसि गुण गाइ ॥
तूँ हरि भज रे! प्रांणिया, नहितर काल अचूक्यौ षाइ ॥१३॥

पाठभेद—मिरघ–१ । मृग–५ । वधिक–१ । ये–१-२ । नहींतो–५ । कुछ–१ । अंतर–४-५ ।

शब्दार्थ—परलै कीट पतंगा=जब तू कीट–पतंगों की तरह मरता है । हांणि=हानि, नुकसान । वधिक=शिकारी, मारने वाला । धीजै=विश्वास करे । दोहा=द्रोह, शत्रुता । षडहिया=खडिया । काषां मांही=कन्धे पर । रहसि रहसि=बार बार, प्रसन्नतापूर्वक । नहितर=नहीं तो ।

* कुबुद्धि रूपी खडिये को कन्धे पर डाल रखा है ।

षामी काल सही सूँ भाई , पसवै समभि पड़ी नहिं कांई ॥
कनक कामणी कूँ मन दीया , राम भजन कवहू नहिं कीया ॥
पाँच तत्त का भूठा मेला , हरि भज प्रांणी चलसी अकेला ॥
अनंत लोक जिन किया पसारा , सो सव मांहि सकल तैं न्यारा ॥
भगति उधार विड़द है जाको , निहचै नांव न छाडूँ ताको ॥
नांव गहै तो ही सुष पावै , भौ सागर में वहौड़ि न आवै ॥
साची सतगुर की सरणाई , अजव अनूप वस्त निज पाई ॥
गोविंद भज रे ! प्रांणिया , हरि इम्रत रस पीव ॥
जन हरीदास हरि अनंत है , सु कहा विचारा जीव ॥१४॥

॥ इति चौदापदी जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

॥ अथ तीसपदी जोगग्रन्थ ॥

ऊँचा महल सेभ सुष सूंधा , मनहरणी नाना विधि नारी ॥
हैदल गैदल देषि छक्या छकि , नाचत गया नरांपति हारी ॥
छल वल करि वसुधा वसि कीन्ही, जम सूँ वल करि सक्या न छूटि ॥
हरि सुष छाड़ि साहि सुष कौड़ी , कलपत गया किता सिर कूटि ॥२॥
किरपण मरै न मूके माया , काठौ करि राषै कसि काच ॥
पहुँती जुरा विथा तन बीतौ , सूझै नहीं वड़ो सुष साच ॥३॥
करि करतूति भया नर चकवै , अदिष्टि चक्र वहै गुण एह ॥
रांम नाम निज भेद न जाण्यौ , गै ज्यूँ डारि गया सिर षेह ॥४॥

पाठभेद—इकेला-१ । सौंधो-१-५ । अदृष्ट-५ ।

शब्दार्थ—विड़द=महिमा, यश । सूंधा=इत्र, फुलेल । हैदल=घोड़ों का दल । गैदल=हाथियों का समूह । कलपत=कलपते, अफसोस करते । किरपण=कंजूस । पहुँती=आई, प्राप्त हुई । जुरा=बुढ़ापा । चकवै=चक्रवर्ती सम्राट् । अदृष्टि चक्र=कालचक्र ।

यहु संसार सकल विष कौ वन , गोव्यंद सगौ सनेही राम ॥
राम वोट जम चोट न लागै , मद्गल मोह न व्यापै कांम ॥५॥
नाथ निरंजन निरषि निरंतरि , हरि हरि सुमरि गरक गत सूल ॥
वाजीगर भजौ भजौ काँई वाजीं, डाला छाड़ि गहौ निज मूल ॥६॥
नौषंड पहौम पलटि पहिरावै , नाटिक फिरि नट सुष जोवै ॥
नट सुष देषि तजै सुष वाजी , हरि भजि इंम कलिविष सव धोवै ॥७॥
मन गहि सवल अवल होइ हरि भजि, आवध पांच अटकि अरि मार ॥
हरि हरि सुमरि सुमरि नर हरि हरि, उलटौ षेलि पड़ै मति षारि ॥८॥
भजि मन रांम कांम करि कण कण, मैं तैं छाड़ि मुगध मतिहीण ॥
सुनिमंडल मैं सहज सुधारस , ता रसि वसि सहजैं ल्यो लीन ॥९॥
स्वाति वूँद वरषा रुति विगसै , आपौ समटि रहै जल मांहि ॥
सागर को जल सीप न परसै , मिलि षेलै तो मोती नांहि ॥१०॥
सुष संसार समद जल षारौ , षारै जल लागा भूलि जीव ॥
निरभै सीर नीर निज नैडो , आंषि उघाडि न देषै पीव ॥११॥
करता करण सकल जुग जोगी , ता जोगी सूँ प्रीति लगाई ॥
यहु पण साहि आंम तजि अनरथ, जुरा न व्यापै काल नहिं षाई ॥१२॥
अगहि अरीभ कहौ किम रीझै , जव लग घट मैं दूजी आंण ॥
कावल छाड़ि राम भजि केवल , तौ ता रुति रीझै रहिमांण ॥१३॥

पाठभेद—किलविष–१ । सुन्य–१ । संमद–१ ।

शब्दार्थ—मदगल=गर्व, अहङ्कार । गरक=सराबोर, तर, तन्मय । वाजी=भौतिक सम्पत्ति, माया । पहौम=पृथ्वी, भूमि । आवध=शस्त्र, आयुध, ज्ञान षड्ग । षारि=षारडा, ऊसर भूमि, अनित्य सुख । कण कण=पल–पल । मुगध=मोहित । मतिहीण=सद्बुद्धि से रहित । विगसै=प्रगटै, खिलै । दूजी आण=दूसरी दृढ़ता, संसारी पदार्थों का मोह । कावल=कुगैले, कुमार्ग । तौ ता रुति=तो उस दशा, उस अवस्था में ।

❀ यहु परिण साहि आंन तजि अनरथ=हे साहि साधक आत्मचिंतन के पण–प्रतिज्ञा को पकड़ । बन्धन तथा जन्म-मरण के देने वाले अनर्थकारी कर्मों का परित्याग कर ।

ज्यूँ माता सुत प्रीति विचारै, अभि अंतरि आनंद उछाह ॥
यूँ नर नाथ नांव ले निसदिन, इणि औसरि यहु वडौज लाह ॥१४॥
निरभै थकौ नाचि मां घरि घरि, कहर न सूझै काल डर ॥
भजि भगवंत अंति पछिताइस, मरसि पछैही हमैं मर ॥१५॥
जैसे कुरंग नाद सुणि श्रवणां, षंड षंड षंडियौ तन ॥
यूँ सति सुरति साध की हरि सूँ, तव जाइ दरसै रामधन ॥१६॥
ज्यूँ ल्यौ लीन मीन पण पाणी, जौ छाड़ै तौ छूटै देह ॥
यूँ मन सुरति प्रांण गोव्यंद रत, तव जांणीजै राम सनेह ॥१७॥
इंद्रादिक कवल लहै लहि लोभी, मधकर ता सुषि रहै समाइ ॥
भार अठार फूल नाना विधि, यहु सुष तजै न वा वन जाइ ॥१८॥
चिंतामणि राम चाहतां लाधौ, निहचल वसत निजरि भरि जोइ ॥
आतम अंतरि अगहि अषंडित, परचा पषै न जांणै कोइ ॥१९॥
कामधेनि करतार सदा संगि, सुमिरण सार इहै सुष साहि ॥
जोगी जती पीर पैकंवर, ज्यूँ वंछै त्यूँ ही फल ताहि ॥२०॥
कलप व्रिछ हरि किलविष कारण, निरमल निकटि करण निरवास ॥
जा सुष कूँ संसार न जांणै, ता सुषि लागि रह्या निज दास ॥२१॥
आलस मकरि राम भजि भ्रमसि, जुरा पहुँती जनम जाइ ॥
वीतै जनमि वलै पछताइस, हरि गाइ सकै तौ ह्वै गाइ ॥२२॥
जैसे फुनिंग मेल्हि मणि चेजै, जोति उजालै करै जाइ ॥
यौं हरि अकल सकल की सोभा, तूँ तिणि विधि हरि स्यूँ ल्यौं लाइ ।२३।

पाठभेद—अभ्य–२ । राम–४ । ह्वै–१ । हरिस्यूं–१ । यन्द्रादिक–२ । यहि–४ । एह–५ । विरछ–१-५ । भरमसि–४-५ । पछतायसि–५ । सत–१ ।

शब्दार्थ—इण औसरि=इस मौके पर । लाह=लाभ । पछताइस=पछतायगा । हमैं=अभी, इसी समय । कुरंग=हिरण, मृग । नाद=शब्द, आवाज । जाणीजै=जांणिये, समझिये । इन्द्रादिक=इन्द्रियाँ, मन-प्राणादि । मधकर=मनरूपी भँवरा । ज्यूं वंछै=जैसे चाहे । निरवास=गन्ध रहित, वासना रहित । मकर=माकर, मतकर । भ्रमसि=भ्रमता रहेगा । वलै=फिर । ह्वै=अभी । चेजै=चुगा करे, पूर्ति करे ।

गहि गुर ग्यांन जाग जीव जोगि , सतगुर सवद साहि सति वांण ॥
षोलि कपाट आव गढ़ माही , साथी मिलै मिलै दीवांण ॥२४॥

सुर नर असुर सुरांपति कौं सुर , अकल अजोनि अंतरि देव ॥
ता सुषि जागि जांणि जीव लागौं , निसदिन करै निरंतरि सेव ॥२५॥

गहि गुर ग्यांन ध्यांन धरि अंतरि , हीरौ चढ़ियो हाथि हरि ॥
वीसरि जाऊँ तौ वलै न लाभै , काठौ राषूँ रंक परि ॥२६॥

निज नरसिंघ अगहि अभि अंतरि , घटि घटि अघट रह्या भरपूरि ॥
इकलस जोति एक रसि अंतरि , भूला भला वतावै दूरि ॥२७॥

रमताराम परम सुष सागर , गुणां रहत निरगुण निज देव ॥
आनंद रूप अषिल अविनासी , निह्चल साध करै नित सेव ॥२८॥

जठरा नहीं जुरा अहुं नही आलस , वप नहिं विथा परम सुषसार ॥
दीनदयाल देव करुणा मैं , है गोविंद निरधारां आधार ॥२९॥

जन हरिदास पति परसि परम सुष , सतगुर सवद पहरि सति भेष ॥
है हरि अकल सकल विस व्यापी , निह्चल वसत निजरि भरि देष ॥३०॥

॥ इति तीसपदी जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

पाठभेद—सत-१ । अकलि-१ । अगैह-१ । गुनां-५ । निरगुन-५ । आणंद-१ ।

शब्दार्थ—गढ़ मांही=हृदयरूपी किले में, गगनमंडल में । अजोनि=चौरासी लाख योनियों से रहित । हीरौ=मनुष्यजन्मरूपी रत्न । वीसरि जाऊँ=भूल जाऊँ । काठौ=दृढ़ता से, मजबूती से । रंक परि=कृपण की तरह । इकलस=एक रूप । गुणां रहत=सत, रज, तम रहित । निहचल=स्थिर, अचञ्चल । जठरा नहीं=जन्म नहीं । अहुं=भी, अहङ्कार । वप नहीं=शरीर नहीं ।

॥ अथ बारहपदी जोगग्रन्थ ॥

रोटी रटणि रामजी मोटी, आलस मकरि आवछै छोटी ॥
लष चौरासी जूँणि मैं लौटी, षोटा देह छूटसी षोटी ॥
मैं तैं छाड़ि जागि जीव टोटी, कुदरति काल झालसी चोटी ॥
एक कनक अरु कांमणी, काल दाढ़ ए दोइ ॥
यां दोन्यां विचि आइ करि, बंचै विरला कोइ ॥१॥

तैं मनिष जनम भ्रमतां भल पायो, सो तैं कौड़ी सटे गमायौ ॥
×हटवाड़ै वाजी डहकायो, परच्यौ कहां कहां तैं पायौ ॥
गुण तजि निरगुण राम न गायौ, भूषौ जाइसि भूषघरि आयो ॥
भूष न भागी भै न गयो, *तिणचर तिण तहां जाइ ॥
सुर गुण तिण सुष छाड़ि करि, पस निरगुण का गुण गाइ ॥२॥

हरि सुष छाड़ि और सुष रीधौ, करसी कहा कहा तैं कीधौ ॥
काच सटे कंचन कांई दीधौ, इम्रत छाड़ि जहैर जड़ पीधौ ॥
मन मोती माया मणि वीधौ, मारग छाड़ि कुमारग लीधौ ॥
छाड़ि कुमारग पंथ लै, कांई सहै सिरि भार ॥
वार वार तोसूँ कहूँ, यौंही ग्यांन विचार ॥३॥

पाठभेद—दहुंवा–१। मिनष–५। अवर–१। जहर–५। मण–५।

शब्दार्थ—रोटी=रोजी, कमाई। मोटी=बड़ी। आवछै छोटी=आयु थोड़ी है। जूंणि=जूंण, योनि। टोटी=टोटीड़, अज्ञानी, मूर्ख। झालसी=पकड़सी। हटवाड़ै=बाजार, हाट। डहकायो=बहक गया। भूष घरि आयो=नाशवान् पदार्थों की ओर लगा। तिणचर=पशु। पस=पशु, अज्ञानी। रीधौ=रँध गया, गल गया। कीधौ=कीयौ। दीधौ=दिया। जड़=अचेतन। पीधौ=पीया। लीधौ=लिया। कांई=क्यौं। सहै=बर्दाश्त करे।

× हटवाड़ै वाजी डहकायौ=संसार के नाशवान् पदार्थों की विविधता में बह गया।

* तिणचर तिण तहां जाइ=पशु जहां घास की सम्भावना समझता है, वहीं जाता है। इसी तरह विवेकहीन मानव-पशु भी संसार के नाशवान्, घर, धन, स्त्री-पुत्रादि पदार्थों की ओर ही लगा रहता है।

इतवत चितवत अवधि विहांणी, त्रिषा न भाजै वोछै पांणी ॥
लालच अगनि रहै लपटांणी, मनसा पकड़ि सहजि घरि नांणी ॥
दहदिसि षड़ा जगाती दांणी, जम दरबारि जाइबौ प्रांणी ॥
नाथ निरंजन अलष विनांणी, रांम भजन की गली न जांणी ॥
राम भजन का भै नहीं, दूजौ दूजै भाइ ॥
आंन ध्यांन गुर ग्यांन विणि, षोटौ षोटा षाइ ॥४॥
अरि रिप ग्यांन उरि नहिं छाजै, तब लग चिंता चोट न भाजै ॥
माया तरवर जीव जाय विराजै, अंध अकंध निलाज निलाजै ॥
गोविंद कांई न भजै तन साजै, कुदरति काल सदा सिरि गाजै ॥
काल जाल लीयौ फिरै, जीव कहां कूँ जाइ ॥
अंति काल छाड़ै नहीं, षंड षंड करि षाइ ॥५॥
गहि गुर ग्यांन उरहौं काइ नावै, जहां जहां वंध्यौ तहां दुष पावै ॥
दावानलि पैठो पछितावै, होइ पतंग जले जलि जावै ॥
निरभै ग्यांन निराट न भावै, भूषो फिरै घरि घरि भरमावै ॥
भरम छाड़ि गोविंद भजौ, हरि परम सनेही तात ॥
कोई जन जाग्या सो जांणसी, यहु औसर यह घात ॥६॥
भजि रे ! राम पतित हरि पावन, परापरै भै भीड़ चुकावन ॥
प्रगट आप कूँ आप वतावण, पारब्रह्म षष पांच छुड़ावण ॥

पाठभेद—इतउत–३। च्यंता–२। पावण–१। चुकावण–१।

शब्दार्थ—इतवत=इधर-उधर। अवधि=नियत समय, आयु। विहांणी=खत्म हुई, चली गई। त्रिषा=प्यास, भोग की तृष्णा। भाजै=मिटे नहीं, दूर नहीं हो। वोछे पांणी=थोड़े पानी से। नांणी=नहीं लाया। दांणी=कर लेने वाले, दण्डनायक। दूजौ दूजै भाइ=संसार-सुख ही भाता है। अरि रिप ग्यांन उर नहिं छाजै=कामादि शत्रुओं का शत्रु जो आत्मज्ञान, वह जब तक उर–अन्तःकरण में नहीं आवे। भाजै=हटे, दूर हो। अंध अकंध=विवेक विचार के नेत्र बिन अन्धा, सोच-समझरूपी सिर से रहित। निलाज निलाजै=लज्जाहीन से लज्जा ही लजाती है। उरि हौ काइ नावै=उरो इधर निवृत्ति मार्ग की ओर क्यों नहीं आता ? दावानलि=संतापाग्नि। निराट=इंच भर भी, किञ्चित भी। भै भीड़ चुकावन=कालादिभय से रक्षा करने वाला।

पूरण ब्रह्म साध संगि लावण , वरिषा स्रुनि निरंतरि सावण ।।
नष सष रोम रोम रस पांवण ,
रस पीवै जीवै तिकौ , मन की दुवध्या षोइ ।।
रसिया रस मैं मिलि रह्या , टलै न दूजा होइ ।।७।।
सुरति संवाहि परसि अविनासी, हरि विणि और सकल जमपासी ।।
दुरमति काल कहर की दासी , घटि घटि वसै डसै मसवासी ।।
सुर नर असुर सकल की मासी , आणंद अरथ परम सुषरासी ।।
सकल सुषां की सौंज हरि , जांणै विरला कोइ ।।
गुण पोषै निरगुण कथै , यूँ हरि भगति न होइ ।।८।।
×त्रिसना धार षार मैं दाधो , पस ज्यूँ वारि परायै वांधो ।।
षासी काल वहौत विधि षाधो , रांम भजन को भेद न लाधो ।।
पूरौ नहीं अधूरो आधो , सद्गति होसी गाइ रे माधो ।।
माधो मनां विसारिमां , हरि परम सनेही राम ।।
हरि तरवर सुष छाड़ि करि , कांई सहै सिरि घाम ।।९।।
साथ संवाहि जुरा चालि आई , स्याह सेत सजन दुषदाई ।।
धूजै सीस ईस भजि भाई , षड़चर रषै पड़ै मति षाई ।।
गहि गुर ग्यांन ध्यांन धरि धाई, हरि हरि सुमरि सुमरि सुषदाई ।।
सकल सुषां की सौंज हरि , वार पार मधि नांहि ।।
देह गेह दुनियां तरक , प्रांण गरक ता मांहि ।।१०।।

पाठभेद—वरषारुति–१ । नषसिष–१ । आनंद–४-५ । कहै–५ । बहुत–१ । ध्याई–२-४ ।

शब्दार्थ—संवाहि=संभाल । डसै=काट ले । मसवासी=मच्छर की तरह । षार=ऊसर भूमि । दाधो=जला । वहौत=विविध प्रकार से, काम, क्रोध, लोभ, मोहादि द्वारा । षाधो=षाया । घाम=ताप, सन्तापरूपी धूप । षड़्चर=पशुवृत्ति वाला मनुष्य । धाई=दौड़कर, अनुरक्त हो ।

× त्रिसना धार षार मैं दाधो=विविध भोगवासना की धार में पड़ सन्ताप की अग्नि से दग्ध होता रहता है । पशु ज्यूं वारि परायै वांधो=जैसे पशु दूसरे के द्वारा वँधा रहता है उसी तरह तू भी विनाशी भोग-पदार्थों के मोह में बँध रहा है ।

होसी तन छार भार तजि लोई , हरि विणि सगौ न सूझै कोई ॥
गाफिल जागि अभागि न सोई , सास उसासे उर मल धोई ॥
या गति जाणैं विरला कोई , कै जासूं हरि किरपा होई ॥
हरि भजि विष तजि नृमल होई, ×उनमनि रहै भरम सव षोई ॥
राम संभालि परम सुष सोई , काल सीस पर निस दिन जोई ॥
मन उनमनि लागा रहै , पीवैं निरमल नीर ॥
त्रिवेणी तटि न्हावतां , जमका झड़ै जंजीर ॥११॥
भजि भगवंत करम करि कांने , तजि अभिमान इहै हरि मांने ॥
मन गहि सुरति राषि प्रसथांने , हरि परगट गाड़ गाइ मा छाने ॥
सुष संसार धारि तजि आनै , पोथी प्राण राम लिषि पानै ॥
पोथी प्राँण संभालि करि , नाँव निरंजन लेह ॥
जन हरीदास हीरा जनम , कौड़ी सटे न देह ॥१२॥

॥ इति बारहपदी जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

॥ अथ बावनी जोगग्रन्थ ॥

बावन अषिर लोक सव , सुर नर लोक अनंत ॥
धरचास धूँवा जाईगा , अषै अषिर भगवंत ॥१॥
सिध साधक जोगी जनक , सुर नर कहैं विचारि ॥
ये सव करि सव तैं अगम , तहां कछु जीति न हारि ॥२॥

पाठभेद—तज्य-२ । निरमल-३-५ । अभ्यमान-२ । प्रस्थांने-२ । जन्म-४ । अक्षर-४-५ ।

शब्दार्थ—सास उसासे=रेचक पूरक की क्रिया द्वारा । काने=किनारे । धरचास=बनाया हुआ, जगत । धूँवा जाइगा=समाप्त होगा, नष्ट होगा ।

× उनमनि रहै भरम सव षोई=संशय-विपर्यय आदि सब भ्रान्तियों को दूर कर ध्यान की सहज अवस्था प्राप्त कर ।

मुसलमान हिंदू सबै, वहौ विधि करैं विमेक ॥
दोइ नाम दीसै दुरस, करता सबका एक ॥३॥

×सवद तहां संचर पड़ै, संचरि सरवस जाइ ॥
निह सवद निरभै वसत, फेरि तहां मन लाइ ॥४॥

ऊँकार आदि है माया, षंड षंड करि रूप वणाया ॥
जलि थलि जहां तहां रही समाय, माया षाजै माया षाइ ॥५॥

कका कसर असुर चलि आया, जुध कीजै गुर आप जगाया ॥
र्गाह गुर ग्यांन ध्यांन उरि धारौ, मारणहार महारिप मारौ ॥६॥

षषा षवरि षलक की पाई, सींधूड़ै वाजै सहनाई ॥
ठाई ठीकी पड़ै लड़ाई, साथी हरि साथी जीत जुध भांई ॥७॥

गगा गरव कहौ क्यौं कीजै, निस दिन आव घटै तन छीजै ॥
वाजै रिण तूर न वाई दीजै, अरि दल जीति अगम गढ़ लीजै ॥८॥

घघा घात वात एक करियै, भवसागर मैंचकतैं डरियै ॥
राषै राम तिसी विधि रहियै, आसा छाड़ि परम गति लहियै ॥९॥

नना नाथ हाथि मन राषौ, मुष तैं मिथ्या सवद न भाषौ ॥
सुषमनि फेरि घेरि घरि आवौ, गंग जमन मधि मंढी वंधावौ ॥१०॥

पाठभेद—वहु-१। विवेक-५। दुरसि-३-४। म्यथ्या-२।

शब्दार्थ—दुरस=नीरस, दुःख देने वाला। संचर=चेतन जड़ से मिला हुआ। अविभक्त। माया षजै माया षाइ=जो माया में लगे हैं-भोगते हैं, उनको अन्त में माया खा लेती है। कसर असुरि=अज्ञानमय असुर। महारिप=काल। षलक=संसार। सींधूड़े=युद्ध गीत, रणक्षेत्र में। ठाई ठीकी=निशाने पर वार हो। न वाई दीजे=टाल-मटोल न करना। गंग जमन मधि=इडा-पिंगला के मध्य सुषुम्ना में।

× जब तक साधना वाणी के शब्द से की जाती है, तब तक वृत्ति में धारणा बनती नहीं है, ऐसी साधना में लगे रहें तो सरवस जाइ-जीवन निष्फल चला जायगा। साधना में वाणी का व शब्द का सहारा त्याग कर वृत्ति में ही उपास्य की धारणा करना तभी मन, प्राण, वृत्ति का समन्वय होगा और सहज दशा की प्राप्ति होगी।

चचा चूक पड़त है भारी , कब 'भजस्यौ' अब भजो मुरारी ॥
भटकौ कहा भटक भी मरणां , चितरणहार अगह उरि धरणां ॥११॥

छछा छाप अगम की वांचो , निहचल 'व्है' 'निरभै' रंगि राचो ॥
पासा 'हाथि' आथि छक सारी , अब चूकौ तौ बाजी हारी ॥१२॥

जजा जागि जुरा दल आया , सुर नर असुर पागड़ै लाया ॥
वासै काल जुरा भै डरणां , निरगुण भजौ अभषि भषि जरणां ।१३।

झझा झरै मरैगा सोई , 'याह' वातां सिध साध न होई ॥
भजि भगवंत छाड़ि सुष दूजा , 'इंहि' विधि करौ नाथ की पूजा ॥१४॥

नना नाहर कै संगि छाली , जंबक भेडर टलै नहिं टाली ॥
चौड़े बैठी रहै निराली , तिण देवोटन ता कै लाली ॥१५॥

टटा अटल तहां टलि रहिये , 'परघरि' वसि परदुष 'क्यौं' सहिये ॥
चिंता वसै डसै घर मांही , तब लग निज घर 'लाधा' नांही ।१६।

ठठा ठिकविण ठौड़ न लहिये , फूटै मनि फीटा क्यूँ वहिये ॥
जांणि जहर इंम्रत करि पीजै , काच सटै कंचन 'क्यूँ' दीजै ॥१७॥

डडा हड़ हड़ क्यौं हँसियै , सापणि का मुष मांहि वसियै ॥
छल बल करि षासी कै षाधा , निगसांई निगुसवाँ लाधा ॥१८॥

ढढा 'ढह्या' कूप ढिग रहिये , कूप ढहै तब तौ संगि ढहिये ॥
विवधि 'विजोग' विपति संगि सहिये, तौ दारण 'दोजगि' दुष सहिये ॥१९

नोट—'   ' कॉमों के मध्य में दिये गए शब्दों को पाठभेद समझें।

पाठभेद—भजिस्यौं–१-३। होय–५। नृभै–५। हाथ्य–२। यां–५। अंहि–१। यहि–४। प्रघरि–१। क्यूँ–२-५। लाभै–५। क्यौं–१-३। ढहै–१। जोग–२-३-४। दोज्यग–२।

शब्दार्थ—चितरणहार=जगत का कर्त्ता। आथि=आखिर, अन्त में। पागड़ै लाया=किनारे लाया। वासै=पास ही, समीप ही। झरै=मन-इन्द्रियों को भोगों में लगायेगा। ठिकविण=उचित स्थान, ठीक ठिकाना। फीटा=लज्जा रहित। हड़ हड़=ठहाका मारकर। सापणि=मृत्यु। निगसांई=बिना मालिक का। निगुसवाँ=निर्धनी। ढह्या कूप=नाशवान् शरीर। ढिग=पास, समीप। विजोग=विछोह, जुदाई। दारण=दारुण, भयङ्कर।

णणा रुति मांही रस पाया , पीवत छक्या सहज घरि आया ॥
अहि वोढण ज्यूँ तजि गुण काया, मेदी जाइ अभेद समाया ॥२०॥
तता तात पिता सुत सोधौ , मूल कँवल मधि पवन निरोधौ ॥
सुत कै हेति पिता घरि आवै , निरभै थकौ निड़र घर पावै ॥२१॥
थथा थाकि 'कुपहि' करि कांनै , चालौ सुपहि छाड़ि रहौ छानै ॥
करसि काल्हि आज त्यूँ कीजै , निरपष व्है निरभै पद लीजै ॥२२॥
ददा दुसह गया 'निति' 'दहिता', जहां तहां आइ पिसण कर गहता ॥
सत रज तम दुरभष दुष सहिता , निरभै भया मिल्या हरि रहता ॥२३॥
धधा ध्यांन धणीं कौ धरियै , 'मिरतग' छाड़ि अमर वर वरियै ॥
गया कुसाथी साथी आया , निरभै नाथ निरंजन पाया ॥२४॥
नना नांव निरंतरि लीजै , सिरकै सटै तुरत सिर दीजै ॥
साह मिलै तिंह घाट मिलीजै , सौदौ घटै न पूँजी छीजै ॥२५॥
पपा पिसण देह गुण जारण , घात सहत आपा घरि मारण ॥
हरि 'परिहरि' विसतार न कीजै , 'परवसि' पड़ि 'परदेस' वसीजै ॥२६॥
फफा फेरि सारि सव जोई , हरि विणि सगौ न सूझै कोई ॥
तजि अभिमांन राम भजि लोई , साह विणि सूनी सेझ न सोई ॥२७॥
बबा बोल कुबोल न कहियै , राषै राम तिसी विधि रहियै ॥
सुष 'संसार' निजरि सुष नावै , घरि जायाँ घर की तब पावै ॥२८॥

पाठभेद—कुपह–४-५ । नित–१-५ । दहता–१-५ । सहता=१–५ । मृतग–४-५ । प्रहरि–१ । प्रवसि–१ । प्रदेस–१ । संसारि–१ ।

शब्दार्थ—अहि वोढण=सर्प की केंचुली की तरह । तात=हे मन ! पिता=परब्रह्म । सुत=जीवात्मा । सोधो=तलाश करो । थाकि=थककर, हैरान होकर । कुपहि=कुमार्ग, नाशवान् पदार्थों की प्राप्ति में लगना । सुपहि=निवृत्ति मार्ग । छानै=गुप्त, छिपा । दुसह=असह्य । दहिता=जलाता । मिरतग=मरा हुआ, विनाशी । अमरवर=अविनाशी परब्रह्म । कुसाथी=काम-क्रोधादि । साथी=हितैषी मित्र, शील, संतोष, त्याग, वैराग्यादि । तिंहि घाट=उसी तरह । पिसण=लुटेरे, लोभ, मोह, अहंकारादि । घात सहत=वार सहते । नावै=नाममात्र का । जायाँ=गये, पहुंचे ।

भभा भरम नदी क्यौं वहिये , गहि गुर ग्यांन कनारै रहिये ।।
आलस छाड़ि अवधि तन छीजै , राम दया दरसै त्यूँ कीजै ।।२९।।
ममा मोह किसी विधि करिये , मरणा सही इहै उर डरिये ।।
'औघट'छाड़ि'घाटि' जाइ तरिये, चित वित घटै न पूठा फिरिये ।।३०।।
ममा मधि डरै मरैगा सोई , विणि मूँवा सिध साध न कोई ।।
अगम उरक गुरगमि सिष वांचै , सबद विचारि मिलै सुष सांचै ।।३१।।
यया या विणि अवर न दूजा , मन गहि पवन करौ हरि पूजा ।।
दीसै जिकौ सुतौ 'सब' माया , फल ताकौ छाड़ौ फल छाया ।।३२।।
जजा जोग मूल जो जांणै , इन्द्री मन प्रांण एक घरि आंणै ।।
अगम पियाला भरि भरि पीवै , परचा लागै जोगी जीवै ।।३३।।
ररा मन राषि रजा मैं रहिये , विणि हरि रजा 'वहौत' दुष सहिये ।।
राम विसारि पसरि दुष पीया , दिन दस पांच कहा जो जीया ।।३४।।
लला लहै गहैगा सोई , जहां 'देषूँ' तहां अवर न कोई ।।
गावणहारा कहा कहि गावै , आदि अंति कोइ मधि न पावै ।।३५।।
ववा अगम अरथ हम पावा , डरि डहक्या उरहि डरि धावा ।।
तरवर अगह तहां करि वासा , देषै अवधू अगम तमासा ।।३६।।
ससा सुष मैं सींगी वाजै , परम उदार अरथ उरि छाजै ।।
पद 'निरवांण' निरंतरि जागै , गढ़ि संचर पड़ै न तसकर लागै ।।३७।।

पाठभेद—अवघाट–१ । घाट–३-४ । सति–१ । बहुत–१ । देषौं–१-५ । नृवांण–२ । निरवांन–५ ।

शब्दार्थ—किसी विधि=किस तरह । चितवित=चिन्तनरूप धन । पूठा=वापिस, पीछा । या विणि=इसके बिना । अवर न=और, दूसरा । परचा=परिचय, जानकारी । डहक्या=बौराया ।

३१वीं साखी—मधि डरै–विचार से जन्म-मृत्यु दुःख से डरेगा वही मरेगा, जीवन्मुक्त हो सकेगा । बिना जीवित-मृतक हुए साधक सफल नहीं हो सकता । मन-बुद्धि की पहुँच से आगे जो आत्मतत्त्व है वह गुरु उपदेशानुसार अपने अन्तर में समझे । जो साधक गुरुनिर्दिष्ट उपदेश को विचारेगा, तदनुसार साधना में लगेगा वही चिरन्तन सुख की प्राप्ति करेगा ।

षषा षेप लगी घरि आवै, सोवै रषै चोर मति लावै ।।
निरभै वसत नफौ घरि आवै, तव लगि मैं तैं मूल गमावै ।।३८।।

ससा समझि विना दुष भारी, गाफिल पणैं मरै छकि सारी ।।
चेतन 'व्है' तौ चोट चुकावै, पासा हाथि आथि घरि आवै ।।३९।।

हहा हेत सहत सर लागा, वसता षलै तिके षल भागा ।।
सतगुर वोट चोट नहिं काई, 'सनमुषि' रहि लावै त्यूँ लाई ।।४०।।

'षषा' षूनी मारि मनाया, मैवासी करि रैति वसाया ।।
अविनासी निरभै सुष दीया, करता जोर जेर सो कीया ।।४१।।

लला लालच लोभ न करियै, चालो देषि धणी भै डरियै ।।
करम 'कसर' छाड़ो छकि छाया, अवगति भजो अवधि दिन आया ।४२।

वावन 'अषिर' पंडित कहै, सवद सवद का संचर लहै ।।
संचर छांड़ि निसंचर होइ, जन हरीदास ता समि नहिं कोइ ।।४३।।

वावन अषिर पढ़ै व्यौपाई, अषिर अगम तहां रहै समाई ।।
जन हरीदास निरभै तव होइ, उदै 'अस्त' मैं तैं नहिं दोइ ।।४४।।

।। इति बावनी जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ।।

पाठभेद—होइ–५ । सनमुष–५ । क्ष-क्षा–४-५ । कसरि–३ अक्षर–३-४-५ । असत–२-५ ।

शब्दार्थ—सोवे=अज्ञाननिद्रा में । रषै=रखवाली करै, सावधान रहे । छकि= मौका । हेत सहत=प्रेमाभक्ति सहित । सर लागा=गुरु उपदेशमय वाण लगा । वसता= निवास करता, रहता । षलै=षल, दुष्ट, अहङ्कारादि, देहरूपी खलिहान में । षूनी= खोटापन, विषयी मन । मारि मनाया=मारि–निरोध कर अन्तर्मुख होने को मनाया, सहमत किया । मेवासी=गढ़पति । रैति=अन्तर्मुख बनी इन्द्रियरूप प्रजा । धणी भै= स्वामी के भय से । संचर=विनाशी । असंचर=अविनाशी, सत्य । व्यौपाई=सम्यक् समझकर । उदै अस्त=जन्म-मृत्यु, आना-जाना ।

॥ अथ ×सूरसमाधि जोगग्रन्थ ॥

'इहां' वमेक 'वहां' मोह दल , षेत बुहारया देष ॥
'ऐ' मारै कै वै मारि 'ल्येह' , *संचर रहे न सेष ॥
साथ दोउ दिसा देषि जै सारिषौ, वात थोड़ी ह्वै लाभसी पारिषौ ॥
गैंद गाजै गुड़ै कहर भै भीति भौ, संग्राम जीतै तिकै सीस 'द्यै' साँवतौ ॥
मिल्या सवला सवल षलै वाजसी आज तौ, +वापड़ा वड़ वड़ै रहै
औ गाढ़ ज्यौ ॥
जन हरीदास आसा मुषी , सवै कहावै सूर ॥
अंति निवेड़ा होवसी , जव रिण वाजै तूर ॥१॥
तूर वाजै भलां आजि रिण मारका, नालि गोला जिरह टूक व्है सारका ॥
मरद मूँछाल रिण देषि ददकारता, =भीछ वाथां पड़ै वार नहीं पारका ॥
जोर तोलै तुलैं भार 'तन' धारता , आज देषिये दुरत दोषीयां मारता ॥
तेग झड़फ वरछी वहै , मार मुँहे मुँहि षांहि ॥
अंतरि दीसै विगसता , करि तोरण वंदण जांहि ॥२॥

पाठभेद—यहाँ–२ । उहाँ–१ । यै–१ । ल्यौ–४ । लौ–३ । लै–५ । दैं–१-५ । तन्य–१ ।

शब्दार्थ—षेत=रणभूमि । बुहारचा=साफ किया हुआ । मारि ल्येह=मार लेंगे । सारिषौ=बराबर, समान । पारिषौ=परीक्षा । गैंद गाजै=हाथी चिंघारते हैं । कहर भै=मृत्युभय । सांवतौ=सामन्त, अति शूरवीर । षलै=युद्धक्षेत्र में । तूर वाजै=रणभेरी बज रही है । नालिगोला=तोपें-गोले दग रही हैं । जिरह टूक व्है सारका=खरे लोहे के बख्तरों के टुकड़े हो रहे हैं । ददकारता=ललकारता । तेग झड़फ=तलवारों की झड़प हो रही है । विगसता=प्रसन्न होता ।

× सूरसमाधि जोगग्रन्थ में युद्ध का रूपक लेकर मोह तथा विवेक (ज्ञान) के संघर्ष का निरूपण है । वीररस के निरूपण में पिंगल की अपेक्षा डिंगल अधिक उपयुक्त रहता है । महाराज हरिदासजी ने इस लघुग्रन्थ में अनेक डिंगल शब्दों का प्रयोग किया है । इस ग्रन्थ को ठीक से समझने के लिए इसके आगे के ग्रन्थ को साथ-साथ पढ़ा जाय तो भाव समझने में सुविधा होगी ।

* संचर रहे न सेष=इसमें किसी तरह का फर्क नहीं है ।

+ औगाढ़ ज्यौ=युद्धभय से जो छिपे हुए हैं, वे ही झूठी शेखी बघार रहे हैं ।

= भीछ वाथां पड़ै=भिचते हुए शत्रु-समूह में घुसे जा रहे हैं ।

परणिवानौ घड़ा सार साम्हा चढ़ै, षाइकां पाइकां आज पडणा पड़ै ॥
×वागलै आप भल फौज सनमुषि षड़ै, *ताकातां हांकता जोध हांका करै ॥
आज पैला दलां देषि मारै मरै, +गुरज वाजै सिरां पिसण धुक धड़हड़ै ॥
=सौंण अकारा आज का, पड़ै मडां सिरि मार ॥
सबकौ दीसै म्हालता, गहि 'पांचू' हथियार ॥३॥
आपणै आपणै गहि भरचा बोलता, घणा अमलां किया आंषि नहिं षोलता
()षारकां बाइकां 'अवर कूँ' छोलता, आज का द्यौस नैं षडग सति मोलता ॥
सारधारां 'मुँहि' देषि तनतोलता, मूँछ गहि सापुरिस न्याइ हसि बोलता ।
षड़िया लग कर दाहिणैं, वांवै भुज गहि ढाल ॥
आप अषाड़ै आपकै, सब कोई दीसै 'माल्ह' ॥४॥
सकल साचै मतै दलै दोषियां दला, सूर रिण आहुड़ै षेत षेसै षलां ॥
तीर गोली वहै वांण छूटै छड़ां, घुरै नीसांण मल मांण मोटा भड़ां ॥

पाठभेद—पांचौ-१-५ । और कूँ-५ । मंही-२-३ । माल-१-५ ।

शब्दार्थ—परणिवानौ=वरण करने को, मृत्यु को आलिंगन करने को । वागलै=बागडोर ले, नेतृत्व सँभाले । भडां=सिपाही, पैदल । गहि भरचा=गर्व से भरे । म्हालता=उछलते हुए । सार धारां=तलवार की धार में । सापुरिस=निडर योद्धा । पड़िया लग=शेल, खड्ग, तलवारादि । माल्ह=बड़ा, प्रधान । दबै=मर्दन करे । रिण आहुडै=रण में उमङ्ग से जाय । षेत षेसै षलां=शत्रुओं से संघर्ष कर रहे हैं । घुरै नीसाण=नौबतें गम्भीर-घोष करती हैं, नीसाण-ध्वज फहरा रहे हैं ।

× वागले आप भल फौज सनमुषि षडै=स्वयं विवेक सेनापतित्व करते हुए अपनी फौज के सावन्तों का संचालन कर रहे हैं ।

* ताका तांहां कता जोध हांका करै=शत्रु की ओर ताकते हुए शूरवीर गर्जना के साथ बढ़ावा दे रहे हैं ।

+ गुरज वाजै सिरां पिसण धुक धड़ हुडै=शिर पर खड्ग तलवारें बज रही है, पिसण-शत्रु भयङ्कर प्रहारों से धूज उठे हैं, घबड़ा गये हैं ।

= सौंण अकारा आज का=चपल घोड़े जो आकरे-तेजीवाले हैं, धावा कर रहे हैं ।

() षारकां बाइकां अवर कूँ छोलता=कठोर वचन कहते हुए शत्रुओं को तिरस्कृत कर रहें हैं ।

×जांणि वणराव चूरै चरै वणचरां,*दामणि भड़ां विधि सार धूकै घडां ॥
षड़ग लिये 'षतरी' षसै, मँझ्या महारिण मांहि ॥
=लोह घरट घमसांण मुषि, पड़े स पीस्या जांहि ॥५॥
तौ वाजतै लोहडै पाव मांड्या षरा, काइरां कंदरे गया छिपि 'भंषरां' ॥
षारकौ मारकौ सूर ठावां नरां, घणां चूड़िला 'भाजसी' आज काहू घरां ॥
वीजली तेग कड़कै पडै कुंजरां, जोग संग्राम जोगी 'जुटै' षंजरां ॥
धूम धाम वाजै धका, वापैता मुँहि लाज ॥
अणी मिल्या मैदान, मंझ्यो अषाडो आज ॥६॥
संग्राम जीतै 'जकै' भेद लै यूँ करै, मछर छाडै नहीं पैंड साम्हा भरै ॥
चंद सूरिज मिलै दुरजन षसै षडहडै, जम दाढ़ धमकै उरां करि मूँग
अवला छड़ै ॥
सरप की जीभ ज्यूँ परै अणीं झलका करै,
के लड़े के लड़षड़े थश्या उलटा पडै ॥
मांण न मूकै आपणो, मलै परायो मांण ॥
ऊपर वाडै वोलतां, वोल्या तै परवांण ॥७॥

पाठभेद—षत्री-५। झंकरां-५। भाजस्यै-१। जुड़ै-४। ज्यकै-२।

शब्दार्थ—षसै=लड़ै। षरा=सच्चा शूरवीर। काइरां कंदरे गया छिपि भंषरां=डरपोक भग-भगकर दराजों में छिप गए। घणा चूडिला भाजसी=बहुत सी स्त्रियों के आज चूड़े फूट जायेंगे। तेग=तलवार। कुंजरां=हाथियों पर। जुटै=इकट्ठे हो। वापैतां मुँह लाज=अपने वंश की लाज है। अणी=फौज। मछर=क्रोध। उरां=छाती पर। परै=दूर। माण न मूकै=अपने मान को छोड़े नहीं। मलै=तहस-नहस कर दे।

× जिस प्रकार वन में विचरण करने वाले वनचर वन को चूंटते-खाते रहते हैं, इसी तरह शूरवीर शत्रु की फौज का संहार कर रहे हैं।

* बिजली की चमक की तरह तलवारें चमक रही हैं—शत्रुओं के शिरों पर पड़ रही हैं।

= जो भयङ्कर शस्त्रों की मार में पड़ता है वह पिस जाता है जैसे, घरट में वस्तु पिसती है।

सांगि धक धूणि भुज हाथ मुषि फेरतां, आज का 'दिवस' की वाट नित हेरताँ ।।
कोट दौडे बुरिज दुसमणाँ दलाँ घेरताँ, 'भौमि' वापैतणी देषिजै फेरतां ।।
×जेर जोगी मरद आपणी जेरतां, जन हरीदास साहव सनमुषि सही
सूर तिणि बेरका ।।

सूर समाधि अगाध व्रत, जन हरीदास मन मांहि ।।
पैलानैं भाजै मलां, आपण 'भाजिन' जांहि ।।८।।

कै मारै कै मरि मिटै, सिर दे लेह निज ठौर ।।
जन हरीदास सूरा तिको, काइर का मत और ।।

काइर टलि कानै चलै, डरता रहै दुराइ ।।
जन हरीदास ता पतित का, दरसण करै बलाइ ।।

सूर तहां धीरज सदा, मनि आतुरता नांहि ।।
हैदल गैदल देषि करि, झीकै झाझां मांहि ।।

जन हरीदास मसतग रह्या, हरि को सौंप्या जांणि ।।
दूजा माथा षिरि पड्या, वैली षैंचा तांणि ।।

तीर तुपक 'गोली' वहै, विनसि जाइगा चाम ।।
सूरां का मैदान मैं, कहा काइर का काम ।।९।।

।। इति सूरसमाधि जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ।।

पाठभेद—धोस-३-४। भौम्य-१। भाज्यन-५। वरछी-३।

शब्दार्थ— कोट दौडे=किलेको तोड़ दे। वापैतणी=बपौती की, वंश-परम्परा को। काइर टल काने चले=डरपोक टलकर किनारा लेते हैं। दुराइ=छिप कर।

× साधक, योगी और मर्द अपनी कमियों को हरा रहे हैं।

॥ अथ सूरसमाधिअर्थ जोगग्रन्थ ॥

मोह कहै वमेक सूँ, वैर किया सुष कौंण ॥
मेरी वसुधा ऊपरै, तूँ ज करत है गौंण ॥१॥
आप सराहे आपकूँ, कौंण वड़ाई एह ॥
तेरी वसुधा तूँ धणी, तौ तूँ सिर साटै देह ॥२॥
जीवरषी जरणां इहां, 'उहां' आसा की आरथि ॥
मोह वमेक दोन्यूँ मरद, आइ मँड्या भारथि ॥३॥
इहां तूर सतगुर सवद, राग दोष वहाँ तूर ॥
जन हरीदास काइर डरै, सूरां दूणौं नूर ॥४॥
सील गयंद जहां अणसरै, काम 'गयंद' मिटि जाइ ॥
जन हरीदास ता घटि मदन, 'वहौड़ि' न गरजै आइ ॥५॥
असलि ग्यांन जा घटि उदै, अंतरि प्रगटै आइ ॥
तहां जन हरीदास अग्यान गत, लोभ कहां ठहराइ ॥६॥
मांनि अमांनि हसती 'उहां', इहां दया गरीबी देष ॥
जन हरीदास 'चौदंत' भया, संचर 'रहै' न सेष ॥७॥
उहां कुवुधि नालि दारू गरव, गोला मैं तैं मांहि ॥
वमेक सार्थि सनमुष लड़ै, मार मुँहै मुँहि पांहि ॥८॥
इहां सुवधि नालि दारू दरद, गोला विरह अपार ॥
जन हरीदास काइर डरै, पड़ै भडां सिरि मार ॥९॥
पाप पुनि जोधा वहां, इहां जोधा वैराग ॥
जन हरीदास निरभै मतै, 'दुहूँ' उपाड़ी वाग ॥१०॥

पाठभेद—वहाँ–१-४ । गइंद–२ । बहुड़ि–१ । वहाँ–२-५ । चवदंत–१ । रह्या–१-५ । दहौं–५ ।

शब्दार्थ—गौंण=गवन, जबरन अधिकार । साटै=बदले में । जीवरषी=ढाल । भारथि=संग्राम, युद्ध । तूर=तुरही, रणभेरी । नूर=चमक, तेजस्विता । मदन=काम । अग्यान गत=अज्ञान नष्ट हुआ । चौदंत=आमने-सामने । सेष=बाक़ी । नाल=तोप । भडां=सैनिक, योद्धा । उपाड़ी=सँभाली, बागडोर–नेतृत्व सँभाला । वाग=लगाम, सेनापतित्व ।

इहां मजन गुरज उहां 'त्रिविधि' रस, षेत मंड्या षल आज ॥
जन हरीदास काहू घरां, आज निकंटो राज ॥११॥

कहै संतोष असंतोष सूँ, अपणी अपणी टेक ॥
तूँ तौ चाकर मोह कौ, मेरे धणी वमेक ॥१२॥

अणभै वांणी वाण इहां, उहां मनोरथ तीर ॥
मोह वमेक 'धौंचक' करै, काइर धरै न धीर ॥१३॥

इहां हेत षड़ग षेडी षिमां, उहां चिंता ढाल षड़ग छोह ॥
जन हरीदास लोभी नरां, आज वाजिसी 'लौह' ॥१४॥

इहां विचार अभिमान, उहां घरट दहुँ दल मांहि ॥
महाजोध मांजै घरट, काइर पीस्यां जांहि ॥१५॥

इहां तप तरवारि 'त्रिसना' उहां, पड़ै चोट सूँ चोट ॥
सूरवीर साचै मतै, काइर ताकै वोट ॥१६॥

इहां तत्त तरवारि करि, उहां चाहि तेग करि लोइ ॥
इहां षंजर धुनि ध्यान करि, उहां षंजर गुण दोइ ॥१७॥

इहां जमदाढ़ करि जोग की, उहां जमदाढ़ गुण देह ॥
ताती सीली दोइ मिली, चंद सूर गुण 'येह' ॥१८॥

इहां सेल अनहद सवद, 'विवधि' सवद उहां सेल ॥
मोह 'वमेक' मारैं मरैं, मंड्या पहम परि षेल ॥१९॥

पाठभेद—त्रिवधि–२-४। त्रिवध–४। धूँचक–५। लौहि–४। तिसना–१। त्रिष्ना–३। एह–४-५। विविधि–१। विमेक–१।

शब्दार्थ—निकंटो=निष्कण्टक। टेक=हठ, आग्रह। चाकर=सेवक। धौंचक=उत्पात, ऊधम। षेड़ी=इस्पात, खरा लोहा। छोह=क्रोध, गुस्सा। लोह=विविध शस्त्र। महाजोध=परम शूरवीर। भांजै=तोड़े, मोरचा भङ्ग करे। पीस्या=पीसते, नाश करते। चाहि=तृष्णा, इच्छा। तेग=तलवार। गुण दोइ=रज, तम। जमदाढ़ि=मृत्यु, काल।

मन राजा काया सहर, मोह बमेक सुत दोइ ॥
जन हरीदास 'जीत्या' बमेक, मोह गया मुँह गोइ ॥२०॥

॥ इति सुरसमाधिअर्थ जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

॥ अथ निरवर्त्ति-परवर्त्ति जोगग्रन्थ ॥

सपत धात की सौंज सब, अहुँ गिर 'परगट' कीया ॥
नौ दरवाजा राषि, त्रिगुण तहां चूना दीया ॥१॥
पांच तत सति छोह, महा सुन्दर पुर काया ॥
नाना बुरज अनेक, चित्र कांगुरा बणाया ॥२॥
नौ सै षाई कोट, पाँच 'पायक' अभिमानी ॥
महल 'वहैतरि' मांहि, दोइ वारूँ पटरानी ॥३॥
चित्त चंचल परधांन, वात नाना विधि वांनी ॥
रंग रोस रस साहि, मन राजा रज ध्यानी ॥४॥
आपै का सिरि छत्र, 'अहूँ' आवध कर मांही ॥
'परवै' सेती प्रीति, नेह निरवै सूँ नांही ॥५॥
परवै करै सिंगार, हाँक दै 'लोक' हँकारै ॥
निरवै रहै निरास, नहीं काहू कै सारै ॥६॥

पाठभेद—जीता-१। प्रगट-१। पाइक-३-४। वहैतर-३-५। अहं-१। प्रवै-१। लोग-१।

शब्दार्थ—गोइ=छिपा कर। सपत धात=रसादि सात धातुओं से बना शरीर। अहुँ गिर=अहङ्कार रूपी पहाड़। सति छोह=सत्य, क्रोध। नौ सै षाई=नौ सौ नाड़ियाँ। पांच पाइक=पञ्चज्ञानेन्द्रिय प्रधान सेवक। वहैतरि=कोठे। पटरानी=महारानी, वृत्ति बुद्धि दोनों। परधान=मंत्री, प्रधान सलाहकार। रज ध्यानी=राजधानी, देहरूप राजधानी। परवै=प्रवृत्ति। निरवै=निवृत्ति मार्ग।

निरवै पुत्र वमेक, सुवधि कुलवंती नारी ॥
सील संतोष परधान, ग्यांन चाकर षगधारी ॥७॥
सरधा कै वर सील, संतोष कै 'सुमता' नारी ॥
षिमा वरयो वर ग्यांन, विचार वारूँ दरवारी ॥८॥
परवै कै सुत मोह, कुवधि सूँ फेरा लीया ॥
कांम क्रोध परधांन, लोभ अग्यांन 'सँगि' कीया ॥९॥
रुति वरयौ वर कांम, क्रोध 'हंसि' 'हिंसा' परणी ॥
आसा कै वर लोभ, अग्यांन कै चिंता घरि घरणी ॥१०॥
'चौसटि' चेड़ी साथि, छकी अपणै रंग राती ॥
दुष सुष दोइ दरवार, तहाँ षेलै मदमाती ॥११॥
मनसा मनहरै, चरै नानाविधि षंडै ॥
काम क्रोध 'अभिमान', तहाँ फिरि आसण मंडै ॥१२॥
कुवधि घटा घरहरै, षिंवै नानाविधि गाढ़ी ॥
लोभ लूँव झड़ मंड्या, मोह की सेन्या ठाढ़ी ॥१३॥
महा मनोरथ राति, 'तहाँ' कछु सूझै नांही ॥
सांसो 'हंस्या' चित्त, षुसी षेलै ता मांही ॥१४॥
सोग विवोग अभिमान, 'तहाँ मिलि षेलै सारी ॥
देषि प्रांण थरहरया, उरयां मैं मान्या भारी ॥१५॥
तहाँ विचार वमेक बुलाया, सील संतोष ग्यांन संगि आया ॥
वीड़ा सब काहू कूँ दीया, हाथ पसारि षुसी 'हुइ' लीया ॥१६॥

पाठभेद—सुमिता-१। संग्य-२। हँस्या-२-३। चौष्टि-५-४। परधान-५। हिंसा-१। अंहू-३-४। व्है-१।

शब्दार्थ—षग धारी=खड्गधारी। वर=पति। वरयो=अपनायो, पति स्वीकार कियो। वारूँ=न्यौछावर करूँ। दरवारी=दरबार के प्रमुख सदस्य। रुति=रत, आसक्त। परणी=ब्याह किया। घरणी=गृहणी, पत्नी। चौसटि चेड़ी=चौसर-कला में सहेलीरूप में। षंडै=विभक्त करे। मंडै=रोपे, लगावे। षिंवै=चमकै, प्रतीत हो। गाढ़ी=गहरी, खूब। ठाढ़ी=मजबूत। सांसो=संशय, भ्रम। हंस्या=हिंसा। थरहरया=कम्पित हुआ। वीड़ा=जिम्मेदारी उठाना, उत्तरदायित्व लेना।

सेन्या मोह सबल है भाई , ज्यूँ जांणौ त्यूँ करौ लड़ाई ।।
कहै विचार प्रथम जुध मेरा, मारि क्रोध मुक्ता द्यों डेरा ।।१७।।
संक पंक भय नांही मेरे , मारूँ काम क्रोध के डेरे ।।
कहै संतोष पाँचि वसि करिहूँ, लालच छाड़ि लोभ सूँ लरिहूँ ।।१८।।
ना मैं डरूँ न जुध करि हारूँ, लालच लोभ षेत धरि मारूँ ।।
सील काम अपणे वस कीया, 'परवल' जीति दाढ़ तलि दीया ।।१६।।
ब्रह्म अगनि में 'जारि' उड़ाया, निरभै प्रांण नांव सूँ लाया ।।
प्रगट्या ग्यांन अग्यान भ्रम भागा, धीरज वाँण मोह कै लागा ।२०।
काइर कहै कहा बल मेरा , जे मिटि गया काम क्रोध सा चेरा ।।
षिमा षड़ग लै हाथि , चिंत हिंस्या दोइ मारी ।।
सांसौ गयौ बिलाइ , दया कै महल पधारी ।।२१।।
सुबधि कुबधि कौ ग्रासि , साथि 'सुमता' कै चाली ।।
सरधा कै करि बांण , मोह की सेन्या पाली ।।२२।।
सिदक सबूरी सांच , जोग बलि जरणां जारै ।।
सोग विवोग अभिमान , मोह का मूल उपारै ।।२३।।
काम रूति अटि सबल , और अणभै रुति आई ।।
झड्या मनोरथ पान , ×मेर सिरि गंग समाई ।।२४।।

पाठभेद—प्रवल–१-५ । जालि–२ । सुमिता–१ ।

शब्दार्थ—मुक्ता=खूब, बहुत । संक पंक=घबराहट, झिझक । पांच वसि=ज्ञानेन्द्रियों के वश में । षेत=रणक्षेत्र । परवल=प्रवल, सजोर । षिमा=क्षमा । चित=चिन्ता । हिंस्या=हिंसा । सांसौ=संशय । विलाइ=विलीन, गायब । ग्रासि=खाकर । पाली=परवरिश की, रक्षा की । सिदक=सचाई । जोग वलि=साधना-शक्ति से । सोग विवोग=शोक, वियोग । अटि=अटकी, रुकी । अणभै=अनुभव । झड्या=अलग हुआ, दूर हुआ ।

× मेर सिरि गंग समाई=दशमद्वार में सुरतिवृत्ति पहुंची ।

*'ल्यौंकी' कै सुत जागि, सिंघ वन माँही मारया ॥
×महकी करै मलार, सुसै फिरि स्वान 'सिंघारया' ॥२५॥
षिमा सँवारै सेभ, वसै चींटी निरदावै ॥
'महकी' करै 'सिंगार', षेत पर षांण न पावै ॥२६॥
+मूसा कै उरि सेस, उलटि जल माँही पैठा ॥
कुंजरि चढ्या 'आकास', मछ कुंभसथलि वैठा ॥२७॥
पिसण गया पग छाड़ि, भरम का ताला भागा ॥
तरवर येक अनूप, प्राण 'तिंहि' तरवरि लागा ॥२८॥
=वसुधा सूँ जड़ नांहि, ÷गोढ तरवर नहिं पाया ॥
इंम्रत फल रस रूप, महासुष सीतल छाया ॥२९॥
ता तरवर में वास, मोह नहिं व्यापै माया ॥
निरालंव निरलेप, अगम गुरगम तैं पाया ॥३०॥
परसि निरंजन देव, भेद लाधा 'भ्रम' भागा ॥
आनंद अगम अथाह, मन मनसा तहाँ लागा ॥३१॥
'परम' ग्यान पर ध्यांन, आन रस 'परसि' न पीवै ॥
परम सूनि परदेव, जागि लागै सो जीवै ॥३२॥

पाठभेद—लौकी-१ । स्यंघारचा-२ । महिषी-१ । सेंणगार-१ । आकासि-१-३ । तहां-१ । भरम-१-५ । प्रम-१ । प्रसि-१ ।

शब्दार्थ—ल्यौ की=लगन की । महकी=भक्तिरूप मक्खी । षर=काम-क्रोधादि । मूसा=विचाररूप चूहा । सेस=संशयरूप सर्प । कुंजर=प्राणरूप हाथी । चढ्या आकास=दशम द्वार में पहुँचा । मछ=मनरूपी मछली । गोढ=जड़, मूल । आन=अन्य, और । परसि=स्पर्श कर ।

* ल्यौ की-लगन के ज्ञानरूपी सुत जागृत हैं, सावधान हैं । अज्ञानरूपी सिंह को देहरूपी वन में मार लिया ।

× भक्ति रूप महकी=मक्खी प्रसन्न हो रही है, संतोषरूप सुसे ने लोभरूपी कुत्ते का संहार कर दिया है ।

+ मूसा-विचाररूपी चूहे ने संशयरूप सर्प को निगल लिया ।

=वसुधा सूँ जड़ नांहि-पञ्चभूतात्मक शरीर में अब अध्यासरूपी जड़ नही है ।

÷ गोढ तरवर नहिं पाया-ब्रह्मरूप अविनाशी तरुवर का मूल प्राप्त नहीं किया ।

परम तेज पर जोति, जौंति मैं जोति 'निवासा' ॥
उलटा चढ्या अकासि, मूल मंडल मैं वासा ॥३३॥
ब्रह्म 'छोलि' मैं छक्या, लोभ की 'लाइ' बुझांणी ॥
ब्रह्मा विष्न महेस, सेस भागा विणि पांणी ॥३४॥
नारद सेती नेह, ग्यांन गोरष रजध्यांनी ॥
अनहद सबद उचार, सुरति निज सबद समांनी ॥३५॥
पाँचौ 'पांडू' फेरि, घेरि अपणै घरि आया ॥
चांवड़ कै सिरि चोट, भेद भैरूँ का पाया ॥३६॥
'केरूँ' सेनि अपार, अटकि अरि फौज उड़ाई ॥
चंद सूर समि किया, तत्त सूँ ताली लाई ॥३७॥
'नौसै' जोगणि साथि, फेरि जाता मन लीया ॥
*अनंत सिधां सूँ प्रीति, सहज मैं स्यौं रस पीया ॥३८॥
नऊँ नाथ निज ठौर, अकल तरवर की छाया ॥
ग्यांन 'सिंघासणि' वैसि, राम रटतां पति पाया ॥३९॥
जथा तिलां मैं तैल, 'काष्ठ' मैं अगनि निवासा ॥
जथा दूध मैं घिरत, 'पहौप' मैं परमल वासा ॥४०॥

पाठभेद—न्यवासा-३-५। छोल्य-२। छोल-५। लहर-५। पांडौ-५। कैरों-१। नवसै-१। स्यंघासण-२। कासट-२। पहुप-१-५।

शब्दार्थ—लाइ=अग्नि। बुझांणी=शान्त हुई, बुझी। ब्रह्मा विष्न महेस=रज, सत, तम। सेस=संशयसर्प। भागा विणि पांणी=मायारूपी पानी के अभाव में भग गया। नारद=नामचिन्तन रूप नारद। पांचौ पांडू=पांचो ज्ञानेन्द्रियाँ। चांवड़=कुमति। भैरूँ=भ्रम रूप। केरूँ सेन अपार=विकाररूप कौरवों की अपार सेना है। चंद सूर=मन-प्राण। तत्त=ब्रह्मतत्व। नौसै जोगणि=नौ सौ नाड़ियाँ प्राण के साथ हैं। नऊँ नाथ निज ठौर=पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ चारों अन्तःकरण अन्तर्मुख हैं। जाग्या=साधना में लगा, सचेत हुआ।

* अनंत सिधां सूँ—नानाविधि साधनसम्पत्ति से प्रेमकर सहज दशा में पहुंचकर आत्मानन्दरूपी कल्याणदायी रस का पान किया।

यूँ जन हरीदास अवगति अगम, व्यापि रह्या सब मांहि ॥
कोई जन जाग्या सो जांणिहै, सूता जांणै नांहि ॥४१॥

॥ इति निरवर्त्ति-परवर्त्ति जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

॥ अथ मायाछंद जोगग्रन्थ ॥

फूहड़ी धूहड़ी धावंती, डंक भरे भर पावंती ॥
राम विमुष तहाँ जावंती, मोह नदी मैं न्हावंती ॥
अपणै अंगि लगावंती,
करणहार करतार जगतगुरु, दीनदयाल भुलावंती ॥
कबहुँ भांमणी कबहूं माता, अपणै षोलै राषि पिलावंती ॥
कबहूं रूसै कबहूँ तूसै, नेह 'म्रदंग' बजावंती ॥
कबहूँ ताती कबहूँ सीली, जीवां जेरि जिरावंती ॥
जोगणि होइ 'जुग' उद्रहि जालै, जहर 'पियाला' पावंती ॥
भूँड़ै 'मुँहड़ै' डाकणि डोसी, भूला नैं भरमावंती ॥
ऊँच नीच सब सूँ मिलि षेलै, भूषी भोगि लगावंती ॥
'दुहूँ' अंगां आपण व्है षेलै, नाना भेष बणावंती ॥
डाकणी पापणी सापणी भांमणी, भोगणी भेद दे रोगणी ॥
जोगणी जागणी, भूतणी लागणी ॥
भूकरी सूकरी कांगणी कूकरी, आछणी चोपणी नरक की टोकणी ॥
जरजरी जहरणी, कालगति कहरणी ॥

पाठभेद—मिरदंग–१-५ । जग–५ । प्याला–१ । मौंहड़े–२ । दहूँ–३ । दहौं–५ ।

शब्दार्थ—फूहड़ी=बेशहूर । धूहड़ी=मैली, मलीन । षोलै राषि=गोद में बैठा । रूसै=नाराज हो । तूसै=तुष्ट हो, राजी हो । जेरि=जेरवार करना, हैरान करना । भूँड़ै=बुरे, विकृत । मुँहड़ै=मुँह से । डोसी=डोकरी, पुरानी । दुहूँ अगां=स्त्री, पुरुष । भूकरी=गधी । जरजरी=जीर्ण, क्षीण करने वाली । कहरणी=कष्टदायक ।

त्रिवधि तन धारणी, हेत दे मारणी ॥
आंवणी जावणी, डहकि डहकावणी ॥
साध भै थरहरै, प्रगट मारी मरै ॥
पांव पाछा धरै, अगनि मै पैसतां धसै पाछी परै ॥
जन हरीदास माया मतै, मिलै स माया होइ ॥
हरि साचा सूँ साचा मिलै, तौ पला न पकड़ै कोइ ॥

॥ अथ मायाछंद जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

॥ अथ जोगमूल सुखजोगग्रन्थ ॥

नीचै डाल मूल भया ऊपरि, 'अजा' सिंघ सूँ झूँझै ॥
मकड़ी कूँ माषी नहिं छाड़ै, आंधा कूँ सब सूझै ॥१॥
मूसै दौड़ि विलाइ पकड़ी, चिड़ै सिंचाणा पाया ॥
सास वहू कै पागे लागै, समंद वूँद मैं पाया ॥२॥

पाठभेद—अज्या–२-५।

शब्दार्थ—त्रिवधि=त्रिगुणात्मकरूप वाली। डहकि=वहक, भ्रान्त हो। साध भै= साधु साधकों से डरे। थरहरै=कम्पित हो। अगनि=ज्ञानाग्नि। पैसतां=धँसता, प्रवेश करता।

१ली साखी—मूल-पूर्णब्रह्म सर्वोपरि है, माया आदि डालियां हैं जो मूल से बाद में हैं देह में विवेकविचार का मूल मस्तिष्क ऊपर है हाथ-पैर आदि शाखायें नीचे हैं। सुस्थिर गुणरहित अजारूपवृत्ति अहङ्काररूपी सिंह से झूँझ रही है। कुबुद्धिरूपी मकड़ी को सद्मतिरूप मक्खी समाप्त करती है। विषयवासनारूप नेत्र नष्ट हो गये ऐसे अन्धे को पूरा आत्मज्ञान दिखाई देने लगा।

२री साखी—आत्मविचारमय चूहे ने दौडकर-झपटकर वासनारूपी बिल्ली को पकड़ लिया। सन्तोषरूपी चिड़े ने लोभरूपी बाज को खा लिया। त्रिष्णारूपी सासू-प्रेमाभक्तिरूपी बहू के पैरों पड़ी, वशीभूत हुई। आत्मारूपी बूँद में परब्रह्मरूपी समुद्र की प्राप्ति हुई।

पिंगुलै 'माग' अगम का लाधा, बहरै सब कछु सुँणिया ॥
मूरिष 'पिंडत' की गति पाई , सूत जुलाहा बुँणिया ॥३॥
मीन मगर कूँ षावण लागी , 'दादरि' उरग पचाया ॥
पांणी मांही अगनि प्रगटी , तिल मैं मेर समाया ॥४॥
सींचत वाड़ी सब 'कुँमिलावै' , काटत वहु फल लागा ॥
चोर साह कै 'मिंदरि' पैठा , साह 'गिरह' तजि भागा ॥५॥
षाट पुरिस पर सोवण लागी, हांडी अन मैं रांधी ॥
'मतग' जम कूँ दई सासना , गाइ वाछड़ै वांधी ॥६॥

पाठभेद—माघ–१-५ । पंडित–३-५ । दादर–३-५ । कुमलावै–५ । म्यंदरि–२ । मिंदर–५ । गृह–५ । मृतक–४-५ ।

३री साखी—संकल्प-विकल्परूपी पैरों के बिना पंगुल मन ने अगम आत्मतत्व प्राप्ति का मार्ग पाया । बाहरी शब्दों को सुनने की भावना से विहीन बहरे ने अनहद नाद का श्रवण किया । सांसारिक पदार्थों से उदासीन मूर्ख ने तात्विक ज्ञान की पंडिताई प्राप्त की । सुरतिवृत्तिरूपी डोरी–सूत ने आत्मतत्वरूप जुलाहे को बुन लिया, पा लिया ।

४थी साखी—निर्गुणभक्तिरूपी मछली ने मोहरूप मगर को खा लिया । तात्विक ज्ञानरूपी दादुर ने संशयरूप सर्प को पचा लिया–निःशेष कर दिया । प्रेमप्रवाहरूप पानी में विरहाग्नि की उत्पत्ति हुई । ज्ञानरूप तिल में अज्ञानरूप मेरु समा गया–समाप्त हो गया ।

५वीं साखी—विषय वासना के पानी से यदि भक्तिरूपी बाड़ी को सींचा जाय तो वह कुम्हला जायगी । विषयवासना को जैसे-जैसे काटते जाओगे–हटाते जाओगे वैसे ही वैसे भक्तिरूप बाड़ी पुष्ट होगी और उसमें त्याग, शील, सत्य, सन्तोषादि विविध फूल खिलने लगेंगे । आत्मविचाररूपी चोर देहाभिमानरूपी शाह के घर में प्रविष्ट हुआ तो देहाभिमानरूप साह देहरूपी घर को छोड़ कर भाग गया–निकल गया ।

६ठी साखी—प्रेमाभक्तिरूपी खाट साधक पुरुष पर सोने लगी–मस्तीरूप में सर्वदा चढी रहने लगी । आत्मविचाररूपी अन्न में देहाध्यासरूपी हांडी को रांध लिया, विगलित कर लिया । जीवन्मुक्त अवस्था वाले मृतक साधक ने काल को सासना दी, काल को जीत लिया । विषयों की ओर जाती हुई वृत्तिरूपी गाय को सुस्थिर प्राणरूपी बछड़े ने बांध ली, रोक ली ।

फूल कली मैं गया समाइ, सो कबहूँ नहिं फूलै ॥
तन पांणी मैं भीजै नांही, विणि पांणी निति झूलै ॥७॥
×'पांचौ' मिलि मत भल उपायो, बुरै पंथ नहिं जांही ॥
निसदिन ग्यांन गुफा मैं पांचौ, बाहरि निकसे नांही ॥८॥
'सातूँ' समद सुषाया चौड़े, जल की ठाहर षोई ॥
वैरी आय मिल्या चाकर व्है, गिरवर ढाह्या दोई ॥९॥
सतगुर थिति समझाई अंतरि, ता तैं निसदिन जागा ॥
तीन ताप तन की तब भागी, सीतल सुष तब लागा ॥१०॥
लेता डांण जगाती 'डंड्या', सब अपणैं बसि कीया ॥
गहि गुर ग्यांन ध्यांन धरि अंतरि, 'साहि कूँ' सरवस दीया ॥११॥
सूक 'व्रिष' तजि 'वहौ' सुष पाया, *तरवर अकल बसेरा ॥
सीत धूप दोऊँ नहिं व्यापै, पकड्या निहचल डेरा ॥१२॥

पाठभेद—पांचू–२-४ । सातौ–१-३ । दंड्या–१ । साहिब कूँ–१-५ । वृष–३ । वृछ–५ । वहु–१ ।

शब्दार्थ—थिति=स्थिति, दशा । डांण=कर । जगाती डंड्या=विषयों को प्राप्त करने वाले जगाती मन को दंडित किया, निरुद्ध किया । साहकूँ=परमेश्वर को । सूक व्रिष तजि=संसाररूपी निष्फल वृक्ष को छोड़ । सीत धूप=सुख दुःख, माया अविद्या ।

× पाँचो ज्ञानेन्द्रियों ने अन्तर्मुख हो आत्मनिष्ठ रहने का अच्छा निश्चय किया ।

* तरवर अकल बसेरा=कलनरहित परब्रह्मरूपी वृक्ष में बसेरा–निवास कर लिया ।

७वीं साखी—विविध विषय की भावना के फूल निश्चलवृतिरूप कली में समा गये अतः उनके पुनः खिलने की कोई आशा नहीं । देहाध्यास से रहित आत्मविचार में लगा हुआ स्थूलशरीर अब विषयभोग के पानी से नहीं भीजता–उनमें प्रवृत नहीं होता । वह अब बिना पानी वाले आत्मानन्दरूपी सरोवर में नित्य झूलता है, उसी में ओतप्रोत रहता है ।

९वीं साखी—काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, अहङ्काररूप सातों समुद्रों का शोषण कर लिया । भोगरूपी जल की ठाहर–स्थान वासना थी, उसको निर्मूल कर दिया । शब्द स्पर्शादि जो प्रबल पाँच विषय वैरी थे वे अब सेवक बन गये, ममता और मोह के दोनों पहाड़ों को ढहा लिया ।

मोह अर दोह दहुँ तैं न्यारा , सुष मैं जाइ समाया ॥
सतगुर सरणि भली मति उपजी, षाता सोई षाया ॥१३॥
मनसा वाचा आरंभ तजियौ , करम करै नहिं काया ॥
सुमिरो 'एक' अषिल अविनासी, परहरि छोटी छाया ॥१४॥
उपजी अकलि वड़ाई त्यागी , असलि गरीवी आई ॥
भजौ निरंजन परहरि दुष सुष , छाड़ी आंन सगाई ॥१५॥
निरंजन सदा सहाइ हमारै , कांम न विगड़ै कोई ॥
आसा त्रिसना छाड़ि मनोरथ , मन की दुविध्या षोई ॥१६॥
पाक पीर सूँ भेट्या भै तजि , तव सव कुछ समझाया ॥
असलि अकलि हिरदा मैं मेल्ही , साध संगति सुष पाया ॥१७॥
पाक पाक मैं जाइ समावे , ठौड़ मैल कूँ नांही ॥
मैल मैल की जाइगा पहुंचै , समझि देष मन मांही ॥१८॥
माया मैल सकल जुग मैला , निरमल साधू कोई ॥
पांच स्वाद तजि भजै 'निरंजन', सकल मैल तनि धोई ॥१९॥
हिरदै मैल रती नहिं राषै , भजै सदा 'अविनासी' ॥
गरभवास सो कवहु न आवै , पड़ै न जम की पासी ॥२०॥
तन मैं कँवल तहां मन मेरा , उलटि न वाहरि आवै ॥
स्वाद 'वसत' का भारी लाधा , निसदिन इंम्रत पावै ॥२१॥
जैसे सीप समद मैं ऊँडै , स्वांति वूँद लै पैठी ॥
षारो पांणी पीवै नांही , समटि आपणपौ वैठी ॥२२॥

पाठभेद—येक–२-५ । न्यरंजन–२ । अभिनासी–१ । वस्त–१-४ ।

शब्दार्थ—परहरि छोटी छाया=सांसारिक नाशवान पदार्थों की छोटी छाया का आश्रय छोड दिया । दुविध्या=अनिश्चय भावना । पाक पीर सूँ=माया अविद्याहीन परब्रह्म से । भेट्या=मिला । मैल=अविद्या, अज्ञान । जाइगा=स्थान । पांच स्वाद=पांचो विषय । कँवल=हृदय कमल । वसत=वस्तु, आत्मज्ञान । आपणपौ=अपनापन ।

जैसे निजरि चकोर न षंडै, सीतल सुष कूँ लौड़ै ॥
अंगार चुगै पर दाझै नांही, निजरि चंद सूँ जोडै ॥२३॥

चात्रिग नीर नीच नहिं पीवै, ऊँच बूँद कूँ चाहै ॥
तन षोवै 'पण' छाडै नांहिं, ऐसो सदा निवाहै ॥२४॥

हंस 'मुकताहल' निसदिन 'टूँगै', करंक काग तैं न्यारा ॥
काग कुवधि सूँ नेह न वांधै, ऐसी गहै विचारा ॥२५॥

कीटी 'भ्रंग' गहै भै हिरदै, भ्रंग हेत नहिं वारा ॥
काया का गुण सब ही त्यागै, तब जाइ पहुँचै पारा ॥२६॥

कुरंग नाद सूँ सुरति लगावै, देह विसरि सब जाई ॥
'धीरज' पकडि गहै पण काठो, बांण वधिक का पाई ॥२७॥

मीन मरै पांणी जब त्यागै, विणि पांणी नहिं जीवै ॥
भजै निरंजन ऐसे साधूँ, 'अविनासी' रस पीवै ॥२८॥

पतंग दीप कूँ सरवस देवै, तन मन आपो षोवै ॥
ऐसे साधू सनमुष हरि सूँ, उलटि न पाछो जोवै ॥२९॥

चोरी चोर करै हिरदा 'सुध', तजै देह की आसा ॥
मोटो माल गहै हिरदा मैं, समझि दाहिणी भासा ॥३०॥

सती अगनि मैं काया होमै, पीव प्रीति कै आटै ॥
तजै सासरो पीहर त्यागै, मन कितहूं नहिं वांटै ॥३१॥

सूर पीठि पाछी नहिं फेरै, सनमुष घोड़ौ घालै ॥
पैला अरि दल जीत सबै ही, साहिब तजि नहिं चालै ॥३२॥

पाठभेद—पणि–३-४। ठोंगै–५। मुक्ताहल–३-४। भृंग–५। भिरंग–१। धीरज्य–१-४। अभिनासी–१। सुद–५।

शब्दार्थ—लौडे=चाहे, प्राप्त हो। अंगार=अग्नि। दाझै=जले। चात्रिग=चातक, पपीहा। नीच नीर=भूमि पर पड़ा पानी। पण=प्रतिज्ञा, हठ। टूंगै=चुगे। कीटी=कीट, लट। गहै पण काठो=दृढ़ प्रतिज्ञा करे। सुध=निर्मल। दाहिणी भाषा=आत्मोपदेश, ब्रह्मवाणी। आटै=वास्ते, लिये। वांटै=लगावे, खंडित करे।

चंदन और त्रिछ नहिं होइ, 'और' 'त्रिछ' सब काचा ॥
'और' 'त्रिछ' चंदन की संगति, व्है चंदन सति वाचा ॥३३॥
हीरा मांहि पड़ै नहिं झांई, पाँच रंग की कोई ॥
फूटि फटकि मणि वेगी जावे, दुष सुष व्यापै दोई ॥३४॥
सतगुर सरणि गई सब 'दुवध्या', 'एक' निरंजन पाया ॥
करम 'विवरजित' सकल वियापी, सो मेरे मनि भाया ॥३५॥
पापर 'पुंनि' 'दहुं' तैं न्यारा, साधां का मत आया ॥
ऐसी समझि पड़ो हिरदा मैं, करम अर भरम वहाया ॥३६॥
साच 'कहूं' मिथ्या नहिं 'बोलूँ', अविनासी सुष दीया ॥
मन की कसर दई सब नीचै, तब अपणां करि लीया ॥३७॥
जन हरीदास 'अविनासी' संगति, आवागवँण चुकाया ॥
अमर जड़ी हिरदा मैं राषी, स्वाद समद मैं पाया ॥३८॥
जन हरीदास निरभै पद पाया, भै नहिं व्यापै कोई ॥
जैसे 'नदी' 'समद्रि' पहुँचै, एक हुवा 'तजि' दोई ॥३९॥
जन हरीदास काया तजि माया, अरूप रूप सूँ मिलिया ॥
जैसे आटै लूँण न अंतर, एकमेक व्है मिलिया ॥४०॥

॥ इति जोगमूल सुषजोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

पाठभेद—अवर–१। विरष–१। दुविध्या–१। येक–२। विवरजत–४। पुण्य–५। दुहुं–१। दहौं–५। कहौं–१। बोलौं–१। अभिनासी–१। नदियां–५। समद–५। तज्य–२।

शब्दार्थ—झांई=प्रतिविम्ब, परछांही। वेगी=शीघ्र, जल्दी। विवरजित=रहित। दहुं=दोनों से। कसर=खोट, कमी। आवागवँण=आना-जाना। समद=आनन्द सागर।

॥ अथ अज्ञानपरीक्षा जोगग्रन्थ ॥

बुराई छाड़ि भलाई पकड़ी, भै 'तजि' निरभै गाया ॥
ध्र्यादिक छाड़ि अधर सूँ लागा, मल तजि निरमल पाया ॥१॥
हीरा गहि कौड़ी सूँ न्यारा, कंचन काच छुड़ाया ॥
कूप छाड़ि सागर सूँ लागा, झूठ तजि साच सुहाया ॥२॥
मुकताहल गहि गुंजा 'सूं' बिरकत, विष तजि इम्रत पीया ॥
थोथा छाड़ि 'कणूँका' साह्या, छाछि तजी घ्रत लीया ॥३॥
मरकट मति त्यागी हिरदा तैं, कूरम मति लै जागा ॥
काग 'बुधि' सूँ विरकत हूवा, हंस बुधि सूँ लागा ॥४॥
उल्लू ग्यांन नहीं 'मन' मानै, चकोर ग्यांन चित धारचा ॥
भंवर वासना लेह कँवल की, मींडक का मत हारचा ॥५॥
काइर का मत परहरि प्रांणी, सूर मता मैं रहिये ॥
बहौ पुरषां सूँ मिलतां नारी, पतिवरता क्यूँ कहिये ॥६॥
पतिवरता पति कूँ नहिं छाड़ै, स्यंघ घास नहिं षाई ॥
साधू सदा भजै अविनासी, चौर चौर पै जाई ॥७॥
सति सील मैं रहै अहो निस, असती कांम कै काठै ॥
सती असति संगि नहिं वैठे, सती असती तैं नांठैं ॥८॥
कंचन चिरम वरावरि तूलै, पड्या अगनि मैं व्यौरौ ॥
चिरम जलै कंचन ज्यूँ कौ त्यूँ, मिटै चिरम कौ जोरौ ॥९॥
पड़ै फटिक मैं पांचो झांई, हीरा मैं नहिं पैठे ॥
अहरणि घण 'विचि' हीरा ठहरै, चोट 'फटिक' परि वैठे ॥१०॥

पाठभेद—तज्य–२ । कणौंका–५ । कुवधि–३-५ । मन्य–२ । मनि–४ । विच–५ । फटक–५ ।

शब्दार्थ—ध्र्यादिक=पंचभूत के पदार्थ । कूप छाड़ि=पाक्षिक धर्म । झूठ तजि=मिथ्या सँसारी पदार्थ छोड़ । मुक्ताहल=मोती, शुद्धब्रह्म । विरकत=दूर, उदासीन । थोथा=सारहीन । मरकट मति=चँचलता । कूरम मति=अन्तर्मुखी वृत्ति । काग बुद्धि=मलीनता, मलिनमति । हंस बुद्धि=निर्मलमति, संशय-विपर्ययहीन । सील=चरित्ररक्षा । काठै=समीप, पास । नाठै=भागै, दूर रहे । तूलै=तुलती है । व्यौरौ=विवरण, फल ।

ग्यांनी और अग्यांनी 'मिलतां', मतौ मिलै नहीं कोई ॥
वाकै हिरदै 'एको' आवै, वाकै हिरदै दोई ॥११॥

धरम नेम तीरथ 'व्रत' पूजा, अग्यांनी आन दिढावै ॥
ग्यांनी एक निरंजन सुमरै, पांचू स्वाद छुड़ावै ॥१२॥

धरी देह धणीं कूँ राषै, विणि आकार न मानै ॥
अग्यांन कै ऐसी मति हिरदै, अविनासी नांही जानै ॥१३॥

ग्यांनी देह झूठ करि 'जांणै', विणि देही कूँ धावै ॥
'एक अर' पांच 'पचीसूँ' परहरि, सुष मैं जाइ समावै ॥१४॥

अग्यांनी भरम करम सूँ लागै, आंन कथा नहिं भूलै ॥
ब्रह्मग्यांन सूँ हेत न लावै, जल थल मांही झूलै ॥१५॥

ग्यांनी भरम करम सब त्यागै, अणभै कथा सुणावै ॥
सुमिरै एक अषिल अविनासी, आंन कथा नहिं भावै ॥१६॥

अग्यांनी कूँ ग्यांनी नहि मानै, दहुं मना मत दोई ॥
ऊँठ अर भैंसि मतो न 'मिलई', भावै देषौ जोई ॥१७॥

पतिवरता विभचारणी, संगति सुष नहिं कोई ॥
तेल नीर सूँ ना मिलै, 'ल्हसण' चंदण भी दोई ॥१८॥

सांचै झूठे ना मिलै, मिलै न काइर सूर ॥
रात्यूँ द्योसै ना मिलै, मिलै न लौहे हेम हजूर ॥१९॥

लौहे काइ लागि है, कंचन काई नांहि ॥
अग्यांनी ग्यांनी ना मिलै, समझि देषि मन मांहि ॥२०॥

पाठभेद—म्यलतां–२। येको–२। वरत–३। जानें–२-५। एकर–५। यक-अर–२। पचीसौं–४। मिलहै–५। ल्हसन–३।

शब्दार्थ—मतौ=विचार। पांचू स्वाद=शब्दादि पांचो विषय। धरी देह धणीं को राषै=धणी ईश्वर को धरी देह–देहधारी अवतार के रूप में माने। पांच पचीसूँ= पञ्चभूत व उनकी प्रकृतियां। जल थल=भौतिक पदार्थों में। झूलै=स्नान करे, निमग्न रहे। रात्यौं द्योसै=रात दिन से नहीं मिलती।

ग्यांनी आरंभ ना करै, रहै निरालंब होइ ॥
अग्यांनी आरंभ करै, सदा सहै दुष दोइ ॥२१॥

ग्यांनी पाप करै नहीं, डर पकड़ै जगदीस ॥
अग्यांनी पाप करै सही, भजै न केवल ईस ॥२२॥

ग्यांनी गाफिल ना रहै, सदा सुचेत 'सुभाइ' ॥
अग्यांनी गाफिल रहै, फिर फिर विष फल षाइ ॥२३॥

ग्यांनी कपट करै नहीं, कपट करै अग्यांन ॥
ग्यांनी सुमिरै अलष कूँ, अग्यांनी सुमिरै आंन ॥२४॥

संगति 'तजि' अग्यांन की, ग्यांनी संगति पेल ॥
ग्यांनी नांव वतावसी, त्रिवधि ताप तजि तैल ॥२५॥

'निरंजन' सरषै दुष नहीं, मारि सकै नहीं काल ॥
जैसे गहरा समद मैं, षड़ै न भीवर जाल ॥२६॥

वोछौ पांणी 'अवर' सव, माया कौ अंग देष ॥
विना निरंजन डोलसी, करिसी वहौला भेष ॥२७॥

जल थल मांही भरमणा, विना निरंजन नांव ॥
जोनि संकटि आवणा, फिरणा ठाऊँ ठांव ॥२८॥

माया तजि भजि नांव निरंजन, जीवन अंजली नीर ॥
यहु औसर भी वहौड़ि न लाभै, जम का काटि जंजीर ॥२९॥

सतगुर तोहि समझावै नीकै, तूँ क्यूँ 'भूल्यो' जांहि ॥
ग्यांन दाढ़ 'समता' 'जिभ्या' सूँ, काया का गुण षांहि ॥३०॥

पाठभेद—सुभाय–४। तज्य–२। न्यरंजन–२। और–३-४। भूलो–२-३। समिता–१। ज्यभ्या–२।

शब्दार्थ—आरंभ=फलदायी कर्म। दोइ=जन्ममृत्युमय दो दुःख। गाफिल=असावधान। तैल=स्नेह, आसक्ति। डोलसी=चौरासी लाख योनि में फिरेगा। वहौला भेष=अनेकों शरीर धारण करेगा। ठाऊँ ठांव=स्थान स्थान पर।

भै सूँ अलष निरंजन भजिये, गाफिल 'रहिए' नांहि ॥
पांच स्वाद तजि परहरि दुष सुष, यहु मत गहि मन मांहि ॥३१॥
भारी दुष है राम विसारयां, लष चौरासी जूँनि ॥
प्रेम प्रीति सूँ भजि अविनासी, ज्यौं पहुँचै चौथी सूँनि ॥३२॥
मौत दिहाड़ा आवै नैड़ा, तूँ क्यूँ गाफिल सोवै ॥
निरंजन भजि तजि आन सगाई, तूँ क्यूँ जनम 'अविरथा' षोवै ॥३३॥
काल कहर सूँ डरपै नांही, ले ज्यूँ चिड़ो सिंचाणा ॥
विना निरंजन 'याह' गति होइ, जम कै लोकि सिधांणा ॥३४॥
वार वार तोकूँ समझाऊं, अजहुं समझया नांही ॥
संसार सकल सुपना सा देषै, तौ समझया मन मांही ॥३५॥
ब्रह्मा विसन महेस और इंद्र 'सकतिलौं', असिथिर कोई न दीसै ॥
असथिर एक अषिल अविनासी, और काल सवन कूँ पीसै ॥३६॥
गोरषनाथ कबीर कूँ, काल सकै नहिं मारि ॥
जन हरीदास निरंजन मांहि समाइया, पहुंच्या 'पैलै' पारि ॥३७॥
जन हरिदास सुष पाइया, सतगुर सरणै आइ ॥
वास किया सुषसिंध मैं, काल कदे नांह षाइ ॥३८॥
जन हरीदास भरमै नहीं, पाई निहचल ठौर ॥
भागा भरम विकार सब, सहर गया तजि चौर ॥३९॥
जन हरीदास अविनासी पाया, काया नगरी मांहि ॥
सो जहां तहां भरपूरि है, कबहूँ विनसै नांहि ॥४०॥

॥ इति ज्ञानपरीक्षा जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

॥ लघुग्रन्थावली समाप्त ॥

पाठभेद—रहियै-२। इवरथा-२। या-५। सक्तिलौं-३-४। पैली-५

पाठभेद—लष चौरासी जूंनि=चौरासी लाख योनि। चौथी सूंनि=चौथी, तुर्यावस्था, सहज दशा। दिहाडा=दिन। नेडा=पास, नजदीक। सिचांणा=बाज। सिधाणां=गया, पहुँचा। असिथिर=अचल। पीसै=रौंदे, चूर्ण कर दे। भरमै नहीं=भ्रान्त न हो। चौर=काम-क्रोधादि रिपु।

॥ अथ पदभाग राग गौडी ॥

[१]

च्यारि पहर दा कांम है विणजारिया, तेरे जागणदा छक 'येहवे' ॥
सोवणदी विरिया नहीं विणजारिया, तूँ नांव निरंजन लेहुवे ॥
नांव निरंजन लेहु अहो निसि, विलम न कीजै वीरवे ॥
जैसा कमावे पावे तैसा, नहीं किसीदा सीरवे ॥
सुष थोड़ा दुष वहौड़ि अनंत है, रांम भजै क्यौं नांहिवे ॥
जन हरीदास कहै विणजारिया, तूँ मति भूला जाहिवे ॥१॥
वाल अवस्था गति मति वुधि थोड़ी विण०, दुष सुष जांणै नहीं अयांणवे ॥
मोह लग्या माया ठग्या विणजारिया, तूँ भूला नांव 'भुलानवे' ॥
नांव भुलाना फिरै वौरासा, दिन दिन पैंडा होइवे ॥
कहूँ कहूँ डरै कहूँ मिलि षेलै, असथन मांगै रोइवे ॥
देह अवस्था पलटण लागी, षरा षजीना जाइवे ॥
जन हरीदास कहै विणजारिया, सकै तौ हरि गुण गाइवे ॥२॥
ज्वान अवस्था जोर वहौत है, सकै तो जोर निवारवे ॥
हरि सुमिरण हिरदै धरौ विणजारिया, चालौ देषि विचारिवे ॥
चालौ देषि विचारि सहज घरि, साचा सौदा लेहुवे ॥
करि 'मनिष' जनम हीरा चळ्या, कौड़ी सटे न देहुवे ॥
भै छाड़ो निरभै भजो, इहै तुझां सूँ गूँझवे ॥
जन हरीदास कहै विणजारिया, लेषा देंणा तुझवे ॥३॥

पाठभेद— एहवे-३-४। भूलाणवे-३। मनष-१। मिनष-५।

शब्दार्थ—विणजारिया=हे जीव ! हे मन ! छक=अवसर, मौका। अयांणवे=अजान। वौरा सा=पागल सा, वहका हुआ। पौंड़ा=उन्मत्त। असथन=स्तन। षरा षजीना=मनुष्य जन्म। ज्वान=तरुण, जवान। जोर=वल, शक्ति। सहज घरि=निर्गुण ब्रह्म। साचा सौदा=आत्मज्ञान का। गूँझवे=गोपनीय बात। तुझवे=तुम्हे, तुझको।

वरस पचास पूठ तैं दीया, तेरा तीजा पहरा एहवे ॥
सुत वनिता परिवार घणेरा विण०, मूल हमारा थेहवे ॥
मूल हमारा थेह वड़ा मैं, 'वहौत' लिया सिर भारवे ॥
अंति कालि कोई संगि न चालै, फूटी हांडी लारवे ॥
कै गाड़ै कै जंगलि जालै, पूठा वैसे आइवे ॥
जन हरीदास कहै विणजारिया, भो 'ज्यंद' अकेला जाइवे ॥४॥

अवधि सवाई वह गई विणजारिया, तूँ चाल्या पूँजी हारिवे ॥
और विखज सव ही कीया विण०, तूँ सक्या न रांम संभालिवे ॥
सक्या न रांम संभालि सहज घरि, सतगुर सरण आइवे ॥
माल मुलक है गै ज्यूँ का त्यूँ, चाल्या षोटा षाइवे ॥
समझि नहीं तै षरा न लीया, भला न उपज्या भाववे ॥
जन हरीदास कहै विणजारिया, तेरी भोजल विचि थाकी नाववे ॥५॥

[२]

मनिष जनम धरि हरि भजौ, नांव निरंजन लेहुवे ॥
नग निरमोलिक करि चढ्या, कौड़ी सटै न देहुवे ॥
कौड़ी सटै न देहू हीरा, वास जलि थलि है सही ॥
तन धरै धरि 'मरह' जामैं, भगति हरि न्यारी रही ॥
राम भजि हरि सवल साथी, भरम मै चिंता तजो ॥
अपरंपार अपार अवगति, मनिष जनम धरि हरि भजो ॥१॥

पाठभेद—वहुत–१। जिंद–४-५। मरै–१-३।

शब्दार्थ—पूठ तैं=पीछे को, खो चुका। थेहवे=स्थिर रहने वाला। पूठा=वापिस, पीछे। ज्यंद=जीव। अवधिस=आयु तो। वाई=व्यर्थ, निष्फल। थाकी=थकी, हार गई। नग=मनुष्य-शरीररूपी हीरा। निरमोलिक=अमूल्य। वास=निवास। मरह=मरना। जामैं=जन्मना।

'जनम' 'अमोलिक' जात है, जांणै कोई नांहिवे ॥
रांम भजन का भै नहीं, निसदिन भूला जाहिवे ॥
निसदिन भूला जाहि जहां तहां, गुर ग्यांन विणि दुष पाइया ॥
हरि भजन रस रीति न्यारी, बहौड़ि फिर पछताइया ॥
मूल दीरघ प्रथम दुष सुष, विथा या कासूँ कहै ॥
भगवंत भजि नर जुरा ग्रासै, जनम 'अमोलिक' जात है ॥२॥

नगर अविद्या तहाँ नर वसै, मन माया सूँ हेतवे ॥
ममता मदिमाता फिरै, चेतै नहीं अचेतवे ॥
चेतै नहीं अचेत अजहूँ, करम वसि परदुष सहै ॥
गुर ग्यांन विणि नर न्याइ अंधा, काच सूँ कंचन कहै ॥
षबरि विणि नर षाइ षोटा, कांम 'विसहरि' संगि डसै ॥
काल के करि केस निसदिन, नगर अविद्या तहाँ नर वसै ॥३॥

मोह महल मैं मन 'सोवै', चिंता सोड़ विछाइवे ॥
सांसै की सज्या भई, मनसा जहां तहां जाइवे ॥
मनसा जहां तहां जाइ 'दह' दिसि, त्रिवधि आवध संगि थथ्या ॥
सुष सील साथी साथि नांहि, कुवधि काँटा उर अथ्या ॥
हरि नांव निरमल नीर न्यारा, करि मसि लगी मसी सूँ धोवै ॥
अग्यांन 'असथलि' पांच रस वसि, मोह महल मैं मन सोवै ॥४॥

भवसागर सूभर भरया, तहां 'तुम्हारा' वासवै ॥
वोहिथ हरिजी का नांव है, दूजी झूठी आसवै ॥

पाठभेद—जन्म-३ । अम्मोलिक-२ । विसहर-५ । सूवे-१ । दहि-४ । असथल-५ । तुमहारा-१ ।

शब्दार्थ—दीरघ=भारी, बड़ा । न्याइ=बिल्कुल, सर्वथा । षबरि=जानकारी, पूरा ज्ञान । विसहरि=काल, सर्प । सांसै=संशय । सज्या=शैय्या, खाट । त्रिवधि आवध= तीनों गुणरूपी शस्त्र । थथ्या=लगा, चिपका । मसि लगी=कालिमा, मलीनता । असथलि=स्थान, आधार । पांच रस=पांच विषय-रस । वोहिथ=नौका ।

दूजी झूठी आस हरि विणि, तहाँ क्यों मठ छाइये ॥
राम 'भजि' मन राषि निहचल, पार ऊतरि जाइये ॥
अगह गहिये अकह कहिये, अमर भजि अजरा जरया ॥
जन हरिदास हरि विणि पार नांही, भवसागर सूभर भरया ॥५॥

जुग मैं ऐसा सा जीवणां, 'सुपने' का सा कामवे ॥
जाव धणीं कूँ देवणां, भज्यौ न केवल रामवे ॥
भज्यौ न केवल राम 'इकलस', एक रसि लागा रहो ॥
संसार दुष सुष पाइ वेड़ी, कुपह कुसंगति क्यों वहो ॥
गोव्यंद गावौ गरव छाड़ो, जांणि जहर न पीवणां ॥
तव संगि तात मात न सगा वंधू, जुग मैं ऐसासा जीवणां ॥६॥

या सुष का दुष अनंत है, गिणती ग्यांन न होइवे ॥
सो सुष पहिली छाड़णां, पलान 'पकड़ै' कोइवे ॥
पला न पकड़ै कोइ तेरा, इहै अरथ विचारिये ॥
जागि पंथी कहा सोवै, सोइ 'सरवस' हारिये ॥
उलटा पंथ 'सम्हाल' पंथी, सति सवद सतगुर कहै ॥
विर्वाधि विष वन मांहि विसहर, या सुष का दुष अनंत है ॥७॥

यहु तन तौ यूँही गया, सरया न कोई कांमवे ॥
पर निंद्या करि मैं वड़ा, भज्या न कवहु रांमवे ॥
भज्या न कवहूँ रांम इहिं छकि, माया कै छकि मिलि रह्या ॥
हरि परम गति 'परमाण' 'परहरि', नीच जल नीचा वह्या ॥
जहर फल जुगि आइ षाधा, जीव सव परवसि भया ॥
हरि प्रांणनाथ स निकटि न्यारा, यहु 'तन' तौ 'यूँ' ही गया ॥८॥

पाठभेद—भज्य-२। सुपना-३-४। इकलसि-३। पकरै-१। सर्वस-३। संवार-५। प्रमाण-प्रहरि-१। दिन-१। यौं-१।

शब्दार्थ—सूभर=भरपूर, खूब। जाव=उत्तर, जवाब। जांणि=समझकर, जानते हुए। पंथी=पथिक, बटोही। उलटा पंथ=आध्यात्मिक मार्ग, निवृत्ति मार्ग। जुगि=संसार। षाधा=खाया।

अपणै अपणै मन मतै, चालत है सब कोइवे ॥
मरणा है जीवण नही, जीवत मरै न कोइवे ॥
जीवत मरै न कोइ परवसि, मरण दुष सिरपरि घणां ॥
'मरोह' जोगी मरण मीठा, मरिभजौ साहिब आपणां ॥
संसार मैं कोई अमर नांही, अमर हरि भजि गुणगतै ॥
हरि 'परमसंगी' जांणि भूला, अपणै अपणै मनमतै ॥९॥

आड़ा डूँगर वन घणा, नदियां ऊँडा नीरवे ॥
दूर दिसावरि चालणां, मन धरि सकै न धीरवे ॥
मन धरि सकै न धीर यहु दुष, सुषमना फूटी वहै ॥
जैसा वाहै लुँणै तैसा, नफा 'टोटा' सिरसहै ॥
और कूँ यहु दोस नांही, कीया पावे आपणां ॥
जन हरीदास दुरभष दुष दारण, आड़ा डूँगर वन घणां ॥१०॥

[३]

मन रे तूँ स्याणा नहीं अयाणा रे !
थोड़ी राति वहौत क्या सोवे, जागि न देषि दिवानां रे ॥टेर॥
माया देषि कहा मन फूल्यो, देही देषि 'मसतानां' रे ॥
झूठी काया झूठी माया, झूठै हेति 'वंधाना' रे ॥१॥
हटवाड़ा आवे ज्यूँ विछड़ै, समझि देषि गेवानां रे ॥
आज नहीं तौ काल्हि न रहणां, मरण नदी बहि जाणां रे ॥२॥

पाठभेद—मरो-४-५। प्रमसंगी-१। तोटा-१। मस्तानां-४। वंधाणा-५।

शब्दार्थ—मरोह=मरो, वासनारहित बनो। गुण गतै=तीनों गुणों से रहित बनो। डूँगर=काम, क्रोध, लोभादि। वन घणां=संशय, अज्ञान, भ्रमादि। नदियाँ=तृष्णा, वासना, इच्छा आदि। दिसावरि=विदेश, परदेश। फूटी वहै=अपना मार्ग छोड़ कर अनवस्थित चले। लुँणै=काटे, पावे। दारण=कठिन। स्याणां=ज्ञानी, विचारवान्। अयाणां=अज्ञानी, बेसमझ। विछड़ै=दूर हो, वियोग हो। गेवांना=गर्व में गाफिल।

मौपति वहौत कलै माया मैं, मीर मुलक 'सुलतानां' रे ॥
जन हरीदास विरला जन कोई, उलटी 'पांष' 'उडाणां' रे ॥३॥

[४]

सजन सनेह रा वे, प्रांण हरि गुण गाइ ॥टेर॥
भँवर ज्यौं मन फिरैं दह दिसि, काल दह दिसि है सही ॥
जहां लागै तहां काँटा, निज नांव विणि निरभै नही ॥१॥
अजहु जिवड़ा कहा सोवै, जुगति जांणि न जागही ॥
आक जड़ क्या दूध सींचै, अंति आंब न लागही ॥॥२
जांणि ऐसे भजो गोव्यिंद, परसि हरि रस पीजिये ॥
जन हरिदास हरिगुण गाइ 'निसदिन', प्रांण हरि कूँ दीजिये ॥३॥

[५]

सोई दिन आवेगा, अपणो रांम संभालि वे ॥टेर॥
अनेक रावण सेनि जोधा, मांणि मूँका तै गया ॥
काल झल मैं सकल आया, तनस दावानलि दह्या ॥१॥
असुर सुर षसि पहुम ऊपरि, षड़ग कर गहि तोलता ॥
'जुरासिंध' वलि कहां विक्रम, बोल अंवला बोलता ॥२॥
पाँच 'पांडौ' कहाँ कैरूँ, एक गैलै सव वह्या ॥
'सिसपाल' सेन्या कहाँ 'जादू', कहौ जै कोई रह्या ॥३॥
'हिरणाकुस' हिरणांषि मुचकंद, करण महा दानी भया ॥
कहौ छल वल कहां माया, अंति सव षाली गया ॥४॥

पाठभेद—सुलितांना–४। पंष–१-५। उड़ांना–४-५। न्यसदिन–२। जुरास्यंध–२।पांडू–३-५। स्यसपाल–२। जादौ–५। हिरणांकुस–४।

कलै=फँसे, रुक जाय। सनेहरा=सनेही, प्रेमी। जुगति=उपाय, साधना। आंब न=आम नहीं लगे। मांणी=महामानी। मूँका=मूक, चुपचाप। झल=ज्वाला, लपट। तनस=शरीर तो। षसि=लड़-झगड़। अंवला=विपरीत, उल्टा।

धरचा धूँवा सकल विनसै , काल काँटा लागिहै ॥
अधर वसत अनूप अंतरि , कोइ साध गुरगमि जागिहै ॥५॥
पतिसाह भोपति कहां सुरपति , जाल सब परि डारिहै ॥
जन हरीदास 'सूछिम' होइ जल ज्यूँ , कोइ चोर हरिजन टारिहै ॥६॥

[६]

जिवड़ा जाय कहा तूँ रहसी वे ,
करणहार करतार न जांण्यौ , सलिल मोह संगि वहसी वे ॥टेर॥
काची परष 'सराफी' षोटी , ता तैं परदुष सहसी वे ॥
राम नांम निज भेद न जाण्यों , काल चटा तैं गहसी वे ॥१॥
हरि 'प्रीतम' सूँ प्रीति न वांधी , झूठ तहां जाइ 'ठहसी' वे ॥
जब जम आया झूठ विलाया , रसन तालवै फहसी वे ॥२॥
जब इहि जीवड़ै किया पयाणा , वहुड़ि न यहु तन लहसी वे ॥
जन हरीदास माया अपराधिणि , 'वहौत' भांति करि दहसी वे ॥३॥

[७]

समझि देषि 'कुछ' नांही रे !
तूँ नांही नांही सूँ लागा , साच न सूझै मांही रे ॥टेर॥
परमसनेही छाड़ि आंपणौ , विष इम्रित कर षाजै रे ॥
सूकर स्वांन स्याल कउवा गति , काल सदा सिरि गाजै रे ॥१॥
हंस बटाऊ परघरि वासा , अब तूँ समझि सयाणाँ रे ॥
पांच सात दिन एक आब मैं , ऊठि अकेला जांणा रे ॥२॥

पाठभेद—छूछिम–१। सरापी–४। प्रीतम–२। ढहिसी–१। वहुत–१। कछु–४-५।

शब्दार्थ—धरचा=उत्पन्न हुआ। धूँवा=नाश। चौर=कामादि, कालरूप। सलिल मोह=मोह की नदी में। काची परष सराफी षोटी=संसारी भोगों में सुख समझना यह परख-परीक्षा या सराफी झूठी है, खोटी है। चटातै=चट से, क्षण में। गहसी वे=पकड़ेगा। ठहसी वे=ठहरेगी। फहसी=फँसेगा। दहसी वे=जलावेगी, सन्तप्त करेगी। नांही=नाशवान, विनाशी।

कालकहर की चोट सकल सिरि, कै मारचा कै मारै रे ॥
जन हरीदास भजि रामसनेही, सरणैं राम उबारे रे ॥३॥

[८]

तब हरि हम कूँ जांणैंगे, जांणैंगे हरि जांणैंगे ॥टेर॥
मात पिता परिवार सकल तजि, सबसूँ उलटी तांणैंगे ॥
हरि है साच 'और' सब झूठा, वा हरिसूँ 'वाणिक' वांणैंगे ॥१॥
आंन दसा सूँ जब मन 'थाक्या', करम भरम संगि नांणैंगे ॥
राम 'रसाइण' का मतिवाला, आदू प्रीति पिछांणैंगे ॥२॥
सौकणि उलटि सषी जब 'हुँहिगी', उलटी नदी चलायेंगे ॥
पारा बांधि प्रेम रस पीया, रोम रोम 'रुचि' माणैंगे ॥३॥
जन हरिदास सांसा सब भागा, राम रसाइण पीवैंगे ॥
आन सकल सुष विष भरि देष्या, हरि 'सम्रथ' भजि जीवैंगे ॥४॥

[९]

तब हम हरि गुण गावेंगे, गावेंगे गुण गावेंगे ॥टेर॥
काम क्रोध सांसा सब जीत्या, मोह मता मुरझावेंगे ॥
'पांचो' पकड़ि आप बसि 'लहैंगे', वंकनालि रस पावैंगे ॥१॥
दुष सुष छाड़ि सहज घरि षेले, कुबधि सुबधि सूँ पावैंगे ॥
ऊजड़ छाड़ि सुलटि मन उलटा, एक 'दसा' कूँ लावैंगे ॥२॥
सतगुर सबद चांदिणा मेरे, अगम तहां हम जावेंगे ॥
तेज पुंज परगट परपूरण, सूँनि मंडल मै पावैंगे ॥३॥

पाठभेद—अवर–१ । वांणक– ५ । थाका–२-३ । रसायण–५ । होंहिगी–४ । रुच्य–२ । समरथ–१-५ । पांचू–१-४ । ल्यहेंगे–१ । दिसा–१ ।

शब्दार्थ—वाणिक=सम्बन्ध, वणाव । नांणेंगे=नहीं रखेंगे । सौकणि=सौक, डाह रखने वाली, विषयरत इन्द्रियाँ । उलटि=अन्तर्मुख हो । पारा बांधि=शुक्र को ऊर्ध्वगामी कर, मन सुस्थिर कर । मुरझावेंगे=कुम्हला जायेंगे, सत्वरहित । वंकनालि=सुषुम्नाद्वारा । ऊजड़=उजाड़, संसाररूपी वन । एकदसा=सहज दशा । चांदिणा=प्रकाश । सूँनि मंडल=शून्य मंडल ।

घटि घटि अघट घटत हरि नांही , सोई रमतारांम रमावैंगे ॥
जन हरिदास दास हरि भजि भजि , हरि ही मांहि समावैंगे ॥४॥

[१०]

समझि देषि मन मेरा रे !
या 'जग' मांहि जागि हम देष्या , सगा न कोई तेरा रे ॥टेर॥
तात मात वनिता सुत बंधू , जतन जीवतां करि ही रे ॥
मूँवा जालि बालि घरि आवै , ता 'मरहट' तैं डरही रे ॥१॥
राम विसारि हारि मति चालौ , कहि समझाऊँ लोई रे ॥
माया सांचि संगि ले जाता , देष्या सुण्या न कोई रे ॥२॥
जामैं मरै मरै फुनि जामैं , 'मरत' लोक मैं आवै रे ॥
जन हरिदास देषि मतिमंदा , गोव्यंद काँई न गावै रे ॥३॥

[११]

राम नहीं वीसरूँ हो , मेरे गुरगमि दियो बताइ ॥टेर॥
ज्यूँ 'नटणीं' निरभै थकी हो , बरतैं लागी जाइ ॥
इतवत चित डोलै नहीं , चित बरतैं 'रह्यो' समाइ ॥१॥
मरजीवौ समदां धसै हो , तन मन सुरति समाइ ॥
वीचि कहूँ अटकै नहीं , निज सीप संभालै जाइ ॥२॥
गुरज नाल गोला वहै हो , 'धणंक' बांण सर पूरि ॥
स्यांम 'काज' सनमुष लड़ै , उलटि न पेलै सूरि ॥३॥
ज्यूँ चात्रिग 'घणकूँ' रटै हो , पिव पिव करत विहाइ ॥
यूँ जन हरीदास हरि नांव मैं , मन सहजैं रह्यो समाइ ॥४॥

पाठभेद—जुग–१-३ । मड़हट–१ । म्रत–२ । मृत–४ । नटनी–५ । रहया–२ । धनक–४-५ । काजि–४ । घन कूँ–१-२ ।

शब्दार्थ—जतन=उपाय । मरहट=मशान, मरघट । वीसरूँ=भूलूँ । बरतैं=बरत, रस्सा । धसै=प्रविष्ट हो, अन्दर जाय । धणंक=धनुष । घणकूँ=मेघ, बादल को ।

[१२]

है वलवंती माया !
लीया षड़ग सकल सिरि षेलै , षांण मतै कै षाया ।।टेर।।
माया पुरस नारि फुनि माया , माया आंन सगाई ।।
माया स्वामी माया सेवग , वहौत भांति करि आई ।।१।।
जोगी संगि जोगणि होइ चाली , भगतणि भगत मनाया ।।
सोफी संगि सोफणि व्है चाली , माथै मुकट वणाया ।।२।।
सींगी रिष सूषिम 'व्है' सोष्या , नारद रूष फिराया ।।
संकर का मन मांही पैठी , नाना भांति नचाया ।।३।।
अगनि रूप होइ मैं तैं षंडै , परसि परसि परचावे ।।
जन हरीदास विरला जन कोई , उलटि परम पद पावे ।।४।।

[१३]

जीवड़ा जागि न देषै लाईवे !
जम जागत है तूँ क्या सोवे , राम सुमरि मेरा भाईवे ।।टेर।।
निसदिन आव घटै तन छीजै , ज्यूँ अँजली का पांणीवे ।।
'तजि' अलसाक अलप है जीवण, समझि देष 'अभिमांनी'वे ।।१।।
मात पिता सुत वित भी नारी , संगि न चालै कोइवे ।।
तासूँ लागि विकट 'मति' वौरा, 'मनषि' 'जनम' निधि षोइवे ।।२।।
वांसै वाहर छिप्या न छूटै , देही जुरा बुढ़ांणीवे ।।
पंडर केस हाथ 'नैंणापार' , काल 'धजा' फहरांणीवे ।।३।।

पाठभेद—होइ–२-३ । तज्य–२ । अभ्यमानी–२ । मत–५ । मिनख–५ । जन्म–४-५ । नैंना–२-५ । धुजा–१ ।

शब्दार्थ—पेठी=प्रवेश हुई । षंडै=कण-कण करदे । परचावे=प्रेरित करे, प्रवृत्त करे । लाई वे=दुःख, संताप, मृत्युमय ज्वाला में । अलसाक=आलस । विकट= डरावना, भयंकर । मति वौरा=विकृत बुद्धि । पंडर=सफेद ।

'औघट' घाट विचाले दरिया , तहां मेरा नांव मुरारीवे ॥
तहां लागि तैं पार न कीया , परदेसी अहंकारी वे ॥४॥
जहां उदै न 'अस्त' काल नहिं काया, सोइ परम सनेही तेरा वे ॥
हरीदास जन टेरि कहत हूँ , तहां चलो जीव मेरा वे ॥५॥

(१४)

राम असाँड़ा सांई हो !
राषौ वोट चोट क्यौं लागै , समझि पड़ै कुछ नांही हो ॥टेर॥
पांच पचीस सदा संगि षेलैं , आंवर करैं अघाई हो ॥
तुम्ह अटकौ तौ वहौड़िन व्यापी, हम बल कछु न वसाई हो ॥१॥
तारण तिरण परम सुषदाता , यहु दुष कासूँ कहिये हो ॥
करम विपाक'विघन''होइ' लागा, तुम्ह राषौ तौ रहिये हो ॥२॥
समद अथाह अगह करणा मैं , गौड़ि करैं नित गाजै हो ॥
ता मैं मछ काल सा षेलै , 'मांझि' दुरै सो षाजै हो ॥३॥
ऐ अघरूप अनंत मोही जारैं , अंध कूप मैं घेरा हो ॥
जन हरीदास कूँ आस न दूजी , रांम भरोसा तेरा हो ॥४॥

[१५]

समझि सुष पाइया रे , ता सुष मैं रह्या समाइ ॥टेर॥
समझि सवाई तव पड़ी , जब सतगुर 'भये' सहाइ ॥
गुर 'किरपा' तैं हरि भज्यो , गुर दिया साच वताइ ॥१॥
अगम पियाला रुचि पिया , त्रिसना तपति बुझाइ ॥
पूरै गुर वित वहौड़िया , सूरा होइ सो षाइ ॥२॥

पाठभेद—अवघाट-१ । असत-२ । विघ्न-१ । व्है-१ । मांझ-५ । भए-३-५ । कृपा-५ ।

शब्दार्थ—भेरा=नौका । असाँडा=हमारा । आंवर=आवरण, पर्दा । करम विपाक=कर्मों के फल । गौडि करै=उछाले दे, तरंगित हो । सवाई=अधिक, विशेष । वित=आत्मा का ज्ञानरूपी धन । बहौडिया=वापिस कराया ।

'निसि' भूला दिन समझि है, दिन भूला समझै नांहि ॥
तूँ तांका संग छाड़ि दे, काहै 'भौजलि' जाहि ॥३॥
'जुग' सगला भौजल पीवै, हरि जन पीवै नांहि ॥
जन हरीदास 'ज्यांह' परि भज्या, ते षोटा अनंत न षांहि ॥४॥

[१६]

गाफिल नींद न करिपे रे !
जीवण नहीं मरण सिर ऊपरि, ता मरणां सूँ डरिये रे ॥टेर॥
रजनी मोह नींद भरि सूता, परम भेद नहिं पाया रे ॥
अति अभिमान वदत नहिं काहू, हीरा सा 'जनम' गमाया रे ॥१॥
गहि गुर ग्यांन जागि जीव जोगी, झूठै भरमि भुलाना रे ॥
हरि सूँ विमुष नाचि नानाविधि, छाड़ि चले 'सुलतांना रे ॥२॥
आयौथौ तूँ साचे सौदे, काचे लागौ भाइ रे ॥
हटवाड़ा हम 'विछुड़त' देष्या, जागौ रांम दुहाइ रे ॥३॥
अव तूँ समझि देष निसि वीती, पैंडा करणां लोई रे ॥
तसकर वहौत दूरि घर तेरा, साथी संगि न कोई रे ॥४॥
जन हरिदास रांम भजि भाई, देषि देषि पांव 'धरणां' रे ॥
हरि दरवारि झूठ नहिं भावै, तिल तिल लेषा 'भरणां रे ॥४॥

(१७)

संतो ! मान मरोड्यां मारे रे,
डिंभक सा डाकणि चूंणि षाया, कोई 'म्रतक' पड्या पुकारे रे ॥टेर॥
साधां कौ मै भारी मानै, हरि सूँ नातौ पालै रें ॥
आपै चढ्या चढ़ी गटकावै, पावक होइ परजालै रें ॥१॥

पाठभेद—निस–२-३ । भौजल्य–२ । भवजल–५ । जग–४-५ । ज्यां–४-५ । जन्म–३-५ । सुलितांणा–१ । विछड़त–५ । धरना–५ । भरना–५ । मिरतग–१ । मृतक–४-५ ।

शब्दार्थ—सगला=सब, पूरा । मरोड्यां मारै=ऐंटै दे रहा है । डिंभक=बच्चा । आपै चड्या=अहङ्कार में लिप्त ।

जन सूँ जेठ वहू कौ नातौ, आडौ पडदो राषै रे ॥
दूजा सब देवर करि देष्या, रसनां आगै चाषै रे ॥२॥
आंवरि 'करि' सकल जग उपरि, घट घट मांही जागै रे ॥
जन हरीदास सिर छाड्यां षेलै, ताकां चरणां लागै रे ॥३॥

(१८)

'निद्रा' मांही थकी मसोसे,
वादि चढ़ी सिरि ऊपरि षेलै, लाधी 'वरतणि' षोसै ॥टेर॥
पहली 'नैंण' 'वैंण' कंठ रोकै, 'चेतन' घणां चुकावै ॥
पांव पड़ै रीड़ा तैं फीड़ा, कांई कल छिटकावै ॥१॥
आंवरि करै अकल की चेडी, आई जै त्यूँ आवै ॥
ता आगे कोई जोगी जुध करि जागै, उलटी ताली लावै ॥२॥
अगम पियाला भरि भरि पीवै, निरभै नाद वजावै ॥
जन हरीदास निद्रा अपराधणि, गंग तरंग दिषावै ॥३॥

(१९)

राम भजन हिरदै नहीं हेत, जहां तहां अपणां मन देत ॥टेर॥
मोह दोह माया मदमाता, देषो जीव जहर फल षाता ॥
हारि जीति का पासा हाथि, नरकि चलै दुरमति ले साथि ॥१॥
जब लगि जीव पांच का चेरा, तब लग काल न छाड़ै केरा ॥
जन हरीदास नर नींद न जागै, साच कह्या काँटा सा लागै ॥२॥

पाठभेद—करै–४। न्यद्रा–१। व्रतणि–१। वरतण–५। नैन–३। वैन–३। चेतनि–१।

शब्दार्थ—जनसू=ईश्वर-सेवक सूँ। आंवरि करि=पर्दा डाला। मांही थकी=भीतर बैठी हुई। मसोसे=मसले। वादि=आग्रह, हठवश। लाधी वरतणि षोसै=प्राप्त ईश्वरचिन्तन-प्रवृत्ति को छीन ले। चेतन=चेतना, चित्त, चिन्तन। रीड़ा तैं फीड़ा=इधर-उधर, लड़खड़ाते। चेड़ी=चुड़ैल सी लगकर।

(२०)

संतो भदर भेष 'पण' त्रिस्ना व्यापै, भजन भेद यहु नांही रे ।।
बाहरि साहूकार कहावे , गांठी छोड़ा मांही रे ।।टेर।।
दीसै स्यंघ स्याल तैं 'कायर' , जब लग जोग न लाधा रे ।।
सांसै पकड़ि आप वस कीया , कुवधि कांमणी दाधा रे ।।१।।
पहरि सनाह संगि नहिं साही , 'वटवाड़ा' घर रूँधा रे ।।
साहिब छाड़ि षेत षिसि चाल्यो , लूँण हरामी सूँधा रे ।।२।।
सांवत तिको सूर सति सोई , 'जिनि' मन मेवासा मठ कीया रे ।।
जन हरिदास सोई मतिवाला , जिनि राम 'रसायंण' पीया रे ।।३।।

(२१)

आये साध भये अहलाद , जिन कै नही विषै रसवाद ।।टेर।।
उनका क्या 'वरणौं' विसतार , रामसनेही मेरे प्रांण आधार ।।
सीतल कोमल सन्त सधीर , जनम जनम की मेटी पीर ।।१।।
जन हरीदास आनंद जस होइ , साध मिल्या विष डारया धोइ ।।

(२२)

राम भजन विन जनम जुवारी , चालत है अपणा वित हारी ।।टेर।।
रे मतिहींण समझि मन लोई , हरि विणि सगा न सूझै कोई ।।१।।
उनमनि लागि गगन रस पीवै , अपणां जनम सफल करि जीवै ।।२।।
जन हरीदास गोविंद गुण गावे , सहज समाधि परम पद पावै ।।३।।

पाठभेद—परिण–३ । काइर–२-३ । वटपाड़ा–५ । ज्यनि–२ । रसाइण–३-५ । वरनूँ–३-५ ।

शब्दार्थ—केरा=पीछा । गांठी छोड़ा मांही रे=गठरी में तत्व कुछ नहीं । पहर सनाह=कवच पहन । साही=फौज । वटवाड़ा=बटमार, डकैत । रूँधा=रोक लिया । अहलाद=आह्लाद, प्रसन्नता, हर्ष । सूझै=दीखे, ज्ञात हो । उनमनि=निराधार ध्यान दशा । गगन=दशम द्वार ।

(२३)

पांडे ! कैसा भजन तुम्हारा ,
मन कूँ पकड़ि सहजि घरि षेलौ, माया षड़ग दुधारा ।।टेर।।
मैं सति 'पूछौं' तुम्ह सति कहियो, राषौ कहा दुराया ।।
मन है एक कहां लावोगे , एक ब्रह्म दूजी माया ।।१।।
कंचन छाड़ि काच सूँ षेलौ , तव लग काची सारी ।।
माया गहो ब्रह्म 'व्है' वैठा , 'इहै' अचंभा भारी ।।२।।
अरथ करै अनरथ उरि अंतरि , परम भेद नहिं पाया ।।
जन हरीदास ऐसा अपराधी , स्वामीपणैं सताया ।।२।।

(२४)

दस अवतार दसूँ 'ए' देसी , अवरां अवर चढ़ावै ।।
सो वाजीगर भलाक नांही , एक कूँ करै गमावै ।।टेर।।
परम 'पुरस' का पार न पावै , आसा सूँ रस लूधा ।।
सूधी राह सहज ही छाड्या , 'ऊजड़' पड्या अलूधा ।।१।।
×निराकार निरभै रे संतो , जो आकार सजावै ।।
हीड़ागर हीड़ा कूँ दौड़े , सो भी धणीं कहावै ।।२।।
तरंग 'सिंध' सो भी हरि नांही , निहचै जाइ विलावै ।।
जन हरीदास अविनासी भजतां , भव जल निकटि न आवै ।।३।।

पाठभेद—पूछूँ–३-४ । होई–५ । यहुतौ–१ । वे–२ । पुरिष–१ । ऊजड़ि–४ । स्यंध–२ ।

शब्दार्थ—दुराया=छिपाकर । स्वामीपणे=ऊँचेपन का अभिमान । दस अवतार दसूँ ए देसी=दसों अवतार इसी भूमि पर के हैं । अवरां अवर चढावे=उन अवतारों को अन्य अन्य रूप मे वर्णन कर भ्रान्त करें । आसा सूँ रस लूधा=आशा वासना के रस लेने का लोभी बना । अलूधा=उलझा, गुमराह हुआ ।

× जो निराकार कालादि भयहीन परब्रह्म है वह कभी अवतार धारण नहीं करता । क्या हीड़ागर–सेवा करने वाला सेवक भी कभी घर का स्वामी हो सकता है ?

(२५)

अवधू आसण वैसण झूठा ,
जब लग मन 'विश्राम' न पावै , पष तजि फिरै न पूठा ॥
ग्यांन गुफा जांणै नहिं जोगी , अगम अरथ काहा बूझै ॥
पांच अगनि मैं पड़ि पड़ि दाझै , वा सीतल ठौड़ न सूझै ॥१॥
***विविधि विकार वालि अरि ईंधण, धूँई ध्यान न धारै ॥**
ब्रह्म अगनि आकास न भेदै , तौ पारा क्यूँ मारै ॥२॥
='निगम' अगम तहां लगै न 'आसण', 'गरब' नाद निति बाजै ॥
नगरी मांहि भुगति वसि भूषा , जहां तहां उठि भाजै ॥३॥
मन गहि पवन अटकि ले उलटा, परम जोग उरि धारै ॥
जन हरीदास 'निरवास' 'भरम' तजि, निरगुण जस 'विसतारै' ॥४॥

(२६)

राम रस मीठा रे अब पिया ही सुष होइ ॥टेर॥
मीठा ऐसे जांणिये रे , पीवै नारद सेस ॥
मतिवाला गोरष पीवै , रुचि रुचि पिवै महेस ॥१॥

पाठभेद—विसरांम-५ । न्यगम-२ । आसन-४ । ग्रब-१ । त्रिवास-५ । भ्रम-५ । विस्तारै-३-४ ।

शब्दार्थ—आसण वैसण=आसन मार कर ध्यान लगाना । पूठा=वापिस, अन्तर्मुख । पाँच अगनि=शब्दादि पांच विषयों की आग । दाझै=जलै, दग्ध हो । सीतल ठौड़=परम आनन्द देने वाले आत्मज्ञान रूपी स्थान । परम जोग=अखंडाकार आत्मवृत्ति । निरवास=वासनारहित ।

* कामादि शत्रु ममता-मोह अहङ्कारादि विकारों की इन्धन जला न दी जाय ध्यान रूपी धूणी न तापे ज्ञानाग्नि से प्रकाशित हो प्राणसाधना से षट्चक्रों का भेदन करते हुये आकाश सहस्रार दल में न स्थित हो तो पारा कैसे मरै-रसायन कैसे सिद्ध हो कैसे ब्रह्म प्राप्ति हो ।

= निगम वेद से भी अज्ञात अगम ब्रह्म तत्व-वहाँ कैसे वृत्ति और प्राण का आसन लगे, स्थैर्य हो जबकि द्वैत-भावना से भीतर जात्यादि अहङ्कार का नाद शब्द गूँज रहा हो । काया में भोगों को भोगने की भूख लगी हुई है उससे मन बार-बार विषयवासनाओं की ओर उठ उठ भाग रहा है ।

सींगी रिष वन मैं पीया रे , हरि रस इम्रित धार ॥
सुषदेव पी निरभै भया , ताकूँ जांणैं सब संसार ॥२॥
गोपीचंद 'निरमल' पीवै रे , पीवै हँणवँत वीर ॥
जोगी पीवै भरथरी , जाका अणभै भया सरीर ॥३॥
नाम कबीरा निति पीवै रे , हरि रस 'वारूँ' वार ॥
जन हरदिास'ज्यांह'हरि भज्या , 'त्यांह' भागा 'भौ' भार ॥४॥

(२७)

राम रस ऐसा रे , अमली विणि पिया न जाइ ॥टेक॥
सोफी को पीवै नहीं रे , 'कुपछि' पड्या सब कोइ ॥
आरति सूँ अमली पीवै , पी मतिवाला होइ ॥१॥
सोफी सब उलटा पड्या रे , अमली रह्या लुभाइ ॥
भँवर गुफा का घाट मैं , उनमन सूँ मन लाई ॥२॥
अमली सब 'संसार' है रे , रह्या विषै मन लाइ ॥
जन हरीदास हरि रस पिया , दूजा कछु न सोहाइ ॥३॥

(२८)

करम भरम का किया कलेवा , सांसा जल ज्यूँ पीया ॥
ताती सीली सहज 'समांणी' , हमतौ उलटे पैंडे जीया ॥टेर॥
सूधै राह सकल जुग चालै , पसवां तहां विलाया ॥
रसना स्वाद 'वहत' यूँ बूड़ी , 'वो' निरगुण नाह न पाया ॥१॥

पाठभेद—त्रिमल-१ । वारौं-५ । ज्यां-५ । त्यां-५ । भव-१ । कुपछ-५ । सैंसार-४ । समानी-२-४ । वहोत-५ । वोह-४ ।

शब्दार्थ—वारूँवार=बारम्बार । ज्यां=जिनने । त्यांह=तिनके । भौ भार= संसार का भार । अमली=व्यसनी । सोफी=सोफिया-व्यसन करने वाला । कुपछि= कुपथ में । आरति सूँ=आसक्ति से, लगन से । भँवर गुफा=दशम द्वार । कर्म=बन्धन-कारी कर्म । सांसा=संशय । ताती सीली=निन्दा-स्तुति । पसवाँ=पशुवृत्ति वाले ।

निरमल कथा परमपद नेड़ा, अधर अमर निज मालै ।।
सुलटी सुरति अगम रस पीवै, 'परगट' पासा रालै ।।२।।
सैलि चढ्या साचै रंगि राता, काचै रंगि मन नांहीं ।।
हरीदास ऐसा जन कोई, वास करै हरि मांही ।।३।।

।। इति रागगौड़ी सम्पूर्ण ।।

।। अथ राग मालीगौडी ।।

(२६)

ऐसा परापरै परभेव, गुरू विना को देवै ।।
'मसतग' ऊपरि 'हसत' राषै, आपणां करि लेवै ।।टेर।।
अजव धन अजव मन, अजव सुष होवै ।।
अजव तेज अजव रूप, तरसि तरसि जोवै ।।१।।
अगम गति अगम मति, अगम निधि पावै ।।
अगम अगम अगम अगम, सतगुर ले लावै ।।२।।
अनंत सूर निकटि नूर, जोति जोति मिलावै ।।
जन हरीदास निकटि वास, दास व्है स पावै ।।३।।

(३०)

सकल व्यापी हो निरंजन, तूँ सनेही साचा ।।
'और' सकल जाचि 'देषे', कहा जांचूँ काचा ।।टेक।।

पाठभेद—प्रगट-५ । मस्तग-३ । मस्तक-५ । हस्त-३-५ । अवर-१ । देष्या-५ ।

शब्दार्थ—रालै=फैंके, पटके । सैल चढ्या=शिखर चढ़ा, साधन के उच्च स्तर में पहुँचा हुआ । परापरै=परा वाणी से आगे । तरसि=लालायित हो । लै लावे=ध्यान लगावे । सूर=सूर्य ।

*जागि लागि प्रेम प्रीति, आंन रीति नांही ॥
×मन पवन अगम गवन, परम सिंध मांही ॥१॥
अगम ग्यांन अगम ध्यांन, अगम अरथ छाया ॥
अगम जोग अगम भोग, अगम अगम पाया ॥२॥
परम तेज परम जोति, परम भेद ऐसे ॥
जन हरीदास अरस परस, षीर नीर जैसे ॥३॥

॥ इति राग माली गौड़ी समाप्त ॥

॥ अथ राग रामगिरि ॥

(३१)

कांइ रे मन ! तूँ पर घरि जांहि, हरीजी सा सुषदाई कोई नांहि ॥टेर॥
हरी हीरा विणजै क्यूँ नांही, अजब 'षांणि' तेरे घट मांही ॥१॥
=इहै 'सुवधि' चिंतामणि भई, कौड़ी कुवधि सहज ही गई ॥२॥
जन हरीदास सुषसागर रांम, 'नित' सारचा साधां का काम ॥३॥

[३२]

आव हमारे आंगणै, 'ग्रह' त्रिभुवन राइ ॥
तुम्ह विन मैं विलषी 'फिरौं', अब रह्यो न जाइ ॥टेर॥

पाठभेद—षानि-३-५। सुवुधि-१। न्यत-१। निति-३। ग्रिह-३। गृह-५। फिरूँ-३-४।

शब्दार्थ—जागि=सावधान हो। आंन=दूसरी। सिंध=समुद्र, ब्रह्मसागर। अजब=अद्भुत। नित सारचा साधां का काम=सर्वदा भक्तों के काम पूरे किये। ग्रह=घर। हृदयकमल में। विलषी=विलखती, तड़पती।

* सजग हो अनन्य प्रेम अपनी आत्मा से करो और कल्याण का कोई मार्ग नहीं है।

× अगम सागररूप-परब्रह्म है, मन-प्राण का निरोध कर उसी अगम स्थान में जाओ!

= यह सुमति ही चिन्तामणि है, इसके प्रादुर्भाव से सांसारिक वासनाओं में लगी कुबुद्धि आसानी से ही निवृत्त हो गई।

कुल करणी सगली तजी, हरि आनंद मांही ॥
तन तजिवे की वेर है, मिलिये 'क्यूँ' नांही ॥१॥
आरति ऊँणा रति घणी, मेरा मन मांही ॥
दरस परस की वेर है, पति 'छाड़ौ' नांही ॥२॥
सती पिछाणै सांच कूँ, मनां न 'आंणै' हीण ॥
मन आतम एकै मतै, तुम ही सूँ ल्यौ लीन ॥३॥
जन हरीदास हरि सूँ कहै, तुम विन तन छीजै ॥
'प्रेम' पियाला पाय करि, अपणां करि लीजै ॥४॥

(३३)

वाजीगर वाजी रची, माया 'विसतारा' ॥
वाजी सूँ वाजी रमै, वाजीगर न्यारा ॥टेक॥
काम क्रोध अभिमान का, लै डेरूँ 'वाया' ॥
जल थल जीव जहां तहां, वाजी भरमाया ॥१॥
×अहूँ वास ममता चढ़ी, नव डोरि पसारी ॥
मोह ढोल वाजै सदा, नाचै नर नारी ॥२॥
दुष सुष गोटा ऊछलै, माया मद पीया ॥
ब्रह्मा 'विष्न' महेस लौं, वाजी वसि कीया ॥३॥
मन चंचल निहचल भया, निरभै घरि आया ॥
जन हरीदास वाजी तज्यां, वाजीगर पाया ॥४॥

पाठभेद—क्यों–३-४। छाडूँ–३-४। आनै–३। पेम–१। विस्तारा–१-४। वाहचा–२-४। विसन–२।

शब्दार्थ—सगली=पूरी, सब। आरति ऊँणा=विरहणी उदास है। रति घणी=प्रेम बहुत है। वाजीगर=संसाररूपी बाजी को बनाने वाले जगदाधार। डेरूँ=डमरू। वाया=बजाया। अहूं=अहङ्कार। नव=पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, चारों अन्तःकरण। वाजी तज्यां=माया को छोड़े, वासना त्यागे।

× अहङ्कार ने निवास किया ममता सांसारिक पदार्थों की चाह चढी वढी इन्द्रिये तथा अन्तःकरण ने अपनी भावना की डोर फैलाई।

(३४)

मूरिष सूँ मूरिष मिलै, मिलि वाद वधारै ॥
समझ्या हरि सुमिरण करै, आपा सब डारै ॥टेक॥
काम क्रोध 'त्रिस्ना' तजै, संगति सुष पावै ॥
भवसागर दूतर तरै, गोव्यिंद गुण गावै ॥१॥
संगति कीजै साध की, सति साच वतावै ॥
भूलां सूँ कोइ जिनि मिलौ, भूलौ भरमावै ॥२॥
×सांग काछि माया मंड्या, हरि विचि भौ भारी ॥
जन हरीदास माया तजै, ताकी वलिहारी ॥३॥

(३५)

जागौ रे ! अब नींद न कीजै, थोड़ी राति न सोवो रे ॥
कोड़ि कोड़ि लैंणी का हीरा, कौड़ी सटे न षोवो रे ॥टेक॥
चेतनि रहौ रषै मति चूकौ, काम क्रोध 'भ्रम' जारौ ॥
तारणहार पषै क्यूँ तिरिसौ, मोटो 'जनम' न हारौ ॥१॥
प्रांणी कांई काल न आपौ, 'दिन' 'दिन' नेड़ो आवै ॥
ज्यूँ वालक नां हाथां वाटी, हाड़ौ आइ छिनावै ॥२॥
जन हरिदास कालकर ऊपरि, मेल्हि तिलां ज्यूँ जोवै ॥
हरि तैं विमुष दाढ़ तलि दरड़ै, मूल मधि मनवो षोवै ॥३॥

पाठभेद—तिसना–१। त्रिसनां–२। भरम–५। जन्म–४-५। दिन्य–दिन्य–२।

शब्दार्थ—वाद=विवाद। वधारे=बढावे। सांग काछि=भेष बना कर। कोड़ि-कोड़ि=करोड़ों की कीमत वाला। चेतनि रहो=सावधान रहो। रषै मत चूको=जन्म सफल करने की रक्षा में कभी मत गफलत करो। पषै=पक्ष, मदद बिना। मोटो जनम=महान् श्रेष्ठ मनुष्य-जीवन। कालकर ऊपरि=काल का हाथ सिर पर है। मेल्हि=रख। दरड़ै=चबा जाय।

× केवल सांग तो अत्यन्त त्यागी का बनाया, पर भीतर माया की अपार चाह है ऐसे आत्मा कैसे प्राप्त हो ईश्वर प्राप्ति में बाधक अपार संसार पड़ा हुआ है।

[३६]

हिन्दू तुरक 'के एक षुदाई', राम रहीम दोइ नहिं भाई ।।टेक।।
इहां बांमण उहां मुला बकरैं, वेद कतेब कथै विसरांम ।।
रांम संभालि दूर करि मैं तैं, आषिर एक 'अलह' सूँ काम ।।१।।
काजी बंदे जोर न करणां, साचा सबद सुणौं सति कानि ।।
करद सँवाहि गला क्यूँ काटौ, कुछ तौ डर साहिब का मांनि ।।२।।
ए सब जीव उपाया साहिब, ताकूँ मारि पड़ो क्यूँ दूरि ।।
जन हरीदास यहु अरथ विचारैं, तासूँ 'षालिक' सदा हजूरि ।।३।।

[३७]

संतों ! राम रजा मैं रहिये,
मन दे प्रांण सीस दे सदगति, रांम रांम यूँ कहिये ।।टेक।।
'ग्रिह' परिवार मोह तजि मैं तैं, मन की गति मन जांणै ।।
तजि 'अभिमांन' भजौ 'अविनासी', अंतरि अलष पिछांणै ।।१।।
सब संसार कहै कछु नांही, सांई कै 'मनि' भावै ।।
पूरण ब्रह्म परम सुषदाता, अपणैं मारगि लावै ।।२।।
×हरि तैं विमुष लोग सब मानें, सदगति सुण्यां न कोई ।।
*नींदै लोग रांम वित चित मैं, ता 'समि' 'और' न कोई ।।३।।
जन हरिदास रांम कै सरणैं, रहै राम ही गावै ।।
'भौ'सागर तिरै निरंजन परसै, निज विसरांम समांवै ।।४।।

पाठभेद—एक कल लाई–३-४-५ । अल्ह–४-५ । षाल्यक–२ । गृह–४-५ । अभ्यमांन–२ । अभिनासी–१ । मन्य–२ । सम्य–२ । अवर–१ । भव–१ ।

शब्दार्थ—बकरैं=बोले, कहे । करद=छुरी । सँवाहि=सँवार, पेना कर । षालिक=खुदा, परमात्मा । हजूरि=सम्मुख, अनुकूल । नींदै=निन्दा करे ।

× परमेश्वर से विमुख हैं–सांसारिक लोग धनादि के कारण बड़ाई करते हैं वस्तुतः वैसे व्यक्तियों में किसी की भी सद्‌गति हुई हो ऐसा देखने में नहीं आया ।

* संसारी लोग जिसकी निन्दा करते हैं –पर– उसके हृदय में रामरूपी धन भरा है, उसके समान कोई श्रेष्ठ नहीं है ।

(३८)

एक हरि एक हरि, एक हरि साचा ॥
अलष भजि अलष भजि, सुफल करि वाचा ॥टेक॥
अविनासी पूरणब्रह्म, तहां मन दीजै ॥
रांम भजि रांम भजि, परम गति लीजै ॥१॥
गाइ गोपाल सति, सुमरि मन रांमा ॥
काल लागै नहीं, सरै सब कांमा ॥२॥
एक ह्वै एक होइ, निरभै मतै रहिये ॥
जन हरीदास गुर ग्यांन गहि, 'अगहि' यूँ गहिये ॥३॥

(३९)

'अवगुण' मोहि अनंत करणां मै, काम क्रोध रस भावै ॥
ता रसि लागि नींद भरि सूता, तुम्ह विणि कोंण जगावै-माधो ॥टेक॥
दारुण दस मास 'दुषित' 'ग्रभि' अंवला, जल मल भोजन कीया ॥
वहता मल मूत्र नासिका ऊपरि, उरध सास मैं लीया-माधो ॥१॥
तप करि कष्ट राज रसि लागा, निहचल रांम न गाया ॥
तप वल घट्या काल फिरि ग्रास्या, परहथि प्रांण विकाया-माधो ॥२॥
कीट पतंग मीन 'म्रघ' विसहर, स्वान सिंघ वप धारचा ॥
सूकर स्याल काग 'क्रिमि' कुंजर, ऐसे फिरत फिरत पचि हारचा-माधो ।३।
जलि थलि वास जुरा संगि मेरे, काल कहर की छाया ॥
जन हरीदास अपणां करि राषो, पतित सरणि अव आया-माधो ॥४॥

पाठभेद—अगह्—५। अवगण—३-५। दुषत—५। ग्रभ—५। म्रिघ—१। मृग—५।
क्रम—३। कृम—५।

शब्दार्थ—वाचा=वाणी। ग्रभि=गर्भ। अंवला=उल्टा, ऊंधा। पर हथि=और के हाथ, पराये वश। म्रघ=मृग। विसहर=साँप।

(४०)

बाबा इहै गरीबी झूठी ,
मन अर पवन दोऊ ये फूटा , मनसा फिरै न पूठी ॥टेक॥
त्रिवधि ताप की कंथा पहरी , मनी टोप सिरि जाकै ॥
राग दोष की कांना मुद्रा , कहा गरीबी ताकै ॥१॥
पहरया भेष रेष ज्यूँ की त्यूँ , मोह मढी बसि जींवै ॥
तन कै भेष रांम नहिं रीझै , विष इम्रत करि पीवै ॥२॥
पांच चौर 'परदेसी' पहुंता , मिलि पेलै ता मांही ॥
मन में जोर मुषि गहै गरीबी , असलि गरीबी नांही ॥३॥
जन हरिदास आन तजि अनरथ, मनि रांम नांम व्रत धारै ॥
राग दोष काहू सूँ नांही , या असलि गरीबी तारै ॥४॥

॥ अथ राग आसावरी ॥

(४१)

अवधू ऐसा ग्यांन विचारा ,
है हरि अकल सकल विस व्यापी, रहै सकल तै न्यारा ॥टेक॥
न्यौ मैं अलष अकल अविनासी , सुरति सुपह मति जागी ॥
गोरष गोपि परसि निधि 'निरभै', अनहद सींगी वागी ॥१॥
निज पुरि प्रांण बसै निति निह्चल, पवन सुरति सति माला ॥
'ब्रह्मछोल' मैं झूलै पेलै , पीवै अगम पियाला ॥२॥
'निकटि' नाथ निज रूप निरंतरि , नांव निरंजन राया ॥
जन हरीदास निंदौ कौ वंदौ , मन फिरि मन ही समाया ॥३॥

पाठभेद—प्रदेस-५ । न्यरभै-२ । ब्रह्मछोलि-२-४ । न्यकटि-२ ।

शब्दार्थ—फूटा=विखरा, वाह्य विषयों में लगा । पूठी=पिछली, वापिस, अन्तर्मुख । कंथा=गुदड़ी । मनी=अहङ्कार । रेष=लकीर, भोगमयवृत्ति । पांच चौर=पाँचो ज्ञानेन्द्रियां । परदेसी पहुंता=विषयों में लगी । जोर=ब्रह्म,ताकत । अनरथ=अन्याय । गोरष गोप=गुह्यज्ञान । ब्रह्मछोल=ब्रह्मानन्द की तरङ्ग में । झूलै=स्नान करे, सराबोर हो । निंदौ=निन्दा करे । वंदौ=वन्दना करे, प्रशंसा करे ।

(४२)

संतो सो जोगी 'निसतारै',
उलटी चाल सदा रस पीवै, उलटा भेद विचारै ।।टेक।।
'जब' लग मांन ग्यांन सब साचा, रांम कहै कहि जीवै ।।
उलटि पलटि का प्रेम पियाला, ज्यूँ जागै त्यूँ पीवै ।।१।।
सो मतिवाला जुगि जुगि जीवै, सहज सरे रस लीया ।।
छाक्या फिरै सदा ही रावल, गुरि पाया उनि पीया ।।२।।
पी पी अवधू भया दिवांना, निज सरूप सो जान्यां ।।
जन हरीदास हरि का रस विलसै, सो जोगी 'मनि' मान्या ।।३।।

(४३)

अवधू मैं मेरा मन समझया,
मन जाइथा पणि 'जांणि' न दीया, फेरि सहज घरि लाया ।।टेक।।
के वपधरि वैकुंठ विचारै, 'म्रत' लोक का मारया ।।
जो वैकुँठ धरया सो बिनसै, हम कछु अगम विचारया ।।१।।
नरक सुरग दोऊ हम तोल्या, ग्यांन तराजू मांही ।।
'दोन्यू' विथा बराबरि दीसै, इन मैं घटै बधै 'कछु' नांही ।।२।।
तीरथ 'व्रत' जोग 'जिग' तपस्या, वडी विथा 'जुग' मांही ।।
जन हरीदास ए मलकरि देष्या, इन कूँ परसै नांही ।।३।।

(४४)

संतो है कोई जोगी जोग जुगति गमि जांणै !
बहती नदी ग्यांन कै पारे, बांधि अपूठी आंणै ।।टेक।।

पाठभेद—न्यसतारैं–२-४। तव–१। मन्य–२। जांण–१-३। मिरत–१। मृत–४। दोन्यौं–१। को–१। वरत–३-४। ज्यग–२। जग–४-५।

शब्दार्थ—उलटी चाल=अन्तर्मुखी हो। छाक्या=तृप्त हुआ। जाइ था=विषयों की ओर जा रहा था। वप धरि=शरीर धारण कर। विथा=पीड़ा, दर्द। मल करि=मलीन, पापमय। वहती नदी=सांसारिक पदार्थों में लगी वृत्ति। अपूठी=वापिस, पिछली।

राजस तामस 'स्वातिग' ग्रासै, सेस नाग कूँ पीवै ।।
अलष अधारी आसा राषै, ऐसा जोगी जीवै ।।१।।
सूषिम गली 'निजरि' मैं राषै, पांच चरण तलि चूरै ।।
परमजोति कै परचै षेलै, अनहद सींगी पूरै ।।२।।
सुरति सँवाहि सहजि घरि धारै, निरमल नेह निवासा ।।
जन हरीदास ऐसा जन कोई, देषै अगम तमासा ।।३।।

(४५)

मन रे! सो साचा वैरागी,
त्रिकुटि कोट ऊपरि तत आसण, सुरति 'निरंजन' लागी ।।टेक।।
ग्यांन षड़ग लै वन मैं पैसे, चेला पांच विवोगे ।।
वसत गोपि सतगुर सूँ परगट, परम सूँनि रस भोगे ।।१।।
सागर 'सपत' 'अष्ट' मंड़ल मैं, नदी निवासै तांणै ।।
उनमनि रहै एक रसि लागा, जोग मूल 'विधि' जांणै ।।२।।
अरथ करै करि अरथै दरसै, निज विसरांम न भूलै ।।
गुरगमि 'अवघट' घाटी लांघै, त्रिवेणी संगि झूलै ।।३।।
मन कूँ पकड़ि सहज घरि षेलै, सुरति सहज घरि धारै ।।
जन हरीदास अहरण घण कसणी, तव हरि हाथ पसारै ।।४।।

पाठभेद—सातिग–१ । नजरि–१ । निजर–५ । न्यरंजन–२ । निरंजण–४ । सप्त–५ । असट–२-४ । वंघ–३-४ । औघट–५ ।

शब्दार्थ—ग्रासै=खा जाय, नष्ट करे । सेस नाग=संशयरूपी सर्प को समाप्त करे । सूषिम गली=मनोवृत्ति । पाँच=ज्ञानेन्द्रियाँ, पांचो विषय । सुरति=वृत्ति । सँवाहि=सँभाल । त्रिकुटि कोट=भ्रूमध्य, आग्या चक्र में । तत आसण=तत्व का स्थान, ब्रह्मरन्ध्र, सहस्रारदल । विवोगे=दूर करे । वसत गोपि=गुप्तवस्तु, परिछिन्न ब्रह्म । सागर सपत=रसादि सप्त धातु । अष्ट मंडल=आठों चक्र, आठों कमल । अरथ करै=तत्वज्ञान कहे ही नहीं । अरथै दरसै=तत्वज्ञान अपनावे, अनुभव में लावे । निज विसराम=चिर-सुख प्राप्ति का स्थान । अवघट घाटी=मेरुदण्डगत इड़ा-पिंगला सुषुम्ना के प्रवाह की प्रणाली । त्रिवेणी=इड़ा-पिंगला, सुषुम्ना समरूप में । जन हरीदास अहरण घण कसणी=हरिदासजी कहते हैं—जैसे अहरन घन की चोट को सहन कर वस्तु निर्माण करता है, वैसे ही साधक मन, प्राण, इन्द्रियों पर निग्रह करता हुआ अपना लक्ष्य प्राप्त कर ले ।

(४६)

मन रे ! सो साचा जूवारी ,
जूवै षेलि 'परमनिधि' परसै , वहौड़िन रोपै सारी ॥टेक॥
पहली 'षेलि' वहुत दिन हारचा , सतगुर समझि न आई ॥
अव वो डाव चरणतलि चूरचा , उलटी सार चलाई ॥१॥
तीन पांच नव डाव न षेलै , 'चलि' दसवैं घरि आई ॥
अव याह सारि पड़ै नहिं काची , ठौड़ 'अमौलिक' पाई ॥२॥
दुष सुष डाव चाल चौरासी , त्रिवधि ताप तजि पासा ॥
सारी प्रांण प्रेम घरि सौंपी , अरथि अलूधी आसा ॥३॥
चित चौपड़ि चेतन घरि चौथे , दोऊ 'मेल्हि' जुग हूवा ॥
षेलै सदा सुरति कै नाकै , फूटि न चाले जूवा ॥४॥
उनमनि रहै निरंतरि निसदिन , निज तरवर की छाया ॥
जन हरीदास सतगुर कै सरणैं , करमन व्यापै माया ॥५॥

(४७)

पांड़े अपनी अगनि बुझावो ,
हम तो अपणैं राह चलत हैं , 'तुम' काहे दुष पावो ॥टेक॥
था 'तुम' कौंण कहां तैं आया , अनंत लोक फिरि भाई ॥
अव तो तुम वांमण 'होइ' वैठा , चौरासी विसराई ॥१॥
'गरभवास' ऊँधै मुषि रहता , सपत धात रस पीया ॥
अव तो तुम्ह चौका दे जीमो , वहां चौका किस दीया ॥२॥

पाठभेद—परमन्यधि–१ । षेल्य–२ । षेल–५ । चल्य–२ । अमौल्यक–२ । मेलि–१ । तुम्ह–३·४ । व्है–१ । ग्रभवास–१ ।

शब्दार्थ—वहौड़ि न=फिर, पुनः । डाव=पासा, दाँव । तीन=तीनों गुण । पांच=पाँच विषय, रागादि पञ्चक्लेश । नव=नवद्वार । दसवैं=दशमद्वार ब्रह्मरन्ध्र । अमौलिक=बहुमूल्य । अरथ अलूधी आसा=वासना तथा वृत्ति वास्तविक लक्ष्यसिद्धि में लगी । उनमनि=लयवृत्ति ।

कुल 'अभिमान' आंन वप पूजा, इहै विथा 'होइ' लागी ॥
जे 'यह' जाति भलो थी पांड़ै, तौ सुषदेव क्यौं त्यागी ॥३॥
रांम विसारि हारि मत चालौ, आंषि अनूप उघाड़ो ॥
क्रोध चंडाल सदा संगि षेलै, ता का मूल उपाड़ो ॥४॥
पांच तत का सकल पसारा, प्रांण तहां दुष पावै ॥
जन हरीदास वांभण सति सोई, उलटा ब्रह्म समावै ॥५॥

(४८)

रांम सुमरि जन ऊजला भया रे, परम सनेही अपणां सोधि लिया रे ।टेक।
सकल उपाइ सकल तैं न्यारा, सब देवल मैं रमै हो 'चितारा' ॥१॥
सकल 'भवन' कूँ पालै पोषै, 'कहा' पूजा लै दास संतोषै ॥२॥
जन हरीदास प्रणवै निज दासा, जीव सीव संगि एकै पासा ॥३॥

(४९)

चलणा रे मन विलमन कीजै, रांम भजन का लाहा लीजै ॥टेक॥
जहां जहां जाऊँ जहां जम मारै, करणां सागर सरणि उबारै ॥१॥
दुष सुष नदी वहैं दोइ भारी, ता मैं रांम विमुष भूलै 'अधिकारी' ॥२॥
जन हरीदास औसर भल पाया, ममता मेटि भजौ राम राया ॥३॥

(५०)

सो सुष सुणियो संत विनांणी,
'वीज' चमंकै वादल 'गरजै', चढ्या अपूठा पांणी ॥टेक॥

पाठभेद—अभ्यमान-२ । व्है-१ । याह-१ । या-५ । च्यतारा-२ । भुँवण-१ । क्या-१ । इधिकारी-२ । वीजल-१ । गाजै-१ ।

शब्दार्थ—अनूप=अनोखी, ज्ञाननेत्र । ऊजला=शुद्ध, प्रकाशमय । चितारा=चित्र करने वाला, जगत्पिता । वीज चमंकै=ज्ञानज्योति प्रगटे । वादल गरजै=अनहद ध्वनि हो । चढ्या अपूठा पांणी=वृत्तिप्रवाह बाहर से उलट कर अन्तर्मुख हो गया ।

जोगी रोग रति भरि तोड़ै, 'वोषद' अगम वतावै ॥
आसण छाड़ि अगनि मैं पैसे, उलटी ताली लावै ॥१॥
गंग जमन मधि पवन निरोधै, विष तजि वसत पिछाणै ॥
गिणि गिणि तार अकल सूँ सांठै, निरगुण का गुण जांणै ॥२॥
छै सै सहस इकीसूँ धागा, अगम तहां ले जोड़ै ॥
निरभै अकौ निरंजन परसै, तिल भरि तार न तोड़ै ॥३॥
सेस महेस 'विसन' गहि ब्रह्मा, काटि काटि कस लावै ॥
भरि भरि अगम पियाला पीवै, भाठी चौक 'चिगावै' ॥४॥
मढ़ी अषंडित मांही वैठा, जोगी एक विराजै ॥
जरणां जड़ी जटा मैं राषै, सुष मैं सींगी वाजै ॥५॥
विषि ही झालरि वाजा वाजै, विणि ही देवलि देवा ॥
सूँनि मंडल मैं ध्यांन हमारा, विणि ही मूरति सेवा ॥६॥
जन हरिदास अधर उठि चालै, ताका पला न कोई तांणै ॥
विणि धरनी वे सहर एक देष्या, विरला कोई जांणै ॥७॥

(५१)

अवधू माणिक चौकि 'महानिधि' लाधी, कह्यां न को पति 'आवै' ॥
जा का मोल तोल कछु नांही, सिर सौंपै सो पावै ॥टेक॥

पाठभेद—वोषधि-१ । विष्न-१-५ । चिकावै-१ । महान्यधि-२ । याचै-१ ।

शब्दार्थ—रोग रति भर तोड़ै=वासना, संशयादि का लेश भी न रहने दे। वोषद अगम वतावै=मन, बुद्धि, इन्द्रियों से आगे अगम-चेतनतत्वरूप औषधि प्राप्त करावे। आसण छाड़ि=मायिक पदार्थों की इच्छा का त्याग। अगनि मैं पैसे=ज्ञानाग्नि में स्थित हो। गंग जमन=इड़ा-पिंगला। अकल सूँ=कलनरहित, मायारहित ब्रह्म से। सांठै=जोड़े। छै सै सहस इकीसूँ धागा=इक्कीस हजार छः सौ श्वासरूपी धागे। सेस=अहङ्कार। महेस=तमोगुण। विसन=सतोगुण। ब्रह्मा=रजोगुण। भाठी=भट्ठी। मढ़ी अषंडित=दशमद्वार, गगनमंडल में। झालर=स्थिरवृत्तिरूपी झालर। वाजा वाजै=अनहद शब्द से। अधर=निराश्रयवृत्ति। वे सहर=बेगमपुर, शून्यस्थान। माणिक चौक=हृदयप्रदेश में। महानिधि=परम धन, आत्मप्राप्ति।

अधर सधर निरमल निहकांमी, नांव निरंजन राया ॥
'धरे' अधर सूँ 'परचा' कीया, सो फिरि तहां समाया ॥१॥
अवरण वरण सकल सँगि रहिता, 'पतिवरता' पति छाजै ॥
भगति सधीर आधार हमारे, चौकी चढ्या विराजै ॥२॥
अरध उरध मधि अगम अधारी, निज तत नैड़ा दरसै ॥
मन मतिवाला भरि भरि पीवै, घटा विनां घण वरसै ॥३॥
उलटी नदी गुणां 'सूँ' न्यारी, महा नीर अति मीठा ॥
सेझां राजा राम पधारया, 'महलि' उजाला दीठा ॥४॥
नैड़ा निपटन जांणै कोई, करम काट 'वहौ' लागा ॥
जन हरीदास सुष सागरि पैठा, 'भौ सागर' भै भागा ॥५॥

(५२)

'जोगिया' अलष अभेवा रे !
आरंभ कौंण कहां 'तेरा' आसण, करूँ किसी विधि सेवा रे ॥टेक॥
सकल रूप रसरूप 'विवरजत', सकल रूप तैं कीया ॥
सकल रूप करि सब तैं न्यारा, साधां कूँ सुष दीया ॥१॥
चिंत न चाहि प्रीति नहिं 'परघत', सकल निरंतरि न्यारा ॥
अगहि अरूप अथाह अषंडित, अगम वार नहिं पारा ॥२॥
मैं मेरा उनमांनि विचारया, करम कूप तजि काया ॥
उलटी सुरति गगनि मैं गरजै, तहां कछु अलष लषाया ॥३॥

पाठभेद—धरये-१ । प्रचा-१ । पतिभरता-१ । तें-३ । महल्य-२ । महल-५ । वहु-२ । भवसागर-१ । जुगिया-२-३ । तेरो-५ । विवरजित-१ । प्रघत-१ ।

शब्दार्थ—चौकी=अन्तःकरणरूपी चौकी पर । अरध=मूलाधार चक्र । उरध=दशमद्वार, सहस्रारदल । मधि=अनहदचक्र, हृदयस्थान । घटा विना घण वरसै=वाह्य बादलों के बिना तालुप्रदेश से निरन्तर झरने वाला अमृत रस बरस रहा है । सेझां=हृदयरूपी शैय्या पर । महलि=देहरूपी महल में । उजाला=ज्ञानज्योति का प्रकाश । दीठा=देखा । चिंत=चिन्तन, कामना । चाहि=इच्छा । परघत=दूसरे का घात, हिंसा । उनमांनि=अन्दाज ।

(५३)

सुणि लै रे ! साह संदेसा,
साह कहाइ चोर संगि राषो, जाव 'करोगे' कैसा ॥टेक॥
त्रिसना एक रहै घट भीतरि, निज पद अटकै नांही ॥
ऊँच नीच की माया षांचौ, सो पड़ै रसोई मांही ॥१॥
मैं तैं चितचोर चित पैठा, षंड षंड करि कांपै ॥
अति 'अभिमान' काम वसि काचा, करम कथा कण थापै ॥२॥
सोई साह सदा संगि षेलै, मन की ठौड़ उठावै ॥
वंकनालि 'इंम्रत' रस पीवै, रस ही मांहि समावै ॥३॥
पकड़ि तराजू मन कूँ तोलै, हरि इंम्रत रस पीवै ॥
जन हरिदास साह सति सोई, यूँ सांचा करि जीवै ॥४॥

(५४)

हरि 'विण' जांणि षोटा षात,
रामजी सूँ प्रीति नाहिं, उठि 'दह' दिसि जात ॥टेक॥
भजि निरंजन भरम भंजन, हरि अरि गंजन नाथ ॥
आपणा करि आप राषै, सीस परि धरि हाथ ॥१॥
काल का भै वंधन कांपै, जाप अजपा आप आपै ॥
उनमनि असथांन, सौदत अवर नांही अभै आपै दांन ॥२॥
नरक का भै कुँड़ 'टालै', काल चोट न वहौड़ि सालै ॥
जुरा ग्रासै नांहि सीस दे ताहि, भगति आपै नरहरि वसत हैं सव मांहि ।३।

पाठभेद—भरोगे-५। अभ्यमान-२। इंम्रित-१। विणि-२-३। दहि-४। पालै-१।

शब्दार्थ—जाव=जवाब। षांचौ=खींचते हो, अपनाते हो। मैं तैं=मेरा-तेरा भेदवृत्ति। सोई साह=वही साहूकार हो। सदा संगि षेलै=जो सदा आत्मस्वरूप में लीन रहे। मन की ठौड़=मन की प्रवृत्ति, विषयवासना को। वंकनालि=सुषुम्ना। तराजू=विवेक विचाररूपी तकड़ी में। आपण करि=अपनाकर। कांपै=काटै। आपै=प्रदान करे। सीस दे ताहि=उसको आत्मसमर्पण कर।

भरम जल मै पार लहिये , षेलि उलटा अगह गहिये ॥
, हरि पूरण ब्रह्म अगाध ॥
जन हरिदास निरभै ध्यांन'निरमल', तहां वसत है सब साध ॥४॥

(५५)

संतौ ! सहणै व्है सुष लाधा ,
महतौ पकड़ि आप वसि कीयो , सतगुर सवदां वांधा ॥टेक॥
महतौ रोक्यां उपरि महती , किलौ करै कलि नारी ॥
कहयौ काहू को मांनै नांही , तब गलि गोतो दै मारी ॥१॥
राज वलाही मतै आपणै , फिरि फिरि करै बुराई ॥
ताकौ सिर जरवा सूँ कूट्यौ , यूँ भागो वड़ भाई ॥२॥
गांव सुहागणि मारग रोक्यो , आड़ी आड़ी आवै ॥
जन हरीदास सोई ततवेत्ता , जौ या 'तैं' पलौ छुड़ावै ॥३॥

(५६)

अवधू ! वेलि आंषि उझांणी ,
पैली आंषि सहज मैं षूली , याह सतगुर की सहनांणी ॥टेक॥
पाइक पांच पौलि मैं अटक्या , ग्यांन गुफा मैं आया ॥
गिगन मंडल मैं आसण अवधू , धुनि मैं ध्यांन लगाया ॥१॥

पाठभेद—नृमल–३-४ । पै–५ ।

शब्दार्थ—सहणै व्है=सयाना होकर, सचेष्ट हो आत्मचिन्तन में लगने से । महतो=मनरूपी महते को । महती=मनसा किलकारियाँ भरने लगी । राज वला ही=अहङ्काररूपी राजवलाही ने । मतै आपणै=अपनी मर्जी से ही । ताको सिर जरवां सूँ कूट्यो=इस अहङ्कार का सिर गरीबी–अकिञ्चनता की हथौड़ियों से चूर-चूर किया । गांव सुहागणि मारग रोक्यो=कुमतिरूपी वलाहिण आड़ी आ विघ्न करने लगी, उसको स्थिर सुमति द्वारा परास्त किया । उझांणी=मिच गई । पैली आंषि=परादृष्टि । सहनांणी=निशानी, चिह्न । पाइक पांच=मन की सहायक पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ । पौलि मैं=वृत्ति जाने के मार्ग, दृष्टि, घ्राण, रसना आदि । ग्यांन गुफा=आत्मस्थान में ।

ऊँधा कँवल सुलटि करि सूधा , अनहद सबद उचारा ।।
गंग जमन समि रवि ससि मेला , सहजि भया मतिवारा ।।२।।
गम मैं अगम अगम मैं गम है , मन फिरि मन ही समाना ।।
जन हरीदास कछु कहत न आवै , अब हम भया दिवांना ।।३।।

(५७)

मन रे ! सो सतगुर मैं चेला ,
'आनद' सहत अगम घरि षेलै , परम जोति सूँ मेला ।।टेक।।
मन गहि पवन गवन गुरगम तैं , पछिम देस पंथ जांणै ।।
सुरति सँवाहि समद मैं पैसे , वसत 'अमोलिक' आंणै ।।१।।
स्वारथ की सीर अटकि अरि अवधू, परसि परम निधि देषै ।।
ए नवनाथ हाथ मैं राषै , तब दिन लागै लेषै ।।२।।
पाइक पांच एक रसि रोकै , गोरष कड़ी सलूझै ।।
जरणां जड़ी जोग जत जांणै , सो या अरथ ही वूझै ।।३।।
सूँनि मंडल मैं वैसि 'निरंतरि' , अणवोल्या 'नित' गावै ।।
जन हरीदास सोई गुर मेरा , जो या अरथ समावै ।।४।।

(५८)

जागि न देषो रे ! हरि नेरा ,
तजि 'बहौ' रूप धूप नहिं व्यापै, सुष मैं सहजि वसेरा ।।टेक।।

पाठभेद—आनंद-२-३ । अमोल्यक-३ । न्यरंतरि-२ । न्यत-२ । निति-३ । वहु-१ ।

शब्दार्थ—ऊँधा कँवल=चक्रों के उल्टे कमलों को । गंग जमन समि=इड़ा-पिंगला समस्थान में । रवि ससि मेला=सूर्य-चन्द्र में प्राण का निवास । मन फिरि मन ही समाना=मन मलीनता को त्याग विशुद्धरूप में बदल गया । दिवांना=मस्ताना । अनहद सहत=अनहद शब्द सहित । अगम घर=सहज स्थान, ब्रह्मरन्ध्र प्रदेश । पछिम देस=वकनालि, सुषुम्ना मार्ग । पंथ=मार्ग । सुरति सँवाहि=वृत्ति स्थिर कर । समद=अगाध व्यापकब्रह्म में । नव नाथ=पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ, अन्तःकरण चतुष्टय । गोरष कड़ी=ज्ञान की दृढ़ता । सलूझै=सुलझै, सुगम हो । जरणां=सहनशीलता । सूँनि मंडल=दशमद्वार । अणवोल्या=बिना शब्द, अजपा जाप । धूप=ताप, त्रिविध ताप । वसेरा=विश्राम ।

रमतारांम परम सुष दाता, सकल लोक ता छाया ॥
ता सुष लागि साध अविनासी, अमर लोक फल पाया ॥१॥
आनंद अनंत अनंत 'अघजारण', अनंत चंद तै 'सैला' ॥
अनंत भाण परकास परमपद, अनंत 'जोति' का मैला ॥२॥
आनंदरूप अगहि अविनासी, अगम तहां गम कीया ॥
जन हरीदास निधि देषि निजरि भरि, जनम सुफल कर लीया ॥३॥

(५९)

'निद्रा' मारै 'मसत' दिवानी,
राव रंक उमराव चुणि मारया, ऐसी है गैवांनो ॥टेक॥
जोगी जती सेवड़ा सोफी, तिनहु 'तैं' रहै न छानीं ॥
आप निरंजन जुग मैं थापी, काल तणी निसानी ॥१॥
जुग सोवै गोरष जन जागै, ऐसा परम निधानी ॥
जीव जंत सबहीं वसि कीया, सबहिन कै 'मन' मांनी ॥२॥
जोग जुगति गमि जांणै नांही, निद्रा कै वसि हूवा ॥
जन हरीदास केता नर नारी, माया मांही मूवा ॥३॥

॥ अथ राग आसावरी सम्पूर्ण ॥

॥ अथ राग सोरठी ॥

(६०)

पल पल जाइ रे ! मन जाइ,
करम लागौ 'भरमि' भूलौ, रह्यौ काल लुभाइ ॥टेक॥

पाठभेद—अघजारन-१। षैला-२। ज्योति-१। न्यद्रा-२। मस्त-३-४। सू-५। मनि-४। भरम-१।

शब्दार्थ—सैला=शीतल, ठण्डा। भांण=सूर्य। गैवांनी=गैव से आनेवाली। छानी=छिपी, गोपनीय। थापी=स्थापित की। गोरष जन=ज्ञानी पुरुष। निधानी=स्थान, अधिष्ठान।

एक सुवटौ उलटि बैठौ, 'त्रिरछ' भीतरि आइ ॥
सोइ विरछ वोछौ असुर मिनी, घात लागां पाइ ॥१॥
एक कलस सुँदरि नीर भरियो, नां पीवै 'पणिहारि' ॥
सोइ कलस फूटो छाड़ चाली, वड़ौ 'अवसर' हारि ॥२॥
पहर 'च्यार सै' सहज वीती, भयौ मूल गमाइ ॥
गयो वासुर 'रैंणि' आई, नर चल्यौ षोटा पाइ ॥३॥
काल आइ जब फिरचौ 'दौलो', समझि न 'पड़ई' काइ ॥
जन हरीदास हरि का भजन विणि, नर रह्यो जमपुर 'जाइ' ॥४॥

(६१)

हरि सुष निमष 'छाड़ौं' नांहि,
रांमपति मेरे जीवनि जीव की, रहौ मन ही मांहि ॥टेक॥
फुनिग सोभा गयां व्याकुल, बावरौ होइ जाइ ॥
रांम मणि मेरे वसो 'मसतगि', परम संगी राइ ॥१॥
आतमा असथांन 'नरहरि', गया थरहरि और ॥
परम जोति प्रकास पूरण, जहां तहां सब ठौर ॥२॥
गरब गांठि न रही मन कै, राग दोष न रेष ॥
जन हरीदास कै राम संगी, प्रांणनाथ अलेष ॥३॥

(६२)

मन तोसूँ कहुँ मन हो, वारूँ वार सुणाइ ॥
अंध तजि अभिमान आपौ, गलित हरि गुण गाई ॥टेक॥

पाठभेद—व्रिष–१। पणिहार–३। औसर–३-५। च्यारुय–१-५। रैंनि–१। दौल्यू–२-३। पड़ही–३। छाई–५। छाड़ूँ–४। मस्तगि–३-५। नरहर–३।

शब्दार्थ—सुवटौ=मनरूपी सूवा। उलटि वैठो=संसाररूपी वृक्ष में आ बैठा। विरछ=संसारवृक्ष। वोछो=ओछा, नाशवान। असुर मिनी=अबिद्यावासनारूप बिल्ली। कलस=मानव देह। नीर भरियो=जीवनरूप जल भरा। पणिहारि=अस्थिर वृत्ति। चार सै=चारों-बाल, किशोर, तरुण, वृद्ध। गयो वासुर=जीवनरूपी दिन गया। रैंणि आई=कालरूपी रात्रि आई। फुनिग=सर्प। सोभा=मणिरूप शोभा। थरहरि=कांप उठे। और=कामादि रिपु।

षार परहरि सार सत अगहि , गम अरथ विचारि ।।
हरि नांव विणि निरवाह नांही , रषै चालै हारि ।।१।।
ग्यांन 'दाढ़' उगालि अरि अध , सहज सब सिधि होइ ।।
सपत धात सुधात वसिकरि , सुरति निज नग पोइ ।।२।।
'परमनिधि' निज छाड़ि निसदिन, विषै फल रुचि षांहि ।।
भरम जल पसु जांणि पीवैं , गरक दिनि दिनि जांहि ।।३।।
प्रांण संगी 'परसि' 'परगट' , प्रेम प्रीति लगाइ ।।
जन हरिदास रसना रांम 'रटि हो', जुरा जोरै थाइ ।।४।।

(६३)

भजि मन ! अकल देव मुरारि ,
नांव गहि रे ! नांव गहि , हरि ले उतारे पारि ।।टेक।।
निकटि नांव निरूप वड़निधि , सुष 'स्यंध' वार न पार ।।
ता स्यंध मांही बसै हंसा , चुगे मोती चार ।।१।।
अगम अपार अगाध नरहरि, निरषि रे दिल मांहि ।।
दास निज तहां सदा सनमुषि , हिल्या हीरा षांहि ।।२।।
जहां गांवन ठांवन वरण वाड़ी , मन पकड़ि रे निधि जोइ ।।
जन हरिदास रसना रांम रटिहौ , पीव सदा संगि सोइ ।।३।।

(६४)

रांम राइ मांगू भगति तुम्हारी , सो तो त्रिवधि ताप तैं न्यारी ।।टेक।।
रिधि न मांगू सिधि न मांगू , 'मुकति' न मांगू देवा ।।
आदि अंति तुम सूँ मिलि 'षेलूँ', यहु आरंभ या सेवा ।।१।।

पाठभेद—दाढ़ि=१ । प्रमनिधि-१ । प्रसि-१ । प्रगट-१ । रटहो-५ । सिंध-३-५ । मुक्ति-३-४ । षेलौं-५ ।

शब्दार्थ—षार=खारा, अनित्य संसाररूप निःसार । निरवाह=गुजारा । उगालि=चबाकर, खाकर । अरि=कामादि शत्रु । अघ=पाप, अकर्म । सपत धात सुधात वसि करि=रसादि सात धातुओं से बने शरीर को कब्जे में कर । स्यंध=सिन्धु, समुद्र । चार=अच्छी खुराक ।

निरमल ग्यांन ध्यांन धुनि निरमल, प्रेम प्रीति परकासा ॥
आसण अचल तहां मन निहचल, तुम ठाकुर मैं दासा ॥२॥
संजम सील साच सति सुमिरण , पति सूँ प्रीति 'अनेरी' ॥
जन हरीदास कूँ आस न दूजी , आस अनाहद तेरी ॥३॥

(६५)

माधवे ! कठिन जल भ्रम पूरि ,
सकल व्यापी हो सनेही , करौ 'कलविष' दूरि ॥टेक॥
जोग ले जाइ 'वसूँ' वनषंड़ि , 'रहूँ' ताली लाइ ॥
देषतां मन ऊठि गै ज्यूँ , दंत धरि लै जाइ ॥१॥
पवन गहि लै गगन 'राषूँ' , मेर 'डंड' चढ़ाइ ॥
नाथ तुम्ह 'विचि' यह पड़दा , दूर 'पड़िये' जाइ ॥२॥
वोट हरि विन अवर नांही , काल ग्रासै आइ ॥
जन हरीदास उदास ता तैं , आंन कछु न सुहाइ ॥३॥

(६६)

तोकूँ विड़द किसो दे गाऊँ ,
जुग 'चारौं' वेदां वांचीजै , पैलो पार न पाऊँ ॥टेक॥
अगम अपार पार नहिं कोई , पार न किनहूँ पाया ॥
तूँ है एक मांड़ सब तेरी , 'सुवौ' निरंजन राया ॥१॥
'सूरज' तपै सोई तेज तुम्हारौ , घुरै इन्द्र के वाजा ॥
यहु परताप तुम्हारौ स्वांमी , तुम्ह जोगी तुम्ह राजा ॥२॥

पाठभेद—अणोरी-१ । कल्यविष-२ । कलिविष-५ । वसौं-१ । रहौं-१ । राषौं-५ । डंडि-१ । विच-५ । पड़िए-४-५ । च्यारूँ-५ । सुणौं-१ । सूरिज-२ ।

शब्दार्थ—परकासा=तेजमय । अनेरी=अत्यन्त, घनेरी । कलविष=मलीनता, पाप । उठ गै ज्यूँ=हाथी की तरह चलायमान । पड़दा=आवरण । मांड=विश्व, संसार ।

सात समद इल मूलि न लोपै, 'त्यांह' किनि पाज बंधाई ॥
जे लोपै मरजाद तुम्हारी, तौ नीर धूलि 'होइ' जाई ॥३॥
तुम्ह तौ आप सकल घटि भीतरि, तुम्ह ही रहौ उदासा ॥
जन हरीदास कूँ 'चरणां' राषौ, मेटो जम की त्रासा ॥४॥

(६७)

मन रे ! झूठा आस पसारा, सब तजि भजि सिरजनहारा ॥टेक॥
धन जोबन सुत माया, 'यह' बादल की सी छाया ॥
जहां बैसि सुष पाया, ताकूँ फिरि धूप जलाया ॥१॥
'हस्ती' घोड़ा गढ़ पाया, अपणां करि मुलक बसाया ॥
चाल्या तब दीया रोई, वा कै संगि न चाल्या कोई ॥२॥
साह बैद 'सुलितांना', मैं मेरी मांहि भुलाना ॥
इहै काल का फंधा, जीव जागि न देषै अंधा ॥३॥
या हटवाड़ा की बाजी, जिनि ठगै 'मिसर' मुनि काजी ॥
षट दरसण सब ठगि षाया, बाजी का मरम न पाया ॥४॥
मात पिता सुत भाई, सब स्वारथ मिली सगाई ॥
तहां लागि जीव लोइ, 'चिंतामणि' कर तैं षोई ॥५॥
ऊँचा महल अवासा, नांना विधि भोग विलासा ॥
त्रिवधि ताप अहंकारी, भूलौ रे बाजी हारी ॥६॥
तेल फुलेल सिरि डारै, नानाविधि देह सँवारै ॥
किसा कांम की काया, बूरचां कै अगनि 'जलाया' ॥७॥

पाठभेद—तिहां-१। हुइ-४। चर्णा-५। याह्-१-३। हसती-२। सुल्यतांना-२। मिश्र-१। चिंतामण-५। जराया-१।

शब्दार्थ—इल=इला, भूमि। धूप=संताप, त्रिविध ताप। फंधा=फन्दा, बन्धन। चिंतामणि=अमूल्य मनुष्य देह। अवासा=आवास, रहने का स्थान। बूरचा=गाड़ा, दफनाया।

सतगुर मिलि साच बतावै, जो षोजै सो पावै ॥
जन हरीदास हरि नीका, हरि सकल धरम सिरि टीका ॥८॥

(६८)

मन रे! उलटि सहज घरि नाया, तब लगि 'वादि' वक्या बौराया ।टेक।
'नाभि' कँवल मैं पवन निरोधूँ, तौ सतगुर का चेला ॥
मन गहि पवन अगम घरि षेलूँ, करूँ अगम सूँ मेला ॥१॥
उलटा 'षेलि' गगन मैं 'पैसूँ', सुरति सहजि घरि 'धारूँ' ॥
'परमजोति' सूँ हिलिमिलि 'षेलूँ', ऐसा अरथ 'विचारूँ' ॥२॥
जन हरीदास निरभै निधि 'परसूँ', परमसिंध मैं न्हाऊँ ॥
जठर अगनि मैं प्राण न होमूँ, आवा गवण चुकाऊँ ॥३॥

(६९)

अब मोहि दरस दिषाइ माधवे,
यहु 'औसर' लाभै नहीं, दिन दिन घटतो जाइ माधवे ॥
प्रीति घटै तौ जिनि मिलो, तुम परमसनेही राइ माधवे ॥
मैं जन बांध्या प्रेम सूँ ॥टेक॥
एक अंदेसो म्हारे मन वस्यो, सो हम विसरैं नांहि माधवे ॥
निकटि वसौ न्यारा रहौ, एकै 'मंदिर' मांहि माधवे ॥
कै 'मिलि' हौ कै तन 'तजूँ', अब मोहि जीवण नांहि माधवे ॥
प्रांण उधारण तुम्ह मिलौ ॥१॥
अवला मनि व्याकुल भई, तुम्ह क्यूँ रहे रिसाइ माधवे ॥

पाठभेद—वाद-४। नाभ-५। षेल-३। पैसौं-१। धारौं-५। प्रमजोति-१। षेलौं-१-५। विचारौं-१। परसौं-१। अवसर-१। म्यंदिर-२। म्यलि-२। त्यजूँ-२।

शब्दार्थ—टीका=शिरोमणि, प्रमुख। नाया=नहीं आया। वादि वक्या=व्यर्थ बकवास किया। वौराया=पागल हुआ। उलटा षेलि=आत्माभिमुख हो। गगन मैं पैसूँ=ब्रह्मरन्ध्र में निवास करूँ। परमसिंध=अतिसुखसागर। अंदेसो=संशय, जिज्ञासा।

तुम्ह मिलि हो तौ 'मिलि' 'रहूँ', नहितर मिल्यो न जाइ माधवे ।।
अंतरजामी आंतरौ, जनम 'सिरांनो' जाइ माधवे ।।
परमसनेही 'तुम्ह' मिलो ।।२।।
पांच सषी सनुमषि भई, सुषमनि सहज समाइ माधवे ।।
मन पवना मेला भया, तुम्ह कवर मिलोगे आइ माधवे ।।
आत्म अंतरि आइये, जन हरीदास वलि जाइ माधवे ।।
दरसण 'द्यौहु' दयालजी ।।३।।

(७०)

षोइवादे रे ! षोइवादे, मांहिला मनोरथ षोइवादे ।।टेक।।
निरगुण नाह न आया, तातैं जीवड़ै 'वहौत' दुष पाया ।।
अव पिव विलमन कीजै, जन दुषिया कूँ सुष दीजै ।।
नैंन पलक भरि जोइवादे ।।१।।
अव विरहणि कूँ सुष दीजै, पिव अपणी करि राषीजै ।।
प्रेम पियाला पावौ, मेरा तन की तपति वुझावौ ।।
अरस परस मिलि सोइवादे ।।२।।
पिव निकटि निरंजन 'नैरा', भवभंजन संत सधीरा ।।
जन हरीदास हरि पाया, सुषसागर मांहि समाया ।।
हीरै हीरा पोइवादे ।।३।।

(७१)

दरसण दे हो देव दरसण दे, मोहि नैंन पलकभरि परसण दे ।।टेक।।
आव घटै तन छीजै, तुम्ह हो तैसी कीजै ।।
भवसागर वार न पारा, मेरे तुम्ह ही राषणहारा ।।१।।

पाठभेद—मिल्य-२। रहौं-५-१। सिराणो-१। तुम-५। देहु-१। बहुत-१। नीरा-५।

शब्दार्थ—सिरानो=क्षीण होना, घटना। पांच सषी=अन्तर्मुखी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ। षोइवादे=गमाने दे, खत्म करने दे। नाह=पति, स्वामी। हीरै हीरा पोइवादे=आत्मतत्व को परमात्मतत्व में मिलाने दे।

देवा 'विलमन' कीजै, मोहि विरहणि कूँ सुष दीजै ॥
तुम्ह विन 'पीड़' न जांणै कोई, पीया पड़दै प्रीति न होई ॥२॥
साहिव मेरा पूरा, जाकै वाजै अनहद तूरा ॥
जो सेवै सो पावै, तातैं विरहणि विलम न लावैं ॥३॥
मोहि विरह सतावै सांई, मैं अवला तुम्ह ही तांई ॥
ज्यूँ 'घन' कूँ तरसै मोरा, यूँ हरीदास जन तोरा ॥४॥

(७२)

आयो उलटि जाऊँ नहीं,
दयाल हो 'किरपाल' माधो, मन मँड्यो चरणां मांही ॥टेक॥
संसार भार अपार 'अपरवल', 'जहां' काचा रंग ॥
आप थापी महापापी, भगति पाड़ै भंग ॥१॥
भरम जल मैं कल्या केता, अजहूं कलि कलि जांहि ॥
राम विना मेरे धणी नांही, नहिं 'वसूँ' किलविष मांहि ॥२॥
वास 'जग मैं' त्रास जम की, अलप जीवन मोहि ॥
जन हरिदास कूँ विसवास तेरा, मैं न छांड़ौं तोहि ॥३॥

(७३)

संतो! कुवधि काल तैं डरिये,
भवसागर 'तिरिवे' के तांई, देषि देषि पग धरिये ॥टेक॥
लीयां षड़ग द्वारि जम ठाढ़ा, घात पड़ै 'तव' मारै ॥
हरि का जन कोइ संक न मानै, हरि हथियार संभारै ॥१॥

पाठभेद—विलंवन–१। पीर–१। घरण–१-५। कृपाल–५। अप्रवल–४-५। तहां–५। वसौं–१। जुग मैं–१-५। तरिवे–५। जव–५।

शब्दार्थ—उलटि जाऊँ नहीं=वापिस संसार की मोह-ममता में नहीं जाना है। है। अपरवल=महान्वली, अजेय,। आप थापी महापापी=यह मनचाही करने वाला मन महापापी है। कल्या=फँसा, रुक गया। कुवुधि काल=देहाध्यास की कुभावना ही काल का कारण है। घात पड़ै=दाँव लगे, मौका हो। संक=प्रभाव, भय।

सुणि सूरज सुत सवद हमारा, ऐसी कदे न होई ॥
गोविन्द का जन जम कै द्वारै, जात न देष्या कोई ॥२॥
मैं मेरा डर सँगि करि लीया, चालि 'उहां' जहां भाई ॥
साचा लै हरिचरणां राष्या, सजा झूठ कूँ धाई ॥३॥
'निसवासुर' निरभै गुण गावै, कहि कहि रांम पुकारै ॥
जन हरीदास परगट परमेस्वर, ताका काज सँवारै ॥४॥

(७४)

मन पंषिया मैं तू जाण्यौ रे भाई, उलटै 'षेलि' परमनिधि पाई ॥टेक॥
अगम अगहि अंतर अविनासी, मन निहचल काया तन कासी ॥१॥
अवरण वरण करम नहिं काया, सूषिम ब्रछ सुसीतल छाया ॥२॥
जन हरीदास निरभै भै नांही, 'म्हारो' प्रांण वसै हरि तरवर मांही ॥३॥

(७५)

अव मैं जांण्यौं हो जाण्यौ, गोविंदो म्हारै मनि 'वस्यौ' ॥टेक॥
अकल सेवा 'करू"' इहि विधि, मन ही मन समझाइया ॥
नाह निरगुण 'सेझ' आया, परसि सो पति पाइया ॥१॥
साच गहि सति सदा सनमुषि, सषी सव सेवा करै ॥
हरि 'निकटि' निसदिन प्रेम वरसै, तहाँ सिर चरणां धरै ॥२॥
आतमा असथांन आनंद, सवद अनहद वाजिया ॥
कोटि सूरज तेज दरसै, कोटि चंद विराजिया ॥३॥
अगम था सो इहां पाया, प्रांण पीव संगि लाइया ॥
जन हरिदास आसा अरथि लागी, मन मगन मठ छाइया ॥४॥

पाठभेद—वहां–४। न्यसवासुरि–१। षेल्य–२। मेरो–५। वसै–१। करौं–१। सेज–५। न्यकटि–२।

शब्दार्थ—सूरज सुत=धर्मराज। धाई=दिलाई। सूषिम ब्रछ=अति सूक्ष्म चेतनतत्व। अकल=अविनाशी। अरथि लागी=ठीक जगह लगी, लक्ष्यस्थान पर पहुंची।

(७६)

देव न 'जाणूँ' तेरा भेव , तुम्ह कैसे सति मानौं सेव ।।टेक।।
सतगुर मिलि साच वताया , अगम पुरिस ताकी 'यह' माया ।।
ताहि भेद जांणै कोइ नांही , सेष सेभ्र पौढ़े जल मांही ।।१।।
जल ही मैं जल होइ समाया , अगम जोग का भेद न पाया ।।
भेद लहै सोई गुर मेरा , जनमि जनमि हूँ ताका चेरा ।।२।।
इहै विचारि पार नहिं कोई , 'सालिगरांम' स रांम न होई ।।
सालिगरांम सहज का देवा , 'मनि' मानें त्यूँ कीजै सेवा ।।३।।
'मसतग' धरै गला मैं राषै , झूठा सदा झूठ ही भाषै ।।
द्वारै मेल्है आला मांही , झूठ झूठ यहु साहिव नांही ।।४।।
अव तूँ समझि देष जीव मेरा , हरि विन और 'कौंण' है तेरा ।।
हरि निरवंध 'वंधनि' नहिं आवै, संपटि जड्या सो हरि न कहावे ।५।
हरि परवसि पड़ै न परसंगि आवै, सवहिन तैं न्यारा निरदावै ।।
हरि सव मांहि सकल हरि मांहि , ता साहिव कूँ चिन्है नांहि ।।६।।
'निराकार' निरंजन राई , जन हरीदास ताका गुण गाई ।।
'वो' अविनासी विनसै नांही , दूजा विनसै आवै जांही ।।७।।

(७७)

मन समझाइ लै रे , मन गहि गुर ग्यांन विचार ।।
आनंदरूप अगहि अविनासी , अगम वार नहिं पार ।।टेक।।
आलस आवै साच न भावै , विष का पीवणहार ।।
आसा वसि पड्या डरया अपराधी, जागै नहीं लगार ।।१।।

पाठभेद—जांणौ–१ । या–५ । साल्यगरांम–२ । मन्य–२ । मन–५ । मस्तगि–३-४ । कौंन–५ । वंधन्य–२ । वंधणि–५ । न्यराकार–२ । वोह–१ ।

शब्दार्थ—इहै विचारि=यह तो विचारो कि संसार के पदार्थों का पार पाओगे ? सहज=स्वाभाविक, नित्यसत्य । द्वारै=मन्दिर में । मेल्है=धरे, रखे । संपटि जड्या=पिटारी में रखा, बन्ध किया । लगार=कुछ भी, थोड़ा सा भी ।

हरि निज नांव नहीं उरि अंतरि , समझै नहीं 'गंवार' ॥
कै तै 'गये' जांहिगे कै तै , सलिल मोह की धार ॥२॥

यहु संसार पार मैं दीसै , ता मैं दाझै जीव अपार ॥
पीवत छकै थकै निज 'मारग' , मै तैं मोह 'किंवार' ॥३॥

तजि अभिमान आन तजि सेवा, नाना नेह निवार ॥
हरीदास जन हरि गुण गावै , जा कै रांम अधार ॥४॥

(७८)

राम विसारि मांरे 'प्रान' ,
कुवधि परिहरि सुमर हरि हरि , सुरति 'सिंध' निधान ॥टेक॥
उदरि अवला जठर झलमैं , तहां लियो राषि ॥
गाइ हरि अभिमांन तजि नर , आन सवद न माषि ॥१॥

सिंघ स्याल पतंग कुंजर , सरप कीटी काग ॥
मछ कछ 'होइ' जलां डोल्यौ , तोकूँ अजहूँ न आइ लाज ॥२॥

'मानिषा' अवतार वड़ निधि , पाइये कहूँ 'कालि' ॥
जन हरिदास समझि विचारि सदगति, रांम नाम संभालि ॥३॥

(७९)

'जोगिया' लाधौ प्रीति पछेरो , ता तैं मल नहिं आवै नेरो ॥टेक॥
चंद सूर समि कीया , सतगुर मिलि सावणि दीया ॥
'जतन' जतन करि धोवै , तातैं वहौड़ि न मैला होवै ॥१॥

द्वादस 'आंगुलि' वाई , गहि सुषमनि सहजि समाई ॥
तरसि अगम रस चाषै , ममता सौं मेल न राषै ॥२॥

पाठभेद—गेंवार–२ । गए–४ । मारगि–१ । गिवार–२ । प्रांण–१-४ । स्यिध–१ । व्है–१ । मान्यषा–२ । काल्ह–४ । जुगिया–२-४ । वहुत–१ । आंगुल–३-४

शब्दार्थ—दाझै=जले । आन=और । निवार=दूर कर । झल मैं=ज्वाला में । लाधौ=मिला, प्राप्त हुआ । प्रीति=परमप्रेम । पछेरो=चादर । मल=मलीनता । चंद सूर=इड़ा-पिंगला । सावणि=उपदेशरूपी साबुन । तरसि=अतिचाह से, लालायित हो ।

जन हरीदास हरि नेरा, तहां प्रांण विलंव्या मेरा ॥
हरि प्रीति 'पछेरा' दीया, ताकूँ हम चोढ़त जीया ॥३॥

(८०)

गोविंद किसौ औगुण मांहि,
सुष नांव सागर छाड़ि हरि को, दुष 'चल्या' जमपुर जांहि ॥टेक॥
कहति जोगी रहति रोगी, रोग की धरि षांनि ॥
सोइ रोग दिन दिन डाल मेल्है, वूड़ि गया अभिमांनि ॥१॥
पहरि मुद्रा मगन हूवा, रहतिन आई हाथि ॥
पछै रावल छाड़ि कावल, चल्या 'जुग कै' साथि ॥२॥
पांच राषि न प्रेम पीया, 'दसूँ' दिसा कूँ जांहि ॥
देषि अवधू 'अकलि' ऊँधा, अजहूँ चेतै नांहि ॥३॥
हरि नांव निरमल 'निकट' नांही, विकटि 'षेलै' वाइ ॥
जन हरिदास जोगी छाड़ि आसण, जमलोकि आवै जाइ ॥४॥

(८१)

मन रे! जगत भूलौ 'जोइ',
अलष की गति लषै नांही, भेषि भगति न होइ ॥टेक॥
तीरथ 'व्रत' सव मांड़ 'ऊली', तहां चालै जांहि ॥
झूठ सूँ संसार राता, साच देषै नांहि ॥१॥
नदी उलटी वहै निस दिन, संमदि लागी जाई ॥
×ता समंद का कछु भेद दूजा, तूँ तहां ताली लाइ ॥२॥

पाठभेद—पछेवरा–१। चले–४-५। जग कै–५। दसौं–१। अकल्य–२। न्यकट–२। षल्है–२। जोय–१। वरत–२। चोली–१-२।

शब्दार्थ—विलंव्या=लगा, आश्रित हुआ। कहति=कथनमात्र। रहति=रहनी। डाल मेल्है=फैलाव करे। वूड़ि गया=डूब गया। कावल=गलत रास्ते, कुमार्ग। पांच राषि=पांचों ज्ञानेन्द्रियों को वश में कर। ऊली=इधर की, संसारवंधन की।

× उस आनन्द सागर का रहस्य और ही है तू वहीं ध्यान लगा।

सो समंद अति दुष सुष न व्यापै , जन थाह पावै नांहि ॥
×ता समद मांहि वसै हंसा , हिल्या हीरा षांहि ॥३॥
भरम जल जव जांणि पीवै , तव पार पावै नांहि ॥
जन हरिदास'कलिजुग' वहैं जोरै , ता मैं वह्या स्वामी जांहि ॥४॥

(८२)

अव मैं हरि विन आन न जांचू , भजि भगवंत मगन व्है नांचू ॥टेक॥
हरि मेरा करता हूँ हरि कीया , मैं मेरा मन हरि कूँ दीया ॥१॥
ग्यांन ध्यांन प्रेम हम पाया , जव पाया तव आप गमाया ॥२॥
हरि रांम नाम व्रत हिरदै 'धारौं' , परम उदार निमष न 'विसारौं' ॥३॥
हरि गाइ गाइ गावैथा गाया , मन भया मगन गगन मठ छाया ।४।
जन हरिदास आस तजि पासा , हरि निरगुण निज पुरी निवासा ॥५॥

(८३)

सोई देवा सोई सिरजनहार , जाकै जोग ध्यांन का वहु विसतार ॥टेक॥
नाथ निरंजन वार न पार , निराकार निरमल ततसार ॥
ताहि भेद जांणै नहिं कोइ , भेदी हरि सूँ न्यारा नहिं होइ ॥१॥
जाकी 'आग्या' पवन चलै दिन राति, माइ वाप 'तिस' नांही जाति ॥
सोभा कहा कहीजै जाकी , सकल मांड़ या दीसै ताकी ॥२॥
जाकै हुकम इंद्र मेघ वरसावै , जीव जंत सकल सुष पावै ॥
करि अभिमान इंद्र अलसाकै , तौ वाकूँ मेटि और कूँ थापै ॥३॥

पाठभेद—कल्यजुग–२ । धारूँ–३ । विसारूँ–३ । अग्या–१ । तस–१ ।

शब्दार्थ—जोरै=प्रवल । जाचूँ=माँगूँ, याचना करूँ । आप गमाया=आपा खोया । मांड=भूतल, संसार । अलसाकै=आलस करे, अवज्ञा करे ।

× उस महाआनन्ददायी समुद्र में ही वह परब्रह्मरूपी हंस निवास करता है, जो उस हंस से मिलता है वही मोती चुग सकता है ।

जां भै काल सकल जुग 'षाई', निसवासुर दौड़तां विहाई ॥
जबही करै काल विसवास, तवही देषि काल का नास ॥४॥

जाकै सागर 'सपत' घुसी सूँ धीर, उलटि न चालै तिनका नीर ॥
उलटि नीर वरतै तिन माही, हरि आग्या भी मेटै नांही ॥५॥

गिर परवत भी रहसी नांही, अनल पंष ज्यूँ ऊड्या जांही ॥
थाप्या जिहिं उड़ावै सोई, वा जोगी विन जुगत न होई ॥६॥

भार अठारा कैसे रहै, दावानल उन कूँ भी दहै ॥
पावक 'परलौ' वरतै मांहि, 'सातूँ' समद सूकता जांहि ॥७॥

तारा मंडल 'झूठा' विसवास, निराकार निरभै निज दास ॥
जो दीसै सो 'रहसी' नांहि, हरिजन रिल 'मिलसी' हरि मांहि ।८।

देषो धरती कहां आकास, रवि ससिहू का व्हैगा नास ॥
उलटि सूनि फिरि सुनि समांही, अंवर धर 'वोड़ै' जल मांही ॥९॥

परलै ब्रह्मा इंद्र अनेक, सुर तैंतीसूँ परलै देष ॥
जो आकार स 'थिर न' रहाइ, 'निरभै' एक निरंजन राइ ॥१०॥

आंन आस काल की पास, विन हरि भजन झूठ विसवास ॥
जन हरीदास भज रमतारांम, आदि अंत हरिही सूँ काम ॥१०॥

(८४)

हरि इंम्रत रस पाया है, वा मीठा सूँ मन लाया है ॥टेक॥
'दुबध्या' नहीं सदा रस पीवै, रांम भजन विन कैसे जीवै ॥
दुबध्या तौ माया को दास, रांम भजै 'पण' कुल की पास ॥१॥

पाठभेद—षाय–५ । सप्त–१-५ । प्रलो–१ । सातों–१ झूठ–४-५ । रहता–१ । म्यलसी–२ । वूड़ै–१ । विनस्यां–१ । न्यरभै–२ । दुविध्या–१ । पिण–१ ।

शब्दार्थ—जां भै=जिसके भय से । विसवास=रुके । धीर=धैर्ययुक्त, स्थिर । थाप्या=स्थापित किया, उत्पन्न किया । उड़ावै=उड़ा दे, समाप्त कर दे । वोडै=डुबोवे । दुबध्या=संशय, अनिश्चय । पण=पर । कुल की पास=कुटुम्ब का बन्धन ।

कांटा दोऊँ डारै षोइ, तौ सहजै ही आनंद होइ ॥
मरम अंधारा राषै नांही, दरपण ज्यूँ देषै घट मांही ॥२॥
मरम सही कछु 'वरतै' और, निसवासुर मन नांही ठौर ॥
दरपण मोरचा डारया षोइ, तौ सहजै ही दरसण होइ ॥३॥
ऊजड़ चलै न पैंडे जाइ, भूषा रहै न धापि न षाइ ॥
जौ ऊजड़ तौ पूजै आंन, जौ पैंडा तौ कुल मैं मान ॥४॥
'दहूँ' गुणां सूँ न्यारा रहै, सो जोति सरूपी दरसण लहै ॥
*जौ भूषा तौ हरि सूँ हेत, जौ धाया तौ फिरै अचेत ॥५॥
×जोगी चालै ऐसै भाइ, सूंनि सहर की 'भिष्या' षाइ ॥
तन मन 'तौलि' अकासां चढ़ै, सो जोगी मरवै नहिं डरै ॥६॥
नां 'ग्रह' करै न वन मैं रहै, 'पांचू' 'करम' सहज ही दहै ॥
जौ 'गिरही' तौ चित्त उदार, वैरागी तौ मन कूँ मार ॥७॥
'दोन्यौं' चालै ऐसै भाइ, तिनकूँ काल न परसै आइ ॥
मैला रहै न ऊजल होइ, आपा दोऊँ डारै षोइ ॥८॥

पाठभेद—व्रतै–१-५। दुहूँ–१। भ्यष्या–२। तौल्य–२। गृह–४-५। पांचौ–४। कर्म–१। ग्रिही–१। दोन्यूँ–२-५।

शब्दार्थ—कांटा दोऊ=भेदभाव और ममता-मोह का। वरतै=व्यवहार करे, दिखावा। दरपण मोरचा=मनरूपी दर्पण का मैल खो देना। ऊजड़ चालै=अपथ में चले, प्रतीक उपासना। पैंडे जाइ=एक व्यापक परमात्मा की उपासना के मार्ग में नहीं जाता। धाया=तृप्त हुआ, अघाया। पांचो करम=नित्य, नैमित्तिक, संचित, क्रियमाण, प्रायश्चित्तात्मक। गिरही=गृहस्थ। ऐसे भाइ=इस विचार से। आपा दोऊँ=नीच-ऊँचपन का अहङ्कार।

* जो सांसारिक भोगों की भावना तज आत्मचिन्तन की भूखवाला हो, तो उसी का परब्रह्म से स्नेह हो सकता है। यदि वह सांसारिक-भोग भोगकर तृप्त है तो समझो वह अचेत–गाफिल है, उसका कल्याण नहीं।

× जो साधक सचेत हो साधनारत है वही व्यापक परब्रह्म के शून्य शहर—सहस्रारदल में भिक्षा प्राप्त कर सकता है।

जौ मैला तौ व्यापै कांम , जौ निरमल तौ दूजा रांम ॥
तातैं रहिये 'म्रितग' होइ , ताकी बात न बूझै कोइ ॥९॥
ना दुष गहै न सुष कूँ जाइ , ऐसै षेलै सहज सुभाइ ॥
×सुष तहां दुष अनंत अपार , तातैं भजिये सिरजनहार ॥१०॥
रांम नाम कहि ताली लावै , तब कछु भेद महल का पावै ॥
पाप 'पुनि' की आसा नांही , रांम रटणि राषै घट मांही ॥११॥
माया दिसि रहै जन सोइ , रांम भजन का आनंद होइ ॥
जन हरीदास तब भई पिछांणि , जब मिटि गई कुटंब की बांणि ।१२।

(८५)

'जुगिये' लाधी प्रीति विचारै , तातैं 'गरड़' चढ्यौं 'रिप' मारै ।टेक।
इहै सकल सिधि साधौ , अवगति कूँ आराधौ ॥
निरमल निज ग्यांन विचारं , निराकार निरधारं ॥
अगम वार नहिं पारं , जहां पाती पांच उतारं ॥१॥
इहै सहज तप करणां , तातैं बहुड़िन जांमण मरणां ॥
'इन' मारगि अणसरणां , देषि देषि 'पग' धरणां ॥
*ल्यौ लागा जन जीवै , तहां भार अठारा पीवै ॥२॥

पाठभेद—मृतक–४-५ । पुन्य–२ । जोगिए–५ । गरड़ि–१ । रिपु–१ । इण–१ । पांव–५ ।

शब्दार्थ—सोई=वही, निरपेक्ष । जुगिये लाधी प्रीति विचारै=साधक योगी प्राप्त हुई प्रेमाभक्ति को अपनाये रहे । गरड़ चढ्यो=ज्ञानरूपी गरुड़ पर चढ़कर । रिपु मारै=काम-क्रोधादि का नाश करे । इहै=इसी साधना से । अवगति कूँ आराधौ=जिसका ठीक विवरण नहीं, उस परब्रह्म की आराधना करो । पाती पांच=पाँच विषय-वृत्तियाँ । अणसरणां=अनुसरण करो, चलो ।

× जहाँ सांसारिक सुख माना जा रहा है वहाँ राग-द्वेष, योग-वियोगादि के अपार दुःख भी हैं ।

* जिसकी वृत्ति ध्यान में स्थिर हो गई वही साधक अमर होता है—जन्म-मृत्यु से छूट जाता है । इस दशा में जब साधक पहुंच जाता है तो फिर देहस्थ—अठारह भार (दस यम-नियमादि, ज्ञान, गरीबी, गुरुधर्म, श्रद्धा, शील, सन्तोष, निर्दोष वाणी, विनय) सब परमानन्द रस का पान कर तृप्त होते हैं ।

इहै सकल सुषधारं, उलटि आप कूँ मारं ॥
निज तत निज ग्यांन विचारं, परापरै सुष सारं ॥
वरषा रस इंम्रित धारं, तहाँ 'परस्यूँ' प्रांण उधारं ॥३॥

इहै सकल सुष भेषै, उलटि अगम कूँ देषै ॥
करि अवगति सूँ सीरं, पांच 'पुरिस' कौ भीरं ॥
गंग जमन विचि हीरं, तहाँ परसि निरंजन पीरं ॥४॥

हरीदास जन सोई, जाकै त्रिवधि ताप नहिं होई ॥
पिव कै पहरै लागै, सदा निरंतरि जागै ॥
गुड़िया गहि गगन चढ़ावै, सुषसागर मांहि समावै ॥५॥

॥ इति राग सोरठी सम्पूर्ण ॥

॥ अथ राग भैरूं ॥

(८६)

नांव दे नांव दे नांव दे देवा, हरि नांव कौ आसिरौ नांव की सेवा ॥टेक॥
नांव विश्राम 'द्यौ' नांव की छाया, नांव 'निरवांण' तैं रामजी पाया ॥१॥
भै भलौ भजन द्यौ भूष हरि तेरी, वीनती सांभलौ वापजी मेरी ॥२॥
काल 'कृपाल' हूँ 'वहौत' विधि षाया, डरचा डरि दीन ह्वै आसिरै आया ॥३॥
सकल संसार का स्वाद सव कूड़ा, जन हरिदास का भाग मैं नांव ही रूड़ा ॥४॥

पाठभेद—परस्यूँ–१ । पुरष–५ । दे–१ । नृवांण–५ । किरपाल–२-४ । वहुत–१ ।

शब्दार्थ—वरषा रस=बरसने वाला रस, तालुप्रदेश में आनेवाला रस। भेषै=पंथ में, भेष में। अवगति सूँ=विवरणरहित ब्रह्म से। सीरं=सीर, साझा। गुड़िया गहि गगन चढ़ावै=सुरतिवृत्ति को प्राणसहयोग से दशमद्वार में ले जावे। भै भलौ=कालभय, अकर्म का भय अच्छा है। सांभलो=स्वीकार करो। रूड़ा=अच्छा, सुन्दर।

(८७)

नांवदे नांवदे नांवदे राया , नांवदै नाथ मैं नांव सुणि आया ।।टेक।।
ग्यांन सूँ ध्यांन द्यौ भजन द्यौ देवा, त्यूँ करौ रांम 'ज्यूँ' मैं करौं सेवा ।।१।।
प्रेम सूँ प्रीति द्यौ भजन द्यौ मांही , सीस देस्यूँ पणि 'मेल्ह' सूँ नांही ।।२।।
जन हरीदास की वीनती सांभलौ स्वामी, जागि तौ सोइमां जागि हरि जामी ।३।

(८८)

रांम भजै तौ आनंद होइ ,
दीनानाथ दयाल दयानिधि , चिंताहरण सकल विधि सोइ ।।टेक।।
परम उदार अपार अषंडित , पूरणब्रह्म भजन करि लोइ ।।
'औसर' इसौ बहौड़ि नहिं आवै , हरि विण कबहुँ भला न होइ ।।१।।
'आनंद' रूप अषिल अविनासी , करणहार करतार स 'जांणि' ।।
जहां तन धरै तहां ही साथी , प्रेम प्रीति करि ताहि 'पिछाँणि' ।।२।।
नाराइण 'निरवांण' निरषि निति ; 'गरवहरण' गोविंद उर धारि ।।
जन हरिदास भजौ अविनासी , गुर गमि यौहि ग्यांन विचारि ।।३।।

(८९)

राम नाम अंतरि उर धारि , हरि हरि सुमरि सुमरि रिप मारि ।।टेक।।
आंन आस पास करि दूरि , रमतारांम रह्या भरपूरि ।।१।।
अकल निरंजन निरभै नाथ , जहां तहां जन कै सिरि हाथ ।।२।।
काल जाल की लगै न चोट , हरीदास जन हरि की वोट ।।३।।

पाठभेद—ज्यौं--१ । मेल्हि--५ । अवसर--१ । आणंद--२ । जांनि--४-५ । पिछांनि--३-४-५ । नृवांण--४-५ । ग्रवहरण--१ ।

शब्दार्थ—सोइ मां=ममता-मोह की नींद में सोवे मत । हरि जामी=अन्तर्यामी, साक्षी चेतन । पिछांणि=पहचान, जान । आंन आस पास करि दूरि=जो सांसारिक पदार्थों की आशा तुमने अपना रखी है, उसको दूर करो ।

(६०)

मैं तौ राँम न 'छाड़ौं' तोहि, तूँ हरि मीठा लागै मोहि ॥टेक॥
पालै पोषै सेवा करै, ताहि छाड़िको 'दोजगि' परै ॥१॥
ऊँच नीच अंतर कछु नाँहि, परम उदार सकल घट माँहि ॥२॥
जन हरीदास भजि राजा राँम, आदि अंति हरि ही सूँ काम ॥३॥

(६१)

अणबोल्या गावै जे कोई, तौ अजपा जाप 'निरंतरि' होई ॥टेक॥
भजौ निरंजन भरम गमाइ, जुरा न व्यापै काल न षाइ ॥
'जोनी' संकट आवै नाँहि, प्राँण समावै हरि पद माँहि ॥१॥
सुषमनि फेरि घेरि घरि 'आँणै', अरथ विचारै अगम पिछाँणै ॥
मूल कँवल मैं पवन 'निरोधै', तब मन कूँ मनही 'परमोधै' ॥२॥
त्रिवधि ताप तजि सहज विचारै, जागि न सोवै जीति न हारै ॥
त्रिवेणी तटि बैसे जाइ, 'धुनि' मैं ध्यांन रहै ल्यौ लाइ ॥३॥
आसा मेटि 'निरास' सँभारै, 'सूँनि' मंडल मै आसण धारै ॥
सात समंद मसि डारै धोइ, जन हरीदास जोगी जन सोइ ॥४॥

(६२)

राषि राषि प्रभु साहिब मेरा, 'तुम्ह' साहिब मैं बंदा तेरा ॥टेक॥
नरक वास द्यौ तौ भी मैं 'ल्यूँ', जो हरि लोक बसेरा ॥
जोर नहीं बंदे का कोई, बंदा जहाँ तहाँ हरि तेरा ॥१॥

पाठभेद—छाडूँ–१-४। दोज्यग–२। न्यरंतरि–२। जूनी–२-३। आंनै–३-५। न्यरोधै–२। प्रमोधै–१-५। धुन्य–२। न्यरास–२। सुन्य–२। तुम–५-५। लूँ–३। ल्यौं–५।

शब्दार्थ—दोजगि=दोजख, नरक। मूल कँवल मैं=मूलाधार चक्र में। परमोधै=उपदेश दे, मन ही मन का परिवर्त्तन करे। आसा मेटि=लौकिक आशाएँ छोड़। निरास सँभारै=चेतनतत्व में लगे। सात समंद=रसादि धातु, कामादि षड्रिपु व अहङ्कार। मसि डारै धोइ=इनका मैल निवारण कर ले।

जा का चेरा ताकै सारै, दषल और का नांही ॥
जे तुम्ह मारौ मारि 'निवाजौ', भी चित चरणौं मांही ॥२॥

तुम्ह साहिब मैं मुलाजादा, चोटी कटा तुम्हारा ॥
घरि जायां की लाज वहीजै, 'औगुण' किता हमारा ॥३॥

कीजै आस 'असंगा' कैसा, करो 'जिका' मनि भावै ॥
जन हरीदास चरणां कै सरणै, मौज मिहरि सुष पावै ॥४॥

(६३)

जागि मन बालका, ग्यांन गहि पूता ॥
कालका मुष मैं, निडर 'होइ' सूता ॥टेक॥

जोर तजि भोर भया, रांम भजि भाई ॥
जुरा सहित सेन्या, सीस परि आई ॥१॥

केस पलट्या सु तौ, सेत जहां का तहाँ ॥
काल सनमुषि षड़ा, छिप्या छूटै कहाँ ॥२॥

जन हरीदास भगवंत भजि, भाव धरि लीजै ॥
अवर आरंभ कहा, कांम यहु कीजै ॥३॥

(६४)

हरि हीरौ हिरदै वसै, गोव्यंद गुण गावै ॥
आदि अंति संगी सदा, 'तासूँ' मन लावै ॥टेक॥
अनल पंष आकास मैं, अवनी नहिं आवै ॥
'आनंद' मैं ऊँची दसा, अपणौं भष पावै ॥१॥

पाठभेद—न्यवाजौ–२। अवगुण–१। आसंगा–२। जक्यू"–१। व्है–१। तास्यू"–१। आणंद–२।

शब्दार्थ—दषल=हस्तक्षेप, दस्तन्दाजी। निवाजौ=कृपा करो, प्रसन्न हो। असंगा=आशंका। मिहरि=दया। ग्यांन गहि पूता=पवित्र निर्मल आत्मज्ञान प्राप्त कर। अवर=और, दूसरा। आरंभ=प्रवृत्ति, काम। अवनी=भूमिपर। भष पावै=वहीं आकाश में ही अपना भोजन प्राप्त करे।

इजगर कै संचा किसा , कहुं हीण न भाषै ॥
ताहि विसंभर देत है , अपणौं व्रत राषै ॥२॥
लष चौरासी जीव है , सव कूँ दे सांई ॥
हरि जन कै सांसा किसा , मन हरि पद मांही ॥३॥
रांम विसारयां विघन है , जम ग्रासै रे भाई ॥
जन हरीदास गोव्यंद भजौ , तजि आंन सगाई ॥४॥

(६५)

'यूँ' हम छाड्या जग व्यौहार , सुष थोड़ा दुष अनंत अपार ॥टेक॥
माता पूत पिता नहिं कोई , स्वारथ आय मिल्या पष दोई ॥
विछड़ण 'यहाँ' 'मिलण' नहिं आगे, तातैं मोहि वाजी सी लागै ॥१॥
सासू सुसर नहिं को सारा , यहु सव दीसै मोह पसारा ॥
कांम हेति जलत है लोई , तूँ काहू सगा न तेरा कोई ॥२॥
मनसा अटी मिटी सव दौड़ , गहि गुर ग्यांन वसै निज ठौड़ ॥
जन हरीदास गोव्यंद गुण गाइ , सकल वियापी रांम सहाइ ॥३॥

(६६)

काहे कूँ 'अभिमांन' करीजै , निसदिन आव घटै तन छीजै ॥टेक॥
सिला वैस सांवण तप करै , सीयालै पांणी मैं मरै ॥
पांच 'अगनि' ऊन्हालै षाई , फल भुगतै भी नरकाँ जाई ॥१॥
तीरथ 'वरत' करै समि भाई , तंत मंत सीषै मन लाई ॥
तुला वैसि कंचन दे काटि , 'निहचै' विकै विडाणै हाटि ॥२॥

पाठभेद—यौं–१-३ । इहां–१-५ । म्यलन–२ । अभ्यमान–१ । अग्नि–१ । व्रत–१-४ । न्यहचै–२ ।

शब्दार्थ—संचा किसा=संग्रह कौन सा । हीण न भाषै=दैन्यमय वचन कहे नहीं, गिड़गिड़ाये नहीं । व्रत राषै=प्रतिज्ञा पाले । वाजी सी लागै=दिखावा सा लगता है । सारा=साला । कांम हेत=जिन कामनाओं के लिए हे लोई–जीव ! जलता है । मनसा अटी=चाह हटी, मन बदला । तंत मंत=तन्त्र-मन्त्र । निहचै=निश्चय । विकै विडाणै हाटि=दूसरों की हाट पर बिकता है, वासनावश औरों के अधीन होता है ।

जैसा विरछ तिसा फल होइ, पाप पुन्नि परतछि फल दोइ ॥
यहु फल छाड़ि अगम फल गहै, सो पंषी निरभै व्है रहै ॥३॥
जन हरीदास ये मन का कांम, निरभै होइ भजै नहिं रांम ॥
आंन इष्ट संकट ब्रत करै, नट ज्यूँ नाचि नाचि घट धरै ॥४॥

(६७)

तूँ गहि भरचा न सोई रे, कछु ग्यांन दिष्टि ले जोई रे ॥टेक॥
अब तूँ चेति अचेत रे, षोलि ग्यांन का नेतरे ॥
हरिजी कै सुमिरण लागि रे, अकलिअंध 'यूँ' जागि रे ॥१॥
करम हीण कछु जांणि रे, 'पांचू' उलटा आंणि रे ॥
प्रेम पियाला पीव रे, हरि भजि ऐसे जीव रे ॥२॥
हरि हीरा कंठि राषि रे, सुणि साधां की साषि रे ॥
जन हरीदास यूँ जांणि रे, अंतरि अलष पिछांणि रे ॥३॥

(६८)

अवगति अगम कहरगति वाजी, निद्रा आइ घटा ज्यूँ गाजी ॥टेक॥
हेत प्रीति दै आंवरि करै, निद्रा संगि जीवत हि मरै ॥१॥
घट घट मांहि डाकणि वसै, 'स्यंघ' रूप व्है जीवहि डसै ॥२॥
जन हरीदास निद्रा सूँ 'नेह', अंतकालि मुँहि पड़सी 'षेह' ॥३॥

(६९)

हरि जन जुगति विचारै जागै, डरै न सोवै सांपणि लागै ॥टेक॥
×लोचन तीन तरल तनि धारै, षट्‌दरसण दाढ़ तलि मारै ॥१॥

पाठभेद—यौं-१ । पाँच-१-३ । सिघ-३-४-५ । हेत-३-५ । रेत-३-५ ।

शब्दार्थ—सो पंषी=वह साधक, वह जीव । गहि भरचा न सोइ रे=ममता-मोह की गहरी नींद में मत सो । नेतरे=नेत्र, आंखें । अकलि अंध=ज्ञानहीन, बेअक्ल । कहर गति वाजी=सांसारिक प्रवृत्तियां काल के मुख में ले जाती हैं । आंवरि करै=आवरण करे, पर्दा डाले । षेह=धूल, रेत । लोचन तीन=त्रिगुणात्मक दृष्टि ।

× त्रिगुणात्मक-भावना से प्रेरित होकर प्राणी विविध कर्मों की नदी में बहता है । षट्‌दर्शन की भेदभावना प्राणियों को अपनी दाढ़ में पीसती है ।

*सांसौ मुष फैलायां आवै, सकल भवन ले तालू लावै ॥२॥
सुर नर असुर अँधारै लाधा, चिंता सांपणि चुणि चुणि षाधा ॥३॥
कांम क्रोध 'डसणि' धरि चाषै, लालच उदर तहां लै राषै ॥४॥
जन हरिदास रांम भजि भाई, तूँ सांपणि कै संगि न जाई ॥५॥

(१००)

हरिभजि हरिभजि हरिभजि भया, हरि विणि 'जनम' अविरथा गया ।टेक।
साच पिछांणि आंन 'तजि' अनरथ, जम जागत है जागि रे ॥
आदि अंति हरि सदा सनेही, तूँ ताकै सुमिरण लागि रे ॥१॥
इन्द्री पांचि राषि रस एकै, गुण गोव्यंद का गाइ रे ॥
दीनदयाल देव करणा मैं, हरि सकल 'भवन' पति राइ रे ॥२॥
जन हरीदास हरि परम सनेही, ग्यांन निजरि भरि देषि रे ॥
सूँनि मंडल मैं सकल वियापी, हरि पूरण ब्रह्म अलेष रे ॥३॥

(१०१)

राम सुमरि नर नरहरि भजौ, कांम क्रोध विषिया बन तजौ ॥टेक॥
तजि अभिमांन भजौ क्यूँ न संत, भौ सागर तिरण नांव भगवंत ॥
काटौ क्यूँ न काल का जाल, सुमरि सुमरि गोव्यंद गोपाल ॥१॥
जैसे 'अगनि' 'काष्ट' मैं रहै, काढ़ी कढ़ै न काठै दहै ॥
जन हरीदास अब ऐसी भई, भजतां रांम बिथा सब गई ॥२॥

पाठभेद—डसण-१-४। जन्म-१। त्यज-२। भुवण-१। अग्नि-१। कासट-२।

शब्दार्थ—सांसौ=संशय। अंधारे लाधा=अज्ञान से ग्रसित मिले। डसणि धरि चाषै=दांतों से काटकर चख रहे हैं। सापणि=वासना, चिन्ता। अविरथा=व्यर्थ, बेमतलब। रस एकै=एक रस, अन्तर्मुख। संत=हे श्रेष्ठ साधक! काढ़ी कढ़ै न काठै दहै=जैसे काठ में रहने वाली अग्नि निकालना चाहो तो निकलती नहीं और उसी काठ को जला देती है, इसी तरह वासना-इच्छा की अग्नि मनुष्य में रहकर मनुष्य को जलाती रहती है।

* सांसारिक देहादि नाशवान पदार्थों को सत्य मानकर नित्य सत्य वस्तु की उपेक्षा बनाये रखने वाला संशय मुँह फैला रहा है, सारा संसार इस संशय की चपेट में आया हुआ है।

(१०२)

नैड़ा छाड़ि दूरि कहां जाँव ?,
पैंडा अगम सुगम साधां 'सूँ', गोकुल नगर विसंभर नांव ।।टेक।।
सेवग जहां तहां ही स्वामी, सवद विचारि बस्या निज ठौर ।।
चूँधी आंषि चपल मति षोटी, चितवततां सब मिटि गई दौर ।।१।।
काया कुंभ प्रांण जल पूरिक, घटि घटि अलष लुकाया ।।
अवगति अगम निरंतरि न्यारा, ज्यूँ दरपण मैं छाया ।।२।।
साच पिछांणि परस परपूरण, वार पार कछु नांहि ।।
जन हरीदास 'इंद्रया' रस न्यारा, व्यापि रह्या सब मांहि ।।३।।

(१०३)

अरथ करैं पणि ऊलौ आसौ, भरम भूष नहिं भागी ।।
निधि नैड़ी 'पणि' आपन झूड़ै, उलटि अगम नहिं थागी ।।टेक।।
प्यास वहौत अंतर मैं लागी, रोगी कदे न जीवैं ।।
कुपछि पड्यो वोषद नहिं नेड़ी, मरण नदी जल पीवैं ।।१।।
कौड़ी विणजि षुसी व्है वैठा, नैड़ो साच न लीयौ ।।
हरि हीरौ घरि माँही भूलो, करज वहौत 'सिरि' कीयौ ।।२।।

पाठभेद—स्यूँ–१। यन्द्रचा–२। पण–३-४। विणज–१। सिर–५।

शब्दार्थ—गोकुल नगर=इन्द्रियों के कुल का नगर–देह, शरीर। चूँधी आंषि= सांसारिक पदार्थों के आकर्षण से चकित नेत्र। चितवततां=आत्मचिन्तन करते ही। साच पिछांणि=सत्य चेतनतत्व जानकर। अरथ करैं पणि ऊलो आसौ=ज्ञान की ऊँची बातें करे पर, आसक्ति संसार में ही लग रही है। निधि नैड़ी पणि आप न झूडैं= निधि आनन्द–सुख का खजाना अपने में ही है पर उसको सौरा नहीं जाता–प्राप्त नहीं किया जाता। उलटि अगम नहिं थागी=वृत्ति को आत्मतत्व की ओर फेरकर उसका थाह–पता नहीं लिया। कुपछि=कुपथ्य में। वोषद=औषधि। कौड़ी विणज= लौकिक धन-वैभव प्राप्त करने का व्यापार किया। नैड़ो साच न लीयौ=पास ही अटूट अविनाशी खजाना था पर वह नहीं लिया गया। करज=ऋण, पाप-पुण्यरूप।

चंदन वास विकट करि दीठी , सीध जड़ी मन मानी ।।
जन हरीदास ते जम कै द्वारै , महापुरिस वड़ जानी ।।३।।

(१०४)

चौका देवै चित दौड़ावै , रसना कै 'रसि' लूधा ।।
लागी चोट 'भरम' माया की , अरथ न आवै सूधा ।।टेक।।
पासी पसू आपणी ताँणै , मोटी मीच न जोवै ।।
'दोन्यौं' आँषि अरथ की फूटी , नैंण बेकरै धोवै ।।१।।
कोइ उलटा 'षेलि' परमपद परसै, पैंडै चल्यौ न जीवै ।।
ताकी कहा कुसलता कहिये , मरण नदी जल पीवै ।।२।।
जाकूँ कहूँ स मोकूँ मारै , माया कै मद माता ।।
जन हरीदास तिनकी गति ऐसी , दीसै जम पुरि जाता ।।३।।

।। इति राग भैरूँ सम्पूर्ण ।।

।। अथ राग विलावल ।।

(१०५)

आंधा जीव अभागिया , सूझै कछु नांहि ।।
निसदिन वाघणि षात है , फूल्या मन मांहि ।।टेक।।
रोम रोम मैं रमि रही , सुषिम 'व्है' पीवै ।।
सांपणि सरवस लेत है , ता देष्यां जीवै ।।१।।

पाठभेद—रस–४-५ । भ्रम–१ । दोन्यूँ–४-५ । षेल–५ । होइ–३-४-५ ।

शब्दार्थ—विकट=भयङ्कर । दीठी=देखी । सीध जड़ी=संसारी पदार्थ । रस लूधा=रसना रस में लुभाया । सूधा=सीधा, वास्तविक । पासी=फाँसी, बन्धन । मोटी मीच=अन्तकाल, मृत्यु । अरथ की=समझ की, मतलब की । नैंण=नेत्र । बेकरे धोवै=बेकरे घास के पानी से धोता है । पैंडे चल्यो न जीवै=संसार के मार्ग से चलने वाला कालचक्र से नहीं छूटता । वाघणि=स्त्रीरूप शेरनी, वासनामय शेरनी ।

राम सगा सो परहरया , कछु भुरकी ड़ारी ॥
डाकणि ड़सि ड़सि षात है , षोटी रे षारी ॥२॥
जन हरीदास कहिये कहा , कछु कहत न आवै ॥
विष कीड़ा विष ही षुसी , इंम्रत नहिं भावै ॥३॥

(१०६)

हरि जन वाघणि देषि डरै ,
सेवा करै प्रांण तन सोषै , सुषिम 'अगनि' चरै ॥टेक॥
अवला कहै पणि सवला षावै , जांणै कोई नांहि ॥
नष 'सिष' सूधा मूल उपाड़ै , मीठी दे दे मांहि ॥१॥
त्रिया कहै पणि तुरत 'गिरासै' , सुषिम वीर चलावै ॥
काचा तूँतड़ा कांनै डारै , सार सकल चुणि षावै ॥२॥
या कांमणि कूँ मति कोई धीजै , कांम कटक ले आवै ॥
'काया' कोट चोट 'सूँ' तोड़ै , पहली चोट सजावै ॥३॥
जन हरीदास ज्यां हरि रस पीया, ते मतिवाला माता ॥
'तिनकै' वाघणि निकट न आवै , परम तेज रंगि राता ॥४॥

(१०७)

तब लग कह्यां सुण्यां कछु नांही , जीव तलफि अघजरता रे ॥
उन पति की गति कवहू न जानी, लोग कहैं पतिवरता रे ॥टेक॥
रांम रसायण वूँद न पीया , सांसै सूल न चूकी रे ॥
अरस परस होइ सेझ न षेली , तब लग सुपने सूती रे ॥१॥

पाठभेद- -अग्नि–१ । सष–२-४ । ग्रासे–१ । काचा–१ । स्यूँ–१ । ज्यनकै–२ ।

शब्दार्थ—त्रिया कहै=कहने को तो तिया-स्त्री कहलाती है । गिरासै=खाये । काया कोट=कायानगरी । चोट सूँ=प्रहार से, आत्मनिश्चयरूपी दृढ़धारणा की चोट से । तलफि=तड़पता, विकल होता । अघजरता=पापों के सन्ताप से जल रहा है । सांसै=संशय की ।

मन मैं पिव अपणै कर वैठी, 'सकति' सुहाग न लीया रे ॥
तिनकै अजहुं परमपद अलगा, परचै प्रेम न पीया रे ॥२॥
त्रिवधि ताप तजि निरष परमपद, उलटि तहां ही रहिए रे ॥
जन हरीदास तव लग सव झूँठी, कहौ कवन सूँ कहिए रे ॥३॥

(१०८)

रांम सनेही साधवा, निज निरषत जीवै ॥
अगम पियाला प्रेम का, अनहद रस पीवै ॥टेक॥
ब्रह्मछोल ऐसी वहै, गुण देह विसारै ॥
सेवग चंद चकोर 'ज्यूँ', निज सुरति न टारै ॥१॥
रांम सरीषा व्है रहै, विसराम न मेलै ॥
मगन हुवा हरि रस पिवै, ल्यौ लागी षेलै ॥२॥
मन उनमनि लागा रहै, चरणां चित राषै ॥
जन हरीदास सो जन भला, कछु आंन न माषै ॥३॥

(१०९)

समद नीर माछली विरोलै, सुषिम सीरां पीवै ॥
पैली कथा परमपद सुनतां, मन मींडका न जीवै ॥टेक॥
जव ही सुणै तवै दुष पावै, पुषते साध पुकारै ॥
माया की छाया मैं वैठा, ऊला अरथ विचारै ॥१॥
निरभै कहै रहै भै मांही, सुरति 'सुपहि' नहिं जागी ॥
नांव 'निरूप' निकटि नहिं न्यारा, करम भालि 'कँठि' लागी ॥२॥

पाठभेद—सक्ति–३-५। ज्यौं–१। सुपह–५। न्यरूप–१। कंठ–१-५।

शब्दार्थ—सकति सुहाग=आत्मचिन्तन द्वारा अजर-अमर सुहाग की शक्ति प्राप्त नहीं की। निज निरषत=अपना स्वरूप देख। विरोलै=आलोड़न करे, मन्थन करे। पैली कथा=आत्मज्ञान का उपदेश। पुषते=सच्चे साधक। सुरति सुपहि नहिं जागी=वृत्ति अच्छे मार्ग चलने को जागृत नहीं हुई। करम=सकाम कर्म।

अंतरि नेत तहां हरि नेरा, वै निज आंषि उभांणी ॥
जन हरीदास ताका सँग परिहरि, लै बूड़ै विणि पांणी ॥३॥

(११०)

गुरु को सबद साच करि पकड़ै, भै का मारया जागै रे ॥
'तिन को' चित साधां का चरणां, दिन दिन दूँणो लागै रे ॥टेक॥
भजन भेद लीया ते जीया, भोग रोग 'व्है' लागा रे ॥
आगै ही केई भोगी बूड़ा, ता तैं सुषदेव भागा रे ॥१॥
निरमल नहीं तिके नित बूड़ा, ता का षोटा हेरूँ रे ॥
'और' सकल भवसागर बूड़ा, नांमा छींपा तेरूँ रे ॥२॥
दास कबीर सकल जुग 'परगट', पीपैं परचा पाया रे ॥
'भवसागर' मैं भेराँ बांध्या, भगताँ भेद बताया रे ॥३॥
जन रैदास नीच कुल ऊँचा, ताकूँ तीन लोक सब जाँणै रे ॥
जन हरीदास वै निरभै देष्या, तातैं उलटी ताँणै रे ॥४॥

(१११)

घटि घटि गोपी घटि घटि कान्ह, आनँद रूप सकल घटि रांम ॥टेक॥
घटि घटि नारद घटि घटि सेस, घटि घटि ब्रह्मा 'विष्न' महेस ॥
घटि घटि ध्रू देषो धरि ध्यांन, घटि घटि भींव भरथ हनमान ॥१॥
घटि घटि ममता घटि घटि मोह, घटि घटि कंचन घटि घटि लोह ॥
घटि घटि आवै घटि घटि जाइ, घटि घटि षेलै घटि घटि षाइ ॥२॥

पाठभेद—जिनको-१। होइ-३। ओवर-१। प्रगट-१-५। भौसागर-५। बिसन-२।

शब्दार्थ—अंतरि नेत=विवेक-विचार के अन्तर्नेत्रों से। उभांणी=अलसायी। भै का=जन्ममरण के भय से। बूड़ा=डूबा। निरमल=शुद्ध, वासनारहित। षोटा=बुरा, खराब। हेरूँ=तलाश करने वाला, गुरु। तेरूँ=तैराक। भेरा=पाज, पुल।

घटि घटि रांवण लंक 'दवार', घटि घटि कैरूँ सेनि अपार ॥
सूता गोरष लिया जगाइ, जन हरीदास ताकी वलि जाइ ॥३॥

(११२)

मेरे मन की चोरियां, मैं जांणू रे भाई ॥
सुषिम व्है उतरै चलै, विसहर व्है षाई ॥टेक॥
विषिया कै 'बनि' मन वसै, सो कैसे जीवै ॥
कांम घटा गरजै सदा, नांनां रस पीवै ॥१॥
'वहौ' छाजां षेलै षुसी, बहौ रूप निहारै ॥
रसना कै रस ऊतरै, जांणै त्यूँ मारै ॥२॥
श्रवणां सुष ले नाद का, परमल सुष नासा ॥
कुवधि कलाली कांमना, तहां षेलै पासा ॥३॥
जन हरीदास विषया तजै, गोब्यंद गुण गावै ॥
छाजै वैसे ग्यांन कै, तव ही सच पावै ॥

(११३)

जे लागी तो जागि रे, सूतौ क्यूँ हारै ॥
सतगुर कै सर वेधिया, कहि 'क्यूँ' न पुकारै ॥टेक॥
सवद तीर ताता षरा, लागै तौ मारै ॥
कोड्यां मध्ये 'एक' 'को', 'तनि' चोट सहारै ॥१॥
अभि अंतरि झलका रह्या, सतगुर का लाया ॥
नष 'सष' 'लूँ' सालै नहीं, तौ षाली वाह्या ॥२॥

पाठभेद—दुवार-१। बन्य-२। वहु-१। क्यौं-१। येक-२। कोउ-१। तन्य-२। सिष-१। लों-१।

शब्दार्थ—सूता=सोया हुआ, मोहनिद्रा में। गोरष=ज्ञान। विसहर व्है=सांप होकर। वहौ छाजाँ=अनेक प्रवृत्तियों में। नाद का=शब्द, अनहद नाद। परमल=सुगन्ध। छाजे वैसे=ऊपर वैठे, दृढता से स्थिर हो। जे लागी तौ=गुरु उपदेश लगा है तो। सर=निरपेक्ष वचनवांण। सहारे=सहन करे। झलका=तीर की चोट, वचन-वाण का असर। सालै नहीं=वेधे नहीं, आर-पार न हो।

करम कड़ी काठी जड़ी, ममता कै धागै ॥
जन हरीदास ता जीव कै, 'तनि' चोट न लागै ॥३॥

(११४)

जब लग मन 'बाहरि' फिरै, माया की छाया ॥
तब लग तत दरसै नहीं, सति साच न पाया ॥टेक॥
बात कहै 'रुचि' अगम की, षेलै गम मांही ॥
उलटी मूँठि पताल कूँ, सूझै कछु नांही ॥१॥
अपमारग की आपदा, घुलि गांठि न षोलै ॥
लोक लाज लालच पड्या, निरपष व्है षोलै ॥२॥
जन हरीदास आसा मुषी, जीया अणजीया ॥
हरि सुष सागर न्यारा रह्या, माया मद पीया ॥३॥

(११५)

रूप न रेष घणों नहिं थोड़ौ, धरणि गिगन फुंनि नांही रे ॥
अकल सकल सँगि रहै निरंतरि, ज्यूँ चंदा जल मांही रे ॥टेक॥
अगम अथाह थाह नहिं कोई, थाह न कोई पावै रे ॥
जैसा भजन तिसा सब कोई, मन उनमानि बतावै रे ॥१॥
सागर मैं कुंभ कुंभ मैं जल है, निराकार निज ऐसा रे ॥
सकल लोक ऐसे हरि मांही, रूप कहौं 'धू' कैसा रे ॥२॥
अचल अघट सब सुष कौ सागर, घट घर सब वा मांही रे ॥
जन हरीदास अविनासी ऐसा, कहै तिसा हरि नांही रे ॥३॥

पाठभेद—तन-१-५ । बाहर-१ । रुच्य-२ । धों-१-४ ।

शब्दार्थ—काठी=दृढ़ । तत=तात्विक वस्तु, आत्म पदार्थ । षेलै गम मांही=संसार की मायामोह में खेल रहा है । अपमारग की आपदा=अनित्य जगत के पदार्थ की प्राप्ति के गलत मार्ग से विविध आपदाएँ भोगता है । आसा मुषी=झूठी आशाओं में लगा हुआ । घणों=अधिक । थोड़ो=अल्प ।

(११६)

मीठा लागे रामजी, दूजा सब षारा ॥
परसि निरंतरि षेलिया, समभ्या सोई सारा ॥टेक॥

पछिम दिसा मनि फिरि चल्या, पूरव दिसि आया ॥
सहजि सदा झड़ होत है, मन मनहि समाया ॥१॥

सूँनि सुधा रस पीजिये, प्रति प्रांण अधारा ॥
झिलिमिलि झिलिमिलि होत है, 'वरिषा' बहु धारा ॥२॥

गंग चली फिर गिगन कूँ, गिरवर गत छाया ॥
जन हरीदास आनँद भया, तन मैं तत पाया ॥३॥

(११७)

'जिनि' जिनि हरि नांव गह्यौ,
उलटा षेलि चल्या सुषसागरि, दुष दरिया विष दूरि दह्यौ ॥टेक॥

धरि विसवास करम करि कुटका, हरिरस रसना जांनि रस्यौ ॥
तजि संसार धार तैं उतरै, हरि 'तरवर' मन जाय वस्यौ ॥१॥

सुरति सँवाहि 'परम' निधि परसै, 'एकै' ही ल्यौ लागि रह्यौ ॥
सहज समाधि गवन वेगमपुरि, कालपूर दुष दूरि दह्यौ ॥२॥

गरव गुमांन चरण तल चूरया, उर अंतरि निज नांव धरयौ ॥
जन हरीदास सुषसागरि वैठा, अघ अजराइल चमकि डरयौ ॥३॥

पाठभेद—बरषा-२-४। ज्यन-२। तरवरि-२। प्रम-१। येकै-२।

शब्दार्थ—पछिम दिसा=मेरुदण्ड। पूरव दिसि=भृकुटि मध्य, त्रिकुटि। गंग=निश्चलवृत्ति। गिरवर गत छाया=मोह तथा अहङ्काररूपी पहाड़ नष्ट हुए। उलटा षेलि=संसार का मोह त्यागकर आत्माभिमुख हो। दुष दरिया=संसार सागर। विष दूरि दह्यौ=संसार का जहर नष्ट किया। करम कर कुटका=कर्मों की भावना टूक-टूक कर दी, समाप्त कर दी। हरि रस रसना जांनि रस्यौ=रसना हरिरस में ही लीन हो गई। सुरति सँवाहि=वृत्ति को सँभाल। वेगमपुरि=ब्रह्मधाम, सहस्रारदल। अघ अजराइल चमकि डरयो=पापरूपी शूरवीर चमका तथा भयातुर हो गया।

(११८)

अलष निरंजन निरगुणां, मेरा मन मांही ॥
झूठा सुष संसार का, षोटा कछु नांही ॥टेक॥
जीव जीव कै आसिरै, आसा धरि आवै ॥
अंति आस पूजै नहीं, पाछे पछितावै ॥१॥
प्रांणनाथ पति छाड़ि करि, माया जलि झूलै ॥
अंतिकाल छाड़ै नहि, काहे कूँ फूलै ॥२॥
जन हरीदास ऐसी कथा, जांणै सो जीवै ॥
सूँनि मंडल मैं वैसि करि, निरभै रस पीवै ॥३॥

॥ इति राग विलावल सम्पूर्ण ॥

॥ अथ राग गूजरी ॥

(११९)

सषी री! अब पिवकै मनि भाई,
उड़ि उड़ि जाइ पतँग रँग वपरौ, हरि रँग चढ्यौ न जाई ॥टेक॥
'औगण' वहौत सील नहिं साची, वहौत करी लंगराई ॥
सौकणि सकल घेरती थाकी, पिव 'परगट' 'सेभ' बुलाई ॥१॥
रूप दरस मोपै कछु नांही, तन सिणगार न कीया ॥
सांसो इहै रैंणि दिन व्यापै, पिव क्यूँ 'आपा' दीया ॥२॥

पाठभेद—अवगुण–१। प्रगट–१-५। सेझि–१। आदर–३-४।

शब्दार्थ—झूलै=स्नान करे। फूलै=प्रसन्न हो, प्रफुल्लित हो। शून्य मंडल=दशमद्वार। पतंग रंग=सांसारिक सुखों का रङ्ग। लंगराई=ढिठाई, टेढ़ापन। सौकणि=पति की अन्य स्त्रियां, जीवरूप पति की वासना, तृष्णा, ममता आदि सौकिनियां। घेरती थाकी=घेरा देती-देती थक गई। परगट=प्रत्यक्ष हो, सामने आ। सेझ=हृदय-कमल में। सांसौ इहै=संशय यहाँ। व्यापै=व्याप्त होता है। आपा=महत्व, आदर।

जन हरीदास सांसा सब भागा, तब पीव अंचरै लाई ॥
बांह पकड़ि हरि अंदरि लीन्ही, जम की मिटी दुहाई ॥३॥
॥ इति राग गूजरी सम्पूर्ण ॥

॥ अथ राग तौड़ी ॥

(१२०)

ऐसे रांमराइ जांणीला, पांचू उलटा आंणीला ॥टेक॥
'औघट' घाटी पीईला, हरि भजि ऐसे जीईला ॥१॥
त्रिकुटी कापड़ धोई ला, भँवर गुफा मैं सोईला ॥२॥
जोति सरूपी जोईला, हरि भजि हरिसा होईला ॥३॥
दीनदयाल पिछांणीला, जन हरिदास तैं प्रांणीला ॥४॥
॥ इति राग तौड़ी सम्पूर्ण ॥

॥ अथ राग कलंगड़ो ॥

(१२१)

रांमसनेही 'जीवनि' मेरी, तेरे चरन कँवल परि वारी फेरि ।टेक।
हरि जन कै 'मंदिर' हरि आवो, मैं व्याकुल तुम्ह दरस दिषावो ॥१॥
'वेदनि' विरह विथा तन मांही, पड़दा 'षौलि' मिलौ क्यूँ नांही ।२।
जन हरीदास कै आस तुम्हारी, विलम कहा पतिदेव मुरारी ॥३॥
॥ इति राग कलंगड़ो सम्पूर्ण ॥

पाठभेद—अवघट–१ । जीवन्य–२ । म्यंदिर–२ । मिंदरि–३ । वेदन–१ । षोल्य–२ ।

शब्दार्थ—अंचरै=अञ्चल में, गोद में । पांचू=ज्ञानेन्द्रियां । उलटा=अन्तर्मुख, आत्माभिमुख । औघट घाटी पीईला=वंकनालि से प्राणों को दशमद्वार में स्थिर कर अमृत पीऊँगा । जीईला=जीऊँगा । त्रिकुटी=भृकुटिमध्य । पिछांणीला=पहिचानना ।

॥ अथ राग नट ॥

(१२२)

तुम्ह विन मिटत न जांनी पीर ,
धनक धारि जोधा सँगि मेरे , मैंवासी वलवीर ॥टेक॥
मेरा करम मूल का लागू , ताकूँ परी 'तनि' भीर ॥
वेड़ी कठिन कहौ 'क्यौं' काटौ , कुल मरजाद जँजीर ॥१॥
'औगण' वहौत भजन नहिं कीया, मन कौ मतौ अधीर ॥
भव जल वार पार कछु नांही , क्यूँ करि 'पकडूँ' तीर ॥२॥
है हरि अकल सकल विसव्यापी , मैं काचै करवै नीर ॥
जन हरीदास चरणां का चेरा , सरणि राषि 'रघुवीर' ॥३॥

(१२३)

तुम्ह हरि वसौ मिंदरि आइ ,
नैंण निसदिन झरत नीझर , प्रांण पीव विण जाइ ॥टेक॥
आत्मा 'अस्थांनि' आतुर , विरह विसहर षाइ ॥
मन भया व्याकुल कव मिलौगे , सकल व्यापी राइ ॥१॥
हरि माघ निज पंथ सदा हेरूँ , आंन पंथ न सुहाइ ॥
पीव पीड़ दुष दूरि कीजै , देव दरस दिषाइ ॥२॥
'तुम्ह' जांणते हौ कहूं कासूँ , कहत न आवै काइ ॥
जन हरीदास कूँ दीदार दीजै , पेम प्रीति चषाइ ॥३॥

पाठभेद—तन्य–२ । क्यूँ–२-५ । अवगुण–१ । पकरौं–१ । रुघवीर–२-४ । असथ्यांन–२ । तुम–५

शब्दार्थ—धनक धारी=धनुष वाले, सतगुरु । जोधा=शूरवीर । मेरा करम= मेरे सकाम कर्म । भीर=विपत्ति, संकट । कुल मरजाद=वंशपरम्परा की । काचे करवै= बिना पके घड़े में, नश्वरदेह में । नीझर=झरने की तरह झरते हैं । माघ=मार्ग, पंथ । दीदार=दर्शन ।

(१२४)

भजि मन ! रांम सजीवनि मूरि ,
प्रेम प्रीति अंतरि ल्यौ लागी , हरि सकल रहे भरपूरि ।।टेक।।
'जग सूँ' प्रीति कहां 'लूँ' कीजै , सकल काल की चोट ।।
उलटौ षेलि अनल का सुत 'ज्यूँ', पकड़ि रांम की वोट ।।१।।
है हरि अकल सकल विसव्यापी , नेरां वसौहक दूरि ।।
कन हरीदास निज रूप न 'जांण्यौ', ता पसवां मुषि धूरि ।।२।।

(१२५)

अब हम रांम भजत सुष पाया ,
कांम किवाड़ी जड़ी जतन सूँ , मोह मता मुरझाया ।।टेक।।
विगसत कँवल सवद सति सुँणिया , सुँनि मंडल मैं सारं ।।
वरषै धरणि गगन रस भीजै , सदा अषंडित धारं ।।१।।
चंद सूर एकै रथि वैठा , पवन विरौलै बाई ।।
गंग जमन मधि हीरा दरसै , सुषमनि सहज समाई ।।२।।
स्यौ घरि 'सक्ति' सक्ति सूँ मेला , भरम गया भै भागा ।।
गगन मंडल मैं वसै उड़ागर , ऊँचै आरंभि लागा ।।३।।
निराकार निरलेप निरंतरि , महलि मिले वनमाली ।।
सुष मैं सीर अषिल अविनासी , परम जोति सूँ ताली ।।४।।
'घटि' 'घटि' अघट अगह अविनासी, वंकनालि रस पाया ।।
पांचौ थकित छक्या रसि षेलै , आनँद अरथि समाया ।।५।।

पाठभेद— जुगस्यौं–१ । लौं–१ । ज्यौं–१ । जान्यौं–५ । सकति–२ । घटघट–३-५ ।

शब्दार्थ—मूरि=जड़ी । वोट=आड़, सहारा । पसवां=पशु जैसे प्राणी । जड़ी जतन सूँ=उपाय द्वारा, साधन द्वारा कामना के किवाड़ बन्द कर दिए हैं । विगसत=खिलता हुआ, प्रफुल्लित । कँवल=हृदयकमल । धरणी=वृत्तिरूपी पृथ्वी । चंद सूर एकै रथ वैठा=इड़ा-पिंगला समस्वर से प्रवाहित है । पवन=प्राण । विरौलै=आलोड़न करै, रस लेवे । गंग जमन=मन-प्राण । स्यौ धरि=ब्रह्मस्थान में । सक्ति=सूक्ष्मवृत्ति । उड़ागर=मनपक्षी ।

'नवत्रण' घटा गरक गुण तीनूँ, रांम रतन धन नेरा ॥
वूठे मेह पहम रुति पलटै, सुष मैं सहजि वसेरा ॥६॥
है हरि अकल सकल की सोभा, जागि लहै सो जीवै ॥
जन हरीदास ता तैं रावलिया, अगम 'पियाला' पीवै ॥७॥

(१२६)

जब मन मैं तैं मोह चुकावे,
उनमनि रहै निरंतरि निसदिन, कलपि न काठ लगावै ॥टेक॥
मन मैं तन तन मैं मन षेलै, 'पांच भांति' की पूजा ॥
आंटी आप आपणी वान्ध्या, तब लग हरि सूँ दूजा ॥१॥
षोलि कपाट करम करि कांनैं, अकरमि अरथि समावै ॥
पूठा फिरै न पर दुष देषै, निरभै निज घरि आवै ॥२॥
इन्द्री पांच अटकि ले उलटी, ल्यौ की डोरि लगावै ॥
आसा छाड़ि निरास विचारै, थकित भया थिति पावै ॥३॥
उलटा षेलि अकास गिरासै, गम मैं अगम विचारै ॥
जन हरिदास मरण जांमण का, तब दोन्यौं पंथ हारै ॥४॥

(१२७)

संतो! राम कह्यां वणि आवै,
जीवन अलप कठिन है कलिजुग, हरि विन 'कौंन' छुड़ावै ॥टेक॥
मन की तरंग अनंत 'वहौ' छाजा, ता तैं अरथ न आवै ॥
ताकी आस वास मधुकर 'ज्यू', जहां लागि तहां जावै ॥१॥

पाठभेद—नौघण–५। पयाला–१। पांच भूत–१-५। कूँण–१। बहु–१। ज्यौं–१।

शब्दार्थ—नव घण घटा=अन्तर्मुखी इन्द्रियां, विशुद्ध अन्तःकरण चतुष्टयरूप बादलों की घटा उठ रही है। गरक=सराबोर, ओतप्रोत। रावलिया=साधक योगी। आंटी आप आपणी वांध्या=अपने ही सकाम कर्मों के वन्धन से आप बँध रहा है। षोलि कपाट=अन्तःकरण के अज्ञान-पटों को खोल। ल्यौ=लगन, तीव्र चाह। थिति=स्थिति, स्थैर्य। अकास=शून्य मंडल। वहौ छाजा=अनेक प्रवृत्तियां।

हरितैं पलटि पतित व्है दूजा, साच कह्यौ न सुहावै ॥
नवका छाड़ि पड़ै सागर मैं, भरमि भरमि दुष पावै ॥२॥
जम की त्रास तिको वसि सहसी, जिन पैला 'प्रेम' न पाया ॥
जन हरीदास या जिव का वासा, मन कै हाथि विकाया ॥३॥
॥ इति राग नट सम्पूर्ण ॥

॥ अथ राग मलार ॥

(१२८)

संतो ! षेती की रुति आई,
औसर इसौ वहौड़ि नहि लाभै, अब जीत्या ज्यां वाही ॥टेक॥
धरती सूडि झाड़ अलसोट्या, विरहा 'अगनि' 'जलाई' ॥
'सुवधि' भौमि रांम जल वूठा, यूँ वाड़ी वनि आई ॥१॥
हाली मला भली सज सगली, एक मतै व्है लागा ॥
ब्रह्म साषि यूँ नीपजि आई, धुर का टोटा भागा ॥२॥
अनंत 'आतमा' अवर न जाचै, षलै 'वहौत' सुष पाया ॥
निज तत तिकौ लाटतां लीयौ, लाटै लोग धपाया ॥३॥
'इसा' भेद कोई विरला जांणै, 'जाकूँ' काल जाल मैं नांही ॥
जन हरीदास हरि साष सकल भरि, विलसी आनँद मांही ॥४॥

(१२९)

सषि हो ! गगन गरजि घन आये,
सुँणि सुँणि सवद कँवल निज विगसत, अंतरि अलष लषाये ॥टेक॥

पाठभेद—पेम-१। अग्नि-१। जराई-१-५। सुवुधि-१। आत्मा-१-५। बहुत-१। ऐसा-१। जाकौं-१।

शब्दार्थ—नवका छाड़ि=आत्मचिन्तनरूप नौका को त्याग। ज्यां वाही=जिनने बोई, तत्वज्ञान-रूपी अनाज की खेती के लिए यम, नियम, ध्यान, धारणा, समाधि-रूपी खेती जिनने बोई है। धरती सूड़ि=अन्तःकरण निर्मल कर। झाड़ अलसोट्या=अहङ्कार और मद-मोहादि झाड़ साफ कर लिये। हाली मला=विशुद्ध मनरूप हाली। भली सज सगली=वृत्ति, विवेक-विचारादि साथी भी सब भले हैं। धुर का=चिरकाल का, मूल से। षलै=खलिहान में, राशि में। धपाया=तृप्त किया।

सेभ सुहाग भाग वड़ ग्वालणि, ब्रह्मछोल सुष पाये ॥
मन मैमंत राम रसि मातौ, धसि सुषसागर न्हाये ॥१॥
मोर मगन 'चात्रिग' सुष चितवत, बीज चमकि झड़ लाये ॥
अनहद सबद गोपि धुनि गरजत, पिव मिलि प्रेम 'वढ़ाये' ॥२॥
मथुरा मंडल होत अति आनँद, वेलि बधत वन छाये ॥
जन हरीदास जल पूरि परमगति, परम जोग पति पाये ॥३॥

(१३०)

सषी हो ! सांवण मास विराजै,
अरस परस कौतूहल देष्या, उरध कँवल कै छाजै ॥टेक॥
परमल प्रीति उमँगि जल उलट्या, गगन 'गरज' घण आया ॥
दांमणि उलटि आभ मैं पैठी, नौ घण 'न्योंति' बुलाया ॥१॥
वादल त्रिवधि पवन मुषि पीया, वंकनालि मैं वाई ॥
निरमल नीर अहो 'निस' वूठा, घटा मेर मैं आई ॥२॥
*'औघट' घाट अघट मैं अटक्या, सुषमनि सहजि समांणी ॥
ये नवनाथ नींद भरि सूता, नदी निवासै तांणी ॥३॥

पाठभेद—चात्रिक-१। बधाये-१। गरजि-१। न्यूंति-५। न्यसि-२। अवघट-१।

शब्दार्थ—मैमंत=मस्ती में। धसि=भीतर प्रवेश कर। मोर=मन-मयूर। चात्रिग=चित्त, अन्तःकरण। बीज चमकि=ज्ञानज्योति प्रकट हो। गोपि=गुप्त। मथुरा मंडल=कायानगरी में। वेलि वधत=नामचिन्तनरूप बेल बढ़ रही है। उरध कँवल=सहस्रारदल। दांमणि=ज्ञानज्योति। आभ मैं=गगनमंडल में। नौघण=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, चार अन्तःकरण। वादल त्रिवधि=त्रिगुणात्मक-वासना के बादल। पवन मुषि=प्राणायाम की साधना से।

* वासना, ममता, मोह, काम-क्रोधादि की कठिन घाटियाँ सब साफ हो गईं हैं। सुषुम्ना नाड़ी सहज दशा में समाई हुई है। ये नवों नाथ—पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ चारों दशायें अन्तःकरण की परम शान्त हैं। नदी निवासै तांणी=विविध वात-वह नदीरूप नाड़ियाँ पूर्ण हैं, कुंभकमय हैं।

×इन्द्र अकास अरथ मैं मीना, परसि परम सुष लीया ॥
जन हरिदास परस जल पैलो, मीन माछला जीया ॥४॥
॥ इति राग मलार सम्पूर्ण ॥

॥ अथ राग सारंग ॥

(१३१)

रांमचरण छाड़ौ नहीं, मौजलि भूलि न 'जाइ' ॥
सुरति समाणी साच मैं, म्हारै मनि पायो विसरांम ॥टेक॥
अगनि विना ईंधण जलै, जल विन मलि मलि न्हाइ ॥
विनि जिभ्या जस होत है, तहां मन रह्या समाइ ॥१॥
विनि श्रवणां सींगी सुणै, विनि पांवा पंथ होइ ॥
नौ द्वारा मन ना वहै, जांणै विरला कोइ ॥२॥
साथ सकल ले सावतो, षसमैं षेत कमाइ ॥
विनि वाड़ी फल होत है, जो जांणै सो षाइ ॥३॥
'नैंन' समाना नूर मैं, हरि नूर निरंतरि आप ॥
जन हरीदास आनँद सदा, 'विछरन' वड़ौ संताप ॥४॥

(१३२)

अवधू गुर विन ग्यांन न लाभै,
कहा भयो जे दांमणि दरसी, जल विनि वोछै आभै ॥टेक॥

पाठभेद—जांव–५ । नैंणा–१ । बिछड़न–१-३ ।

शब्दार्थ—अगनि विना इंधण जलै=स्थूलाग्नि के बिना ज्ञा ाग्नि से विषय-विकाररूपी ईंधन जल रहा है। जल विन मल मल न्हाइ=दृश्यमान पानी के बिना आत्मानन्द की नदी में मल-मलकर स्नान कर रहे हैं। विनि जिभ्या जस होत है=जीभ के बिना वृत्ति से चिन्तन हो रहा है। साथ सकल ले सावतो=सावत मन–शुद्ध मन ने सद्बुद्धि, स्थिरवृत्ति, निश्चलप्राण आदि को साथ में ले लिया है।दांमणि=विजली। दरसी=देखी, चमकी।

× इन्द्र मन अकास–शून्यमंडल में भीने आत्मतत्व को परस परम सुख प्राप्त किया। ब्रह्मतत्वरूपी पैलो जल परस आत्मा, मन, प्राण, वृत्ति आदि मीन–मछलियाँ जी गयीं–अमर हो गयीं।

जब लगि निज तत 'निजरि' न दरसै, तब लग प्यास न भाजै ॥
कहा भयौ जै सूकै भांड़ै, षाली वाई गाजै ॥१॥
'नौघण' घटा 'गरजि' जब बरसै, तब हाली सुष पावै ॥
आरंभ करै साष व्है सांम्ही, 'कस' करि करज चुकावै ॥२॥
जन हरिदास दोष तजि दुरभष, रांम रसाइण पीवै ॥
वूठै मेह पहम रुति पलटै, परचै लागा जीवै ॥३॥

(१३३)

'भौजल' ऊँडौ हो केसवे, रहिये 'कौण' अधारि ॥
अजर जिहाज नांव हरि तेरो, वेली वाँह पसारि ॥टेक॥
जम कै लोकि सदा हूँ रहती, दहती जम की लाइ ॥
अब मैं रांम सजीवनि पायौ, 'जमपै' पलौ छुड़ाइ ॥१॥
कुवधि सषि घरि जाहु आपणै, सुवधि कहै कर जोड़ि ॥
मैं पतिवरता हरि पिव पायौ, कुल मरजादा तोड़ि ॥२॥
पांच सषी सहज घरि षेलैं, तन मन सेझ विछाइ ॥
जन हरिदास जब आतुर देष्या, तब वैठा हरि आइ ॥३॥

(१३४)

सुषसागर साहिब नेरा, जहां लागि रह्या मन मेरा ॥टेक॥
निरमल ग्यांन ध्यांन धुनि निरमल,, निरमल कूँ मन दीया ॥
ता जोगी संगि सहजैं षेलूँ, जिन जोगी 'जुगि' कीया ॥१॥

पाठभेद—निजर-४। नवघण-१ । गरज्य-२ । कसि-३ । भवजल-१ । कूँण-१ । जमतैं-१ । जग-५ ।

शब्दार्थ—निज तत=ब्रह्मस्वरूप, आत्मस्वरूप । सूकै भांडे=खाली बर्तन, दिखावटी साधक । वाई वाजै=वाचक साधक का कथन । नौघण=नवधा भक्ति । हाली=मन । साम्ही=अनुकूल, अच्छी । वूठै=बरसे । वेली=साथी । वांह=हाथ, भुजा । कुवुधि सषि=मायिक पदार्थों की प्राप्ति की मति । पांच सषी=अन्तर्मुखी इन्द्रियां ।

'नैंना' रांम वसै हरि 'वैंना', हिरदै रह्या समाइ ॥
रोम रोम हरि सुमिरण लागा, मेरे गुरगम दियौ वताइ ॥२॥
आनँद रूप अषिल अविनासी, सुष मैं सुरति समांणी ॥
जन हरीदास निधि देषि निजरि भरि, घट घट अघट विनांणी ॥३॥

(१३५)

अवला पिव विन क्यौं रहूं, निसदिन तलफि तलफि तन जाइ ।टेक।
स्वाति वूँद सहजां पीवै, नां पीवै नाड़ारौ नीर ॥
विरह अगनि तन 'जालियौ', जिहिं व्यापै सो जांणै पीर ॥१॥
प्रेम पियाला चित चढ्या, अव पिव हो मोहे प्रेम पिलाइ ॥
रोम रोम हरि रस पियौ, तन विछुड़ै तहुं प्रेम न जाइ ॥२॥
पतिवरता विभचारिणी, दोऊँ अनत न वैसे एकै साथि ॥
फटिक मणि तव लग भली, जव लग हीरा न आवै हाथि ॥३॥
अनंतपुरी आगै वसी, रांमभजन विन चले हौ ठगाइ ॥
'उत्तमपुरी' आंमिर भयो, अव पीव प्रेम मगन रस पाइ ॥४॥
अधिक दरद 'कासूँ' कहूं, व्यापत है मेरा मन मांही ॥
जन हरीदास तन मन सज्या, अव पिव हसि वोलो क्यूँ नांही ।५।

(१३६)

मन तन जाइलो रे, या सुषि रहिये कौंण अधारि ॥
अव तजि भरम सरम गहि हरि भजि, साच तहां सुष पारि ॥टेक॥
आपै कलणि कल्यौ अपराधो, अकल 'पुरिस' कैसे पाइहौ ॥
सकल भवन पति राइ ॥

पाठभेद—नैंणा-१ । वैंणा-१ । जारियो-१ । उत्मपुरी-४-५ । कास्यूँ-१ । पुरुष-१ ।

शब्दार्थ—विनांणी=बनाने वाला, रचयिता । नाडारौ=छोटे सरोवर का । अनंतपुरी=अनेक जन्म । उत्तमपुरी=नरजन्म । आंमिर=आगमन, आना ।

सकल सुष अगम विचार , अपार परम तत ॥
हरि भजि लीजै प्रेम वधाई ॥१॥
समझि समझि निज , तत निज मन धरि ॥
अधर अधर भजि , भजि निसवासुरि ॥
अपणौं निज तत नेम विचारि ॥
जन हरिदास स्वास ध्रिग हरि विन, कौड़ी सटे न हीरा हारि ॥२॥

॥ इति राग सारंग सम्पूर्ण ॥

॥ अथ राग वसंत ॥

(१३७)

तुम्ह भजौ निरंजन जनम जाइ , कौंण नींद सूते अघाइ ॥टेक॥
काल वांण गहि तकत 'तोहि' , जीव लागि रहे सब मदन 'मोहि' ॥
रांम भजन विन कौंण वात , जहां तहां जम करत घात ॥१॥
राति 'द्यौस' तन होत छीन , जैसे वोछे पांणी मगन मीन ॥
काल कीर निति षरच षाइ , रांम समंद तहां क्यौं न जाइ ॥२॥
प्रांणनाथ सूँ प्रीति धारि , गुरग्यांन सवद हिरदै विचारि ॥
हरि अगाध भजि तजि जंजाल , जन हरीदास तहां काया न काल ।३।

(१३८)

मन मतिवाला राषि ठौर , पलक पलक हरि निकटि वौर ॥टेक॥
इतउत चितवत गई विहाइ , हरि है हजूरि मन तहां लाइ ॥
प्रेम प्रीति का 'देइ' वंध , ज्यूँ उलटि न षेलै मन अकंध ॥१॥

पाठभेद—तोह–४ । मोह–४ । दिवस–१ । देह–१-५ ।

शब्दार्थ—आपै=अहङ्कार की । कलरिए=दलदल में । धिग=धिक्कार । अघाइ=अतितृप्त हो, धापकर । मदन मोहि=काम और ममता में । वोछे पांणी=थोड़े पानी में, कम गहरे में । वौर=बहुत । अकंध=मरने को ।

नाभि कँवल निज सुरति लाइ , तहां वसत है रांम राइ ॥
हरि सकल व्रियापी परमदेव , ताकूँ 'वहौत' भांति तूँ तहां सेव॥२॥
जागि जागि रे जागि जांचि , हरि अगम अगम तूँ तहां राचि ॥
जन हरीदास हरि सकल साच, हरि निकटि निकटि मन बिकट नाचि ।३।

(१३९)

मतिवाली मालिण नांही दूरि , हरि परमसनेही है हजूरि ॥टेक॥
अरध उरध मधि कँवल मूल , आतम निज फूली ब्रह्म फूल ॥
अजव वास कछु कहि न 'जाइ' , तहां मनसा मालणि रही 'लुभाइ' ।१।
रवि ससि मेला पछिम धूरि , तहां नदी 'निवासै' वहै पूरि ॥
भरि भरि पीवै अठारै भार , तहां वसुधा भीजै अषंड धार ॥२॥
सकल व्रियापी सहज भाइ , मथुरापति महलां वसे आइ ॥
जन हरीदास तहां 'चरण' लागि , जहां गोपी ग्वालणि रमै फागि ॥३॥

(१४०)

सषि हो ! मास वसंत विराजै ,
गोपी ग्वाल घेरि गोकुल मैं , वेणि मधुर धुनि वाजै ॥टेक॥
धागै सुरति पांच नग गूँथ्या , मन मोती मधि आया ॥
विगसत कँवल परम निधि 'परगट', हरि कूँ हार चढ़ाया ॥१॥
गरव 'गुलाल' चरण तलि चूरया, अरथ अबीर पिंडाया ॥
परमल प्रीति परसि परिपूरण , पिव मैं प्रांण समाया ॥२॥

पाठभेद—बहुत–१ । जाय–५ । लुभाय–५ । नवासै–१ । चरन–५ । प्रगट–१ । गुमांन–३ ।

शब्दार्थ—जांचि=तलाश कर, याचना कर । राचि=प्रेमी बन, अनुरक्त हो । मतिवाली मालिण=मनसामालिन । मधि कँवल=हृदयकमल । अजव वास=अनोखी गन्ध । रवि ससि मेला=मन-प्राण का सङ्गम । पछिम धूरि=मेरुदण्ड से सुषुम्ना के अन्तिम आश्रय तक । नदी निवासै=नौ सौ नाड़ियां । अठारै भार=शरीरस्थ सब तत्व । वसुधा=साधनारूप भूमि । गोपी ग्वाल घेरि गोकुल मैं=कायानगरी में गोपी–ज्ञानेन्द्रियां, ग्वाल–मन को घेरो, अन्तर्मुख करो । वेणि=बांसुरी, अनहद नाद । पांच नग=पञ्चप्राण, अपानादि ।

वंकनालि निहचल नौ निरभै, यै कौतूहल भारी ।।
जन हरीदास आनँद निज नगरी, षेलै फाग मुरारी ।।३।।

(१४१)

भवतैं भँवर वाग निज लाधौ, ताकी 'उतम' वास लै जीवैं ।।
निरभै डोरी 'निरति सुँ' लागी, मगन भयो रस पीवै ।।टेक।।
ब्रह्मफूल की वास 'मस्त' है, अमी महारस लागा ।।
सुषदेव पी मतिवाला हूवा, ऊठ वना कूँ भागा ।।१।।
सुंनि मंडल की वाड़ी विलसै, सहजि सकल रस लाधा ।।
जन हरीदास 'हरजी' का सेवग, जम कै वंधणि न वांधा ।।२।।

(१४२)

मन मतिवाला सहज भाइ, जोग मूल गहि रह्या समाइ ।।टेक।।
ब्रह्मअगनि वरषा अपार, भरि भरि पीवैं अठारै भार ।।
गंग जमन मधि वसंत राग, भँवर गुंजारै 'गहर' वाग ।।१।।
चंद सूर रथ फिरया फाग, ग्यांन ध्यांन ल्यौ गगन लाग ।।
प्रेम प्रीति का पहौप हाथि, पांच सषी सव सौंज साथि ।।२।।
हरष सोग दुष दुरया दोइ, 'यह' गति जांणै साध कोइ ।।
त्रिवेणी तटि ध्यांन धारि, परम जोति 'प्रगटै' मुरारि ।।३।।
सकल वियापी रांम राइ, परम 'पुरष' गति लषि न जाइ ।।
जन हरीदास अवगति अनंत, भजि अलष निरंजन करि वसंत ।४।

पाठभेद—उतम–४-५। निरंतरि–१-३-५। मसत–२। हरिजी–३-५। गहैर–२-४। याह–१। परगट–५। पुरुष–१।

शब्दार्थ—नौ निरभै=इन्द्रियां, अन्तःकरण। विलसै=उपभोग करे। वंधणि=बन्धन। गंग जमन मधि=इड़ा-पिंगला के मध्य सुषुम्ना में। चंद सूर=मन और प्राण। दुरया=छिपा। त्रिवेणी तटि=भृकुटिमध्य।

(१४३)

चलो सषी जहां रांमराइ, रांमराइ विन रह्यो न जाइ ।।टेक।।
यहु आलस कहा लग्यौ तोहि, वात सषी यह कहौ मोहि ।।
जनम अमोलिक चल्यौ है जात, नांऊ तरवर लगै फिरि तूटे पात ।१।
एक सहर मैं विवधि राज, हसती पाइक हेम वाज ।।
काल वांण 'लिऐ' फिरत मांहि, तहां वस्या कछु चैन नांहि ।।२।।
परम उदार आनंद अछेह, सुत तात मात जीवैन देह ।।
जन हरीदास मन तहां लीन, समद विछौहे 'मरै' मीन ।।३।।

(१४४)

चलहु सषी करि वसंत राग, 'जिसि' वन मनमोहन रमै है फाग ।।टेक।।
'पांच' सषी सव सौंज हाथि, मिलि 'षेलण' चाली पीव साथि ।।
तुम्ह अगाध मैं न क्यूँ जीव, आइ रुति वसंत रंगि रमौह पीव ।१।
ज्यूँ चकवी मनि रहै उदास, ऐसै आतम फूली ले सुवास ।।
'पहौप' वास मैं रही लुभाइ, ऐसो वाग वन्यौ पिव रमौ हौ आइ ।२।
जन हरीदास मन अति उमंग, ऐसा लागा प्रेम रंग ।।
प्रेम पियाला घटत नांहि, हरि अगाध जन पीवत जांहि ।।३।।

।। इति राग वसंत सम्पूर्ण ।।

।। अथ राग अडांणो ।।

(१४५)

कहु और कै कहै सँइया, 'तुम्ह' जिनि हमपै ठौर छुड़ावो ।।
अव हमसूँ ऐसे मन राषो, अंतरि जोति जगावो ।।टेक।।

पाठभेद—लिये–२। मरेहै–२। ज्यसि–२। पंच–१। खेलन–१। पहुप–१। तुम–५।

शब्दार्थ—टेतू पात=जीवनवृक्ष के आयुरूप पत्ते टूट रहे हैं। एकसहर=कायानगरी एक है। समद=ब्रह्मसागर। विछौहे=वियोग में। आतम=जीवात्मा। सँइया=हे स्वामी! ठौर=आत्मप्राप्ति का स्थान।

तन सूँ तन मन सूँ मन मेला, अंतरि अंतरि मेला ॥
और सकल सुष विषभरि लागत, तुम्ह लागत हौ सेला ॥१॥
नैननि मैं नैन वैननि मैं वैना, समझि समझि सुष दीजै ॥
तुम्ह विन जीव चात्रिग की नांई, तलफि तलफि तन छीजै ॥२॥
तुम्ह विन पीर न जांणै कोई, तुम्ह ही ढौरी लाई ॥
जन हरीदास गुर भुरकी डारी, विरहनि विरह जगाई ॥३॥

(१४६)

पिव पाये हो जागि लागि अव मोहि भागि, सीतल सबद सुहाये हो ॥टेक॥
मन ही सूँ मन मेला, वैन ही सूँ वैन सेला ॥
निज घरि नैन समाये हो ॥१॥
जांनि जांनि प्रीति लाये हो, सेझां सनेही आये हो ॥
आज मो मनि भाये हो ॥२॥
जहां तहां सुष मेरे, मोहिहूँ चित तेरे ॥
आनँद अनंत रिझाये हो ॥३॥
'भवनि' 'गवन' कीया, मन मेरा हरि लीया ॥
अरस 'परस' रस पाये हो ॥४॥
जन हरीदास तहाँ वास, सुष मैं सुष निवास ॥
समझि समझि सुष पाये हो ॥५॥

॥ इति राग अडाणो सम्पूर्ण ॥

पाठभेद—भवन-४ । गवनि-५ । प्रस-१ ।

सेला=शीतल, सुषदायी । ढौरी लाई=लौ लगाई, भक्ति जागृत की । मन मेला=मन से ही मन का समाधान । मोहिहूँ=मोहित करूँगा ।

॥ अथ राग कनड़ौ ॥

(१४७)

संत सुधारण जम चोट विदारण, परम उदार करतार विसंभर ।।टेक।।
गहर गंभीर संमद भवतारण, हरि पावक पावक पष जारण ।।
पारब्रह्म अघ मेटण कारण ।।१।।
जलि थलि वास अरि आस निवारण, नाँव निरूप घट घाट संवारण ।।
हरिजन हरीदास भू भार उतारण, हरि परम जोति जस उर विसतारण ।।२।।

(१४८)

जो कवहू मन हरि जी सूँ लागै,
जठर अगनि मैं 'बहोड़ि' न षेलै, जम कै पटै चढ़ै नहिं आगै ।।टेक।।
त्रिवधि ताप तत पांच न परसै, जोनी जीव 'जनमि' नहिं आवै ।।
तजि संसार धार तैं उतरै, उलटो षेलि परम पद पावै ।।१।।
मन गहि पवन गवन हरि चरणां, चरणां रहै तरसि तत दरसै ।।
जन हरीदास मन पलटि परमगति, निरमल होइ निकटि निधि परसै ।।२।।

(१४९)

जो कवहू मन हरि सुष जांणै,
उनमनि लागि अगम घरि षेलै, 'और' सकल सुष आदि न आंणै ।।टेक।।
ज्यूँ तरमूल पहम मैं पेरै, सव जल सेभै जाइ समावै ।।
यूँ सति सुरति निरषि निधि निरभै, या सुषि अटकि उलटि नहिं आवै ।।१।।
ज्यूँ दूरि सुत अनल गगन कूँ उलटै, ग्यांन प्रकास पिता 'पष' जोवै ।।
यूँ फिरि जीव सींव संगि षेलै, जनम जनम का कलि विष धोवै ।।२।।

पाठभेद—वहुरि–१ । जनम्य–२ । अवर–१ । पषि–१ ।

शब्दार्थ—जठर अगनि मैं=गर्भवास में । पटै=जम के हिसाब में, मृत्युमुख में । धार तैं=ममता की धार से । तरसि=चाव से, लगन से । तरमूल=वृक्ष की जड़ । पहम मैं पेरै=भूमि में प्रवेश कर लेती है । सींव=ब्रह्म ।

सलिता गौड़ि करै तव न्यारी , समद समाइ समद समि होवै ॥
जन हरीदास यूँ अरस परस मिलि , हरिजन हरि मैं प्रांण समोवै ॥३॥

(१५०)

साजिनिवाजि परमपद आपै , रांम दयल अमर करि थापै ॥टेक॥
करता करण सदा सँगि जाकै , चितवनि कहौ कहा ध्रू ताकै ॥१॥
करम कुठार विथा हरि कांपै , जन हरीदास नरहरि हरि जापै ॥२॥

॥ इति राग कनड़ौ सम्पूर्ण ॥

॥ अथ राग मारू ॥

(१५१)

'जुगि' जागिन जोया रे ,
नर देही हरि ना भज्यो , यूँ ही तन षोया रे ॥टेक॥
स्वारथ का सव को सगा , वादल की छांही रे ॥
सुपनै का सुष छाड़ि दे , जागै क्यूँ नाही रे ॥१॥
झूठा सुष संसार का , साचा कर लीया रे ॥
मोह नदी मैं वहि गया , माया मद पीया रे ॥२॥
'मूरिष' कूँ समझाइये , 'औगण' करि वूझै रे ॥
आपा की आंटी पड़ी , सति साच न सूझै रे ॥३॥
परमसनेही रांमजी , साचा सुषदाइ रे ॥
जन हरीदास गोव्यंद भजो , भरमौ मति भाइ रे ॥४॥

पाठभेद—जग-५ । मूरष-१ । अवगुण-१ ।

शब्दार्थ—सलिता=सरिता, नदी । गौड़ि=गर्जना । समोवे=समाविष्ट करे, समावे । साजनिवाजि=सब प्रकार की सामग्री देने वाला । चितवनि=देखना, नजर में । ध्रू ताकै=निश्चलब्रह्म को देखे । वूझै रे=समझे रे, माने रे ।

(१५२)

अपणो हीरा जनम न हारि,
वार वार तोहूँ 'कहूँ', तूँ योहि ग्यान विचारि ॥टेक॥
जागि लागि सोवै कहा, हरि सुमरणि सुष माहि ॥
अंति आस पूजै नहीं, तूँ कालरि वीज न वाहि ॥१॥
भूष न भाजै भै तजै, जम की मिटै न त्रास ॥
तूँ क्यूँ रोपै आप कूँ, अंध आपनै पास ॥२॥
जौ जाग्या तो सोइमा, जौ सूता तौ जागि ॥
जनम 'अमोलिक' जात है, तूँ आंधा 'आरंभ' लागि ॥३॥
सुर नर घर पावै नही, पंडित लहै न जांण ॥
जहां आपौ तहां आंतरो, मोहि अजरावर की आंण ॥४॥
रांम भजन सुष 'परहरै', माया तहां मन जाइ ॥
जा घरि सुवधि न संचरै, मोंह रह्या लपटाइ ॥५॥
तात मात वंधू सषा, सुत वनिता सुष लोइ ॥
सव को स्वारथ का सगा, घट छूटा सगा न कोइ ॥६॥
परम सनेही रांम है, 'और' सगा दिन चारि ॥
जन हरीदास दूज्या तज्या, तजि लीया रांम सँभारि ॥७॥

(१५३)

वेली लो तत वेली लो, काटी वेलि वधैली लो ॥टेक॥
चंद सूर दोउ 'समि' करि राष्या, सास सवद संगि लाया लो ॥
गंगा मूल तहां रस उलटै, वेलि 'तको' रस षाया लो ॥१॥

पाठभेद—कहौं-१। अमोल्यक-२। आरंभि-२-३। प्रहरै-१। अवर-१। सम-१। तिको-१।

शब्दार्थ—कालरि=खार की भूमि में। रोपै=गाड़े। आरंभ लागि=साधना में लग। आंतरो=अन्तर, भेद। आंण=सौगन्ध। घट छूटा=देहपात हुआ, मरा। वेली=तत्त्वनिष्ठवृत्ति। काटी वेलि=मायिक पदार्थों से हटाई हुई वृत्ति। चंद सूर=इड़ा-पिंगला नाड़ी। सास सवद संगि लायालो=प्राण को रोक कर सोहं शब्द से सम्बन्धित किया। गंगा मूल=नाभिप्रदेश।

निज निरसिंध अगहि 'अभि' अंतरि, वरण विवरजत वांणी लो ॥
इला पिंगुला सुषमनि मेला, ता सुषि वेलि समांणी लो ॥२॥
तरवर अगम अणीं तहां लागी, वेलि किया विसतारा लो ॥
काटी वेलि अमर फल लागै, विनि काटी फल षारा लो ॥३॥
वास विकट कोई पान न षंडै, मिरघ वसै ता मांही लो ॥
'पाइक' पांच पहरवा राष्या, उदै 'अस्त' दोइ नाँही लो ॥४॥
गमन मंडल मैं वेलि विलूँधी, मूल मता मैं आया लो ॥
जन हरीदास आतम कै अंतरि, सतगुर साँच वताया लो ॥६॥

(१५४)

जिवड़ा जनम सिरायौ रे,
सोवत सोवत सोइ रह्यो, 'अजुँ' नींद न धायो रे ॥टेक॥
'जनम' अमोलिक जात है, विषया रस मांही रे ॥
काल गह्यौ ग्रासै जुरा, जागै क्यूँ नांही रे ॥१॥
जा कूँ तैं तन मन दिया, अपणां करि लीया रे ॥
इव मैं तेरा को नहीं, भूलै विष पीया रे ॥२॥
सूतां सरवस जात है, जांणै सो जागै रे ॥
जन हरीदास आछै मतै, हरि सुमिरण लागै रे ॥३॥

(१५५)

रैंणि गई दिन जाइ, सषी मैं क्यूँ करूँ ॥
हरि विन कछु न सुहाइ, विछोहे मैं डरूँ ॥टेक॥

पाठभेद—अभ्य-२ । पायक-३-४ । असत-२ । अजहुं-५ । जन्म-५ ।

शब्दार्थ—तरवर अगम अणीं तहां लागी=अगम ब्रह्मवृक्ष में वृत्ति की अणी-अग्र भाग लगी । मिरघ=विषयविरत मन । पाइक पांच=पाँचो ज्ञानेन्द्रियां । विलूँधी=छाई । सिरायो=बीता, समाप्त हो रहा । आछै मतै=आत्मचिन्तन में । विछोहे=वियोग में ।

जल विन मीन कहो क्यौं जीवै, जाकै जीवण पांणी ॥
ऐसे हम हरि विन दुष पावत, तलफत रैंण विहाणी ॥१॥
पिव पिव करत विरह तन जारयो, चात्रिग घन कूँ टेरै ॥
यूँ मम प्रांण दुषित हरि 'तुम्ह' विन, मनसा मारग हेरै ॥२॥
जन कै 'भवण' 'गवण' हरि कीजै, विलम कहा तुम आवौ ॥
रमताराम सकल विस व्यापी, हा हरि दरस दिषावौ ॥३॥
'याह' वड़ विथा रांम मल जांणै, विरह वसै तन मांही ॥
जन हरीदास हरि 'महलि' पधारो, कै अव जीवन नांही ॥४॥

(१५६)

सेभ सनेही आव, आवौ देव नरहरि ॥
विकल भई मन मांही, क्यूँ हो पीव परहरि ॥टेक॥
सुरति संवाहि माघ नित हेरूँ, चित चेतन चौकी चढ़ी ॥
तलफि तलफि तन जाइ, भुरकी मै पड़ी ॥१॥
'यहु' विसवास आस निज अंतरि, अवला चौवारै षरी ॥
मसतग दे दे हाथ, पंथ 'हेरूँ' हरी ॥२॥
जांण प्रवीण परमसुष दाता, विरहणि विरहा परजरी ॥
जन हरीदास बलि जाइ, विलम कहा करी ॥३॥

(१५७)

वालम विरह विवोगी रे,
भुरकी मोपरि डारि गयो, 'जुग' मंडण जोगी रे ॥टेक॥

पाठभेद—तुम–५ । भवन-गवन–५ । या–५ । महल–५ । इहु–२ । हेरौं–१ । जग–५ ।

शब्दार्थ—विहांणी=बीती । भवण=स्थान, हृदयप्रदेश में । गवण=गमन । परिहरि=त्याग दी, छोड़ दी । माघ=मार्ग, वाट । हेरूँ=देखूँ । चित=अन्तःकरण । चौवारे=अन्तःकरण में वृत्ति । भुरकी=मोहनी ।

सारा सुष संसार का, मोहि षारा लागै रे ॥
तूँ मेरा जीवन जीव की, रहो नैंना आगै रे ॥१॥
परम सनेही पीतमा, प्रांन न तैं प्यारा रे ॥
महलि पधारो माधवे, सारां सिरि सारा रे ॥२॥
विरहणि कै रस एक तूँ, दूजा सब ज्वाला रे ॥
जन हरीदास 'यूँ' वीनवै, 'ग्रह' आवो वाला रे ॥३॥

(१५८)

रे मैं रांम रस पीया रे,
छाकि चढ़ी सुधि वीसरी, सिर सौदा कीया रे ॥टेक॥
अगम पियाला 'प्रेम' का, सहज पिया धरि ध्यांन ॥
इतवत चितवणि मिट गई, अब 'विछुरन' मरण समांन ॥१॥
जिन पीया सो जानि है, 'और' न जांने कोइ ॥
रसिया रस मैं मिलि रह्या, अब टलै न दूजा होइ ॥२॥
कहा करूँ ऐसी भई, मन पड्या दरीवै जाइ ॥
जन हरीदास मतिवालि मैं, मेरा मन हरि लिया चुराइ ॥३॥

(१५९)

अरे मैं पी मतिवाला रे,
'छाक चढ़ी सुधि वीसरी', पीया अगम पियाला रे ॥टेक॥
गोली चाढ़ी ग्यांन की, ममता कस दीया रे ॥
कांम क्रोध 'वालणि' वल्या, गमही गुड़ कीया रे ॥१॥
गिगन मंडल भाटी चिगै, सरवै वहौ धारा रे ॥
पांच सषी सनमुष सदा, गुर पावण हारा रे ॥२॥

पाठभेद—यौं-१। ग्रिह-३-४। पेमका-१। विछुड़ण-१। विछरण-५। अवर-१। "सुरति समानी साच मैं" बालण-५।

शब्दार्थ—वीनवै=विनती करे। छाक चढ़ी=मस्ती आई। दरीवै=दरबार में। मतिवालि मैं=मस्ती में, प्रेममगन। वालणि=पलीता, ईंधन। गिगन मंडल भाठी चिगै=सहस्रारदल में रुकी हुई वृत्ति की भट्टी।

रांम रसाइण रीति है, साधां कूँ भावै रे ॥
जो पीवै सोई छकै, छकि मांहि समावै रे ॥३॥
प्रेम पिया तब जांणिये, तन मैं मन आवै रे ॥
जन हरीदास आछै मते, कछु आंन न भावै रे ॥४॥

(१६०)

गोव्यंदो ज्यूँ जांणै त्यूँ गाइ,
'जनम' अमोलिक जात है, तूँ हरि सूँ हेत लगाइ ॥टेक॥
अलष निरंजन उरि वसै, रांम नाम 'निज' भेद ॥
रांम विसारयां होत है, सही कंध का छेद ॥१॥
'रवि ससि' मिलै न मुकति फल, पति सूँ प्रीति न होइ ॥
करमकाट मोरचा जड्या, तूँ नांव नीर लै धोई ॥२॥
सात समद 'नौ' सै नदी, वनी अठारा भार ॥
गिर रवि ससि तारा मंडल, तहां परै दीदार ॥३॥
एक सैज का सोवणां, एक महल मैं वास ॥
जन हरीदास हरि सूँ मिल्या, गहि प्रेम प्रीति परकास ॥४॥

(१६१)

निरंजन नाइ लागा हो,
भरम अँधारा मिटि गया, सूता था जाग्या हो ॥टेक॥
अगम तहां गम को नहीं, मैं गम करि लीया हो ॥
प्रीति 'पयाला' 'प्रेम' का, तुम्ह दीया पीया हो ॥१॥

पाठभेद—जन्म–१। न्यज–२। रिव-सिस–२-३। नव–१। पियाला–१-३। पेम–१।

शब्दार्थ—सही=निश्चय से। कंध का छेद=सिर कटे, नाश हो। सात समद=रसादि सप्तधातुरूप सागर। नौ सै नदी=नौ सौ नाड़ियां। सैज का=शैय्या, हृदयरूपी शैय्या पर। नाइ=नाम।

जा कै गांव ठांव कुल को नहीं , कैसे करि पाउँ हो ॥
गुरि डोरी दीन्ही साच की , तिसि लागा आउँ हो ॥२॥

भगति निवाजण मैं सुण्या , तुम्ह कारिज सारचा हो ॥
नांमा जन रैदास सा , ले पारि उतारचा हो ॥३॥

अगम पियाला प्रेम का , तुम्ह दीया पीया हो ॥
गोरषनाथ कबीर सा , अपणां करि लीया हो ॥४॥

पींपा सोंझा सेन सा , हरि लोक बसाया हो ॥
जन हरीदास हरि मौज सुँणि, चरणां चलि आया हो ॥५॥

॥ इति राग मारू सम्पूर्ण ॥

॥ अथ राग केदारो ॥

(१६२)

सनेही प्रांण आलस कियो रे अघाइ ,
हरि हरि सुमरि सगौ हरि तेरो , तूँ हरि का गुण गाइ ॥टेक॥

माल मुलक अपणां करि बैठा , तेरां नांही कोइ ॥
'यहां' सुष अलप अनंत दुःष आगे , अंति चलैगो रोइ ॥१॥

काहे कूँ 'सिर' मार सहत है , सकै तो बोझ उतारि ॥
जन हरीदास भजि रांमसनेही , तूँ अपणा काज सँवारि ॥२॥

(१६३)

मन रे ! गोंव्यंदा गुण येह ,
'भगत' भव रिपु भरम भंजन , करण संत सनेह ॥टेक॥

पाठभेद—इहां—२-३-४ । सिरि—२-३ । भगति—१-३ ।

शब्दार्थ—निवाजण=अतिकृपालुता, वात्सल्य । मौज=आनन्द । अघाइ=धाप-कर, अत्यन्त । सगौ=मित्र, सहायक ।

सोई ब्रह्म सनाथ निरपष , 'पषि' वंध्या जनकै भाइ ।।
अकल तरवर सकल व्यापी , अगहि गह्यौ न जाइ ।।१।।
परम जोति प्रकास पूरण , अगम वार न पार ।।
जन हरीदास सों सुष राषि नैंना , निरषि वारूँ वार ।।२।।

(१६४)

मन रे ! गोव्यंदा गुण गाइ ,
अब कै जब तब ऊठि चलैगो , कहत 'हूँ' समझाइ ।।टेक।।
अटकि अरि हरि ध्यान धरि मन, सुरति हरि 'स्यूँ' लाइ ।।
भजसि भगवंत भरम भंजन , संत करण सहाइ ।।१।।
तरल 'त्रिष्ना' त्रिवधि रसि वसि , गलत गत तहां चंद ।।
जाइ जोवन जुरा ग्रासै , जागि रे मतिमंद ।।२।।
मोह मन रिप ग्राह मैं तैं , गहर जल गुण देह ।।
जन हरिदास आजिस कालि नांहि, हरि भजन करि लेह ।।३।।

(१६५)

जागौ रे ! अब नींद न कीजै , 'निस' दिन आव घटै तन छीजै ।टेक।
बहौत दिनां तै यहु छक पाया , सो तो कौड़ी सटै गमाया ।।
हीरा था पणि हाथ न आया ।।१।।
कांम क्रोध माया मद माता , निस दिन काल न देषे षाता ।।
रांम भजौ हरि 'समरथ' दाता ।।२।।
ग्यांन प्रकास निजरि 'नित' 'येही' , दुरिहै तन न रहै या देही ।।
जन हरीदस भजि रांमसनेही ।।३।।

।। इति राग केदारो सम्पूर्ण ।।

पाठभेद—पष-५ । हौं-१-५ । स्यूँ-१ । त्रिसना-२ । न्यस-२ । समथ्रथ-४-५ । न्यत-२ । एही-२-३ ।

शब्दार्थ—पषि वंध्या=पक्ष में हुआ, सहायक बना । जन कै=प्रेमी के, भक्त के । वारूँवार=बारबार । अटकि=रोक । अरि=कामादि शत्रु । त्रिवधि रसि=त्रिगुणात्मक पदार्थों की चाह । चंद=शुद्ध मन । गुण देह=भौतिक शरीरगत पांच शब्दादि गुण । दुरिहै=छिपेगा, नष्ट होगा ।

॥ अथ राग विहंगड़ौ ॥

(१६६)

रातड़ियां बात सिराणी,
पिय विन प्रांण 'तरसि' तलफत है, ज्यूँ मछली विन पांणी ॥टेक॥
अंतरि चोट विरह की लागी, नष सिष चोट समांणी ॥
विकल भई हरि अजहुं न 'आये', हरि जाणत है मैं जांणी ॥१॥
जांण प्रवीण परमसुष दाता, निरगुण नाह विनांणी ॥
प्रीति विचारि मिलौ 'परमानंद', अवला नही विडांणी ॥२॥
कहा कहिये कछु कहत न आवै, उनमनि रहैत लुभाणी ॥
जन हरीदास हरि सूँ मन मान्या, आदि अंति सुष जांणी ॥३॥

(१६७)

हसि का सूँ वोलिये,
पीव सूँ परचो नांहि, अन्तर षोलिये ॥टेक॥
रैंणिस वाई वहि गई, तन मन वैठि षोइ ॥
हुँ वहु कुचील कुदरसणी, 'सकति' सुहागन होइ ॥१॥
पीव कै 'पतिवरता' घणी, तहां रहै मन लाइ ॥
हूँ तरसूं वोले नहीं, यौ दुष कहां समाइ ॥२॥
अवला को वल को नही, 'प्रीतम' रहे रिसाइ ॥
सदा 'संगाथी' रांम या, मोहि प्रेम पियाला पाइ ॥३॥
अंतरजांमी तुम्ह विना, दूजा कछु न सुहाइ ॥
जन हरीदास हरि विन मिल्यां, जनम 'अमोलिक' जाइ ॥४॥

॥ इति राग विहंगड़ो सम्पूर्ण ॥

पाठभेद—तरस-५। आए-३-४। प्रमानंद-५। सक्ति-५। पतिव्रता-१। प्रीतम-५। सँगाती-५। अमोल्यक-२।

शब्दार्थ—रातड़ियां=रातें सिराणी=बीत गई। विनांणी=जगत्कर्त्ता। विडांणी=दूसरों की, औरों की। वाई=व्यर्थ। कुचील=गन्दी, मैली। कुदरसणी=कुरूप। तरसूं=विलखूं।

॥ अथ राग धनाश्री ॥

(१६८)

रांम सनेहीडा हरि बिन, दूजा अलप सनेह ॥
दूजा देषत 'जाहिला', ज्यूँ धूँवर का मेह ॥टेक॥
तन धन जोबन ना रहै, दुवध्या दरसन होइ ॥
चौरासी चौपड़ि मँडी, ता मैं चोट न वंचै कोइ ॥१॥
पूत कलित परिवार मैं, सकल रह्या 'उलझाइ' ॥
स्वारथ का सबको सगा, अंति अकेला जाइ ॥२॥
समझि पड़ी सतगुर मिल्या, पैंडा दिया बताइ ॥
जन हरीदास आनँद भया, ता सुष मैं रह्या समाइ ॥३॥

(१६९)

'प्रीतम' प्रांणियां रांमसनेही जोइ,
रांमसनेही बिन भज्यां, कबहूं न 'त्रिपति' होइ ॥टेक॥
जिन जल तैं पैदा किया, सगली सौंज बणाइ ॥
सो सदा संगाती गोव्यंदा, तूँ तासूँ ताली लाइ ॥१॥
ज्यूँ बादल मिलि बीछड़ै, आप आप कूँ जांहि ॥
दिन दस का मेला भया, निहचै रहणां नांहि ॥२॥
'बहौड़ि' बहौड़ि लाभै नहीं, मनिष 'जनम' अवतार ॥
अब कै नरहरि ना भज्यौ, तो तोकूँ वार न पार ॥३॥
चढ़ि मति बूड़ै बापड़ा, 'सलिल' मोह की धार ॥
जन हरीदास हरि गाइलै, भजि केवल सिरजनहार ॥४॥

पाठभेद—जाइला-५ । उरझाइ-१ । प्रीतम-४-५ । तिरपति-३ । बहुरि-१ । जन्म-५ । सल्यल-२ ।

शब्दार्थ—जाहिला=जायगा । दुवध्या=असमंजस, संशय । कलित=स्त्री । जल तैं=शुक्र से । सगली=सब, सम्पूर्ण । सौंज=सामग्री । ताली=लगन, संयोग । बूड़ै=डूबे । बापड़ा=दीन, तुच्छ ।

(१७०)

अवधू अगम पियाला पीजै,
हरि रस अजर जरै तौ जीजै, सिर दै सौदा कीजै ।।टेक।।
सत रज तम रस पांच 'रहत' रस, ता रस सूँ मन लागा ।।
इंम्रत झरै प्रांण रस पीवै, भरम गया भै भागा ।।१।।
मन गहि पवन सहस दस संगी, दस धौढ़ सहस सूँ सारा ।।
'एकै' डोरि एक रसि लागा, गुर गमि ग्यांन विचारा ।।२।।
विगसत कँवल परम तत दरसत, 'परसि' परम तत पाया ।।
जन हरीदास मधुकर मतिवाला, वंकनालि रस षाया ।।३।।

(१७१)

वा देस सनेह रा, जहां उदै अस्त अघ नांहि ।।
रूप अरूप यार सब यारां, 'जिंद' बसै ता मांहि ।।टेक।।
स्यांम न सेत पीत रँग रहता, अगम वार नहिं पारा ।।
जहां तहां सुणै जहां तहां देषै, रहै सकल तैं न्यारा ।।१।।
मुकतै महलि जाइ मन बैठा, गुर किरपा तैं लहिये ।।
उनमनि रहै तिकौ मिलि पेलै, वातां वादि न वहिये ।।२।।
पछिम देस हाट नहिं पाटण, सौदा तहां हमारा ।।
जन हरिदास विणज सिर साटै, विणज विणज मन प्यारा ।।३।।

पाठभेद—रैत-५। येकै-२। प्रम-१। ज्यंद-२।

शब्दार्थ—सत रज तम=त्रिगुणात्मक। रस पांच=पञ्चभूतात्मक रस। एकै डोरि=स्थिरवृत्ति। विगसत=प्रस्फुटित, खिलने पर। मधुकर=मनभ्रमर। उदै अस्त=जन्म-मृत्युरहित। अघ=पाप। जिंद=जीव, प्राण। मुकतै महल=मुक्तस्थान, आत्मनिष्ठ होना। पछिम देस=ब्रह्मदेश, गगनमण्डल। विणज=व्यापार, सौदाकर।

(१७२)

तव मन 'निरमलो रे', जव लागै हरि नांइ ॥
मरमै तौ लागै नहीं, लागै तौ भरमै कांइ ॥टेक॥
रांम भजै विषिया तजै, समझि पिछांणै साच ॥
साच सनेही गोंव्यंदो, अवर सकल सुष काच ॥१॥
मोह दोह ममता तजै, भजै निरंजन देव ॥
सकल वियापी 'सँगि' वसै, आनँद अलष अभेव ॥२॥
अरकरूप आसा मुषी, दीसै सव संसार ॥
जन हरीदास के राम है, 'जीवनि' जगत अधार ॥३॥

(१७३)

संतो ! सतगुर परउपगारी,
भौजलि वह्या जात जव देष्या, तव गुर वांह पसारी ॥टेक॥
मेरा करम काल व्है लागा, तव गुर 'वोषद' लाई ॥
थोड़ा रोग वहुत दारू दे, वेदनि दूर गमाई ॥१॥
आतम कँवल सिंघासण करिहूँ, रतन जड़ाऊँ मांही ॥
तन मन वारि वारि मैं डारूँ, तौ भी ऊरण नांही ॥२॥
उपजी प्रीति परम सुष पाया, तव गुर मिल्या हमारा ॥
जन हरीदास ले चरणां राष्या, मेट्या भरम अँधारा ॥३॥

(१७४)

वीर वटाऊ वा हरिजी सूँ, कहियो रे जाइ ॥
रातड़ियां दूभर भई, मोहि तारा गिणत विहाइ ॥टेक॥

पाठभेद—नृमलो रे-२-५ । संग-५ । जीवन्य-२ । वोषदि-१ ।

शब्दार्थ—निरमलो रे=शुद्ध, वासनारहित । कांई=क्यों । अरक=सूर्य । भौजलि=संसारसागर में । वोषद=दवा, औषधि । दारू=दवाई । ऊरण=कर्जरहित, ऋणमुक्त । वीर वटाऊ=हे भाई पथिक ! दूभर=भारी, कठिन ।

सांवण मास अकेलियां, सेझ न सूतो जाइ ॥
पिव नैड़ो परसै नहीं, मोहि विरह विलंव्यो आइ ॥१॥
रैंणि अँधेरी मैं दुषी, चरण दुरांणा दोइ ॥
तलफि तलफि तन जात है, मेरौ नाथ 'मिलावै' कोइ ॥२॥
विरह मंढ़ी मैं वास है, ताला वेली जीव ॥
जन हरीदास हरि आइये, मेरे परम सनेही पीव ॥३॥

(१७५)

रांम मिलाइलै हां हो, मेरे परम सनेही राइ ॥
वहौतक दिन 'विछव्यां' भया, अब मोपै रह्यौ न जाइ ॥टेक॥
परम सनेही प्रीतमा, सेझ असांड़ी आव ॥
तुम्ह 'कहियत' हौ सोहनां, मुझ तुझ देषणदा चाव ॥१॥
अंतरजांमी आंतरो, नैड़ा वसौक दूरि ॥
'अवला' पीव पावै नहीं, मेरा नैन रह्या जल पूरि ॥२॥
हर दम यहु तन जात है, हम वल कछु न वसाइ ॥
महल पधारो माधवे, जन हरीदास 'वलि' जाइ ॥३॥

(१७६)

सुमरि सनेही आपणौं, जाकी आदि 'अंति' मधि नांहि ॥
सतगुर साच वताइया, मेरा प्राण वसै ता मांहि ॥टेक॥
पांडू 'कृष्ण' समीप था, गल्या हिंवालै जाइ ॥
लोहा कूँ पारस मिलै, तौ क्यूँ कांटी षाइ ॥१॥

पाठभेद—म्यलावे-२ । विछुरयां-१ । कहिइत-१ । बिरहनि-५ । वल्य-२ । अंत-१ । किसन-२ ।

शब्दार्थ—विलंव्यो=लग्यो, उत्पन्न हुयो । ताला वेली=व्याकुल, छटपटाना । असांड़ी=हमारी । सोहना=सुन्दर । चाव=तीव्र इच्छा । गल्या=गल गये । हिंवालै=हिमालय । कांटी=काठा, जर लगना ।

काया क्यूँ गोपी हड़ै, यह इचरज मन मांहि ॥
'अनिन' भगत गोपी नहीं, कै वो करता नांहि ॥२॥
पलक फुरंता जुग फुनां, हरि जुग थापै पल मांहि ॥
छल बल करि हरि क्यूँ लड़ै, समझि पड़ै कछु नांहि ॥३॥
हिरणाकुस रांवण हत्या, जुरासिंध सिसुपाल ॥
जन हरीदास यूँ जाणिये, यहु कालहि ग्रासै काल ॥४॥

(१७७)

सतगुर दिया भेद बताइ, रहै रांम दूजा सब जाइ ॥टेक॥
धरी देह तेता अकार, सो क्यूँ कहिये सिरजनहार ॥
जाकै राग द्वेष कछु व्यापै नांही, सोइ रमतारांम सकल घट मांही ॥१॥
भगति हेत कोई भगत पठाया, आप अगाध इहां नहिं आया ॥
पहरया भेष मिटी भक भूरि, नैड़ा रांम बतावै दूरि ॥२॥
दस 'अवतार' कहो क्यूँ भाया, हरि अवतार अनत करि आया ॥
जलि थलि जीव जिता अवतार, जल ससि 'ज्यूँ' देषौ तत सार ॥३॥
हरि अपार पार को नांहि, साधु जन षेलै ता मांहि ॥
जन हरीदास भजि केवलरांम, निरमल नांव तहां विसराम ॥४॥

(१७८)

गोव्यंद भज मन मांहिला, अब जनि चालै हारि ॥
हरि सुमिरण सब तैं सिरै, हरि भजि निज जन उतरै पारि ॥टेक॥
सतगुर माथै कर धरया, सोवत लिया जगाइ ॥
सोवण की वरियां नहीं, इंहि हटवाड़ै आइ ॥१॥

पाठभेद—अन्यन-२। औतार-५। ज्यौं-१।

शब्दार्थ—हड़ै=लूटे। अनिन=अनन्य, परम। फुरंता=फुरता, स्फुरण होना, क्षणभर में। फुना=फना, समाप्त हो। ग्रासै=खाय। अगाध=अथाह। मिटी भक भूरि=खानपान की चिन्ता मिटी। माहिलां=अन्तरात्मा। बरियां=समय। इंहि हटवाड़े=इसी संसार के बाजार में।

हटवाड़ै विणजी भली, लै रे लाइ लाह ॥
षोटा चुँणि कानै करी, तौ दोसन दै लो साह ॥२॥
साथ सकल लै सावतौ, गगन मंडल मठ छाइ ॥
लूकांई लागै नहीं, आणंद मैं दिन जाइ ॥३॥
मरण नदी जल मत पिवै, पीवत लेइ तुड़ाइ ॥
बूड़ै लौ रे वापड़ा, निकस्यौ वहुड़ि न जाई ॥४॥
सुणि संगी तोसूँ कहूँ, आंधा अपरि न चाल ॥
मन का मूल 'उपाड़िलै', थारै अंतरि ऊँड़ा साल ॥५॥
जन हरीदास हरि गाइलै, अंतरि अलष पिछांणि ॥
मन मधुकर मुकरचौ फिरै, उलटि अपूठो आंणि ॥६॥

(१७९)

प्रीतम प्रांणिया तूँ 'निज', देवल वैठो आइ ॥
निज देवल षोज्यो नहीं, तौ जासी जनम ठगाइ ॥टेक॥
देवल एक षंभ दोइ जाकै, पांच भांति रंग दीया ॥
दस दरवार वहौत्तर छाजा, गली गाँव 'वहौ' कीया ॥१॥
वहौत जतन करि वांणिक वांण्या, ऊपरि कलस चढ़ाया ॥
ए दोइ रतन उजागर दीसै, वहौत भाँति सूँ लाया ॥२॥

पाठभेद—उपारिलै–५ । न्यज–२ । बहु–१ । बहुत–१ ।

शब्दार्थ—विणजी=व्यापार । रे लाइ=हे भोले ! लाह=लाभ । कानै करी=एक ओर, दूर करिये । सावतौ=सामन्त, पूर्ण । लू कांई=किसी तरह का संताप । अपर न=दूसरी ओर, विषयभोग में । ऊँडा=गहरा । साल=घाव । मुकरचो=विमुख ।

पद १७९ का अर्थ—हे प्राणी ! उस प्यारे प्रीतम के पास आकर बैठो । यदि तुमने अपना सही स्थान नहीं खोजा तो यह मनुन्यजन्म ठगाकर चला जायगा । यह एक देवल–देवरारूप शरीर है, इसमें दो पैरों के खम्भे हैं, पांच तत्त्व का रङ्ग है, दस दरवाजे और बहत्तर छज्जे हैं, विविध नाड़ी-स्रोत गलियां हैं, हृदय-मस्तिष्कादि कई गाँव इस देहनगरी में हैं, परमात्मा ने पूरे यत्न से इस शरीर को रचा है, इस देह के सिररूपी कलश चढ़ाया है, नेत्ररूपी दो रत्न हैं, जिनसे सब पदार्थ दिखाई पड़ते हैं ।

ता मैं सागर 'सपत' 'अष्ट' गिरि परवत, नदी निवासै लाई ॥
वसुधा भार अठार गगन फुनि, तीनि सबल ठकुराई ॥३॥
दोइ 'प्रधान' सदा संगि षेलै, तिन गति लषी न जांहि ॥
मूनी एक 'मूनि' गहि बैठा, सो तैं षोज्या नांहि ॥४॥
ता मैं ब्रत चौइस वार तिथि कवला, अगम 'निगम' ता मांहि ॥
गरजै गगन गहर धुनि ऊठै, वेद धुनि होइ ता मांहि ॥५॥
तारा मंडल भौंण भौंणपति, नवूँ नाथ संगि लीया ॥
जोगी एक जुगति सब जांणै, 'सहजि' षोजि सुष लीया ॥६॥
सुर तेतीस बसै ता मांही, तीरथ पुरी सवाया ॥
सेस महेस 'विसन' ब्रह्मादिक, रवि ससि संग लगाया ॥७॥

पाठभेद--सप्त-१-४। असट-२। परधान-३-४। मून्य-२। न्यगम-२। सहज्य-२। विष्न-३-४।

इसमें रसादि धातुओं के सात सागर हैं, ❀ अष्टचक्ररूप पहाड़ हैं, नौ सौ नाड़ियां ही नदियां हैं। इस देहरूपी पृथ्वी में अठारह भार-वनस्पति व आकाश भी व्याप्त है, तीन गुणों की तीन अवस्थाओं की ठकुराई है, मन और बुद्धि ये इस नगरी में प्रधान हैं, इनका जीव के साथ खेल चलता है, इनकी गति आसानी से नहीं जानी जाती। इस देह में एक आत्मा मुनिरूप में मौन लिए हुये बैठा है, उसकी हे प्राणी ! तैंने तलाश नहीं की, इस शरीर में ही एकादशी, पूर्णिमा आदि के चौबीस व्रत, सात वार, पन्द्रह तिथियाँ हैं। वेद-स्मृतियाँ भी इसी में है, हृदयाकाश में अनहद शब्द की ध्वनिरूप गर्जना हो रही है, वहीं वेद के मूल प्रणव-वाच्य ॐकार की भी ध्वनि होती रहती है। तारा मंडल-ब्रह्माण्ड, चौदह लोक और उनके अधिपति तथा नऊँ नाथ-पांच ज्ञानेन्द्रियां चार अन्तःकरण ये सब साथ हैं। इसी देह में आत्मतत्वरूप एक योगी भी विराजमान है जो सब क्रियाओं का ज्ञाता है। इसने सहज व्यापक ब्रह्म को खोज चिर सुख प्राप्त किया। वसुरुद्रादि तथा इन्द्रियाधिपति तैंतीस देवता भी इस देह में हैं, चौंसठ तीर्थ सात पुरी भी इसी में हैं। शेष--प्राण, महेश--तम, विष्णु--सत, ब्रह्मा--रज, रवि-शशि--मन-प्राणादि भी सङ्ग में हैं।

❀ देह में आठ गिरिशृङ्खलाएँ हैं—मेरुदण्ड में सुमेरु, पीठ मध्य हिमालय, वाम स्कन्ध में मलय, दक्षिणस्कन्ध में मन्दराचल, दक्षिण कर्ण में विन्ध्य, वामकर्ण में मैनाक, ललाट के मध्य भाग में पतिशैल, ब्रह्मकपाट में (दशमद्वार) कैलाश पर्वत है।

*इन्द्र कुवेर दांमणि झिलिमिलि, गगन गरजि घण आया ॥
जन हरीदास एक अचरज देष्या, सोइ देवल मूरति षाया ॥८॥

(१८०)

म्हारी आतमा हे रांमसनेही जांणि,
आदि अंति था अब हरि सोई, तूँ तांसूँ वांणिक वांणि ॥टेक॥
जाति वरण कुल नांही वाकै, सो 'निकुला' 'निरधार' ॥
ऊँड़ौ 'अथग' थाह नहिं लाभै, नहीं वार नहिं पार ॥१॥
पार न लाभै निज चिंतामणि, परा परै निज सार ॥
जलधर पवन गगन अरु ज्वाला, वाकै एक सबद् 'विसतार' ॥२॥
सात समंद् धर भार अठारा, सबहिन कूँ हरि पावै ॥
सूनि सनेही सहजै वरषा, उलटी नदी चलावै ॥३॥
उलटी नदी अगम गम नांही, कोई विरला जन जांणै ॥
मन कूँ पकड़ि सहज घरि षेलै, 'पांचौं' उलटा तांणै ॥४॥
निज जन निज चरणां का चेरा, तेउ न जांणै भेव ॥
उलटी सुरति अगम रस पीवे, करै 'अकल' की सेव ॥५॥
सेवा अकल सकल विधि जांणै, वप घट वरणि न जांहि ॥
निराकार निरंजन ऐसै, व्यापि रह्या सब मांहि ॥६॥

पाठभेद—न्यकुला-२। न्यरधार-२। अथघ-१। विस्तार-५। पांचू-२-४। अलष-२।

शब्दार्थ—वांणक वांणि=आढ़त कर, सम्बन्ध बना। निकुला=कुलरहित, परम्परा विहीन। अथग=अथाह। थाह=गहराई का अन्त। सूनि=निर्गुण ब्रह्म। उलटी नदो=बाह्यवृत्ति को उलट अन्तर्मुख करे। पांचो=पांचो ज्ञानेन्द्रियां। अकल=गुण, धम, जाति की कलन से रहित। बप=शरीर, देह।

* जागृत कुण्डलिनी से प्रकाशमय दामिनि--बिजली झिलमिला रही है, ब्रह्मरन्ध्र स्थान में प्राण पहुँचा। महाराज हरिदासजी कहते हैं, उक्त साधन के फलस्वरूप इस शरीररूपी देवल को अभिव्यक्त हुई आत्मनिष्ठवृत्ति ने खा लिया, एक चेतनरूप शेष रहा।

स्यौं सनकादिक रहे निरंतरि, सेस सहस मुष गावै ॥
गोरष हणूँ भरथरी सुषदेव, उलटी सुरति चलावै ॥७॥
सुरति चलावै पार न पावै, थाघत मांहि समाया ॥
व्यापक ब्रह्म ऐसे हम जांण्या, गहणी मांहि न आया ॥८॥
भजि गोपाल अकल अविनासी, हरि 'निरमल' निज सारा ॥
भौ सागर तिरिवे कूँ भेरा, षेइ उतारै पारा ॥९॥
पारि उतारै नरक 'निवारै', सुष पावै निज दास ॥
ज्यूँ हरि गाया त्यूँ सुष पाया, सुष सागर मैं वास ॥१०॥
दास कबीर 'नाम दे' छींपौ, उलटी ताली लावै ॥
अगम अगम करि तन मन षौजै, तन षोज्यां वित पावै ॥११॥
ज्यां तन षोज्या ते घरि आया, उलटि अकल सूँ लागा ॥
जन हरीदास अविनासी भजतां, काल भरम 'भै' भागा ॥१२॥

(१८१)

तुम्ह आवो हो राम तुम्ह आवो, अहो मेरे अंतरजामी देव ॥टेक॥
साथण सषी सहेलड़ी, एक मनी एक तार ॥
पंथ निहारै पीव कौ, मिलिये सिरजनहार ॥१॥
विरहणि विरह विवोगणी, 'दरसणि' कारण पीव ॥
विकल भई विलंवै कहाँ, ताला वेली जीव ॥२॥
अगम गवण गम कौ नहीं, चितवत रैंणि विहाइ ॥
मुष दिषलावो गोव्यंदा, जन हरीदास वलि जाइ ॥३॥

पाठभेद—न्यरमल-२। नृमल-४। न्यवारै-२। नामदेव-१-५। भय-१। दरसण-५।

शब्दार्थ—थाघत=थाह लेते, अन्त लेते। गहणी मोहि=पकड़ में, वश में। साथण=साथ देने वाली। सहेलड़ी=सखी। विलंवै=अटके, रुके।

(१८२)

वसत विडांणी रे जिवड़ा हरि सगौ, हरि सुमरै क्यौं नांहि ।।टेक।।
नरपति भौपति दरि षड़ा, ढाल धुजा फहराइ ।।
अवधि वदीती सँगि को नही, ऊठि अकेलो जाइ ।।१।।
हैदल गैदल संगि चलै, पर दल जीतै राड़ि ।।
माल मुलक ज्यूँ का त्यूँ रहै, अंति चलै कर झाड़ि ।।२।।
सिरि छत्र सिंघासण वैसणां, ऊँचा ऊँचा महल अवास ।।
या 'सुषि' हरि सुष वीसर्यौ, ता तैं तेरो जमपुर वास ।।३।।
परम सनेही 'प्रीतम' आपणौं, जीवनि जगत अधार ।।
जन हरीदास हरि गाइलै, हरि सकल सुषां सिर सार ।।४।।

(१८३)

रातड़ी सवाइ हो रामजी वह गई, पल पल छीजै हो गात ।।
करणां सुणि करणांमई, महलि पधारो हो नाथ ।।टेक।।
सव मतिवाला हो रांमजी सव छक्या, नींदड़ी न आवै हो मोइ ।।
मेरी वेदन रांमजी जांणि है, कै जिसि वेदनि होइ ।।१।।
यहु तन यूँ ही रांमजी जात है, हम वल कछु न वसाइ ।।
परमसनेही रांमजी 'तुम्ह' मिलौ, हरि सकल भवन पति राई ।।२।।
चरणां चौकी रांमजी चित 'धरूँ', आतम सेझ सँवारि ।।
नैन लुभानां रामजी प्रीति सूँ, दरसौ देव मुरारि ।।३।।
जन हरीदास रांमजी यूँ वीनवै, मेरा नैनन षंडै हो धार ।।
दरस दिषावौ रांमजी आपणों, हरि समथ सिरजनहार ।।४।।

।। इति राग धनाश्री सम्पूर्ण ।।

पाठभेद—सुष-५ । प्रीतमा-४-५ । तुम-५ । धरौं-१ ।

शब्दार्थ—विडांणी=औरों की, दूसरों की । दरि=दरवाजे, हाजिर । अवधि=नियत समय, आयु । वदीती=बीती, समाप्त हुई । हैदल=घुड़सवारों की सेना । गैदल=हाथियों की फौज । राड़ि=लड़ाई, युद्ध । अवास=आवास, रहने का स्थान । षंडै=खण्डित करे, सीमा को तोड़कर बहे ।

॥ अथ आरती ॥

(१८४)

आरती जग जीवण देवा , आतम अगर निरंतरि सेवा ॥टेक॥
चित चौकी हरि चरणां धरिहूं , 'आत्म' कँवल सिंघासण करिहूँ ॥
दीपग ग्यांन सबद उजियाला , पांचू पहौप सुरति की माला ॥१॥
प्रीति परस स्यौ चंदन लाऊँ , प्रेम कलस ले कलस वधाऊँ ॥
सूँधौ साच ग्यांन गहि झारी , वहौ विधि चरचौं देव मुरारी ॥२॥
'निरमल' नेह चँवर करि झनकै , गगन मंडल मैं झालरि ठनकै ॥
जन हरिदास भया मन मंजन , आतम आरती करै निरंजन ॥३॥

×

अविचल आरती अवगति तेरी , रामसनेही 'जीवनि' मेरी ॥टेक॥
'जोनी' जनम जुरा नहिं जाकै , वरण न वप रूप नहि ताकै ॥
अकुल अतीत सकल घट माँही , अपरंपार प्रमति कछु नाँहि ॥१॥
असंग अभंग अरंगी रामां , पूरणब्रह्म परम सुष धामां ॥
अगम अगाध वार नहिं पारा , सो पति मेरे प्रांण अधारा ॥२॥
रमतारांम सुमरि मन मांही , कलिविष 'सहजि' सबै मिट जांही ॥
जगिमगि जोति सकल परकासा , प्रेम प्रीति गावै जन हरिदासा ॥३॥

(१८५)

तेरी आरती हो अलष निरंजन राइ, हो नाथ निरंजन राइ ॥
स्यौ 'विरंच' पार नहिं पावै , सेस सहसमुषि गाइ ॥टेक॥
धरती अंबर तैं रच्या , चंद सूर मधि कीव ॥
पावक पवन अंब हरि किया , लष चौरासी जीव ॥१॥

पाठभेद—आतम-२ । नृमल-४-५ । जीवन्य-२ । जूनी-१-२ । सहज्य-२ । विरंचि-५ ।

शब्दार्थ—पांचौ पहौप=पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ ही पुष्प हैं । सूंधौ=इत्र । वप=शरीर । प्रमति=प्रमाण, माप । स्यौ=शिव । अंब=पानी ।

आप निरंजन वप धरै, 'भगति' हेत हरि आइ ॥
अनंत रूप अवगति अविनासी, तुम गति लषी न जाइ ॥२॥
अनंत भवन करि ऊथपै, करण मतै सोइ होइ ॥
तुम बलिवंत जीव सब 'निरबल', पार न पावै कोइ ॥३॥
सुर नर सब जै जै करै, अगम कहत है वेद ॥
निराकार घणनांमी, तुमगति कोई न पावै भेद ॥४॥
अधम उधारण हम सुनें, अब कै है भल डाव ॥
जन हरिदास जगत गुरु स्वामी, दीजै भगति पसाव ॥५॥

॥ इति आरती सम्पूर्ण ॥

॥ अथ राग सौरठी ॥

(१८६)

वासुर जाइ रे निसि आइ पहूंती, निहरौ रौह निरदावै ॥
हरि भजि सैंण वैंण सुणि विक्रत, वलेन यहु छक आवै ॥टेक॥
तजि तिण रूप पिजै कांइ षड़चर, परिहरि विषै सगाई ॥
घट छूटां दुष सहसी फीटा, रांम सुमरि सुषदाई ॥१॥
रे रिणमोड़ फिरै काँई रूठो, रूठां किम रंग रहसी ॥
अब कांई कर जन आपै काल्हा, वलेज यहु दुष दहसी ॥२॥

पाठभेद—भगत-५ । न्यरबल-२ । नृबल-३-४ ।

शब्दार्थ—ऊथपै=स्थापित करे । घणनांमी=अनेकों नाम वाला । पसाव=इनाम, बक्सीस । वासुर=दिन । निहरौ=समीप, नजदीक । विक्रत=विकारी, पापी । वलेन=फिर । षड्चर=पशुवृत्ति । फीटा=निर्लज्ज । रहसी=रहेगा । काल्हा=बेसमझ, गलती करने वाला ।

आई साष षरच मां षोटा, कण कण कांइ षिंडावै ॥
पांच पचीस प्रांण मन मनसा, दे लै कांइन षरि 'नावै' ॥३॥
सील संतोष 'सति' दया सबूरी, इंण अवसरि इम कीजै ॥
जन हरीदास सति मनसा वाचा, रसनां रांम रटीजै ॥४॥

॥ इति राग सोरठी सम्पूर्ण ॥

॥ अथ राग सीधू ॥

(१८७)

ग्यांन वड़ राज मन साहि साचै मतै, सुमरि हरि निडर निज नांव पाया ॥
ग्रासि गुण ग्राह भंजि रांम जरणा जड़ी, सोइ मा ग्रासि है काल काया ।टेक।
गाइ गोपाल 'किरपाल' करणामई, अकल अरुप उरि ध्यांन धारूँ ॥
संत भै रिपहरण निपट 'निरभै' करण, रांम छाड़ूँ नहीं छाड़ि हारूँ ॥१॥
गहर भै भीत त्रिष्ना नदी 'तषि' वहै, अनंत आगे वह्या मित नांही ॥
साध आकास मैं अटकि उलटा चढ्या, प्रांण मन सुरति आकास मांही ।२।
समद संसार जल सुजल 'तिरिवो' कठिन, जन हरिदास निति नेम हरिभजन कीजै
परम उदार करतार 'समथ्र' धणी, नाथजी हाथि गहि राषि लीजै ।३।

(१८८)

कांम झल हेति सांसै पसु वहि गया, कोई वैद मिलियो नहिं सबद सांचो।
आंषि फूटी अघट अवर दिसि ऊघड़ी, अरथि आंजी नहीं आंनि रातौ ।टेक।

पाठभेद—आवे-५। सत-२। क्रिपाल-१-५। न्यरभै-२। तटि-५। त्यरवो-२। समरथ-१।

शब्दार्थ—षोटा=बुरा। षिडावै=बिखेरे। गुण=त्रिगुण, सत-रज-तम। मित नांही=संख्या नहीं, पारावार नहीं। अटकि=मन-इन्द्रियों को रोक। झल=ज्वाला। पशु=अज्ञानी मनुष्य। वैद=सतगुरु। सबद सांचो=ब्रह्मउपदेश। अघट=चेतन। अवर दिसि=विपरीत दिशा में। ऊघड़ी=खुली। अरथि आंजी नहीं=स्वस्वरूप देखने का अंजन नहीं लगाया।

त्रिवधि तिण रूप मेर हरि बिच मँड्यो , षंभ दोइ सांकलां जड्यौ जोवै ॥
परम निधि भेद मध माध लाधौ नहीं , मूल पसु 'आपकौ' आप षोवै ।१।
रोग मैं रोग अघ रोग दारण दहै , कुवधि कांटै कल्यौ सुवधि नांई ॥
काच सू परसि निज साच न्यारो रह्यो , भेद तजि 'भरम'जलि धस्यौ धाई ।२।
×रोग तोड़ै तिको एक सूँ एक व्है , 'नांव' तौ निज जड़ी निकट जांणै ॥
जन हरिदास भजि रांम मन मैल राषै नहीं, सुरति संसार मैं उलटि तांणै ।३।

(१८९)

गुर पीर बिन नीर की परष लाभै नहीं , सीर निज निज 'भगति' परस जीवै ॥
गगन चढ़ि सींचवो पछिम दिसि वावड़ी, उलटि सींचै तिकौ साध पीवै ।टेक।
सुरति की डोरि सजि अगम घरि षेलिवौ, अगम घरि षेलि निज कँवल फूलै ॥
सुँनि मैं साच निधि कँवल उलटि सुलटि, गहरि मति ग्वालणि गोपि भूलै ।१।
अरक घरि तरक तजि समंद सुत समि करै, द्वादसी छाड़ि दिसि एक ध्यावै ॥
पैसि पाताल मैं अगम जल आंणिवा , सहज धरि आतमा वेलि पावै ।२।
आप मैं अलष लषि उलटि षेलै नहीं , प्रीति परवांण निज प्रेम चाषै ॥
जन हरिदास निजरूप निरवांण निरमलकथा, प्रांण 'असथांन' निज सुरति राषै

(१९०)

निज भगत सदा निज रूप निरषत रहै , अकल अलगो नहीं सकल मांही ॥
सकल सुषसामर अगम अंतरि अगहि , ऊगि वरतै तिकौ अगम नांही ।टेक।

पाठभेद—आपरौ–२-३ । भ्रम–५ । नाई–१ । भक्त–५ । अस्थांन–१ ।

शब्दार्थ—त्रिवधि=त्रिगुणात्मक । षंभ दोइ सांकलां जड्यो जोवै=अहङ्कार के खम्भे में राग-द्वेष की सांकल से बँधा हुआ देखता है । रोग मैं रोग=जन्ममृत्युरूप । अघ=पाप । कल्यौ=फँसा हुआ । भेद तजि=द्वैतबुद्धि को छोड़ । भ्रम जल=संशय के पानी में । धस्यौ धाई=दौड़कर प्रवेश किया । परष लाभै=पहचान मिले । गगन चढ़ि=दशमद्वार में पहुंच कर । पछिम दिसि=सुषुम्ना मार्ग । निज कँवल=आत्मकमल । अरक घरि=इड़ा । समंद सुत=मन । द्वादसी छाड़ि=अनेक विषयों में जाना, वारहवाट होना । पैसि पाताल मैं=नाभिकुण्ड में पहुंच कर । ऊगि=उदय हो, उत्पन्न हो । वरतै=अस्त हो, विलीन हो ।

× वही साधक जन्म-मरण के रोग से मुक्त होता है जो व्यापक एक चेतन ब्रह्मतत्व से एकमेक हो जाता है ।

सति सदा आप आकार सौ सत नहीं , परम निज सार सो सकल सांई ॥
'और' पंषी तिकौ ठौड़ पावै नहीं , अनल पंषी रमै उरवार मांही ।१।
अकल तरवर तिकौ सकल जग ऊपरै , डाल विन मूल विन सदा छाया ॥
आइ जावै तिकौ समझि मन सति नहीं , रूप धारै तिती सकल माया ।२।
सकल वियापीक सति परस पति आपणौं, गगन असथांन मन उलटि लाया ॥
जन हरिदास'परकास'पांचौ पिसण'परजल्या',धरचा मैं अधर घट निकट पाया ॥

(१६१)

सुमरि मन रांम सतिरूप सम्रथ धणीं , भजसि भगवंत भव सिंध भारी ॥
जांणि जगदीस सव ईस अवसर इहै , 'विवधि' बहु फंध काटै मुरारी ।टेक।
साहि गुर ग्यांन जिव जागि नैड़ी जुरा , जांणै तौ जोर करि कांइ सोवै ॥
इसौ हीरा जनम वले वहौड़ि लाभसी नहीं, काच सूँ लागि कण कांइ षोवै ।१।
प्रांण परवांणि सिरि मौत मोटी विथा , काल वटपाड़ नित घात हेरै ॥
कलित परिवार सुत सकल स्वारथ सगा, आदि संगी सदा रांम तेरै ।२।
वँवलतर छांह कांटा घणां कांमना , रचसि मा रहसि अटि धार मांही ॥
जन हरिदास हरि हेर मन फेरि भरमै कहा, निजरि भरि देष हरि दूरि नांही ।३।

(१६२)

काल जम जाल की चोट जोरै वहै , मारीजै मीर कछु संक नांही ॥
तास भै कांपि निज नांव हरि चित चढ्यौ, रहै निज नांव निज सुरति मांही ।टेक।
राव रांणां गहै जोर कोई ना रहै , 'सहजि' साझै सकल अकल चेड़ौ ॥
काच कांनै कियौ साच सहजै लियो , भजो रे भलो निज नांव नेड़ौ ।१।

पाठभेद—अवर-१ । प्रकास-१-५ । प्रजल्या-१-४ । विविध-१ । सहज्य-२ ।

शब्दार्थ—उरवार=आकाश के अन्तर्भाग में । काच सूँ लागा=माया-मोह में उलझा । कण कांइ षोवैं=मनुष्यजन्मरूप हीरा क्यों गँवाया ? काल वटपाड़=कालरूप डाकू । वँवलतर=संसार बबूलवृक्ष है । रचसि मा=आसक्त मत होना । जोरै वहै=वेग से, प्रवलता से बहती है । मारीजै मीर=बड़े-बड़े शूरवीर मारे जा रहे हैं । चेड़ो=चेटक, भूतप्रेतादिक लग जाना । काच कानै कियो=काचरूप सांसारिक पदार्थों से मन को हटाया ।

अकल की आस धरि आंन सब दूरि करि, सकल सांसौ मिट्यौ साच पायौ ।।
ता साच की वोट निज दास निति ऊबरया, राषि साचा धणी सरणि आयौ ।२।
भगत की भीड़ हरि आप आतुर करै, प्रीति पूरै सदा कांम सारै ।।
जन हरिदास हरि नांव कौ तत षरौ चितचढ्यौ, रांम प्रहलाद'ज्यूँ'प्रीति'पालै' ।

(१६३)

रांम भजि रांम भजि जुग काल पाञौ,
मन देषि रे देषि छक भलो लाधौ, इसौ औसर वले वहौड़ि लाभसी नहीं ।।
सौहड़ सीधड़ चढ़ै छत्र मसतग धरै, निज नांव परतीति हरि निकट नांही ।।
अजर की चोट नरपति छत्र मारिया, पड्या भूपाल धुक धरणी मांही ।१।
जाकै सीसदस वीसभुज कोटलंका जिसो, समद झिलिमिलि करै सवल षाई ।।
तिकौ दसरथ सुत रांमचंद्र मारियो, काल की चोट मैं सकल आई ।२।
इन्द्र की क्या कहूँ 'बहौत' ब्रह्मा डरै, करै करणां कहै काल मारै ।।
जन हरिदास निज भगत कवीर नांमा जिसा, सवल की वोट नहीं काल मारै ।३।

(१६४)

जाति कौ भेद पणि सकल ऊपरि भयो, राम रंग रंग्यौ रंगि 'भलौ' रातौ ।
दास कवीर जमलोकि जावै नहीं, अलष रस पीवै मसतांन मातौ ।।टेक।।
चोट सूँ चोट षिसि षेत चाल्यो नहीं, पांच परवल पिसण मारि लीया ।
अकल की वोट जम चोट लागै नहीं, उलटि का पुलट रस भला पीया ।१।
साध की चाल सुँणि सकल सांमो मिट्यो, कह्यौ त्यूँ रह्यौ कछु संक नांही ।
आंन की आस विसवास वाधौ नहीं, रह्यौ 'पण' रह्यौ रमि रांम मांही ।२।

पाठभेद—ज्यौं–१ । पारै-३-५ । बहुत–१ । भलै–१-५ । पिण–१ ।

शब्दार्थ—आतुर=तेजी से, उतावलेपन से । सौहड़ सीधड़ चढ़ै=हाथी-घोड़ों पर चढ़े । धुक=धड़ाक से । रातौ=लग्यो । चोट सूँ चोट=आघात, वार-पर-वार । षिसि=सरककर, चलकर । षेत=क्षेत्र, कर्मभूमि । पांच परवल पिसण=पाँच इन्द्रियाँ जो प्रवल लुटेरों जैसी थीं । अकल की वोट=परब्रह्म की ओट-सहारे पर ।

जल मैं कँवल पण नीर भेदै नहीं, जगत मैं भगत इम रहै जूवा।
जन हरिदास हरि समद मैं वूँद कवीर जन, समद मैं वूँद मिलि एक हूवा ॥३॥

(१९५)

ग्रहड़ौ थकौ रांम गुण गावै, दूजी दिसा लियो मन तांणि ॥
एक दिसा निरभै व्है लागौ, नाँमौ नरहरि कै दीवांणि ॥टेक॥
माया दल देषि न डरियो छींपो, ग्यान षड्ग वलि 'कीधी' चूरि ॥
हरि रस पीवै अडिग मन अवधू, अनहद वेणि वजावै तूरि ॥१॥
मन का नास करो मति कोई, नामैं मन पलट्या दस दीप ॥
उलटि सुरति 'अकल' रस पीवै, निज तत निरषत रहै समीप ॥२॥
सब तैं अगम अडिग निज लाधौ, अंतरि उलटो आवै नांहि ॥
जन हरीदास नाँमैं निज दीठौ, सो नूर विराजै 'नैंना' मांहि ॥३॥

(१९६)

मोटि मैं मेरस फेरिकै हूवौ, हरि मोट मैं वीजो कोई नांहि ॥
चवदै 'भवन' 'गवन' गुण ग्रामी, उपति षपति सकल हरि मांहि ॥टेक॥
समद अथाह तिकौ नर थाघै, हरि अथाह थाघियौ न जाई ॥
कोइ थापै अथघ अगम घरि षेलै, निज तत निरषत रहत समाई ॥१॥
×गगन अगम गोव्यंद गम जांणै, गोव्यंद गम कोई लहै सु साध ॥
उलटौ षेलि अकल रस पीवै, परसै अवगति अगम अगाध ॥२॥
मन उनमनि निकटि निधि जोवै, सुरति सँवाहि गहै मन 'पौंन' ॥
जन हरीदास अवगति गति ऐसी, भेद अभेदी लहै स 'कौंन' ॥३॥

पाठभेद—कीधा–४-५। गगन–५। नैंणा–१-३। भवण–१-२। गवण–१-२। पौंण–१। कौंण–१।

शब्दार्थ—ग्रहड़ौ=गम्भीरता से, मस्त होकर। तांणि=तानना, खींचना। कीधी चूर=चूर्ण कर दिया। अवधू=निस्पृह। दीठौ=अपना रूप देखा। थाघै=थाह ले। पौन=प्राण। अभेदी=स्व और पर भेद से रहित।

× आकाश अगम है, इसका गम गोविन्द को है। गोविन्द की जानकारी कोई श्रेष्ठ साधक ही कर सकता है।

(१६७)

सांवत 'सोहड़' सूर सति सनमुषि , रांम तणां 'वोलिगाणां ॥
आवध सार टोप सिरि सुमिरण , कांकड़ि आइ मँडाणां ॥टेक॥
पैली फौज घटा घण घरहर , अरि आतुर भल होड़ा ॥
साध मलाज रांम भजि मांजै , टिकि टिकि सकैस थोड़ा ॥१॥
पांच पचीस मोह दल माया , कांम क्रोध दल पूरा ॥
पड़कै सेल षड़ा षड़ि षसतां , वाजै अनहद तूरा ॥२॥
'गुरजि' 'नालि' गोला सर छूटै , कमध उपाडै थांणा ॥
षागि षिवैं ज्यूँ आभै दामणि , काइर कटक उडांणा ॥३॥
मन गहि पवन पलटि पहिराषै , आछा अमल चहौड़ै ॥
जन हरिदास मानि ममता तजि , यौं मेवासा तौड़ै ॥४॥

(१६८)

गोरषनाथ तुम्हारी गति मति , कोई सुर नर मुनि नहिं जांणै ॥
जांणै सिध साधक अर अलष निरंजन, गोरष मुनि सुधारस मांणै ॥टेक॥
जीत्या भरम करम करि कांनैं , गगन चढ्यो रस पीवै ॥
जा मांही मिलि छांटौ 'रालै' , सो मिरतग सति जीवै ॥१॥
जांणै जोग भोग नहिं जांणै , नाथ इसी विधि षेलै ॥
जन हरीदास गोरष सति सनमुषि , अमी महारस झेलै ॥२॥

॥ इति राग सीधू सम्पूर्ण ॥

पाठभेद—सुहड़-१ । उलगांणा-१ । गुरज्य-२ । नाल्य-२ । डारै-३-४ ।

शब्दार्थ—सोहड़=हाथी । वोलिगाणां=पहचानवाला । आवध सार=सारग्राहीपने का आयुध शस्त्र है । कमध=कमन्द, भूंभार । षाग=षड्ग । षिवै=चगकै । आभै=बादलों में । दांमणि=बिजली । चहोड़ै=पीवे, चुश्की ले । मेवासा=गढ़, किला । रालै=डाले, फेंके । मिरतग=मरा हुआ ।

॥ अथ राग रेषता काफी ॥

(१६६)

सइयां उलटि देषि हजूरि,
औजूद मैं मौजूद मीरां, कहां षोजै दूरि ॥टेक॥
निकटि 'निज' निधि तिरण तारण, निज सुरति तहां पूरि ॥
दिल मांही मक्का इहै मथुरा, पांच परवल चूरि ॥१॥
मही मुरतिव गरद गाफिल, साहि क्या सुलतांन ॥
हरदम हजूरि सँभाल निसदिन, दरद सूँ 'दीवांन' ॥२॥
*चुस्त चसमां उरध अन्तरि, गरब 'गस्त' निवांरि ॥
हैस हाजरिं अगम यारां, आसिकां दीदारि ॥३॥
×दरबार दोजिग गरक गुमरां, मनी मारै मीर ॥
+मिहरिका मकसूद 'एही', पड़द पौसे पीर ॥४॥
=दिल सदा स्वाफी कहर कमकरि, पीव सदा सँगि सोइ ॥
जन हरिदास आसा काटि पासा, 'भिसति' षेलौ कोइ ॥५॥

पाठभेद—न्यज-२। दीवांण-१। गसत-२। येहो-२। भिस्त-५।

शब्दार्थ—औजूद=शरीर में। मौजूद मीरां=परमात्मा मौजूद है। पांच=पाँचो ज्ञानेन्द्रियां। मही=पृथ्वी, राज्य। मुरतिव=लवाजमा, साजसज्जा। गरद=धूलवत्, तहस-नहस। गाफिल=असावधान। दरद=विरह-वेदना। दीवांन=पागल, स्वामी। हैस=है, सत्य है।

* नेत्र जो वाह्यरूप देखने में ही रहते हैं, उनको मजबूती से बन्द कर अन्तर देखने में लगा। अभिमान और गुस्से को दूर करो।

× जो गुमराह है—गलत रास्ते में गरक है, वह नरक के दरवाजे पर खड़ा है। मनी—अहङ्कार बड़े-बड़े मीर—शाह-सुल्तानों तक को मारता रहता है।

+ मिहरि—मेहरबानी का लक्षण यही है कि वह परमपिता अपने भक्त की पर्दे से ही सहायता करता रहता है।

= दिल को सदा निर्मल रख, क्रोध का निवारण कर। अपने स्वरूप के नित्य सानिध्य में रह। महात्मा हरिदासजी कहते हैं कि वासना की फाँसी काटकर भिसति—स्वर्ग में कोई भी आनन्द का उपभोग कर सकता है।

(२००)

सइयां दुरसि है दीदार,
सैतांन का सिर तोड़ि निरभै, षेलि ष्याली यार ॥टेक॥
अरवाह मैं मन आंणि उलटा, हैस हाजरि होइ ॥
एक सूँ मिलि षेल षुसमति, कहैर कांटा षोइ ॥१॥
सिर 'न्वाइ' परसि कुराँन काविज, वैसि पढि दिल माँहि ॥
तहाँ षालिक षलिक पूरिक, 'षुदी' षालि जाँहि ॥२॥
रूह राजे रब रस रुचि, गहर गुण गलताँन ॥
हैस हाजरि अगम याराँ, मोमिनाँ सुलताँन ॥३॥
पीर मुरसिद एक आसण, अरस परसै दोइ ॥
जन हरिदास पिवसूँ ष्याल परगट, सहज सिजदा होइ ॥४॥

(२०१)

मेरै एक तूँ रहमाँन,
मकसूद मेरा प्रीति तुझसूँ, 'और' सूँ क्या काम ॥टेक॥
तूँ था सदा भी सदा रहसी, निकुल तूँ निरधार ॥
और सब आधार तेरे, तूँ पाक 'परवर' दिगार ॥१॥
बे षुदि बे आदि बेगम, अजर अचल अचाल ॥
चिदानंद अरूप अवगति, षबरि दाराँ ष्याल ॥२॥
तूँ अकहि सब कहि सुँणत है, कहै तैसा नाँहि ॥
जन हरिदास अमर अलेष निरभै, तूँ षेलि ता सुष माँहि ॥३॥

पाठभेद—नाइ–१ । षुसी–५ । अवर–१ । प्रवर–१-५ ।

शब्दार्थ—दुरसि=कठिन, दुर्लभ । दीदार=दर्शन । सैतान=चञ्चल मन । अरवाह=अन्तःकरण । कहैर=कालका । षालिक=परब्रह्म । षलिक=संसार । षुदी=अहङ्कार । रूह=आत्मा, जीव । रब=परमात्मा । मुरसिद=मुरीद, भक्त, शिष्य । सिजदा=प्रार्थना । मकसूद=खास । निकुल=वंशविहीन । षबरिदारां=सावधानी से, होशियारी से ।

(२०२)

क्या कहूँ रब कछु कहत न आवै ,
हूवा सो जाइगा जाइ सो सति नहीं , अलाह आले मैं रह्या रहावै ।।टेक।।
रिजक राजिक रजा षलक षालिक-षुसी, है तिसा हैस जाँणै न कोई ।।
यार का यार दीदार याराँ दसत ,नूर निरसिंधि निज रूप सोई ।।१।।
'जिंद' में जिंद अरवाह मैं 'एक' तूँ , सकल भरपूरि निज दूर नांहि ।।
वंदगी छाड़ि वंदा कहाँ ऊवरै , मगन मसताँन तस नूर मांहि ।।२।।
निजर भरि काइमा देषि कलमा इहै , सेज सुक्राँन सो सकल सांई ।।
जन हरिदास दिल वारि उरस दिल आँसकाँ,षूब दीदार निज महल माँहि ।३।

(२०३)

तेरे सोष का सुष मोहि ,
नैंन भर निज नूर देखूँ , मै न छाडूँ तोहि ।।टेक।।
साँई सेज आया मुझ भाया , प्रीति का उरिहार ।।
इसक तेरा रहौ मेरे , यार तूँ दिलदार ।।१।।
सूरति मेरी वारि फेरी , जिंद मैं घर छाइ ।।
षोलि घट पट देष नैंना , रहूं उरि लपटाइ ।।२।।
मिहरि मालिक षवरि षालिक , परसताँ भै पार ।।
मारि गोता दरस पाया , उरस मैं दीदार ।।३।।
महरवांन दीवान दाना , जहांस तहां सुष आज ।।
जन हरीदास कै सुष रहो तेरा , 'और' सुष सूँ लाज ।।४।।

पाठभेद—ज्यंद-२ । येक-२ । अवर-१ ।

शब्दार्थ—दसत=हाथ में । जिंद=जीव । सुक्रांन=सुखधाम । दिलदार=परम-प्रिय । मिहरि=मेहरबानी, कृपा । उरस=हृदय में ।

(२०४)

'अलाह' आव यारां यार,
इसक है वेहाल व्याकुल, दरस द्यौ दीदार ॥टेक॥
इसक़ तेरा जिंद मेरा, जाइ यहु तन जाइ ॥
तुम्ह जांणते हो कहूँ कासूँ, कब मिलोगे आइ ॥१॥
फ़रक फ़ारिक तरक दुनिया, है तुसांड़ा चाव ॥
सेफ मेंड़ी आव सइयां, सीस पर धरि पाव ॥२॥
अलाह आले विरह जाले, विरह घाले घाव ॥
जन हरिदास कूँ दीदार दीजै, षूव षालिक आव ॥३॥

(२०५)

दुनिया दुरसि भूली दीन,
वा षसम की कछु षवर नांहीं, और की आधीन ॥टेक॥
एक जलेषां का जाप जांणै, आदमॉ असथान ॥
एक पीरां सईदां जाइ लागा, ऐसा सा कछु ग्यांन ॥१॥
इक जड़ी वूँटी धात पाषंड, इष्ट भैंरूं वीर ॥
सुरति सुलटिन चढ्या उलटा, वहि गया तलसीर ॥२॥
एक तंत मंत उड़ंत आगम, सुरति दह दिसि पूरि ॥
जन हरिदास तिनकूँ 'भिसत' कैसी, रह्या षालिक दूरि ॥३॥

(२०६)

वंदे वंदगी हुसियार,
जोर कर भी जेर 'होइगा', वहौत षाइगा मार ॥टेक॥
भूलिगा भै फूलि वैठा, जहां स तहां जम त्रास ॥
काल नटकै हाथि डोरी, कंठ वँध्या कपि ज्यूँ पास ॥१॥

पाठभेद—अलह–१ । अल्है–५ । भेस्त–४-५ । व्हैगा–१-५ ।

शब्दार्थ—वेहाल=बुरी हालत, दुर्दशा । फारिक=निवृत्त, मुक्त । तुसांडा=तुम्हारा । मेंडी=मेरी । जलेषां=एकपीर । सुलटि न=सुलझी नहीं । तलसीर=नीचा, रसातल में । तंत मंत=तन्त्रमन्त्र । भिसत=स्वर्ग । जेर=हैरान, परेशान, दुःखी ।

पालट्या पुर पिसुण पहुँता , गुण ग्रास गोव्यंद गाइ ॥
हरि नांव लै मन छाड़ि मैं तैं, जनम जूवा जाइ ॥२॥
सोर दह दिसि जोर लागा , तूटि है गढ़ देह ॥
जन हरिदास जोगी जागि जुध करि, रांम आवध लेह ॥३॥

॥ इति राग रेषता काफी सम्पूर्ण ॥

॥ पद भाग समाप्त ॥

॥ अथ कवित्त छप्पय ॥

तुम्हस तीरथ तुम्ह वरत , तुम्हस पौरष सवलाई ।
तुम्हस बंधु तुम्ह बाँह , आंन चित अटै न काई ॥
तुम्हस मात पिता परिवार , तुम्हस सज्जन सुषदाई ।
तुम्हस ग्यांन तुम्ह ध्यांन , रांमजी राम दुहाई ॥
अगम वस्त अंतर अगह , कलविष काटण तापती ।
जन हरीदास कै एक तूँ , आंन न जांचू वापजी ॥१॥

×

गुर दीरघ 'ज्यूँ' मेर , समंद ज्यूँ थाह न कोई ।
मति गंभीर ज्यूँ गगन , चंद ज्यूँ सीतल सोई ॥
सम 'दिष्टी' ज्यूँ सूर , पवन ज्यूँ लिपै न लोई ।
वसुधा ज्यूँ मन धीर , परम संगी गुर सोई ॥

पाठभेद—जिम–१ । द्रिष्टी–४ ।

शब्दार्थ—पुर=नगर, कायानगरी । पिसुण=चोर-लुटेरे । राम आवध=ईश्वर-चिन्तनरूपी शस्त्र ग्रहण कर । अटै=अटके, लगे । ज्यूं मेर=सुमेरु पर्वत की तरह । लिपै=लिप्त हो ।

जन हरीदास गुरगम अगम , कहत न आवै क्या कहूं ।
गुर गोव्यंद चरणारविंद , भाइ विंट लागा रहूं ।।२।।

×

जहां सागर सलिता नांहि , पवन गिर प्रथमी नांहि ।
वरण नहीं वैकुंठ , विघन कौतूहल नांहि ।।
वप घट नहीं विचार , करम भै भरमैं नांहि ।
'रवि' ससि 'द्यौस' न राति , तिमर ताराइण नांहि ।।
व्यापै सीत न धूप , गगन वसुधा फुनि नांहि ।
जन हरीदास सब तैं अगम , तास गम कोइ विरला लहै ।।
दीवान इसा जाचू नहीं , एक मम दीवानस 'और' है ।।३।।

×

अवगति गति कौ लहै , कौंण गैणांइर मापै ।
कौंण मेर कूँ तौलि , थापना उलटि थापै ।।
कौंण समद जल तिरै , कौंण गुर याह मति आपै ।
ब्रह्म 'अगनि' मैं पैसि , कौंण सिध अंतरि तापै ।।
जन हरीदास पूरणब्रह्म , नहिं नैडा नहिं दूरि ।
कीमत कहि कहि कहि अकह, हरि जहां तहां भरपूरि ।।४।।

×

जोग जिग असमेद , सीस गहि ईस चढ़ावै ।
पांच अगनि तप सिला , करौ ऊभा तप भावै ।।

पाठभेद—रिव–१-३ । दिवस–१ । अवर–२-३ । अग्नि–१ ।

शब्दार्थ—भाइ विंट=भावना सहित । ताराइण=तारामण्डल । तासगम=उसकी ठीक जानकारी । गैणांइर=समुद्र, गणितज्ञ । अकह=अकथनीय । असमेद=अश्वमेध यज्ञ । करौ ऊभा=हाथ ऊँचे किये हुए ।

अंव विवर तन सीत, सुतौ सब तीरथ न्हावै ।
कासी छाड़ै देह, हेम वसि हाड़ गमावै ॥
विवधि धरम तपस्या विवधि, फल भुगतै परदुष सहै ।
जन हरीदास हरि नांव विण, नर कहि कौण वोट निरभै रहै ॥५॥

×

अगम 'तीरथ' गुर गम सुगम, अगम तपस्या जिग जोग विचारौ ।
एकादसी अगम, अगम नांव नरहरि न विसारौ ॥
संत सूरातन अगम, अगम गुर ग्यांन उरि धारौ ।
गंग जमन मधि वैसि करि, अगम 'वस्त' अंतरि लहौ ॥
जन हरीदास निरभै मतै, तहां उनमनि लागा रहौ ॥६॥

×

लोक लाज पष भेष, तहां मिलि जनम न हारौ ।
रांम नाम उरि धरौ, पाप जन 'परन' पसारौ ॥
'भौ' सागर वार पार मधि नांहि, घट घाट तजि अघट विचारौ ।
परम ग्यांन पर ध्यांन हरि, निज नाथ नर निमष न विसारौ ॥
जन हरीदास इंद्री अटकि, पिसुण पलटि 'परमगति' लहौ ।
अगम वस्त अंतरि अगहि, तहां उनमनि लागा रहौ ॥७॥

×

'परम ग्यांन' 'परम ध्यांन', परमगुर गुर गम गावौ ।
राग दोष रस पांच, रषे मन तहां नचावौ ॥

पाठभेद—तीर्थ–१ । वसत–२ । प्रन–१ । भव–१ । प्रमगति–१ । प्रमग्यांन–१ । प्रमध्यांन–१ ।

शब्दार्थ—अंव=पानी । विवर=गढ़ा । हेम वसि=बर्फ में रह । अगम तीरथ=आत्मस्वरूप परब्रह्म । गंग जमन मधि=इड़ा-पिंगला के मध्य सुषुम्ना । उनमनि=सहजदशा, लयवृत्ति । परन पसारौ=पङ्क मत फैलाओ । घट घाट तजि=देहाध्यास त्याग । पिसुण=कामादि लुटेरे । परमगुर=परब्रह्म ।

कांम क्रोध अभिमान, कुपहि काँटा मति लावौ।
अलष भजन उरि धरौ, मरौ मरि मौत चुकावौ॥
जन हरीदास मन गहि पवन, ब्रह्म अगनि विष वनि दहौ।
अगम वसत अंतरि अगहि, तहाँ उनमनि लागा रहौ॥८॥

×

पूत कलित परिवार, माल 'वहौ' मुलक वड़ाई।
ऊँचा महल अवास, सैल सजन सुषदाई॥
वहौ सूँघौ वहु पान, सेझ षासा दरयाई।
कर धरि मूँछ मरोड़, कहै मेरीज दुहाई॥
हरि सुमरिण हिरदै नहीं, दह दिसि माया घेर।
जन हरीदास यूँ जांणिये, यहु तिल सुष दुष अस मेर॥९॥

×

जहां जीव तहाँ सींव, वीचि माया का सरवर।
गिरवर अजंग उत्तंग, विवधि विष का वन तरवर॥
सरप सिंघ जष जुरा, जीव धरि सकैन तहां धर।
नदी वहै मैमंत, मझ मरणां मधि 'इहै' डर॥
जन हरिदास हरि तहां चलौ, ग्यान पर उर धरि तजि घर।
जहां जीव तहाँ सींव, वीचि माया का सरवर॥१०॥

×

पाठभेद--बहु-१। यह-३-४। यहु-५।

शब्दार्थ--मरौ=अहङ्कार त्यागो। पवन=प्राण स्थिर करो। दुहाई=आज्ञा, हुक्म। सींव=कूटस्थ चेतन। गिरवर अजंग=वृक्षरहित पहाड़। उत्तङ्ग=ऊँचे शिखर वाले। विवधि विष का वन तरवर=मोह के जंगल में वासना के अनेक प्रकार के जहरीले वृक्ष हैं। सरप सिंह जष जुरा=संशय, काम, क्रोध, बुढ़ापा आदि। नदी वहै मैमंत=उत्ताल-तरङ्गोंवाली तृष्णा की नदी बह रही है। मझ=बीच। ग्यांन पर=आत्मज्ञान के अवलम्बन से।

गहर बाग रंग राग, तहां ध्यान धरि जोगी बैठा।
जंबकि मारचा सिंघ, सूर ससिहर अंग पैठा॥
गया पाप 'पर'देस, पहम तजि धुर तैं धैठा।
*गंग चढ़ी ब्रह्मंड, अग्या हठ करता हैठा॥
×अरस परस रस परम गति, परम भेद निरभै भया।
त्रिवधि तिमर गति गरब 'गति', जन हरीदास सतगुर दया॥११॥

×

नाथ मछिंदर देषि, देषि गोरष गुण रता।
रह्या धणी सूँ लागि, छाड़ि भव जल का मता॥
गोपीचंद भी जांणियै, जोग ध्यान एसे गह्या।
है गै मै गै छाड़ि करि, माया तैं न्यारा रह्या॥
सुषदेव भी माया तजी, वास छाड़ि वन मैं वस्या।
जन हरीदास ते ऊबरचा, जुग सारा माया डस्या॥१२॥

×

पाठभेद—प्र-१। गत-४-५।

शब्दार्थ—गहर बाग=सहस्रारदलरूपी बगीचा। रंग राग=विविध अनहद शब्द। जंबकि=शुद्ध मनरूपी शृगाल ने। मारचा सिंह=मोहरूपी सिंह को मार लिया। सूर ससिहर अंग पैठा=मन-प्राण सुस्थिर हो आत्मचिन्तन में लगे। पहम तजि धुर तैं धेंठा=निर्लज्ज पाप मूल देह को छोड़ गया। त्रिवधि तिमिर गति=त्रिगुणात्मक अज्ञान का अँधेरा दूर हुआ। गरब गति=अहङ्कार नष्ट हुआ। मता=मत, विचार। है गै मै गै=घोड़े-हाथी, भूमि-घरबार। डस्या=काटखाया।

* सुषुम्ना तथा सुरतिवृत्ति ब्रह्माण्ड (दशमद्वार) में पहुँची। हैंठा-विषयभोग की नीची प्रवृत्ति के आग्रह से मन अब रुक गया।

× अभेद ज्ञान से व्यष्टि चेतन समष्टि से एकरस हो, शरीरगत चेतन तथा विश्वव्यापक चेतन एक रस हो परम गति-मोक्ष की प्राप्ति की। ब्रह्म ही सत्य है और सब दृश्य-अदृश्य संसार के पदार्थ नाशवान हैं, इस परम भेद को समझ कर जन्मने-मरने के भय से मुक्त हो गया।

नाथ निरंजन देषि, अंति संगी सुषदाई।
गोरष गोपीचंद, सहजि सिधि 'नौ' निधि पाई॥
नामैं दास कबीर, रांम भजतां रस पीया।
पीपैं जन रैदास, बड़े छकि लाहा लीया॥
अणभै 'वस्त' संभालि करि, जन हरीदास लागा तहीं।
रांम विमुष दुविध्या करै, तै निरवल पहुंचै नहीं॥१३॥

×

हैवर गैवर गांव, फौज फरहर 'वहौ' पाइक।
वहौ जोधा दरवारि, षसै आंषू भी षाइक॥
तरवारयां तन तौलि, चढ़ै अंणियां मुँह लाइक।
प्रतिमाली करि धरि विवरि, वकै मुषि विक्रत वाइक॥
लोह छाक गोली गिलै, पर दल जीतै पर पुरा।
तउं जन हरीदस हरि नाँव विनि, नर विकट रूप दीसै वुरा॥१४॥

×

वीर घटा घरहरै, जुटै गै रिण मैं गाजै।
पढ़ै लौह वौछाड़, षड़ग षसतां रिंण वाजै॥
करवट कर सूँ तोलि, पिसणां तन पिसण अवाजै।
सूरवीर सनमुषि चढ़ै, षेत तजि काइर भाजै॥
नीर उतरयौ वीर, नांव षत्री 'पणि' लाजै।
दोऊँ षषां निरभै रतन, स्यांम धरम अरमांण॥
हरीदास जन यूँ कहै, वाल निमांणो जांण॥१५॥

×

पाठभेद—नव-१। वसत-२। बहु-१-३। पण-३-४।

शब्दार्थ—अणभै वस्त=आत्मतत्व को अनुभूत कर। षसै=संघर्ष करे, लड़े। अंणियां=फौजें, अग्रभाग में। वक=वकवाद करे। विक्रत=बुरे। वाइक=वचन, शब्द। विकट=भयङ्कर। वौछाड़=वार पर वार। षत्री पणि=शूरवीरपन। स्याम धरम=वफादारी, स्वामिभक्त।

भजि करणां निधि करतार , नांव नाराइण लीजै ।
भजि निरामूल निरसिंघ , कांम आरंभ 'यहु' कीजै ॥
भजि अलष निरंजन नाथ , छाड़ि विष 'इंम्रत' पीजै ।
भजि परम उदार अपार , ग्यांन गहि ध्यांन धरीजै ॥
जन हरीदास वार पार कीमत नहीं, रांम नांम मोटौं रतन ।
उर मंडण उर धारि , प्रेम प्रीति दीजै जतन ॥१६॥

॥ इति कवित्त सम्पूर्ण ॥

॥ अथ कुण्डलियां ॥

साचा गुर साचै मतै , भजै निरंजन नाथ ।
जन हरिदास ता साध का , सिष क्यूँ छाड़ै साथ ॥
सिष क्यू छाड़ै साथ , नांव निज भेद वतावै ।
अवरण अगहि अरूप , अगम गुर गम तैं पावै ॥
'गरब' छाड़ि गोव्यंद भजौ , सिरि सतगुर का हाथ ।
साचा गुर साचै मतै , भजै निरंजन नाथ ॥१॥

×

काचा गुर काचै मतै , काचा ही फल षाइ ।
वुगला का 'दिष्टांत' दै , सो वुगला ही हो जाइ ॥
सो बुगला ही हो जाइ , ध्यांन वुगला ज्यूँ धारै ।
पांणी मांही पैसि , मीन पांणी मैं मारै ॥

पाठभेद—यौ-१ । इमरत-१ । ग्रव-१ । दिसटान्त-२ ।

शब्दार्थ—अरमांण=अरमान, मन की बात । उर मंडण=हृदय को सुशोभित करने वाला । वुगला ज्यूँ=बगुले की तरह नकली ध्यान ।

जन हरीदास दुरभष तहां, जासूँ प्रीति न लाइ।
काचा गुर काचै मतै, काचा ही फल षाइ॥

॥ अथ गुर-सिष पारष अंग ॥

गुर सिर 'पर' कर तव धरै, जब गुर लाइक होइ।
विन ही परचै सिष करै, वड़ा अचंभा दोइ॥
वड़ा अचंभा दोइ, वात या 'कासूँ' कहिये।
षोटा गुर के साथ, 'परम' गति कदे न लहिये॥
अगम ठौड़ आसण अचल, जन हरीदास गुर सोइ।
गुर सिर पर कर तव धरै, जव गुर लाइक होइ॥३॥

×

गुर होइ सिष साषा करै, मीनी का सा मोह।
जन हरीदास उदवुद कथा, भला विगोया 'द्योह'॥
भला विगोया द्योह, रांम सुष नैड़ा नांही।
जहर जड़ी जिव षांहि, अहं तरवर की छांही॥
काची संगति वूड़िये, साहिवजी की सौंह।
गुर होइ सिष साषा करै, मीनी का सा मोह॥४॥

॥ इति गुरुसिष पारष अंग सम्पूर्ण ॥

पाठभेद—परि-२-४। कास्यूँ-१। प्रम-१। दोह-१।

शब्दार्थ—दुरभष=काल, सकामकर्म। परचै=आतमा की जानकारी। षोटा=झूठा, बनावटी। सिष साषा=शिष्य-प्रशिष्य। मीनी का सा मोह=बिल्ली के मोह की तरह। विगोया=डुबोया, गँवाया। द्योह=दिवस, आयु। जहर जड़ी=विषयवासनामय जड़ी। अहं तरवर=अहङ्कार के वृक्ष। वूड़िये=डूबिये, नष्ट होइये। सौंह=सौगन्ध।

॥ अथ साधु को अंग ॥

संगति कीजै साध की, मन की दुवध्या षोइ ।
साध बतावै परम सुष, पहुँचै विरला कोइ ॥
पहुँचै विरला कोइ, देह सुष दिलतैं धोवै ।
जाइ वसै दरवारि, नींद भरि निसहै न सोवै ॥
हरीदास आनंद इहै, दूजा दषल न होइ ।
संगति कीजै साधु की, मन की दुवध्या षोइ ॥५॥

×

संगति कीजै साध की, जा सूँ रामदयाल ।
अरस परस आनंद सदा, गाई जै गोपाल ॥
गाई जै गोपाल, प्राँणहति प्राँण पिछाँणै ।
धरचौ धरचाँ कूँ छाड़ि, अधर 'अभि' अंतरि जाँणै ॥
जन हरीदास हरि परसताँ, पला न पकड़ै काल ।
संगति कीजै साध की, जा सूँ रामदयाल ॥६॥

×

साध मिल्याँ सुष पाइये, भजिये केवल रांम ।
नर न्यारा गोव्यंद विमुष, तहाँ नहीं साध का कांम ॥
तहां नहीं साध का कांम, धस्या ऊंडा जल मांही ।
विणजै संष सराप, हाट हीरा की नांही ॥
जन हरीदास हरि परस कूँ, लोचन दोइस कांम ।
साध मिल्यां सुष पाइये, भजिये केवल रांम ॥७॥

×

पाठभेद—अभ्य-२ ।

शब्दार्थ—दुवध्या=संशय, अनिश्चय । निसहै=अज्ञान की रात्रि में । धरचौ धरचा कूँ छाड़ि=दिखलाई देने वाले आधार-सहारे का त्याग कर । धस्या=प्रवेश किया । विणजै=व्यापार करे, सौदा करे । दोइस=दो ही, ज्ञान और विचार ।

रांम सनेही साधवा, वड़ा वैद जग मांहि।
सूता जीव जगाइ करि, और देस ले जांहि॥
और देस ले जांहि, सवद राषै ज्यूँ रहिये।
सवद कहै त्यूँ करै, सवद कसणी सव सहिये॥
जन हरीदास ता मुलक मैं, जुरा काल भै नांहि।
रांम सनेही साधवा, वड़ा वैद जग मांहि॥८॥

×

साध सदा भेला रहै, कवहूँ दूरि न जांहि।
जिन की जड़ ऊँडी गड़ी, ब्रह्मभौमि ता मांहि॥
ब्रह्मभौमि ता मांहि, सुरति निज जाइ समाई।
दरसै परसै पेम, परम निधि अंतरि पाई॥
जन हरीदास तहाँ अगम फल, हिलिया हरिजन षांहि।
साध सदा भेला रहै, कवहूँ दूरि न जांहि॥९॥

×

कोई आवो प्रीति लै, कोई आवो अरि भाइ।
साध दहूँ कूँ पोषदै, वो वाका फल पाइ॥
वो वाका फल पाइ, रूँष तैसा फल दरसै।
आंधी कै मुषि धूरि, घटा मुषि पांणी वरसै॥
जन हरीदास आछै मतै, सुष मैं रह्या समाइ।
कोई आवो प्रीति लै, कोई आवो अरि भाइ॥१०॥

×

शब्दार्थ—और देस=ब्रह्मधाम। सबद राषै=उपदेश के अनुसार। कसणी=कसौटी। भेला=अरस-परस, एकरूप। जड़=मूल, वृत्तिरूपी जड़ आत्मनिष्ठ हो। हिलिया=हिला हुआ, अनुभवी। अरि भाइ=शत्रुभावना से, वैरी होकर। पोष दे=पोषण करे, मदद करे। रूँष=वृक्ष। आछै मतै=आत्मविचार, सन्मार्ग।

आठ पहर की उनमनी , आठ पहर की प्रीति ।
आठ पहर सनमुष षड़ा , यह साधां की रीति ॥
यह साधां की रीति , एक रसि लागा जीवै ।
अगम पियाला हाथि , रांम रस पावै पीवै ॥
जन हरीदास गोव्यंद भजौ , आंन असुर अरि जीति ।
आठ पहर की उनमनी , आठ पहर की प्रीति ॥११॥

॥ इति साधु को अंग सम्पूर्ण ॥

॥ अथ सुमिरण को अंग ॥

हरि 'भजि' भेद विचारि , हारि मति चालौ लोई ।
'एकै' साथी साथ , 'और' साथी नहिं कोई ॥
और साथी नहिं कोई , जांणि याह जीव मैं साची ।
रसनां रांम रटारि , रषे मति थापै काची ॥
जन हरीदास गोव्यंद विमुष , सौंज त्यांह सदगति षोई ।
हरि भजि भेद विचारि , हारि मति चालौ लोई ॥१२॥

×

कहा दिषावे और कूँ , उलटि आप कूँ देष ।
कर लेषणि मसि कागद कहाँ, लिषिये तहाँ अलेष ॥

पाठभेद—भज्य-२ । येकै-२ । अवर-३ ।

शब्दार्थ—एक रसि=एकाग्र बुद्धि । असुर अरि=राक्षसरूपी काम, क्रोध, लोभ, मोहादि वैरियों को । हारि=व्यर्थ खोकर । एकै साथी=एक चेतन ही सच्चा साथी है । रटारि=रट । लेषणि=कलम, स्थिरवृत्तिरूपी कलम से । मसि=स्याही, निर्भ्रान्त ज्ञान की स्याही । कागद=हृदयरूपी कागज में ।

लिषिये तहां अलेष, सुतौ निरमल करि लीजै।
दिल कागद करि पाक, सुतौ लिषि लिषि टिक दीजै॥
जन हरीदास हरि सुमिरतां, संचर रहै न सेष।
कहा दिषावे और कूँ, उलटि आप कूँ देष॥१३॥

×

गुर गोव्यंद गोव्यंद भजन, गोव्यंद ही सूँ प्रीति।
हरीदास जन 'यूँ' कहै, याह साधां की रीति॥
याह साधां की रीति, अगम गुर गम तैं पाया।
निरामूल निरसिंध, काल मै जाल न काया॥
जन हरीदास तहां एक सुष, नहीं हारि नहिं जीति।
गुर गोव्यंद गोव्यंद भजन, गोव्यंद ही सूँ प्रीति॥१४॥

×

निस दिन रांम संभालि, जागि निरभै पद लहिये।
जहाँ तहाँ मन लाइ, प्रांण परदुष 'क्यू' सहिये॥
प्रांण परदुष क्यूँ सहिये, सिर जुरा जम चोट न सूझै।
देह षेह व्है जाइ, जीव अपणी करि बूझै॥
जन हरीदास अवगति अगम, फेरि मन तां सुष रहिये।
निस दिन रांम संभालि, जागि निरभै पद लहिये॥१५॥

×

॥ इति सुमिरण को अंग सम्पूर्ण ॥

पाठभेद—यौं–१। क्यों–१।

शब्दार्थ—पाक=पवित्र, शुद्ध। संचर=अन्तर, छिद्र बाकी न रहे। उलटि=अन्तर्मुख हो। अगम=मन-बुद्धि से गम नहीं। एक सुष=परमानन्द। जागि=चेति, ज्ञानमय हो। जहां तहां=इधर-उधर, विषयभोग में। जुरा=बुढ़ापा। सूझै=दीखे।

॥ अथ विरह को अंग ॥

सती हौंण की हौस धरि, तन जालण कूँ जाहि।
लोक लाज ले जलत है, असल सती सौ नांहि॥
असल सती सौ नांहि, पीव की पवरि न लाधी।
धीरज रह्या न लोइ, वली कुल कै पषि वाँधी॥
जन हरीदास ऐसा विरह, जहाँ तहाँ जुग मांहि।
सती हौंण की हौस धरि, तन जालन कूँ जांहि॥१६॥

॥ इति विरह को अंग सम्पूर्ण॥

॥ अथ ग्यान विरह को अंग ॥

वात सुणे सुणि पीव की, सिर तैं डारचा चीर।
लिया 'संदौरा' हाथ मैं, पैंडे लागी वीर॥
पैंडे लागी वीर, देह सुत वित सव भूली।
जीव गया तहाँ पीव, पैसि दावानल झूली॥
जन हरीदास संसार की, लगी न काई सीर।
वात सुणे सुण पीव की, सिर तैं डारचा चीर॥१७॥

×

विरह मंढी मैं पैस करि, दह 'दिसि' दीन्ही आगि।
जीव लग्या पणि पीव कै, रही निरंतरि लागि॥

पाठभेद—सिंदौरा-१। दिस-५।

शब्दार्थ—हौंस=चाह, उमङ्ग। पषि=पक्ष में, समर्थन में। सिंदौरा=पलीता। पैंडे=रास्ते, मार्ग। दावानल=ताप, अग्नि पर बैठ। सीर=हवा।

रही निरन्तरि लागि, आंन चित वोट न धारी।
प्रगट जली मैदानि, लोक लज्या सब डारी॥
जन हरीदास पिव का विरह, तहाँ वसै धसि जागि।
विरह मंढी मैं पैस करि, दह 'दिसि' दीन्ही आगि॥१८॥

×

असलि सती 'आतुर' कहा, अर आलस भी नांहि।
धीरे धीरे उठि चली, एक रेष मन मांहि॥
एक रेष मन मांहि, 'और' दुनिया सब षारी।
जीव गया तहाँ पीव, देह लै षेह मैं डारी॥
जन हरीदास ऐसा विरह, धस्या छाड़ि कहाँ जाहि।
असलि सती आतुर कहा, अर आलस भी नांहि॥१९॥

॥ इति ग्यान-विरह को अंग सम्पूर्ण॥

॥ अथ चितावणी को अंग॥

आइ सिंघासण वैसता, हँसि हँसि करता वात।
सुत वनिता परिवार सूँ, ऊठि गया करि घात॥
ऊठि गया करि वात, मात संगि तात न माया।
भाई संगि न भौमि, अंति साथी नहिं काया॥
कहुं काल चोट चूकै नहीं, जन हरीदास तिलमात।
आइ सिंघासण वैसता, हँसि हँसि करता वात॥२०॥

×

पाठभेद—दिस-५। आतुरि-१-२। अवर-१।

शब्दार्थ—आतुर=व्याकुल, शीघ्रता। एक रेष=एक लक्ष्य, एक ध्येय। तिल-मात=तिल भर।

चोवा चंदन लाय तन, करता 'वहौत सिंगार'।
जन हरीदास ते मानई, जलि वलि हूवा छार ॥
जलि वलि हूवा छार, मार अपणैं सिर धारया।
या रसना कै स्वादि, जीव नानाविधि मारया ॥
'वहौड़ि' वहौड़ि जामैं मरै, जुरा काल भै लार।
चोवा चंदन लाइ तन, करता वहौत सिंगार ॥२१॥

×

माल मुलक है गै घणां, छत्र छांह मद छाक।
के मारया के मारसी, काल करत है ताक ॥
काल करत है ताक, अंति कोइ छूटै नांही।
सुर नर असुर अनंत, सकल जम कै मुष मांही ॥
जन हरीदास 'गोव्यंद' भजौ, और सवै सुष थाक।
माल मुलक है गै घणां, छत्र छांह मद छाक ॥२२॥

×

तन धरि धरि मरि मरि गया, हरि हरि भजै न भेद।
सदगति सुष जांणै नहीं, तहां कंध का छेद ॥
तहां कंध का छेद, आंन नर वोट न छूटै।
दस दरवाजा रोकि, काल काया गढ़ लूटै ॥
जन हरीदास अवगति अगम, झूठी 'और' उमेद।
तन धरि धरि मरि मरि गया, हरि हरि भजै न भेद ॥२३॥

×

पाठभेद—बहुत-सिंगार-१-२। वहुड़ि—१। गोविन्द—३-४। अवर—१।

शब्दार्थ—चोवा=इतर, तेलफुलेल। छार=राख। वहौड़ि=फिर-फिर, पुनः। मद छाक=मद की मस्ती। थाक=थक जाने वाले। कंध का छेद=गर्दन कट जाना, मरना। वोट=आड़, सहारा। उमेद=आशा।

जागौ रे सोवो कहा, अवधि घटै घटि वीर।
कहौ कहां लौं राषिये, फूटै भांडै नीर॥
फूटै भांडे नीर, गरक गाफिल नर सोवै।
भजै नहीं भगवन्त, वहौड़ि मल सूँ मल धोवै॥
जन हरीदास सुर नर असुर, सव मछली जम कीर।
जागौ रे सोवो कहा, अवधि घटै घटि वीर॥२४॥

×

जन हरीदास निसदिन घड़ी, वाजै वारूँ वार।
घटत घटत सव दिन घट्या, मरणां सही तयार॥
मरणां सही तयार, न्याइ निधड़क नर सोवै।
मोह दोह छकि छक्या, मूल माया मदि षोवै॥
जनम अमोलिक जात है, यूँ निति करै पुकार।
जन हरीदास निसदिन घड़ी, वाजै 'वारूँ' वार॥२५॥

×

राजा रांम न वोलगै, नाराइण निरसिंध।
जन हरीदास तै मानई, जांहि अधोगति अंध॥
जांहि अधोगति अंध, अग्यांन आलस 'उरि' लागा।
'त्रिवधि' अँधारै वैसि, ग्यांन वोढण नहिं नागा॥
आंन ध्यांन गुर ग्यांन विन, और अनेरा वंध।
राजा रांम न वोलगै, नाराइण नरसिंध॥२६॥

॥ इति चितावणी को अंग सम्पूर्ण॥

पाठभेद—बारौ-४-५। उर-५। त्रिविधि-१।

शब्दार्थ—फटै भांड़ै=विनाशी देह, दसद्वारों का शरीर। मल सूँ मल धोवै=कर्मफल के कीच को सकाम-कर्म से धोना। कीर=धीवर, मछली पकड़ने वाला। निस दिन घड़ी=रात-दिन की घड़ी। वोलगै=जानें, पहिचानें। त्रिवधि=त्रिगुणात्मक। ग्यांन वोढ़ण=ज्ञानमय चादर। अनेरा=बहुत, घणा।

॥ अथ परचा को अंग ॥

विन वादल विरषा सदा, छह रुति वारह मास।
आतम अंतरि देषिये, परम जोति 'परकास' ॥
परम जोति परकास, प्रांण सागर मैं झूले।
अनहद सवद उचार, सुरति निज साच न भूले ॥
जन हरीदास आनंद भया, अरथि समांणी आस।
विन वादल विरषा सदा, छह रुति वारह मास ॥२७॥

×

ग्यांन पत्र मनसा भुगति, निस दिन वैठा षाइ।
आसा राषै अलष मैं, भरमत फिरै वलाइ ॥
भरमत फिरै वलाइ, सिंघ 'तव' महल पधारै।
मूसो ग्रासै सेस, सुसो सुनहा कूँ मारै ॥
जन हरीदास उदवुद कथा, तहां मन रह्या समाइ।
ग्यांन पत्र मनसा भुगति, निस दिन वैठा षाइ ॥२८॥

×

षग ऊड्या आकास कूँ, चींटी परां समाइ।
जहाँ चींटी का गम नहीं, तहां षग वैठा जाइ ॥
तहां षग वैठा जाइ, मुलक 'वोह' 'अवरै' भाइ।
सीत धूप रस रहत, एक रस तौ सुषदाइ ॥

पाठभेद—प्रकास–१। जब–५। वो–५। औरे–५।

शब्दार्थ—विन वादल विरषा सदा=बाहरी बादलों के बिना ब्रह्मरन्ध्र स तालुप्रदेश में अमृतरस बरस रहा है। सागर=आनन्द सागर। ग्यांन पत्र=ज्ञान की पत्तल में। मनसा भुगति=मनसा का भोजन। सिंघ=ब्रह्म, आत्मा। मूसौ ग्रासै=ज्ञान-रूपो चूहा खावे। सेस=संशयसर्प। सुसा=संतोषरूपी खरगोश। सुनहा=क्रोधरूपी कुत्ते को। षग=शुद्धमनरूपी पक्षी। चींटी=सुरति-वृत्ति।

जन हरीदास चींटी तिको, उलटि न पूठी जाइ।
षग ऊड्या आकास कूँ, चींटी परां समाइ ॥२९॥

×

ग्यांन गुफा मैं पैसि करि, बैठा ताली लाइ।
सुष पाया सतगुर मिल्या, सूता लिया जगाइ॥
सूता लिया जगाइ, हरि आप कूँ आप बतावै।
घट घूँघट पट षोलि, साध तहां दरसण पावै॥
जन हरीदास आनँद इहै, तहां मन रह्या समाइ।
ग्यांन गुफा मैं पैसि करि, बैठा ताली लाइ ॥३०॥

×

परा परै पूरणब्रह्म, 'परम' जोति 'परकास'।
सकल वियापी सँगि बसै, सब तैं रहै उदास॥
सब तैं रहै उदास, वार नहिं लाभै पारं।
निज तरवर निरसिंध, प्रांण तहां बसै हमारं॥
जन हरीदास अंतरि अगहि, मन का तहां निवास।
परा परै पूरणब्रह्म, परम जोति परकास ॥३१॥

×

सब को सरबस देत है, अपणी अपणी प्रीति।
साहिब कूँ सरबस दिया, याह 'कछु' उलटी रीति॥
याह कछु उलटी रीति, जीति गुण गोव्यंद गावै।
सुँन्य मंडल मैं पैसि, सांच सूँ सुरति लगावै॥

पाठभेद—प्रम-१। प्रकास-१। कुछ-१।

शब्दार्थ—ग्यांन गुफा=शून्यमण्डल, दशमद्वार। घट घूँघट पट षोलि=घट में माया के आवरण व देहाभिमानरूपी पट (पर्दे) को खोल कर। लाभै=मिले, पावे।

जन हरीदास आनँद भया, छूटी सबै अनीति।
सब को सरवस देत है, अपणी अपणी प्रीति ॥३२॥

×

सहर अधर पैंडा अधर, कसर करम नहिं कोर।
धरम अधर रहणीं अधर, अधर सबद की घोर ॥
अधर सबद की घोर, अधर वरिषा घण आया।
जहाँ तहाँ भर पूरि, अधर गुर गम तै पाया ॥
जन हरीदास निरभै नगर, तहाँ जम करि सकै न ज़ोर।
सहर अधर पैंडा अधर, कसर करम नहिं कोर ॥३३॥

×

निगम अगम मन तहां वसै, जहां साधां की ठौर।
परमानंद पति परसतां, छूटि गया भ्रम और ॥
छूटि गया भ्रम और, रांम निरभै सुष पाया।
रूप रेष रस रहत, काल भै जाल न काया ॥
जन हरीदास अंतरि अगहै, पहुँचण का पंथ और।
निगम अगम मन तहाँ वसै, जहां साधां की ठौर ॥३४॥

×

सोवत सोवत सोइ रह्या, जागि जागि कहां जाइ।
सोवण जागण तैं अगम, तहां मन रह्या समाइ ॥

शब्दार्थ—अनीति=बुराई, सांसारिक पदार्थों की आसक्ति। सहर अधर=उस चेतनतत्त्व का कोई आधार नहीं है। पैंडा अधर=उस आत्मतत्त्व की प्राप्ति का मार्ग भी अधर है, क्योंकि उसकी प्राप्ति वेद-शास्त्र प्रतीक पूजा से न होकर लयवृत्ति मे ही साध्य है। निगम अगम=वेद से भी जो न जाना जाय। सोवत सोवत=अज्ञाननिद्रा में सोते-सोते। जागि जागि कहां जाइ=जप, तप, तीर्थ, दान, पूजा आदि के द्वारा जाग-जागकर भी सकामकर्मफल के कारण विविधजन्म ग्रहण करता रहता है।

तहां मन रह्या समाइ, प्रथम अपणैं घरि आया।
निरामूल 'निरसिंध', अगम गुर गम तैं पाया॥
जन हरीदास अवगति अगम, तहां मन रह्या समाइ।
सोवत सोवत सोइ रह्या, जागि जागि कहां जाइ॥३५॥

×

मन चंचल निहचल भया, त्रिवेणी तटि वास।
आंषि अजव अंजन पड्या, परम जोति परकास॥
परम जोति परकास, अगह अघ विनि अघजारण।
सीत धूप रस रहैत, करम भै भरम निवारण॥
जन हरीदास पति परसतां, कांम क्रोध का नास।
मन चंचल निहचल भया, त्रिवेणी तटि वास॥३६॥

×

धुनि मांहि मुनि मठ रच्या, 'दह' 'दिसि' वाजै तूर।
जन हरीदास आनंद भया, सहजि प्रकास्या सूर॥
सहज प्रकास्या सूर, अजर निरभै निरधारं।
तहां मन रह्या समाइ, वार नहि लाभै पारं॥
अजव वात आनँद 'इहै', जहाँ तहाँ निज नूर।
धुनि मांहि मुनि मठ रच्या, दह दिसि वाजै तूर॥३७॥

×

पाठभेद—निरस्यंध–२। दहि–४। दिस–५। यहै–३-५।

शब्दार्थ—त्रिवेणी तटि=भ्रूमध्य त्रिकुटिस्थान। अजव अंजन=निर्भ्रान्त ज्ञानांजन। अगह अघ विनि अघ जारण=वह मन-इन्द्रियों की पकड़ से बाहर है, निष्पाप है, पापों का विनाशक है। पति परसतां=उस विश्वपति व्यापक-ब्रह्म से एकत्व होने पर। धुनि=अनहद नाद के स्थान में। मुनि=मौन मन, राग-द्वेष से रहित मन। मठ रच्या=अपना स्थान बनाया।

मन चंचल निहचल भया, भरम न कोई भूत।
पहली का पैंडा तज्या, उलटि चल्या अवधूत ॥
उलटि चल्या अवधूत, निरषि निरभै पद लागा।
कांम क्रोध अभिमान, आंन अनरथ अरि भागा ॥
जन हरीदास आनंद भया, उलझि 'सलूझ्या' सूत।
मन चंचल निहचल भया, भरम न कोई भूत ॥३८॥

॥ इति परचा को अंग सम्पूर्ण ॥

॥ अथ मन को अंग ॥

अधर नीर आकास मैं, राषै विरला कोइ।
मन पांणी 'मुषि' सबद कै, राष्यां ही सुष होइ ॥
राष्यां ही सुष होइ, हरि नांव मन कै मध धारै।
ब्रह्म अगनि 'परजलै', मन पारा यूँ मारै ॥
नीर पलटि पावक तवै, गत जन हरीदास पष दोइ।
अधर नीर आकास मैं, राषै विरला कोइ ॥१॥

×

पाठभेद—सलूधा–१। मुष–१। प्रजलै–१-५।

शब्दार्थ—पहली का पैंडा तज्या=मायिक वस्तुओं को प्राप्त करने की प्रवृत्ति त्याग दी। उलझि=सांसारिक-बन्धनों में उलझा हुआ मन। सलूझया= वासना-विहीन मन आत्माभिमुख हो सुलझ गया। अधर नीर आकास मैं=निराश्रय-वृत्ति प्रवाहरूपी पानी को दशमद्वार-ब्रह्मरन्ध्र में कोई विरला ही रख सकता है। मन पांणी मुष सबद कै, राष्या ही सुष होइ=चंचलस्थितिमन पानी की तरह प्रत्येक वासना में बह जाता है, उसको गुरुमुष से निकले उपदेशमय शब्दों से रोक कर रखा जाय तभी अविनाशी सुख की प्राप्ति सम्भव है। ब्रह्म अगनि परजलै=व्यापक चेतन में लय हुई वृत्ति से उत्पन्न ब्रह्माग्नि प्रज्वलित हो तभी। मन पारा यूँ मारै=मन को इस प्रकार मारा जा सकता है–स्थिर बनाया जा सकता है।

मन कै वसि सव जीव है, मन वसि करै सो कोइ ।
जन हरीदास मन राज है, तहां राज विराजी होइ ॥
तहां राज विराजी होइ, नाच मन 'वहौत' नचावै ।
तवही षुसी उछाह, 'वहौड़ि' तवही दुष पावै ॥
रांम भजन का भै नहीं, पैंडा तजै न दोइ ।
मन कै वसि सव जीव है, मन वसि करैस कोइ ॥२॥

×

मन विसहर मुष पांच, आंषि अणगिणत तमासा ।
द्वादस डसण षट जीह, मोह वंवइ तहाँ वासा ॥
मोह वंवइ तहाँ वासा, पूँछ गहि 'च्यंता' तांणै ।
डंक भरै तहां जहर, जुगति कोइ जोगी जांणै ॥
जन हरीदास गुर ग्यांन जड़ी, ले गहि मुष कीलै आसा ।
मन विसहर मुष पांच, आँषि अणगिणत तमासा ॥३॥

×

'पांचू' इन्द्री 'सरप' मन, च्यंता जहर मुष लोइ ।
कील्या तव निरविष भया, डंक भरि सकै न कोइ ॥
डंक भरि सकै न कोइ, जुगति जांणै तव जागै ।
नाग दवणि हरि नांव, रहै मन का मुष आगै ॥

पाठभेद—बहुत-१ । बहुरि=१ । चिंता-३-४ । पांचौ-१ । सर्प-१ ।

शब्दार्थ—राज विराजी होइ=चेतनात्मा मन की अनवस्था से अप्रसन्न होता है। तव ही=जब चाहे, क्षण-क्षण में। दोइ=दो, सङ्कल्प-विकल्प। मन विसहर=मन-रूपी सर्प। मुष पांच=ज्ञानेन्द्रियों द्वारा पांच मुखों से। आंषि अणगिणत=वासनामय अपार आँखें हैं। द्वादश डसण=मन की बारहवाट है, वही उसके दांत हैं। षट् जीह=काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष में प्रवृत्तिरूपी छः जिह्वाएँ हैं। मोह वंवई तहां वासा=संसार का मोह वही उसकी बाँबी-बिल है, वहीं उसका निवास है। कील्या=मन्त्र से जड़ (बांध) देना, गुरु-उपदेश से अन्तर्मुख करना यही उसका बाँधना है। डंक भरि सकै न कोइ=अब किसी के डङ्क नहीं भर सकता-काट नहीं सकता, विषयवासना में नहीं लग सकता।

जन हरीदास मन उनमनि लागा रहै, पवन सुरति संग दोइ ।
पांचू इन्द्री सरप मन, च्यंता जहर मुष लोइ ॥४॥

×

जन हरीदास कहिये कहा, रूप गै 'ज्यूँ' मन धारै ।
काया वन में चरै, डरै नहिं डहकि न हारै ॥
डरै नहिं डहकिन हारै, चलै अपणी गै गोड़ै ।
सुर नर असुर अनंत, सुतौ तिणका ज्यूँ तोड़ै ॥
विवधि दांत धरि चूरि, सुतौ सब 'सिसटि' संधारै ।
जन हरीदास कहिये कहा, रूप गै ज्यूँ मन धारै ॥५॥

×

मन पंषी काया सुवन, 'डाली डाली' चाव ।
आँषि अनंत हित मुष अनंत, विवधि पंष 'वहौ' पांव ॥
विवधि पंष वहौ पांव, सुतौ सति सबद न भाषै ।
हरि तरवर सुष अगम, विवधि तरवर फल चाषै ॥
जन हरीदास चंचल चपल, झूठ भरम तहाँ भाव ।
मन पंषी काया सुवन, डाली डाली चाव ॥६॥

×

पाठभेद--ज्यौं-१ । सिष्टि-१-५ । डारी-डारी-१ । बहु-१ ।

शब्दार्थ--पवन सुरति=प्राण.तथा वृत्ति । गै ज्यूँ=हाथी की तरह । गै गौड़े= मस्ती में आए हुए हाथी की तरह । विवधि दांत=नाना प्रकार के वासनारूपी दांतों से । सिसटि=सृष्टि, संसार । डाली डाली=विविध विषयों में प्रवृत्तिमय डाल-डाल पर । सति सवद=सत्यवाणी, आत्मचिन्तन । विवधि तरवर फल चाषै=अनेक विषय-भोगरूपी फलों को चखता है ।

ज्यूँ मन फेरै त्यूँ फिरै, मन कूँ फेरै नांहि।
निवाला पूजा तकै, व्याह वाहरां जांहि ॥
व्याह वाहरां जांहि, षांहि 'अर' 'विक्रत' गावै।
डीवी मांहि दिष्टि, अहै सिध रूप कहावै ॥
जन हरीदास ऐसा जती, हम देष्या कलि मांहि।
ज्यूँ मन फेरै त्यूँ फिरै, मन कूँ फेरै नांहि ॥७॥

×

नांव तुम्हारौ रांमजी, लेतां लगै न दाम।
मन निकमौ वैठो रहे, करै 'और' ही काम ॥
करै और ही काम, ग्यांन उरि अन्तरि नांहि।
हरि सुषसागर छाड़ि, वसै विष का वन मांहि ॥
जन हरीदास जामैं मरै, हरि सूँ इहै हरांम।
नांव तुम्हारो रांमजी, लेता लगै न दाम ॥८॥

॥ इति मन को अंग सम्पूर्ण ॥

॥ अथ माया को अंग ॥

एक वीज ताका विरछ, अनंत रूप 'वहौ' भाइ।
ता तरवर का फूल मैं, सव 'को' रह्या समाइ ॥

पाठभेद—अरु-३-४। विकरत-१। अवर-१। वहु-१। कोइ-१।

शब्दार्थ—निवाला=अच्छे भोजन। पूजा तकै=सम्मान चाहे। व्याह वाहरां=विवाह, बारवां तथा द्वादशा। विक्रत गावे=भ्रम में डालने वाले प्रवृत्तिमय उपदेश दें। डीवी मांहि=पात्रपर, चढ़ावे भेट की ओर। एक वीज=मूलप्रकृति।

सब को रह्या समाइ, 'बहौत' भूषा वहौ धाया।
ताही मैं उपजै षपै, आप ही आप वंधाया॥
जन हरीदास हरि सुष अगम, तहाँ साध एक कोइ जाइ।
एक बीज ताकां विरछ, अनंत रूप नहौ माइ॥१॥

×

माया दरषत जहरफल, अगम वार नहिं पार।
'च्यारि' षांषिका जीव सब, गरक फरक विसतार॥
गरक फरक विसतार, षुसी षेलै ता मांहि।
जन हरीदास हरि सुष अगम, तहां तै पहुंचे नांहि॥
षट् दरसण उड़ि उड़ि थक्या, विवधि पंष उरि भार।
माया दरषत जहरफल, अगम वार नहिं पार॥२॥

×

या अंजन 'सूँ' प्रीति है, तहां निरंजन दूरि।
अंजन भंजन होइगा, तहां काल भै पूरि॥
तहां काल भै पूरि, जनम ऐसा 'क्यू' हारै।
भी कौड़ी सूँ हेत, हाथ सूँ हीरा डारै॥
जन हरीदास गोव्यंद भजौ, तजि मांन वड़ाई धूरि।
या अंजन सूँ प्रीति है, तहां निरंजन दूरि॥३॥

×

पाठभेद—बहुत–१। चारि–१। स्यूँ–१। क्यौं–१-३।

शब्दार्थ—च्यारि षांणि=चारो अण्डजादि योनियाँ। उड़ उड़ थक्या=नाना धर्मपन्थों की उड़ान उड़-उड़कर थक गये। विवधि पंष=अनेक भिन्न-भिन्न सिद्धान्त-रूपी पङ्ख। या अंजन सूँ=इस माया से। अंजन भंजन होइगा=जहाँ माया प्राप्ति का ही लक्ष्य होगा।

सकल वियापी सँगि वसै, दुरचा देह की वोट।
दूजा 'औगुण' को नहीं, या अंजन का षोट॥
या अंजन का षोट, जागि जोगी जुध कीजै।
ग्यांन षड़ग लै हाथि, रिण जीत काया गढ़ लीजै॥
जन हरीदास हरि सुष तहां, जम करि सकै न चोट।
सकल वियापी सँगि वसै, दुरचा देह की वोट॥४॥

×

माता 'होइ' सेवा करै, देह पलटि होइ नारि।
पिता पलटि भी पूत होइ, देष्या सोच विचारि॥
देष्या सोच विचारि, वात 'यह' का सूँ कहिये।
आप आप सूँ जांणि, आप तौं न्यारा रहिये॥
जन हरीदास हरि सुमिरतां, उरकरि लगै न गारि।
माता होइ सेवा करै, देह पलटि होइ नारि॥५॥

×

॥ अथ मन को अंग सम्पूर्ण॥

॥ अथ चाणक को अंग॥

तकत तकत तकि तकि थक्या, चलत चलत गया हारि।
वकत वकत वकि वकि वक्या, मन कूँ सक्या न मारि॥
मन कूँ सक्या न मारि, देह सुष दुरभष दारण।
पारब्रह्म सुष दूरि, रह्या माया का कारण॥

पाठभेद—अवगुण–१। हुइ–३-४। याह–१।

शब्दार्थ—दुरचा=छिपा। वोट=ओट, आड़। दुरभष दारण=भयङ्कर दुःख, अति क्लेश।

जन हरीदास हरि सुष अगम , तहां मन सक्या न धारि ।
तकत तकत तकि तकि थक्या , चलत चलत गया हारि ॥१॥

×

पढ़त पढ़त पढ़ि पढ़ि अपढ़ , अरथ करत भयें अंध ।
हरि 'परहरि' चाल्या कुपहि , 'गल' मैं तैं दोइ फंध ॥
गल मैं तैं दोइ फंध , नांव नरहरि नहिं लीया ।
पारब्रह्म पति छाड़ि , 'और' नाना रस पीया ॥
जन हरीदास नर ना भजै , नाराइण निरस्यंध ।
पढ़त पढ़त पढ़ि पढ़ि अपढ़ , अरथ करत भये अंध ॥२॥

×

सुणत सुणत सुणि सुणि असुण , कथत कथत 'गए' कोड़ि ।
रहत रहत रहि रहि वह्या , पालि गया मन फोड़ि ॥
पालि गया मन फोड़ि , रांम भजि पार न कीया ।
काम क्रोध अभिमान , मोह माया मद पीया ॥
जन हरीदास हरि सुष अगम , तहां मन सक्या न जोड़ि ।
सुणत सुणत सुणि सुणि असुण , कथत कथत गए कोड़ि ॥३॥

×

एकादश गीता पढ़ी , अणभै अरथ अनेक ।
पैंडा दोइ दोइ करत है , वात करत है एक ॥
वात करत है एक , सुरति तहां लागी नांहि ।
परापरै पति छाड़ि , धस्या ऊँडा जल मांहि ॥

पाठभेद—प्रहरि–१ । गलि–१ । अवर–१ । गये–२ ।

शब्दार्थ—धारि=लगा, स्थिर । अरथ करत=वाचक ज्ञानी, शब्दों के अर्थ कर-कर । गल मैं तैं दोइ फंध=मेरा-तेरा इस भेदभावना के गले में दो फन्दे हैं । रहत रहत=माया के पदार्थों में रह-रहकर । पालि=सीमा, बांध । पैंडा=मार्ग । दोइ दोइ=तेरा-मेरा । सुरति=वृत्ति । परापरै=परब्रह्म । ऊँडा जल=संसारसागर में ।

जन हरीदास नर बोलै दुरसि, वांणी विवधि वमेक।
एकादश गीता पढ़ी, अणभै अरथ अनेक ॥४॥

×

वैत इलम पढ़ि आरवी, सवका करै बयान।
श्री फिरि दुनिया 'सूँ' मिलै, इहै वड़ा हैरान ॥
इहै वड़ा हैरान, परम सुषि पहुँता नांहि।
आपा कै अस्थांन, वसै विष का वन मांहि ॥
जन हरीदास निरविष नहीं, चित मांही वित आंन।
वैत इलम पढ़ि आरवी, सवका करै बयान ॥५॥

×

च्यारि वेद 'चारयूँ' पढ्या, इलम आरवी आथि।
मन चंचल निह्चल नहीं, तौ कछू न आया हाथि ॥
तौ कछू न आया हाथि, वात कहि व्यौरा दीया।
हरि 'सम्रथ' विचि वोट, जहर 'इंम्रत' करि पीया ॥
जन हरिदास कहिये कहा, नर मन सक्या न नाथि।
चारि वेद चारयूँ पढ्या, इलम आरवी आथि ॥६॥

×

पाठ पढ्या 'सुम्रत' सवै, इलम आरवी आथि।
कहिये त्यूँ रहिये नहीं, तौ कछू न आवै हाथि ॥
तौ कछू न आवै हाथि, अलष गति लषै न कोई।
पारब्रह्म पति छाड़ि, अवधि पर ज्यूँ नर षोई ॥

पाठभेद—स्यूँ-१। चारचौं-१-५। समरथ-१। इमरित-१। सुमिरत-१।

शब्दार्थ—दुरसि=बुरी, अप्रिय। इलम=विद्या। आरवी=अरबी, कुरान। बयान=वर्णन। आपा=गर्व, अहङ्कार। वित आन=दूसरा धन, भौतिक सम्पत्ति। व्यौरा=जानकारी, वर्णन। नाथि=वश में करना। सुम्रत=याद करते, चिन्तन करते। षर=गधा।

जन हरीदास कहिये कहा, मन वसै विडांणै साथि ।
पाठ पढ्या सुम्रत सवै, इलम आरवी आथि ।।७।।

×

सव 'सुम्रत' श्रवणां सुण्यां, सव देष्या औगाहि ।
भरथर सत के सवद का, अरथ करै वहौ भाइ ।।
अरथ करै वहौ भाइ, अरथ अनमै सव जांणै ।
अगम निगम दिष्टांत, कथा मैं 'परसंग' आंणै ।।
जन हरीदास 'औगण' इहै, त्रिवधि ताप तन ताहि ।
सव सुम्रत श्रवणां सुण्यां, सव देष्या औगाहि ।।८।।

×

स्वामी तौ वैठा सही, मांनि छांनि की छांहि ।
मांनि छांनि उड़ जाइगा, जव जम पकड़ै वांहि ।।
जव जम पकड़ै वांहि, पकड़ि धरती सूं मारै ।
जन हरीदास गोव्यंद विमुष, नर कौंण दरवारि पुकारै ।।
माया ठगि ठगि षात है, यौं मति जांणौं षांहि ।
स्वामी तौ वैठा सही, मांनि छांनि की छांहि ।।९।।

×

जन हरीदास सवको सुषी, राग दोस रस हाथि ।
अरस परस होइ मिलि रह्या, गुण इंद्रया कै साथि ।।
गुण इंद्रया कै साथि, जहर 'इंम्रत' करि पीवै ।
साधां वरजी वात, तहां ही लागा जीवै ।।

पाठभेद—सुमरत-१ । समृत-३ । प्रसंग-१ । अवगुण-१ । इमरित-१ ।

शब्दार्थ—औगाहि=छानबीन कर । भरथर सत=भर्तृहरिशतक । परसंग आणैं=प्रकरण लावे, दृष्टान्त दे । त्रिवधि ताप=आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक । मांनि छांनि की छांहि=गर्व के छप्पर की छाया में । यौं मति जांणौं षांहि=ऐसा मत समझ कि ये छल करते हैं । जहर=विषयभोगरूपी विष । साधां वरजो=महात्माओं ने जिसके लिए मना किया ।

कोइ जन जाग्या सो जांणसी, रांम नाम निज आथि ।
जन हरीदास सब को सुषी, राग दोस रस हाथि ॥१०॥

×

भेष पहरि भांडी करी, हारि जीत 'यूँ' हेत ।
अरस परस वाइक जहर, 'यूँ' लाडू करि लेत ॥
यूँ लाडू करि लेत, हेत रस वांटै भारी ।
अधिक प्रीति 'परवेस', मिलै ज्यूँ स्वांन मँजारी ।
जन हरीदास कहिये कहा, चेतै नहीं अचेत ॥
भेष पहरि भांडी करी, हारि जीत यूँ हेत ॥११॥

×

लोगां सेती प्रीति, साध देष्यां दुष पावै ।
विरक्त दीसै दूरि, इहै मोहि अचिरज आवै ॥
इहै मोहि अचिरज आवै, जहर दारण दुष दावै ।
नीसांणां की वात, मूँठि दुविध्या मैं राषै ॥
जन हरीदास 'औगण' इहै, आप का औगण छावै ।
लोगां सेती प्रीति, साध देष्यां दुष पावै ॥१२॥

×

तामस गुण रस वैरता, राजस रस अभिमांन ।
स्वातिग रस गुण लुड़षड़ी, तहां जीव तोड़ै तांन ॥

पाठभेद—यौं-१ । प्रवेस-५ । अवगुण-१ ।

शब्दार्थ—निज आथि=असली धन । भांडी करी=भांडपणा किया, दिखावट में ही रहा । वाइक=वाक्य, शब्द । यूँ लाडूकर लेत=अपने दिखावटीपन को भी महत्व का मान लेना । औगण छावै=अपने अवगुण छिपावे । रस वैरता=तम का गुण क्रोध । राजस रस अभिमांन=रजोगुण का रस अहङ्कार । लुडषड़ी=मीठा बोलना ।

तहां जीव तोड़ै तांन, घर स चौथा नहिं पाया।
भेष धरया धरि छिप्या, जीव जीवाँ की छाया॥
जन हरीदास कहिये कहा, कहि कौंण न पूजै आन।
तामस गुण रस वैरता, राजस रस अभिमांन॥१३॥

×

स्वादी सूँ स्वादी मिलै, जहां समझि तहां साच।
मांनि अमांनि मै तैं मनी, स्वाद नचावै नाच॥
स्वाद नचावै नाच, पांच इन्द्री रस पीवै।
जहां जीव का वास, तहां ही लागा जीवै॥
जन हरीदास हरि स्वाद तजि, कूँण गहै करि काच।
स्वादी सूँ स्वादी मिलै, जहां समझि तहां साच॥१४॥

×

ऊपर वाड़ै सेरियां, कहै पीव सूँ प्रीति।
'याह' वातां सहि परसि करि, कौंण गया जुग जीति॥
कौंण गया जुग जीति, रांम सुष लहै न क्यूँ ही।
साषी सबद अरथ, कहै कहि ज्यूँ का त्यूँ ही॥
जन हरीदास औगण इहै, रजा आंन रस रीति।
ऊपर वाड़ै सेरियां, कहै पीव सूँ प्रीति॥१५॥

×

पषा पषी सबकौ मिलै, जहर भरया मुष नाग।
जन हरीदास बोल्यां विगति, कहां कोइल कहां काग॥

पाठभेद—यह–१।

शब्दार्थ—स्वादी सूँ=सांसारिक पदार्थों को चाहने वाले से। समझि=तत्व-ज्ञान। साच=सत्य, निर्गुण तत्व। तहां ही=उसी में, वहीं। सेरियां=गलियाँ, रास्ते। याह वातां=इन दिखावटी बातों से। रजा=आज्ञा, हुक्म। पषा पषी=अपने-अपने पक्षधर्म को लेकर।

कहां कोइल कहां काग, भेष भी व्यौरा भारी।
वाह अचवै रस आंब, काग करकां विभचारी॥
वरण छाड़ि अवरण भजै, ताकै 'मसतगि' भाग।
पपा पषी सब कौ मिलै, जहर भरचा मुष नाग॥१६॥

भूलि गया भांडी करी, परम सनेही रांम।
जहां तहां तैं जीव सब, न्याइ सहै सिर घांम॥
न्याइ सहै सिर घांम, नाँव निरभै नहिं पाया।
सूक 'त्रिछ' सूँ प्रीति, अगम हरि तरवर छाया॥
जन हरीदास गोव्यंद विमुष, कदे न नर निहकाम।
भूलि गया भांडी करी, परम सनेही रांम॥१७॥

॥ इति चाणक को अंग सम्पूर्ण ॥

॥ अथ कामी नर को अंग ॥

काम गयंद गरजत फिरै, पवन धजा फहराइ।
जा जा घटि संचर करै, सो काम रूप 'व्है' जाइ॥
सो काम रूप व्है जाइ, संक काहू की नहिं मानै।
'वसती' मांहि उजाड़, कोस द्वादस की जानै॥
जन हरीदास गति मति हरै, बुधि बल कछु न बसाइ।
काम गयंद गरजत फिरै, पवन धजा फहराइ॥१॥

×

पाठभेद—मस्तगि–१-३। व्रिष–१। होइ–५। वस्ती–१-५।

शब्दार्थ—वरण छाड़ि=सगुण तज। ता कै मसतगि भाग=उसके उत्तम भाग्य हैं। सर घांम=त्रिविध-संताप सहना। सूक त्रिछ=संसारमुख सूखे वृक्ष वत् है। हरि तरवर छाया=चेतनरूपी वृक्ष की सर्वदा सुखदायी छाया है। काम गयंद=कामरूपी हाथी। संक=शंका, मर्यादा। उजाड़=सूनापन, निर्जन।

ग्यांन तषत तैं ऊतरचा, झुक्या झरोषै आइ।
देषि मगन मन मोहनी, पीछे लागा 'धाइ'॥
पीछे लागा धाइ, चोरि चंचल चित लीया।
संकर तैं कोइ सबल, काम अपणैं वसि कीया॥
जन हरीदास कहिये कहा, बहौत भांति करि षाइ।
ग्यांन तषत तैं ऊतरचा, झुक्या झरोषै आइ॥२॥

×

घटत घटत सब यूँ घट्या, ज्यूँ किसांण का लौह।
जन हरीदास जीव करत है, आप आपणां दौह॥
आप आपणां दौह, दुषस दारण तहां जीवै।
पारब्रह्म पति छाड़ि, 'और' नाना रस पीवै॥
साच सबद श्रवणां सुणै, तब उरि प्रगटै छौह।
घटत घटत सब यूँ घट्या, ज्यूँ किसांण का लौह॥३॥

×

जन हरीदास संसार सुष, लौह 'अगनि' की प्रीति।
लौह घटै कोइला जलै, दहूँ अँगा याह रीति॥
दहूँ अँगा याह रीति, कहा पुरस कहा नारी।
क्रोध अगनि 'परजलै', धवणि दोइ दुष सुष भारी॥
मोह लुहार मैं तैं सु 'घण', विथा गई वप जीति।
जन हरीदास संसार सुष, लौह अगनि की प्रीति॥४॥

×

पाठभेद—अवर–१। अग्नि–१। प्रजलै–१। घन–३-४।

शब्दार्थ—झुक्या झरोषैं आइ=कामप्रवृत्ति में प्रवृत्त होना। ज्यूँ किसाणां का लौह=जैसे किसान के हल का फाल घिसता रहता है। दौह=द्रोह, वैर। दुषस दारण=वासना की अपूर्त्तिजन्य अत्यन्त दुःख सहता है। छोह=क्रोध। संसार सुष=बिषयभोग का सुख। धवणि=धौंकनी। मै तैं सुघड़=मेरा-तेरा का भेदरूपी घन। वप=शरोर, देह।

नारी कै पषि नर वँध्या, ग्यांन परां पष नास।
फिरि देषै आकास कूँ, भी उड़णै की आस॥
भी उड़णै की आस, 'सकति' उड़णै को नांहि।
धरचो धरचा सूँ हेत, विवधि 'चिंता' घट मांहि॥
जन हरिदास नर जामै मरै, जलि थलि जहां तहां वास।
नारी कै पषि नर वँध्या, ग्यांन परां पष नास॥५॥

×

जन हरीदास नारी नरां, मोटी विथा विकार।
रूप दीप सुर नर पतंग, जल वलि तन मन छार॥
जलि वलि तन मन छार, अंति 'दोन्यूँ' पष छीजै।
काम करद कर कुबुधि कै, जिवह किया कै कीजै॥
एक दुरन कूँ वोट है, रांम नाम ततसार।
जण हरीदास नारी नरां, मोटी विथा विकार॥६॥

×

रांम स वन मैं छल्या, अकलि ब्रह्मा की षोवण।
पारासुर तपहरण, मुचकंद सिसपाल विगोवण॥
मुचकंद सिसपाल विगोवण, गरव लंका गढ़ हारण।
रांवण सैन्या मारि, नरकि नरकासुर डारण॥

पाठभेद—सक्ति–३-५। च्यंता–२। दोन्यौं–१।

शब्दार्थ—पषि=पक्ष में, साथ। ग्यांन परां=ज्ञानरूपी पङ्ख। धरचो धरचा सूँ हेत=नाशवान भौतिक-पदार्थों से प्रेम। मोटी विथा=बड़ी पीड़ा। रूप दीप=स्त्री के मोहकरूपरूपी दीप में। काम करद=कामरूपी छुरी। जिवह=कत्ल, संहार। विगोवण=डुबोने वाला।

जन हरीदास नारी सरूप, 'परमगति' उरतैं धोवण।
रांम स वन मैं छल्या, अकलि ब्रह्मा की षोवण ॥७॥

×

जदपि 'मछिंदर' मन डिग्या, देषि नाटक घट नारी।
राजा जत जतन करत, धूत्यो धूतारी ॥
धूत्यौ धूतारी, काम वसि तौ मति काची।
पकड़ि नचायो कान्ह, साथि महियारी नाची ॥
जन हरीदास संतनु ठग्या, देह जब गंगा धारी।
जदपि मछिंदर मन डिग्यो, देषि नाटिक घट नारी ॥८॥

×

दुस्सासण की भुजा, लात दै उरां उपाड़ी।
पांडौ लै पैठी हेम, 'सेनि' कैरवाँ सँघारी ॥
सेनि कैरवाँ संघारी, चिरत एक और बणाया।
जन हरीदास दसरथ सुत, सो रांमचंद्र वनवास पठाया ॥
सींगी रिषि वन मांहि ठगि, साथ लै चली ठगारी।
दुस्सासण की भुजा, लात दै उरां उपाड़ी ॥९॥

॥ इति कामी नर को अंग सम्पूर्ण ॥

पाठभेद—प्रमगति-१। मछिद्र-१। सेन्य-२।

शब्दार्थ—परम गति=मुक्तिमार्ग की इच्छा। उर तैं धोवण=हृदय से धो देना, निकाल देना। डिग्या=झुका, लड़खड़ाया। राजा=भर्तृहरि। धूत्यौ=ठगा। धूतारी=ठगनी। महियारी=स्त्रियां, गोपियां। शंतनु=राजा शान्तनु। उरां=छाती पर। हेम=हिमालय में।

॥ अथ भरम-विधूंस को अंग ॥

पुरस नारि मैं तैं नहीं, नहिं पासा नहिं सारि ।
उाव नहीं चौपड़ि नहीं, नहीं जीति नहिं हार ॥
नहीं जीति नहिं हार, इहै मोहि 'इचरज' आवै ।
नहीं काल नहिं जाल, कौण जमलोक पठावै ॥
जन हरीदास जीव तुलत है, आप आपणैं भारि ।
पुरस नहीं मैं तैं नहीं, नहिं पासा नहि सारि ॥१॥

×

ऊँच नीच निरभै मतै, कोई 'परसो' पाँव ।
ता करि तैसा फल चढ़ै, जाकै जैसा भाव ॥
जाकै जैसा भाव, तिसै सुष जाइ समावै ।
गुण धरि माया सूँ मिलै, निरगुण निरभै पद पावै ॥
जन हरीदास षेलौ कहूँ, दहूं अँगा यहु 'दाव' ।
ऊँच नीच निरभै मतै, कोई परसो पाँव ॥२॥

×

मेरे हिरदै मँड रह्या, निरगुण जस विसतार ।
माई मूँडूँ आन की, लार उड़ाऊँ छार ॥
लार उड़ाऊँ छार, भार सिरि सह्या न जाई ।
भजि करणहार करतार, छाड़ि दूजा दुषदाई ॥

पाठभेद—अचिरज-५ । अचरिज-१ । प्रसो-१ । डाव-५ ।

शब्दार्थ— डाव=दाँव, मौका । इचरज=आश्चर्य । तुलत है=तुलना, समानता करना । आपणै भाइ=अपने अहङ्कार के अनुसार । परसो=स्पर्श करो, उसमें लगो । गुण धरि=सगुण उपासना, सकाम कर्म । दहुं अँगां=दोनों ओर, ऊँच नीच में । आंन की=और को । छार=राख ।

जन हरीदास काचा 'इसट', ले जाई काली धार ।
मेरे हिरदै मँड रह्या, निरगुण जस विसतार ॥३॥

॥ इति भरम विधूंस को अंग सम्पूर्ण ॥

॥ अथ उपदेश को अंग ॥

अवधि घटै ग्रासै जुरा, काल पहूँता आइ ।
रांम भजो विषिया तजो, जनम अमोलिक जाइ ॥
जनम अमोलिक जाइ, जीव जाणैं तौ जांणी ।
हरि सुमिरण उर धारि, आन उरि इसट न आंणी ॥
जन हरीदास हरि सुष अगम, फेरि तहां मन लाइ ।
अवधि घटै ग्रासै जुरा, काल पहूँता आइ ॥१॥

×

मन सज्जन एक वात, घात या तुम्ह सूँ कहिये ।
तजि कांम क्रोध अभिमांन, रांम राषै 'तहां' रहिये ॥
रांम राषै तहां रहिये, सिर जुरा मरण जमचोट न लागै ।
आतम कै 'असथान', जोग जरणां ले जागै ॥
जन हरीदास निरभै 'वसत', अगाहि अभिअंतरि लहिये ।
मन सज्जन एक वात, घात या तुम्ह सूँ कहिये ॥२॥

×

पाठभेद—इष्ट-१-५ । त्यूँ-३ । अस्थांन-१-५ ।

शब्दार्थ—काचा इसट=कामनामय उपासना । घात=ताक, मौका । आतम कै असथान=अधिष्ठानचेतन, व्यापक ब्रह्म । जोग=योगसाधन से । जरणां=सहनशीलता । निरभै वसत=कालभय से रहित चेतनतत्व ।

गरव छाड़ि गोव्यंद भजौ, भूलि पड़ौ मति कोइ।
जन हरीदास हरि सी 'वसत', भूलां भली न होइ॥
भूलां भली न होइ, फुनिंग मणि विणि क्यूँ जीवै।
जहर पियाला कहर, हाथ अपणैं नर पीवै।
उरि अंतरि कांटा अहूं, ग्यांन निजर लै षोइ।
गरव छाड़ि गोव्यंद भजौ, भूलि पड़ौ मति कोइ॥३॥

×

आप आप कूँ मारि करि, आप आप कूँ षाइ।
आप आप कूँ छाड़ि करि, आप आप तहां जाइ॥
आप आप तहां जाइ, रांम निरभै सुष जांणैं।
ता सुषि रहै समाइ, आंन उरि 'इसट' न आंणैं॥
जन हरीदास गोव्यंद भजौ, मैं तैं मोह चुकाइ।
आप आप कूँ मारि करि, आप आप कूँ षाइ॥४॥

×

जन हरीदास सिर कै सटै, कोई स्यौदा ल्यौह।
सिर सौंप्यौ संसार कूँ, 'यहु' साहब कूँ द्यौह॥
यहु साहब कूँ द्यौह, मूल योहीं मत साचा।
रांम अषंडित गाइ, गहौ सतगुर की वाचा॥

पाठभेद—वस्त–५। इष्ट–१-५। इहु–२।

शब्दार्थ—फुनिग=फणिसर्प। कहर=काल। कांटा अहुं=अहङ्काररूपी शूल। आप आप कूँ मारि करि, आप आप कूँ षांहि=मन ही मन को मारकर चञ्चलता हटा उसके कालुष्य काट देता है। आप आपकौ छाड़ि करि, आप आप तहां जाइ=मन अपने देहाध्यास को त्याग अपने आधार चेतनतत्व में समाहित हो जाता है। स्यौदा लेहु=वस्तु खरीदो, विणज करो। सिर सौंप्यौ=सिर सौंप, उस विषयवासना में अपने को लगाया। यहु साहब कूँ द्यौह=यह जीवन परमपिता को अर्पण करो। वाचा=वाणी, उपदेश।

मद्न मोह मैं तैं तजौ, एक भला मत यौह।
जन हरीदास सिर कै सटै, कोई स्यौदा ल्यौह ॥५॥

×

जन हरीदास रचि मा विरचि, नांव निरंजन लेह।
जा सूँ तूँ अपनी कहै, सो तौ दूजी देह॥
सो तौ दूजी देह, झूठ सूँ नेह न कीजै।
उलटा गौता मारि, अगम अनहद रस पीजैं॥
पांच तत्त तत्ता मिलै, दुरे देषतां देह।
जन हरीदास रचि मा विरचि, नांव निरंजन लेह ॥६॥

×

'जो' तूँ चाहे मुझ कूँ, तौ आंन न धरि उर भाव।
मैं मारया मै मिलूँगा, मैं न्यारी धरि आव॥
मैं न्यारी धरि आव, जागि देषै नहिं लोई।
अरस परस रस 'एक', 'और' संचर नहिं कोई॥
जन हरीदास गोव्यंद भजौ, ए पासा ए डाव।
जो तूँ चाहे मुझ कूँ, तौ आंन न धरि उरि भाव ॥७॥

×

आंन वोट ऊभा अजूँ, सकै तौ पड़दा डालि।
साहिब कै पड़दा नहीं, तूँ अपणी वोट सँभालि॥

पाठभेद—जे-१। येक-२। अवर-१।

शब्दार्थ—मदन=काम। रचिमा विरचि=रचितसृष्टि के पदार्थों में आसक्त मत हो। जासूँ तू=जिस काम को तू। झूठ सूँ=असत्य से, नाशवान पदार्थ से। पांच तत्त तत्ता मिलै=यह पाँच तत्वों का शरीर अन्त में अपने-अपने तत्वों में ही मिल जाता है। आंन न धरि=और का मत न अपना। मैं मारया=अहङ्कार को मारने से। मैं मिलूँगा=आत्मतत्व प्राप्त होगा। संचर नहिं=संचार नहीं, प्रवेश का मार्ग नहीं। आन वोट=वासना का सहारा, देवी-देवताओं की आड़।

तूँ अपणी वोट सँभालि, जागि नर जागि न मोई।
नर नाराइण देह, रांम विनि वादि न षोई॥
जन हरीदास अंतरि अगहि, अगम 'वसत' सोइ भालि।
आंन वोट ऊभा अजूँ, सकै तौ पड़दा डालि॥८॥

×

जहां जीव तहां जोर है, जोर जीव कै साथि।
सहर मांहि वाजी मँडी, षाली पासा हाथि॥
षाली पासा हाथि, साथि सब षोटा साथि।
कांम क्रोध अभिमांन, मोह मद वहता हाथि॥
जन हरीदास गोव्यंद भजौ, हरि निरभै निज आथि।
जहां जीव तहां जोर है, जोर जीव कै साथि॥९॥

×

वैर विरषि हिरदै वसै, दिन दिन वधतौ जाइ।
या वेदन कूँ हरि जड़ी, लाइ सकै तौ लाइ॥
लाइ सकै तौ लाइ, रोग कोइ रहण न पावै।
जन हरीदास तजि आंन, रांम भजि रांमहि गावै॥
अरि तरवर सींचै जिकौ, तिको जहर फल षाइ।
वैर विरष हिरदै वसै, दिन दिन वधतौ जाइ॥१०॥

×

पाठभेद—वस्त–१-५।

शब्दार्थ—वादि न=व्यर्थ ही। भालि=भली है, देख। जहां जीव=जिस ओर प्रवृत्ति है। सहर मांहि=कायानगर में। षोटा साथि=झूठे मित्र, आसुरी सम्पत्ति के हिंसा, क्रोध, अज्ञानादि। वैर विरषि=ईर्ष्यारूपी वृक्ष। अरि तरवर=शत्रुरूपी वासना के वृक्ष को।

भलै मतै बुधि ऊपजै, बुरै मतै बुधि जाइ ।
भलै मतै गोव्यंद भजै, बुरै मतै विष षाइ ॥
बुरै मतै विष षाइ, पाप का तरवर बोवै ।
रांम नाम व्रत छाड़ि, काल कै घर मैं सोवै ॥
जन हरीदास या जीव 'व्रति', चलत देह कै भाइ ।
भलै मतै बुधि ऊपजै, बुरै मतै बुधि जाइ ॥११॥

×

धनि माता मैंणावती, पुत्र किया 'दरवेस' ।
निज बुधि ग्यांन बताइ करि, असलि दिया उपदेस ॥
असलि दिया उपदेस, काल पै प्रांण छुड़ाया ।
'भौ' सागर तैं काढ़ि, नाथ का चरणां लाया ॥
गोपीचंद निरभै भया, मिटि गया मोह अँदेस ।
धनि माता मैंणावती, पुत्र किया दरवेस ॥१२॥

॥ इति उपदेस को अंग सम्पूर्ण ॥

॥ अथ समरथाई को अंग ॥

जहां जल तहां हरि थल करै, थल तहाँ फिरि जल होइ ।
कुदरति तेरी बापजी, गति मति लषै न कोइ ॥
गति मति लषै न कोइ, रांम तुम्ह सब कै दाता ।
जीव हरांमी षोर, अहुं माया मदमाता ॥

पाठभेद—वृत्ति-१-५ । द्रवेस-१ । भव-१ ।

शब्दार्थ—भलै मतै=अच्छे विचार, सद्भावना । व्रति=वृत्ति, भावना । दरवेस=फकीर, त्यागी । मोह अँदेस=ममतासंशय । थल करै=भूमि कर दे । अहुं=अहङ्कार । मदमाता=गर्व में उन्मत्त ।

जन हरीदास हरि परसतां, गहर विथा गत दोइ।
जहाँ जल तहाँ हरि थल करै, थल तहाँ फिरि जल होइ ॥१॥

×

जहाँ हरि राषै तहाँ मैं रहूं, मैं राषै तहाँ नांहि।
मैं राषै तहाँ मैं रहूं, तौ मैं बूड़ा मांहि॥
तौ मैं बूड़ा मांहि, नाथ याह तुम्ह सूँ कहिये।
पारब्रह्म पति छाड़ि, आन मारगि क्यूँ वहिये॥
जन हरीदास 'गोव्यंद' विमुष, भौंदू भूला जांहि।
जहाँ हरि राषै तहाँ मैं रहूँ, मैं राषै तहाँ नांहि ॥२॥

×

कहा अमाप का मापिये, वार पार मधि नांहि।
सकल वियापी सँगि वसै, ताहि छाड़ि मति जांहि॥
ताहि छाड़ि मति जाहि, रोग मैं भोग न लोई।
अरस परस मिलि षेलि, पार नहिं पावै कोई॥
जन हरीदास अवगति अगम, जहाँ तहाँ सब मांहि।
कहा अमाप का मापिये, वार पार मधि नांहि ॥३॥

×

रांम रजा गिरि सर सरूँ, सर तहाँ फिरि गिरि होइ।
रंक राव राजा सु रंक, उलट पलट पष दोइ॥

पाठभेद—गोविन्द–३-४।

पाठभेद—गहर=गम्भीर। गत दोइ=जन्ममरणगत–समाप्त हो गए। मैं राषै=अहङ्कार के अनुसार। बूड़ा=डूबा। भौंदू=बेवकूफ, अज्ञानी। वार पार मधि=आदि, अन्त, मध्य। रोग मैं भोग न लोई=हे भाई! संसार के सुखरूप रोग के भोग में मत लगो। रजा=निर्देश, आज्ञा। सर=सरोवर। सरूँ=नदी।

उलट पलट पष दोइ, नांव करता तौ करसी ।
षाली भरै भंडार, भरया षाली करि धरसी ॥
जन हरीदास उदवुद कथा, ऐसा समथ सोइ ।
रांम रजा गिरि सर सरूँ, सर तहाँ फिरि गिरि होइ ॥४॥

×

अरि भंजन अनरथ हरण, 'गरव' हरण गोपाल ।
जन हरीदास अकरण करण, हरि अकल सकल विसपाल ॥
हरि अकल सकल विसपाल, नाथ निरभै निरधारं ।
निराकार निरलेप, वार नहिं लाभै पारं ॥
मन चंचल निहचल तहाँ, जम का लगै न जाल ।
अरि भंजन अनरथ हरण, गरव हरण गोपाल ॥५॥

×

वात नाथ कै हाथि है, करता करै सो होइ ।
जन हरीदास गोव्यंद विमुष, सदगति सुण्यां न कोइ ॥
सदगति सुण्यां न कोइ, जीव सींव कहा जांणै ।
हरि आप आपणां ग्यांन, नांव दै नैंड़ा आंणै ॥
हरिजन हरिदास राषै तहाँ, जहाँ दषल नहिं कोइ ।
वात नाथ कै हाथि है, करता करै सो होइ ॥६॥

×

जन हरीदास हरि अगम है, 'पहुंचै' विरला कोइ ।
साहिवजी की वंदगी, साहिव ही तैं होइ ॥

पाठभेद—ग्रव-१ । पहौंचै-५ ।

शब्दार्थ—धरसी=धरेगा, रखेगा । उदवुद=अद्भुत । अरि भंजन=मोहादि शत्रु-नाशक । विसपाल=विश्वपाल, जगतरक्षक । सद्गति=श्रेष्ठगति, मुक्तदशा । सींव=परब्रह्म । नैंणा आंणै=समीप लावे । वंदगी=सेवा, उपासना ।

साहिब ही तैं होइ, मैल हरि मन का धोवै।
पूरणब्रह्म अगाध, करम कांटा सब षोवै॥
अधर निड़र निरभै 'नृगुण', तहाँ मन लगै न लोइ।
जन हरीदास हरि अगम है, पहुँचै विरला कोइ॥७॥

॥ इति समथाई को अंग सम्पूर्ण ॥

॥ अथ साध को अंग ॥

तब थी सो मति अब नहीं, तब 'तौटा' अब लाह।
दोषी सब सोषी भया, चौर भया सब साह॥
चौर भया सब साह, साच लैं सौदै लागा।
भजै निरंजन देव, आंन अनरथ अरि भागां॥
जन हरीदास हरि सुमिरतां, सब घरि सदा उछाह।
तब थी सो मति अब नहीं, तब तौटा अब लाह॥१॥

×

राग दोष हिरदै नहीं, कर सूँ करै न चोट।
'मुष' 'मथ्या' बोलै नहीं, श्रवणां सुणैं न षोट॥
श्रवणां सुणैं न षोट, नांव निरभै सुष पाया।
ता सुषि रह्या समाइ, छाड़ि सब छोटी छाया॥

पाठभेद—निरगुण–१। टोटा–१। मुषि–५। मिथ्या–३-४।

शब्दार्थ—करम कांटा=संचितादि कर्मों के शूल। लगै न=प्रवृत्त नहीं, लगे नहीं। तौटा=नुकसान, घाटा। लाह=लाभ, मुनाफा। दोषी=अपराधी, मन, बुद्धि, वृत्ति आदि। सोषी=सुखी। उछाह=उत्साह, उमङ्ग। दोष=द्वेष। कर सूँ=हाथ से। चोट=प्रहार, आघात। मथ्या=झूठ। षोट=दोष, निन्दा। छोटी छाया=माया की छाया।

जन हरीदास हरि सुमिरतां, दुरी आंन सब वोट।
राग दोष हिरदै नहीं, कर सूँ करै न चोट ॥२॥

॥ इति साध को अंग सम्पूर्ण ॥

॥ अथ साच को अंग ॥

साच सबद हीरा षरा, राषै विरला कोइ।
पष पाड़ा लागै नहीं, सो फिरि हीरा होइ॥
सो फिरि हीरा होइ, सीस कै साटै लीजै।
जन हरीदास भीं 'वहौड़ि', कांम हीरा का कीजै॥
जैसा किसब तैसा उतन, छाप पड़ै नर लोइ।
साच सबद हीरा षरा, राषै विरला कोइ ॥१॥

॥ इति साच को अंग सम्पूर्ण ॥

॥ अथ विरकताई को अंग ॥

सील सज्या निरगुण दसा, अंतरि अति अणराग।
जन हरीदास निज निरषतां, वड़ी 'ल्हूस' वैराग॥
वड़ी ल्हूस वैराग, निजर जो नित तत आवै।
सनमुषि देषै सांच, ग्यांन गैवर चढ़ि ध्यावै॥

पाठभेद—वहुड़ि-१। लहूस-५।

शब्दार्थ—दुरी=छिपी, दूर हुई। पष पाड़ा=झूठे पक्ष में। किसब=काम। उतन=यत्न, उपाय। छाप=प्रभाव, असर। सज्या=शय्या, सजावट। अणराग=अनासक्ति, वैराग्य। ल्हूस=उमङ्ग। गैवर=हाथी।

थाघै समंद अथाह, अगम का हीरा ल्यावै।
'परषि' परषि निज पारषू, हीरा उन हीरां जिसा॥
प्रापति ह्वै तौ पाइये, सील सज्या निरगुण दसा॥१॥

॥ इति विरकताई को अंग सम्पूर्ण॥

॥ अथ निरवैरता को अंग॥

आप आप कूँ मारि करि, आप आप कूँ षाइ।
आप आपणां नास करि, न्याइ रसातलि जाइ॥
न्याइ रसातलि जाइ, आप कूँ आप सतावै।
काच महल वसि स्वांन, डसै डसि डसण गमावै॥
जन हरीदास सब आतमा, एक रूप वहौ भाइ।
आप आप कूँ मारि करि, आप आप कूँ षाइ॥१॥

॥ इति निरवैरता को अंग सम्पूर्ण॥

॥ अथ सूरातन को अंग॥

सूर वीर साचै मतै, साचा रोपै पाँव।
पैला अरि दल जीति करि, रांम भजन सूँ भाव॥
रांम भजन सूँ भाव, भेद कोइ विरला जांणै।
गंग जमन मधि पैसि, पांच पाइक पड़ि तांणै॥

पाठभेद—प्रषि-१।

शब्दार्थ—थाघै=थाह ले। स्वांन=कुत्ता। डसै=काटै। डसण=दांत। गंग जमन मधि पैसि=सुषुम्नामें वृत्तिको आरूढ़ कर। पांच पाइक=पांच ज्ञानेन्द्रियाँ। पड़ि तांणै=परीक्षा करे, टटोले।

जन हरीदास साचै मतै, रमै स सांचा डाव।
सूर वीर साचै मतै, साचा रोपै पाँव॥

॥ इति सूरातन को अंग सम्पूर्ण॥

॥ अथ भेष को अंग॥

कालरि वाहै षेत, साह की पूँजी षोवै।
भेष धरयां भी भरम, परम गति जागि न जोवै॥
परम गति जागि न जोवै, षुमी षेलै ता मांहि।
चित मांही वित विपति, नांव 'नाराइण' नांहि॥
जन हरीदास मसि करि लगी, वहौड़ि मसी सूँ मसि धोवै।
कालरि वाहै षेत, साह की पूँजी षोवै॥१॥

॥ इति भेष को अंग सम्पूर्ण॥

॥ अथ निगुणा को अंग॥

'औगण' ग्राही जीव की, सुणौ संत एक वात।
गुण छाड़ै औगुण गहै, तजि 'इंम्रत' विष षात॥
तजि इंम्रत विष षात, नांव हिरदै नहिं धारै।
कुवधि काच करि गहे, हाथ 'सूँ' हीरा डारै॥

पाठभेद—नारायण-१। अवगुण-१। इमरत-१। तैं-१।

शब्दार्थ—कालरि=दलदल भूमि, खारड़ा। भरम=संशय। वित विपति=दुःख देनेवाले भोगों की चाह। मसि=स्याही, अज्ञानकालिमा। गुण छाड़ै औगुण गहै=दैवी-सम्पदा के गुण छोड़ता है और आसुरीसम्पदा के अवगुण ग्रहण करता है। कुवधि काच कूँ करि गहै=प्रवृत्तिरूपी शीशा को ग्रहण करता है।

जन हरीदास आठूँ पहर, चढ़ै ऊतरै घात।
औगुण ग्राही जीव की, सुणौ संत एक वात ॥१॥

×

चंदन वृच्छ उपाड़ि, जहर तरवर जड़ राषै।
पारब्रह्म पति छाड़ि, विवधि वांणी नर भाषै॥
विवधि वांणी नर भाषै, षेप धरि आई षोवै।
ग्यांन सिंघासणि छाड़ि, सूल सज्या सुष सोवै॥
जन हरीदास हरि सुष अगम, दुषस दारण सुष दाषै।
चंदन वृच्छ उपाड़ि, जहर तरवर जड़ राषै ॥२॥

॥ इति निगुणा को अंग सम्पूर्ण ॥

॥ अथ हैरान को अंग ॥

कहत कहत कहि कहि अकहि, सुणत सुणत सुष सार।
लहत लहत लहि लहि अलहि, अगम वार नहिं पार॥
अगम वार नहिं पार, नांव कछु धरचा न जाई।
निराकार निज सार, साध 'परसै' सुषदाई॥
जन हरीदास अरचित अरत, हरि सम्रथ सिरजनहार।
कहत कहत कहि कहि अकहि, सुणत सुणत सुष सार ॥१॥

॥ इति हैरान को अंग सम्पूर्ण ॥

पाठभेद—प्रसे-१।

शब्दार्थ—चंदन वृच्छ उपाड़ि=आत्मतत्व की प्राप्तिरूप साधना के चन्दन वृक्ष को उखाड़ रहा है। षेप धरि आई षोवै=मनुष्यशरीर की प्राप्तिरूप अमूल्यधन को व्यर्थ खो रहा है। दुष स दारण=कठिन दुःखों को। सुष दाषै=सुख समझता है, सुख कहता है।

॥ अथ हेतप्रीति को अंग ॥

मेरा मन हरि सूँ लग्या, हरि मेरा मन मांहि ।
मैं हरि 'कूँ' छाडूँ नहीं, हरि मोहि छाड़ै नांहि ॥
हरि मोहि छाड़ै नांहि, हरि आप कूँ आप बतावै ।
निराकार निरलेप, साध कूँ पैंडे लावै ॥
जन हरीदास हरि 'सुमिरतां', जुरा काल भै नांहि ।
मेरा मन हरि सूँ लग्या, हरि मेरा मन मांहि ॥

॥ इति हेत-प्रीति को अंग सम्पूर्ण ॥

॥ अथ निरवैरता को अंग ॥

चींटी कूँ दीजै धका, तब ही अनरथ होइ ।
तंत मंत का जाप जपि, बुरा करौ मति कोइ ॥
बुरा करौ मति कोइ, जीव पैला दुष पावै ।
सबद जगावै वीर, वीर अपणै भषि आवै ॥
जन हरीदास साहिब सहित, वैर पड़त है दोइ ।
चींटी कूँ दीजै धका, तब ही अनरथ होइ ॥१॥

॥ इति निरवैरता को अंग सम्पूर्ण ॥

॥ कुण्डलियां सम्पूर्ण ॥

पाठभेद—कों-१ । सुमरतां-१-३ ।

शब्दार्थ—पैंडा=रास्ता, मार्ग । अनरथ=जुल्म, बुरा । तंत मंत्र=तन्त्रमन्त्र । पैला=अन्य, दूसरा । भषि आवै=खाने को आए, बलि लेने । दोइ=जीव घात ईश्वर अवज्ञा ।

॥ अथ चान्द्रायण ॥

॥ श्री गुरदेव को अंग ॥

गुर समथ सिरजनहार, सनेही रांम है।
भजि करणांनिधि करतार, भजन सूँ कांम है॥
विलमन कीजै वीर, रैन का जांम है।
हरि हाँ–जन हरिदास निरमल अंग अभंग, अजब विश्रांम है॥

॥ इति गुरदेव को अंग सम्पूर्ण॥

॥ अथ सुमिरण को अंग ॥

चंद सूर रथ अटकि, निरंजन पाइये।
उलटी पंष सँवारि, तहां मन लाइये॥
तजि घट 'औघट' घाट, अगम तहां जाइये।
हरि हाँ–जन हरिदास गगन गुफा मैं पैस, गरक गुण गाइये॥१॥

×

सील संतोष विचारिस, ग्यांन जगाइये।
उलटि पंष सँवारि, अगम तहां जाइये॥
निगम अगम रस एक, तहां मठ छाइये।
हरि हाँ–जन हरिदास हरि तरवर मैं वास, अगम फल षाइये॥२॥

×

पाठभेद—अवघट-१।

शब्दार्थ—जांम=याम, पहर। विश्राम=आराम, शान्ति। चंद सूर रथ अटकि=इडा-पिंगला में चलने वाले प्राण को रोक सुषुम्ना में लाए। उलटी पंष सँवारि=मन-इन्द्रियों को अन्तर्मुख कर उनके पङ्ख सँवारिये। गगन गुफा=दशमद्वार, ब्रह्मरन्ध्र। पैस=प्रवेश कर। गरक=तल्लीन हो। निगम अगम रस एक=वेद-श्रुति जिसको अगम कहते हैं, वह चेतनतत्त्व सर्वदा एक रस है।

ग्यांन चक्र लै हाथि, सव न षंड षेलिये।
परम जौति विश्रांम, तहां मन मेलिये॥
वरषा वारा मास, अमी रस झेलिये।
हरि हाँ–जन हरिदास आंन धरम सब झूठ, पवन सूँ पेलिये॥३॥

×

रांम नाम व्रत धारि, विषै विष डारिये।
सुषमनि पवन सँवाहि, 'त्रिवधि' रस टारिये॥
पैंडा करणां वीर, देषि पाँव धारिये।
हरि हाँ–जन हरिदास उलटा पवन निरोध, स पारा मारिये॥४॥

×

राजा रांम विसारि, सजन मन हारिये॥
मोटा वैरी मोह, महा रिप मारिये।
कांम क्रोध अभिमांन, 'अगनि' मुषि जारिये॥
हरि हाँ–जन हरिदास भजि रांमस, कांम सँवारिये॥५॥

×

पारब्रह्म सूँ प्रीतिस, रीति विचारिये।
दूजी रीति अनीति, हाथ तै डारिये॥
कांम क्रोध मनमैल, अगनि मुषि जारिये।
हरि हाँ–जन हरिदास अभ्यास, अलष उर धारिये॥६॥

×

पाठभेद—त्रिविधि–१। अग्नि–१।

शब्दार्थ—ग्यांन चक्र लै हाथि=आत्मज्ञान का चक्र हाथ में ले। सवन षंड=मल, विक्षेप, संशयादि सब दोषों को नष्ट कर। पवन सूँ पेलिये=प्राणायाम समाधि-साधना से सब बन्धनों की पेलिये–दूर करिये। विषै विष=विषयों का जहर। त्रिवधि रस=त्रिगुणात्मकरस। पैंडा करणां=रास्ता तय करना। उलटा पवन निरोध=प्राण का प्रवाह सामान्यतः नाभि से नासिका द्वारा होता है, इसको उलटि मेरुदण्ड की ओर से प्रवाहित कर रोकना। स पारा मारिये=चंचलमनरूपी पारे को मारिये–स्थिर करियं। महा रिप=प्रवल शत्रु। अगनि मुषि जा!रिये=ज्ञानाग्नि द्वारा जलाइये। सँवारिये=सफल करिये। अभ्यास=साधना।

अब तौ एक अनूप, उलटि पर धरत है।
सूनि मंडल मैं वैसि, सु आरंभ करत है॥
भज अलष निरंजन नाथ, अभषि भष जरत है।
हरि हाँ–जन हरिदास निरभै भया निसंक, साध नहिं डरत है॥७॥

×

ग्यांन गुफा मैं पैसि, 'अगनि' 'परजारिये'।
आठ काठ अभिमान, तहाँ लै डारिये॥
रस पाँच सात गुण तीन, अगनि मुषि जारिये।
हरि हाँ–जन हरिदास ब्रह्म अगनि 'परकास' अगाध विचारिये॥८॥

॥ इति गुरदेव को अंग सम्पूर्ण ॥

॥ अथ परचा को अंग ॥

लोक लाज पष भेष, अपूठी चाल है।
त्रिवेणी तटि ध्यांन, तहां एक लाल है॥
गरव सिला करि दूरि, इहै वड़ साल है।
हरि हाँ–जन हरिदास पूरणब्रह्म अगाध, अमोलिक माल है॥१॥

×

पाठभेद—अग्नि–१। प्रजारिय–१। प्रकास–१।

शब्दार्थ—अभषि भष=लोभ, मोह, काम, क्रोधादि की खुराक खा। निसंक=शङ्कारहित। अगनि परजारिये=ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित करिये। आठ काठ=आठ मद (जाति, राज, तप, वल, कुल, रूप, विद्या और पद) का ईंधन। रस पांच=छः रस, पांच विषय। सात=रसादि सातधातुमय देहाध्यास। गुण तीन=सत, रज, तम। अपूठी=उलटी, विपरीत। लाल=अनमोल आत्मतत्व। साल है=चुभन, क्लेश। अमोलिक माल है=अमूल्य धन है।

अलष निरंजन नाथ, स साथी सूर है।
भजि करणहार करतार, सु रांम हजूर है॥
दीनानाथ दयाल, सवन का मूर है।
हरि हाँ-जन हरीदास तेजपुंज परकास, अषंडिर नूर है॥२॥

×

रुति पलट्यां मन मांहि, अचंभा होत है।
नीर बूँद निरमोलक, हीरा होत है॥
हीरै हीरा वेध्या जाइ, पोत का पोत है।
हरि हाँ-जन हरिदास उन हीरां की, जाति हमारा गोत है॥३॥

×

परम सनेही रांम, तहां मन जात है।
वंकनालि 'विसरांम', सदा रस षात है॥
भजिये रमता रांम, इहै वड़ घात है।
हरि हाँ-जन हरिदास हरि परम उदार, अपार हमारा तात है॥४॥

×

गंग जमन मधि पैसि, अगम तहां जाइये।
'परमजोति' परकास, परम मति पाइये॥
वार पार मधि नांहि, कहा कहि गाइये।
हरि हाँ-जन हरिदास तेजपुंज रस एक, तहां मन लाइये॥५॥

×

पाठभेद—प्रकास-१। विश्राम-३। प्रमजोति-१।

शब्दार्थ—मूर है=मूल है, आधार है। रुति पलट्यां=ऋतु बदलने पर, मन वाह्यवृत्ति को छोड़ अन्तर्मुख हुआ। नीर बूंद=वीर्य तथा रज से पैदा शरीर। गोत है=गोत्र, कुल। घात है=अवसर है, मौका है। तात है=पिता है, जनक है।

जन हरिदास ल्यौ लाइ, तहां चल जाइये।
जहां न व्यापै धूप, न सीत सताइये॥
वरषा वारा मास, तहां वसि जीजिये।
हरि हाँ—जन हरिदास अगम पियाला हाथि, सदा रस पीजिये॥६॥

×

जन हरिदास भजि रांम, भली यह टेक है।
जाइ वसै ता देस, तहां रस एक है॥
वंकनालि विसरांम, सदा हरि पाइये।
हरि हाँ—जन हरिदास झिलमिल झिलमिल होइ, तहाँ मन लाइये॥७॥

॥ इति परचा को अंग सम्पूर्ण॥

॥ अथ काल को अंग ॥

जीव सूता नींद अघोर, मनी मद षात है।
काल करत है ताक, पकड़ि लै जात है॥
काल तमाचा जोरि, लग्या मुरझात है।
हरि हाँ—जन हरिदास गरवहरण गोपाल, वचन की घात है॥१॥

×

नर सूता जागै नांहि, नींद की छाक है।
माया छाया विरष स, तरवर आक है॥

पाठभेद—बिरछ-२।

शब्दार्थ—ल्यौ लाइ=लौ लगा, वृत्ति लगा। धूप न=गर्मी नहीं, सन्ताप नहीं। सीत सताइये=स्वर्गादि सुख की शीतलता नहीं सताती। टेक है=प्रण है, हठ है। नींद अघोर=प्रगाढ़ नींद, अज्ञाननिद्रा। मनी मद षात है=मन अहङ्कार के नशे में है। छाक है=मस्ती है, तृप्ति है।

समझि पड़ी घर दूरि , काल की ताक है ।
हरि हाँ–जन हरिदास रांम भजन विनि घातस, बात वेपाक है ।।२।।

×

जीव मोह लपेट्या मांहि , गरक गड़ि जात है ।
काल तमाचा जोरि , घुसी सूँ घात है ।।
संकट पड्यां दुष होइ , तलफि मरि जात है ।
हरि हाँ–जन हरिदास भजि 'परमसनेही' रांम, भजन की घात है ।।३।।

×

रांम नाम व्रत छाड़ि , आंन सुष लेत है ।
जहर पियाला हाथि , पीवण सूँ हेत है ।।
काल तकत है तोहि , अग्यांन अचेत है ।
हरि हाँ–जन हरिदास सास अमोलिक आथि, कुपहै क्यों देत है ।।४।।

×

राजा रांम विसारि , कहां घर करौहगा ।
लष चौरासी जोनि , जनम धरि मरौहगा ।।
पड्या काल की वंदि , सदा सुष भरौहगा ।
हरि हाँ–जन हरिदास 'गरभवास' दस मास, अगनि मुषि जरौहगा ।।५।।

×

बूढ़ा हूवा वीर , नैंन भी सरत है ।
काल पहूंता आइ , अजूँ नहिं डरत है ।।

पाठभेद—प्रमसनेही–१ । ग्रभवास–१ ।

शब्दार्थ—बेपाक है=अशुद्ध है, नापाक है । गरक=गहरा, अन्तर । हेत है=प्रेम है । आथि=अर्थ, धन । कुपह=कुमार्ग में, कुप्रवृत्ति में । वंदि=बन्धन ।

मोह नदी मैं पैसि, बूड़ि क्यूँ मरत है।
हरि हाँ–जन हरिदास रांमसनेही साध, भजन ही करत है ॥६॥

×

काल जाल की चोट, न सूझै जीव कूँ।
माया कै सुषि लागि, 'विसारै' पीव कूँ॥
विष मूली मतिहीण, षुसी सूँ षात है।
हरि हाँ–जन हरिदास ते, अंत समूला जात है ॥७॥

×

कहै आथि 'औधूत', 'सकति' का पूत है।
राति 'द्यौस' जक नांहि, लग्या कोई भूत है॥
उलझि न सुलझ्या मूल, सुरति का सूत है।
हरि हाँ–जन हरिदास काल न छाड़ै ताहि, दूत परिदूत है ॥८॥

॥ इति काल को अंग सम्पूर्ण ॥

॥ अथ चितावणी को अंग ॥

नर देही नर धारि, 'कुपहि' उरझात है।
आसा नदी 'गरक', भजन की घात है॥
मोह दोह पष मांहि, पसू पचि जात है।
हरि हाँ–जन हरिदास भजि राजारांम अगाध, साध अमर फल षात है ॥१॥

×

पाठभेद—विसारचो–५। अवधूत–१। सक्ति–५। दिवस–१। कुपह–३-४। ग्रक–१।

शब्दार्थ—पैसि=धँसकर, प्रवेश कर। विसारे=भूले। जक नांहि=शान्ति नहीं। उलझि न सुलझया मूल=सुरति का सूत है—सुरतिवृत्तिरूपी सूत मूलतः जीवन के प्रारम्भ से उलझा वह अभी तक सुलझा नहीं है। पसू=अज्ञानी पुरुष। पचि जात है=मनुष्यजन्म निष्फल गँवा देता है।

विष वन मांहि पैसि, विषै रस षात है।
जहां तहां तन धारि, 'वहौड़ि' मर जात है॥
जीवन है छिन वात, काल की घात है।
हरि हाँ–जन हरिदास आंन धरम उर धारि, रांउ इतरात है॥२॥

×

कया विष वन विवधि, तहां क्यूँ राचिये।
विष फल फूल अनेक, षात ही माचिये॥
कांटा लागै पांइ, तहां पड़ि पाचिये।
हरि हाँ–जन हरिदास लष चौरासी घट धारि, पहौम परि नाचिये॥३॥

×

वोछी छाया देषि, जहर फल षात है।
मनि चढ़ी जहर की छाकि, वहुरि इतरात है॥
राजा रांम विसारिस, नरकां जात है।
हरि हाँ–जन हरिदास पूरणब्रह्म अगाध, 'और' मिथ्या सव वात है॥४॥

×

नांव निरंजन लेह, सनेही जागि रे।
वुगला वैठा आइ, उडाणां काग रे॥
नवपण गया रिसाइ, लुकटिया हाथि रे।
हरि हाँ–जन हरिदास मी, अति कमाइ साथि रे॥५॥

×

पाठभेद—वहुरि–१। अवर–१।

शब्दार्थ—पैसि=प्रवेश कर। छिन वात=क्षणिक। रांउ=राजा, नृप। माचिये=उन्मत्त होइये, पागल होइये। पाचिये=पकना। पहौम=पृथ्वी पर। वोछी छाया=नाशवान पदार्थों की अल्प छाया। इतरात है=अकड़ता है, ऐंठता है। विसारिस=भुलाकर। वुगला वैठा=बाल सफेद हो गए। उडाणां कागरे=काले बाल समाप्त। नवपण=यौवन। लुकटिया=सहारे के लिए लकड़ी।

'नाए' नौ तन की, वात सदा ही रहत है।
छूटि जाइगी काल्हि, साच करि गहत है॥
याहि भरोसे लागि, 'कुपहि' क्यूँ वहत है।
हरि हाँ—जन हरिदास रांमसनेही साध, रांम ही कहत है॥६॥

×

घड़ी घड़ी तन जाइ, न लागै साच सूँ।
कंचन कर सूँ डारि, रह्या मिलि काच सूँ॥
पिव सूँ 'परचा' नांहि, कहावै राव रे।
हरि हाँ—जन हरिदास हरि, भेद न जानै वावरे॥७॥

×

गैंद करै गड़डाट, सदा दरवार मैं।
रांम सनेही छाड़ि, छक्या भठि छार मैं॥
चौरासी लष चौट, वहेंगे धार मैं।
हरि हाँ—जन हरिदास वे रांन, वसै घसि पार मैं॥८॥

×

कर गहि मूँछ मरोड़ि, मछरि मनि मांवता।
नांनां विधि रस राग, रजा मैं गांवता॥
सुत बनिता सुष सेझ, महल गढ़ मालिया।
हरि हाँ—जन हरिदास ते जोधस, जंगल जालिया॥९॥

×

पाठभेद—नाये-२। कुपह्-३-४। प्रचा-१।

शब्दार्थ—नौ तन=जवानी। कुपहि=कुमार्ग। परचा=मिलाप, जानकारी। गैंद=गयंद, हाथी। छक्या भठि छार मैं=विषयभोग की भट्ठी में राख हो रहा है। रांन=राणा। मछरि=मात्सर्य। जोधस=शूरवीर।

'सूँधौ' तैल फुलेलस, अंगि लगावता।
नांनां विधि देह सँवार, महल मैं आंवता॥
षांन पांन वहौ भोग, षुसी सूँ षात है।
हरि हाँ—जन हरिदास ते अंति, समूला जात है॥१०॥

×

आइ झरोषै वैसि, षुसीं मन कीजता।
काम क्रोध अभिमान, 'अगनिमुष' छीजता॥
देता लेता षोसि, अहं मन भांवता।
हरि हाँ—जन हरिदास ते जोध, गया पछितांवता॥११॥

×

पड़दा रहता पौलि, पहरवा जागता।
पर धन लेता चूरि, कहर 'होइ' लागता॥
सूरवीर संग्राम, सगै रिंण गाजता।
हरि हाँ—जन हरिदास ते अंति, गया यूँ वाजता॥१२॥

×

आइ तखत परि वैसि, छत्र सिरि धारता।
दह दिसि जोधा देषि, मनी विसतारता॥
पर घर पर दल चूरि, षलै षसि मारता।
हरि हाँ—जन हरिदास ते भूप भष्या काल, षडग करि धारता॥१३॥

×

पाठभेद—सौंधौ- १-३। अग्निमुष-१। व्है-१।

शब्दार्थ—सूँधौ=इत्र, सुगन्ध। झरोषे=दीवानखाने, उच्चस्थान। अगनि मुष=नाना सन्तापों से। षोसि=लूट। पौलि=दरवाजा, प्रवेशद्वार। पहरवा=पहरेदार। चूरि=पीस, दबाकर। कहर=काल। मनी विसतारता=दूसरों के राज लेने की मनसा बढ़ाते। षलै=रणखेत। षसि=लड़ाई कर।

गोपी ग्वाल नचाइ, गाइ वन चारता।
मुथरा मूँधि मारि, पिसण षस मारता॥
कर सूँ डूँगर तोलि, जोर विसतारता।
हरि हाँ–जन हरिदास ते अंति गया तन छाडि, 'वहौत' तन धारता॥१४॥

×

नौग्रह पाये बाँधि, षुसो ह्वै बोलता।
मोह महल मैं बैसि, षड़ग करि तोलता॥
अहुं गांठ उर धारि, 'बहौडि' नहिं षोलता।
हरि हाँ–जन हरिदास काल दल्या दहकंध, मनी मद बोलता॥१५॥

॥ इति चितावणी को अंग सम्पूर्ण॥

॥ अथ माया को अंग॥

मोह दोह मैं गरक, सुरति काचै लगी।
नहिं रांम नाम सूँ प्रीति, प्रगट माया सगी॥
सकल जीव अँगि लाइ, सदा जागै नंगी।
हरि हाँ–जन हरिदास माया ठगि षाया संसार, सु तौ साधां ठगी॥१॥

×

आथि वसत है साथि, सदा ही रहत है।
कांम क्रोध अभिमानस, आसा दहत है॥
'त्रिसना' तरंग अनेक, तहां मन वहत है।
हरि हाँ–जन हरिदास विरला कोइ साध, परम गति लहत है॥२॥

पाठभेद––बहुत–१। बहुरि–१। तिसनां–१। त्रिष्नां–३-४।

शब्दार्थ––मूँधि मारि=उलट कर, त्याग कर। पिसण=शत्रु, चोर-लुटेरे। नौ ग्रह पाये बांधि=मंगल, बुध आदि नवग्रह कैद कर रखने वाले। दहकंध=रावण। काचै लगी=नाशवान पदार्थ प्राप्त करने में उलझो। आथि वसत=मूल्यवान वस्तु, आत्मपरिचय। दहत है=जलाता है।

माया छाया वैसि, 'कौंण' सुष लेत है।
प्रीति करै 'या' रीति, कपट का हेत है॥
जनम अमौलिक जाइस, ऊसर षेत है।
हरि हाँ–जन हरिदास भी अंति, रसातल देत है॥३॥

×

माया चढ़ी सिकार, तुरी चटकाइया।
कै मारया कै मारि, पताषा लाइया॥
जन हरिदास भजि रांम, सकल जग घेरिया।
हरि हाँ–मन जाय वसै दरवार, तहां तै फेरिया॥४॥

×

माया का दल देषिस, काइर .कांदरे।
षिसि चाल्या तजि षेत, धका सूँ धसि परे॥
ऊजल निरमल नांहिस, काले कापरे।
हरि हाँ–जन हरिदास हरि, भेद न जांणै वापरे॥५॥

×

माया सूँ मन लाइ, कहा सुष सोइये।
हीरा जनम अथाह, अमोलिक षोइये॥
'गरभवास' दस मास, सदा दुष पाइये।
हरि हाँ–जन हरिदास भजि रामस, ठौड़ चुकाइये॥६॥

×

पाठभेद—कूँण-१। याह-१। ग्रभवास-१।

शब्दार्थ—तुरी=घोड़ा। चटकाइया=चाबुक लगाया। पताषा=पताका, ध्वजा। दरवार=राजसभा, आत्मा के सम्मुख। कांदरे=किनारा करे, बचे। काले कापरे=मलिन संस्कार। ठौड़=जगह, प्रवृत्ति में लगी वृत्ति को बदलिये।

जन हरिदास तजि आंन, भजौ हरि भोर सूँ।
माया का दल देषि, मँड्या है जोर सूँ॥
नर नरवै सुर मारि, लिया षग कोर सूँ।
हरि हाँ–जन हरिदास काली पीली धार, धसी दस वोर सूँ॥७॥

×

कै आवै कै जांहि, चलाऊ लोग है।
माया मोह विवोग, इहै वड़ रोग है॥
जहर जड़ी जिव षाइ, कहै यहु भोग है।
हरि हाँ–जन हरिदास भजि रांम, भया भल जोग है॥८॥

×

स्रूक 'विरछ' संसार, तहां मन लाइयें।
काल गरासै आइ, 'वहौडि' पछिताइये॥
रहणां नहीं निदान, अकेला जाइये।
हरि हाँ–जन हरिदास तसमात, निरंजन गाइये॥९॥

॥ इति माया को अंग सम्पूर्ण॥

॥ उपदेश को अंग॥

जोग मूल की वातस, घात विचारिये।
सांसो हंस्या छाड़ि, मना सव डारिये॥
जपिये अजपा जाप, आंन धरम सव हारिये।
हरि हाँ–जन हरिदास अलष भजन 'उरि' धारि, अलेष जुँहारिये॥१॥

×

पाठभेद—वृछ–३-४। वहुड़ि–१। उर–१।

शब्दार्थ—भोर सूँ=समय रहते, सवेरे। नरवै=बादशाह, रावराणा। षग कोर सूँ=तलवार की नोक से। काली पीली धार=वासना-तृष्णा की धारा। दस वोर सूँ=चारों ओर से, दसद्वारों से। चलाऊ=चलायमान, अस्थिरवृत्ति। भल जोग है=अच्छा संयोग है। तसमात=इसलिये। सांसो=संशय, संदेह। हंस्या=हिंसा। अलेष जुँहारिये=परब्रह्म की वन्दना करिये।

त्रिवेणी तटि वास, तहां क्यूँ न जाइये।
ए पासा 'ए' डाव, सीस लै न्वाइये॥
वोछै पांणी पैसि, समद क्यूँ छाड़िये।
हरि हाँ–जन हरिदास भज अलष निरंजन नाथ, तहां मन लाड़िये॥२॥

×

'मनिष' जनम नग हाथि, कुपह क्यूँ डारिये।
मोह महल मैं सोइस, जनम न हारिये॥
नष सिष लागा रोगस, रोग निवारिये।
हरि हाँ–जन हरिदास ग्यान षडग ले हाथि, काल भै मारिये॥३॥

॥ इति उपदेश को अंग सम्पूर्ण॥

॥ अथ सूरातन को अंग॥

मड़ाँ हाक है कंप, तीर गोला वहै।
सुभट न ताकै वोट, चोट सनमुष सहै॥
ग्यांन षडग लै हाथि न, फिर पूठा फिरै।
हरि हाँ–जन हरिदास सूर वीर अरि जीतस, हरि का व्है रहै॥१॥

×

समंद रूप संसार, अधर उठि चालिये।
षाग बाग रस 'एक', पवन पड़तालिये॥
पिसणा उपरि चोटस, सनमुष घोड़ा घालिये।
हरि हाँ–जन हरिदास पैला अरिदल जीत, परम दुष पालिये॥२॥

×

पाठभेद—ये-२। मनष-१। येक-१।

शब्दार्थ—लाड़िये=लड़ाइये, राजी करिये। सुभट=योद्धा, शूरवीर। षाग वाग रस एक=ज्ञानषड्ग सँभाल मनोवृत्ति एक रस रख, स्थिर कर। पालिये=रोकिये, मना करिये।

जोग पंथ मैं पैसिस, पूठि न फेरिये।
ग्यांन षड़ग लै हाथि, सबल गढ़ घेरिये॥
ल्यौ डोरी करि साहि, तहां मन जेरिये।
हरि हाँ–जन हरिदास अलष निरंजन नाथ, निरन्तर हेरिये॥३॥

॥ इति सूरातन को अंग सम्पूर्ण ॥

॥ अथ सजीवणी को अंग ॥

हरि पूरणब्रह्म अगाध, अषंडित रांम है।
साध बसै ता देसि, मुलक निहकांम है॥
जुरा काल भै नांहि, सीत नहिं घांम है।
हरि हाँ–जन हरिदास परा परै पति एक, अजब बिसरांम है॥१॥

॥ इति सजीवणी को अंग सम्पूर्ण ॥

॥ अथ पतिब्रत को अंग ॥

रजा तुम्हारी रांम, कहौ त्यूँ मैं करूँ।
मन गहि पवन सँवाहि, अटकि उलटी धरूँ॥
ब्रह्म 'अगनि' मैं पैसि, अभष अजरा जरूँ।
हरि हाँ–जन हरिदास रांम नांम व्रत धारि, न आंन व्रत आचरूँ॥१॥

×

पाठभेद—अग्नि–१।

शब्दार्थ—पैसिस=प्रवेश कर, लग कर। पूठि=पीठ न दे, पलटे नहीं। निहकाम=निष्काम। रजा=निर्देश, आज्ञा। सँवाहि=सँभाल कर, सचेष्ट कर। आन=और, दूसरा। आचरूँ=आचरण करूँ।

पीव जीव की जीव, निरंजन राइ है।
उपजि न विनसै मूल, न आवै जाइ है॥
परम 'पुरष' 'परकास', साध मन लाइ है।
हरि हाँ—जन हरिदास 'परगट' घूँघट मांहि, एक को पाइ है॥२॥

॥ इति पतिव्रत को अंग सम्पूर्ण॥

॥ अथ साध को अंग॥

वोछा करैं गुमांन, वड़ां कै नांहिरे।
भादों वरसै मेह, नदी घररांहि रे॥
दरिया उभलै नांहि, ता मांहि समाहि रे।
हरि हाँ—जन हरिदास यों साध, देषि जुग मांहि रे॥१॥

×

रांम सनेही साध, मँडे मैदान मैं।
पहरी सील सनाह, 'गरक' गुर ग्यांन मैं॥
वाजै अनहद तूर, वसै धसि रांम मैं।
हरि हाँ—जन हरिदास धुनि ध्यांन, सदा विसराम मैं॥२॥

×

जहां जीव तहां सीव, एक को जांणि है।
मन कूँ पूठा फेरि, सहजि घरि आंणि है॥

पाठभेद—पुरिष-१। प्रकास-१। प्रगट-१। ग्रक-१।

शब्दार्थ—घूँघट मांहि=हृदय के पर्दे में। वोछा=छोटा, क्षुद्र, तुच्छ। घररांहि रे=गर्जती हैं। दरिया=समुद्र। उभलै=छलके, सीमा त्यागे। सींव=ब्रह्म।

जोग मूल की वातस , घात पिछांणि है ।
हरि हाँ—जन हरिदास भज पूरणब्रह्म अगाध, सुतौ ब्रत वांणि हैं ॥३॥
॥ इति साध को अंग सम्पूर्ण ॥

॥ अथ मन को अंग ॥

चंचल मन कूँ चूरि , कहां चलि जाइगा ।
करि विषहर का रूप , इहै फिरि षाइगा ॥
जड़ी सजीवण लाइ , कछू न वसाइगा ।
हरि हाँ—जन हरिदास हरि राइ , तहां उरझाइगा ॥१॥
॥ इति मन को अंग सम्पूर्ण ॥

॥ अथ समरथाई को अंग ॥

हरि जहां तहां प्रतिपाल , हमारी करत है ।
हरि आप आपणां ध्यान , हमारै हिरदै धरत है ॥
सव षलक रांम सुप छाड़ि , अगनि मैं जरत है ।
हरि हाँ—जन हरिदास मन उलटा चढ्या आकास, मारया नहि मरत है ॥१॥
॥ इति समरथाई को अंग सम्पूर्ण ॥

॥ अथ कुबुधिनर को अंग ॥

अनंत घाट घट मांहि , सदा ही घड़त है ।
कंचन हिरदा मांहि , काच लै जड़त है ॥

शब्दार्थ—हरिराइ=परब्रह्म । उरझाइगा=लगाएगा । अनंत घाट=अनेकों सङ्कल्प । कंचन=विशुद्ध चेतानतत्व ।

ऊजड़ चाल्या जांहिस, आषड़ि पड़त है।
हरि हाँ जन हरिदास सब पलक दिवाना आथि, कहां कूँ षड़त है ॥१॥

×

वाद विवाद निवारि, 'वहौडि' पछिताइगा।
हरि सूँ नांही हेत, रसातल जाइगा ॥
मदन मोह गुण मांहि, गरक लपटाइगा।
हरि हाँ—जन हरिदास राजा रांम विसारिस, षोटा षाइगा ॥२॥

॥ इति कुबुधिनर को अंग सम्पूर्ण ॥

॥ इति चान्द्रायण सम्पूर्ण ॥

॥ अथ साषी भाग ॥

जन हरिदास कै ग्यांन 'गुर', सतगुर सिरजनहार ॥
निधि पाई निरभै भया, अरस परस दीदार ॥१॥

जन हरीदास कै ग्यांन गुर, साधां सेती प्रीति ॥
साध सदा गोव्यंद भजै, देही का गुण जीति ॥२॥

जन हरिदास कै ग्यान गुर, गूदडियां सूँ नेह ॥
दुष सुष दोइ व्यापै नहीं, गूदड़ियां गुण 'एह' ॥३॥

गोरष हमारा गुरु वोलिये, पाड़ा हमारी चेली ॥
सति का सवद सहज घरि षेलूँ, 'इहि' विधि दुरमति पेली ॥४॥

पाठभेद—बहुरि–१। गुरु–१। येह–२। अहि–१।

शब्दार्थ—ऊजड़=उजाड़, बेरास्ते। निधि पाई=खजाना पाया, आत्मतत्व जाना। अरस परस=एकमेक, आमने-सामने। दीदार=दर्शन। दुरमति=कुमति, सकाम-कर्म की प्रवृत्ति।

माई मूँडूँ सिद्ध की, 'भजूँ' निरंजन नाथ ॥
हरिदास जन यूँ कहै, सिरि गोरष का हाथ ॥५॥
दिष्टि दई सतगुर मिल्या, हीरा लिया सुभाइ ॥
हरीदास जन जौंहरी, षोटा कदे न षाइ ॥६॥
वलती 'अगनि' बुझाई करि, सीतल किया अँगार ॥
जन हरीदास आनन्द भया, सतगुरु का उपगार ॥७॥
वलती अगनि बुझाइ करि, सीतल किया सरीर ॥
जन हरीदास गुर गम तैं, पीया निरमल नीर ॥८॥
जन हरीदास नाथ का वालक, रहै नाथ की छाया ॥
पूरण ब्रह्म परम सुष दाता, निरमै निरंजन राया ॥९॥
जन हरीदास सतगुर सवद, अंतरि लागा वांण ॥
हरि हेरत हरि मन हरया, इत उत लहै न जांण ॥१०॥

॥ अथ सिष पारिष को अंग ॥

गुर गिरही माया गहै, सिष वैरागी होइ ॥
जन हरीदास मत 'क्यूँ' मिलै, परगट पैंडा दोइ ॥१॥
गुर लागा संसार सूँ, सिष अंतरि हरि साच ॥
जन हरीदास मत क्यूँ मिलै, 'वोह' कंचन वोह काच ॥२॥
गुर सिष दोऊ उठि चल्या, जन हरीदास हरि मांहि ॥
सिष चालै गुर वाहुडै, तौ वे गुरु सिष नांहि ॥३॥

पाठभेद—भजौं-१ । अग्नि-१ । क्यौं-१ । वो-४-५ ।

शब्दार्थ—दिष्टि=नजर, विवेक-विचारमय नेत्र । जौहरी=रत्नपरीक्षक, जीवन्मुक्त । षोटा=नकली, विनाशी । वलती अगनि=वासना-तृष्णा की प्रज्ज्वलित वह्नि । गुर गम तैं=गुरुउपदेश से । अंतरि=हृदय में । इत उत=इधर-उधर, माया-ममता में । गुर गिरही=गुरु मायामुखी हैं । वाहुडै=मुड़े, पीछे आवे ।

जन हरीदास भै सिंध तजि, भै रै बैठा जाइ ॥
सो गुर सिष कूँ ले चल्या, अपणैं मतै मिलाइ ॥४॥
जो कुछ गुर सिष सूँ कह्या, सो जै गुर पै होइ ॥
जन हरीदास करि बँदगी, गुर गोव्यंद नहिं दोइ ॥५॥
गुर निरभै गोव्यंद भजै, तैसा ही सिष होइ ॥
जन हरीदास मत एक है, तब कहण सुणण कूँ दोइ ॥६॥
जन हरीदास गुर गारडू, विष झाडै झाड़ि जाइ ॥
सिष सठ तौ गुर क्या करै, सिष फिर विषही षाइ ॥७॥
जन हरीदास गुर क्या करै, सिष मूरष गुणजार ॥
'इंम्रत' पाया ना पिवै, विष का पीवणहार ॥८॥
ग्यांनी गुर सूँ सिष मिलै, सो सिष भी ग्यांनी होइ ॥
इष्ट एक एकै भजन, तब कहिवे कूँ दोइ ॥९॥
बात कहै आकास की, आप रसातलि जाइ ॥
वा ग्यानी गुर सूँ मूरष भला, सकै न 'और' भुलाइ ॥१०॥
सिष साचा साचै मते, गुर दीरघ भ्रम नास ॥
रहत एक एकै बसत, एक दिसावरि वास ॥११॥
सिष सूता जागै नही, रैंणि 'पहूँती' आइ ॥
वा सिष कै मतै गुर मिले, तौ अंति रसातल जाइ ॥१२॥
पच्छिम देस पंथ परिहरै, पूरब रहै समाइ ॥
वा गुर कै मतै जो सिष मिलै, पारि पहूँचै जाइ ॥१३॥

॥ इति सिष पारिष को अंग सम्पूर्ण ॥

पाठभेद—इमरत-१। अवर-१। पहौंतो-४।

शब्दार्थ—भै रै–नौका में। मतै मिलाइ=विचार में सहमत कर। गारडू=विषनिवारक। गुणजार=गुण-चोर। दीरघ भ्रम नास=असत्य को सत्य और सत्य को असत्य, इस भारी भ्रम का निवारण। रैंणि=कालरात्रि। पच्छिम देस=भौतिक प्रवृत्ति का जीवन। पूरब=आध्यात्मिक प्रवृत्तिमय।

॥ अथ विरह को अंग ॥

विरहणि ऊभी दरद सूँ, अवला सूँ क्या मांण ॥
कै मिलि हो कै तन तजूँ, सुँणि हो कंत सुजांण ॥१॥

जन हरीदास कासूँ कहूँ, अपणैं घर की लाइ ॥
ज्यूँ जाल्या त्यूँ ही जल्या, जालि वलि रह्या समाइ ॥२॥

विकल भई विलंवे कहां, ताला वेली जीव ॥
हरीदास जन विरहणी, मिलो सनेही पीव ॥३॥

अंतरि विरहा आइया, रोम रोम सव मांहि ॥
जन हरीदास कै हरि मिलो, कै अव जीवण नांहि ॥४॥

अविनासी आठौं पहर, अपणैं हिरदै धारि ॥
जन हरीदास निरभै मतै, निरभै ग्यांन विचारि ॥५॥

'षफनी' षफन' सारिषी, पहिरै विरला कोइ ॥
जन हरीदास ब्रह्म अगनि मैं पैसकरि, जलि वलि 'कोइला' होइ ॥६॥

॥ इति ॥

॥ अथ सुमिरण को अंग ॥

साहिवजी की वंदगी, कीजै तन मन लाइ ॥
जन हरीदास षेलौ तहां, जहां काल न परसै आइ ॥१॥

अविनासी 'आठौं' पहर, अपणैं हिरदै धारि ॥
जन हरीदास निरभै मतै, निरभै 'वस्त' विचारि ॥२॥

पाठभेद—कफनी-कफन-१। क्वैला-१। आठूं-१-४। वसत-२।

शब्दार्थ—मांण=मान, रूठना। लाइ=विरहाग्नि। ताला वेली=छटपटाहट, अति आतुरता।

नांव निरंजन 'निरमला', भजतां होइस होइ ॥
हरीदास जन यौं कहै, भूलि पडै मत कोइ ॥३॥
हठ करि कोई मति मरौ, परै न 'पहुंचै' हाथ ॥
जन हरीदास निरभै मतै, भजौ निरंजन नाथ ॥४॥
हरि सा हितू विसारि मा, ऊठि 'और' कै साथि ॥
लोक लाज वहि जाइगा, हीरा न आवै हाथि ॥५॥
उलटा गोता मारि करि, अंतरि अलष विचारि ॥
रांम भजन आनन्द सदा, कदे न आवै हारि ॥६॥
सनकादिक जोगी जनक, मति गति लषै न कोइ ॥
जन हरीदास 'ताकूँ' भजौ, भजतां होइस होइ ॥७॥
मैं हरि सुष छाड़ौ नहीं, वात कहत 'हूं' तुझ ॥
हरिदास जन यूं कहै, मीठा लागै मुझ ॥८॥
मैं हरि सुष छाड़ौ नहीं, मीठा लागै मोहि ॥
करम कठिन सब कंकरा, ग्यांन सूप ले सोहि ॥९॥
मैं हरि सुमिरण 'छाड़ौं' नहीं, मन कूँ मारि अटकि ॥
जन हरीदास करम भरम सब तूँ तड़ा, गहि गुर ग्यांन फटकि ॥१०॥
जन हरिदास निरभै मतै, भजौ निरंजन राइ ॥
काल झाल लागै नहीं, सुष मैं रह्या समाइ ॥११॥
जन हरीदास या जीव कूँ, अटकि अटकि समझाइ ।
दूजी दुरमति दूर करि, हरि चरणां चित लाइ ॥१२॥

॥ इति ॥

पाठभेद—नृमलौ–५ । पहोंचै–२ । अवर–१ । ताकौ–१ । हौं–१ । छाडूँ–३-४ ।

शब्दार्थ—हितू=हितैषी । विसारि मा=भूल मत । और कै=अन्यों के, विषय-वासनाओं में । मति गति=बुद्धि द्वारा । सोहि=शोध, साफकर । अटकि=बाहर जाने से रोक । दुरमति=वासनाबुद्धि ।

॥ अथ परचा को अंग ॥

जन हरीदास सुष अगम है, सोधि लहै ते संत ॥
अरस परस आनँद सदा, 'वाराह' मास वसंत ॥१॥

जन हरिदास वसंत रुति, फूल्या सब ही बाग ॥
'ब्रज' मांहि कौतिग भया, हरि जन षेलैं फाग ॥२॥

रांम तहां 'सूधों' सहज, बाजै राग अनंत ॥
चंदन 'पुहिप' गुलाल ले, षेलैं संत वसंत ॥३॥

जन हरीदास तहां जाइये, वाराह मास वसंत ॥
पांन पहौप जहां का तहां, षेलत है सब संत ॥४॥

जन हरिदास वसंत रुति, षेलैं गोपी ग्वाल ॥
हरि सनमुष जहां का तहां, करि पहौप न की माल ॥५॥

जन हरिदास वसंत रुति, प्रगटे राम अगाध ॥
प्रेम प्रीति का पहौप ले, षेलैं चरचैं साध ॥६॥

जन हरीदास 'परचा' पषै, कौड़ी काची सारि ॥
डाव पड्यां छूटै नहीं, कांनै लीजै मारि ॥७॥

घरि आई निरभै भई, डाव पड्या 'यूँ' होइ ॥
जन हरीदास ता सारि कूँ, पासा लगै न कोइ ॥८॥

पाठभेद—वारा–३-४। वृज–४-५। सौंधो–१। पुहप–१। प्रचा–१। यौं–१।

शब्दार्थ—सोधि लहै=तलाश करलें, प्राप्त कर लें। वसंत=आनन्दमय स्थिति। ब्रज मांहि=शरीररूपी ब्रजभूमि में। चंदन पुहप गुलाल ले=प्रेम-मय चन्दन श्रद्धा के पुष्प भक्ति की गुलाल ले। गोपी ग्वाल=मन-इन्द्रियाँ। चरचै=अर्चना करे, पूजा करे। परचा पषै=अनुभव बिना। कौड़ी काची सारि=(सारि) मनुष्यशरीर (कौड़ी) धन-सम्पदा प्राप्ति में लगा कच्ची सार की तरह चाहे जब नष्ट हो जाता है। डाव पड्या=अवसर पड़े।

परम जोति पलटै नहीं, कोटि करै जे कोइ ॥
लोहा कूँ पारस मिलै, परसिर कंचन होइ ॥९॥
जन हरीदास अंतरि अगह, 'दीपग' एक अनूप ॥
जोति उजालै 'षेलिये', जहां छांहड़ी न धूप ॥१०॥
बिवधि पहौप सेवा बिवधि, मधि 'मोतियन' की माल ॥
जन हरीदास षेलौ तहां, जहां गोपी गाइ न ग्वाल ॥११॥
आछा इष्ट कबीर का, अगम वार नहिं पार ॥
हरीदास जन 'मिलि' रह्या, गहि गुर ग्यांन विचार ॥१२॥
जन हरीदास अंतरि अगह, परम जोति परकास ॥
अगम 'ठौर' आनँद सदा, मन का तहां निवास ॥१३॥
तिरता तिरता तहां गया, जहां अचंभा और ॥
चित्त कपटी पहुँचै नहीं, तहां साधां की ठौर ॥१४॥
भै भागा निरभै भया, हरि सकल बियापी एक ॥
हरीदास जन यूँ कहै, ता सुषि पहुँता पुरष अनेक ॥१५॥

॥ इति ॥

पाठभेद—दीपक-१ । षेलिए-३-४ । मोतिइन-४-५ । मिल्य-२ । ठौड़-५ ।

शब्दार्थ—परम जोति=शुद्धचेतन । अंतरि=अपने भीतर, हृदय में । अगह=पकड़ में न आने वाला, मन-बुद्धि और इन्द्रियों से आगे । दीपग=ज्ञानदीप । जहां गोपी गाइ न ग्वाल=जिस दशा में मन, इन्द्रियां व वृत्ति का वाह्यसम्बन्ध न रहे । आछा=सर्वोत्तम ।

॥ अथ चितावणी को अंग ॥

आदि 'अंति' गोविंद सगा, दूजा सगा न कोइ ॥
जन हरीदास दूजा सगा, सो फिरि वैरी होइ ॥१॥

जन हरीदास संकटि पड्यां, सगा न सूझै कोइ ॥
रांम सगा सो 'परहरचा', कुसल कहां तैं होइ ॥२॥

घट छूटै फाटै तिमर, मन धरि सकै न धीर ॥
जन हरीदास तब हरि सगा, रषै विसारै वीर ॥३॥

एक राति का सोवणां, जीवण ऐसा जांणि ॥
जन हरीदास हरि भजन विणि, ताहू मांही हांणि ॥४॥

नष सष सूँ पैदा किया, जांणिक चितरचा मोर ॥
जन हरीदास हरि वीसरचा, सो वड़ा हरांमी षोर ॥५॥

'वीज' चमक आभै दुरै, यूँ सति जांणी देह ॥
हरीदास जन यूँ कहै, रांम भजन करि लेह ॥६॥

मरणां है जीवण नहीं, जीवत मरै न कोइ ॥
जन हरीदास जीवत मरै, सो अविनासी होइ ॥७॥

जा मुषि रांम न ऊचरै, आंन कथा मन चोल ॥
जन हरीदास ते मांनई, काग विलाई कोल ॥८॥

जा मुषि रांम न ऊचरै, रसनां वैठी हारि ॥
जन हरीदास ते मांनई, सूकर की उणिहारि ॥९॥

पाठभेद—अन्त्य-२। परिहरचा-१। बीजि=३।

शब्दार्थ—दूजा सगा=स्त्री-पुत्रादि कुटुम्बीजन। परहरचा=त्याग दिया, छोड़ दिया। कुसल=कल्याण, क्षेम। फाटै तिमर=अज्ञानता का अन्धकार हटे। रषै=रखे, याद करे। विसारै=भूले, संसारी साथियों को भूले। हांणि=नुकसान, क्षति। जांणिक= जैसे। चितरचा=बनाया, चित्रित किया। आभै दुरै=आकाश में लीन हो। जीवत मरै= मद-मोह त्यागे। आंन कथा=निन्दास्तुति। चोल=राजी, प्रसन्न। उणिहारि=समान, सदृश।

प्राणनाथ पति छाड़ि करि, 'भूँदू' भूला जांहि ॥
जन हरीदास ते मांनई, न्याइ हलाहल षांहि ॥१०॥

जन हरीदास या जीव कै, दुष सुष चालै साथि ॥
अब या चौरी क्यूँ मिटै, ता दिन आई हाथि ॥११॥

जीव सीव कै सँगि वसै, करम जीव कै साथि ॥
जन हरीदास षेलो कहूँ, दोऊँ पासा हाथि ॥१२॥

क्या 'जाणौं' कछु काल्हि है, 'काईज' वाजै वालि ॥
जन हरीदास औसर इहै, तूँ अपणा रांम सँभालि ॥१३॥

कालां कै हलचल भई, धौला बैठा आइ ॥
जन हरीदास गढ़ पालटया, गुण गोविंद का गाइ ॥१४॥

अहिपुर महिपुर इंद्रपुर, स्यो ब्रह्मा 'लौं' जोइ ॥
जन हरीदास दूभर दुनी, सूभर मरचा न कोइ ॥१५॥

जन हरीदास गोविंद भजौ, तजो आंन उपदेस ॥
अवगति गति जांणै नहीं, ब्रह्मा 'विष्न' महेस ॥१६॥

छांह देषि नर ववूल की, वसै वटाऊ आइ ॥
जन हरीदास पैडा थक्या, सूल गड़ी 'जा' पाइ ॥१७॥

राति वसै दिन उठि चले, 'यौह' संसार सराइ ॥
जन हरीदास दुनिया सवै, पैंडे लागी जाइ ॥१८॥

पाठभेद—भौंदू–१। जाणूँ–१। काई–१। लूँ–२। विसन–२। तब–३-४। इहौ–२।

शब्दार्थ—भूँदू=अज्ञानी, बेसमझ। न्याइ=कतई। चौरी=पापपुण्य, जन्म-मरण। सीव=माया-अविद्यारहित चेतन। दोऊँ पासा=मुक्ति तथा बन्धन। कांईज=कैसी। वाजै=बहे, प्रवाहित हो। वालि=हवा। औसर इहै=समय यही है, मौका यही है। गढ़ पालट्या=जवानी गयी बुढ़ापा आ गया। दूभर=दुःखरूप। दुनी=संसार। सूभर=सुखरूप आत्मज्ञान। वसै=रहे, निवास करे। वटाऊ=राहगीर, पथिक। पैंडा=रास्ता, मार्ग। सराइ=ठहरने की जगह।

'जग' हटवाड़ै विणज कूँ , मिले वटाऊ आइ ॥
जन हरीदास सव जात है , दिन दस पीठ लगाइ ॥१९॥

कोई काहू का नहीं , ऐ सव कोठी वाल ॥
साह कहौ क्यूँ आदरै , पढ़ि पढ़ि चले कुचाल ॥२०॥

जन हरीदास पारिष पषै , विणजत है सव कोइ ॥
फिरि पीछै पछिताइगा , जव नांणा देष्या षोइ ॥२१॥

जन हरीदास ऊँचा अधिक , त्रिया ज पहरै चीर ॥
ते भी अगनि जलावसी , सोनैं सँवा सरीर ॥२२॥

जन हरीदास संसार सूँ , प्रीति करै 'जिनि' कोइ ॥
काल चोट चूकै नहीं , दुष सुष व्यापै दोइ ॥२३॥

जव ही 'करि' कांटा लगै , तव ही धूजै मन ॥
हरीदास जन यूँ कहै , ज्यूँ किरपण का धन ॥२४॥

राजा रांम विसारि करि , जीव रसातलि जाइ ॥
जन हरीदास चौरासी भरमत फिरै, फिरि फिरि षोटा षाइ ॥२५॥

जन हरीदास हरि नांव लै , आठ पहर इक सार ॥
एक पलक जिनि वीसरै , जम की वाहर लार ॥२६॥

जन हरीदास गोविंद भजौ , देह 'दुरांणी' वीर ॥
कहौ कहां लो राषिये , काचै भांडे नीर ॥२७॥

पाठभेद—जुग-१ । जिन-४ । कर-३-४ । दुरानो-१-५ ।

शब्दार्थ—हटवाड़ै=बाजार में । पीठ लगाइ=दुकान लगा । कोठीवाल=थोक व्यापारी, बनावटी साधक । साहु=सेठ, परमेश्वर । आदरै=अङ्गीकार करे, स्वीकार करे, सम्मान करे । पारिष पषै=अनुभवहीन । नांणा=रकम, सम्पत्ति । ऊँचा अधिक=बहुमूल्य । सोने सँवा=कान्तिवान, सोने जैसा । किरपण=कंजूस, मूँजी । इकसार=एकाग्रवृत्ति । वाहर लार=पीछा करनेवाले । दुरांणी=क्षीण हो रही है, छिप रही है ।

अविनासी सूँ आंतरो , नरक कूप सूँ हेत ।।
जन हरीदास औसर भलो , चूका भला अचेत ।।२८।।

रांम 'समद' न्यारा रह्या , पांवा पड्या जंजीर ।।
जन हरीदास नर भूला फिरै , मन धरि सकै न धीर ।।२६।।

।। इति ।।

।। अथ मन को अंग ।।

फूटै कुंभ न जल रहै , वहता कहै न रांम ।।
जन हरीदास गोविंद भजै , जा कै मन विसरांम ।।१।।

जन हरीदास मन सावता , तहां वसै हरि नीर ।।
कनक कटोरै ठाहरै , वाघणि वप का षीर ।।२।।

सीस अमोलिक अजव था , दीन्हा सौंहगी 'ठौर' ।।
जन हरीदास मन मसकरा , मन की उलटी 'दौर' ।।३।।

मन ही सूँ मन 'फेरिकै' , मन का तजै विकार ।।
तव जन हरीदास पैंडा कटै , वाकी रहै न लार ।।४।।

मन सा को वैरीं नहीं , मन सा सगा न कोइ ।।
जन हरीदास मन काच समि , मन फिरि कंचन होइ ।।५।।

मन फूटा कण कण हुवा , फेरि घड़ै तो रांम ।।
हरीदास जन यौं कहै , नहीं और का कांम ।।६।।

पाठभेद—सवद-१ । ठौड़-१-३ । दौड़-१-३ । फेरकरि-१ ।

शब्दार्थ—रांम समद=सुखसागर ब्रह्म । पांवा जड्या जंजीर=कर्मबन्धन की बेड़ियां । फूटै कुंभ=फूटे घड़े में । वहता=चञ्चल मनवाला । मन सावता=मनस्थिर हो । ठाहरै=ठहरे, रुके । सौंहगी=सस्ती, कम कीमत में । दौर=दौड़ । फेरिकै=पलट कर, आत्माभिमुख करके । लार=पीछे, शेष । मन फूटा=मन विखरा, अनेक विषयों में लगा ।

जाकै नष चष कर मुष सिर नहीं, चरण नासिका नांहि ॥
ऐसा मन मेवासिया, काया नगरी मांहि ॥७॥
मेरा मारया ना मरै, और 'वाट' व्है जाइ ॥
वाजारी 'वहौ' रूप करि, पूठा वैसे आइ ॥८॥
जब आवै तब मारिए, याकी ठौड़ उठाइ ॥
गुर का सबदां भूँकि करि, ज्यूँ मन मनसा कूँ षाइ ॥९॥
जन हरीदास आलस कहा, ग्यान तुला मन तोलि ॥
मन दीन्हा सांई मिलै, माया मिलै न मोलि ॥१०॥
ग्यांन ध्यांन 'सुधि बुधि' गई, भाव गयां भै जाइ ॥
जन हरीदास सरवस गया, तब मन दीया मुकलाइ ॥११॥
निज करतूति कमांण करि, 'सुवधि' चिला लै चारि ॥
ग्यांन ध्यांन का वांण करि, मन मेवासी मारि ॥१२॥
हिरदा हुजदा अजब है, फेरि तहां मन आंणि ॥
जन हरीदास 'तीसूँ' तषत, तहां तँगोटी तांणि ॥१३॥
जन हरीदास घट की घटा, सुरति दांमणी देष ॥
मन पांणी पांणी मिल्या, परस्या नहीं अलेष ॥१४॥
जन हरीदास तत तेज का, सब घटि गरजै आइ ॥
मन पांणी मनसा घटा, बरसत गया विलाइ ॥१५॥

पाठभेद—घाट-१। बहु-१। सुध-बुध-५। सुबुधि-१। सुरति-४। तीसौं-१-३।

शब्दार्थ—चष=चक्षु, नेत्र। कर=हाथ। मेवासिया=गढ़पति, देह का स्वामी। वाट=मार्ग, विषयों की ओर। पूठा=वापिस, पीछा। भूँकि कर=कहकर, बारबार ध्यान आकर्षित कर। माया मिलै न मोल=आत्मज्ञान की प्राप्ति धन से नहीं खरीदा जा सकती, इसकी प्राप्ति तो जीवन को उत्सर्ग करने से ही होती है। तब मन दीया मुकलाइ=जब मन को अपनी इच्छानुसार चलने को छोड़ दिया जाय तो ज्ञान-ध्यान, भाव-भक्ति आदि सब ही समाप्त समझिये। चिला=वाण के आगे का फलक। हिरदा हुजदा=हृदयरूपी उत्तम स्थान। तीसूँ तषत=तीसो दिन। तँगोटी=छोलदारी, सद्विचार की छोलदारी। सुरति दांमणी=वृत्तिरूपी बिजली। मन पांणी पांणी मिल्या=मन का प्रवाहरूप पानी वासना के प्रवाहमय पानी में मिल गया। परस्या नहीं=स्पर्श नहीं किया, सम्बन्ध नहीं जोड़ा। तत तेज का=चेतनतत्त्व का।

सदा सनेही रांम है, ताही सूं मन लाइ ॥
जन हरीदास देह सहित धौला कहा, दीजै अगनि जलाइ ॥१६॥

सुई मुँई धागा थक्या, कंथा सींवै कौंण ॥
जन हरीदास मन दरजी जहां का तहां, करै और ही गौंण ॥१७॥

माई 'मूँडू' मन की, जे कितहूँ चलि जाइ ॥
हरीदास कंठ तैं गह्या, कहि सरप 'कौंण' कूँ षाइ ॥१८॥

मन निरमल निरभै मतै, छाड़ै सबै विकार ॥
जन हरीदास तब पाइये, अलष 'पुरष' भरतार ॥१६॥

जन हरीदास सतगुर सबद, तहां मन रह्या समाइ ॥
अवधू सोई जांणिये, चुणि चुणि मन कूँ षाइ ॥२०॥

॥ इति ॥

॥ अथ माया को अंग ॥

भूषा सब भूषी भष्या, धाया कोई नांहि ॥
'औरां' कूँ परमोध दे, आपण नरकां जांहि ॥१॥

जन हरीदास साषी सबद, सब कोइ कहै वणांइ ॥
कहत कहत माया मिलै, कौंण भेद किस माइ ॥२॥

माया छाया वैसि करि, जीव जहर फल षाइ ॥
जन हरीदास ता जीव कूँ, काल पकड़ि ले जाइ ॥३॥

पाठभेद—मूँड़ौं-१ । कूंण-१ । पुरिष-१ । अवरां-१ । कौ-१ ।

शब्दार्थ—सुई मुंई=वासना की सूई मरी । धागा थक्या=मनोवृत्ति प्रवाह का धागा भी रुक गया । कंथा=जीवनरूपी गुदड़ो । गौण=गमन, अन्य प्रवाह में प्रवाहित है । अवधू=आत्मनिष्ठ साधक । भूषा=भोग भोगने की प्रवृत्ति वाले । भूषी=माया, तृष्णा । धाया=तृप्त ।

मोह लगाम 'त्रिसना' तुरी, चित चौगानों हाथि ॥
जन हरीदास माया दड़ी, चलै न काहू साथि ॥४॥
मेर तेर चौगान बिचि, 'त्रिसना' तुरी नषाइ ॥
जन हरीदास केते गये, माया गींद गुडाइ ॥५॥
अणभै की कथणी कथै, अंतरि लागी लाइ ॥
मंजारी पै प्रीति 'ज्यूं', मन माया कूं जाइ ॥६॥
जन हरीदास माया नरां, मारै अंगि लगाइ ॥
पहली सजन व्है मिलै, पछै 'पिसण' व्है षाइ ॥७॥
जन हरीदास माय मिल्यां, सो ब्रह्म मिलै नहिं जाइ ॥
दूजा 'औगुण' को नहीं, माया लिया तुडाइ ॥८॥
जन हरीदास माया बिरछ, फल बिकार रसरूप ॥
ता तरवर पंषी वसै, न्याइ सहै सिरि धूप ॥९॥
माया भैंसि विराट वप, जीव बिलंबे आइ ॥
काल काग छाडै नहीं, वै लागै 'वोह' षाइ ॥१०॥
तेलि मांहि माषी पड़ी, तन का हूवा भंग ॥
जन हरीदास माया मिल्या, तिन का योही ढंग ॥११॥
माषी तौ गुड़ मैं गड़ी, तली कडाही मांहि ॥
जन हरीदास मीठै ठगी, तूं मति मीठौ षांहि ॥१२॥

पाठभेद—त्रिष्ना–४-५ । ज्यौं–१ । पिसुण–१ । अवगुण–१ । वो–३-५ ।

शब्दार्थ—तृष्णा तुरी = तृष्णारूपी घोड़ी । माया गींद=सम्पदामय दड़ी । गुडाइ=इधर-उधर फैंक कर । अणभै=अनुभव । कथणी कथै=कथन करे । लाइ=तृष्णा की आग । मंजारी पै प्रीति ज्यूं=बिल्ली का जैसे दूध से प्रेम । औगुण=दोष, अवगुण । तुडाई=तुडवाकर, आध्यात्मिक प्रवृत्ति से हटाकर । पंषी=मन पषी । माया भैंसि विराट वप=माया नें अज्ञान का अन्धकार फैला, भैंस की तरह अपना विराट् रूप बनाया है । भंग=विच्छेद, नाश । ढंग=दशा, हालत । मीठेठगी= विषयभोग की मिठास ने मनोवृत्ति को ठगी ।

माया की छाया रहै, कहै अगम की बात ॥
हरीदास जन 'यूं' कहै, 'याह' 'सौरां' की घात ॥१३॥
माया देष्यां मन षुसी, मुलकि पसारै हाथ ॥
जन हरीदास तूं मति करै, वाह सौरां को साथ ॥१४॥
माया देष्यां मन षुसी, 'बिछड्यां' बहौत बिवोग॥
ये बुग ध्यानी बापडा, कैसै साधे जोग ॥१५॥
जन हरीदास'सांसां'मिटया, माया की गम लध ॥
रूसि रह्या ते ऊबरया, षुसी हुवा ते षध ॥१६॥
जन हरीदास माया तजी, जहाँ माया तहाँ रोग ॥
तीन लोक का राज दे, तौ भी बिपति बिवोग ॥१७॥
माषी मुंह काला करै, अंतरि बैठी आइ ॥
हरीदास सो जन भला, माषी देइ उडाइ ॥१८॥
छल बल करि जहाँ की तहाँ, पूठी बैसे आइ ॥
जन हरीदास गोबिंद बिमुष, ताकूं माषी षाइ ॥१९॥
रांम भजै सो ऊबरै, सतगुर सरणै आइ ॥
जन हरीदास ता साध कूं, कदे न माषी षाइ ॥२०॥
माया तणै अंधारड़ै, फिरि लागा सब जीव ॥
हरीदास जन 'यूं' कहै, कैसे परसै पीव ॥२१॥
माया बाग 'बिवधि' फल, दुष सुष फूल फरक ॥
जन हरीदास चौरासी लष जीव सब, मधुकर होइ गरक ॥२२॥

पाठभेद—यौं-१ । या-५ । स्यौंरा-५ । बिछुड्यां-१ । ससा-१ । यौं-१ । विविधि-१ ।

शब्दार्थ—सौरां=शोहदा, दुष्चरित्र । बुगध्यानी=नकली साधक, ठग महात्मा । गम लध=असलियत मिली । रूसी रह्या=रूठि रह्या, अप्रसन्न हुए । षध=षाया । माषी मुंह काला करै=माया रूपी मक्खी जिस पर बैठती है, उसका मुंह काला करती है, जीवन निष्फल बना देती है । ऊबरै=बचे सुरक्षित रहे । अंधारडै=अंधेरे में । मधुकर= भौंरे हो ।

संग कीयां सांपणि डसै, आइ अंधारै षाइ ॥
जन हरीदास सूक बिरछ की छांहडी, कहौ मुकति 'क्यू' जाइ ।२३।
काया माया झूठ है, साच न जाणी वीर ॥
जन हरीदास कहि का की भागी त्रिषा, पी 'अग' त्रिसनां को नीर ॥२४॥

॥ चांणिक को अंग ॥

कीरतन्यां काचै मतै, जपै न केवल रांम ॥
जहां तहां नाचत फिरै, माया मिलै न रांम ॥१॥
चोटी ऊपरि चोट, कै लागी कै लागसी ॥
गहो रांम की वोट, ते नर निरभै 'जागसी' ॥२॥
माला मुंह काला करै, चोटी ऊपरि चोट ॥
जन हरीदास निरभै मतै, गहो रांम की वोट ॥३॥
दुनिया सूं दिल दे मिलै, साधां सूं उरि और ॥
हरीदास जन यूं कहै, पहुंचेंगे किस ठौर ॥४॥
आप भजन कूं आलसी, 'औरां' कूं दे आड़ ॥
जन हरीदास हरि तैं बिमुष, पसू पड़ेंगे षाड़ ॥५॥
जन हरीदास सुष अगम है, मथि काढै ते संत ॥
जल थोड़ा आँधीं घणी, असा ग्यान अनंत ॥६॥
भौंह मांहि अंतरि बिथा, बौलै मीठै भाइ ॥
जन हरीदास निगुरा तिको, निहचै नरकां जाइ ॥७॥

पाठभेद—क्यौं-१ । मृग-५ । जागिसी-१-४ । अवरां १ ।

शब्दार्थ—अंधारै=अज्ञान में । कीरतन्यां=कीर्त्तन करने वाले, दिखाऊ भक्त । काचै मतै=अस्थिर विचार, दिखाऊ भक्ति । आड़=बाधा, रुकावट । भौंहभांहि अन्तर व्यथा=दिखाने में भाव भंगी परम त्याग की दिखावे, पर भीतर से वासना की पीड़ा से व्याकुल ।

गुण पोषै निरगुण कथै, सुरति न 'लागी' साचि ॥
जन हरीदास काचै मतै, बहौत गया यूं नाचि ॥८॥

ग्यांन ध्यांन पोथ्यां लिष्या, हिरदै सक्या न राषि ॥
जन हरीदास ता साध की, हित दै 'सुणी' न साषि ॥९॥

चाल्या था 'पणि' बाहुड्या, हीरा बैठा हारि ॥
जन हरीदास कौडी रता, तिन का संगि निवारि ॥१०॥

जोरीं करि चौरी करै, बैसि ग्यांन की छांह ॥
हरीदास जन यूं कहै, ताकी झूठी बाँह ॥११॥

आपा की आंटी पड़ी, दुष सुष व्यापै दोइ ॥
जन हरीदास चौथी दसा, 'चतर' न पहुँचै कोइ ॥१२॥

जहां आपौ तहां आंतरो, करणांसागर दूरि ॥
जन हरीदास आपौ मिट्यां, है हरि सदा हजूरि ॥१७॥

पैंड एक आघा चलै, पग दस पूठा जाहि ॥
जन हरीदास कहणी कहा, रजमा रहणी मांहि ॥१४॥

मनसा का बादल भया, कांम क्रोध जल जोर ॥
जन हरीदास कहणी सरस, रहणी बडी कठोर ॥१५॥

आपै चढि ऊंचा भया, कोटि करम लै साथि ॥
दौड्या था हरि हेम कूं, कौड़ी आई हाथि ॥१६॥

पाठभेद—लागै–१। सुणै–१। पिण–१। चत्र–१।

शब्दार्थ—गुणपोषै=सात्विकादि तीनों गुणों का पोषण करे, बढावे। निरगुण कथै=कथा-उपदेश में निर्गुण की महिमा कहे। वा साध की=ब्रह्मनिष्ठ महात्मा की। हित दै=ध्यान से, श्रद्धा से। साषि=शब्द, उपदेश। झूठीबाँह=झूठा सहारा, मिथ्या सहयोग। चौथी दसा=सहज अवस्था, मुक्त दशा। आंतरो=अन्तर, भेद। आघाचलै=आगे चले। रहणी मांहि=आचरण में, रहन-सहन-व्यवहार में। आपै चढि=अहंकार से अपने को ऊँचा माने।

सिंघ सदा बन में बसै, गीदड़ गरजै आइ ॥
एक दिहाड़ै थाप की, सहजै सिर मैं पाइ ॥१७॥

जन हरीदास केहरि गरज, जंबक लहै न जांण ॥
जब केहरि केहरि मिलै, तब गरज्यां 'परवाण' ॥१८॥

मोड़ा माथा मांनई, ताल बजावै तोड़ि ॥
जन हरीदास उनकी संगति, नां पहुँचावै बोड़ि ॥१९॥

अरथ करै अनरथ नहिं छूटै, तातैं फिरि फिरि भांड़ा फूटै ॥
हरीदास जन ऐसी कहै, कोई उलटा पेलि परम पद लहै ॥२०॥

'मूनी' वाहणि 'जोइ' करि, ऊपरि बैठा साह ॥
जन हरीदास या विणज मैं, तोटा घणां क लाह ॥२१॥

भूष प्यास संकट सहै, सहै विडांणा भार ॥
जन हरीदास मूनी बलद, का सूं करै पुकार ॥२२॥

उलटी नै सुलटी कहै, ऊंधी नै सूंधी ॥
जन हरीदास सांसै ड़सी, दुनिया चकचूंधी ॥२३॥

कहां कागद कहां मिनिष दिल, लिखी साध की बात ॥
कर तैं छूटा लागी पवन, उड्या उड्या जात ॥२४॥

पाठभेद—प्रवाण-१ । मौनी-१ । जोति-३ ।

शब्दार्थ—सिंघ=काल केहरी । एक दिहाडै=एक दिन । परवाण=प्रमाण । मोडामाथा=नकली वेष धारण करने वाला । अनरथ नहिं छूटै=हिंसा, काम, क्रोध, छल-कपट आदि अनथ नहीं छूटते हैं । मूनी=मौन रखने वाला, न बोलने वाला । वाहणि=वहन करने वाले, बैल-घोड़े आदि । तोटा=नुकसान, घाटा । लाह=लाभ, मुनाफा । विडांणा=औरों का । सांसै डसी=संशय से ग्रसित, सन्देह में उलझी । कहाँ कागद कहाँ मनिष दिल, लिषी साध की बात=अनुभवी महात्माओं का उपदेश केवल कागज में लिख लेने से क्या लाभ हो ? यदि वह उपदेश हम धारण नहीं करते । जैसे लिखित कोई पत्र हाथ से छूट कर हवा में कहाँ का कहा व्यर्थ उड़ जाता है । इसी तरह लिखित वेद-शास्त्रों का महत्व उनमें कहे गये उपदेश को धारण करने से है, अन्यथा नहीं ।

झूठै कर आधा किया, मन की मिटी न रेष ॥
*जन हरीदास तरसुत जल्या, संगति का गुण देष ॥२५॥
पांन अगनि मुष ऊबरै, गोला ताता होइ ॥
जन हरीदास साची संगति, जलतन देष्या कोइ ॥२६॥
हेम अगनि मुख जालिये, धातां संगि लगाइ ॥
जन हरिदास कंचन तिको, बिकै लोह कै भाइ ॥२७॥
लोहा जल सूं धोइये, तब लग कांटी षाइ ॥
जन हरीदास पारस मिल्यां, मंहगै मोलि बिकाइ ॥२८॥

॥ भरमविधूंस को अंग ॥

ज्यूं मूरति त्यूं ही सिला, रांम बसै सब मांहि ॥
जन हरींदास पूरण ब्रह्म, घाटि बाधि कहुँ नांहि ॥१॥
माणस परमेसुर किया, सो तौ करता नांहि ॥
जन हरीदास करता 'पुरसि', ब्यापि रह्या सब मांहि ॥२॥
नहिं देवल सूं वैरता, नहिं देवल सूं प्रीति ॥
'किरतम' तजि गोविंद भजै, याह साधां की रीति ॥३॥

पाठभेद—पुरस–५ । क्रितम–१ । किरत्म–४ ।

शब्दार्थ—तरसुत=तरुसुत=पीपल का पता। हेम=सोना। धातां=धातुएँ, लौह–ताम्बा आदि। काँटी=जर, मैल। माणस परमेश्वर किया=रामकृष्णादि मानव शरीरधारी को परमेश्वर कहते हैं। देवल=पाषाणमूर्ति। किरतम तजि=बनावटी ईश्वर को छोड़।

* पुराने समय में दैवी परीक्षा का चलन था। झूठ और सत्य का निर्णय अग्नि–संसर्ग से किया जाता था, जैसे सीताजी की परीक्षा की गई। इस प्रसंग का साषी–२५–२६ में निर्देश है। झूठे के साथ से पत्ता जल जाता है, सच्चे के साथ नहीं जलता।

लोक 'दिषावौ' मति करै, हरि देषै ज्यूं देष ॥
जन हरिदास हरि अगम है, पूरणब्रह्म अलेष ॥४॥

जन हरीदास साची कहै, माहिबजी की 'सौंह' ॥
पाहण कूं करता कहै, ताका काला 'मौंह' ॥५॥

जैन धरम माया 'सरूप', 'परस्यां' लागै पाप ॥
जन हरीदास निरभै मतै, भजौ निरंजन जाप ॥६॥

साची कथा सुणवतां, मति कोई मानै रीस ॥
अलष निरंजन छाड़ि करि, भजै भरम चौईस ॥७॥

जैन धरम सब तैं बुरा, भला कहै सौ कौंण ॥
'सूने' घर मैं सरप है, तहां न कीजै गौंण ॥८॥

जैन धरम सोध्या सबै, ग्यांन सूप ले हाथि ॥
फटकि फटकि फटकूं कहा, कोई कुणका लगै न हाथि॥९॥

जैन धरम की बातड़ी, सांभलि मनवा बीर ॥
ऊजड़ कूप उजाड़ि मैं, तहां छाया नांही नीर ॥१०॥

जैन धरम की बातड़ी, सुणत सुणत 'भया' भोर ॥
जन हरीदास जहाँ का तहाँ, घर मै मैं तैं चोर ॥११॥

पांच तत का पूतला, रज बीरज की बूंद ॥
एकै घाटी नीसरचा, बांमण षत्री सूद ॥१२॥

देवल मांही देव है, घटि घटि धरचा बणाइ ॥
जन हरीदास 'याह' चूँधि है, तूँ गुण गोविंद का गाइ ॥१३॥

पाठभेद--दिषावा-१ । सूंह-५ । मुंह-३ । सरप-२ । प्रस्यां-१ । सूना-१-५ । भए-१ । या-१ ।

शब्दार्थ--सौंह=सौगन्ध, शपथ । परस्यां=अपनायाँ । रीस=गुस्सा, बुरा । गौण=गवन । सोध्या=देखा, तलाश किया । कुणका=तत्वकण । नीसरचा=निकले, उत्पन्न हुए । सूद=शूद्र, अन्त्यज । चूंधि=भ्रम, अज्ञान ।

॥ भेष को अंग ॥

भेष पहरि भांडी करी, फेरि धराया नांव ॥
जन हरीदास 'सांमी' 'पणौ', बहौड़ि रोग में पांव ॥१॥
जन हरीदास बादल बिगति, बूठां ब्यौरा होइ ॥
भेष बराबरि करि मिले, सुमिरण का सुष दोइ ॥२॥
जन हरीदास गोविंद विमुष, तिन सिरि जम का हाथ ॥
बाहरि मूँडित 'देषिये', भीतरि सलवा साथ ॥३॥
जन हरिदास कहै या जग मैं, एक अचंभा भारी ॥
हम टोपी काहै कूं पहरैं, उलटी चाल हमारी ॥४॥
सांग काछि सोहरा हुवा, हीरा न आया हाथि ॥
जन हरीदास तांडौ लद्यो, तब सब कुता साथि ॥५॥
जन हरीदास तांडौ लद्यौ, तब सब कूंता साथि ॥
संगि तांडौ संग ही कुता, कछू न आया हाथि ॥६॥
निरभै पद गावे नहीं, गाईज रस रागे ॥
हरीदास जन यूं कहै, मोडा भला न काग ॥७॥

॥ साच को अंग ॥

मिथ्या सबद न 'बोलिए', जन हरीदास यहु आन ॥
बंवल बिरछ लागै नहीं, पारिजाति कै पांन ॥१॥

पाठभेद-- । स्यांमी-१ । पनौ-५ । देषिए-३-४ । बोलिये-२ ।

शब्दार्थ--भांडी करी=भांडपन किया । बूठां=वरसना । ब्यौरा=विवरण, असलियत । सलवा=संशय का सल । सांग काछि=सांगबना । सोहरा हुवा=राजी हुआ, सुख माना । तांडो लद्यो=पडाव उठा । कुत्ता=केवल भोजनार्थी श्वान सम मनुष्य । रस राग=रसिया गाना । मोडा=मुण्डित । आन=दुहाई, शपथ । पारिजाति= देववृक्ष, हारशृङ्गार ।

×घर कद्रज कद्रज बिरछ, भी कद्रज फल पात ॥
जन हरीदास ता बिरछकुल, विपति नदी बहि जात ॥२॥

॥ साध को अंग ॥

तेल कडाही जलत है, कल विन भलन बुझाइ ॥
जन हरीदास सीतल भया, तब चंदन पहुंता आइ ॥१॥

काम क्रोध त्रिसनां तजी, त्रिबधि ताप का नास ॥
रांम नाम हिरदै सदा, जन हरीदास यौ दास ॥२॥

गूदडियौ आछै मतै, भजै निरंजन राइ ॥
जन हरीदास ता साधकी, 'महिमा' कही न जाइ ॥३॥

चित मांही वित ले रह्या, सम्रथ सिरजनहार ॥
जन हरीदास ता साध का, मिलि कीजै दीदार ॥४॥

पाव पलक छाडै नहीं, हिरदा तैं हरि नाँव ॥
जन हरीदास ता साध की, मैं बलिहारी जाँव ॥५॥

आठौं पहर भजै अविनासी, 'इहै' भेष मन मांहि ॥
रूंड मूंड कहा टोपी-पहरयाँ, देह भरोसा नांहि ॥६॥

पाठभेद—महमा-५। इहि-४।

शब्दार्थ—कल विन=सामयिक सूझविना। यौ दास=वहीसच्चा महात्मा है। पाव पलक=क्षण भर भी। इहै भेष=यही रग।

×खराब भूमि में खराब ही बीज से उत्पन्न वृक्ष जिसके पत्ते-फल भी बुरे हों उस वृक्ष का व उस की परम्परा का क्या महत्व है? इसी तरह मनुष्य भी जो गन्दा रहने का अभ्यासी है, गन्दे उसके विचार हैं और गन्दी ही उसकी क्रिया है उसका जीवन व्यर्थ है।

रांम भजन आनंद सदा, आठौं पहर अछेह ॥
रांम भजन बिन मांनई, बादि गमावे देह ॥७॥

'ना' काहू सूं बैरता, मोह न बांधै साध ॥
जन हरीदास आठौं पहर, 'भजिए' रांम अगाध ॥८॥

भाव भगति गोबिंद भजन, जाकै हिरदै होइ ॥
जन हरीदास ता साध कूं, गंज न सकै कोइ ॥९॥

भाव भगति गोविंद भजन, दया दिढ़पण दाषि ॥
जन हरीदास गुरग्यान गहि, ये साथी संगि राषि ॥१०॥

'परम' सनेही रांम है, कै रांम तुम्हारे सन्त ॥
जन हरीदास हरि भजन बिन, पासी 'और' अनंत ॥११॥

अलष निरंजन नाथ सति, सति रांम रांम का साध ॥
जन हरीदास 'बरणूं' कहा, 'याह' तौ बात अगाध ॥१२॥

मन उलटा चढया आकास कूं, पवन सुरति लै हाथि ॥
जन हरीदास ता साध कै, सदा निरंजन साथि ॥१३॥

जाष्यूं को लागै नहीं, 'भजिए' केवल रांम ॥
जन हरीदास ता साध का, निरभै पद 'विसरांम' ॥१४॥

नरक सुरग सब 'परहरचा', गहि गुर ग्यांन विचार ॥
जन हरीदास ता साध सूं, सनमुष सिरजनहार ॥१५॥

पाठभेद—नहि–१ । भजिये–२ । प्रम–१ । अवर–१ । बरणौं–१ । या–४-५ । भजिये–२ । विश्राम–५ । परिहरचा–१ ।

शब्दार्थ—अछेह=विना अन्त, निरन्तर । मोह=ममता, अनुराग । गंज=परास्त, हराना । दिढपण=मजबूती, दृढता । पासी=बन्धन, वाधायें । उलटा चढ्या आकास कूं=मन अन्तर्मुख हो लय वृत्ति से गगनमंडल ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचा । जाष्यूं=जोखिम, धन, सम्पत्ति में ।

जन हरीदास 'सो' जन भला, भजै अषंडित रांम ॥
राग दोष मैं तैं नहीं, जोग मूल सूं कांम ॥१६॥
अजब 'इष्ट' रहणीं अजब, अजब बात सूं हेत ॥
जन हरीदास षेलै तहाँ, कोई साध सुचेत ॥१७॥
गूदडियो निरभै मतै, चाले उलटी चाल ॥
जन हरीदास ताकी संगति, जब तब करे निहाल ॥१८॥

॥ मधि को अंग ॥

बैरागी ग्रिह वन तजै, मधि कै पैंडे जाइ ॥
जन हरीदास आपा रहत, सुष मैं 'रहया' समाइ ॥१॥

॥ उपदेश को अंग ॥

सीष भीष की वातड़ी, सांभलि मनवा बीर ॥
भीषत भीषत ही पछै, होइ समद सूं सीर ॥२॥
बात कहत पैंडा थकै, चलतां होइ स होइ ॥
जन हरीदास हरिधाम तहां, पहुंचै बिरला कोइ ॥३॥
अजब साषि साचा सबद, घर मैं रहे न सोइ ॥
जन हरीदास गोविंद भजैं, पला न पकड़ै कोइ ॥४॥
इत उत 'चितवणि' छाडि दे, मनसा मरै तो मारि ॥
जन हरीदास हीरा जनम, कौडि सटे न हारि ॥५॥

पाठभेद—सोई-१ । इसट-४ । रहे-१ । चितवनि-१-५ ।

शब्दार्थ—अजब=अनोखा, अद्भुत । सुचेत=सावधान हुए । सीष=ग्रहण कर । भीष की वातडी=निरन्तर आत्मचिन्तन में लगने की बात सीख जाना । चितवणि=देखना ।

जन हरीदास लीजै नहीं, कंचन बदले काच ॥
जो 'कछू' गया स जांण दे, तूं रहता सूं राच ॥६॥
रहता रमता रांम है, दूजा कोई नांहि ॥
जन हरीदास यूं जांणि करि, सो राख्या मन मांहि ॥७॥
आग्या मांगू अगम की, अगम सुगम यूं होइ ॥
हरीदास जन यूं कहै, भूलि 'पडौ' मति कोइ ॥८॥

॥ विचार को अंग ॥

हरीदास 'कहिए' कहा, देष्या 'सोचि' विचारि ॥
झूठा सुष सू लागि करि, हरि सुष चाल्या हारि ॥६॥

॥ वेसास को अंग ॥

पूरण हारा पूरि है, जन हरीदास हरि राइ ॥
'जल' 'थल' कीट पतंग 'लू', जहां तहां रह्या समाइ ॥१॥
सांई सब कूं देत है, बहौडि कबहूं नहिं लेत ॥
हरीदास जन यूं कहै, वाकै देबाहीं सूं हेत ॥२॥
जन हरीदांस दाता दई, दूजा कोई नांहि ॥
सब कुछ करि सब तैं अगम, व्यापि रह्या सब मांहि ॥३॥
अैसा कोई एक है, बीस तीस तौ नांहि ॥
आतस लांगा मन 'सथिर', निरभै निजपद मांहि ॥४॥

पाठभेद—कुछ-१। पड़े-१। कहिये-२। सोच-४। जलि थलि-२-३-४। लौं-१। सुथिर-१।

शब्दार्थ—सुगम=सरलता से प्राप्त। हरिराइ=राजाओं का राजा परमेश्वर। दाता दई=बड़ा दानी। आतस=व्याकुल हो, आतुर हो।

आतस लागा मन चलै, तौ मांगिर भिष्या षाइ ॥
जन हरीदास उदिम अजब, भजै निरंजन राइ ॥५॥

इजगर उदिम करत है, आतस लागा दोइ ॥
जन हरीदास वैराग 'व्रत', तहां कछु उदिम न होइ ॥६॥

इहि उदिम अनगति भजै, गंग जमन मधि वास ॥
जन हरीदास तब देषिये, परम जोति 'परकास' ॥७॥

परा परै पूरणब्रह्म, तहां मन रह्या समाइ ॥
जन हरीदास ऐसा उदिम, और उदिम कूं षाइ ॥८॥

तन का उदिम कहां 'रहै', जब मन 'पिंगुल' होइ ॥
जन हरीदास 'मिरतग' पगां, चलत न देष्या कोइ ॥९॥

जे कबहू मिरतग चलै, तौ बीचि बिटंब कोइ और ॥
जन हरीदास मूंवां पछै, नहीं 'कुटंब' मैं ठौर ॥१०॥

सत रज तम षट ऊरमी, मैं तैं मोह जात मुष गोइ ॥
जन हरीदास विग्यांन व्रत, तहां उदिम नहिं होइ ॥११॥

॥ पतिवरता को अंग ॥

सेवग हाजरि 'चाहिए', साहिब सदा हजूरि ॥
'पून्यूं' पूरा चंद ज्यूं, जहां तहां भरपूरि ॥१॥

पाठभेद—व्रिति–२ । प्रकास–१ । करै–३ । पिंगुण–२ । मृतग–१-५ । कुटुम्ब–१ । । चाहिये–२-३ । पून्यौ–१ ।

शब्दार्थ—उदिम=उद्योग, प्रयास । इजगर=अजगर सर्प । गंग जमन मधि वास= इडा-पिंगला के मध्य में सुषम्ना का वास है उसमें प्राण प्रवाह करना । पिंगुल= पंगुल, स्थिर, निश्चल । मिरतग पगां=काम न देने वाले पैरों से । विटम्ब=विडम्बना, साजिश । षट् ऊरमी=भूख, प्यास, हर्ष, शोक, जन्म, मरण । विग्यानव्रत=आत्मज्ञान प्राप्ति की दृढ़ता, प्रतिज्ञा । सेवग हाजिर चाहिए=साधक अपनी साधना में तत्पर रहना चाहिए ।

वार पार मति गति अगम , आदि अंति मधि नांहि ।।
जन हरीदास आनंद सदा , प्राण बसै ता मांहि ।।२।।
ब्रह्मग्यांन ब्रत निंदतां , भला न कहसी कोइ ।।
जन हरीदास एक छाडि दूजा भजै , जे दूजा सति होइ ।।३।।
दूजी पूजा काल की , पकड़ि काल ले जाइ ।।
जन हरीदास रांम छाडि दूजा भजै , तासूं मिलै बलाइ ।।४।।
जन हरीदास याही कठिन , सब कौ चाहे मान ।।
'कहिं धूं' कैसे मानिये , बींद बिहूणी जान ।।५।।
बींद अमर बरि बरण तजि , सुष मैं सुरति निवास ।।
'पतिवरता' पति कूं मिलै , कै निसदिन रहे उदास ।।६।।

।। विरकताई को अंग ।।

वैरागी माया तजै , रांम भजन सूं प्रीति ।।
जन हरीदास षेलौ कहूं , देही का गुण जीति ।।१।।
हाटां बाटां ही रहै , भजै निरंजन नाथ ।।
आंन कथा मानै नहीं , हरि भगतां कौ साथ ।।२।।

।। समरथाई को अंग ।।

आगै पीछै रांमजी , पूरणब्रह्म अगाध ।।
हरीदास जन यूं कहै , ता सुषि लागि रहया सब साध ।१।
रांम दया 'सनमुषि' सदा , जे हरिजन सनमुष होइ ।।
काल जाल लागै नहीं , पाडा लगै न फोइ ।।२।।

।। इति ।।

पाठभेद—कहि द्यौं–१–३ । पतिव्रता–१ । सनमुष–४-५ ।

शब्दार्थ—निदतां=निंदा करना, हेय बताना । बलाई=दुर्भाग्य । हाटां बाटां ही रहे=[जि]स साधक ने मन, प्राण, वृत्ति को वश में कर लिया है, उसको गिरि-गुफा या निर्जन वन की आवश्यकता नहीं, वह चाहे बाजार में बैठा रहे या रास्ते में, उसके ध्यान में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती ।

॥ सूरातन को अंग ॥

कोड़ि रूपस वारि है, हीरा रूपस पारि ॥
लेगा कोई जौंहरी, मेल्है सीस उतारि ॥१॥

'अगनि' दहै दुख पाइये, बुधि बल कछु न बसाइ ॥
यूं ऊंचा सूं गिरि पड़ी, पर दुख सहै वलाइ ॥२॥

तन तूटो कुटका हुई, रती न मानी संक ॥
षेत परै मन थिर नहीं, रे दोहणी निसंक ॥३॥

सनमुष व्है श्रवणां सुणी, तैं आपणी सुवालि ॥
षागां मुहि षिसतांषिमा, रे दोहणी दयाल ॥४॥

दया इहै साधां सुपहै, चाली निज घर ताकि ॥
जन हरीदास यूं जांणिये, 'बहौडि' न चढ़ई चाकि ॥५॥

पाठभेद—अग्नि १ । बहुड़ि–१-५ ।

शब्दार्थ—वारि है=ऊलीओर है, इस किनारे हैं । पारि=उस पार, संसार सागर से पार । तूटो=टूटा, भग्न हुआ । कुटका=कण कण, टुकड़े टुकड़े । संक=भय, कांण । दोहणी=हाँडी, पात्र, मनुष्य शरीर ।

साषी–२—गर्भाग्नि से संतप्त हो गर्भकाल में बहुत क्लेश पाया, पर वहाँ वल-बुद्धि का कोई वश नहीं चला । काल पाकर गर्भ से बाहर आया तो फिर माया-मोह में पड़ देह रूप यह हाँडी फिर अनेकों दुःख उठा रही है ।

साषी--३—तन तूटौ चंचल हुये मन की वृत्ति कुटका हुई विषयों में लग खंड खंड हुई, विचलित मन तथा वृत्ति ने किसी तरह की शंका–मर्यादा नहीं रखी । यदि संसार के युद्ध क्षेत्र में मन स्थिर नहीं तो फिर यह कायारूप हाँडी निशंक हो, कर्म बन्धनों में उलझती है ।

साषी–४—रे दोहणी हे काया रूपी हाँडी जब आत्मपरिचय की तीव्र लगन से गुरु के सम्मुख हो उनका सत्य उपदेश सुना–उसको अपनाया और साधना से अपने को सँभाला, तब धैयपूर्वक दयालुता से बिना प्रतिहिंसा की भावना के काम-क्रोध-लोभ मोहादिकों के आधानों को निष्फल कर दिया ।

रांम भजै निरभै थकी, तकी न काई वोट ॥
लागी पण भागी नहीं, 'उरि' पाहण की चोट ॥६॥

भागां को भै को नहीं, जे मन मांडै धीर ॥
परवत सुत सूं बांजि करि, नीकां राष्यौ नीर ॥७॥

लिषमी सुत अरु गिरि सुता, आज मंड्यौ भारथ ॥
पिसणां मांही पैसि करि, भला दिखाया हथ ॥८॥

सूरवीर साचै मतै, भजै सनेही रांम ॥
जन हरीदास ता साध का, सरै सही सूं काम ॥९॥

सीस देंण की ठौड़ है, तूं अपणा सिर देह ॥
जन हरीदास सिर के सटै, रांमरतन धन लेह ॥१०॥

पाठभेद—उर-२।

शब्दार्थ—भागांको=टूटने का, भागने का। परवतसुत=पत्थर। लषमीसुत=मिट्टी। सटै=बदले में, एवजी में।

साषी-५—गुरु उपदेश तथा महात्माओं की दया का यह परिणाम है कि अब संसार से विरत हो तुम अपने मूलस्थान समष्टिचेतन ब्रह्म की ओर अग्रसर हो रही हो। हरिदासजी महाराज निर्देश करते हैं कि अब यह समझो कि पुनः जन्म-मृत्यु के चाक पर नहीं चढना है।

साषी-६—उपरोक्त रूप में जब साधक की धारणा दृढ़ हो गई तो वह निर्भय हो आत्मचिन्तन में लग गया। अब और किसी सहारे की आवश्यकता नहीं रही। अब वासनारूपी विविध पत्थरों की चोट लगती है तो भी अबवृत्ति आत्म-चिन्तन से भंग नही होती।

साषी-७—यदि साधना से मन सुस्थिर हो गया है तो फिर वृत्ति के कभी लड़खड़ाने का कोई भय नहीं है। अब तो बाजी लगा कर काम-मद-मोहादि से जीवन रूपी नीर को सुरक्षित कर लिया है। अब पुनः कर्मबन्धन में पड़ने की कोई संभावना नहीं।

साषी-८—आज अहंकार के साथ विवेकसम्पन्न सद्बुद्धि का युद्ध चल रहा है। सद्बुद्धियों ने भी षड्रिपु तथा आसुरी सम्पत्ति के दुर्गुणों को दूर खदेड़कर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है।

जन हरीदास हरि मिलण कूं , अंतर किया बिचार ॥
जे सिर साटै हरि मिलै , तौ 'सिर सौंपूं' सौ बार ॥११॥

सिर तेरा तूं सिर धणीं , मुझ सिर सूं क्या काम ॥
सिर है बिष का तूंबडा , तूं सुष का सागर राम ॥१२॥

जोग 'पंथि' पग मति धरै , धरै तो सीस उतारि ॥
हरीदास जनू यूं कहै , यो ही अरथ विचारि ॥१३॥

अगन सिंघासण अगनि समि, काचा टिकै न कोइ ॥
जन हरीदास बैठा तहां , दिन दिन आनंद होइ ॥१४॥

जन हरीदास मैदान में , खेलत है गोडारि ॥
कोड्यां मध्ये एक कौं , ले जैं पै ते मारि ॥१५॥

सिंघ भषौ विषहर डसौ , भावे झडौ सुभाइ ॥
जन हरीदास गोविंद भजौ , तन सूं सुरति चुकाइ ॥१६ ॥

काइर सूं काइर मिलै , सूर मिलै सति सूर ॥
जन हरींदास आनन्द सदा , बाजै अनहद तूर ॥१७॥

मेर उलटि वसुधा भषी , 'प्रबल' 'प्रवत' नांहि ॥
बिणि पांषा ऊँचा चढ्या , बस्या आकासां मांहि ॥१८॥

पाठभेद—सिर सौप्यां जै-१पंथ-१-३ । परवल-३ । परवत-३ ।

शब्दार्थ—अगन सिंघासण=ज्ञानाग्नि रूप सिंहासन। गोडारि=गोइन्द्रियाँ, उनके द्वारा। तन सूं सुरति चुकाइ=देहाध्यास से वृत्ति को हटाकर। मेर उलटि=मन अन्तर्मुख हो। वसुधा भषी=वासना को भषी-निर्मूल की। प्रवल प्रवत=दुर्लंघनीय काम-क्रोध-मोह-मदादि पहाड। बिणिपांषा=विना स्थूल पंखों के, विवेक-विचार से।

साषी—१८ मेर उलटि-मन आत्मनिष्ठ हो वासना रूपी वसुधा को समाप्त की। अहंकार, मद-मोह कामादि प्रबल पहाडवत् बाधक थे उनको साफ किया। स्थूल परों के विना विवेक-विचार के पंखों से ऊपर उठ दशम द्वार-ब्रह्मरन्ध्र में निवास किया।

मेर अडिग उलटी गंगा , आपा राल्या सूर ॥
जन हरीदास तब 'देषिए' , नैंणा मांही नूर ॥१९॥

'पांचू' इन्द्री फेरि करि , रांम भजन करि सूर ॥
जन हरीदास काइर घरां , काल बजावै तूर ॥२०॥

जन हरीदास पीव परसिये , पांच अटकि ल्यौ लाइ ॥
डावै करि मस्तग धरै , सूरा सनमुषि जाइ ॥२१॥

सीस उतारचा सूरि वै , छाड़ी तन की आस ॥
अंतरि राता एक सूं , परम जोति परकास ॥२२॥

॥ काल कौ अंग ॥

'एक' दिहाड़ै इन्द्र कूं , पकडि पछाडै काल ॥
हरीदास जन यूं कहै , गोपी रहे न ग्वाल ॥१॥

रांम दया न्यारी रही , रावण हारा कोड़ि ॥
जन हरीदास ता जीव कूं , काल गहै घट तोड़ि ॥२॥

रांम नाम व्रत छाडि करि , जहां तहां जीव जाइ ॥
जन हरीदास ता जीव कूं , काल तहां ही पाइ ॥३॥

पाठभेद - देषिये-२ । पांचौं-१-४। येक-२ ।

शब्दार्थ—उलटि गंगा=वृत्ति बदली-अन्तर्मुख हुई । आपा=नाना अहंकार । राल्या=फेंका, दूर किया । पांच अटकि-इन्द्रियों को रोक । एक दिहाड़ै=एक दिन । कोडि=करोड़ों ।

साषी१९— मन को निश्चल किया, वृत्ति को उलट प्राण से सम्बन्धित किया अहंकार तथा देहाध्यास को निर्मूल किया वही शूरवीर है, सच्चा योधा है । हरिदासजी महाराज कहते है ऐसे शूर साधकों को ही वह परम नूर परम ज्योति "नैणा मांहि" यानी प्रत्यक्ष होती है । एसे साधक ही ब्रह्मप्रकाश से प्रकाशित होते हैं ।

जन हरिदास गोबिंद भजो , गहि गुर ग्यांन विचारि ।।
करि कवांण कैवर 'लिये' , काल षड़ा दरबारि ।। ।।४।।

देह षेह ह्है जाइगी , मुंहि पडैगी मार ।।
जन हरीदास गोबिंद भजौ , गहि गुर ग्यान बिचारि ।।५।।

हरि सुषसागर परहरया , कीच रह्या लपटाइ ।।
जन हरीदास ना जीव कूं , हिलियौ हाडौ षाइ ।।६।।

आसा कै घरि जम बसै , ड़ाव पड़ै तब षाइ ।।
हरीदास जन यूं कहै , हरिजन तहां न जाइ ।।७।।

पैले जलि पहुँता नहीं , उला जल की आस ।।
जन हरीदास सुरगुण कथा , तहां काल की पास ।।८।।

जन हरीदास मोटी विथा , करम काल जीव मांहि ।।
रांम भजै सो ऊबरै , दूजा छूटै नांहि ।।९।।

काल दहूं दिसि देषिये , जहां तहां भरपूरि ।।
जन हरीदास गोबिद भजौ , सो काल जाल सूं दूरि ।।१०।।

।। संजीवणि को अंग ।।

'वोषद' अजब अनूप है , जरै तो 'जुरा' न षाइ ।।
जन हरीदास तूटै बिथा , सुष मैं रहै समाइ ।।१।।

पाठभेद—लिया–१-५ । औषदि–५ । काल–५ ।

शब्दार्थ—कैवर=कितनी वार । कीच=वासना-तृष्णा के कादे में । हिलियौ=हला हुआ । हाडौ=काल रूपी काग । आसा=चाह, भौतिक पदार्थों की इच्छा । पैलेजलि=परम आनन्ददायी चेतनतत्व रूपी जल । उला जल=विनाशी संसारसुखरूपी जल । करमकाल=सकाम कर्मरूपी काल । वोषद=औषधि, अमृत जड़ी, आत्मचिन्तन-रूप बूंटी । जरै तो=पचै, आत्मसात् हो ।

गूंगा कूं वोषद दई, 'षाइर' किया उषाल ॥
जन हरीदास ता जीव का, चूका नहीं जंजाल ॥२॥
वोषद जरै तो मन मरै, षाइर करै उषाल ॥
जन हरीदास ता जीव कूं, अंति 'गिरासै' काल ॥३॥

॥ दया निरवैरता को अंग ॥

चींटी फीटी व्है रही, रती न मानै संक ॥
पगां तलि रौंदी मरै, माथै चढै कलंक ॥४॥

॥ साध महमा को अंग ॥

जन हरीदास आनंद इहै, मन अपणां परमोधि ॥
करड़ा पंथ कबीर का, सो हम लीया सोधि ॥१॥
पीठि दई संसार सूं, परमेश्वर सूं प्रीति ॥
जन हरीदास कबीर की, याह कछु उलटो रीति ॥२॥
उलटै पैंडे परम सुष, परम साध तहां जाहि ॥
हरीदास जन यूं कहै, निगुरा पहुंचै नांहि ॥३॥
अगनि न जालै जल नहिं बूडै, झड़ि झड़ि पडै जंजीर ॥
जन हरीदास गोबिंद भजै, निरभै मतै कबीर ॥४॥
मारि मारि काजी करै, कुंजर बंदै पांव ॥
जन हरीदास कबीर कूं, 'लगै' न ताती बाव ॥५॥

पाठभेद—षायर-२ ग्रासै-१ । लगी-१ ।

शब्दार्थ—उषाल=उल्टी, वमन । चूका= चुकता, निवृत्त हुआ । जंजाल= माया के बन्धन । फीटी=निर्लज्ज । निगुरा=गुरु विना, अकृतज्ञ । बंदै=वन्धे, वान्धे गये । तातीबाव= वासना तृष्णा की हवा ।

राषणहारा एक तूं, मांरणहारा कोड़ि ॥
जन हरीदास कबीर का, कोई मता सक्या नहिं मोडि ॥६॥

॥ करणा को अंग ॥

राति अंधारी सरप डर, सषी त सजन दूरि ॥
जन हरीदास हरि अगम है, करणां कीयाँ हजूरि ॥१॥

॥ कामी नर को अंग ॥

करम कडाही काम जल, मैं तैं लुकटि मांहि ॥
जन हरीदास जीव जलत है, जांणै कोई नांहि ॥१॥

रांम नाम न्यारा रह्या, 'नांणा' नारि साथि ॥
जा सुष की गति मति अगम, सो सुष नाया हाथि ॥२॥

साचा जोड़ा रामजी, दूजा जोड़ा झूठि ॥
दूजा जोड़ा विनस सी, काची देह करूठि ॥३॥

रांम रतन न्यारा रह्या, कौड़ी लीया मारि ॥
जन हरीदास नर नारियाँ, नरां बिलंबी नारि ॥४॥

डूंगर तै पसु उतरै, सारणि दौड़ा आइ ॥
जन हरीदास नारी मतै, मिलैस षोटा षाइ ॥५॥

तन मन दे सरवस लिया, भूषी भामणि षाइ ॥
जन हरीदास नारीं मतै, मिलैस षोटा षाइ ॥६॥

पाठभेद— नैंणा-१ ।

शब्दार्थ—मता=मत, विचार । मै तैं लुकटि=मेरे-तेरे की भेदभावना-रूप लकडी । नांणा=धन, सम्पत्ति, मूल्य । विनससी=नष्ट होगा । करूंठि=कतई, निकम्मी । कौडी=धन, वैभव, माया । भामणि=स्त्री वनकर ।

तन मन दे सरवस दिया, भूषी भांमणि षाइ ॥
जन हरीदास नारि नरकि, बाँह पकड़ि ले जाइ ॥७॥

जोगणि ले जुई हुई, भोग करण सूँ भेद ॥
साहिब सूं पाछा फिरै, तहां कंध का छेद ॥८॥

जन हरीदास परनारियाँ, रोपै 'नजरि' गँवार ॥
गगन चढ्या धर मैं धसै, बूड़ा काली धार ॥९॥

जन हरीदास नारि संगति, साध करो मति कोइ ॥
नारी संगति संकर ठग्या, कुसल कहाँ तैं होइ ॥१०॥

जन हरीदास गोविंद भजौ, सुरति सहज घरि धारि ॥
नारी हरि भजि हरि मिलै, तो भी संग निवारि ॥११॥

मन उनमनि लागा रहै, नांही और उपाय ॥
जन हरीदास नारी संगति, भी कंध का 'घाव' ॥१२॥

हरि तैं सुरति उतार करि, पूठा बैसे आइ ॥
जन हरीदास याही कठिन, महा महीन्है षाइ ॥१३॥

जन हरीदासपर कांमणी, नैंण बांण भरि षाइ ॥
सतगुरु सबद संभाल करि, रालै बांण चुकाइ ॥१४॥

साध पारिष को अंग

जहाँ जल तहाँ ज्वाला नहीं, हरि तहाँ मैं तैं नांहि ॥
जन हरीदास केहरि कुरंग, एकै बनि न बसांहि ॥१॥

पाठभेद—निजरि-१। बाव-२।

शब्दार्थ—जुई=जुदी। रोपै=गाडे, लगावे। धर में=धरा में, नीचे, विनाशी भौतिक पदार्थों में लगे। कंध का=गर्दन का। महामही=अति महीन, परम सूक्ष्म। रालै=डाले, दूर करदे।

स्याम बरण दोन्यों दुरसि , एक अजव अनुराग ॥
जन हरीदास बोल्यां बिगति, कहाँ कोइल कहाँ काग ॥२॥
जन हरीदास उदबुद कथा , 'दोन्यों' ऊजल भाइ ॥
हंस अजब मोती चुगे , बुगला मछी पाइ ॥३॥
जहाँ बुगला तहाँ हंस अरत , जन हरीदास दुष दोइ ॥
वा सांतरि सरभर लगै , चारै व्यौरा होइ ॥४॥
सीतल 'द्रिष्टि' चकोर की , चंद वसै ता मांहि ॥
जन हरीदास ज्वाला चुगै , देषो दाझै नांह ॥५॥
उदरि समाइ 'स' चूंणि लै , रहै निरंतरि लागि ॥
जो कवहू सांचो करै , तो जालै जलती आगि ॥६॥
उदर समाइ स चूंणि लै , अंतरि रहै उदास ॥
जे कवहू सांचो करै , तो पांषा होइ 'बिणास' ॥७॥

॥ साध संगति को अंग ॥

साध संगति 'निरमल' दसा , जे मनि होवै मैल ॥
जन हरीदास तिल तैल का , कैसा भया फुलेल ॥१॥
तिल फिरि षेल्या 'पहोप' सूँ , अरस परस रस रूप ॥
जन हरीदास संगति सरस, कैसा भया अनूप ॥२॥
जन हरीदास चंदन संगति , वसै स चंदन होइ ॥
'वांस' वास भेदै नहीं , सक्या न आपा षोइ ॥३॥

पाठभेद—दोन्यूं-३-४-५। दिसटि-२। सु-१। बिनास-५। नृमल-३-४-५। पुहुप-१। वांसि-१।

शब्दार्थ—दुरसि=दिखाई दे, कुरूप। सांतरि=तैयारी, सामग्री। सरभर=अगवानी उचित सम्मान। चारै=खाने पर, भोजन करने पर। समाइस=समाये, आवश्यकतानुसार। चूणि लैं=चुगाकरे, खाये। सांचो=संचय, संग्रह। निरमल दसा=शुद्ध अन्तःकरण। मैल-मलिनता, गंदगी। पहोप=पुष्प। आपा षोइ=गर्व नष्ट कर।

वांस सदा ही 'वसत' है, चन्दन की जड़ मांहि ।।
जन हरीदास निरबास यूं, भीतर भेद्या नांहि ।।४।।
निस वासुर गोविंद भजे, कबहू विसरै नांहि ।।
तिन की संगति कीजिये, ले जाइ बसती मांहि ।।५।।
जन हरीदास काची संगति, सारा फूटै मन ।।
जोति प्रकास न कर सकै, ज्यूं पांणी मांहि रतन ।।६।।
जब ही जल सूं काढिये, तब ही करै प्रकास ।।
जन हरीदास साची संगति, सोधि करै सो दास ।।७।।

।। हेत प्रीति को अंग ।।

सूरिजवंसी कंवल का, जन हरीदास मत जोइ ।।
रवि विगस्यां विगसै भलां, 'अस्त' रहै मुष गोइ ।।१।।
जन हरीदास कमोदनी, 'इष्ट' एक विसवास ।।
ससि विगस्यां विगसै भलां, नहींतरि रहै उदास ।।२।।
जन हरीदास सुत हंस का, कलपि न करै अकाज ।।
भूषा रहै कै मोती चुगै, कुल अपने की लाज ।।३।।

।। निंद्या को अंग ।।

षेत निंदाणां नीपजै, सिरटा मोटा होइ ।।
जन हरीदास निंद्या भली, जे करि जांणै कोइ ।।१।।

पाठभेद—वस्त-४ । असत-२ । इसट-२ ।

शब्दार्थ—भेद्या = प्रवेश किया । बसती मांहि = आध्यात्मिक लोक में । सारा=पूरा, साबुत । फूटै=बिखरै, खंडित हो । सोधि करै=तलाश करके । रवि विगस्यां=सूर्य प्रकट होने पर । विगसै=खिलै, प्रफुल्लित हो । अस्त=छिपने पर । ससि=चन्द्रमा । कलपि=कलप कर, विचलित होकर । निंदाणा=निनान करने से, साफ करने से ।

जन हरीदास कहिये कहा, मुगध न मानैं मूरि ॥
अगम अरक आकासि रथ, षिजि षिजि डारै धूरि ॥२॥
कै बाँवै कै दाहिणैं, कै ग्यांनहींण गत लार ॥
जन हरीदास गोविंद भजौ, 'ए' दह दिसि करै पुकार ।३॥

मै को अंग

मै भुरकी उलटी पड़ी, वोषद लगै न काइ ॥
जन हरीदास भी मै भला, जे नष सिष रहे समाइ ॥१॥

कुसवद को अंग

कुटक बचन कोडि कसर, रुचि 'मति' राषो कोइ ॥
जन हरीदास यूं जांणिये, या काढ्यां ही सुष होइ ॥१॥

दुवध्या को अंग

आंव ईष किसमिस बिदांम, थोहरि रस नालेर ॥
जन हरीदास जल 'एक' है, कुछ कणूंके का फेर ॥१॥
प्राण एक कुणका करम, पाप पुनि विसतार ॥
'गोपि' बीज लै अणसरचा, अपणी अपणी धार ॥२॥

पाठभेद—ये-१। मत-२। येक-२-३। गोप्य-१-५।

शब्दार्थ—मुगध=मोहित, आसक्त। अरक=सूर्य। षिजिषिजि=क्रोधित होकर। ग्यांनहींण=अज्ञानी, मूर्ख। गत लार=गये-बीते का संग। मै भुरकी उलटो पडी= भय की भुरकी उलटी पडी, विपरीत पडी बुरे कर्म पाप तथा काल का भय होना चाहिये था, वह नहीं होता। वोषद=दवाई, औषधि। कुटक वचन= कडुवा बोलना। कौडि=कितनी बडी। कसर=कमी, न्यूनता। कणूंके का=गुप्त बीज, प्रारब्धफल। अणसरचा अनुसार, मुताबिक।

कण होतासण होमिये, तब कड़व कसर मिटि जाइ ।।
जन हरीदास निरमल 'वसत', निरमल मांहि समाइ ।।३।।
करम कड़ी काठी जड़ी, बांण न लागै कोइ ।।
मूरिष नर हरि तैं विमुष, सदगति सुण्यां न कोइ ।।४।।

चितकपटी को अंग

जन हरीदास हरिजन मिलै, तब ही आनन्द होइ ।।
चितकपटी कोई मत मिलौ, जा कै अंतरि दोइ ।।१।।
मुष तैं मीठी दे मिले, चित मांही कछु और ।।
हरीदास जन यूं कहै, पहुंचेंगे किस ठौर ।।२।।
ध्यांना दरिया दोय है, साहिब और संसार ।।
तुम किस 'दरियाव' की माछली, हम सूं कहौ विचार ।।३।।
जग दरियाव में देह है, साधां सेती प्रीति ।।
हरि दरियाव कूं चलत है, इहै हमारी रीति ।।४।।

श्लोक

अदृष्टं निरचरं, वीजविवरजित तरवरं ।।
त्रिलोक तस्य छाया, स्वाद जाणंत ते वीतरागी ।।१।।

पाठभेद—वस्त-४-५। दरिया-१।

शब्दार्थ—कण=बीज। होतासण=हुताशन, अग्नि। कडवकरस=कटुरस। कर्म कडी काठी जडी=प्रारब्ध कर्मफल की कड़ी मजबूत लगी हुई है। ध्यांना=हे ध्यानदास (ध्यानदासजी महाराज हरिदासजी के शिष्य थे)। दरिया=समुद्र। साषी ३-४ ध्यानदासजी को उपदेश के रूप में कही गई थीं।

जास मुषि झलझलंत ज्वाला , चिणगी खरिक बांइकं ॥
आपै आप जलंत रे मानवा , तस्य प्राणी जीवनं वृथा ॥२॥

अणचं भस्म ते समो बनचरं , मानि अमानि जोगेश्वरं ॥
उनमनी अवस्था सारग्राही , निरमलं मन अस्थिरं ॥३॥

ऊंचा अवास सुष सेज्या , नाना भोजनं जलं हवा ॥
'मद मस्त' कुंजर दरबारि जोधा , तऊं काल ग्रासंतरं रे मानवा॥४॥

स्तुति की साषी

अगम सुष तहां मिल रहे , जीत मोह मदन रिप कांम ॥
जहां लोक वेद की गम नहीं , अगम ठौड़ विसरांम ॥१॥

सुर नर गति जांणै नहीं , ब्रह्मा विष्न महेश ॥
जन हरिदास तहाँ रम रह्या , पार न पावै शेष ॥२॥

किरतम तज बर अमर बर , सतगुरु कै उपदेश ॥
जन हरीदास तहाँ मिलि रह्या , जहां संता किया परवेस ॥३॥

नग्र नाम बेगमपुरा , बेगम होइ बसांहि ॥
तहाँ कोई पहुँचे संत जन , दूजां की गम नांहि ॥४॥

जहां रैणि द्योस उतपति नहीं , चंद नहीं तहाँ भान ॥
जहाँ पावक पवन पांणी नहीं , तहां जन हरीदास का असथान ॥५॥

---

* महाराज हरिदासजी की वांणी चितकपटी अंग के निरूपण के साथ समाप्त हो गई। आगे जो श्लोक दिये गये हैं तथा स्तुति फलस्तुति की साषियां महाराज हरीदासजी की कही हुई नहीं हैं।

फल स्तुति साषी

जन हरीदासजी कृत कियो, सुनि उधरै जिज्ञास ॥
जो या कूं हिरदै धरै, तिन की पुरवै आस ॥१॥

नर नारी कोऊ पढौ, पढ़ै सु उतरै पार ॥
हरीदास जन यूं कहै, रांम नाम तत सार ॥२॥

कलि मांही यो कलप तर, सवदन मैं सिद्धांत ॥
या कू सुमरै रैंणि दिन, कबहू न होवे अंत ॥३॥

इति श्री स्वामी हरीदासजी को कृत संपूर्णम्

॥ महापुरुष योगसिद्ध महाराज हरीदासजी की वांणी सम्पूर्ण ॥

— हरि ॐ तत्सत् —

॥ उत्तरखण्ड ॥

निरंजनी सम्प्रदाय के अन्य रचनाकारों की रचना के कुछ अंश

॥ गुसांई तुलसीदासजी की संक्षिप्त जीवनी ॥

गुसांई तुलसीदासजी का जन्म किस स्थान और किस सम्वत् में हुआ-इसका उचित आधार प्राप्त नहीं है। वैसे वे महाराज हरीदासजी के समसामयिक थे। अतः उनका जन्म सोलहवीं शताब्दि में तथा स्वर्गारोहण सतरहवीं शताब्दि का माना जा सकता है। भाऊदासजी के मतानुसार ये महाराज हरिदासजी के शिष्य होने चाहियें तथा भक्तमालकार राघोदासजी के मत से ये स्वामी हरिदासजी के समसामयिक तथा द्वादश महन्त निरंजनियों में एक हैं। इनके विषय में राघोदासजी ने लिखा है—

छन्द १—

सीतल नैन चवै विग वैन महामन जीत अतीत करारो।
माया को त्याग नहीं अनुराग भिक्षा कृत भोजन सांझ संवारो॥
ब्रह्म जिग्यासी अभ्यासी है, नाम को जोग जुगति सवै विधि सारो॥
राघो कहै करणी जित सोभित देषो हो दास तुरसी को अषारो॥

उक्त निरूपण से स्पष्ट है कि ये नाम-चिन्तन तथा योग-साधन में प्रवीण थे। इनका अधिकांश आवास शायद शेरपुर में था जैसा कि राघोदासजी ने द्वादश महन्त निरंजनियों के स्थानों के विषय में लिखा है। "शेरपुर तुरसी जु" वाणी नीकी ल्याये हैं" स्थान निर्देश के साथ उत्तम वाणी निर्माण का भी संकेत है। निरंजनी सम्प्रदाय के सन्त रचनाकारों में जो अब तक अवगत हुए हैं बृहद रचना में दो का ही नाम सामने आयेगा, वे हैं महात्मा तुरसीदासजी व महात्मा सेवादासजी। महात्मा तुरसीदासजी की रचना में साषी–ग्रन्थ–पद तथा श्लोक सम्मिलित है। प्रारंभ में साषी भाग है। इनने अंग स्थान पर प्रकरण शब्द का प्रयोग किया है। वाणियों के साषी भाग में प्रायः गुरुदेव का अंग सर्वप्रथम आता है। इननें अंग के स्थान में प्रकर्ण शब्द दिया है–गुरुदेव का प्रकर्ण, साध का प्रकरण, सुमरण का प्रकर्ण आदि। साषी भाग में १७२ प्रकर्ण हैं। साषियों का जोड सवाचार हजार के करीब है। साषी के पश्चात् चार लघु ग्रन्थ है। १ ग्रन्थ चौ अक्षरी, २ ग्रन्थ करणी सार, ३ ग्रन्थ साध सुलक्षण, ४ ग्रन्थ तत्वगुण भेद—इनमें करीब सौ दोहे छन्द जितनी रचना है। पद भाग में राग २९ उनतीस में चार सौ इकसठ पद हैं। श्लोक १८ तथा एक शब्दी है।

इस तरह इनकी रचना का योग सात हजार से अधिक आठ हजार के करीब है। वाणी में निर्गुण निरंजन की उपासना पर ही बल दिया गया है। भाषा में ओज है, भाव स्पष्ट है, भावाभिव्यक्ति में काठिन्य नहीं है। जैसे हरिदासजी महाराज ने प्रमुखतया गोरषनाथजी का अनुसरण किया है वैसे इनने कबीरजी का अनुसरण किया है। अन्य महात्माओं की वाणी की तरह ही इनकी वाणी का महत्व है। इनकी वाणी का विवेचन एक स्वतन्त्र विषय है। उसका यहाँ प्रसंग नहीं है—सामान्यतः इनके जीवन का इतना ही उल्लेख साध्य है विस्तृत जीवन के ज्ञापक साधनों का अभाव है। आगे इनकी वाणी के कुछ अंश दिये जाते हैं, जिससे आप इनकी रचना के महत्व को समझ सकेंगे।

महाराज तुलसीदासजी की रचना

ब्रह्मनाम स्तुति—

ओम परमज्योति परकासि, परब्रह्म परापरं ॥
परानंद परमादिपुरुष, परमात्मा परमेश्वरं ॥१॥
परमतत्वं परमतेजं, परमशान्ते स्वरूपकं ॥
परमपद समांन सर्व सिधि, अजरो अमर अनूपकं ॥२॥
परम निर्गुण निराकार, निरक्षरो निराश्रयं ॥
निर्विकार निराधारः, निर्विग्रहो निरामयं ॥३॥
परम अरचित अषिल अकुल, अमल अगह अगोचरं ॥
परम अज अवि अनंत अवर्ण, अचिंत चित्त चिन्ताचरं ॥४॥
अखण्डो अस्थिरो अमूर्ति, अचल अमित अंतः परं ॥
अद्रष्टो अडिगो अडोलो, अधर अलिपत अविहरं ॥५॥
अतीतो अजितो अनीहो, अनीहो आरजनं ॥
अमंगी अभंगी अरंगी, उदीतो अगंजनं ॥६॥
भूमि वायुन तुया तेजं, आकाम यो निरन्द्रियं ॥
मात्रा न अन्तःकरण, चतुर्विंशति रहित अस्थूलं ॥७॥
बाल वृद्धो न तरुणो वा, आदि अन्त मध्य एकरसं ॥
अनुभूत अछेद अनिच्छित, अलषरूप अभेषसं ॥८॥

शिरोमणि सर्वंग सर्वंगति , सुधासिन्धु सम्पूर्णं ॥
अजोनि आवेन जाइ , जन्म दुःख निर्मूलनं ॥९॥
कालदंडन कर्मखंडन , महिमंडन मनमलहरं ॥
विश्वंभर विश्वपूर्ण प्रभु , वाक् मनस् अगोचरं ॥१०॥
परम पावन पापहरता , परम कारज सारणं ॥
परमसुष कल्यानकारी , जन्म मृत्यु निवारणं ॥११॥
मोक्षपद अर्पण अभेता , अनंत भै भ्रम भंजनं ॥
नमो नमो गुरु शान्त स्वामी, तुरसी पद रज वन्दनं ॥१२॥

॥ इति ब्रह्मनाम स्तुति ॥

॥ गुर अस्तुति महिमा प्रकर्ण ॥

साषी—

गुरु दाता महामोक्ष का , गुरु मसतग का मौर ॥
तुरसी गुरु सम को नहीं , पूजि जगत में और ॥१॥
तुरसी गुरु कारन सब धर्म का , उपदेसन हारा ॥
गुरु ही तैं लंघि जाईए , महाभव जल पारा ॥२॥
चत्र षष्ठ नव अष्टदश , सबही मांही सोइ ॥
गुरु की महिमा अनंत है , वरनि सकै का कोइ ॥३॥
गुरु समद हुतें अधिक , गरवा गहरा सोइ ॥
तुरसी ता पटंतरवे कूं , वस्त न त्रिभुवन कोई ॥४॥
तुरसी सत्य द्वीप नव षंड भू , तीन लोक कै मांहि ॥
गुरु समान गुरु ही वहै , दूजा कोऊ नांहि ॥५॥
अकिंचन आतमाराम , गुण इन्द्रीजित सार ॥
तुरसी ऐसा सतगुरु , निरंजन निरविकार ॥६॥

चौपाई—

राग न रोस न कछू सरीर , आनन्दी ऊँडा मति धीर ।।
तुलसी कोमल सदा कृपाल , अधम अनाथनि करन निहाल ।।७।।

साषी—

तुरसी अधमनि उधरते , पतितन करत जु पार ।।
ताहि कठिनता को नहीं , गुरु समरथ अधिकार ।।८।।

।। अस्तुति गुरुमहिमा प्रकर्ण समाप्त ।।

।। अथ अति उत्तम सुमिरन विधान प्रकर्ण ।।

साषी—

तुरसी अति उत्तम भजन , का पै वरण्यों जाइ ।।
लष्यौहूज कापै परै , भाग होइ तो पाइ ।।१।।
तुरसी पूरब पुन तैं पाइये , कै पूरा गुरु होइ ।।
कै सतसंगति ध्यांन तें , और उपाय न कोइ ।।२।।
तुरसी रविवत रामको , अति ही नाँव निहकाम ।।
रोम रोम होयों करें , सहजै सुमिरन रांम ।।३।।
तुरसी रोम रोम ररंकार धुनि , सहजैं चली जु जाइ ।।
ज्यूं कारज बिना कुंभार कौं , सहजै चाक फिराइ ।।४।।
तुरसी चाक फिरयौ करै , विन ही कारज सोइ ।।
यूं उर बाहर सन्त कै , परम जाप नित होइ ।।५।।
विन हीं जपिया जाप होइ , अषंड उरमें ऐन ।।
तुरसी करमाला विनां , विन रसना विन वैन ।।६।।
रसना हिलै न कर चलै , डूलै न मनसा सोइ ।।
तुरसी मन ही होइ रह्या , सहज रांम रत होइ ।।७।।
कर माला फेरन की , षटपट मिट गई आंन ।।
तुरसो यह मन रह गया , अहल आतमा ध्यांन ।।८।।

तुरसी आतमध्यांन सूं, निमष न न्यारा होइ ॥
ज्यूं मूषक पारा पीया, व्है रह्या ऐसै सोइ ॥९॥

तुरसी महावज्र पापीन कों, हो तो परदा वांम ॥
सो धूंवर ज्यूं फट गयो, चित रह गयो एक ही रांम ॥१०॥

तुरसी राम नाम ही रह गयो, या चित मांही सोइ ॥
ज्यूं हस्त पग जु दार कै, उतरन कबहु न होइ ॥११॥

कबहु न उतरई दार तैं, हस्ती को भोंई ॥
तुरसी यों चित रह गया, सुमिरन में सोई ॥१२॥

टारया हूंधो ना टरै, रहे कामादिक टारि ॥
तुलसी चित्र की वेल को, का करै वाजिब यारि ॥१३॥

ज्यूं गिरवर की छाया मैं, नेको कंपजु नांहि ॥
तुरसी यूं मन होइ रह्या, रांम नाम कै मांहि ॥१४॥

तुरसी ब्रह्मभावना यहै, नांम कहावै सोइ ॥
रसना करमाला विना, अषंड उर मैं होइ ॥१५॥

यह सुमिरन संतनि कह्या, सारभूत संजोइ ॥
भवसागर की जहाज इह, चढैसु लंघै सोइ ॥१६॥

॥ इति ॥

॥ अथ लै को प्रकर्ण ॥

चौपाई—

तुरसी लै मारग षगधारा, तहाँ कोऊन कर सकै संचारा॥
चन्दचकोर ज्यों चित ठहराइ, तब कहूं तहाँ अनसरयौ जाइ॥१॥

सांषी—

तुरसी लै मारग षगधारवत, अति ही अगम जु सोइ ॥
पपील पुनि पंछी तहाँ, पहुँच सकै नहिं कोइ ॥२॥

तप तीरथ के धरम सूं, जप तप सूं जानि ॥
तुरसी ध्यानहू सूं अधिक, ल्यौ मारग परवांनि ॥३॥
जहाँ कोऊ जाय न सकै, पहुंचि न सकै संदेश ॥
तहाँ ब्रह्म ल्यौ लाइकै, संतनि कियो प्रवेश ॥४॥
तुरसी सन्त तहाँ गये, रांम नाम ल्यौ लाइ ॥
जहाँ रवि उदौ न कर सकै, ससिहु न सकै उगाइ ॥५॥
तुरसी संत तहां गये, जहाँ क्रोध न व्यापै कांम ॥
रांम नाम ल्यौ लाइ कै, कियो ब्रह्म विश्रांम ॥६॥
तुरसो संत तहाँ गये, जहाँ नहि पंच को पसार ॥
तीनों गुण करि ना सकै, छिन भर तहाँ संचार ॥७॥

चौपई—

तुलसी लय मारग है ऐसा, पंछी षोज मीन मग जैसा ॥
अति ही अलहि लह्यौ नहीं जाइ, के ते करि करि थके उपाइ ॥८॥

साखी—

रात द्यौस चिन्त्यौ करै, तन मांहि थिर होइ ॥
तुरसी आतमरांम कूं, लै मध पावै सोइ ॥९॥
तुरसी लै समान कोऊ नहीं, उत्तम मारग आंन ॥
साधुजननि दिषाइयो, करि अतीत परवांन ॥१०॥

चौपई—

तुरसी लै अनंत ब्रह्मंडै छेदै, लागी होइ तो वजूहू भेदै ॥
उलंघि जाइ जगतगुरु जहाँ, आदि अंति लपटी रहै तहाँ ॥११॥

साषी—

तुरसी जहां जु ल्यो तहाँ एनहीं, संकलप विकलप दोइ ॥
निवांव नीर लै व्है रह्या, यह मन चिन्ता षोइ ॥१२॥
चिन्ता गई मन थिर भयो, तुरसी लै मधि पाइ ॥
सकल मनोरथ उठि गये, नांव रह्या ठहराइ ॥१३॥

का सुभ असुभ गिन्यो करै, मुनि सुनि संसै ग्यांन ॥
एक ही सुं लो लाइ रहु, ज्यौं चकोर ससि ध्यांन ॥१४॥
भावै दुःष हो देह कूँ, भावै सुष होइ आइ ॥
उभै सीस परि धारि कै, एक ही सूं ल्यौ लाइ ॥१५॥
ल्यौ लागी तब जांनिये, रह आइ वचन अबोल ॥
तुरसीं मन को रथ थकै, इन्द्री होंहि अडोल ॥१६॥
जैसे चित्र की पूतरी, रह जाइ एक ही ठौर ॥
तुरसी एसे ब्रह्म सूँ, होइ रहु चन्द चकोर ॥१७॥
तुरसी कहँ लौं आषिये, या लै को उनमांन ॥
लगी होइ तो ना टरै, भल निकस जाहु जन प्रांन ॥१८॥
तुरसी प्रांन पयान तै, दुष अनन्त होइ सोइ ॥
तोऊ लै भंग होवे नहीं, जो लगी ब्रह्म सूँ होइ ॥१९॥

॥ इति ॥

॥ अथ चारण को प्रकर्ण ॥

साषी—

जिन बोलन की संक्या नहीं, काढै वचन कठोर ॥
तुरसी वे परतछि पसु, संत जनां के चोर ॥१॥
संत वचन मानै नहीं, अपनीं कहै बनाइ ॥
तुरसी एसे पतित सूँ, बकि बकि मरै बलाइ ॥२॥
जे निरदावे हरि भजै, जग सूँ तिनका तोर ॥
तिनहूँ सूँ मांडे षुदी, अधम हरांमी षोर ॥३॥
आप उभै चष अंधरे, औरनि सूँ कहे कांन ॥
तुरसी एसे पसून सूँ, कछू न चालै पांन ॥४॥
प्रभात वचन जु ऊचरै, साँझ न लौ न निरवाहि ॥
मिथ्यावादी मनमुषी, एसे बहु जग मांहि ॥५॥

जिनकै बोलै बंद नहीं, वृथा तिनहू का भेष ॥
इन्द्री विकल जु होय रहे, तुरसी विसर विवेक ॥६॥
काछ वाछ निकलंक विना, वैरागी भल और ॥
षट् दर्शन में होहु किन, तिहिं तीन लोक नहिं ठौर ॥७॥
काछ वाछ निकलंक विना, वैरागी व्है कोय ॥
तुरसी कोटि धर्म गहो, वारू भींत जु सोय ॥८॥
जिन कै बोले बंद नहीं, साच न हिरदै मंझरि ॥
ते आयर यूं ही गये, जनम जूवा लै हारि ॥९॥
जिनकै बोले बंद नहीं, ते वादि कहावै सन्त ॥
सन्त नाम सो पाय है, जो काछ वाछ निकलंक ॥१०॥
जावत छूटै न जग तरंग, भगत हुवै का होय ॥
तुरसी भक्त अनन्य सो, जग रंग बैठा षोय ॥११॥
गिनेमने उचरे वचन, सो साधू सति सार ॥
तुरसी षाली कुंभ लों, बकवो करै गंवार ॥१२॥
वकिवो करै जु रैनदिन, चुप गहि जपहि न नांम ॥
उन जड़ जीवन कै हिरदै, कहौ कहाँ है रांम ॥१३॥
मन राषत संसार कौ, तन व्है गयो वदीति ॥
धृग धृग सो स्वांमीपनौ, तामैं यह विपरीति ॥१४॥
नहिं समता लवलेस तहाँ, नहिं पल पर उपगार ॥
पाप पतिग्रह झेल कै, षरज्यूँ बहै जु भार ॥१५॥
परधन परत्रिय परकथा, यह उर भजन विचार ॥
धृग धृग सो स्वांमीपनो, तुरसी मांथै मार ॥१६॥
स्वांमीपनो तहाँ सुष नहीं, दुख दलिद्रता अनंत ॥
तुरसी उर वाहरि सदा, धन ही धन झंषंत ॥१७॥
उत कुल की क्रिया छुटी, इत न भजै भगवांन ॥
तुरसी ते अध विच रहे, ज्यूँ बघूर को पांन ॥१८॥

तुरसी माया भई न ब्रह्म भयो , विचही वितेइ आव ॥
ते नर यूँ ही पच गये , ज्यूँ दरिया विच नांव ॥१९॥
घर के भये न गगन के , रहे वीच ही भूल ॥
तुरसी दरसन पहरि कै , जे गये रांम गुन भूल ॥२०॥
तुरसी इत पुनि गुरु रिझये नहीं , उत रिझये नहीं रांम ॥
कुटम्ब त्यागि कुटली नरनि , अंध कमाये कांम ॥२१॥
वहाँ वन में ही परे , छूटि गयो उर आराम ॥
उन ही और आलंब नहीं , है आलंबन काम ॥२२॥
दिवस उदम करितत्रो करे , वकते ही जु विहाय ॥
रैन रहे सठ सोय के , मन जहाँ तहाँ भरमाय ॥२३॥
अहनिस षोवे अंध यूँ , इन्द्रीहिन के चाय ॥
तुरसी तत वैराग नहिं , है कछु वड़ी वलाय ॥२४॥
तहाँ वूड वैराग की , जहाँ बढ्यौ वहु मान ॥
तुरसी सुहावे नहीं , संतनि को सुग्यांन ॥२५॥
विरागी होय विषै तन , फिरि जु पयाना देय ॥
सो षलु कंचन त्याग कै , कौडि कर मधि लेय ॥२६॥

चौपई—

भाव पढि गुनि वेद पुरांन , अछिर अछिर को समझो ग्यांन॥
जावत विषै न भोग विसारै , तावत परै नरक के द्वारै ॥२७॥
मति निन्दा कर मांनो कोय , हम कहें सतोतर साषी सोय ॥
मल पंडित मुरष होहू कोय , बिषया त्यागै मुक्ति जु होय ॥२८॥

साषी—

कासी वसौ क मगहि भल , जावत मुक्ति न जाय ॥
तुरसी तावत भर रही , कांम क्रोध सूँ काय ॥२९॥
काम क्रोध काया महीं , महा मलेछ वसांहि ॥
ताहि निवार सकै नहीं , ऊपरि मल मल न्हाहि ॥३०॥
॥ इति ॥

साषी—

॥ अथ सील को प्रकर्ण ॥

जितेक वरने धर्म, वेदन मांही सोय ॥
तुरसी ता सत्रहीन में, सील समांन न कोय ॥१॥

सकल शास्त्र स्मृति कहै, पुनि कहै सन्त सुजान ॥
तुरसी सील सुधर्म समि, नहीं धर्म कोऊ आन ॥२॥

चौपाई—

सील धर्म सवही को टीको, सील विना सव लागै फीको ॥
तुरसी जो मुष सुन्दर होय, नासा विना न सोभत सोय ॥३॥

साषी—

नासा विना न सोभई, सुन्दर नर को मुष ॥
तुरसी एसे सील विन, सवही धर्म निरुष ॥४॥

एकादसी जु आदि दे, जावतेषु व्रत सार ॥
तुरसी ता सवहीन में, सील सुव्रत अधिकार ॥५॥

सील विना एकादसी, सील विना तप दांन ॥
तुरसी एसे जानहू, ज्यूं कुंडल विन कांन ॥६॥

एक अनेकन वांन ह्व, भजी मजी फिरै सोय ॥
तुरसी ता भौ भीत कूं भजि, अभै भया कहि कोय ॥७॥

तुरसी सत व्रत सील व्रत, दया व्रत प्रतिपालि ॥
सव व्रतन में सार ये, संतनि लिये नृवालि ॥८॥

चौपाई—

ता मै सील धर्म अधिकाई, दया सत्यता तास सहाई ॥
तुरसी जा उर उदए एह, सुफल रूप है तिनकी देह ॥९॥

साषी—

तुरसी सील सुधर्म की, महिमां वर्ण न जाई ॥
ताहि जप तप जग्यादि व्रत, रहे सकल सिर नाई ॥१०॥

जहाँ सील संतोष तहाँ, जहां संतोष तहाँ सुष ॥
तुरसी जहाँ सुष सुपन हू, देषिये न दुष मुष ॥११॥
दुष मुष नाहिंन देषिये, बढि रह्यौ धीरज ध्यांन ॥
तुरसी सील संतोष जहाँ, तहाँ तहाँ ए सहनान ॥१२॥

चौपाई—

तुरसी सील संतोष जु सोऊ, त्रिविध तिमिरहर दीपग दोऊ॥
जा उर उद्यत भए है आय, धनि धनि ता नर की काय ॥१३॥
अलप अन्न अलप ही जु पानी, अलष ही निद्रा अलप ही वांनी ॥
तुरसी एसी जुगति गहावे, सोई सुष मलै सील को पावे॥१४॥
तुरसी नैना नींवा राषै नित्त, त्रिया देष नहिं चलावै चित्त ॥
आदि अंत एसे जु रहावे, सोई सुष मलै सील को पावे ॥१५॥
तुरसी जितेक त्रिय देषियत जग मांहीं, लघु दीरघ मध जहाँ तहाँ ही ॥
माता वहन पुत्री जु जनावै, सो सुष मलै सील को पावे ॥१६॥

साषी—

पतिव्रत ताहू सूं अधिक, सदा सीलवंत नारि ॥
तुरसी वा भुगतै अलप सुष, वा सुष अछै मुरारि ॥१७॥
सिंघ हरौ गिर तैं परौ, भावै वहो सिर लोह, ॥
ए जु त्रास मलो होइयो, पै सील भंग मत होहु ॥१८॥
अगनि दहौ नदियां वहौ, मल कुंजर मारौ ध्याइ ॥
एजो त्रास सहूँ प्रीति सो, पै सील गयो न सुहाइ ॥१९॥
सुष संमै धन जाहु सब, माया विसवा वीस ॥
तुरसी तन मन तब लगै, सील रहो सद सीस ॥२०॥
सील गये सब जात है, ग्यांन ध्यांन वैराग ॥
सील रहे सब रहत है, तुरसीं मसतक माग ॥२१॥

॥ इति ॥

॥ अथ सवद को प्रकर्ण ॥

साषी—

महा कुसवद के वांण सूँ, कसकै नहीं लगार ॥
तुरसीदास वा दास की, मैं वलि वारंवार ॥१॥
कुसवद सुनि कानन में, कसकै नाहिन सोय ॥
तुरसी ऐसा सन्त जन, कलि मैं विरला कोय ॥२॥
तुरसी कुसवद का करै, जो वसहू हो दास ॥
परै समद विच बीजुरी, कहा जरावै तास ॥३॥
साधु जन संसार मैं, ज्यूं जल मांही चन्द ॥
काल जाल में नावई, कहा करै कोऊ मन्द ॥४॥
कोटिक षल कहि कहि कुवक, सांधि सांधि मारौ वांन ॥
जदपि अगनि उसन है, पानी सू'का पान ॥५॥
मनसा वाचा कर्मणा, संतन की गति एह ॥
तुरसी सवद कुसवद सुनि, उभकि न दिखवे छेह ॥६॥
काम दहै अन तन वहै, कुसवद सहै शरीर ॥
तुरसी गुरु मति गहि रहै, सो पावे सुष सीर ॥७॥
तुरसी सुष की सीर ए, जहाँ क्रोध नहिं लेस ॥
स्वप्न तरहू न व्यापई, धन छमाविह देस ॥८॥
तुरसी छिति की सहनता, पुनि परमारथ सोइ ॥
उभै अंग जिन दिढ गहै, तौ गंजि न सकै कोइ ॥९॥
कहा करै कोऊ आय कै, कांमी क्रोधी जीव ॥
झलकाये झलकै नहीं, सन्त सदा रत सींव ॥१०॥
अपने सन्त स्वभाव कूँ, तऊ न छाडै सन्त ॥
जे कोऊ करवतहू जु गहि, मस्तग कूं विहरंत ॥११॥

चौपाई—

तुरसी धरती हुवा रहै, बूंद सवन की आपन सहै ॥
आपन तऊ न दुषवै सोइ, जो करवत तन विहरै कोइ ॥१२॥

साषी—

अगनि हू तै अति उष्ण, अज्ञांनी कौ वैन ॥
तुरसी ताहि सहार लै, सोई साधू ऐन ॥१३॥
मैंण रूप जाको हिदो, पांनी रूपी प्रांण ॥
तुरसी कुसव सो सहै, दूजे अगनि समांन ॥१४॥
तुरसी कुसब्द की अगनि, सुसब्द नीर सिराय ॥
महा सुसीतल होय रहे, सन्त नाम सो पाय ॥१५॥

॥ इति ॥

॥ अथ ग्रन्थ चौअच्छरी ॥

चौपई—

गुरु परसाद अकल परवांणी, वैसनु तँणी जु चाल वषांणी ॥
जो यह अच्छर करै विचारा, जो चिन्है सो उतरै पारा ॥१॥
प्रथमे विसरै माया मोह, विसरै प्रीति वैरता दोह ॥
विसरै ममता मान बडाई, विसरै हरि बिन बुरी भलाइ ॥२॥
विसरै आपा अरु अभिमांन, विसरै षुदी गरव गुमान ॥
विसरै परपंच बादविवा, विसरै षट्रस इन्द्री स्वादं ॥३॥
विसरै कांम क्रोध का संग, विसरै कुबुधि विषै का रंग ॥
विसरै अति गति निद्रा भूष, विसरै पाप पुण्य सुख दुःख ॥४॥
विसरै पाषंड कपट स्वभाव, विसरै रूप रंग रस चाव ॥
विसरै हसन बकन की वांणी, विसरै कलह कल्पना कांणी ॥५॥

दोहा—

विचरै सतसंगति मही, कीरति करै अघाय ॥
सोई परम निज वेसनूँ, जो पति को विसर न जाय ॥६॥

चौपई—

साहे रांम नाम तत सार, साहे समता ग्यांन विचार ॥
साहे बुद्धि विवेक परकास, साहे भाव भगति विसवास ॥७॥

साहे जत सत सील संतोष , साहे दया धर्म तजि दोष ॥
साहे निज करनी आधार , साहे नाँव निरंजन सार ॥८॥
साहे दीन गरीबी ग्यांन , साहे दिढ कर धीरज ध्यांन ॥
साहे निरति सुरति मन पवन , साहे निज निर्मल निज चरन ॥९॥
साहे परमारथ निज स्वारथ , साहे अरथ पेलि सब अनरथ ॥
साहे साँच झूठ छिटकाय , साहे प्रेम प्रीति निज ध्याय ॥१०॥

दोहा—
साहे निज तत निर्मला , साहे ए मत सार ॥
सोई परम निज वेसनूँ , कण ले कूकस डार ॥११॥

चौपई—
न करै तीरथ वरत की आसा , न करै जप तप आन उपासा ॥
न करै पाथर पूजा सेवा , न करै नाना विधि नषेवा ॥१२॥
न करै विभिचारी का संग , न करै कामनि कनक कुसंग ॥
न करै द्रव्यविणज व्यापार , न करै सिष साषा परिवार ॥१३॥
न करै आसन घर घर वारं , न करै पढ गुन वहु विस्तारं ॥
न करै परवरती सूं नेह , सो भगता में पाप न षेह ॥१४॥
न करै परनिंद्या उपहासी , न करै प्रीति बिना अविनासी ॥
न करै किस सू वैर न भाव , न करै हरि विन आंन उपाव॥१५॥

दोहा—
प्रीति करै निज देव सूँ , मन का भरम नसाय ॥
सोई परम निज वेसनूँ , जन तुरसी वलि जाय ॥१६॥

चौपई—
आरति सूँ हरि नाँव उचारे , आरति सूं निज रूप निहारे ॥
आरति सूँ अनभै रस पीवे , आरति सूं मरि वहुरि न जीवे॥१७॥
आरति सूँ निर्मल जस गावे , आरति सूं निज तत दरसावे ॥
आरति सूँ चीन्ह पद सोइ , जा चिन्हे फिरि जन्म न होइ ॥१८॥

आरति सूँ पति सूँ मन लावे , आदि मध्य अंत रामहि गावे ॥
आरति सूँ पेषै पति सुन्दर , जाकै दरस मिटै दुष दुंदर ॥१९॥

दोहा—

आरति सूँ सेवा करै , तन मन आतम लाइ ॥
सोइ परम निज वेसनूँ , निर्मल मांहि समाय ॥२०॥
एसी करनी जो करै , सो निज हरि की देह ॥
तुरसी जां मन मरन का , भांजै सकल सनेह ॥२१॥

॥ इति ॥

॥ अथ करणीसार जोगग्रन्थ ॥

दुरलभ जोग संग्राम कठिन षांडे की धारं ॥
थाके संकर सेस और जीव कहा विचारं ॥१॥
सुर नर मुनि जन पीर रहे भव जल उरवारं ॥
गुर गम ग्यांन विचार गहै विरला जन पारं ॥२॥
समदिष्टि समभाय रहै निरवैर निरासं ॥
सो जन उतरै पार काल नहि करै विनासं ॥३॥
जाकै शत्रुन मित्र नहीं संगि दूजा कोइ ॥
सदा रहै निरवंध साध जन कहिए सोइ ॥४॥
नहीं किसी सूँ नेह देह का सुष नहिं चाहे ॥
सीत उसन सिर सहै आदि अंत एसी निरबाहे ॥५॥
घर वन दोऊं रीति रचै नहि इन सूँ माई ॥
कनक कांमनी त्यागि रहे उनमन ल्यौ लाई ॥६॥
एसी रहनी रहे तास कूँ लेहू पहचांनी ॥
कहै साच रहे काच सोई परहरिए प्रांनी ॥७॥

सबद सरोतर कहै मिथ्या नहिं कबहू बोले ॥
षोजे पद निरबांन काहे को वन वन डोले ॥८॥
आसा त्रिसना छाडि तजै सब जग ब्यौहारं ॥
रहे निरंतर लागि सोई जोगी तत सारं ॥९॥
काया को बस करै मोह तजि मनसा मारै ॥
एसा अवधू जान काल मैं दूरि निवारै ॥१०॥
निरधन रहे उदास नहीं संगि दूजा भावै ॥
ए कलमल अबीह सोई अवधूत कहावै ॥११॥
नहीं आगली चाह पीछै संसा नहिं कोई ॥
रमै सीगी परवानि देवगति कहिये सोई ॥१२॥
निंदहु वंदहु कोई नहीं किस ही सू बैर न भावं ॥
सब देषे समभाय जिसा रंक तैसा रावं ॥१३॥
आसन अस्थिर करै हाँडै नहिं घर घर द्वारं ॥
अजगर की गति गहैं पावै अलप अहारं ॥१४॥
चंचल मेल्है मारि उलटि अमृत रस पीवै ॥
एसा अवधू जांनि मरै नहिं जुग जुग जीवै ॥१५॥
लालच लोभ निवारि आतमा अस्थल आवै ॥
तहाँ बाजै अनहद तूर नूर का दरसन पावै ॥१६॥
कूवा वाय निवाण करै नहिं वाडी बागं ॥
आसन मढी मसान तजै सब वाद विवादं ॥१७॥
तंत मंत औषधि जडी बूंटी नहि जांणै ॥
अविगति विन आराध झूठ सबही कर मांनै ॥१८॥
परिहरि वाद विवाद तजै सबहिन का साथं ॥
चकमक ज्वाला झारि करै नहिं जीव का घातं ॥१९॥
स्वाद सकल संग तजै षाटा मीठा अरु षारा ॥
इन्द्री भोग न देय सोई जोगी मन सारा ॥२०॥

इडा पिंगला फेरि पछिम को उलटा ध्यावैं ॥
भँवर गुफा कै घाट पीवै अमृत सच पावै ॥२१॥
अमृत पीवे अघाइ तपति सब तनकी जाइ ॥
थकित होइ ता मांहि जास कै बापन माइ ॥२२॥
परिहरि पांच पचीस दोय तजि एक पिछानें ॥
सतगुरु कै परसाद इसी गति विरला जानें ॥२३॥
तजै दुःख अरु सुष गगन में आसन लावै ॥
तहां देषै निज नूर मगन व्है मांहि समावै ॥२४॥
यह निज ग्यांन विचारि कै उनमन रहै समाय ॥
तुरसीदास अंतर नहिं भगति होय हरि आय ॥२५॥

॥ इति ॥

॥ साध सुलछन जोगग्रन्थ ॥

साधु जन संसार में रमै सुभाइ सुभाइ ॥
काहू कै रंगि ना मिलै अपनै रंगि रहाइ ॥१॥
मुष वांनी सुसबद चवै कुसबद कहै न काहि ॥
सील सबूरी साह करि चलै एक हीं माहिं ॥२॥
निरपष निरदावै रहे वरतै सदा विचार ॥
काम क्रोध अहंकार का संग न करै लगार ॥३॥
दया मया हिरदै रहै सदा सुमति सुमेल ॥
हरदम हरि का नाँव ले मन अरु मनसा भेल ॥४॥
परनिंदा भावै नहीं परपंच पलन सुहाइ ॥
पर आतम सूँ प्रीति कर परचै बिलंबै ध्याय ॥५॥
विष इम्रत भंजन यही भिन्न भिन्न करि लेय ॥
विष त्यागै अमृत गहै एसा काज करेय ॥६॥

अलप अहारी अलपतुय अलपहि निद्रा नेह ॥
अलप रमनि रमै जुगति सूँ अलप ही सवद करेह ॥७॥
आदू मारग आदि मत आदू गहै विचार ॥
आदि अन्तर रटिवो करै निराकार निज सार ॥८॥
करम तजै कर्ता भजै करै न जग की कांनि ॥
काया नगरी षोज कै करता लेहु पिछांनि ॥६॥
षिरै षपै सो ना भजे अविनासी सूँ नेह ॥
देह तणा सुष त्यागि कै होय रहे सम षेह ॥१०॥
होय रहै सम षेह लौं तन मन आपा जारि ॥
आरति सूँ आतम महीं राम रमै इक तारि ॥११॥
मुख जु आंन उचरै नहीं परपंच सुनैन कान ॥
उभै लोपना उलटि कै धुनि में राषै ध्यांन ॥१२॥
को निंदै वंदौ कोउ करौ न आदर भाव ॥
कहुवाँ चित्त न लागई हरि भजवे को चाव ॥१३॥
सुष दिस कबहून पग धरै दुख देषन मुरझाय ॥
दुष सुष द्वै समान करि समता सम निरताइ ॥१४॥
सम जु लोष्ट सम कंचन सम जु मांन अपमांन ॥
सीत उष्ण सम करि गिनै सम चौरासी जांन ॥१५॥
सम जु धूप सम छाँहरी सम पानी सम पाल ॥
सम सेत फटक मणि मोतिया सम कंकर सम लाल ॥१६॥
सम मन पवना तन मही निरति सुरति सामान ॥
नादविंद सम कर भजै पूरन परम निधान ॥१७॥
परापरी सूँ रच रह्या साह सु लछन एह ॥
तुरसी एसा सन्त जन प्रतछ प्रभु की देह ॥१८॥

॥ इति ॥

राग सोरठि—

धनि धनि गुरुदेव हमारा हो ?

जिनहु कृपा करि काढ लिये हैं, वूडत वहि संसारा हो ।।टेक।।
अनेक जन्म की अरज निवारी, सबद् दिया तत सारा हो ।।
नाँव जहाज चढाय जुगति सूँ, षेयत तारे पारा हो ।।१।।
गुप्त वस्तु प्रगट दिषलाइ, प्रगट किया प्रहारा हो ।।
अब तन मन फिर भयेज पावन, परसि परसि पिव प्यारा हो ।।२।।
अविचल वर को वांह गहाई, दैके वहुविधि भारा हो ।।
जन तुरसी पूरण सुष पायो, सतगुरु कै उपगारा हो ।।३।।

२ रामराय भेष अनेक बनाया, तुम सा साहिब कबहू न गाया ।।टेक।।
माया कै मदि यहु मन मातौ, दुवध्या बहुत उठाई ।।
निराकार निरलेप निरंजन, भजे नहीं रघुराई ।।१।।
इह मनवा अपराधी कांमी, चेतै नहीं गवाँरा ।।
राम सुरति कवहु नहिं आवै, औरें करे पसारा ।।२।।
तुम विन कौन उबारे जन कूँ, तुम मेरे प्रांण अधारा ।।
तुरसीदास कहै जन तेरा, मेटौ सकल विकारा ।।३।।

३ हरि विन भूले बहुत अग्यांनी, अविगत की गति विरला जांनी ।टेक।
जोगी जंगम अरु संन्यासी, पषा पषी सूं राता ।।
निरपष होइ राम नहिं जान्या, काम क्रोध मद माता ।।१।।
सुषसागर अविनासी राजा, नहिं तस वार न पारं ।।
तासू रचिन सक्या नर भूंदू, विषय रींझि भये छारं ।।२।।
तजे विकार मोह मद मछर, हरिपद दिढ कर साहे ।।
रहे समाय मगन होय मांही, आंन दिसा नहिं चाहे ।।३।।
सुगद गहै लहै सुष सोइ, पद महि जाय समावे ।।
जन तुरसी वोह साध सिरोमणि, बहुरिन भौजल आवै ।।४।।

४ सूरा सोई साध कहावे, नित सांई के मन भावै रे ।।टेक।।
ग्यान षडग ले मन कूँ मारै, पांचो पिसन निवारे रै ।।
सीस विहूना जुरै काल सूँ, चौडे षेत बुहारे रै ।।१।।
पाछा पाँवन देय पलक भर, सनमुष होय संभारे रै ।।
गुरु परसाद् मेवासा तोरे, एसा कारज सारे रै ।।२।।
तन मन सीस स्वामी को सौंपे, हरि भज जन्म सुधारे रै ।।
जन तुरसी सोई गुरु मेरा, आप तिरे मोहि तारे रै ।।३।।

५ मन रे आतमरत होय रहिए ?
आदि अन्त मध मनसा वाचा, यहै जोग दिढि गहिए ।।टेक।।
नाना कथा निगम मत नाना, तहाँ वहक नहिं वहिए ।।
निहचौ परचौ पकरि नाव कौ, दुरमति दोष यूं दहिए ।।१।।
कोटिक ग्यांन ध्यान मत कोटिक, कोटिक मारग कहिए ।।
षोजत बूझत सुनत सुनावत, परमति पार न लहिए ।।२।।
केऊ आसतिक केऊ नासतिक, केऊ जनम केऊ नहिए ।।
एसे या झकझोल मांहि पर, काहे कूँ रोग वढइए ।।३।।
राग दोष विसराम विकल बुधि, भ्रम लै धार वहहीए ।।
जन तुरसी उर मै आरंभ करि, परमातम पद गहिए ।।४।।

राग आसावरी

६ सौई संत सतगुर का चेला, पूरब तजि पछम करे मेला ।।टेक।।
नौ सै नदी कूप में आनै, वाहर सोलह सम कर जानै ।।
दछिन तज उत्तर करै वासा, तव पछिम सूर करै परकासा ।।१।।
गंगा उलटि मेर कूँ ल्यावै, धरति उलटि आकास समावै ।।
अब तुरसी या पदहि विचारै, आप तिरैसो और हि तारै ।।२।।

७ माई रे सो सतगुर की जानै ,
मन वच कर्म अपने उर अंतरि , अलपहि अहं न आनै ।।टेक।।
मान वडाई धरै उठाई , दीन होय दिल मांही ।।
हरष हरष हरि का गुन गावै , पलहु विसरै नांही ।।१।।
जासुष में यहु जग लपटांना , ताहि देष नहिं भूलै ।।
नऊँ नाला फेर पछ्रम कूँ , त्रिवेणी संगि भूलै ।।२।।
तन मन आला जीत जुगति सूँ , गहै सिध सरनाई ।।
जन तुरसी पूरण सुष पावे , जन्म मरन मिटि जाई ।।३।।

८ सतगुर एसा भेद वतावे , जाका भाग वडा सोई पावे ।।टेक।।
वारह मास पलटि षट माई , अनरुत के घर रहो समाई ।।
पछिम कँवल में करि लेहु वासा , तहाँ प्रगटै जोति होय प्रकाशा ।।१।।
तहाँ अनाहद वाजहिं वाजा , हरि कै नाम मगन मन राजा ।।
जन तुरसी ऐसी गति पाई , सतगुर आप दइ समभाई ।।२।।

९ एसा कहिये नाँव तुम्हारा , सुमरत कटै जु कोटि विकारा ।।टेक।।
राई मान वसंदर एता , जारै काठ भसम करै केता ।।
जैसे प्रगट सूर तम जाई , नांव लेत अघजाइ विलाइ ।।१।।
तुरसीदास विलंबन कीजै , केवल रांम नाम जप लीजै ।।२।।

१० हरि विमुषन का संग न कीजै , तन मन सौंप राम जप लीजै ।।टेक।।
साच झूठ कूँ सम कर ध्यावै , आपन भूला और भुलावै ।।
इन्द्रिन स्वारथ पैले साच , माने नहीं साध की वाच ।।१।।
दया दीनता ग्यांनन ध्यांन , निरभै होय भुगतै विषयान ।।
तुरसी इनका संग निवारि , साचा साहिब लेहु विचारि ।।२।।

११ विषया नदी लंघै सोई ग्यांनी , नेकन परसै ताको पानी ।।टेक।।
रूपधार में नैन न देई , श्रवणहु अपने वस करि लेई ।।
नासा रसना तुक रस त्यागै , कवहुन फेर धरे तहाँ पागै ।।१।।

ये पंचो रस विरसजु जानैं, अतीत ही मिथ्या करि मानैं ।।
मिथ्या जान मिटा है रागा, कछून राषै तांतू तागा ।।२।।
एसौ यहु वैराग उर धरई, ता जिहाज आरोहन करई ।।
करि आरोहन उतरै पारा, गुरु षेवट समरथ दातारा ।।३।।
विन वैराग विवेक विनाही, किनहू पारंगत लही जु नांही ।।
जिन पायो यहु परम विचारा, भले गये तुरसी वेहि पारा ।।४।।

राग रामकली

१२ संतो है कोऊ एसा ग्यांनी,
तन मन जीत भरम सब पेलै, नांव जपै निरवांनी ।।टेक।।
काल काम का मुंहडा मोडे, क्रौध तनां सिर मानैं ।।
लोभ मोह दोऊ दलपरहरि, सब घट रांम ही जानै ।।१।।
आसा त्रिसना तजै कल्पना, वुरी भली सब त्यागै ।।
रहै अडोल चलै निसवासर, सोवे नही सदा नित जागे ।।२।।
सत रज तम तीनूं गुण परिहरि, चौथा चित वित लावै ।।
कहै तुरसी पूरण पद पेषै, सुष महिं जाइ समावै ।।३।।

१३ सो जोगी जो या मनकूँ मारै, मनकूँ मार मनोरथ जारै ।।टेक।।
ग्यांन षडग संवाहि अवधू, पांचो पिसन निवारे रै ।।
निरभै होय निसंक निसदिन, निरमल नांव उचारे रै ।।१।।
सिव नगरी में आसण धारे, उलटि अगम विचारे रै ।।
त्रिवेणी तट लावै ताली, परम जोति निहारे रै ।।२।।
काम कलपना निकट न आवै, गलत होय गुन गावे रै ।।
जन तुरसी एसा जन जोगी, परम पदारथ पावे रै ।।३।।

राग गोडी

१४ एसा है सोई अवधू जांनी,
ओरे अवधू वाद ही कहावत, वोले वेद जु वांनी ।।टेक।।

आपा मांही आपा जानै , ज्यूं रवि चन्दा पानी ॥
निवाव नीर लोरहै तहाँ थिर होइ , प्रीति ब्रह्मसूँ वानी ॥१॥
वोहू योही यहु है पुनि वोही , तामैं संसै नांही ॥
जो जुगति सूँ उलटि पहिचानें , देह जगत सूँ कानी ॥२॥
गहि गुरुग्यांन पंच कूं धूते , छठा कूँ उर आनी ॥
सातई जु बुधि सम कर राषै , आदि अन्त इक तानी ॥३॥
तनही में त्रिभवनपति पेषै , लेइ तत पहिचानी ॥
जन तुरसीं एसा जन जोगी , वहुरिन जन मैं आनी ॥४॥

१५ उलटि अमी रस पीजिये , आतम अंतरि आइ ॥टेक॥
कहा विवधि व्याकरन पढे रे , का पढे वेद पुरांन ॥
तन मन के मल ना मिटै , विन भजिये भगवान ॥१॥
का जप तप तीरथ किये रे ? , का पूजा व्रत दांन ॥
सब परिहरि हरि नांव लै , तूँ साहि सुद्रिढ गुरग्यांन ॥२॥
यहै जोग यहै जुक्ति है , यहै भक्ति यहै भाव ॥
पांच पचीसूँ फेरि कै , परापरी पद ध्याव ॥३॥
परापरी पद परस कै , भर्म कर्म कटि जांहि ॥
जन तुरसी तन ऊधरै , मन मिले महासुष मांहि ॥४॥

१६ संतो सो है राम हमारा रे ? ,
नाद विवरजित विंद विवरजित , नहिं तस वारन पारा रे ॥टेक॥
सकल वियापी सब तें न्यारा , सब का सिरजनहारा रे ॥
सब दुषषंडन भवभयभंजन , तेजपुंज निरकारा रे ॥१॥
सब सुषसागर सब सुषदाता , सकल सरोवन सारा रे ॥
सब गुन रहित अकुल अविनासी , तरुन वृद्ध नाहिं वारा रे ॥२॥
ब्रह्मा विष्नु महादेव नारद , सबहि करहिं विचारा रे ॥
पारन पावै अगम बतावे , नांव लेहि इकतारा रे ॥३॥

आवन जाय मरै नहिं जनमै, अविगति अलष अपारा रे ॥
जन तुरसी एसा रांम हमारा, ताहि सुमरै वारंवारा रे ॥४॥

राग धनाश्री

१७ सो सुष देहु जागत गुरु मोही,
जा सुष सुं सवही दुष नासै, आय मिलूँ प्रभु तोही ॥टेक॥
जा सुष सूँ भरमादिक छूटै, करमन व्यापै कोई ॥
तन मन आत्म मांहि रामजी, अति गति आनंद होई ॥१॥
जा सुष सूं जम जरान ग्रासै, दुष सुष नासै दोई ॥
सत रज तम तीनों गुन आगै, आत्म असथिर होई ॥२॥
जा सुष सूं सवही जन रचिकै, पार पहूँते सोई ॥
सो सुष भोगत है जन तुरसी, देहु कृपावंत होई ॥३॥

॥ इति ॥

---

९. महात्मा जगजीवणदासजी।

जगजीवणदासजी महाराज भी निरंजनी सम्प्रदाय के गणनीय महात्माओं में है। उनके जन्मस्थान तथा जन्म व तिरोहित होने के काल का यथार्थ कोई पता नहीं लगता, क्योंकि महात्माओं का जीवन तो निवृत्तिप्रधान होता ही था, अतः वे इस बात की आंकाक्षा ही कब कर सकते थे कि उनका तरीके से जीवनचरित लिखा जाय।

केवल इनका सामान्य परिचय राघोदासजी की भक्तमाल से प्राप्त होता है। उनने व्यक्त किया है कि जगजीवणजी ने साधाना के द्वारा अपने गुरु से भी अधिक अपने को सिद्ध किया तथा जगजीवणजी ने अपना स्वतंत्र पंथ भी चलाया। उनने द्वादश निरंजनी महन्तों में ही इनका निरूपण किया है।

इन्दव छन्द—

भादवे के जगजीवणदासहु पंचम वर्ष तज्यो हरि गायो।
सील संतोष सुभाव दया उर ताहिं तैं ईश्वर कै मन भायो॥

त्याग वैरागरु ग्यांन भलै मत तातैं भयो गुरु तैं जु सरायो ।
राघव सो लहि ग्यांन गुरु कर एसो भयो फिर पंथ चलायो ॥१॥

भाऊदासजी की गुदड़ी के अनुसार ये हरिदासजी महाराज के बावन शिष्यों में आते हैं । निरंजनी सम्प्रदाय में ही जगजीवणजी महाराज के अनुयायी अपने को जगजीवणपंथी की संज्ञा से सम्बोधित करते हैं । वैसे ये भी डीडवाणे में आने-जाने का तथा व्यावहारिक व्यवहार निरंजनी साधुओं में ही करते हैं । अब भी इनके थांभे की परम्परा मौजूद है । एक स्थान नागौर में भी है जिसमें परम विद्वान् महात्मा माधोदासजी इस समय मौजूद हैं । आप सस्कृत के प्रौढ़ विद्वान् हैं । आपके गुरुभाई लक्ष्मणदासजी भी अति विद्वान् थे। और भी इनकी परम्परा के स्थान हैं। जगजीवणदासजी की पूरी रचना तो प्राप्त नहीं है । प्राप्त रचना में दो लघु ग्रन्थ चितावणी तथा प्रेमनामा है। चितावणी में चालीस साषी हैं । प्रेमनामें में गुनसठ साषी हैं । आगे पद हैं ।.सात राग में करीब साठ के पद प्राप्त होते हैं । जनश्रुति से और वांणी नागौर में होने की सुनी जाती है। वाणी में इनने विशेषतः कबीरजी का अनुगमन किया है । उपासना का क्रम तो वही है जो निरंजन निराकार का महाराज हरिदासजी ने अपनाया है । उनकी रचना का तारतम्य व भाषादि का विवेचन पूरी रचना प्राप्त हुए विना करना संगत प्रतीत नहीं होता; वैसे आगे दिये गये उद्धरणों से जानकारी हो ही जायगी ।

॥अथ जगजीवणदासजी की वाणी लिखंते ॥

अथ चिंतामणि जोगग्रंथ

आप निरंजन संत सब कृपा करि दिया रंग ॥
गुरुकृपा तैं पाइये चिंतामणि का अंग ॥१॥
चिंतामणि चौथी दशा लखै सु पावे सुख ॥
जाइ धसै वा सिंध में बले न दरसे दुःख ॥२॥
पूंजी तो परमेस्वर तणी तूं मति खरचै बीर ॥
दरगह लेखा माँगिसी कौन रंक को मीर ॥३॥
तूं बनिजारा पार का पूंजी जमैं लगाई ॥
चेतन रहो चूकी रखे तो उत्तर दिया जाई ॥४॥

जै जानै तो उर महि उरगहि पकड़ि नित ॥
जिन जल सूं पैदा किया सोई सांचा मित ॥५॥

मन बनिजारा जागिरे सोवै कहा अघोर ॥
सूताँ पूंजी हारिसी के मुसि लेसी चोर ॥६॥

बिगति बैल गमि गूमि करी, नाँव बस्त ततसार ॥
सुमति पटाट सत्र सूंडिका, सतगुरु हाकणहारा ॥७॥

तसकर बैठा घट मही निसदिन करि हैं घात ॥
ग्यान खड़्ग हथियार गहि मांनि हमारी बात ॥८॥

जन्म जन्म का संग रहैं बिछुड़ै नहीं लंगार ॥
चेतन रहो केड़ौ करि यौ औसर या बार ॥९॥

पांच तीन का जुथ मिल्या माँही मोम्या मन ॥
राति अंधेरी मै खरौ काया मेड़ो बन ॥१०॥

इह पैंडे बहु लूटिया दुनियां केरी राह ॥
सांभलि सतगुरू यों कहै अदली दगड़ै जाह ॥११॥

गर्भवास में राखियो कहि नर किती ऐक बार ॥
सकैत हरि गुण गाइले विसरै काँइ गँवार ॥१२॥

जठर अगनि में जोगियो राखि लीये गर्भवास (अभवास) ॥
आतुर होय आगे खड़ा हरि सुमरो साँसों सास ॥१३॥

दुःख जामण दुःख मरण है दुःख मात पिता हरष सोग ॥
दुःख बंधु दुःख जाति पांति दुःख कुटम्बी लोग ॥१४॥

दुःख जीवण दुःख व्याहणा दुःख नारी भोग विलास ॥
दुःख ही दुःख संपति मिली दुःख दुःख केरी आस ॥१५॥

जा दुःख सुख करि लेखिया इण अंधे संसार ॥
सुपना केरी नांवरी क्यूं उतरै मौ पार ॥१६॥

दुनियां केरी द्रिष्टि बंध नहीं रहावो कोई ॥
देखत ही उठि जायगा आजकाल्हि दिन दोई ॥१७॥
भौजल अथग अपार है काम क्रोध मछराई ॥
हर्ष शोक का तट मंब्या पड़ै सोइ पचि जाइ ॥१८॥
कोई एक तिरि है संत जन जाकै राम सहाई ॥
सतगुरु नेरै बैसि करि प्रेम प्रीति ल्यौ लाई ॥१९॥
नैन बैन श्रवण करया दीया करि चालण कूं साज ॥
सो साहिब तूं बिसर्यो कहा कहौं मुख लाज ॥२०॥
रे मंदभागी प्राणियां दीनबंध गुण चोर ॥
परम सनेही वीसर्यो कहां लहैगो ठौर ॥२१॥
ज्ञान पलीता लाइ करि दगध्या बन विकार ॥
मैवासा सो मठ किया लड़ै न दूजी बार ॥२२॥
मन मैवासी पाकड़ै अनन्त न देई जान ॥
बेडी विरह पहराइ कै लावै सतगुरू बांन ॥२३॥
बिगति बिगति का दुःख सह्या गरम संकट बहौ त्रास ॥
लख चौरासी भरमियौ तहू न छूटी आस ॥२४॥
सकल बियापी सकल में सब माँही सब दूरि ॥
जैसे चंदा उदिक में सकल रह्या भरपूरि ॥२५॥
गहि बिसवास आस गहि जीव चेतन ह्वै चेत ॥
बार बार पावै नहीं मनिष जन्म का नेत ॥२६॥
मनिषा देही दुलभ है सब जीवन में सार ॥
कृपा करि तोकूं दई भजिलै सिरजनहार ॥२७॥
महापतित के पावन वहै निर्बल के आधार ॥
निर्धन के धन दीनबंध सरनाई साधार ॥२८॥
जल थल थावर जीव जंत परलै कीट पतंग ॥
सूक्ष्म होइ होई औतरया तऊ न मोड्या अंग ॥२९॥

चंदन रूंष विराग बड़ भार अठारा जाति ॥
काटि बादि बहु बैहरया तउन सुमरया नाथ ॥३०॥

परम सनेही परम गुरू परकाजां परवान ॥
परमार्थ कै कारनै यौं परापरै परवान ॥३१॥

निराकार निरंजना निर्विकार निहस्वाद ॥
काया माया बन नही नही बिंद नही नाद ॥३२॥

अखण्ड अमर अगाध हरि वार पार कुछ नाहिं ॥
सब साधन मिलि भाखिया है न्यारा अरमांहि ॥३३॥

सुख तरवर छाया रहत मूल डाल पत नांहि ॥
इमृत फल प्रकासिया सब साधू मिलि खांहि ॥३४॥

सब स्वादन मैं स्वाद है सब प्यारन मैं प्यार ॥
सब सुखन मैं सुख है सब सारन मैं सार ॥३५॥

हरि ही माता हरि ही पिता हरि कुटुम्ब परिवार ॥
हरि बंधु हरि सजनता हरि यारन मैं यार ॥३६॥

निरभै घर जहाँ भै नहीं भाव भक्ति सुखरूप ॥
कृपा करि तोकूं दई असा तत अनूप ॥३७॥

सतगुरु परस चिताइया जीव चेतन ह्वै चेत ॥
गुप्त वस्त प्रगट करी अंजन बाह्या नेति ॥३८॥

यूं चिंतामणि ग्रंथ है अनंतकोट बिसरांम ॥
जे षोजे सौ परसि है सरै सकल, बिध काम ॥३९॥

मनसा वाचा कर्मनां अविनासी की आस ॥
गुर कबीर प्रताप तैं कहै जगजीवनदास ॥४०॥

चिंतावणी जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥१॥

॥ अथ प्रेमनांमौ जोग ग्रंथ ॥

नाम निरंजन प्रेम अंग साखी गुरू प्रवांन ॥
मनसा वाचा क्रमना नांहि दूजी आन ॥ १ ॥
पेमी कै पति प्रान है तन मन वै आधार ॥
रोम रोम में रमि रह्या बिसरे नहिं लगार ॥ २ ॥
जैसे मछली जल बिनां पेमी कै करतार ॥
निसबासुर बिछुटै नहीं बिछुट्यां होई प्रहार ॥ ३ ॥
जैसे अमली अमल कूं निरधन के धन होई ॥
पेमी के पिव वालही राखै पिंजर पोई ॥ ४ ॥
जैसे माता पूत कूँ ज्यूं नारी भरतार ॥
पेमी के चित पिव बसै ज्यूं जूवारी सारि ॥ ५ ॥
पेमी के परतीति है हरि है हृदा मांहि ।
पेम विना खाली सबै भूला भटकै कांहि ॥ ६ ॥
राता माता पेम में सुख में रहे समाय ॥
या पेमी की पारखा हरि तजि अनंत न जाय ॥ ७ ॥
पेमी पीघल पेम में दया दीनता हारि ॥
ग्यान गरीबी दरदबन्द गुरबाइक उर धारि ॥ ८ ॥
पेम तहां ही पीव है पीव बिन पेम न होई ॥
पेम बिनां हरि कौण का मति गरिबानों कोई ॥ ९ ॥
पेम तहां प्रवति नहीं नहीं न आसा पास ॥
नांव मईं ल्यौ लीन होइ ससकत साँसा सास ॥१०॥
पूरां सूं परचा भया पीया पियाला धाप ॥
जन्म जन्म की चिंतना मिटी, साहिब पाया आप ॥११॥
ऐकै सेती एक है दुतिया नांहीं कोय ।
पेमी कै परतीति है, दूजी भांई होय ॥१२॥

मनिखा देही पाइ कर मन नहिं लाया राम ॥
पेम स्वाद जाण्यां नहीं भेष धरया बेकाम ॥१३॥
सदा समीपी सावधान जिनि हरि नांहि म रेष ॥
ज्यूं दरपन में देखि है अरस परस मुख एक ॥१४॥
रिध सिध आवध, जोग जिग नेम ब्रत तप दान ॥
पेम पियारा पीव कूं पेम बिनां सब आंन ॥१५॥
तीर्थ पूजा जाप धर्म षट्क्रम कुल आधार ॥
पेम बिना किस काम का बिन सज्या सिंगार ॥१६॥
सदई झड़ लागा रहै बरषै निरमल पेम ॥
ब्रह्मराज अखंडतपुरी नाहिंन बासुर व्यौम ॥१७॥
सुख सरवर जनहंस हैं मुख मुक्ताहल खांहि ॥
पेमी रमि है पेम सूं उड़ि उडि अनंत नजांहि ॥१८॥
अविनासी जहां भै नहीं मांहो निर्मल हीर ॥
को मरजीवा काढिसी जहां जाल न काल न कीर ॥१९॥
अगम अगोचर तट मंझा मंझै पेम की नांव ॥
जो बैसो सो परसि है नांहि न दुतिया भाव ॥२०॥
प्रेमलछन हरिभक्ति है कोई साधै संत सुजान ॥
चौरासी भरमै नहीं लगै न काल का बांन ॥२१॥
जम डरपै ता दास सूं जांकै अंतरि भाव ॥
पेम पमोज सूं पातला ज्यूं आया त्यूं जाव ॥२२॥
बैरागी होई बन वसै उपजै नहीं वियोग ॥
पेम बिना दोऊँ थक्या बादि विसारया रोग ॥२३॥
बैरागी चंदन बावनों ताँकी बास सुवास ॥
पेम पियाला पाइया जग सूं रह्या उदास ॥२४॥
सतगुरु मिलर जगाईया पीया पियाला पेम ॥
पथरगल पांणी हूआ ज्यूं र सुहागा हेम ॥२५॥

शब्द सुहागा विरह अग्नि, दीया प्रेम लगाय ॥
सतगुरु कंचन काच तैं कीन्ही कंचन काय ॥२६॥
ज्ञान हथोड़ो दिल अहरणी दऊँ बिच लाया ताव ॥
सतगुरू हिकमती कीया बारा बांनी भाव ॥२७॥
कसत कसत कसणी सही कसि कसि पाया प्रेम ॥
सतगुरू मेरा हिकमती कीया सोल्हा वांनी हेम ॥२८॥
अमली सब संसार है कनक कांमणी स्वाद ॥
साचा प्रेमी संत जन ताहि विष नहीं आवै आद ॥२९॥
प्रवृति तज निवृत भया, एक नांव की चाहि ॥
पतिवरता पति सूँ रज्यू, रहै प्रेम लपटाहि ॥३०॥
ज्यूं मोती गजराज सिर ज्यूं गिरवर में धात ॥
ज्यूं विसहर संग मणि वसै यूं प्रेमी हरि साथ ॥३१॥
जैसे पावक काष्ठ मैं ज्यूं पै मांही घीव ॥
ज्यूं तिलन मैं तेल है यूं प्रेमी में पीव ॥३२॥
ससिहू संग इम्रत वसै, ज्यूं फूलन में वास ॥
ज्यूँ चंदन में ठंडिता, यूं हर मांही दास ॥३३॥
जैसे मिसरी ईख में ज्यूं हीरा में जोति ॥
अैसे जग मैं नांव है, भया एक ही पोति ॥३४॥
घट घट भीतर मन वसै ज्यूं वासर में सूर ॥
ज्यूं जल सेती जल मिलै यूं प्रेमी में नूर ॥३५॥
नूर मिल्या उस नूर सूं न्यारा किया न जाइ ॥
प्रेमी मिल्या उस पीव सों ज्यो जोते जोति मिलाइ ॥३६॥
अनल पंख आकास घर धर धरती सूं नेम ॥
गगन गौंन लागो रहै या प्रेमी की प्रेम ॥३७॥
दूरि सनेही विचि घणां क्यूं करि पहुँतौ जाइ ॥
जोइ रह्यो हरि समंद में, पेमी पाँष तुलाइ ॥३८॥

प्रीतम चाहे प्रीतमां कब आंष्यां मैं अंष ॥
कोईक मिलि है संत जन प्रेम प्रीति दे पंष ॥३९॥
प्रेम पांष जन कूं दई करि कृपा करतार ॥
भौ जलसिंघ अथाह तिरि दरस्या देव मुरारि ॥४०॥
बिन पैरन का पंथ है दिष्टिबिवर्जित ठौर ॥
प्रेम परचै पाइए ज्यूं सुख उपजै मौर ॥४१॥
चुंबक चुणि है लोह कूं पुरुष पुरातम प्रीत ॥
अरस परस हर सूं मिलै या प्रेमी की रीत ॥४२॥
रनबन बस्ती बिच रहै भिक्षा अचीती खाइ ॥
प्रेमी मिले न देह गुण ज्यूं पत्थर की राइ ॥४३॥
प्रेमी के मंगल सदा बाजै अनहद तूर ॥
सोच पौच आनैं नहीं ज्यूं दहौं दलां बिच सूर ॥४४॥
जैसे सती सत काया खसम संग जीवत जाली देह ॥
यों प्रेमी अंग न मोड़ ही निराकार निज देह ॥४५॥
कुंज पुकारै कुरलि करी सुरत रहै उन पास ॥
प्रेमी अपना जान करि साहिब पौषै दास ॥४६॥
चूंणि चुगै चितवनि करै, चुणि चुणि जोवै दूर ॥
अंतरजामी प्रेमबस है हाजरां हजूर ॥४७॥
नेह दहौं का एक सा क्या सांई क्या संत ॥
जो कुछ होइगा जिंद में सोई फलेगा अन्त ॥४८॥
कँबल बात प्रेमी तणी जल है जड़ाँ समीप ॥
निरंजन भजि न्यारा रह्या ज्यूं दरिया मोती सीप ॥४९॥
लष चौरासी इन्द्र आदि नवषंड ब्रह्मंड इकीस ॥
प्रेम नाव जन कूं दई ताहि दरिया जगदीश ॥५०॥
साहिब सम दाता नहीं नहीं जन सौं मंगणहार ॥
प्रेम मौज दाता दई सब मौजन में सार ॥५१॥

मन महुवा गुड़ जान करि , भाठी गुरमुष धार ॥
अमी पियाला जिनि पिया , विसरया देह विकार ॥५२॥
अकल कला ल्यौ बारनी , रही गगन मठ छाई ॥
जन्म जनांणों डारि करि , कहै पाई हरि पाई ॥५३॥
त्रिगुण ताप सूं तरक दे , निरास मांहि आस ॥
चौथे आश्रम संत जन , तहां प्रेमी का बास ॥५४॥
प्रेम सलिता हरषित चली , चलिया नेह लगाइ ॥
जाइ धसै हरि समंद में , सुख मैं रहौ समाइ ॥५५॥
हीरा मोती लाल घणां , वैरागन बड़ नग ॥
मुक्ति षेत निरंजनपुरी , जहाँ पेमी लिया रंग ॥५६॥
छौतन भ्रांति भै भ्रम नहीं , नहीं नाद जग विंद ॥
पूरण ब्रह्म पेम वसि , निराकार निरजंद ॥५७॥
भाव गिरा ही भाव वसि , नहिं रिध सिध विवेक विचार ॥
अकल सरूपी सकल में , जा का वार न पार ॥५८॥
महा प्रेम अँग ग्रंथ है , निजसंतन किया बिचार ॥
गुरू कबीर प्रताप तें , कहै जगजीवन सार ॥५६॥

॥ इति प्रेमनामों जोगग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

॥ ग्रंथ अथ पद ॥

राग धनाश्री

अब और सरनि कित जाऊँ ,
आरति हरन नहीं कोई दूजो काहे कूं भेष लजाऊँ ॥ टेक ॥
हरि हैं दयाल संतन सुखदाई , और नहीं कोई देव ॥
आगे अधम उधारे केते , जोई जोई लागे सेव ॥
जल थल पावक गज सिंह आषौं , राषि लिये दे हाथ ॥
मुख करि कहाँ बड़ाई भाषौं , हरि हैं अनाथन के नाथ ॥

पतित पावन हरि बिड़द तुम्हारो, मैं पतितन अधिकार ॥
जगजीवन सति विड़द तुम्हारौ, जै मोहि उतारौ पार ॥३॥
तैरो जन चरन सरन तकि आवै,
कहर काल की बहौत त्रास है, हरि बिन कौन छुड़ावै ॥टेक॥
पांच तीन पच्चीसू प्रकृति, देत फिरै बहौ साई ॥
हरि बिन और कौन सूं कहिए, रहे करम उरझाई ॥१॥
मनसा नदी बहै निसबासुर, रहत नहीं या राषी ॥
नांव जिहाज गहि पारन पकरै, सुनि सतगुरू की साषी ॥२॥
मैं बलहीन महा सठ श्रवनां, हरि अघमोचन अबिनासी ॥
जगजीवन जन करै बीनती, काटि करम की पासी ॥३॥
हरि हूँ सब पतितन पतिसाह,
असी और कौन पै होइ है, दीरघ करम अथाह ॥टेक॥
काम क्रोध का कोट हमारे, आवा गवन दरबार ॥
मनसा नारी सुहागनि थरपि, जम सेतीं व्यवहार ॥१॥
चिंता षजीनौं घटत नही कबहूं, मनोरथ उमराव ॥
चित चंचल कुटवाली दीनी, राजस राजा राव ॥२॥
ब्रह्मंड यकीस लोक त्रिय तांई उपजै, पतित सब लोक अपार ॥
पतितन मांहि पतित सिरनामी, और पतित सब लार ॥३॥
त्रिष्णा गाज बाज सिर घूमै, नौबति बाजा सार ॥
जगजीवन जन सरनै आया, लीजै अधम उधार ॥४॥
अविद्या हम हेरि सकेली,
अबिगति की गति हम सूं रहि न्यारी भई मूढ़ मति मेरी ॥टेक॥
मारत मन तौऊ अति चंचल, धीर न धरत लगार ॥
ताहि तूरस मोर मगन मन, लंपट विषै विकार ॥१॥
मल तें उपजि मांनि रुचि मलतें, पीयो हलाहल पान ॥
अगनि प्रवेस भषे करत नित, परहरि सदा अस्थान ॥२॥

हरिपद विमुष अज्ञानभाव अति, एही प्रतिज्ञा मेरी ।।
जगजीवन जगप्रान जगतपति, जाँपरि भलीस तेरी ।।३।।

राग आसावरी—

आव सजन मेरी सैजडी, मैं वारणैं तेरे ।।
पलक पलक ज्यूं जुग फिरै, सुष हिवडैं मेरे ।।टेक।।
जैसे दादर पावसाँ, घण वरषै मेहा ।।
एसे विरहनि पिव मिल्यां, उपजै वहु नेहा ।।१।।
जैसे अमली अमल विन, मछली विन नीरा ।।
दिल मालिक दिल में वसै, जानैं पर पीरा ।।२।।
प्रीति तुलाई प्रेम गींदवो, भाव कली विछाऊँ ।।
पौढै पीव पियारडा, ऊभी वाल हिलाऊँ ।।३।।
अगर चंदन ल्यौ लेपनां, संदल सुख वासा ।।
अमी पियाला साह संगि, दीपक परकासा ।।४।।
बहुतक दिन विछुर्‌यां भया, तन ताला बेली ।।
जगजीवन बिलसांइयां, मिलि मुझ्झ खेली ।।५।।

राग विलावल—

रे घड़ियाले बीनती सुन मेरा भाई ।
मेरा पियारा पाइया, मन वटी वधाई ।।टेक।।
ज्यूँ ज्यूँ घड़ियाँ मैं सुणों, मेरा प्राण डराई ।।
बहुतक दिन सों पीव मिल्या, मत बीछुड़ि जाई ।।१।।
मिलत मिलत मिल ही रहूँ, बिछुरन नहिं भावै ।।
मैं भूषी हरि दरस की, मोहि अजक लगावै ।।२।।
काया महल सिंगारिया, सति सेज वनाई ।।
दीपक ज्ञान रतन का, मिलियो सुखदाई ।।३।।
प्रेम प्रीति आरति भई, अमी रँग पीता ।।
अरसपरस आनंद भषै, भागि सब चिंता ।।४।।

घटत घटत घड़ियां घटी, काना मंतिर सुनावै ॥
जगजीवन केते गये, अब साहिब भावै ॥४॥
मै मति आणौं रे मना, कहा करै अनाला ॥
जिन सिरज्या जल बूंद सूं, सो है प्रतिपाला ॥टेक॥
ईंड़ा टींटोडी तणां, राख्या घटि छिटकाइ ॥
गज निरास होइ टेरिया, हरि लिया बंचाइ ॥१॥
जल थल गिर ज्वाला मही, जहाँ तहाँ रखवाला ।
प्रहलाद प्रत्यंग्या पूरिहै, घट भया उजाला ॥२॥
सुनि सूली भरथर तणी, नांम देव बंचाया ॥
लोह लंगर पग घालकै, कबीर तिराया ॥३॥
साखि सुणत खातिर भई, भौ भागा भारी ॥
जगजीवन मुसकिल कहा, जा कै देव मुरारी ॥४॥
विनती सुणौ हो मेरी नाथजी, तूं समरथ देवा ॥
मैं प्रान अबला बली, कछु होत न सेवा ॥टेक॥
बहौ विध ज्ञांन सुनाइया, कसनी बहौ त्रासा ॥
महाराजि निलजा समझै नहीं, फिर वाही आसा ॥१॥
ऊठत बैठत कल्पनां, दग्धै दिन राति ॥
करुनां सुनि करुना भई, जन पकरौ हाथि ॥२॥
लख चौरासी भ्रमत फिरयौ, कछु चलत न उपाई ॥
जगजीवन सूं कर दिया, हरि ल्यौह बचाई ॥३॥
महर करौ महरवानजी, अपना करि राषौ ॥
मैं तुमही सूं लागा रहूँ, सोई बुधि आंषौ ॥टेक॥
मम जालि समझै नहीं, मेरा बसि नांहि ॥
तुमसूँ कहा दुराइए, तुम दरसौ मांहि ॥१॥
आगे पीछे एक तूं आलम आधारा ॥
तुम्हीं तैं पतियाइए, सब खेल तुम्हारा ॥२॥

उजु निवाज कलमां पढै, कर जप तप तै आसा ॥
जगजीवन दरवेस कै, पावन की प्यासा ॥३॥

राग सारंग

प्रीतम आवौजी अब जिन लावो बार
चौमासौ दूभर भरौ, मुझि बिरहन के आधार ॥टेक॥
मास सावण तजी तरणी, आतम किया सिंगार ॥
लवै चात्रग घरहरै घन, वीजल्याँ चमकार ॥१॥
पीव बिनां मेरो बदन बिलषै, टिकत नांही सांस ॥
सरस सांवण जाइ अहलौ, कहाँ बधावौ आस ॥२॥
भादवै मै पडयौ मनकै, नदियां नीर बहाइ ॥
राम बिना मेरी सेज सूनीं, कैसे रैनि बिहाइ ॥३॥
सुनि सषि एक अचरज भयौ, सुपनै भयो संदेस ॥
भादवो अति जाइ गहरौ, आइ करौ उपदेश ॥४॥
आसोज मैं असी भई, मेरो चित न धरहै धीर ॥
लाल बिन मेरै नहीं कोई, कौंन जानै पीर ॥५॥
पंथ जोऊ नैन रोऊँ, घड़ी चितऊँ बाट ॥
आसौज मैं धन भई आतुर, बहोर नांहा थाट ॥६॥
कातिग मंगलचार जनकै, पूरई सब आस ॥
पीव आए मनाँ भाए, दरसीए सब दास ॥७॥
करी कृपा दीन ऊपरि, परसि पद नृबान ।
जगजीवन जन केली कातिग, नांहिन दूजी आन ॥८॥

राग सोरठ

सजन आव हम घरि आव ।
बार बार छक नांही इहड़ौ, यो मिलिबा कौ डाव ॥ टेक ॥
पहर च्यारूँ जांहि अहला, बिन कंत सुजान ।
मैं अबला बलहीन, तुम सूँ कोई न पूजै पान ॥१॥

तलब तेरी व्यापे निसदिन , ज्यूँ चात्रिग चितवत नीर ।
करुनां सुनि कृपाल स्वामी , बेगी बुझावौ पीर ॥२॥

अवधि घटति जाय पल पल , ताला बेली जीव ।
तुम जांण प्रवीण प्रभूजी , महल पधारौ पीव ॥३॥

बिथा तन की कहूँ कासूँ , कह्या न कौ पतिआइ ।
तुम दीनबन्धु दयाल कहियो, रह्या बदेसां छाइ ॥४॥

तुम सरणि सोहड सुभड सांचा , बिड़द सुधारण राव ।
जगजीवन जन मिले पीत्म , आत्म अधिक उछाव ॥५॥

देवा तेरी भगति दीजै मोहि ।
सुरति धागा नांव मनका , राखूँ पिंजर पोइ ॥ टेक ॥

जपौं अजपा जाप निसदिन , अषंड सुमरण होई ।
दाषिलै तेरा संत मेला , बाण न लागे कोई ॥१॥

ब्रह्मा विष्णु महेस सुर नर , देतां सुणिया दांन ।
सकल तजि तुम सरनि आया, राषो जन को मान ॥२॥

आस तेरी करो रक्षा मेरी , मोहि मिलन को चाव ।
जगजीवन जन केरी विनती , देव दया करि आव ॥३॥

माधौजी दुर्लभ दर्शन तोर ।
मैं निबला अैं करम बलिवंत कछू न पूजै जोर ॥ टेक ॥

मन मनसा सुरति चंचल , इनका एहि सुभाव ।
गुप्त प्रगट बहैं सदई , करै नहीं ठहराव ॥१॥

जोगध्यांन बहौ पठन आवध , नाना मत अपार ।
पेम बिना परसन नहीं , वै साचा सिरजन हार ॥२॥

जोगी जति तपी सन्यासी , सब ही कह्यो पुकारि ।
गुरू कृपा तैं ऊबरै , नहींतर चाल्यौ हारि ॥३॥

जीव सीव दोऊँ रहत सुमिलत, बीचि भइ अंतराइ ॥
दया गरीबी भाव उर गहै, तो हर करै सहाइ ॥४॥
कांम आरंभ मोह माया, औ जीव बैठो धार ॥
जगजीवन जन सरनि आया, लीजै राम उबार ॥५॥

मन रे होइ हर का बोलिगानां, ज्यूँ तेरे कोई न लागै बानां ॥टेक॥
तूँ परिहर विषै सगाई, पी पेम पियाला भाई ॥
रहो रैनि दिन माता, तो कूँ दरवै आप बिधाता ॥१॥
जांके अनंत कोटि उमरावा, वै पांवैं मौज समावा ॥
खरा खजीनां खावै, फिरि मौसागर नहिं आवै ॥२॥
हरि अकल भवन को राजा, जांकै बाजै अनहद बाजा ॥
कहै जगजीवन दासा, तूँ करि चरनां मै वासा ॥३॥

मन रे सांचा राम दिवांना, जांकै बाजै प्रगट नीसांना ॥टेक॥
एक बूँद सूं सब जग कीया, राव रंक सुलिताना ॥
एतौ भोपति दिवस च्यार कै, कूड़ा करत डकांना ॥१॥
गण गंध्रप सब ही चल है, सो क्यूं ही न ठहराई ॥
रांवण सा बड़ जोधा होता, तिनकी षबर न पाई ॥२॥
धरती गगन नहीं कछु अस्थिर, चलि हैं सकल मंडाणां ॥
जगजीवन वै संत न चल है, ज्यो परस्या पद निर्बानां ॥३॥

जीवड़ा हरि राखै त्यूं रहिए ।
मुस्कलि बहोत पड़ी या जीवकों, यौ दुष कासूं कहिए ॥टेक॥
लागूं पिंड ब्रह्मंड पण लागूं, लागूं च्यारि षांणिका जीव ॥
यौ सांसौ मोहि निसदिन ब्यापै, जानैं अंतरजामी पीव ॥१॥
सतगुरु सरन लाज संतन कूं, दूजी कछू न सहाइ ॥
आगैं अधम उधारे केते, बोलत निगम बड़ाइ ॥२॥
पल पल छीजै राम न रीझै, झूठ जग मैं बासा ॥
हर हौ दयाल महर कर माधौ, कहै जगजीवन दासा ॥३॥

पंथीड़ा पूछै रे बिरहणी आषि, म्हारा पीवजी रा वैण ॥
कब घर आवो साहिब कब मिलूं, जोऊँ दिन अरु रैंण ॥टेक॥
बहुत बधाई आपिहू, वहला ल्याव संदेश ॥
बहुतक दिन बीछुरयां भया, मौ मन योहि अंदेस ॥१॥
ग्रह आंगन भावै नहीं, विष लागै संसार ॥
बिरहन बेदन विषम गति, दरस्यां होइ करार ॥२॥
कब घर आवौ साहिब कब मिलूं, हरि परम सनेही राइ ॥
महल उजालौ प्रभु पति मिल्यां, सेज सुरंगी थाइ ॥३॥
गोवल गूड़ी ऊछरी, प्रगटया जै जै कार ॥
जन्म जन्म का दुःख मुच्या, धनि विरियांधन वार ॥४॥
षोडश आभूषण साजिया, साज्या सकल सिंगार ॥
जगजीवन दुलहन कहै, दरस्या राम भरतार ॥५॥

कही रे बटाउ पीवनै संदेसड़ौ, बिरहनि बूझै ध्याइ ॥
अवध सबाई साहिब बहि गई, पीछैं कहा जी करौगे आइ ॥टेक॥
हिवड़ै अरहट लाइया, कबर मिलौगे नाथ ॥
ऊभी जोऊँ आंगणें, मस्तक दीया हाथ ॥१॥
बिरह कासीद पठाईया, तुम बैग पधारो राइ ॥
तुम बिन घडी न आलगैं, तलफत रैनि बिहाइ ॥२॥
सुपनै झषि है आत्मां, उठि उठि जोऊँ बाट ॥
तुम बिन सूनी सेजड़ी, भौंहन जोड़े पाट ॥३॥
बहौतक दिन बिछरयां भया, ताला बेली जीव ॥
राम दयाल दया करौ, महल पधारौ पीव ॥४॥
जगजीवन जन बीनवै, सुनि सतगुरू सिरजनहार ॥
दरसन दीजै देवजी, अब जिन लावो बार ॥५॥

जिंद्वा जाणि रे जग जातौ, समझि मूढमति भाई ।।
राम सुमरि सकल सुखदाता, परहथि कांइ बिकाई ।।टेक।।
चकवै बहौत सूर सांचत, पातसाह सुलतानां ।।
देषत निजर खाक मैं मिलिया, कौंण रंक कूंण रानां ।।१।।
जाकै हस्ती घोड़ा गांव गढ़ गूडर, खरच खजीनां भारी ।।
ऊभी दुरम हवेली छाड़ी, करता म्हारी म्हारी ।।२।।
नौबत तेग नगारा बाजैं, लड़ैं फौज झूंझारा ।।
चलती बेर कहूं खबर न पाई, ह्वै गया महल अंधारा ।।३।।
सूर सोई लड़ै माया सूं, लड़ि भिडि आपौ उबारै ।।
सतगुरू सबद सिल्है करि सत की, मन मैवासी मारै ।।४।।
इन धूतारी सब बसि कीया, कांम काल ह्वै गिलिया ।।
जगजीवन वै जोगी जुगता, हरि भजि हरि मैं मिलिया ।।५।।

मन चेति रे चेति कांई भूठरातौ ।
अलप जीवन संसार सांसै पड्यौ, सुमरि लै रांम सति रांम नातौ ।।टेक।।
कामद्ल क्रोधद्ल लोभदल मोहद्ल, पेलिया छा संग्राम साही ।।
साचरी सांगलै सफर लै जरनां हो, सनमुख जंग जीति भाई ।।१।।
सबद सनाह समसेर गह ग्याँन की टोट सतगुरू सबद ध्यान धीरा ।।
प्रेम तुरंगि चढि सुरति लगाम दे, पकड़ि पांचूं करि हाथि हीरा ।।२।।
सोहड़ सांवत लड़ै मुगध पाछा पडै, पेलीया पिसण रिण रांम द्रोही ।।
नालि गोला बहैं काइरा किम सहै, मंडि रहे खेत कमधज सोई ।।३।।
बिरह बिधि आरबा भाव भीड़ि कुंजरां, भेलिभार्थ जस जोध लीया ।।
राजिरै काजि तन काटि कुटका कीयौ, मौत नैं मारि जन जुगति जीया ।४।
अद्लि ऐसी भई स्याम सुनमुख सही, जींतियागढ़ अरि भांजि भारी ।।
दास जगजीवन मौज दे मांनियां, हरि करी किरपा जन लीया तारि ।।५।।

मनां बूझी रे बूझि छक जाइ भारी ॥
जम जुरा जोध असाध आगम दहै सुमर रघुनाथ या नाहि थारी ॥टेक॥
देह नै गेह मन भूलि भांतै पड्यौ , करमनै भरम कलि बड बासा ॥
साखि सुणि आगिली समझी सतगुर कहै, होइ न्रभै नर रालिपासा ॥१॥
कनकनै कांमणी भगति भांगौ बड़ो, संतजन होई क्यू हाथ साहै ॥
रामनै दोस नही नाकै टल्या करै , करतूति सोई पार पावै ॥२॥
रिधनै सिध सब झूठ गनि साधना , धरि बैराग धसि नांव मांही ॥
नाटकी चेटकी भरमि ज्ञान भेद बिन , होइ ल्यौ लीन संभालि सांई ॥३॥
दयानै दीनता देष साहिब सबै , धरणि नै मगन अंतै चंद सूरा ॥
तीन को त्याग करि दृष्टि चौथे धरि , दास दरसै जहाँ दरस नूरा ॥४॥
निरमला तेज सुख सेज सांई रमैं , झिलमिलै ज्यौति जहाँ आप देवा ॥
मावरी पूजि दिल दूजी दरसै नहीं , जहाँ दास जगजीवन करैं सेवा॥५॥

नर निरषि रै निरषि निज तत देवा ॥
लोभनैं मोंह सब झूठ कांनै करी , मननैं पवन धुनि धारि सेवा ॥टेक॥
देवनैं देहरा देषि मांही षड़ा , गुरु सबद दीपक लाइ पूजा ॥
कुवध ना पाट षोलि षालक दरस , भावनैं भोग हरि नांह दूजा ॥१॥
झालरी घंटा बेहद बाजा बजै , संष चक्र गदा पदम पहौप पाती ॥
ज्ञांन का परमल विज्ञान का कलस भरि, अरस नै परस जन जुगति जाती ॥२॥
काम निहकांम तीन गुण निरगुण होइ, ससि भान समि राषि दोइ ॥
सेवग स्वामी साच पष राचिया , जिम नीर मैं नीर भिन नांहि कोइ॥३॥
विवधि वसंत जहाँ आनन्द आरती , मंगलचार तहाँ सत भेला ॥
दास जगजीवन परमपद परसिया , जोति में जोति मिलि करे केला ॥४॥

मेरे मन जागि जन्म करि पांवन ।
जैसे दूध दुहे करि कढ़ावत , कढ़ावतै दे जावन ॥टेक॥
ईख तैं रस रस तैं गुड़ कीन्हौं , गुड़ तैं खांड कमाई ॥
कूंजा ढ़ाल भई जब मिसरी , मंहगै मोलि बिकाई ॥१॥

जैसे सीप समंद जल भीतरि, उर धरि रषै हीर ।।
बहौर्‌यूं जतन करै पुनि वाकौ, अंदर न भेदै नीर ।।२।।
ऐसें जानि भजौ बनवारी, तन मन प्रीति लगाइ ।।
जगजीवन जब जग तै न्यारा, बहौरिन उदर समाइ ।।३।।

हिंडोलनौ :—

अनंग हींडोलनौ हींडै हरि के दास ।
अधिक रूप उछाह आनंद, सबकी पुरवै आस ।।टेक।।
पांच तीन पचीस प्रकृति, काम क्रोध दोऊं नांहि ।।
मन मनसा नाद बिंद, मिलि रहै एकैं ठांइ ।।१।।
अधर खंभ अगाध अनभै, प्रेम प्रीति ल्यौ डोरि ।।
नवरंग नवल किसोर नागर, रहै हरि सूं जोरि ।।२।।
बमेक बादल बिवोग बिजुरा, स्वांति बूंद बरखाइ ।।
चाहै चात्रिग लवै सदई, घरहरै घन आइ ।।३।।
नांव नग जड़ाव झिलिमिलि, परम ज्यौति अपार ।।
अपार षेलै आतमरांम सूं मिलि, सांज्या सोडि सिंगार ।।४।।
इंगला पिंगुला गंगा जमुनां, सुरसती समभाइ ।।
त्रिबेनि तटि अकल तरवर, तहां रहे लुभाइ ।।५।।
जहां गगन मंझ जिलिमिलितारी, चतुर दशवैं द्वार ।।
अरस परस दोऊँ मिले मंगल, रमै प्रभु पति नारि ।।६।।
जहां रैनि द्यौसन तरंग तारा, अगम आनंद रूप ।।
नूर निरमल मुक्ति माधौ, जहां छांह न धूप ।।७।।
समाधि सागर भरयौ लालनि, मंझु मोती हीर ।।
हंस खेलैं चुगह चंचु बिन, महा अमीरस हीर ।।८।।
परम सुख परमांन परमल, सरस सुगंध सनेह ।।
अघटा घटा घटा घट घट, निराकार निज देह ।।९।।

जहां जोग ध्यांन निबांन नहचल, सब संतन बिसराम ॥
जगजीवन जन देव निरंजन, अमर अखंडित स्यांम ॥१०॥

अथ आरती—

आरती आरतिहरन तुम्हारी, निराकार की मैं बलिहारी ॥टेक॥
काया देवल देव अबिनासी, मन करि पूजा मनसा दासी ॥१॥
तन का तिलक पहोप ल्यौपाती, परम पुरुष जहां निज जन जाती ।२।
दीपक अनत अनत प्रकासा, बाजा अनंत अनंत खड़े दासा ॥३॥
अलख देव जा का सकल पसारा, कहै जगजीवन दास तुम्हारा ॥४॥
आरति रांम निरंजन भावै, तेतीसूं मिल मंगल गावै ॥टेक॥
चित करि थाल जोति जीव जागै, सबद अनाहद बाजा बागै ॥१॥
घंटानाद प्रेमरस बांनी, अबिगति की गति जाइ न जानी॥२॥
घटमैं अनंत बजावै बाजा, सतगुरू सेइ सरै सब काजा ॥३॥
जस उनमांन भाव उन आगै, जगजीवन जन चरनां लागै ॥४॥

साखी—

गाजे पठिये सुमरिये, लाजे उनमन ध्यान ॥
जगजीवन हरि सुमरिये, कबहू न बभिये आंन ॥१॥
आन बक्यां अंतर परै उपजै सोग संताप ॥
जगजीवन हरिभजन बिन सबद सबद मैं पापा ॥२॥

॥ इति ॥

३. स्वामी ध्यानदास जी

निरंजनी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक स्वामी हरिदासजी के पश्चात् उनकी परम्परा में, शिष्य-प्रशिष्यों तथा अनुयायी महात्माओं में अनेक रचना कर हुए हैं। महाराज हरिदासजी के शिष्यों या समकालीन साथियों में ही स्वामी ध्यानदासजी हैं। जन्म का व तिरोहित होने का निर्णीत समय तो ज्ञात नहीं हैं, वैसे इनका काल सोलहवीं का उतरार्ध व सत्तरहवीं शदी का पूर्वार्ध समझना चाहिये। ये भी द्वादश निरंजनी महन्तों में सम्मिलित हैं भाऊदासजी ने महाराज हरीदासजी के शिष्यों में नाथजी तथा ध्यानदासजी का अवधूत विशेषण से निर्देश किया है। प्यारेरामजी ने अपनी भक्तमाल में इनका सामोद स्थान माना है। राघोदासजी ने रामदासजी और ध्यानदासजो का म्हार में होना माना है तथा साषी-पद-कवित्त की इनकी रचना का उल्लेख किया है।

छप्पय—

ग्यांन भक्ति वैराग त्यागि जिन नीको कीन्हौ।
भिक्षा पाई मांग जागि मन ईश्वर दीन्हौ॥
वांणी निर्गुण कथी आंन की आस उठाई।
साषि कवित पद ग्रंथ मांहि परब्रह्म सगाई॥
अंजन छाडि निरंजनी राघौ ज्यौं की त्यौं कही।
रामदास अरु ध्यांन की म्हार मधि महिमा भई॥१॥

उक्त पद्य से सिद्ध होता है कि राघोदासजी के काल में इनकी रचना उपलब्ध थी और पर्याप्त संख्या में निर्मित थी। मैंने जहाँ तहाँ निरंजनी सम्प्रदाय के साहित्य का अन्वेषण किया तथा संग्रह किया उनमें इनकी रचना में दो लघु ग्रन्थ गुण-माया-संवाद, गुणादिबोध मिलते हैं। साषी तथा कवित्त व पद भी नहीं मिले हैं दो साषी दो पद सामने आये हैं। चान्द्रायण अवश्य सौ से ऊपर हैं। भाषा राजस्थानी मिश्रित है। जब तक विशेष रचना प्राप्त न हो, तब तक प्राप्त रचना तक ही इनका सम्बन्ध माना जायगा।

॥ अथ श्री ध्यानदासजी का गुण माया संवाद जोगग्रन्थ ॥

एक कनक अरु कांमनी, सब जग लीया तुड़ाय॥
साध गहै मत मछ कौ, चढै अपूठे बाइ॥१॥

संतो सहजि सुनि मन लागा,
उनमन चढ्या आकस सब परहरि, सबद गगन चढ़ि नागा ॥२॥
पांच पचीस उलटि घरि आवै, तब मन अनंत न डोलै ॥
मूरति मांहि अमूरति दरसै, नाना बांनी बोलै ॥३॥
देह उलटि दरीया भई, तब मन रह्या समाइ ॥
रोम रोम बाजा घुरै, असथिर बैठो आइ ॥४॥
सूरौ जुडै सकल के आगै, काइर सीस छिपावै ॥
सतगुरु मिलै मूल जब बांधै, परम सुनि तब पावै ॥५॥
कहीऐ कहां ब्रह्म की महिमां, तेजपुञ्ज अविनासी ॥
रूप अरूप कहां लगि बरनौ, नहीं गिरही बनवासी ॥६॥
अलष अभेद गहर गुनग्रामी, सरब भूत सुखदाई ॥
निराकार का गुन की महिमा, मो पै कही न जाई ॥७॥
ना वो तरुन विरध पणि नांही, ना वो गुरु न चेला ॥
सूक्ष्म रूप सकल तैं न्यारो, नहीं विरछ नहीं बेला ॥८॥
ना वो उदै अस्त पणि नांहीं, सहजि सुनि पणि नांहीं ॥
गुण तैं रहत निरंतरि बैठा, ध्यान धरै तब माही ॥९॥
अकल अभेव अतीत सकल संगि, गुन तैं रहत विराजै ॥
दरीया धरनि सेस फुनि आपै, यंद्र लोक ऊ गाजै ॥१०॥
आपै चन्द सूर फुनि आपै, सप्त दीप नवषण्डा ॥
राषै अधर इकीसूं ब्रह्मण्ड, ऐसो पुरष वलिवण्डा ॥११॥
जार्‌यौ जरै न काट्यो सूके, पेल्यौ न जाइ न आवै ॥
काया नांही काला पनि नांही, दो जग कौन षन्दावै ॥१२॥
वाजी सूँ वाजी रमैं, गुन सूं गुन भरमावै ॥
अवगति तहां और कछू नांहीं, माया मोडि नचावै ॥१३॥
कंकाली केडै ऊई, कोई रहै सनेही साध ॥
अगम ज्ञान ऊपरि कऊं, माया सूं संवाद ॥१४॥

जीवतडां जग मैं रऊं, मूंवा न छोडौं लार ॥
पारा रिषसा पीटिया, डरपूं नहीं लगार ॥१३॥
हूँ छौं चेड़ी पहल की, हरि के रहूँ हजूरि ॥
षटदरसन मोमें मैंल्या, साध करत है दूरि ॥१४॥
सिध मा स्वासाधिक चुणि लीया, राज सुंरा को भांड्यो ॥
मौन जटाधर फेरि नचाया, यसो अखाड़ौ मांड्यौ ॥१५॥
काइर पडे सूरवां भूझै, सिव साधक सब हारचा ॥१६॥
सीगी रिष नारद मुनि ज्ञानी, चतर चुणे चुणि मारचा ॥१७॥
मन में हंसी देखि कर बिगसी, जोर जुलम जुध कीयौ ॥
च्यारि जुग कौ जोगी हो तौ, मोडि मंछिद्र लीयौ ॥१८॥
हैहैकार भयौ वसुधा मैं, गोरष लागो गाढ़ौ ॥
अवधू सक्ति उडाई चटक्यां, मरद मरोडर काढ्यौ ॥१६॥
ब्रह्मा विष्णु तलै दे बैठी, रुद्र रोलि सुणि भागौ ॥
सूरा जुरे कंदरै काइर, मडीन देषै आगौ ॥२०॥
संकर जाय सुनि मैं बैठौ, बहुत रूप करि आई ॥
राष्यौ आय भगति की आगल, अवगति आंषि दिखाई ॥२१॥
सक्ति अहेडै नीसरै, धकौ सबल सूँ मागौ ॥
गोरष कहै चालती मारूं, कांनि गुरू तौ लागौ ॥२२॥
जुध मांही जोगी जुड़ै, काल कण्ठ चलि आयौ ॥
माया कहै मारती बोरू, गोरष हाथ उठायौ ॥२३॥
गुर कै वचन भरतरी भूझै, सक्ति सबद तैं मारी ॥
गंन गंध्रप जिनि सब संघारे, दलबल का अधिकारी ॥२४॥
हस्तामल हेलौ कीयौ, सुनिव बसष्टि वरियांम ॥
काचां नै कांमन करै, नहीं तहां लग कांम ॥२५॥

सकति सबायां ऊपरै , बैठी करै मलार ॥
दतकै मन दुवध्या नहीं , काढ़ूं करै हथियार ॥२६॥
जडभरथ धूड़ी मंड्या , मिल्या आतमा मांहि ॥
मोनी मैंवासै रहै , माया कै बसि नांहि ॥२७॥
कपल उतीरे उतरयौ , कित्रम निपनि लेखै जुरयौ ॥
सूर बजायौ सार , रामचन्द्र सा ऊधरया छा दसवां औतार ॥२८॥
सुखदेव जुडै सकल कै आगै , रांकै रीठि संबाही ॥
नामदेव नीसान बजावै , साधू मिल्या सहाई ॥२९॥
नींका झूँझयौ नांनिकौ , सतगुर सबद सहारि ॥
निगम मोमि कान्हौ जुडै , अंगध कीयौ हथियार ॥३०॥
हवा जुड़ै हेला करै , जारि चिकौ वांजीद ॥
मुसलमान महमंद लडै , पीरां मांहि फरीद ॥३१॥
नभ सूं लडै बहावदी , जोवाकौ उनमांन ॥
गुरगमि गोपीचन्द लड़ै , गूदड़ियौ सुलतान ॥३२॥
रामानन्द कारौ कीयौ , कहां जावांला बीर ॥
अनीं मिल्यां भाजै नही , षत्री मंड्यौ कबीर ॥३३॥
दसौ दिसा जोधा जुड़ै , कीया ब्रह्म में बास ॥
भीडि पड्यां भाजै नही , रिण रूतौ रैदास ॥३४॥
पीषै मांही पलटि कर , डेरा दीया अगाऊ आइ ॥
भागां पणि छाडै नहीं , षत्रीपनौ लजाइ ॥३५॥
सूरवीर सोंझो जुड़ै , सबद लीयां हथियार ॥
मालां कै डर वाहुर्यौ , मरद दिखाइ मार ॥३६॥
हरिजन झूझै हरष सूं , काइर हूवा उदास ॥
मौंह मोडि चालै नहीं , समन मोहिल हरदास ॥३७॥
ससतर सक्ति संबाहिया , खेतन जाऊं छोडि ॥
माया आवैं मारती , केता लीया मरोड़ि ॥३८॥

मलका वाहै भरम का, दुरमति लीयां कमांण ॥
मागां पणि छाडै नहीं, भरि भरि मारै बाण ॥३६॥
जन कै पाषर प्रेम की, ग्यान तनौं गज गाह ॥
षेत मांहि षत्री मंडया, सक्ति उल घरि जाह ॥४०॥
नौ जोगैश्वर दाहिणैं, बांवै महादेव मस्तांन ॥
सक्ति सिचांनां ज्यूं उडी, पछै न पावै जांन ॥४१॥
कुत्ती सूं कांई डरै, बैठौ ध्यान धनी सूं लाइ ॥
फाड्या कांनां बाघनी, फिसल पड्या नैं खाइ ॥४२॥
चहुँ दिसा साधू षड़ा, सब सन्तन को साथ ॥
परतन छोड़ा जीवंती, जौरती उठावै हाथ ॥४३॥
ऊंचा चढ़ि असमान कूं, गगन बइठा जाइ ॥
साधौं का दीदार की, महमा कही न जाइ ॥४४॥
अरध कंवल माठी चिगै, उरधै बसैक लाल ॥
ऊर्म धूर्म सुषमना, पाया निगम निराल ॥४५॥
सुनि मांहि बाजा घुरै, नाना सबद रसाल ॥
ध्यानदास तब पाइये, सतगुर होइ कृपाल ॥४६॥
ध्यानदास सतगुर कीया, हमसूं वहौ उपगार ॥
भौसागर सूं काढि करि, कीया पैली पार ॥४७॥

॥ इति गुण-माया-संवाद जोगग्रन्थ संम्पूर्ण ॥

॥ अथ गुणादि बोधग्रन्थ ॥

चन्द सूर तहां कछू नहीं, नहीं धरनि आकाश
पवन नहीं पाणी नहीं, नहीं तहां भोग विलास ॥१॥
तेज नहीं तारा नहीं, नहीं तहां रूप अरूप ॥
सबद नहीं सुरता नहीं, नहीं छाया नहीं धूप ॥२॥

विष्णु नहीं ब्रह्मा नहीं, नहीं संकर नहीं साध ॥
सहज सरूपी राम था, अबगति अलह अगाध ॥३॥
षडग नहीं षत्री नहीं, नहीं धनक वही बांन ॥
उतपति परलै कछू नहीं, नहीं आवन नहीं जान ॥४॥
भिसत नहीं दोजिग नहीं, करम धरम नहीं कोइ ॥
ना कोई जनमै ना मरै, बिनसै जै कछू होइ ॥५॥
सुनि सरूपी रमि रहया, नहीं दूजा असथूल ॥
पेड़ नहीं साषा नहीं, नहीं डाल नहीं मूल ॥६॥
सुनि सरुपी सबद सूं, मूरति उपजी एक ॥
मूरति सूं माया हुई, ताका मता अनेक ॥७॥
ऐक सबद माया कहै, तूं मारे भरतार ॥
पिता साषि पालूं नहीं, अबला कौ औतार ॥८॥
आदिपुरस सांसै पड्यौ, लागी कौन बलाइ ॥
गुन करतां औगुन हुवा, वैरी कीयौ उपाइ ॥९॥
बाप बीर छोडै नहीं, पूत पूत करि षाइ ॥
मन जीतै मनसा हडै, बांधि नरकि ले जाइ ॥१०॥
पिता साषि जै पाल जै, सुनि माया मैमन्त ॥
तसकर राखै दोइ घर, आगै और अनंत ॥११॥
रंग फेरि रांमत करी, ब्रह्मा विष्णु महेस ॥
बिषै बान लागै नहीं, जै जै तुम आदेस ॥१२॥
पलौ मांहि माया कहै, ब्रह्मा बूझूं तोहि ॥
परलै करसूं पलक में, कै घरि बासौ मोहि ॥१३॥
बासै लागी ब्यसन कै, कोमल कथा पिछानि ॥
मनी कीयां मारू परी, छोड़ौ नहीं निदान ॥१४॥
तांमस करि ताता हुवा, यौ अनरथ क्यूं होइ ॥
पहली म्हे माता कही, अब घरि वासां तोहि ॥१५॥

तब पाव मांडि ऊभी रही, भस्म कीया पल मांहि ॥
एक सबद माया कहै, अकलि बिना यौं जांहि ॥१६॥
सुनि हाथ लागै नहीं, हमसूं पूगी आइ ॥
करम कसाई कौ लीयौ, को पुत्र विनांसै माइ ॥१८॥
सुनि संकर साची कहूँ, ग्यान मांहि गम देष ॥
तोहि मारि माया कहै, सेऊं चरन अलेख ॥१८॥
स्वाति सबद संकर कहै, और रूप धरि आव ॥
इतनौ षडग उठाइजे, तितनौ घाले घाव ॥१६॥
दोन्यौ बीर जिवांइदे, कै फिरि मारौ मोहि ॥
तीन्यूं व्है बांधा तनी, ज्यूं घर वासां तोहि ॥२०॥
तब अमी सीचि ऊंभी रही, सती सूर समि माइ ॥
ऐक सबद ऐसौ कह्यौ, मुरदा लिया जिवाइ ॥२१॥
सुणौ बीर ब्रह्मा कहै, जीवांला कै काल ॥
देह धरी हरि भजन कूं, उलटा पड्या जंजाल ॥२२॥
अकलि सोधि संकर कहै, घर मैं ऊठी लाइ ॥
फलसा ही सूं परजली, सौ कित बांची जाइ ॥२३॥
घरवासी घरनी करी, मनसा कौ आतार ॥
बस्ती मेल्हिर बन वसै, तऊ न छाडै लार ॥२४॥
ग्यांन समझि संकर कहै, नीच करम कछू नांहि ॥
आपा सौंपै अलष कूं, सो सदा जीवै जग मांहि ॥२५॥
सदा जीवै जुगि जुगि अमर, सूतर ब्रह्म विचार ॥
ज्यूं पारस तांवै छिवै, कंचन होत न बार ॥२६॥
दिनां बडौ कीजै कहां, अकलि बड़ी तो मांहि ॥
जोग साध सेवा करौ, कांठौ छाडौ नांहि ॥२७॥
अकलि बडी आसण अडिग, ग्यांन लीन औधूत ॥
षरौ जोग संकर लियौ, वै माया का पूत ॥२८॥

ब्रह्मा घडै कुलाल ज्यूं, बिष्न धरै औतार ॥
जोग साध ऊभा रह्या, सो देखै सब छार ॥२६॥
आडी तिरछी सांम्ही, सक्ति तनी तरवार ॥
षड दरसन संसार सब, कतल कीया इन मारि ॥३०॥
सावत्री ब्रह्मा बरी, लिछमी विसन घरांह ॥
पारवती संकर कनै, नारी और नरांह ॥३१॥
माता सूं नारी भई, पूत भया भरतार ॥
ऐसा अचिरजि देखि करि, भागे मागणहार ॥३२॥
जे मागा ते ऊबरया, मारया खलक फिटाइ ॥
जाकै आदि अंकूर था, ताकै निकटि न जाइ ॥३३॥
अगम कथा ऐता हुवा, दत गोरष सुषदेव ॥
हनूमान लछमन जती, पैंडा अगम अछेव ॥३४॥
मूल मछन्द्र ऊपनो, सकल जोग ता मांहि ॥
ताकै सिष गोरष जिसा, माया के बसि नांहि ॥३५
जाकै सिष गोरख जिसा, सो गिरही क्यूं होइ ॥
महामाया सूं षिम षरी, चत्र न समझै कोइ ॥३६॥
केता मारि डिगाईया, केता डिगता जांहि ॥
एकै सीत टंटोलिजे, हाथ न दीजै मांहि ॥३७॥
कोई नांइ लागि न्यारा रहे, सुख दुष लखै न कोइ ॥
अलख भजै आसा तजै, सो कछू निरभै होइ ॥३८॥
गोपि कथा नारद सुनि, महादेव को जाप ॥
नौ जोगेस्वर जनक कै, संकर कौ परताप ॥३६॥
राजा कोडि निनांनवै, नरवै साधै जोग ॥
सिध चौरासी नाथ नौ, तिनका मिल्या संजोग ॥४०॥
सांकौ बांकौ नामदेव, रामानन्द रैदास ॥
करड़ी कथा कबीर की, अगम निजरि आकास ॥४१॥

परचा सूं पीपौ मिल्यौ, सोंझौ काढै सीव ॥
पांचौ दे बैठा तलै, तब मुख देष्या पीव ॥४२॥
किती कथा काढैं रही, अगिणत साध अनेक ॥
सारगराही सकल कौ, वंदीवांन दिस देषि ॥४३॥
करनां सुनि करनांमई, जन की करौ सहाइ ॥
आदिनाथ बिरदावली, 'ध्यानदास' बलि जाइ ॥४४॥
आदि अंति मधि संत सब, अगिणत गिन्या न जांहि ॥
ध्यानदास साहिब सुमिर, सब आये उस मांहि ॥४४॥

।। अथ श्री स्वामी ध्यानदासजी का चान्द्रायण ॥

राम राम रमि राम निरंजन गाइरे ।
यूं तूं जपिए करतार, पछैं तन जाय रै ॥
हरि हरि सुमरि अयांन कहा नर सोय है ।
हरि हां ध्यानदास बिण ऐक कोण का कोय है ॥ १ ॥
नारायण गोब्यंद गोपालस गाईये ।
तौ दीनानाथ दयाल निरंजन पाईये ॥
राम रहीम करीम अलाह उरि आंनि रै ।
हरि हां ब्रह्मा विष्णु महेस जपै सोई जानि रै ॥ २ ॥
गंगा जमुना आंणि मिली दरियाव कूँ ।
मन मनसा का प्रेम मिलेगा भाव कूँ ॥
भाव तहां भगवन्त सुरति रस मांनई ।
हरि हां औ तीरथ जन ध्यान जगत कहां जांनई ॥ ३ ॥
मसि कागद नहीं दोतिन लेखणि नावड़ै ।
जीव का कहां तुडांण उलटि ओंहटा पड़ै ॥
सुरगुण बांजी जांणि निपट निरगुण घणी ।

हरि हां ध्यानदास यौह ग्यांन सैन गूंगा तणी ॥ ४ ॥
गूंगा केरी सैंन न समझै कोय रै ।
पुसतग बेद पुरांण पढ्यां क्या होय रै ॥
भरम जड़ी जीव छांडि न गावै रांम रै ।
हरि हां ध्यानदास रंगराग न चावै कांम रै ॥ ५ ॥
नट नाटिक संसार कहा रंग रोस रै ।
थक्यो बटाऊ बीचि नग्र नौ कोस रै ॥
घोस थकां चलि पंथि पछै व्है सांझ रै ।
हरि हां ध्यानदास सुतसालन जांणै बांझ रै ॥ ६ ॥
मनिख जनम की मौज, भला यौह पोत है ।
कालद मांनक देत फेर नहीं जोत है ॥
ध्यानदास भजि राम अंति सिर मौत है ।
हरि हां यौह सरवर यौह हंस बिछेहा होत है ॥ ७ ॥
केसौ रमता राम भजौ भगवंत रै ।
लागि रहे बहु संतस कोटि अनंत रै ॥
बेद पुराण कुराण न पहुंता कोय रै ।
हरि हां जन कीटी तैं भृंग रहै तब होय रै ॥ ८ ॥
सुमिरन सास उसास करै जै कोय रै ।
मनिख न बिसरै नांव बड़ा है सोय रै ॥
बिद्या बेद पुराण पढै सो बावरौ ।
हरि हां सब फोकट जन ध्यान भरोसौ राव रौ ॥ ९ ॥
राम सुमरि दिन राति बात सुनि मोर रै ॥
राव रंक सुलतान गऐ करि जोर रै ।
पैकंबर अर पीर गिनौं कहा और रै ॥
हरि हां ध्यान कहे यौह ग्यान चलै कहा तोर रै ॥१०॥

नारायन को नांव निरंतरि गाय रै ।।
लख चौरासी जूंनि परै नहीं आय रै ।।
ध्यानदास बिसवास राखि मन मांहि रै ।।
हरि हां ऐ लाखो का सास अबिरथा जांहि रै ।।११।।
सारू सार बमेक मनी मन त्याग है ।।
जाकै अंतरि होय यहि वैराग है ।।
ध्यान कहै जुग मांहि कौण बड़ तास की ।।
हरि हां बिसरन जाय साध अलष की आसकी ।।१२।।
मन माया में लीन भगति कहां होय है ।।
काल गहै कर केस तबै नर रोय है ।।
झपटि सिचांणा कालि पकड़ि ले जायगा ।।
हरि हां ध्यानदास वह मूंढ तबै पछितायगा ।।१३।।
जब लग बिषै विकार कहा मन सुधरै ।।
अजा कंठ अस पान नहीं टुक दूधरै ।।
महकी सुत ज्यूं मार दमूं दिस खाँयगे ।।
हरि हां ध्यानदास जमदूत पकड़ि ले जाँहिगे ।।१४।।
ऐको ऐको ऐक अनेकर ऐक रै ।।
जाणै जाणणहार बरण नहीं भेष रै ।।
साखा पत्र न मूल मूल नहीं डाल रै ।।
हरि हां ब्रह्म असौ बिण देह करै प्रितपाल रै ।।१५।।
माया मेल्हिन बीर बड़ा उरि साल है ।।
जो षरच्या हरि हेत किता ही माल है ।।
धन संच्या जन ध्यान कहौ कोई खात है ।।
हरि हां सिरलीयां कहूँन चल्या ही जात है ।।१६।।
माया मुकती राखि बंधी दुष पाय है ।।
हरि कूँ अरपि गंवार देह पणि जाय है ।।

ध्यान कहै बरीयांम बस्या बेरांन रे ॥
हरि हां मृति करै उपदेस सुनौह किंन कानि रे ॥१७॥
परमेस्वर के साध संवां कलि कौन है ॥
करि सारी कौ त्याग मनौ बन भौंन है ॥
कबहू विसरन जाय धनी कौ नांव रे ॥
हरि हां ऐक जीव की कहा तिरै सब गांवरे ॥१८॥
साषी ध्रू प्रहलाद धनौ रैदास रे ॥
जे लागा हरिनांव गिनांऊं तास रे ॥
अनंत कोटि जन ध्यान बंदा भगवंत का ॥
हरि हां उन धरणी सिरमौर चरण जहां संत का ॥१९॥
काहे कूं बेकाम कीया गढ़ मालिया ॥
जो रहता इन मांहि स जंगल जालिया ॥
जीव संचत है आथि और ही खायगा ॥
हरि हां यौह पंथी जन ध्यान बिदा ह्वै जायगा ॥२०॥
बसती नगरी छांडि, ऊंदानि बसाहुगे ॥
धणी न कीया यादि, अंति पछिताहुगे ॥
बसुधा कपारि काल, खलक कूं खात है।
हरि हां ध्यानदास भजि राम, भला छक जात है ॥२१॥
पातिसाह सुलितानक, रांना राव रे ॥
भजन बिहूँणा बादि, सवै धंध बावरै ॥
दिन दस डौर डंफाण, अंति चलि जाहिगे ॥
हरि हां ध्यान कमाई खोट, पछै पछितांहिगे ॥२२॥
मठ देवल गढ़ कोट, छत्र सिर धारने ॥
गैंवर किलकै बारि, पिसण चढि मारने ॥
गरद भऐ ते जोध, नहीं सहनांण रै ॥
हरि हां ध्यानदास जम जोर, चलै क्या पाण रै ॥२३॥

हसम घरट घमसांण, चढ्या चढ़ि छूटना ॥
मैंवामा मैं मन, अड़ि गढ़ लूटना ॥
दाल धजा फहराइ, ये करि तेगला ॥
हरि हाँ ध्यानदास भजि राम, सकल मैं से भला ॥२४॥

सूंधौ तेल फुलेल, नास अंगि लावते ॥
हरम सहेली साथि, सेज सुष पावते ॥
राग रंग सुर ग्यान, सकल रस भोग रै ॥
हरि हाँ ध्यानदास करि सोच, कहाँ पै लोग रै ॥२५॥

चोवा चंदन बास, अंगि लपटावते ॥
हरम महैलां साथि, कलांवत गावते ॥
ध्यानदास वै लोग, मुसांणौं मांहि वे ॥
हरि हाँ हैडो मैंडौ छांड़ि, अकेले जाहि वे ॥२६॥

सोला सै सिणगार, रहैं डिग भामनी ॥
लीयां पीयालां हाथि, दसौं दिस कांमनी ॥
चीधडिया लष कोड़ि, षड़ा दरबार मैं ॥
हरि हाँ ध्यानदास विणि राम, गये मिलि छार मैं ॥२७॥

ऊँचा पलौटे पांव, बहौत रुचि मानते ॥
मो सर भर नहि कोइ, महा यूं जानते ॥
रथ हसती दल साजि, पड़ै रिन मांहि रै ॥
हरि हाँ ध्यानदास विण रामस, षाली जांहि रै ॥२८॥

पद—

सषी री वधावणो आज म्हानैं गुरु मिलिया गोपाल ॥
अकल नेतर षोल दीन्हा, मैटि माया जाल ॥टेक॥

समता त सूकडी अगर आरति, स्वांत सुरति विसाल ॥
कँवल दल लपटाइ राषूं, आइए प्रतिपाल ॥१॥

चित चंदन घसि तिलक काढौं, भाव भगति गुलाल ।।
अर्थ अबीर उड़ परत सब परि, पेम उर धर माल ।।२।।
प्रीति पहुप विछाइ दाह दिसि, रमों दीनदयाल ।।
तेज नूर अरु तूर वाजै, सवद घेरा ताल ।।३।।
दीनता करि सदा राषूँ, जगतगुर मेरे लाल ।।
जन ध्यानदास उदास तातें, मिल विछुरन उर साल ।।४।।
सषी री क्यूं मन लागै हो,
आडा डूँगर वीच वनी, यौ जीवन जागै हो ।।टेक।।
दसों दसा भीडा घना, वटपाडा लूटै हो ।।
सतगुर सीषां संचरै, तेई जन छूटै हो ।।१।।
काचर वोरां लागिया, कोई पंथ न काटे हो ।।
सूरवीर सांचै मतै, पहुँचे सिर साटे हो ।।२।।
जोगी जंगम तपसी, कोई वचरान पावे हो ।।
दूती माया मोहनी, ताहि दया न आवे हो ।।३।।
स्रषिम मारग और है, साधूं सौ पाया हौ ।।
सौनों जाय उछालता, गुरु भेद बताया हो ।।४।।
ध्यान कहै सेवा सही, मनसा घर आने हो ।।
भीतर भेद अगाध का, मन भूल पिछाने हो ।।५।।

।। इति ।।

---

४. महात्मा मोहनदासजी तथा उनकी रचना

महात्मा हरिदासजी की तरह वांणी रचयिताओं में महात्मा मोहनदासजी भी आते हैं। इनका समय सोलहवीं का उत्तरार्ध व सतरहवीं सदी का प्रथम पाद कहा जा सकता है। राघोदासजी व हरिरामदासजी के मत में मोहनदासजी द्वादश निरंजनी महन्तों में आते हैं। भाऊदासजी के विचार से ये महाराज हरिदासजी के प्रमुख शिष्यों में आते हैं। निरजनी सम्प्रदाय के भक्तमालकार प्यारेरामजी के मत ये देवपुर में विशेष रहने वाले थे तथा ये भी इनका बारह महन्तों में उल्लेख करते हैं। मोहनदासजी की परम्परा अब भी विद्यमान है। इनका स्थान डीडवाणे में है और वह पर्याप्त प्राचीन है। इसी थांभे के महात्मा बालकिसनजी (लोटनजी) जो मोहनदासजी की पांचवीं पोढी में थे जिनके उपनाम के कारण ही अब तक यह स्थान लोटनजी के बाडे के नाम से प्रसिद्ध है। लोटनजी का स्वर्गारोहण सम्वत् अठारैसो चौदह में हुवा उनके शिष्य जयरामदासी ने उनका स्मारक छतरी व उसमें चरण-प्रतिष्ठा सम्वत् अठारह सौ पैंसठ में की। इसीसे सिद्ध होता है कि इस थांभे की परम्परा का सम्बन्ध डीडवाणे में ही चल रहा है। देवपुर का पता नहीं है कि यह कौन सा स्थान था। भाटकी बही में मोहनदासजी के स्वर्गारोहण का काल सम्वत् सोलह सौ नौ लिखा हे। इसको प्रामाणिक माना जाय या नहीं तो भी मोहनदासजी का समय उपर्युक्त होने में संशय नहीं है।

मोहनदासजी की रचना मुझे मेरे भ्रमण तथा प्रमुख स्थानों के संग्रह में कहीं नही मिली। राजस्थान में जैन साहित्य के प्रमुख संग्राहक तथा प्राचीन साहित्य के प्रेमी अगरचन्दजी नाहटे के अभयग्रान्थागार में एक गोटका इनकी रचना का मिला। इस गुटके का लेखनकाल सम्वत् १८८२ माह सुदी ८ है। लेखक रामजोदास स्थान कालख है। इस गुटके में इनकी वाणी का जो संग्रह है उसमें पांचों अंगों की करीब एक हजार साषियाँ हैं अकेले विरह के अंग की चार सौ तेरह साषियाँ हैं। चार अंगों की साठ चन्द्रायण है। आठ रेषते पांच सवद पांच आरती है। यह रचना अपूर्ण प्रतीत होती है। इनकी और कितनी रचना है यह अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। इसी गुटके में इनके शिष्य रामजीदासजी की भी कुछ रचना है। रचना कैसी है-यह रचना पढ़कर पाठक स्वयं निर्णय कर लें।

॥ महात्मा मोहनदासजी की रचना का कुछ अंश ॥

वन्दना छप्पय

नमो निरंजन राम, नमो देवन के देवा।
निराकार निरलेप, नमो तुम अलष अभेवा॥

नमो सर्व व्यापीक, थूल सूक्ष्म सब मांही।
नमो जगत आधार, नमो जगदीश गुँसाही॥
सचराचर भरपूर हो, घाट बाध नहीं कोय।
मोहनदास वन्दन करै, सत आनन्द घन होय॥१॥

साषी-- दौड थकी संसा भगा, दूर हुई सब आस॥
अब हरि में हरिदासबी, निसदिन करै निवास॥२॥
मोहन वो घट देह को, जांणै हरि का दास॥
जिन पै गुरु किरपा करै, ताको घर में वास॥३॥
मोहन का महबूब तो, है सब का सिरमौर॥
सबी उसी के आसरे, उस पै नांही और॥४॥
मोहन के महबूब का, कोई न पावै पार॥
ब्रह्मा विष्णु महेशबी, थकै विचारि विचारि॥५॥
पूरे से परचा भया, दुष सुष मेल्या दूर॥
मोहन सदा आनन्द में, झिलमिल झिलमिल नूर॥६॥
पूरे से परचा भया, पाई पूरण मौज॥
अविनासी से मिल रह्या, गेरचो सिर से बोझ॥७॥
पूरे से परचा भया, पाया पद निरवांण॥
दौड़ थकी संसा भगा, मिट गई खैंचातांण॥८॥

रेषता-- गाफिल होय मत हरि ध्याय नर तन सुफल करिये पाय।
हो जा गरक सब छिटकाय जम तोय निकट नहिं आवे॥
मोहन है यही सार आपा मेटि मन को मार।
आपा मैटि हरि उर धार क्यूं ना परमपद पावे॥९॥

चान्द्रायण-हिरदै हरि का भाव आन नहिं चावबी।
मिथ्या दीषै सरब रंक ज्यूं राव बी॥
सब जग सूं विरकत कछू न सुहाय है।
हरि हां--मोहन मन हरि तजि कहीं नहिं जाय है॥१०॥

सतगुरु दीनदयाल परम किरपाल हैं।
निरधन को धनवंत करैं ततकाल हैं॥
जगत मांहि गुरु और जहाँ लग स्वारथी।
हरि हाँ—मोहन एसा नांहि कोई परमारथी॥११॥

हरि हरि निसदिन करै न भ्यासै आनवी।
ज्यूं चकोर विन चंद कँवल बिन भानवी॥
चात्रक ज्यूं विन स्वाति कंथ विन नारि है।
हरि हाँ—मोहन जैसे बाल मातु विन ख्वारि है॥१२॥

हरी मिलन की चिंत कछू न सुहाय है।
विरह अगनि दिन रैन धुंधवि मांहि है॥
धुँवा पिरगट नांहि लगी सोई जांणि है।
हरि हाँ—मोहन कोई नांहि और पहिचाणि है॥१३॥

हिरदै हरि का चाव आन नहि चाववी।
मिथ्या दीषै सरव रंक ज्यूं राववी॥
सब जग सूं हो विरक्त कछू न सुहाय है।
हरि हाँ—मोहन मन हरि छाडि कहीं नहिं जाय हैं॥१४॥

सन्तन को अधिकार जगत सें तरक है।
रांम मिलन की प्यास प्रेम में गरक है॥
निसदिन षोजत फिरै कोई एसा मिलै।
मोहन दे परसाद कँवल मेरा षिलै॥१५॥

पद-होरी—

षेलत फाग प्राणपति पिव सूं, सोई सुहागणि नारी हो॥
अन्तर्यामी सूं होय हिलमिल, आपो देय विसारी हो॥टेक॥
अपणे पिव संग फाग रच्यो है, सुरति सदा मतवारी हो॥
पाँच पचीस सषी संग लै के, रंग रस कीन्हो भारी हो॥१॥

वाजा अनन्त वजै नाना विधि, फाग वण्यो अतिभारी हो ॥
प्रभु पति सूं सबही जाय लपटी, संग सषी मति टारी हो ॥२॥

भर भर रंग डारे प्रभु पति में, रस छकि भई मतवारी हो ॥
सो सुष कह्यौ जाय नहिं मुष सें, अगम अगाध अपारी हो ॥३॥

प्रभु पति मिल आनंद भयो भारी, जनम मरन दुष टारी हो ॥
"मोहनदास" सतगुरु कृपा से, फाग रच्यो सुषकारी हो ॥४॥

परम गुरु खेलो होरी, मैं तो भीज गई सारी ॥
सोधी रही नहीं मोरे तन की, लोकलाज खोई सारी ॥टेक॥

प्रेम को रंग लगन पिचकारी, मेरे भक्तां भर मारी ॥
ग्यांन गुलाल मल्या मुष मेरे, दूर हुई अंधियारी ॥१॥

भर्म कर्म के गढ कों तोड्या, सराप सकल निवारी ॥
मेवा मोच्छ फाग मोहे दीया, जम की त्रास निवारी ॥२॥

मोहनदास तासु बलहारी, जिन सव विपति निवारी ॥३॥

आरती—

निरमल आरती देव निरंजन, तुम ही में उपजै सब भंजन ॥टेक॥

तुम ही सब के करता हरता, तुम ही मैं सब फिरै विचरता ॥
तुम ही में सब नाचै गावै, तेरी भणक सव तोहि सुनावे ॥१॥

तुम में तीरथ तुम ही जाती, तुमही देव और तुम ही पाती ॥
तुम ही पिंड ब्रह्मंडा अधारा, तेरा ही यो सकल पसारा ॥२॥

तेरीं आरती तूँ ही गावै, तेरी भक्ति तौ कूँ तूँ ध्यावै ॥
तूँ ही जगजीवन जगत उजारो, मोहनदास को सिरजनहारौ ॥३॥

॥ इति ॥

॥ रामजीदासजी की रचना ॥

सवैया—

तुम दयाल मैं दास हूँगा स्वामी दीन ही जान गरीब निवाजै ।
वीषरी सुरति समेट करो घर धो हे दीदार सरै सब काजै ॥
सतगुरु दयाल किये हैं निहालज और उपाधि सवै भ्रम भाजै ।
रामजीदास कहै कर जोरि जू मोहन स्वामीजी सीस विराजै ॥१॥

मनहर—

अवधि अलप जामैं जीव सोच पोच करै
जानें कछु करूँ अब कहा कहा कीजिए ॥
पार न पुरान को कुरान हू को अन्त नांहि
वांणी हू बहुत कहाँ कहाँ चित दीजिए ॥
काव्यकी कला अनेक छन्द के प्रबन्ध अति
रांग हू रसीले रस कहाँ लग पीजिए ॥
वीसों वाता एक वात "मोहन" बताये जात ॥
सबही सुधार जो पै रांम नांम लीजिए ॥२॥

सवैया—सतगुरु सहायक ब्रह्म मिलायक नायक है सब भक्तन केरो ।
है सुषसागर भक्ति उजागर ग्यांन को आगर भरम निवेरो ॥
बाहर भीतर एक सदा रस वार न पार न अंत न नेरो ।
रामजीदास कहै कर जोरि जू मोहन स्वामी को हूँ नित चेरो ॥३॥
मोहनलाल लष्यो सो निहाल कटे जमजाल सो लाल ही पइये ।
पूरण ग्यांन भक्ति के मांन मिले ब्रह्म जांनि सो सहज समइये ॥
आवन जाय रह्यौ सब छाय सदा एक भाय से आनन्द थइये ।
रामजीदास प्रकाश करे गुरु मोहन शरण अभै पद लइये ॥४॥

पद— मोहन रांम सहाय, सदा गुरु मोहनराम सहाय ॥टेक॥
सब सुषदाता दुष के भंजन, इक रस रहे समाय ॥
सेवग के स्वामी अन्तर्जामी, अपणो विडद निभाय ॥१॥

शरण गहे की लाज तुम्ही को, अबकै लेहु बचाय ॥
स्वार्थ जगत में साष देष्यौ, ता मैं रहे लुभाय ॥२॥
संत भरम कैं फंद काटैं, वासना मिट जाय ॥
भूल को सब भरम उपज्यो, मान ले वह जाय ॥३॥
रामजीदास गुरु मोहन मिलिया, मेर मिटी सुष पाय ॥४॥

॥ इति ॥

५. महात्मा षेमदासजी बडे

महाराज हरिदासजी के बावन शिष्यों में दो षेमदासजी थे। इनमें बड़े षेमदासजी के नाम के साथ हजूरी विशेषण का प्रयोग किया जाता था। दूसरे षेमदासजी छोटे या खाटरे विशेषण के साथ सम्बोधित होते थे। जिनकी कुछ रचनाएँ प्राप्त हैं, ये बडे या हजूरी षेमदासजो है।

राघोदासजी की भक्तमाल के अनुसार षेमदासजी द्वादश निरंजनी महन्तों में थे। उन का प्रमुख क्षेत्र सिवाड माना गया था। प्यारेरामजी नें भी उनका यही स्थान माना है। प्राणिमात्र से प्रेम, निर्गुण उपासना, परमत्याग, भिक्षा मे निर्वाह ये उनकी विशेषतायें थीं। षेमदासजी अधिक समय महाराज हरिदासजी के सान्निध्य में रहे थे। इसीसे उनकी हजूरी संज्ञा पडी थी। डीडवाणे में जहाँ महाराज हरिदासजी का स्मारक स्थान समाधि है, उसी के संमुख षेमदासजी का भी आवासस्थान बना हुआ है जिसको षेमदासजी का झरोखा कहते हैं। स्थान काफी प्राचीन है।

षेमदासजी द्वादश निरंजनी महन्तों में कथन किये गये हैं पर वे महाराज हरिदासजी के शिष्य थे यह बात स्वयं उनने अपने लघु ग्रन्थ "विरागलछी" की समाप्ति पर "गुरु मेरे हरिदास, जिन किया बुधिप्रकाश" इस उक्ति से व्यक्त की है। निरंजनी सम्प्रदाय में सबसे अधिक साधुओं की संख्या उन्हीं की परम्परा में रही है। वर्त्तमान में भी इन्हीं की परम्परा के साधु सबसे अधिक हैं। षेमजी की छठी पीढी में महाराज अमरपुरुषजी हुए थे उनके शिष्य-प्रशिष्यों का प्रसार बहुत अधिक रहा। डीडवाणे का विरक्तवाडा उन्ही की परम्परा का है। सेवजी की बगीची हरनामदासजी का वाडा भी उन्हीं की परम्परा का है। वैसे षेमजी की परम्परा का निरूपण भूमिका में है। अमरपुरुषजी महाराज अधिक समय को लिये विराजे थे। उनका स्वर्गारोहण भी वहीं हुआ। उनके स्मारकरूप समाधि-स्थान भी

कोलिये में बना हुआ है। अमरपुरुषजी महाराज के शिष्य नारायणदासजी वाडे के महन्त के रूप में आसीन हुए। कोलिये में उनके शिष्य कुशालदासजी रहे। उनकी परम्परा इस तरह है—१. कुशालदासजी २. चेतनदासजी ३. भीषमदासजी ४. सूरदासजी ५. रामकिसनजी ६. भोलादासजी वर्त्तमान में।

षेमजी महाराज की रचना यह अत्यल्प प्राप्त है। १ चितावणी २ विराग लछी एक पद। और रचना है या नही रचना जिस पुस्तक से उद्धृत की है उसका लेखन काल सम्वत् १८२३ है। भाट की बही के अनुसार इनका स्वार्गारोहण सम्वत् १६१२ जेठ सुदी ६ है।

॥ षेमदासजी की रचना ॥

चितावणी—१

दोहा—

काहू पूरब पुन्य करि, तैं पाई नर देह ॥
कै महरवांन हो मौजदी, जन्म सुफल कर लेह ॥१॥
दस महीनां गर्भवास में, तहां रह्यौ मुष मूंदि ॥
जहां तात मात की गम नहीं, वहां राषनहारा कौन ॥२॥
नष चष सौंज बनाय करि, प्रभु आन्यो मुक्ती ठौर ॥
निपजी में साझी घणा, धनी भए तब और ॥३॥
सावधान होय चुप रहे, चितयौ है चहुँ ओर ॥
वाट वीचि ही ले गए, बसत साह की चोर ॥४॥
पंचकै तन काहू रच्यो, बच्यो अगन मंझार ॥
जब इनमें कहू कौन था, जो अब कहै हमार ॥५॥

चौपाई—

माता कहे सुत मेरोक, राषूँ जीवतैं नेरौक ॥
ना रहूँ नेकहूँ न्यारीक, पुत्र कै वदन पर वारीक ॥
पिता कूँ बहुत ही प्यारोक, करे नहिं द्रष्टि तैं न्यारोक ॥
हरषै देष करि नैंनाक, मेरो अंग है अैनांक ॥

बहन कहै है म्हारो ही वीर , राषूँ होये लपट शरीर ।।
म्हारै प्रांण कौ प्रांणीक , पीऊं वारिकै पांनीक ।।
भइया कहै मुजि भावैंक , अति गति प्रीति मिलावैंक ।।
कद्दू'बै सकल अपनायो , गोद्यां गोद षिलायो ।।

दोहा—

अब कहूँ गोद कहूँ पालनैं , कहूँ हासौ कहुँ रोज ।।
गिर्यो पड्यो घुटने चल्यो , नहीं ग्यांन को षोज ।।१।।

चौपई—

अग्यांनी ग्यांन विन षेल्योक , चल्यो पग हाथ तैं मेल्योक ।।
घुटणैं चाल अति चालैक , माया फंद पग घालैक ।।
मनसा ममता मांहि लागीक , पांचो इन्द्रियाँ जाणीक ।।
हलाहल कांम उर जाग्यौक , मानूं भूयंग पग लाग्यौक ।।
उतरै चढै लहर अनंत , फाटो तिमर तंत न मंत ।।
करारी निजर ऊंचौ बहु , टेढौ कंध मोडे महुं ।।
अब सूझैन माघ अमाघ , प्रबल प्रगट आय अभाग ।।
नेकी बदी नहिं सूझैक , हलाहल रांम नहिं बूझैक ।।
जिभ्या लठरसी वांणीक , हलाहल विगत या जांणीक ।।
रोम ही रोम विष छायौक , जोवन जहर सम आयौक ।।
घूमै विष चढ्या माताक , सुनै नहिं ग्यांन की वातांक ।।
पुकारे साध सब अरु वेद , सुनि रे मूढ भेद अभेद ।।

दोहा—

साध वेद सब टेरि हैं , सुनैंन विषिया प्रांन ।।
पिंड पाप कै वस पडै , कहि कहि हारे ग्यांन ।।२।।

चौपई—

ग्यांनी ग्यांन कहि हाराक , न माने वेदका काराक ।।
वहै विन नीर अहंकारी , ले सिर भार अति भारी ।।

हमारे मात पिता सुत भाई, हमारे सजन सुषदाई ॥
हमारे महल त्रिया चेरे, सिंहासन जरत ही हीरे ॥
हमारे गांव गढ घोडाक, खजाना मुलक नहिं थोडाक ॥
हमारे घणां परवार साथीक, हमारे सजे हैं हाथीक ॥
हमारे हीर चीर कपूर, बहो गुन राग रंग हजूर ॥
हमारे जोर दरव अनंत, हिरदै नहीं है भगवंत ॥
अंधे तरस क्यों नहीं कीजैक, एता बोझ क्यों लीजैक ॥
न देषै अकेलो जाऊँ, काया कर्म क्यौ लाऊँ ॥
न देषै मोत है ठाढीक, न कीजै बहु अति गाढीक ॥
न देषै काल सर सांधैक, न फिरिये ऐंठ तै कांधैक ॥
न देषै जम है बैरीक, न कीजै गुरु की गैरीक ॥
न देषै पिंड है पोचाक, गुसांइया क्यों नहीं सोचाक ॥

दोहा—

अब सोचन करिहै बावरे, फिरै अंध मत कंध ॥
एक दिन एसा होइगा, पडै काल कै फंध ॥३॥

चौपई—

अब की काल द्रष्टि कैरीक, पहुँच्यो आयकै बैरीक ॥
मानूं गह्यो मृग ज्यूं चीतैक, नैडो चरत है नीकैक ॥
प्रथम तो सांस तैं पकर्‌योक, सिर सिर बाव तैं जकर्‌योक ॥
कहै घट आज है माराक, लगै है अन्न जल षाराक ॥
कहूं ही निकट ही डोल्योक, न भावै निकट की बाल्योक ॥
पासी घात करि सटक्योक, मांजी षाट में पटक्योक ॥
अब मइया दौरि कर आवैक, मेरो नोज दुष पावैक ॥
त्रिया कहै प्रांण की प्यारीक, मेल्हो वार कै थारीक ॥
दो सब राज कोई देषौक, करौ मत षरच को लेषोक ॥
वैद बुलाइ कै लीजैक, औषदि जुगति कर दीजैक ॥

दौरा दौर अति माचीक, पिता पुनि पकरि है छातीक।
है कोई बतावै उपगारीक, न दीसै नेक करारीक॥
दे दे थके बहु बूंटीक, अब सबल कै हाथ तैं टूटीक।
करो कोई तंत मंत अंत, लागू भयो जम बलवन्त॥
भाई वन्ध पहौरै पूरि, निसदिन रहै पलंग हजूरि।
के ते आवो फिर फिर जांहि, बटावै दुष कोई नांहि॥
पुकारै दुष जीव भारीक, देषे सकल नर नारीक।

दोहा—

अब लाष लोक देषत रहे, अर पिंड किए सतषंड।
पकर प्रांण कूं ले चलै, जम एकला प्रचंड॥४॥

चौपई—

अब रहे रोवते ठाढेक, पटकै भाल अति गाढैक।
त्रिया कहै तन ही त्यागूंक, मिलौंगी पीवकै आगूंक॥
मइया कहै क्यों जीऊंक, न षाऊं अन्न जल पीऊंक।
मरूंगी पुत्र के सोगाक, कहौ क्यों वरजि है लोगाक॥
बहन तो रोय है धाहांक, करै आकास कूं वांहाक।
पिता तो जहर ही षाईक, पटकै भाल अति भाईक॥
अब सकल परिवार माच्यो सोर, विचै उचक ले गयो ओर।
तो अब सनेही क्या कीजैक, दोसत जान क्यों दीजैक॥
यारो वैसते संगाक, आछे ज्वान ते चंगाक।
छोछी परीहै देहीक, करो ले जालकै षेहीक॥
अब हांडी षोपरी ल्यावोक, अगनि किन तासमें वाहौक।
पछेवरी आन गज पांचैक, अधपाव चून कूं जाचैक॥
दीन्हौ माल संग एताक, कह्यो अब भयो है प्रेताक।
काढ्यौ पकरकै प्यारोक, कियो परिवार तैं न्यारोक॥

छूटै महल गढ़ गांवैक, तुरी गज संग नहिं आवैक।
षजाना मुलक सब छूटैक, जगत पुनि आयकै लूंटैक॥
धागा रहण नहिं पायाक, नगन कर अगनि में लायाक।
षूवी जरत है सारीक, देषै सकल नर नारीक॥
तेल फुलेल के केसाक, जलै सो ज्वांन के बेसाक।
नैंना कुसमसी भारीक, टेढा भौंह भी थारीक॥
दांता मेषसो लाईक, नासा अधर जर जाईक।
गलै में कनक सी मालाक, जलै सुअगनि की झालाक॥
सुरंगी देह मद जरदीक, गई मिल पलक मैं गरदीक।
भुजा नष अंगीली छीनीक, सिर मैं ईस की दीन्हीक॥
मानूं दहीडी फूटीक, सगाई इसी विधि तूटीक।

दोहा—

अब हाथ परत गयों प्रानिया, तन में बीती येह।
घर आया प्रीतम सवै, जालि वालि करि षेह॥
इत काया में दुष पडै, वहां संकट पड़ै प्रांन।
षेम कहै सुनज्यौ सवै, भजिल्यो केवल रांम॥५॥

॥ इति चितावणी सम्पूर्ण ॥

॥ अथ वैरागलछी ग्रन्थ ॥

प्रभू को सीस नवावहूँ, वैरागलछी गावहूँ।
रत्ता है राम रंग में, रहै तो सतसंग में॥
जनूं कूं मत सार है, उदारता अपार है।
गंभीर वानू मत्त ही, सुधीरता अनंत ही॥
तजत क्रोध काम कूं, जपत एक रांम कूं।
लोभ मोह त्यागही, उनूं का भाग जागही॥

त्रिसना अहंकार ही, उतार दिया भार ही।
कुटलाई दूर की नहीं, संतोष व्रत ली नहीं॥
भरमना निवारी, सीलवंत अति भारी।
दयावंत है अति दीन, बुधि जानही परवीन॥
सवन सूं रहे निरवैरी, बात बोले नहिं गैरी।
आपौ रंच नहि थरपै, सदा करतार सूं डरपै॥
तन मन हरी कूं दीया, गलतान मता लिया।
बचन सत भाषही, विसवास हीये राषही॥
परधन लागै छार सो, कुसंग वाकै षार सो।
परनिंदा नहीं भावै, दिनां रैन राम गावै॥
दोह द्रोहता नसाई, नहिं आपणी बडाई।
नरमी सूं लपेटिये, कपट सब मेटिये॥
मछरता नहिं कोई, वाकै ईरषा न होई।
मनी को कीयो त्याग ही, रहै तो वीतराग ही॥
जतन है जुगति है, विवेक है सति है।
नेक भी न गरव धन, गावै सब धन धन॥
ते गुमान तजि देवे, निह केवल नांव लेवे।
भलाई सूं भरे हैं, हरि नांव सूं तिरे हैं॥
नवणी षवणी गाई, नहिं जाणिए जबराई।
हीये सबूरी को वास, रहै दासन के दास॥
दिलगीरी नहिं आनूं, आनंद रूप मौज मानूं।
जाकै आई है परतीति, सो तो बैठे जनम जती॥
दुरमति ही विडारे, रोग दोष दुष टारे।
रहनी कहनी सार, दूर किये हैं विकार॥

हिरदौ कोमल देषो, सोक सांसा को न लेषो।
जाकै ररंकार वांणी, गति जाय नहिं जांणी ॥
बन में रहे वाल जती, ताकै आप दान रती।
रहै तो निसप्रेही, एन जानै दिव देही ॥
वचन बोले मीठा, रांम नाम करता दीठा।
करै तो धुनि ध्यांन ही, सुनै तो नहिं आन ही ॥
आरंभ सब त्यागै, एक नांव ही सूं लागै।
तन अमीरस पेषै, ब्रह्म सबही में देषै ॥
जाके आनंदी है ब्रत, सो तो काहू नहिं रत।
गयो मन हीये ल्यावे, दूजी बात नहिं भावै ॥
प्रभु नांव हीं कूं जाने, दुष सुष सम माने।
अनुराग हीया मांही, जाकै घटी वटी नांही ॥
उनमनी भी साधै, राम आपही में लाधै।
जाकै वास है एकंत, नांव धार लिया तंत ॥
सुनि मारग सूं हेत, दुष काहू कूं न देत।
पंथ अधोगति तजै, एक करता ही कूं भजै ॥
बन्या पारषद आप, सब मेटिया संताप।
जन वंदगी करत, हरि नांव सूं तिरत ॥
रिषव्रत है निदान, आवै सोई व्रत मांन।
जन ब्रह्म ही कूं आपै, सो तो काहूकूं न थापै ॥
शत्रु मित्र मित्र एक, काहूसूं न कर टेक।
सम मान अपमान, सोई देत अभैदान ॥
सोई करै गुरु सेवा, भजै नारायण देवा।
एसा सन्त का सुभाव, कोई साधै भगति भाव ॥
मिल्या पूरा गुरु आंनि, जाकै साधिवो आसांनि।
सीस संतन कूं नाऊं, कथा कीरतन गाऊं ॥

मन ही कूं देता सिष्या , पढ़ै जत रांम रिष्या ।
वने एक इकतार , करै आप ही विचार ॥
धीरजवंत है वडाजी , परदुष सूं न राजी ।
बोदी आसा नहिं धारे , केवल राम ही विचारै ॥
सवासै लछन सार , सीष्या सुन्यां उतरै पार ।
गुरु मेरे हरिदास , जिन किया बुधि प्रकाश ॥

॥ इति विराग लछी ग्रन्थ सम्पूर्ण—२ ॥

॥ षेमजी के पद ॥

हरि विन जगत सपनौं जानि ,
संसार भार विकार पर हरि , भजिल्यो सारंग प्रांन ॥टेर॥
रांक सारो सहर जाच्यो , सूतो वड तल जाय ।
देस देस के भूपति आये , मिलकर लागै पाय ॥१॥
देस देस का नृपति आया , मिलिकर ल्याया भेट ।
यूं करतां नर जागियो तव , ठीकरो सिर हेठ ॥२॥
बाँझरै घर तूर वाजै , जानि उपनो वाल ।
बुलाय जोसी लगन वूझै , होयसी भूपाल ॥३॥
यो सुत षाटसी म्हे षावस्यां , बहौत बान्धी आस ।
एवो करतां त्रिया जागी , तव नांषियो नेसास ॥४॥
निरधन जाणै भयो धनवंत , जोडि लाष करोडि ।
एक पदमणि पांव चांपै , एक रही कर जोड ॥५॥
रांक सूतो मालिये , कौडी नांहि पास ।
षेमदास यूं वीनवै , हरि बडो विसवास ॥६॥

६. महात्मा नरीदासजी

महात्मा नरीदासजी हरिदासजी महाराज के बावन शिष्यों में थे। इनके नाम का उल्लेख भाऊदासजी की गुदड़ी में है तथा खेडापा पीठ के संस्थापक महाराज रामदासजी के शिष्य दयालदासजी ने भी स्वरचित भक्तमाल में किया है। साधु परम्परा तथा ब्रह्मभाट की बही से भी इसकी पुष्टि होती है। महाराज हरिदासजी से इनने कब शिष्यत्व ग्रहण किया व किस सम्वत् तक इनका शरीर रहा इसका यथार्थ पता नहीं लग सका है।

नरीदासजी ने अपना आवास फतहपुर में किया यह स्थान सीकर जिले में है। फतहपुर में नरीदासजी का असथल नाम से यह स्थान प्रसिद्ध है तथा वर्तमान में मस्तरामजी इस स्थान के अधिपति हैं। नरीदासजी की परम्परा के आज भी अनेकों स्थान शेखावाटी में हैं। नरीदासजी की समाधि भी फतहपुर में है।

नरीदासजी के इसी फतहपुर के स्थल में उनका रचना ग्रन्थ है। वह अपूर्ण है उसमें साषी भाग तो कतई नहीं है। राग भाग में उन्नीस रागों में करीब बारह सौ पद हैं, अन्तिम राग मारू के पद चल रहे हैं, वह पूरी नहीं है। इस स्थान से भिन्न, मैं अन्य स्थानों में गया तथा वहाँ के संग्रह देषे पर किसी भी स्थान के संग्रह में इनकी रचना नहीं मिली। अब तक के प्राप्त साहित्य में इनकी रचना की एक मात्र यही पुस्तक है। इनकी पद्य रचना सरस है, भाव स्पष्ट है, भाषा उस समय की हिन्दी है दैशिक शब्दों का भी कहीं कहीं प्रयोग है। उनके कुछ पद आगे उद्धृत किये गये हैं।

॥ महाराजा हरिदासजी के शिष्य नरीदासजी की रचना ॥

राम सुमर हरि का गुण गावे, हरि हरि सुमर परम पद पावे ॥टेर॥
हरि है अघमोचन सुख रासी, हरि जरामरण की काटै फांसी।
राम सुमर भवसागर तरिये, हरि सुमरत भव पार उतरिये ॥
राम सुमर छूटै भ्रम पास, चरण शरण जन कहे नरिदास ॥१॥

पार ब्रह्म हरि पार उतारण, दूतर तारण राम हरे ॥टेर॥
सकल शिरोमणि हरि सुष सागर, सन्तन को विसरांम हरे।
राम अहो निसि सुमरसि प्राणी, निस वासर आठों याम हरे ॥

तेज पुंज प्रकाश परम पद, जोति सरूपी धाम हरे ।
जरामरण तहाँ काल न काया, तहाँ कर्म काम नहिं राम हरे ॥
धरणि गगन तहाँ सूरज शशि हर, तहाँ उदै अस्त नहिं राम हरे ।
अवरण राम अकल अविनासी, अपरम्पार अलेष हरे ॥
केवल रांम नरी ल्यो लाई, प्रांण उधारण रांम हरे ॥२॥

रे, मन भूला काहे डरिये, रांम नाम हरि हिरदै धरिये ॥टेर॥
झूठ भरम तज साच पकरिये, भूला भ्रमत कहो क्यूं फिरिये ।
रसना रांम रमै रम जीजै, रांम रसायन अमृत पीजे ॥
हरि के चरण कँवल चित दीजै, चरण शरण हरि स्वामी रीजै ।
सुरति पवन मन पंथ गहीजै, सतगुरु सबदै प्राण पतीजै ॥
प्रेम मगन हरि जल जन भीजै, नरीदास तासों मन धीजै ॥३॥

कब देखूं हरि दरसण तोरा, बिन दरसण जीव कलपै मोरा ॥टेर॥
रैंण दिवस निस वासर भोरा, मिलि विरहणि अति करै निहोरा ।
निरबल को बल कहा बसाई, तुम विन काह कहें सुषदाई ॥
तुम कहियो सुष सागर सांई, मिलो कृपा करि रांम गुसांई ।
कहे नरीजनदास विचारा, तुम विन को है राम हमारा ॥४॥

रे ! मन भूल्यो भ्रम अज्ञानी, आँन भ्रम चितवन क्यूं ठानी ॥टेर॥
राम विसार वह्यो अभिमांनी, केवल रांम भगति नहिं जानी ।
साध संगति गुरु सीष न मांनी, चिन्हित देषै शारंगपाणी ॥
रांम नाम छूटै दुःख द्वन्दा, रांम नाम भजि होय अनंदा ।
भरम विगूत्यो रे ! मन गन्दा, धृग् अपराधी मन मति मन्दा ॥
घेरे काल पडै जम फन्दा, तव तोहि कोण छुडावे अन्धा ।
राम सुमर सुष होय अनन्ता, नरी कहै भजले भगवन्ता ॥

हरिजी के चरणन की बलिहारी !
चितवत चरण होय चितनिर्मल, हिरदै ज्योति उजारी ॥टेर॥

भाजै भ्रम मिटै माया मोह , नासै तम अंधियारी ।
राम को नांम अनंत अघ जारै , कलि मल पाप विकारी ।।
कामादिक काटण कै ताँई , राम को नाम कुठारी ।
कर्मादिक वन पाप जाय जरि , ब्रह्म अग्नि पर जारी ।।
तारया अधम पाप परचंड दह , लिये पापी पतित उधारी ।
अजामेल गज गणिका तारे , सोई रांम संभारी ।।
जिन जिन शरण गही हरि जीकी , ते जन लिये उबारी ।
दीन जान निस तार नरी कहै , आयो शरण तुम्हारी ।।६।।

सन्तो पंडित पढ बोरांणा ?
स्मृति पुराण वेद ब्याकरण , पढ गुण भरम भुलांना ।।टेर।।
तर्क शास्त्र पढी बहु विद्या , वाद विवाद ही ठांना ।
अति अभिमान वदै नहिं काहू , आतम तत्व न जांणा ।।
अभिमानी अहंकार अलूंधा , भगवत भक्त न चीन्हा ।
हरि विन शुद्ध हृदय नहिं होई , पढि पुराण कहा कीन्हा ।।
छाडहू भ्रम भक्ति करि हरिकी , कहै नरी सुण लोई ।
हरिको नांव रटै निसवासर , पंडित कहिये सोई ।।७।।

रमता राम रह्या भरपूर , निकट निरंजन नाहिन दूर ।।टेर।।
तासूँ लागि रहौ किन जाइ , सकल वियापी रह्या समाइ ।
गुरु विन अलष लष्यो नहिं जाइ , सतगुरु मिलै तौ सहज वताइ ।।
रमताराम निरंजन राई , नरी निराकार ल्यौ लाई ।।८।।

सन्त जनन की हूं बलिहारी , साधु संगति उतरो पारी ।।टेर।।
साधु संगति मिलै मुरारी , साधु संगति छूटै संसारी ।
साध संगति कर हरि रस पीजै , हरि रस पीवत जुग जुग जीजै ।।
हरि रस पीजै अमृत सार , पीवत कीजै विलंबन वार ।
नरी कह्यो गुरु ग्यांन विचार , हरि ही दूतर तारनहार ।।९।।

सीतल सन्त सकल सुखदायक, जिनकै दरसण पाप नसायक ।।टेर।।
दरसण देषत सब दुःष जाइ, अति आनंद न अंग समाइ।
जाकै चरण परस सुष होइ, पाप पटल भ्रम रहे न कोइ ।।
निर्मल उज्वल निज निहकाम, जिनकै हिरदै केवल राम ।
सन्त शिरोमणि सब सुषरासि, कहै नरी दासन को दास ।१०।

अनहद झालर बाजै देवा, आरती राम निरंजन सेवा ।।टेर।।
अविगत राम अलष अभेवा, ताल मृदंग धुनि अन्तर सेवा।
शंख शब्द अनहद घंटा वागै, आरती भक्ति करत भ्रम भाजै।।
चँवर ढुलै महाराज मुरारि, शिव विरंचि करे सेव तुमारी।
सुरनर मुनि गन्धर्व गुण गावै, राम तुम्हारे पार न पावै ।।
आरति सेवा आरति पूजा, नरी राम बिन और न दूजा ।।११।।

मन रे ? भूल्यो भरम जंजारी ?
विसर्यो राम परमपद दाता, पारब्रह्म बनवारी ।।टेर।।
केवल राम कलह दुष काटण, पाप भरम भो जारै ।
शरणाई आपो प्रति पालै, जन की त्रास निवारै ।।
अन्तर्जामी आतम को सुष, सो प्रांणी मूढ विसारै ।
ओसर इसो वहुरि नहिं लाभै, मनुष जन्म तन हारै ।।
सतगुरु मेरे कहि समझायो, हरि लागै वारम्वारा ।
नरी निरंजन रट नारायण, राम नाम तत सारा ।।

।। इति ।।

७. दास पींपाजी

हरिदासजी महाराज के बावन शिष्यों में "दास पींपाजी" परम साधक महात्मा थे। भाऊदासजी की गुदड़ी सन्त परम्परा तथा ब्रह्मभाट की नामावलि में इनका नाम आया है। दयालदासजी ने भी अपनी भक्तमाल में दासपींपाजी का नामोल्लेख किया है।

एक जनश्रुति से यह ज्ञात हुआ है कि आपका जन्म सम्वत् १५६५ में आमेर नगर में छीपा दरजी जाति में हुआ था। आपके पिता का नाम सेवारामजी माता का नाम भाना (भानुमति) व स्वयं का नाम परमानन्द था। महाराज हरिदासजी भ्रमण करते नागौर पधारे तथा भूता बावड़ी पर विराजे उस समय उनके अनेकों चमत्कार देखने से परमानन्दजी ने उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया और परमानन्द से दासपींपा कहलाने लगे। आप वीतराग निरभिमानी नाम चिन्तन में निमग्न रहने वाले सन्त थे। पींपाजी का स्वर्गारोहण कब हुआ इसका पता नहीं लगता। इनका काल सोलहवीं सदी का उत्तरार्द्ध तथा सत्तरहवीं सदी का पूर्वार्द्ध मानना चाहिये।

दास पींपाजी साधना के पश्चात् नागौर के छींपाओं के अति आग्रह से नागौर में ही निवास करने लगे। छींपावाडी मुहल्ले में ही आपका स्थल बना हुआ है। आपकी परम्परा अब तक चल रही है। जैसा कि परिशिष्ठ में उद्धृत आपकी परम्परा से स्पष्ट है।

आपने अधिक रचना की हो ऐसा प्रतीत नहीं होता। निरंजनी सम्प्रदाय के संग्रह ग्रन्थों में आपकी जो रचना मिलती है उसमें १-चितावणी, २-फुटकरसाषियें तथा २०—पद हैं। आप साधक सन्त थे। अतः आपकी रचना में पांडित्य या प्राञ्जलता की तलाश करना उचित है न संगत।

॥ मंगलाचरण ॥

सुरगुरुसमपूज्यः , सर्वलोकैकवन्द्यो ।
निजशुभचरितेन , ध्वस्तमोहान्धकारः ॥
सधरणितलभाजां , रत्नमेवाविरासी ।
लिविड़तमनिशायां , शोभवच्चन्द्रमेव ॥
शमयतिदुस्सहतापं , दवयति दुरितं शुभं तनुते ।
अव्ययधनमिवपच्छति , साधु वरस्यास्य वागियं लोके ॥२॥

अद्वितीयो यथा विष्णोः, स्वरूपे कौस्तुभो मणिः ।
तथैव हरिशिष्येषु, पीपाख्यः साधुसत्तम ॥३॥
पाषण्डखण्डितं वीक्ष्य, धर्मं तत्राण हेतवे ।
आविरासीत्स्वयं लोके, पीपा नाम्नैव नारदः ॥४॥
दुर्भिद्यमोह तिमिरान्तकदर्शनाय, संसारसागरसमुत्तरणोडुपाय ।
संसारिदीनजनताप निवर्हणाय, पीपाख्य साधु वर्यायनमः प्रियाय ।५।

ये दोनों मंगलाचरण माधव शास्त्री कृत हैं तथा साखियें बालोतरा निवासी विरक्त प्रभाकर माधवदासजी ने लिखकर भेजी हैं—

१—सीताविभूषिततनुं नवनीरदाभं
कोदण्डधारिणमहं प्रणमामि रामम् ।
यस्याऽनुकूल कमनीयकृपाऽवलम्बी
विघ्नव्यथां न समुपैति नरः कदाचित् ॥१॥

दोहा— पीपा परचे पवन के, किता मिलेंगे आय ॥
सबही परचा भाजसी, तब पवन काया तें जाय ॥ १ ॥
'पीपा' दास कहावनो कठिन है, मन ही माने मान ॥
सतगुरु सों परचो नहीं, कलियुग लागौ कान ॥ २ ॥
पीपा पानी रहन विनु, रहे न ऊँची ठाइ ॥
राम भगति विनु दास को, जतन करंता जाइ ॥ ३ ॥
पीपा थोरे आंतरे, घणी विगुती लोय ॥
महभाई मारया घणा, तारया नांहि कोय ॥४॥
पीपा माया नारी परि हरे, चितसूं धरे उतार ॥
ते नर गोरषनाथ ज्यूं, अमर भये संसार ॥५॥
पीपा पर नारी परतष छुरी, विरला बंचे कोय ॥
नाऊं पेटि संचारिवे, जो सोने की होय ॥६॥
पीपा पारस परसतां, लोहा कंचन होय ॥
सिद्ध के कांठे बैठे संता, साध कहीं सिद्ध होय ॥७॥

पीपा धोका निजर का, जती सती कूं होय ॥
मन अरु नैन विगूंचना, विरला राखे कोय ॥८॥
पीपा परमेश्वर तणां, मता न जाणे कोय ॥
आरंभिया यूं ही रहै, और अचिन्त्या होय ॥९॥
पापी पाप कियो नहीं, पुन्प कियो सोवार ॥
जो काहू को लियो नहीं, (तो) दियो वार हजार ॥१०॥

॥ चिन्तामणि योग ग्रन्थ ॥

यह उपदेश सुनो मन मींत, बर्डचिंता बनि करलै चींत ॥
जाके गुसे हैं यमराई, ताकों नींद कैसें आई ॥११॥
मारग चलणा हैं तोहीं, अंधे क्यौंना चेतन होई ॥
पाया नाहीं दूरि हैं तेरा, सघन वन बहोत उरभेरा ॥१२॥
जामें वहोत ओघट घाट, अधिक कठिन विषमी बाट ॥
जासी सुभट वीर सावंत, अति रणजीत पूरा ममंत ॥१३॥
षांडा धार मारग वीर, कायर बंधसीं नांही धीर ॥
सूरा पहुँचसी एक आध, नटवर कला जाने साध ॥१४॥
जामें मोह सरिता धार, भौ को समुद् अधिक अपार ॥
जामें हरिनाम नौका लार, सतगुरु खेवे उतरे पार ॥१५॥
आडे पांच अरावर पार, पुनि पचीस ताकी लार ॥
लालच लोभ खाद् अनेक, बहोत जोधा एका एक ॥१६॥
अरि बलवंत अति अहंकार, तृष्णा काम क्रोध विकार ॥
मारग मांही मान गुमान, सनमुख खड़े साधे वान ॥१७॥
ता में सिंह सांचो सोई, आप अंते मारै धाई ॥
मन्मथ जोधो मारग मांही, कायर कहो किसविध जाँही ॥१८॥
कायर लाख कहो किस काम, सूरो भलो एक वीर धाम ॥
सूरो सोई सौंपें शिर ईश, भगवंत मेली भुजा वीश ॥१९॥

पहरो सहज वक्तर अंग, सतगुरु शब्द को कर संग ॥
गुरु की ज्ञान करी तरवार, षेड़ी षिम्या लेहु विचार ॥२०
अजपा जपकरि जयडाढ़, तो तू सही अंति जो गाढ़ ॥
चेतन तुरिया पर घाली, षत्री और परे सु'चाली ॥२१॥
रात शंतोष आवधशील, सुध बुध सुरति राखो डील ॥
देय विवेक को सिरटोप, रंगावलि अधिक अनोप ॥२२॥
राषो संग साथ विचार, गहो विश्वास बडा हथियार ॥
भाव भगती प्रेम प्रीती, ए आयुध गहि शत्रु जीती ॥२३॥
यह वैराग्य दृढ़ मति धार, सूरा सुगम कायराँ हार ॥
सजीवन जड़ी है जगदीश, सो ले राषे अपने शीश ॥२४॥
वज्र शरीर देह हरि आण, वैरि का नहिं लागे बाण ॥
दुजो कोई नहीं उपाई, हरि गुण मगन ह्वै करि गाई ॥२५॥
पीपा हेतकरि सुण बात, हरिबिनु सब वे दीसे जात ॥
सुणिये हेत करि चितलाय, गयेशो देऊं तोही बताय ॥२६॥
कहूँहूं अपने अनुमान, गिणती को नहिं परवान ॥
जादव गये छप्पन क्रोड, केरु पांडव दल बड जोड़ ॥२७
जिन संग लाष षौहणी पूरी, जोधा तें मिले सब धूरी ॥
चाले कंस केसी चाणोर, कहूँ शिशुपाल के कोते और ॥२८॥
वहतो जरासंघ अतिजोर, डारयो तिनकला ज्यूं तोर ॥
जाके शीश दश भुज वीश, सो रावण गयो दयंता ईश ॥२९॥
दलबल जोरा अति अधिकार, सूरावण गयो लंका हार ॥
चकवे मंडली कंस कबंध, ते सब पड़े जमों के फंध ॥३०॥
केते कहो दानव देव, गिनती को नहिं आवै छेव ॥
सांवत सुभट सूरा जुंझार, आखिर गये सबेही हार ॥३१॥
जेते हैं तेते सब जांही, जावेंगे तेऊ थिर नांही ॥
न रहसी स्वर्ग मृत्यु पाताल, कूरम सहस पुनि दिगपाल ॥३२॥

न रहसी माड के सब थंभ , जे घट धरे करि आरंभ ॥
न रहसी अपनी नीर हुताश , जासी पाणी पवन प्रकाश ॥३३॥
न रहसी तीन गुण विस्तार , माया आदी बो औंकार ॥
न रहसी जुरा मोत अरु काल , श्रो जमराई जीव के जाल ॥३४॥
रहसी आप अवगति नाथ , ऐका ऐकी संग न साथ ॥
घरि घरि कहयो तोसूं टेरी , निशदिन मांही सांठ्यौ बैरी ॥३५॥
एको शब्द कान कराई , घरि हू घरी अवध घटजाई ॥
सूरज चंद है दोऊं साखी , पूरब जोई पछिम साखी ॥३६॥
निशदिन घटे आवत जात , सो गति आपणी सुण बात ॥
तरुवर देख फिरती छांही , ऊगे आंथवे सोई नांही ॥३७॥
सलिता नीर थिर नहीं होई , सरवर क्यों ना देखो जोई ॥
यो जग देषतां सब जाई , सो गति निरषि तन निरताई ॥३८॥
यो सब जानों अंजुलिनीर , जासी देषतां नांही थीर ॥
ऐसें धन जोवन आथी , कहो धू चले किसकी साथी ॥३९॥
सुरगे पंच दियां बताई , जम्बक तीन कहयो समुझाई ॥
इहि विधि जाम वीते आठि , घरी पुनि तीस इणी साठि ॥४०॥
वासर रेण इंहि विधिजाइ , अंधे उमरिये तेसें पाई ॥
पशु पखि पंष कहयो पुकारी , मिनषा जन्म जाणि नहिं हारी ॥४॥
चाले स्याम आये श्वेत , मस्तक चढ़े हेला देत ॥
ऊंचे चढ़ि सुण कहयो तोहीं , पींपा क्योंना चेतन होई ॥४२॥
आडे तात मात नहि भ्रात , जोरो देषतां लैजात ॥
देषे कुल कुटुम्ब परिवारा , समरथ नहीं छुडावन हारा ॥४३॥
दोसत यार हित अरि मीत , चकित भये सकल भै भीत ॥
ऐसो को नहिं बलवन्त , जमसूं राषे जीव जन्त ॥४४॥
ऐसो कौ नही कलि मांही , राषे चालतां गहि बांही ॥
स्वारथ के सगे सब कोई , संकट निकट नहीं लोई ॥४५॥

बहो विधि कह्यो में समुझाई, औसर जाणि हरि हित लाई ॥
सुण सो बात की एक बात, पीपो सुमरै त्रिभुवन त्रात ॥४६॥

॥ इति श्री चिन्तामणि ग्रन्थ समाप्त ॥

पद १–राग धनाश्री

देवा भ्रमत भ्रमत तव सरणे आया ॥
सरणे आया विजैपंजर, राख लै रामैया राय ॥
लोह को संकल पाई, तूटेहो घणा चौथाई ॥
मोह को संकुल कैसे टूटे, हा राम रमैया राई ॥१॥
देषी विद्या देष्यो दान, देषी काया कृतम तन ॥
साध संगति विनु मेरे, नहीं माने मन ॥२॥
देष्यो पुण्य देख्यो पाप, सकल जग देष्यो संताप ॥
प्रणवत पीपा नरहरि, उवार लै आपै आप ॥३॥

पद २–राग आसावरी

तूं मेरे तीरथ तूं मेरे काशी, सेइये गोविन्दराई सकल अविनाशी ॥१॥
गगन गंगा भवन गंगा, त्रिविध गंगा नारायण संगा ॥२॥
अड़सठ तीरथ जो मन चंगा, राम का नाम पषालिवे अंगा ॥३॥
पीपा कहै जोगेश्वर सोई, मुष हृदो जाको एक होइ ॥४॥

पद –३ राग आसावरी

काया गढ़ खोजतां मैं नौ निधि पाई ॥
अनत न जाऊं राजा राम की दुहाई ॥टेर॥
काया देवल काया देव काया पूजा पाती ॥
काया धूप दीप नैवेद्यक काया तीरथ जाती ॥१॥
काया में है अड़सठ तीरथ काया मैं है कासी ॥
काया में है कमलापति काया मैं वैकुण्ठवासी ॥२॥
जो ब्रह्माण्डे सोइ है पिंडे, जो षोजे सोई पावै ॥
पीपा प्रणवे परम ततरे, सतगुरु मिलै लषावै ॥३॥

पद–४

क्या मेरा क्या तेरा मना, जैसे तरवर पंछी बसेरा मना ।।टेर।।
चंदा न होता सूर न होता, होता दिवस न राती ।।
ब्रह्मा न होता रुद्र न होता, करता कौन भराती ।।१।।
माई न होती बाप न होता, होता कर्म न काया ।।
हम नहीं होता तुम नहीं होता, कहो कहां तें आया ।।२।।
वरण न होता विचार न होता, मोह न होती माया ।।
राजस सात्विक तामस न होता, अवगत आप उपाया ।।३।।
षेचर भूचर सीगीं मुद्रा, गुरु प्रसाद तें पाया ।।
पीपा प्रणवे परमतत्व, सब जग धंधे लाया ।।४।।

पद–५ राग सोरठी

तूं मेरा तरवर मैं जन पंषी, अंबरीक धु नारद साषी ।।टेर।।
तूं जो गिरवर तो मैं मोरा, जो तुम चंदा तो मैं चकोरा ।।१।।
जो तुम तीरथ तो मैं जात्री, जो तुम देवारांम तो मैं पाती ।।२।।
पीपा प्रणवे अंतरजामी, मैं तेरा सेवग तूं मेरो स्वामी ।।३।।

पद–६

मन रे कहा भूल्यो मति हीना ।।
तूं काहू का ना कोई तेरा, ज्यूं उपना त्यूं षीणा ।।टेर।।
राज पाट अबला बहु तेरी, होते घोड़ा हाथी ।।
परमहंस जब किया पयाना, बिछड़ गये सब साथी ।।१।।
जे नर छाँह छत्र की चलते, दुनि मानी महाराणा ।।
नवणी करते जालण लागे, जब तन भया बिडाणा ।।२।।
पीपो कहै पदारथ पाया, अंध न देषे कोई ।।
अमृत नाम राम का मीठा, मैं पीऊंगा सोई ।।३।।

॥ अथ पींपाजी महाराज की अमृतवाणी ॥

दोहा—

पीपा राम दुवार में, कमी वस्तु को नांह ॥
विना भजन पावै नंहो, चूक भजन के मांह ॥१॥
पीपा देर न कीजिये, भज लीजै हरिनाम ॥
कुण जाणे क्या होवसी, छूट जाँयगे प्रान ॥२॥
राम नाम सुमरत भये, रंक बंक बजरंग ॥
ध्रुव प्रह्लाद रु गीध गज, तज कुल को परसंग ॥३॥
पीपा भज श्री राम को, परिहर अखिल विचार ॥
आलस तज या मनुज तनु, क्यों गिरता संसार ॥४॥
पीपा राम प्रताप तें, सागर जल के मांह ॥
पथर तिरे तरु पात ज्यूं, नर की बातें कांह ॥५॥
राम राम रटिवो भलो, जिनते इणभव मांह ॥
सुजस सुभाजन जन भये, जे थे जग कुल नांह ॥६॥
राम कृपा तें होत सुष, उत्तम होत कुजात ॥
पीपा परिहर जगत को, भजतो क्यों विलषात ॥७॥
राम नाम सन्मुख हुओ, देय जगत को पीठ ॥
पीपा ज्यों अहिचोलि तज, होता उज्वल दीठ ॥८॥
भक्त दुःष मोचन करण, हरण सकल जंजाल ॥
पीपा क्यों नहि भजत नर, निशदिन राम कृपाल ॥९॥
पीपा देष विचार हिय, है यह मतो प्रवीन ॥
सम चित रह संसार में, राम रसायण लीन ॥१०॥
बन्यो बनायो रहै सदा, काटत है नहिं शूल ॥
अरुण वरण क्या काम को, वास विना को फूल ॥११॥
निज को जौ चाहै सुषी, हुवो चहै दुष हीन ॥
तो भजलै श्री राम को, पीपा रहै न दीन ॥१२॥

भटकत पद अद्वैतता, अटकत ज्ञान गुमान ॥
लटकत मान कुज्ञान में, राम विना नादान ॥१३॥
निज सुत को माता पिता, करे भलो उपदेश ॥
पीपा एकण राम विनु, मिटे न जग को क्लेश ॥१४॥
पीपा हरिसा गुरु विना, होत न विसद विवेक ॥
ज्ञान रहित अज्ञान युत, कठिन कुमन की टेक ॥१५॥
स्वारथ के सब ही सगा, जिनसों विपद न जाय ॥
पीपा हरि उपदेश विनु, राम न जान्यो जाय ॥१६॥
पीपा राम समान जग, स्वपने अपरन आन ॥
तासु भजन रति हीन अति, चाहसि सम्यक ज्ञान ॥१७॥
जिनतें उद्भव सब विभव, ब्रह्मादिक संसार ॥
सुगति तासु पद तस कृपा, पीपा कहै विचार ॥१८॥
पीपा कहैत विचार हृदि, राम सरिस नहि आन ॥
जासु कृपा उपजै हृदय, विशद विवेक सुजान ॥१९॥
रामस्वरूप अनूप अति, हरे सकल अघमूल ॥
पीपा रामहि जो भजै, ताके सब अनुकूल ॥२०॥
परमारथ पुनि स्वारथ सब, सुलभ नाम परताप ॥
द्वार दूसरे दीनता, जातां लागे पाप ॥२१॥
हितस न हितरवि रामसन, रिपुसन बरै विहाय ॥
उदासीन संसार सन, पीपा तब सुख थाय ॥२२॥
चतुराई चूले पड़ो, भट्टी मां आचार ॥
पीपा कुछ नहिं राम विन, आगो लग ससांर ॥२३॥
तिल पर राखे सब जगत, निजर मांहि संसार ॥
पीपा महिमा राम की, है जग अपरंपार ॥२४॥
स्वामी होनो सहज है, दुरलभ होणो दास ॥

पीपा हरि के नाम विनु, मिटै न जमकी त्रास ॥२५॥
पीपा परतष देखले, थाली मांहि मुसाण ॥
ज्ञान विना जाणे नहीं, भूठो करे बषाण ॥२५॥
पीपा अगत न जावसी, जों जपता हरि नाम ॥
एक घड़ी आधी घड़ी, राति दिवस अवसान ॥२७॥
पीपा हरि परसाद तें, पायो ज्ञान अनन्त ॥
जाता भव मझधार में, दुख को आयो अन्त ॥२८॥

॥ इति ॥

---

८. महात्मा कल्याणदासजी

महात्मा कल्यांणदासजी का नाम हरीदासजी के बावन शिष्यों में आता है भाट की बही की नामावलि में भी कल्याणदासजी का नाम आता है। भाऊदासजी की गुदडी को नामावलि में इनका नाम नहीं है। इन के स्थान जन्म तथा निधन की जानकारी का कोई सूत्र सामने नही है। इनकी रचना से ही यह अनुमान है कि ये महाराज हरीदासजी के शिष्यों में ही जो नामोल्लेख इनका है वे यही हैं। इन का काल महाराज के अपर शिष्यों की तरह ही सोहलवींसत्रहवीं सदी मानना संगत है। इन के थांभे की परम्परा का भी निश्चय नहीं है।

इनकी रचना दो स्थानों की पुस्तको में प्राप्य हुई है। एक कोलिये की पुस्तक में जिसका लेखनकाल १८३० है। दूसरी पुस्तक जाँवले में पंडित घनश्यामदासजी के संग्रह में है। इसका लेखन काल सम्वत् १८२६ है। इसके लेषक नै कल्याणदासजी की वांणी की पूर्ति पर लिखा है कि वांणी बहुत विस्तृत है उसी में से कुछ अंश यहाँ लिखा गया है। वह अंस साषी भाग अंग ४५ में ६३० साषी० लघुग्रन्थ १० राग १७ पद २१२ है। पूरी वांणी कितनो विस्तृत है यह कहा नहीं जा सकता। किन्तु उपरोक्त उल्लेख से इतना तो सिद्ध होता ही है कि इनकी वांणी अच्छी विस्तृत है। वांणी की रचना से प्रतीत होता है कि यह साधक महात्मा होते हुये भी कुछ शिक्षित भी थे। इनकी शब्द योजना से इनका शिक्षत होना सिद्ध होता है।

इ नकी वांणी में निरंजन तथा रामनिरंजन शब्द का अनेकों स्थलों पर प्रयोग हुआ है। रामनिरंजन शब्द निरंजनी सम्प्रदाय का रूढ़ नाम जपने का शब्द है।

इनके ग्रन्थ निराकार की महिमा में बीसवीं साषी में प्रयुक्त शब्द दयालरामजी भी विचारणीय है । हरिदासजी की साधना सिद्धि के पश्चात् दयाल नाम से ही ख्याति थी आज भी इनके स्मारक स्थान को दयालधाम नाम से कहा जाता है इनकी वाणी का समावेश निरंजनी सम्प्रदाय की ही संग्रह पुस्तकों में है अन्य सम्प्रदाय की पुस्तकों में नहीं । अतः उपरोक्त विवरण इन्हीं आधारों के आश्रित है ।

॥ अथ महात्मा श्री कल्याणदासजी महाराज की वाणी ॥

कबीर नाम दे पींपा रैदासा, भवसागर की काटी पासा ॥
गोरख भरथरी गोपीचन्द, जन कल्याणदास मिल करे आनंद ।१।
काया नगरी मनवा राजा, पवन करै कुटवारा ॥
आतम ज्ञान राम रस हीरा, सुरती सहज धर धारा ॥२॥
काया नगरी मन उपदेशा, बलिहारी गुरु तेरी ॥
कल्याणदास जन बुद्धि कर बूझया, नांव निरंजन जेरी ॥३॥
जन कल्याणदास पलटे नहीं, गुरु अपना की साषि ॥
सांचा सतगुरु पाइया, राम रसायन चाषि ॥४॥
ऐसी सतगुरु तैं करी, तैसी करै न कोई ॥
काया भेद बताय करि, रह्या ज प्रगट होई ॥५॥
गुरु जाणै कै आतमा, दूजा जाणै नाहिं ॥
कल्याणदास जन यूं कहै, अमी महारस षाहिं ॥६॥
करुणा सहित डंडोत है, निशि दिन सुमिरन होई ॥
गुरु गोविन्द हिरदै बसे, विरला जानै कोई ॥७॥
मूल मन्त्र सतगुरु दिया, आतम कूं उपदेश ॥
समझ पड़ी सतगुरु मिल्या, ब्रह्म हमारा देश ॥८॥
तन मन वारूं आतमा, निशि दिन न्हाऊं शीश ॥
गुरु गोविन्द हृदय बसै, गुरु ही है जगदीश ॥९॥
सांचा इस्ट सांचे मतै, सांचा गुरु शिष ऐक ॥
कल्याणदास जन यूं कहै, पूरण ब्रह्म अलेष ॥१०॥

कन फूंका गुरु बहोत है, सतगुरु विरला जाणि ॥
जन कल्याणदास कूं गुरु मिल्या, सुरति सहज घर आणि ॥११॥
साधां पाया एक रस, सब ही साधु एक ॥
कल्याणदास जन यूं कहै, पूरण ब्रह्म अलेष ॥१२॥
सांचा मन छाड़ूं नहीं, दूजा पकड़ूं नाहिं ॥
समझ पड़ी सतगुरु मिल्या, अगम तहां चलि जाहिं ॥१३॥
जाति हमारी वैष्णो, सुमरि अगम अलेष ॥
दरबेस मसत हरि नांव में, ऊपर पहरचा भेष ॥१३॥
सतगुरु पहराई गूदड़ी, पत्तर दीया हाथ ॥
जन कल्याणदास सुमिरे राम कूं, रहै राम के साथ ॥१५॥
ज्ञान ध्यान की गूदड़ी, मन्त्र दीया विचार ॥
समझ पड़ी सतगुरु मिल्या, सांइ अनन्त अपार ॥१६॥
निराकार निरंजना, अविनाशी गुरुदेव ॥
जन कल्याणदास विसरै नहीं, करै अलष की सेव ॥१७॥
मनवा के उपजनि भई, आतम कूं गुरु राषि ॥
सतगुरु ज्ञान विचारदे, राम रसाइण चाषि ॥१८॥
मन दीयां सतगुरु मिलै, तन दीयां गुरु नाहिं ॥
आतम तो मन सूं कहै, समझि देषि मन मांहि ॥१९॥
सतगुरु तो कसणी करी, फेरि न करै जवाब ॥
आतम तो मन सूं कहै, ता चेला के भाग ॥२०॥
गुरु गोविंद कसणी करी, गुरु का भया गुलाम ॥
आतम तो मन सूं कहै, सरे हमारे काम ॥२१॥
निर्बल व्हे गुरु सूं मिल्या, गुरु गोविन्द सहाय ॥
आतम तो मन सूं कहै, निश दिन बलिबलि जाय ॥२२॥
भेष शबद बाला दई, सतगुरु किया निहाल ॥
गुरु गोविंद कूं त्यागि दे, ताका बुरा हवाल ॥२३॥

अज्ञानी गुरु कूं मेटिये, ज्ञानी गुरु का दोष ॥
कल्याणदास जन यूं कहै, कदे न पावै मोष ॥२४॥
करुणा सेवा बंदगी, सतगुरु द्योह बताय ॥
शरणै आयो बापजी, मेरी करौ सहाय ॥२५॥
गुण इन्द्रयां कूँ त्याग दूं, त्यागूं सब संसार ॥
गुरु भक्ता गुरु में रहै, सुमिरे सिरजन हार ॥२६॥
गुरु भक्ता गुरु में रहै, सोई चेला वीर ॥
सुमिरे राजा राम कूँ, भरि भरि पीवे नीर ॥२७॥
चेला गुरु कूँ बूझि करि, मूंड मूडावै वीर ॥
गुरु भक्ता गुरु में रहै, मिटै जन्म की पीर ॥२८॥
गुरु मिल्या तब जानिये, भेद बतावै एह ॥
कल्याणदास जन यूं कहै, हरि सुं बधै सनेह ॥२६॥
ज्ञान दिया है रामजी, मह्रबान है राम ॥
समझ पड़ी सतगुरु मिल्या, मन पाया विश्राम ॥३०॥
राम षजाना दम दिया, खाली काहै षोवे ॥
साहिब लेषा मांगिसी, तब मूंड धुनि धुनि रोवै ॥३१॥
सुष अगाध है राम का, मन पवना लै जोड़ि ॥
मार सहेगो जीवड़ो, साहिब से मति तोड़ि ॥३२॥
मन पवना है राम का, दे करि ऊरण होई ॥
कल्याणदास जन यूं कहै, विरला जाणै कोई ॥३३॥
मन है पूंजी राम की, तूं मति षोवै बीर ॥
कल्याणदास जन यूं कहै, लेषा मांगे पीव ॥३४॥
जेता दम षाली पड़ै, तेती षाजे मार ॥
जन कल्याणदास सुमिरे राम कूं, निशिदिन बारंबार ॥३५॥
साध्यां तें सिद्ध होयगा, काल न घाले चोट ॥
कल्याणदास जन यूं कहै, सबल राम की ओट ॥३६॥

जे कब हूँ काची पड़े, और जनम है राम ॥
कल्याणदास जन यूं कहै, पूरन सिद्धि व्है काम ॥३७॥
कहा शक्ति है जीव की, दुर्लभ सुमिरण राम ॥
राम सुमिरावै जीव कूं, पड़्या धणी सूं काम ॥३८॥
कहा शक्ति है जीव की, जीवन समझै पीव ॥
पीव समझावै जीव कूं, तो सुष पावै जीव ॥३९॥
नांव दिया है राम जी, हिरदे सुमिरण जानि ॥
समझ पड़ी सतगुरू मिल्या, सुरति सहज घर आनि ॥४०॥
नांव दिया है राम जी, यह पूरी बकसीस ॥
सुमिरण सेवा ध्यान करि, यूं करमां कूं पीस ॥४१॥
भाग बिना क्यों पाइये, सुमिरण सासों सास ॥
कल्याणदास जन यूं कहै, परम ज्योति प्रकास ॥४२॥
कण छाडै कूकस गहै, ऐसा सब संसार ॥
जन कल्याणदास विचार करि, सुमिरै सिरजन हार ॥४३॥
कर्म भर्म कूकस भया, कण है सुमिरण सार ॥
कल्याणदास जन यूं कहै, सुमिरैं सिरजन हार ॥४४॥
चारि बेद है मांड में, पंचम बेद है न्यारा ॥
कल्याणदास जन यूं कहै, ऐसा राम पियारा ॥४५॥
चारि बेद का मूल है, पंचम बेद का जाप ॥
कल्याण दास जन यू कहै, तहां पुण्य नहीं पाप ॥४६॥
साध सबद में समझ करि, समझर कीजे और ॥
कल्याणदास जन यूं कहै, हरि में नाहिं ठौर ॥४७॥
करणी भिष्ट चाल है ऊंची, पांचू इन्द्री ज्ञान सूं मूछी ॥
अंतर मीठा ऊपर खारा, जन कल्याणदास वे हरिका प्यारा॥४८।
हाथ दिया पांव दिया, नयन दिया कान ॥
मुष दीया जीभ दई, सुमिरे क्यों नहीं राम ॥४९॥

गति मति में पाउं नहीं, समर्थ सिरजनहार ॥
साहिब तेरी साहिबी, मौकूं द्यौ दीदार ॥५०॥
दुर्लभ महा वैराग है, देषिर दीजे पांव ॥
दुर्लभ सेवा साधु की, दुर्लभ हरि सूं भाव ॥५१॥

—इति साखी फुटकर—

॥ अथ श्री निराकार की महिमा जोग ग्रन्थ ॥

सन्तो घट में राम अपारा, अब सुमिरो सिरजन हारा ॥
धरती गगन अधर करि राषी, चंद सूर इन्द्र से राजा सकल मांड है तेरी॥१॥
ब्रह्मा विष्णु महेश विचारे, समझि समझि सब हारे ॥
अगम अपार पार नहिं कोई, संत जनां कूं तारे ॥२॥
हरि गंगा जमुना सृष्टि उपाई, सकल कला भरपूर ॥
सब कछु करि सब ते न्यारा, ऐसा हरि का नूर ॥३॥
इकलस एक कहा कहि बरणे, सिरजनहार गंभीरा ॥
झूलै षेलै राम हमारा, तहां रती न व्यापै पीरा ॥४॥
जहां तहां राम हरि तुम मांही, सकल दुनीं कू पोषै ॥
अंतर गति सूं सेवा लागी, साधन पड़ ही धोषे ॥५॥
सबकूं देखे सब कूं पोषे, अंतरजामी सांई ॥
पांच पचीस तीन गुण त्यागे, सोई देषे मन मांही ॥६॥
साधु जन के नाव आधारा, लूटे विलसे षांही ॥
अगम अगाध पार नहीं कोई, समझि रहे मन मांही ॥७॥
हांसी षेल राम नहिं पावे, कठिन पंथ है धारा ॥
जापर कृपा सोई भल जाने, अगमवार नहीं पारा ॥८॥
विराट रूप अवगति अविनाशी, सकल लोक परिछाया ॥
आवै जाय धरै नहीं काया, राम रमत सुष पाया ॥९॥

अविनाशी के रूप न रेखा, धरणी गगन भी नांही ॥
अन्तरजामी सबतें न्यारा, व्यापि रह्या सब मांही ॥१०॥
हरि हे दूर नेड़ा भी नांही, हरि भक्त न तें नेड़ा ॥
पर आतम सु आतम मेला, जम करि सकै न फेरा ॥११॥
सब सूं ऐक सांच सूं पावै, सांच विना नहीं पावै ॥
उलटी सुरति ब्रह्म कूं भेटै, निराकार कूं गावै ॥१२॥
उद्‌बुद् कथा कौन सूं कहिये, समर्थ सांई मेरा ॥
अगम अघाध पार नहीं कोई, करौं राम में केला ॥१३॥
हरि आप मिलावै आप कूं, अंतर ज्यौति जगाय ॥
समर्थ सांई दर्शन दीया, अमी महारस पाय ॥१४॥
निराकार अबगति अविनाशी, जम नहिं घालै पासी ॥
सेवग होइ कै सेवा लागै, सदा रहै अविनाशी ॥१५॥
घटै बधै रूप भी नांही, व्याप रह्या सब मांही ॥
भेदी होय सु भेदै जाणें, निराकार ल्यौं लाई ॥१६॥
निराकार निरंजना, सकल भवन पतिराया ॥
जामण मरण जुरा सब भागा, घर ही में घर पाया ॥१७॥
अविनाशी कूं विरला जाणै, केवल ब्रह्म अपारा ॥
अरस परस मिल सुमिरण लागा, सो है राम हमारा ॥१८॥
एकमेव होइ सेवा लागा, हितकरि प्रीति विचारी ॥
रमता राम चांदणा मेरे, सुरति सहज धरि धारी ॥१९॥
महर करी दयाल रामजी, हमसे पतित उधारे ॥
दे दर्शन अपना करि लीया, आवागमन निवारे ॥२०॥
एक शब्द सूं सब जग किया, तीन लोक विस्तारा ॥
अपरम्पार पार नहीं आवै, सो है राम हमारा ॥२१॥
निराकार अबगति अविनाशी, निर्मल ज्यौति अपारा ॥
ज्ञान दृष्टि जाका घट मांही, सुमरै बारंबारा ॥२२॥

सेवा अगम अपार गुसाई, आप आप कूं जाणै ॥
भरि भरि प्रेम पियाला पीवै, हरि सूं बाणिक बाणै ॥२३॥
जहां तहां सेवक की सेवा, सेवा बिना न जीवै ॥
हालत चालत सूतां बैठां, अमी महारस पीवै ॥२४॥
सेवग होइ करि सेवा लागै, बिन सेवा नहीं पावै ॥
रमता राम सकल घट दीसै, सेवग हरि कूं भावै ॥२५॥
आनंद रूप अगह अविनाशी, अंतर ज्यौति प्रकासी ॥
अगम पियाला भरि भरि पीवै, निशिदिन रहै उदासी ॥२६॥
अबरण बरण रूप रंग नांही, सकल बर्ण तैं रहता ॥
साधु सुमिरे राम निरंजन, तीन लोक का करता ॥२७॥
ओछा बासण राम अगोचर, दया भाव करि आया ॥
अगम अगाध पार नहि कोई, साहिब सूं मन लाया ॥२८॥
आपै आवै आपै गावै, आपै पंथ चलावै ॥
जहां तहां राम अविनाशी, साधू सन्मुख पावै ॥२९॥
आपै सांई आपै मांही, आप ही अगम अपारा ॥
साधूजन कै घट में पेलै, और दुनियां तै न्यारा ॥३०॥
मेरी जीवनि राम अपारा, मन ही सूं मन लाया ॥
अनहद किंगुरी बाजा बाजै, गुरु गमतैं हरि पाया ॥३१॥
हरि सबकी जानैं सेवग की मानैं, सबतैं रहै निराला ॥
साधु जन का हृदा मांही, बरसे अमृत धारा ॥३२॥
द्रोह प्रमोह ख्याल एक रचिया, रचि करि भया निराला ॥
साधु सुमिरै राम निरञ्जन, गावै राम पियारा ॥३३॥
तेरी बाजी तैं ही साखी, दूजा का बल नांही ॥
साध जंबूरा राम ही जाणै, ढूँढ लिया घट मांही ॥३४॥
साधू रमै राम ही जाणै, राम हीं हिरदै आणैं ॥
राम ही राम जपै निशिवासुर, रामहिं राम पिछाणै ॥३५॥

परमारथ की कथा सुणावै, सुणि करि चालौ लोई ॥
ऊंच नीच राम कै एकै, ऐसा समरथ सोइ ॥३६॥
साध संगति राम की सेवा, भाग बड़े सो पावै ॥
भजै राम कूं संक न मानैं, हरि मैं जाय समावैं ॥३७॥
सुमिरण सेवा ध्यान हरि पूजा, नांव निरंजन लागा ॥
सतगुरु हमकूं सांच बताया, जुरा मरण भौ भागा ॥३८॥
सतगुरु पाया हरि जन गाया, रमता राम हमारा ॥
अंतर गति में सेवा लागी, निरमल ज्यौति अपारा ॥३९॥
में हूं जीव राम है शीव, महर करि सुष दीया ॥
अगम अगाध पार नहिं कोई, अगम पियाला पीया ॥४०॥
ऐसी धरणि धरि हरि तुमही, हरि विना दूजा नांही ॥
एकमेव व्है सेवा लागा, अमी महारस खांही ॥४१॥
सब कछु कीया राम सुष दीया, रामैं राम पुकारै ॥
रामै राम रह्या भरपूर ही, रामैं राम हमारै ॥४२॥
निराकार की बाणी बोली, निराकार नांही आकारा ॥
हरिजन होइ सो हरि ही जाने, सुमिरे बारंबारा ॥४३॥
सुरनर मुनिजन पीर अवलिया, तिन हूं नहीं पाया ॥
अगम अगाध पार नहीं पावै, माया सुं मन लाया ॥४४॥
हरि की भक्ति साध भल जाणै, सुमिरै अगम अगाधा ॥
अवर्ण वर्ण रूप रंग नांही, बिरला साधां लाधा ॥४५॥
अवर्ण वर्ण धूप नहिं छाया, दुष सुष तै भी न्यारा ॥
अगम अपार पार नहिं कोई, सो है राम हमारा ॥४६॥
एका एकी रहै निराला, संग न कोई राषै ॥
हरिजन हरि मैं सुमिर समावै, राम रसाइण चाषै ॥४७॥
बे परवाही सब का करता, मेरी जीवनि सोई ॥
अबगति की गति क्या कही बरणूं, जाके मांस न लोई ॥४८॥

ज्योति ही ज्योति रही भरपूरा , ज्योति न बरणी जाई ।।
हरिजन व्है सो ज्योति ही जाणै , ज्योति ही रह्या समाई ।।४६।।
हरि है चोर सकल कूँ देखै , हरि कूँ कोई न पेखै ।।
साधू चोर चोर कूं जाणै , उदबुद कथा अलेखै ।।५०।।
हरि है सांई देख्यां मांही , तेज रूप हरि हीरा ।।
अंतर जागै सुमिरण लागै , पाये राम सधीरा ।।५१।।
निराकार की महिमा बरणी , रमता राम ही आपै ।।
साधू सुमरै रामनिरंजन , सुमर सुमर मन धापै ।।५२।।
तीन जाकी ज्योति फिरत है , जल थल रह्या समाई ।।
जन कल्याणदास राम है ऐसा , जांका हरषि हरषि गुण गाई ।।५३।।

इति निराकार की महिमा जोगग्रन्थ सम्पूर्णम् :—ग्रन्थ १

।। अथ ज्ञानसार आत्मा विचार ग्रंथ प्रारम्भ ।।

पर आतम सूँ आतम होई , आतम सेती मनवा सोई ।।
मनवा लेकर कर्म कमावै , कल्याणदास ऐसै समझावै ।।१।।
ज्ञाननिजर करि जाकूं सूझै , सो ही हरिजन ऐसी बूझै ।।
षोज बूझि जन करै विचारा , सांई सुमरै अनंत अपारा ।।२।।
बंकागढ़ कूँ कोइक लागै , कनक कामिनि दोनूँ त्यागै ।।
त्यागि समझि करि सेवा कीजै , राम रसाइण भरि भरि पीजै ।।३।।
ऐसा साधू बिरला पाऊँ , निशिवासुर मैं बलि बलि जाऊं ।।
ऐसा साधू राम सनेही , मैं तैं ममता त्यागै देही ।।४।।
क्या मेरा क्या तेरा भाई , काहे कीजै बहोत बड़ाई ।।
बहोत बड़ाई कछु हाथ न आवै , गोविद कहे गुण काहै न गावै ।।५।।
दुनियां औघट घाटी जाई , मैं तो हरि की बात सुनाई ।।
हरि का मारग सिरके साटै , राम बिना दूजी मत पाटै ।।६।।

मैंर कहूँ तूँ सुणलै भाई, प्रेम प्रीति अंतर ल्यौ लाई ॥
ऐसा अवसर बहुरि न पावै, हीरा जन्म अमोलक जावै ॥७॥
देही सेती देही जावै, काम क्रोध विषया मन भावै ॥
जा विषया केहू लाडू, अधला कछू न आवै सादू ॥८॥
माया त्यागि हरी कों बूझै, पांचौं इन्द्री सेती झूझै ॥
ऐसा मनके होय विचारा, तौ भौजल तिरत न लागै बारा ॥९॥
बदन बिलोके हरि कूँ सोधै, सुरति सुरति सूँ मन पर मोधै ॥
परमोध्यां इन्द्री आनंद होई, काल जाल लागै नहिं कोई ॥१०॥
साहिब सांई अनंत अपारा, ऐसैं भजिये सिरजनहारा ॥
हरि का मारग मति ही भूलै, नहींतर चौरासी मैं झूलै ॥११॥
ज्ञान निशरनि मनवै पाई, प्रेम प्रीति अंतर ल्यौ लाई ॥
सबही दिन है लेषा मांही, राम रसाइण भरि भरि पाई ॥१२॥
या दुनिया तैं मनकू फेरै, निशिवासुर साहिब कूँ टेरै ॥
प्रेम पियाला भरि भरि पीवै, अपनौ जन्म सुफल करि जीवै ॥१३॥
बहिरमुषी सूँ कछू न कहणा, अपनें दिल में चुप व्है रहणा ॥
दिलहि दिलमें सुमिरै सांई, राम रसाइण अमृत पांई ॥१४॥
बहिरमुखी जो मोपै आवै, मेरे मनको कबहु न भावै ॥
दुनियां कीर चलावै बाता, समझै नांही हरि की गाथा ॥१५॥
जोरी करै जुलम गुदारै, मूँड मुडाई लाठी सूँ मारे ॥
ते तो जगमैं कहिए बुरवा, साध संगति चलि आवै गरवा ॥१६॥
हरि का मार्ग मांही मरिये, पाछा पग कबहूँ नहिं धरिये ॥
ऐसी मनकै उपजै करुणां, सबही बातां आवै जरणां ॥१७॥
मूंड मुडाई पर घर कूँ भाजै, काल सदा ही शिर पर गाजै ॥
ऐसै भौंदू लोक हँसावै, हीरा जन्म अमोलक जावै ॥१८॥
बाहर जाता भीतर आनै, मनहीं मांहीं राम पिछानै ॥
ऐसै हरि की कीजै सेवा, राम निरंजन अलष अभेवा ॥१९॥

साधां मांही आवै गावै, मैं तैं ममता मर्म नसावै ॥
या की कछु किम्मत नांहीं, ऐसी समझ पड़ी मन मांही ॥२०॥
जन कल्याणदास या हरि की गाथा, जीवड़ा रहिये हरि के साथा ॥
मेरा मनकै उपज्या भेवा, ऐसे कीजे हरि की सेवा ॥२१॥
भजन करै कै टूका दीजै, और भर्म कोई नहीं कीजै ॥
एक वैर हरि मारग पावै, कल्याणदास जन कहि समझावै ।२२
मारग पाय रव्है वैरागी, कनक कामनीं दोन्यूं त्यागी ॥
त्यागिर आवै हरि की ओटा, तो जन्म २ का भाजै टोटा ॥२३॥
सांचा साहिब सांची वाणी, या दुनियाँ तैं उलटी ताणी ॥
परम ज्योति में कीया वासा, ऐसै निपजै हरि का दासा ॥२४॥
हरि का मारग सबतैं नीका, और धर्म सब लागै फीका ॥
कर्म भर्म कोई नहीं लागै, राम नाम में निशदिन जागै ॥२५॥
साची सेवा साचा साधू, साहिब सुमिरौ राम अगाधू ॥
जामैं नहीं मरै कोइ नही आवै, साहिब मांही जाय समावै ॥२६॥
उदबुद सांई उदबुद खेला, अपना साहिब रहै अकेला ॥
नष शिष सेवा · सुमरण राम, ऐसे मन पाया विश्राम ॥२७॥
ऊजल निर्मल अमृत नीर, जन्म २ की मिट गई पीर ॥
जोग मूल का मारग पाया, प्रेम प्रीति अंतर ल्यौ लाया ॥२८॥
साची सेवा साचा राम, लोभ मोह व्यापै नहिं काम ॥
ऐसी कथा और नहिं जाणै, साहिब अपनां मांहिं पिछाणै ॥२९॥
हरिजी आया मारग पाया, मनहीं मनमें गोविंद गाया ॥
मनही मनमें सुमिरण कीया, तन मन जोबन हरि कूँ दीया ॥३०॥
त्यागै पांचू और पचीस, हरि कूं सौंपै तन मन शीश ॥
शबद अनाहद बाजै तूरा, सोइ हरिजन हरि का पूरा ॥३१॥
त्यागै माया त्यागै देही, तौ मन पावै राम सनेही ॥
जुरा न व्यापै काल न खाई, हरिजन हरि में रह्या समाई ॥३२॥

नगरी मांहीं आनंद देव , राम निरंजन अलख अभेव ।।
कल्याणदासजन देखि हिरानी , आतम पाया उदबुद ज्ञानी ।।३३।।

इति श्री ज्ञानसार आत्माविचारग्रंथ संपूर्णम्

संतो सतगुरु कहै विचारा , सुमिरो सिरजन हारा ।।टे०।।
बहु संगति में मन फूटि है , बहु संगति नहीं कीजै ।।
गुरु गोबिंद के शरणै रहिये , अमी महारस पीजै ।।१।।
बहु बिधि बाणी बहु बिधिजानी , बहु बिधि बाणी फूटै ।।
गुरु गोबिंद का सुमिरण कीजै , राम रसाइण लूटै ।।२।।
गुरु गोबिंदकूँ बंदि करि , ग्रंथ पद कहि साषि ।।
गोरख भरथरी कबीर नामदेव , हदा भीतर राषि ।।३।।
गुरु गोबिंद के शरणे रहिये , गुरु गोविंद है सार ।।
जन कल्याणदास भजि राम निरंजन , अगम वार नहीं पार ।।४।।

चित लागो रमता राम सूँ , मन बिरच्यो विषया वाम सूँ ।।टेर।।
जीव साध संगति मिल बूझै , ऐसै अविनाशी हरि सूझै ।।१।।
ऐसै भाव भक्ति मन धीरा , मिटि जन्म २ की पीरा ।।२।।
जन कल्याणदास सुख पाया , सुख सागर मांहि समाया ।।३।।

जिन पाया साहिब सांई , वै घटि बधि बोलै नांहीं ।।टेर।।
घटि बधि बोलै झूठा , वै साहिब सेती रूठा ।।१।।
जीव ऊपर भेष बनावै , साहिब कबहू न पावै ।।२।।
साच सबद लै तोलै , हरिजन झूठ न बोलै ।।३।।
जन कल्याणदास अब डरिये , अब साहिब शरणौ रहिये ।।४।।

राम रस मीठा रे , अमली बिन पीया न जाय ।।टेर।।
काम क्रोध तृष्णा तजि , पांचूँ इन्द्री और ।।
सोई पीवै राम रस , पावै हरि में ठौर ।।१।।

तन मन आतम सूंपीयै, सुरति निरति सब शीश ॥
राम रसाइण भरि पीया, पूरण है जगदीश ॥२॥
राम रसाइण सार है, ताका वर्णों विस्तार ॥
कल्याणदास जन पीजिये, मेरे जीव का प्राण आधार ॥३॥

राम रस बंकारे, कोई पीवै साधु सुजाण ॥टेक॥
तन मन सौंपै सो पीवै, दूजा पीवै नांय ॥
राम रसाइण पीवतां, आतम हो सुष मांय ॥१॥
यह साधां की रीत है, साहिब सेती प्रीति ॥
राम रसाइण पीवतां, तन मन बैठे जीत ॥२॥
जापै हरि कृपा करी, पीवत रहै अघाय ॥
कल्याणदास जन वीनवै, प्रेम प्रीति ल्यौ लाय ॥३॥

राम रस पीवै रे, पीवै जीवै सोई ॥टेक॥
सब साधां कीमति करी, कीमति लषै न कोई ॥
राम रसाइण पीवतां, जीव अविनाशी होई ॥१॥
तन मन देकरि पीजिये, सिर के साटै राम ॥
कल्याणदास जन यूं कहै, म्हारे मन पाया विश्राम ॥२॥

हरि की कथा सुनि रे प्राणी, साध देय उपदेश ॥
साध बिना पावै नहीं, तेरा ब्रह्म कहींजै देश ॥टेक॥
साधू मांई साधू भाई, साधू पिता हरि देव ॥
साधां बिन पावै नहीं, सांई अलष अभेव ॥१॥
साधू सूरा साधू पूरा, साधां कूं मन देह ॥
साध बिना पावै नहीं, तू राम भजन सुष लेह ॥२॥
गोरष भरतरी कबीर नामदेव, सुनि साधन की साषि ॥
साध बिना पावै नहीं, तूं रामहिं हृदै राषि ॥३॥

प्रमाण गोरष भरतरी, कबीर नामदेव वीर ॥
साध बिना पावै नहीं, राम भक्ति की सीर ॥४॥
साधू हीरा साधू पीरा, साधू अवगति राम ॥
जन कल्याणदास शरणे आया, साधू सारे काम ॥५॥

गरज रहै अंतर राम अलेख,
पांच पचीस तीन गुण भागा, अन्तर रही न रेष ॥टेक॥
हिरदा कंवल में हरि अविनाशी, साहिब अनन्त अपार ॥
ता आनन्द में आनन्द विलसै, अन्तर राम अधार ॥
एकमेक अन्तर कछु नांही, साहिब है महबूब ॥
कल्याणदास जन सुमिरण लागा, पाया साहिब खूब ॥२॥

हम घर आये हरि का जना, राम रतन धन पायो मना ॥टेक॥
दर्शन परसन ज्ञान बिचार, राम रतन धन पायो अपार ॥१॥
चार मुक्ति सहजै घर पाई, प्रेम प्रीति अन्तर ल्यौ लाई ॥२॥
सबद साधन को दर्शन पावै, इडा पिंगला सुषमन गावै ॥३॥
कल्याणदास जन बलि२ जाई, दर्शन परसन रहै समाई ॥४॥

सषी हो दास कबीर गुरु राष्या,
सकल शिरोमणि नाथ निरंजन, अमी महारस चाख्या ॥टेक॥
मैं बलि जाऊं गुसांई तेरी, शरणै ताकिर आया ॥
गुरु गोविंद का सुमिरण कीया, नाथ निरंजन गाया ॥१॥
तन मन देकरि शीश भी दीया, गुरु गोविंद मिलि जीया ॥
महिमा कहा कहूँ जन केरी, अमी महारस पीया ॥२॥
ज्यूं ही कह्या रह्या मन त्यूंही, ऐसा मन का धीरा ॥
कल्याणदास जन सुमिरण लागा, दास कबीर जन हीरा ॥३॥

सषी हो गुरु के शरणै रहिये,
गुरु गोविंद हाथ जब पकड़ै, बहु मारग नहिं बहीयो ॥टेक॥

गुरु की साजै फेर निवाजै, हरि चरणा में राषै ॥
गुरु गोबिंद की कृपा हुई, राम रसाइण चाषै ॥१॥
असली गुरू का भाव हमारे, भरमी गुरू न कीजै ॥
कल्याणदास जन सुमिरण लागा, यूं मेवासा लीजै ॥२॥

अपनो जानि मोहि देष हरि,
अगम अपार पार कछु नांही, सो साहिब मैं ध्यान धरी ॥टे०॥
तुम्हारी गति मति तुमहीं जानो, मैं बपरा परमौज ढरी ॥
हरि चरणां में आय दुरे हैं, अभरा आतम राम भरी ॥१॥
अलष बिनांणी अन्तरजामी, राम नाम कहि छाडि मनी ॥
जन कल्याणदास कोमति कछु नांही, सकल निरन्तर राम धनी ॥२॥

परमसाधक सिद्धपुरुष महात्मा सेवादासजी

हरिदासजी महाराज के शिष्यों में तो अनेकों-अनेकों सिद्ध पुरुष महात्मा थे। उनके पश्चात् जो शिष्यों की परम्परा चली उनमें भी समय समय पर अनेकों सिद्ध साधक महापुरुष हुए हैं उन्ही में महाराज सेवादासजी की गणना है। आप महाराज हरीदासजी की छटी पीढ़ी में हुये जैसा भूमिका में षेमजी बड़ों की परम्परा के निरूपण से सिद्ध है। आप दयालदासजी महाराज के शिष्य थे।

आपका जन्मकाल १६८७ चैत सुदी ६ का था ऐसा आपके पोता शिष्य स्वामो रूपदासजी ने आपकी परचई में लिखा है। रूपदासजी अमरपुरुषजी महाराज के शिष्य थे, अमरपुरुषजी सेवादासजी महाराज के शिष्य थे। रूपदासजी ने सेवादासजी की परचई में उनकी साधना, भ्रमण तथा प्रदर्शित चमत्कारों का निरूपण किय है। जैसा परचई की निम्न दो साखियों से सिद्ध होता है।

सोलह सौ सत्ताणवे, चैत सुदि नौमी दिन ॥
ता दिन बाजे बाजिये, प्रगटे सेवा जन ॥
सतरा सौ अठाणवे, वद पडवा जेठ मास ॥
जन सेवा स्वर्ग सिधाइया, कियो ब्रह्म में वास ॥२॥

इससे स्पष्ट हो जाता है कि महाराज सेवादासजी का शरीर एक सौ एक वर्ष रहा। उनका रचनाकाल अठारहवीं सदी के दूसरे तीसरे चरण ठहरते हैं। निरजनी सम्प्रदाय के रचनाकारों में महाराज तुलसीदासजी व सेवादासजी को ही वाणी रचना में अग्रणी कह सकते है। जितनी विस्तृत वाणियें इन महापुरुषों की हैं उतनी विस्तृत और किसी रचनाकार की नहीं है। वाणी रचना में तुलसीदासजी व सेवादासजी के पश्चात् कल्याणदासजी आतमारामजी रूपदासजी का स्थान है। कल्याणदासजी की पूरी वाणी अभी प्राप्त नहीं है।

सेवादासजी महाराज ने तीव्र तितिक्षा तथा त्याग वैराग के साथ अपनी साधना को सफल किया। उनकी वाणी में सर्वत्र अनुभूति का स्रोत प्रवाहित है। उनने जिन बातों को अपने जीवन में उतार लिया उन्हीं का वाणी में उपदेश दिया है। रचना से प्रतीत होता है कि वे सर्वथा निरक्षर नहीं थे। वे प्रकाण्ड पण्डित नहीं थे पर वे शास्त्रीय ग्यान से शून्य भी नहीं थे। उपासना उननें भी निर्गुण भक्ति को अपना कर की। नाम स्मरण तो उसका अवलम्बन होता ही है। व्यवहार में वे किन्हीं सामाजिक रूढ़ियों तथा वर्ग विशेषों की प्रथा के समर्थक नहीं थे। उनकी वाणी पूरी प्रकाशित हो तभी उनके मनोभावों का रूप सम्यक् सामने आये। यहां तो उनकी वाणी का दिग्दर्शन मात्र ही सामने आयेगा। उननें वाणी रचना में साषी, कुंडलियें, छप्पय, मनहर, सवैया, चान्द्रायण छन्दों का प्रयोग किया है। सबसे अधिक रचना साषियों की है ५७ अंगों में ३५६१ साषियें लिखी गई हैं। दस ग्रन्थो में दोहे चौपाई पांचसौ पिचहत्तर के करीब है। कुण्डलियें चौतीस अंगों पर चारसौ हैं। छप्पय, मनहर, सवैये चौबीस हैं। बारह अंगों पर एकसौ चौतीस चान्द्रायण हैं। अंग नौ पर चमालीस रेषते हैं। राग २१ में चारसौ दो पद हैं। सम्पूर्ण रचना का योग दोहे छन्द से सात हजार से ऊपर होता है। सेवादासजी महाराज से सम्प्रदाय की परम्परावृत्ति में भी बहुत अधिक योगदान मिला आपके शिष्यों में ही महाराज अमरपुरुषजी हुए, जिनके शिष्य प्रशिष्यों की संख्या सैकड़ों में थी। उक्त स्थिति से यह कहा जा सकता है कि महाराज हरिदासजी के पश्चात् सेवादासजी महाराज का आगमन सभी दृष्टियों से निरंजनी सम्प्रदाय की समुन्नति का हेतुरहा आपके समकालीन और भी कई योग्यतम महात्मा निरंजनी सम्प्रदाय में आये जिनका आगे दिग्दर्शन कराया जायगा।

॥ अथ श्री गुरूदेव को अंग ॥

॥ अथ वन्दना ॥

नमो नमो निरंजनम् , निराकार निरलेपकम ॥
सहजानन्द अषण्ड ब्रह्म , अजरौ, अमर, अनूपकम ॥१॥

गुरु पूर्ण परमानन्द है, गुरु अवगति आप अनंत ॥
गुरु व्यापक सब ही मांड मैं, गुरु निराकार भगवन्त ॥
अनन्त कला प्रकास गुरु, भयो तिमर को नास ॥
जन सेवादास बन्दन करै, हिरदै चरण निवास ॥३॥
गुरु गोविंद की वन्दना, द्वैत भेद कछु नांहि ॥
ऐसो जाणि प्रणाम करि, सबै बिघन मिटि जाहिं ॥४॥
गुरु पूरण आप अनन्त है, सब विधि पुरवै काज ॥
पार उतारे सिष्य कूं, बैठे अजर जहाज ॥५॥

साषी—जन सेवादास सतगुरु मिल्या, पाया आतम ज्ञान ॥
पूरण एक लषाइया, दूसर नांही आन ॥६॥
जन सेवादास सतगुरु मिल्या, पाया आतम भेव ॥
सांसा भागा भरम गया, भज अलष निरंजन देव ॥७॥
जन सेवादास सतगुरु मिल्या, अन्तर पट खोले ॥
बहरा फिरि चेतन किया, गूंगा मुख बोले ॥८॥
गुरु समदर सिष्य तरंग है, उल्टि समाना मांहि ॥
जन सेवादास रलि एक होय, सहजे सुष बिलसांहि ॥९॥
जन सेवादास सतगुरु मिल्या, मेहल्या मस्तक हाथ ॥
जाता उल्टा फेरिया, अब सुमिरण लागे नाथ ॥१०॥
सतगुरु सिष्य पर द्रवे, मलचर दे धोवै ॥
जन सेवादास दुरमति सब हरै, सांसा सब षोवै ॥११॥
सतगुरु दरवै सिष्य परि, तब सुमिरण लै लागै ॥
जनम मरण दुःख सब मिटै, सूता फिरि जागै ॥१२॥
सतगुरु दरवै सिष्य परि, तब सुमिरण लै लागै ॥
जन सेवा सुष होवै प्राण मैं, सांसा सब भागै ॥१३॥
सतगुरु दरवै सिष परि, सांसा सब षोवै ॥
तनमन पांचो उल्टि करि, जन सेवा सुध होवै ॥१४

दिल दरपण मंजन करे, गुरु सिकली गर ऐन ॥
जन सेवा भ्रम सारा मिटै, तब आतम पावै चैन ॥१५॥
गुरु सिकली गर सारिया, भरम मिटावै दाग ॥
जन सेवा पूरा गुरु मिलै, तब ही माथे भाग ॥१६॥
सब्द मसकला लाय करि, भरम भगावै दूरि ॥
जन सेवा अन्तरि सुष भया, दरस्या राम हजूरि ॥१७॥
गुरु सिकलीगर कीजिए, सब्द मसकला लाय ।
दुबध्या दूरनिवारि करि, एक रूप दरसाय ॥१८॥
गरु सिकली गर कीजिए, सब्द मसकला बाहि ॥
कर्म काट सब झड़ि पडै, तब दरसै उर माहिं ॥१९॥
गुरु सिकलीगर कीजिए, षोवै दाग अपार ॥
जन सेवा मन उजल करै, तब दरसै अपरंपार ॥२०॥
रवि गुरु एक समान है, प्रगटया जुग मांही ॥
जन सेवा गुरुदेव तै, तिमर अज्ञान मिटाही ॥२१॥
रवि गुरुदेव तै तिमर, अज्ञान होय होय नास ॥
रवि जग माहिं उजास करि, गुरु उरि करै प्रकास ॥२२॥
अन्तर करै उजास गुरु, करम भरम सब षोय ॥
मन की दुबध्या दूर करि, जन सेवा निर्भय होय ॥२३॥
जन सेवा गुरुदेव की, महमा अनन्त अपार ॥
कर गहि राषै डूबताँ, लष चौरासी धार ॥२४॥
जन सेवादास गुरुदेव की, महमा अनन्त अपार ॥
तन मन फेरि सँवारि करि, अमृत पाया सार ॥२५॥
जन सेवादास सतगुरु मिल्या, दीया अजपा जाप ॥
तन मन पवना फेरि करि, अलष लषाया आप ॥२६॥
जन सेवादास सतगुरु मिल्या, महिमा कही न जाय ॥
आप ससीषे करि लिये, हरि अमृत रस पाय ॥२७॥

जन सेवादास सतगुरु मिल्या, सब कुसमल रालै धोई ॥
मैला ऊजल करि लिया, काम कल्पना षोई ॥२८॥
जन सेवादास गुरुदेव की, महिमा कछु अनन्त ॥
पूरणब्रह्म लषाइया, आदि मध्य नहिं अन्त ॥२९॥
पवन प्रवेस न करि सकै, चन्द नहीं तहाँ सूर ॥
सतगुरू तहाँ पठाइया, जहाँ बाजै अनहद तूर ॥३०॥
जन सेवादास सतगुरु मिल्या, कीया बहु उपगार ॥
रंका हीरा बगसिया, जन सेवा गुरु दातार ॥३१॥
जन सेवा दास सतगुरु मिल्या, दीपक दीया जगाय ॥
रोम रोम मैं रमि रह्या, अलष निरंजन राय ॥३२॥
देखो दया दयाल की, हम सूँ कहीं न जाय ॥
अधम उधारे डूबताँ, लिये सुमारग लाय ॥३३॥
जन सेवादास सतगुरु मिल्या, डूबत काढ़ै कूप ॥
सूता जीव जगाय करि, दीन्ही वस्त अनूप ॥३४॥
सगा एक संसार मैं, सतगुरु सिरजनहार ॥
कर गहि काढै डूबतां, सलिल मोह की धार ॥३५॥
जन सेवादास सतगुरु मिल्या, अगम तहाँ गम कीन्ह ॥
तन मन फेरि संवारि करि, रंका हीरा दीन्ह ॥३६॥
जन सेवादास के सीस परि, एक निराकार को छाप ॥
सतगुरु की किरपा भई, तब पाया पूरण आप ॥३७॥
चौरासी कर जीव था, तन मन फेरि सँवारे ॥
जन सेवा सतगुरु महर करि, भौसागर पार उतारे ॥३८॥
सतगुरु भाण प्रकासिया, हिरदै भया उजास ॥
जन सेवादास सांसा गया, हुआ भरम का नास ॥३९॥
गुरु मोज कृपा गुण क्या कहूँ, दीया भेद बताई ॥
अनन्त सेस मुख रसनहि होई, महिमा कही न जाई ॥४०॥

जन सेवादास गुरुदेव कूँ, क्या लै कीजै पेस ।।
बलिहारी गुरुदेव की, कीया तत उपदेस ।।४१।।
बिन सेवा बिन बन्दगी, गुरु भये परम कृपाल ।।
जलता सीतल करि लिया, बिषम मोह की झाल ।।४२।।
जगत कूप बिष धार में, बूड़े था यो जीव ।।
पर उपगारी गुरु भये, आप सरीषा कीव ।।४३।।
आपे अपणे जाणि करि, गुरु भये परम कृपाल ।।
सूते लिये जगाय करि (पल मै), पल मैं किये निहाल ।।४४।।
जग अंधियारी रैन मैं, सोवत लिये जगाय ।।
मृतक लिये जिवाई करि, राम अमी रस पाय ।।४५।।
जग झल मैं केते जले, ताका वार न पार ।।
गुरु के सरणे ऊबरे, नहिं बूड़े थे बिषधार ।।४६।।
बूड़े थे पणि ऊबरे, गहि गुरुचरण जिहाज ।।
जन सेवादास दुःख सब ही मिटै, सरे सबै ही काज ।।४७।।
जन सेवादास सतगुरु मिल्या, किया और ही घाट ।।
बिषया ते मन फेरि करि, अगम दिषाई वाट ।।४८।।
वेद कतेब पुराण तैं, वा राह लषी न जाई ।।
जन सेवा अन्तर मैं लही, सतगुरु दई लषाई ।।४९।।
साचाँ सतगुरु जब मिलै, तब प्रगटै पूरण भाग ।।
कसणी दे कंचन करै, तब पावै परम सुहाग ।।५०।।
बा राह अति बारीक है, गुरु बिण लहीन जाई ।।
जन सेवा सतगुरु जब मिले, तब अन्तर देह लषाई ।।५१।।
जन सेवादास सतगुरु मिले, तब ही उतरे पारि ।।
भौ सागर संसार है, नाँव नाव मँझारि ।।५२।।
गुण, इन्द्री, मन के कहै, भरे नहीं जन बिष ।।
जन सेवादास सहजे तिरे, गहि सतगुरु की सीष ।।५३।।

सतगुरु काढे काल मुखि, लोचन आंजे ऐन ॥
जीव सीव समि हो गया, सुणि सतगुरु के बैण ॥५४॥
सतगुरु सब्द स्रवण सुने, सोवत थे जागे ॥
काल मुखते ऊबरे, निरंजन नाँवं लागे ॥५५॥
उल्टा सुल्टा करि लिया, मृतक लिये जिवाय ॥
बहरा चेतन करि लिया, हरि अमृत रसपाय ॥५६॥

॥ अथ वीनती को अंग प्रारम्भ ॥

सब जग तेरा कहत है, तेरा करि माने ॥
मेरा मन की चोरियाँ, तुम सूं नहिं छाने ॥१॥
पाँचो सर नहिं होत है, मैं तो अबला नाथ ॥
तुम सांई समरथ हो, कर गहि राखो नाथ ॥२॥
मैं तो निबल सबल हैं पांचो, उर अन्तर गाजै ॥
तुम किरपा ते रामजी, दूंदर सब भाजै ॥३॥
जन सेवो कह सुण बापजी, मैं बिषे मगन बुद्धि हाँणि ॥
पार उतारो रामजी, बिरद आपणो जाँणि ॥४॥
बिषै मगन मो मन रत, नांव न तेरा लेह ॥
पतित उधारण हम सुणे, बिड़द तुम्हारो एह ॥५॥
हम तो निर्बल बल नहीं, ज्ञान जोग को ईस ॥
जनसेवा अपणा जाण करि, पार करो जगदीस ॥६॥
मन, इन्द्री निग्रह तप नहीं, न मेरे साधन और ॥
एक तुम्हारो आसरो, तुम बिन नाहीं ठौर ॥७॥
ना मेरे शील न सांच है, ना मैं लीया नांव ॥
बिड़द निबाहण जगत गुरु, जन सेवा मैं बलि जांव ॥८॥

संतोष न जरणा त्याग है, मोबल नाहीं ईस ॥
सेवादास जन बीनवै, तुम शरणे जगदीस ॥९॥
गुन्हां अनंत गुसांई मुझ मैं, गुन्हा न आवै ओड़ ॥
मुझ देखत तो अनन्त हैं, तुम देखत हैं थोड़ ॥१०॥
तुम हो तैसी महर करि, तुम तैसा दे नांव ॥
जन सेवादास की बीनती, बाप राम बलि जाँव ॥११॥
राषो दयाल दया करि, सरणे सिरजनहार ॥
सेवादास जन बीनवै, मेरे प्रीतम प्राण अधार ॥१२॥
षानाजाद गुलाम की, अर्ज सुणो जगपति ॥
बिषिया तें मन फेरिकरि, तुम मांहि करि रति ॥१३॥
बन्दा कहत पुकारि करि, सुनो अनंत भवन के ईस ॥
जहां तहां ले राषियो, तुम सरणे जगदीस ॥१४॥
बन्दे का कछु जोर ना, जहां पठवो तहां जाहि ॥
जहां तहां ले राषिया, बन्दा तुम ही मांहिं ॥१५॥
नरक पठावो तो सही, भांवै चरणा मांहि ॥
सेवादास जन बीनवे, बन्दे का बल नांहि ॥१६॥
सूली द्यो भावै सहज सुख, सेवो जन कह टेरि ॥
एक रमैया तुम बिना, ओर न जांचू फेरि ॥१७॥
चेरा तेरा नाथजी, तेरे सारे नाथ ॥
भावै मारि बहाय द्यो, भावै गहि राखो हाथ ॥१८॥
भावै मारो तारो सांईया, तेरे नांइ बिकांहि ॥
सेवादास जन बीनवै, दखल और का नाहिं ॥१९॥
मेरे ओगुण हैं घणे, तुम हो गुणा अछेह ॥
महर तुम्हारी जगतगुरु, नांव दया करि देह ॥२०॥
नांव दया करि दीजिये, अन्तरि लै उपजाइ ॥
सेवादास जन बीनवै, तुम सुणो निरंजन राइ ॥२१॥

मोहे काल ग्रासे जगत गुरु, कीजै ऊपर मोर ॥
चोटी कटा गुलाम है, सेवादास जन तोर ॥२२॥
तुम बिन मेरे नाथजी, नाहीं कोई और ॥
जन सेवादास की बीनती, कर पकड़ो हरि मोर ॥२३॥
मैं तो तेरा नाथ जी, तुम मेरा करतार ॥
सेवादास जन बीनवे, मोहि उतारो पार ॥२४॥
मैं तो तेरा नाथ जी, कर पकड़े हरि मोर ॥
जन सेवादास की बीनती, तुम बिन नाहीं ठोर ॥२५॥
मैं अपराधी जनम का, कीया बहुत अपराध ॥
सरण गह्यां की लाज है, करुणा सिंधु अगाध ॥२६॥
मैं अपराधी जनम का, कीया पाप अघाय ॥
तुम तजि लागे आन सूं, अब राखो हरि सरणाय ॥२७॥
मैं अपराधी जनम का, अजहूं पाप करन्त ॥
जन सेवादास की बीनती, तुम सरणे उबरन्त ॥२८॥
मैं अपराधी जनम का, मन मैं पाप घणा ॥
मैं जीव निर्बल राम जी, बैरी पांच जणां ॥२६॥
मैं अपराधी जनम का, मोसा बुरा न और ॥
तुम तजि लागै आन पथि, ताकूं है कहां ठौर ॥३०॥
मैं अपराधी जनम का, कीये बहुत गुनाह ॥
सब्द बाण लागे नहीं, पहरी कर्म सनाह ॥३१॥
देही मैं अरि, रिपु घणा, हम बल कछु न बसाइ ॥
करुणानिधि करतार तुम, तुम ते सब कछु थाइ ॥३२॥
काम क्रोध बैरी सबल, मैं जन दुर्बल एक ॥
जन सेवादास की बीनती, दीजै सुमिरण भाव अनेक ॥३३॥
तुम दाता मैं जाचगी, दया करो हरि मोहि ॥
जन सेवादास की बीनती, मैं सरण रहूं हरि तोहि ॥३४॥

फूटो मन भटकत फिरै, तुम जाणो सब गति ॥
तुम आगे मैं नाथ जी, कहा दुराऊं पति ॥३५॥

मैं दुर्वल जन एकला, बहु वैरी वलवन्त ॥
मो वल कछु पहुँचे नहीं, तुम वल वहु भगवन्त ॥३६॥

जिहिं तुम राषो राम जी, तिहिं लगे न ताती वाय ॥
जन सेवादास की वीनती, मेरी करो सहाय ॥३७॥

औगुण वगसो नाथ जी, अपणा करि हरि लेह ॥
महर तुम्हारी जगत गुरु, अपणा सुमिरण देह ॥३८॥

चितवो कृपा कटांछि करो, जिहि साम्हो तुम पीव ॥
जन सेवादास सुख मैं रमे, सो दुष क्यो पावे जीव ॥३९॥

तुम हो तैसी कीजिये, मैं हूं तैसी नाहिं ॥
तुम सुष सागर दुष मेटणा, मैं अनीति भरया मन माहिं ॥४०॥

तुम तो तैसी कीजिये, तुम परम सनेही पीव ॥
मैं ओगुण भरया अनीति, चौरासी का जीव ॥४१॥

साहव तो सव ही लषो, कपट कूड़ जीव वाँणि ॥
जन सेवादास तव ऊवरे, हरि ओगुण वकसो जाणि ॥४२॥

मैं ओगुण ही का पूतला, तुम गुणवन्ता पीव ॥
जगजीवण ओगुण वगसियो, तव ही ऊवरे जीव ॥४३॥

हिरदा माहिं हरि बसो, लषो जीव की घात ॥
तुमसों कहा छिपाइये, तुम जाणो सव वात ॥४४॥

तुम जाणराय हो जगत गुरु, तुम ते कहां दुराइ ॥
जन सेवादास की वीनती, मेरा ओगुण सव वगसाइ ॥४५॥

जन सेवादास की वीनती, सायव करो मया ॥
सायव अपणा जाणि करि, ओगुण करो गया ॥४६॥

जन सेवादास की बीनती, याही मोज द्यो मोहि ॥
पाव पालक बिसरूँ नहीं, हिरदा सूँ हरि तोहि ॥४७॥
जन सेवादास की बीनती, तेरी तिवणि देह ॥
जित देषूं तित तू ही तू, नैना यो ही सनेह ॥४८॥
कहि समझाओ बाप जी, मैं बालक बुद्धि हीन ॥
सेवादास जन बीनवै, मन करि तुम मैं लीन ॥४९॥
जन सेवादास की बीनती, सुनो अनन्त भवन पतिराइ ॥
भाव भक्ति विस्वास द्यो, मन तुम मैं रह्यो समाइ ॥५०॥
ना सुष चाहूँ स्वरग को, नहीं मुक्ति की आस ॥
सदक सबूरी भजन तुम, मांगे सेवादास ॥५१॥
रिद्धि सिद्धि हुं मांगू नहीं, न करूँ मुक्ति की आस ॥
चरण सरण राषो सदा, जन सेवादास कै प्यास ॥५२॥
आसण अचल तहां रहूं, तुम साहब मैं दास ॥
जन सेवादास की बीनती, दीजै चरण निवास ॥५३॥
हरि महर करो तुम नाम द्यो, तुम पै मांगत एह ॥
और कछू नहिं चाहिये, अन्तरि हरि हरि देह ॥५४॥
दया तुम्हारी जगत गुरू, दीजै भक्ति पसाव ॥
सब हिरदे ते दूरि करि, एक रमैया आव ॥५५॥
जन सेवादास की बीनती, मेरे चाहि न और ॥
हिरदा माहीं आव तू, तुम देषूं सब ठौर ॥५६॥
समरथ सिरजन हार सुणि, जन सेवो करे पुकार ॥
सब ही ओगुण माफ करि, हिल मिल दे दीदार ॥५७॥
नैन बैन हिरदे कपट, रोम रोम भरपूरि ॥
विष कूँ अमृत करि पिवे, अमृत छाड़े दूरि ॥५८॥
नैन बैन हिरदे कपट, रोम रोम के मांहि ॥
जन सेवादास की बीनती, गुन्हा मेटि बलि जाहिं ॥५९॥

नैन बैन हिरदे कपट, सब घट कपट अनन्त ॥
जन सेवा साहिब क्यों करिमिलै, सब ही भाषत सन्त ॥६०॥
नैन बैन हिरदे कपट, कहौ क्यों करि पाऊँ तोहि ॥
काम क्रोध अरि उर बसे, कहि समझाओ मोहि ॥६१॥
सील सांच सन्तोष गहि, सब घट आतम जाणि ॥
मन सुरति पवन समेट करि, इहिं बिधि मिलिये आणि ॥६२॥
मन पवना सुरति समि करि, अन्तरि हरि गुण गाइ ॥
जन सेवादास तव सहज मैं, सकल करम झड़ि जाइ ॥६३॥
साहिब मन कूँ फेरि करि, तेरा सुमिरण देह ॥
मैं चौरासी का जीव हूँ, हरि अपणा करि लेह ॥६४॥
जन सेवा कुटिल कठोरता, उर ते सब छुटि जाइ ॥
तब साहिब सहजै पाइये, साधु कहे समझाइ ॥६५॥

॥ इति विनती को अंग सम्पूर्ण ॥

॥ अथ सजीवनि को अंग प्रारम्भ ॥

जन सेवादास सतगुरू दई, ओषद एक अनूप ॥
पीवत मिटे विकार सब, पलटि किये सुषरूप ॥१॥
जन सेवादास व्यापे नहीं, जुरा मरण भय काल ॥
ऐसी ओषद् गुरु दई, पीवत भये निहाल ॥२॥
रोग बड़ा दारु बड़ी, जाणि दई गुरुदेव ॥
जन सेवादास वेदन गई, पाया अलष अभेव ॥३॥
ओषद् अजब अनूप गुरु, हिरदे दई लषाई ॥
जन सेवादास अब सुष भया, सुष मैं रह्या समाइ ॥४॥
राम नाम ओषद अजब, रमे तो टूटे रोग ॥
ता घट मैं भेदे नहीं, जा घटि सांसे सोग ॥५॥

राम सजीवन ओषदी, ले राषे मन माहिं ॥
जन सेवा सुष होय प्राण में, कोटि विघन टलि जाहिं ॥६॥
राम सजीवन ओषदी, ले राषे मन माँहि ॥
और विघन व्यापे नहीं, चौरासी दुःष जाँहि ॥७॥
जन सेवादास हरि सुमिरतां, कोटि विघन का नास ॥
याही ओषदी सति है, जे मनि आवे विस्वास ॥८॥
जतन करे नहिं पौन का, तो ओषद दोस न नाहिं ॥
जन सेवादास व्यापै नहीं, बूरी विथा मन माहिं ॥९॥
राम नाम निज औषदी, रुचि पीवे जे कोई ॥
जन सेवा मरे न जनम ले, कलि अजरावर होई ॥१०॥
राम अमी रस जिहि पिया, ते अमर भये संसार ॥
जन सेवा सब दुःष कटि गये, नाव तणै आधार ॥११॥
जेहिं मुख राम रह्यो नहीं, ते मरि मरि जाहिं संसार ॥
जन सेवा ज्यांही हरि भज्यो, ते अमर भये भोपार ॥१२॥
राम बिमुष केते मरे, मरि मरि आवें जाहिं ॥
जन सेवा ज्यां हरि रस पीयो, ते हरि ही माहिं समाहिं ॥१३॥
अषै अमर अविगति है, अषे अमर होइ दास ॥
जन सेवा हरि रस पीजिये, करि करि मन मैं प्यास ॥१४॥
हरि अमृत रस जिहि पिया, करि करि मन मैं प्यास ॥
जन सेवा मरे न जन्म ले, अमर भये निजदास ॥१५॥
लीन भये हरि नाँव मैं, भये सजीवन दास ॥
जन्म मरण दुःष सब कटे, अभै अमरपुर बास ॥१६॥
नाम सजीवनि जिंहि पिया, ते भये सजीवन प्रान ॥
जन्म मरण दुःष तनि सहे, जे हरि तजि लागे आन ॥१७॥
राम कहत राम ही मिलें, जन सेवा अन्तर रहे न काइ ॥
जैसे बूंद समंद मैं, मिल भये एक माइ ॥१८॥

सकल अघ सहजै कटे, रटे ज रसना राम ॥
जन सेवा निर्भय होइ रहे, सुधरे सब ही काम ॥१९॥
राम विमुष जब सब मरे, भजै न केवल राम ॥
जन सेवा केवल हरि भज्यो, सुधरे तिन के काम ॥२०॥
नाम कबीर रैदास कूँ, देषो नर निरताइ ॥
नाँव प्रताप निरभै भये, फिरि जग नहि जनमे आइ ॥२१॥
नाँव न छाड्यो पषवंध्यो, असुरां कै घरि आइ ॥
पिसणजि केते पच गये, दियौज अगनि जलाइ ॥२२॥
जे कोई पीवे राम रस, जे रसनां पावै स्वाद ॥
कबीर कसौटी ना लगी, देखो जन प्रह्लाद ॥२३॥
साध साहब एक ही, अमर होय नहिं नास ॥
नाँव संजीवन अघहरण, कटे जीव की पास ॥२४॥
आतम राम न बीसरे, सदा रहै ल्यो लाइ ॥
जीव ब्रह्म मैं यों मिले, ज्यों दरिया बूंद समाइ ॥२५॥
ओषद हरि का नाम है, रोगी सब संसार ॥
जन सेवादास गोविंद भजे, तब ही मिटे विकार ॥२६॥
जन सेवादास ओषद भली, जे कोई जाणे षाय ॥
पीवत ही सुष ऊपजै, जुरा, मरण, भै जाय ॥२७॥
जन सेवादास ते ही मुये, जिनहिं न जान्या राम ॥
राम जिन्होंने जानिया, तिन के सरें सब काम ॥२८॥

चौपाई :—

राम रसायण भरि भरि पीया, सेवा ते जन जुग जुग जीया ।
अजर, अभय, अविनाशी गाया, गाय गाय तामाहिं समाया ॥
राम रसायण त्रिभुवन सारा, पीया तिन के कटे विकारा ।
जन सेवादास सुष सागर भूले, पीवत छक्या नाँव तहिं भूले ॥

॥ इति श्री सजीवन के अंग सम्पूर्णम् ॥

॥ अथ तत्व निर्णय जोग ग्रन्थ प्रारम्भ ॥

सतगुरु का चरण चित धरहूं , नित अनित को सोधन करहूं ।
नित आतमा देह अनित्ता , याही समझि कहैं सब संता ॥
अशुचि, अनित, अमंगल देही , सत, चित, आनन्द आतम येही ।
षट विकार देह संजुक्ता , आतम सदा जाणिये मुक्ता ॥
सतगुरु सबदां बुद्धि लुभाणी , आतम सदा मुक्त ही जाणी ।
गुरु किरपा ते मारग पाया , अंजन मांहि निरंजन राया ॥
दि्ष्टि पड़े सबही सो माया , तत् स्वरूप गुरुदेव बताया ।
अलिप असंष ससि घट मांही , यो आतम अलिप लिये कहुं नांहीं ॥
यूँ घट घट मांही अघट है स्वामी , नमो नमो तोहि अन्तयामी ।
जोग नहिं भोग, मोह नहिं मायां , अगम, अपार, निरंजन राया ॥
रूप न रेष बर्ण वप नाहीं , अलष पुरुष रमै सब माहीं ।
स्वेत न पीत स्याम नहि राता , रूप विवरजित आप विधाता ॥
वर्णा वर्ण नहीं आश्रमा , नाईं करम नहीं अकरमा ।
ऐसा अलष निरंजन राया , जोति जनम नहीं हरि आया ॥
जोनी जनम संकट नहिं आवै , हरि अगम अथाह थाह नहिं पावै ।
षट दरसन पावै नहि भेवा , हरि अचिंत, अजोनि, अलष अभेवा ॥
षट दरसन षोजे कहुं दूरा , सोतो राम रह्यो भरपूरा ।
ज्यों नभ एक पूर्ण सब ठोरा , ऐसे राम बिना नहिं औरा ॥
अषण्ड, अभंग, अचल, अविनासी, सकल भवन मैं ज्योति प्रकासी ।
अस्थिर अमित अमूरती देवा , सुर, नर, मुनि कोइ लहै न भेवा ॥
अडिग, अडोल अधर अविनासी , अलिष अवीह स्वयं प्रकासी ।
अतीत, अजीत, अगह, अपारा , सबके माहिं सकल ते न्यारा ॥
अवीज, अछीज, अषीज, गुमांई , सब तै असंग रमै सब ठांई ।
अद्वैत, अतीत, अनन्त, अपारा , दुःष सुष रहित सिरजनहारा ॥

ज्यों घन बिजरी वरषे मेहा, नाहि हाणी नभ के येहा।
ऐसे जगत ब्रह्म मैं होई, हाणि वृद्धि नहीं ताँ कोई॥
पाप पुन्य नहिं बन्धन होई, ज्यों का त्यों ही जाणै सोई।
ज्युँ रजु मैं सर्प मुकर मैं झांई, ऐसे हरि मैं जगत दिषाई॥
मन मैं सुपनौ जाय होइ आवै, ऐसे यो जग होय बिलावै।
अज्ञान दृष्टि तैं यो जग भाषै, ज्ञान भये पूर्ण प्रकासै॥
बाहिर भीतर व्यापक सारा, है सब मांहि सकल ते न्यारा।
ज्यूं नभ पूर्ण है इक सारा, घट बाहिर भीतर हैं नहिं न्यारा॥
जैसे ससी रहे आकाशा, अनन्त घरा में किया प्रकासा।
व्यापक असंग अघट घट मांहि, ऐसे राम रमै सब मांही॥
अगम अगम नेति नित गावै, कहां ता को पार कहां ते पावै।
बाणी अनन्त अनन्त अवतारा, जल थल जीव अनंत विसतारा॥
जल थल जीव अनन्त विस्तारा, जल ससि ज्यों देषो तत सारा।
दीरघ लघुता है कछु नाहीं, व्यापक ब्रह्म सकल घट माहीं॥
लघु दीरघ या उपाधि दिषाई, चेतन घट बध है कछु नाहीं।
सोई ससी सरोवर आहीं, सोई ससी सरावां माहीं॥
कीड़ी कुंजर है चेतन सम भाई, लघु दीरघ या उपाधि बणाई।
बाजी माँडै फेर उठावै, तिण ब्रह्मा लों रहण न पावे॥
बाजीगर माया बिसतारी, सकल जीव बन्धे नर नारी।
ता बाजी तैं न्यारा कोइ नाहीं, ब्रह्मा विष्णु महेस हुँ माहीं॥
तू है कारण कारज थारा, पाँच तत्व गुण तीन पसारा।
बीज रूप आदि भगवाना, ताही ते सब जीव उपाना॥
माटी एक बहु भाण्डा होय आया, फिर कारज कारण मांहि समाया।
जैसे बीज मैं वृक्ष होय आया, बहुड़ि वृक्ष ता मांही समाया॥
अनेक आभूषण कनक के होई, गल्या एक रह गया सोई।
ऐसे सब घटि तत् विचारा, ज्यों कंचन भूषण नहिं न्यारा॥

हरि सब मैं सब हरि के मांही, ज्यों तरंग बुद बुदा जल वरतांही ।
तरंग बुदबुदा है जल केरा, पवन मिल्यां जल माहीं बसेरा ॥
पवन वासना जब हो मिटाई, तब रिलि मिलि एक हुआ मिल मांही ।
ज्यों पट तन्तु न्यारा नाहीं, ऐसे ब्रह्म सबै बरताहीं ॥
रमता राम सकल घट मांहीं, ऊँच नीच अन्तर कछु नाहीं ।
पाँच वर्ण की गऊ दुहाई, सब मैं दूध एक सो भाई ॥
बामण, क्षत्री, वैश्य अर सूदा, बीज विगति एक जल बूंदा ।
नीर एक बीज है जूवा, जा मैं पड्या ताहि रंग हवा ॥
थावर जंगम जीव चौरासी, सब मैं व्याप रह्या अविनासी ।
नर, सुर, जल, थल, कीट, पतंगा, रहे सब के माहिं सब ही के संगा ॥
आदि अन्ति मधि तू ही देवा, अगाध, अपार, कोई लहे न भेवा ।
गुरु किरपा ते ये तत् पाया, ऊगो भाण सब भरम मिटाया ॥
करता हरता एक तूं और न दूजा कोइ,
सुमरि सुमरि जन निर्मला रहे आनन्दी होइ ॥

सांची माला सुरति की, फेरे बिरला कोई ।
सुमरि सुमरि रस पीजिये, जन सेवादास सुष होई ॥
जन सेवादास सांची कथा, सत गुरु दई सिषाई ।
अन्तर के पटि दूरि करि, गुरु दीया अलष लषाई ॥
निरबिकार सो ब्रह्म है, सबिकारी जीव ।
जन सेवादास यूँ जाण करि, सुमिरो अपणा पीव ॥
गुरु मूंदे नैन उघाड़ियै, सूते लिये जगाई ।
जन सेवादास आनंद भया, सुष मैं रहे समाई ॥

॥ इति तत्व निर्णय जोग ग्रंथ सम्पूर्ण ॥

।। अथ कुण्डलिया बिरकताई को अंग ।।

धन सब जाणै धूलि समि, संसारी सुष सूल ।
मान जगत की सीष समि, तब होवै हरि अनुकूल ।।
तब होवै हरि अनुकूल, बासना रहै न कोई ।
सुरग मृतक पाताल, देष सुष दाभै लोई ।।
जन सेवा सिद्ध सब रींट सम, तजि नाम गहै निज मूल ।
धन सब जाणे धूलि समि, संसारी सुख सूल ।।१।।

मण्डी मसाणों जहाँ तहाँ, रुंखे वृखे बास ।
आठ पहर गोबिंद भजे, जग ते रहे उदास ।।
जगते रहे उदास, कल्पना सब बिसरावै ।
जो आवै सहज सुभाइ, नहीं मांगरि भिक्षा खावै ।।
सेवग परमोदे नहीं, जन सेवला एक रहे विस्वास ।
मण्डी मसाणा जहाँ तहाँ, रुंखे वृखे बास ।।२।।

करवो कटारी तूमड़ी, जल पातर राखै जन ।
निस दिन हरि सुमरण करै, कर कर निरमल मन ।।
करकर निरमल मन, दरब कै हाथ न लावै ।
फासू लेह अहारजो, रांम अग्या मैं आवै ।।
उदिम जनसेवा ना करै, निर उदिम रहे तन ।
करवो कटारी तूमड़ी, जल पातर राखै जन ।।३।।

छाजन भोजन सहज मैं, करता चिन्त करे है ।
सर्व परिग्रह त्यागि करि, निर्भय हरि सुमिरेह ।।
निर्भय हरि सुमिरेह, आन आसा सब तोड़े ।
जग सुष सपनौ जांणि छाडि, मन हरि सूं जोड़े ।।
हरि बिन दूजी आथि सब, जन सेवा चितन धरेह ।
छाजन भोजन सहज मैं, करता चिन्त करेह ।।४।।

राम दया तैं पाइये, निरगुण दसा वड़ भाग।
करि करवो गलि गूदड़ी, अन्तरि अति अनुराग ॥
अन्तरि अति अणराग, परम सुष लागा जीवै।
तन मन पवना फेरी, अगम का प्याला पीवै ॥
जन सेवा निज तत् उरि लहै, कनक कामणी त्याग।
राम दया ते पाइये, निरगुण दसा वड़ भाग ॥५॥
निरगुण मत धारया रहै, ते जन धनि जग माहिं।
अषे, अमर वर सीस धरि, आन भरोसा नाहिं ॥
आन भरोसा नाहिं, भयै सब तै अणरागी।
लोभ मोह मैंमत मांनि, माया सब त्यागी ॥
जन सेवादास जन निर्मला, सदा परम रस षाहि।
निरगुण मत धारया रहे, ते जन धनि जग माहिं ॥६॥
निरगुण मत धरि हरि भजै, सब मानि विडारे काम ॥
हरि पाव पलक बिसरे नहीं, सिमरे आठो जाम।
सिमरे आठों जाम, आन आसा सब तोड़े ॥
इक भजो निरंजन देव, जगत सुष कबहुन लोड़े।
जन सेवादास छाड़े नहीं, हिरदा ते हरि नाम ॥
निरगुण मत धरि हरि भजै, सब मानि विडारे काम ॥७॥
बिरकत माया मोह सो, परमेस्वर सूँ प्रीत।
जग सुष देषे छार समि, या सन्ता की रीत ॥
या सन्ता की रीति, जीत गुण नाँव संभारे।
काम क्रोध मद लोभ, मोह मैमंता डारै ॥
जन सेवादास बैराग बृत, सब देही का गुण जीत।
विरकत माया मोह सूँ, परमेस्वर सूँ प्रीत ॥८॥
निरगुण मति धरि हरि भजै, सो जन समझ सयांण।
जन सेवादास सोधि बिना, सो नर मूढ अयांण ॥

सो नर मूढ अयाण, तीन गुण माहिं अलूधा।
चोथा की नहिं गम, समझि पथलिया न सूधा॥
तीरथ बरत तपस्या लगै, केई लगै पषाण।
निरगुण मति धरि हरि भजै, सो जन समजि सयाण॥९॥

गुण तजि निरगुण जे भजै, सो निरगुण माहिं समाइ।
गुण पोषै निरगुण कहे, सो निरगुण कदे न पाइ॥
सो निरगुण कदे न पाइ, ईष्ट जहाँ जाय समावै।
जैसा बाहै बीज, बहोड़ी फल तैस पावै॥
जन सेवा आसै पहुंच सी, आगे कदे न जाय।
गुणि तजि निरगुण सो भजै, सौ निरगुण माहिं समाय॥१०॥

सोधि करि सांई भजै, सो जन पहूँचै पारि।
सोधि विन जनसेवला, रहसी वैलि वारि॥
रहसी वैली वारि, पार कोई पहुंचे सूरा।
जाकी आदि अन्त मधि नाहिं, लहै कोई गुरु गमि पूरा॥
ब्रह्मा विष्णु महेश कूँ, तजी एक निरंजन धारि।
सोधि करि सांई भजै, सो जन पहुँचे पारि॥११॥

सुर सिद्ध दस अवतार, ईस्वरी माया जाणौं॥
ब्रह्मा विष्णु महेस, ताही के परै पिछाणौ।
ताहि के परे पिछाणौ, ज्ञान सोधि करि लीजै॥
रमि रह्यो रमता राम, सुमिरि सुद्धि कारज कीजै।
जन सेवादास साचो सब्द, सोधि हिरदा मै आणो॥
सूर सिद्ध दस अवतार, ईस्वरी माया जाणों।

॥ इति विर कताई को अंग सम्पूर्ण॥

।। अथ सांच को अंग ।।

साँच बताया सत गुरु , किया भरम सब दूरि ।
सब घटि एको राम है , सो रह्या सकल भरपूरि ।।
सो रह्या सकल भरपूरि , भेद सतगुरु तैं पाया ।
ता सुष लागा मन , छाड़ी सब वोछी छाया ।।
जन सेवादास साँचा लहया , और तजी झक जूरि ।
साँच बताया सतगुरु , किया भरम सब दूरि ।।१।।
नाथ निरंजन एक है , सब दूजा धन्ध अपार ।
सांचे साहब सेइये , सब झूठा भरम निवार ।।
सब झूंठा भरम निवार , सांच लै हिरदै धारै ।
लोभ, मोह अर ममत , झूंठ तजि साँच संभारे ।।
जन सेवादास अनभै जड़ी , काटै कोटि विकार ।
नाथ निरंजन एक है , सब दूजा धन्ध अपार ।।२।।
सकल सिरोमणि राम रस , ता सुषि लागा जीव ।
अब मन अनत न चलि सके , अन्तर पाया पीव ।।
अन्तर पाया पीव , भेद सतगुरु जब दीया ।
करम भरम सब छांड़ , नाँव निरभय रस पीया ।।
जन सेवादास उरि सुष भया , अर भया पाप सब षीव ।
सकल सिरोमणि राम रस , ता सुष लागा जीव ।।३।।
।। इति सांच को अंग सम्पूर्ण ।।

।। अथ रेषते प्रारम्भ ।।

।। अथ भेष को अंग प्रारम्भ ।।

भेष कूँ पहर करि फूल बैठे सही , भजन का भेद तो हाँथि नाहीं ।
कनक अरु कामणी कीच माया कले , काम अर क्रोध बिष भरे माहीं ।।

कहति साँची कहै रहत काची रहै, एक नाँव निरबाण बिन काल पावै।
दास सेवो कहे सुष तब ही लहै, कहे ज्यूँ रहे तो पार पावैं ।।१।।
भेष कूँ पहरि करि जगत धूते सबै, साँच कूँ छाडि करि काँच लीया।
मन अरु पवन उरि सुरति सिमटी नहिं, लोभ अरु मोहरस जहर पीया।।
कहे अरु सुणे कछु काज सीझे नहीं, जै करै करतूति तो पार पावै।
दास सेवो कहे दादि दरगाह लहै, बहुड़ि संसार मैं नाहिं आवै ।।२।।
राम राजी सदा रहती मैं जन कहे, कहे अरू सुणे कछु सिद्धि नाहीं।
पद साषी कवित्त सीषि लोक कू ठगी, दूनिया सबै डिंभ माहीं।।
रहती न्यारी रही कहण कूँ सर षरू, माहि त्रिष्ना घणी फिरत भूल्या।
दास सेवो कहै साँच कूँ नाँ लहै, काल गहि ग्रासि है झूँठ फूल्या।३।
सांग तो सिंह को स्याल साँचा नहीं, जोग की राह कूँ नाहि पावै।
भेड़ भागी नहीं छूटि हूं कितहूँ, करम सब कूकरा फाडि षावै।।
भजन की वोट जम चोट लागै नहीं, सोभ जन तो बिसरे भरम माहीं।
दास सेवो कहै सुख कैसे लहै, बहुत तृष्णा घणी मित नाहीं ।।४।।
घर, खेत, कूवाँ चलै ब्याज बटो करै, गाय घोड़ो घराँ ठाण देवै।
हाथि षुरपौ लियाँ दोब षोदै सदा, कहो जू कौण विधि नाँव लेवै।।
मन माया मिल्यो तन जोगी कियो, जोग की जुक्ति तो नाहिं पाई।
दास सेवो कहे अबरे कौण विधि, भेड़ ज्यों कूकरा फाडि खाई ।।५।।
मन अरु पवन् सुरति बंधिउलटा चलौ, त्रिवेणी तटि जाइ ध्यान धारो।
पिसण पाँचो पकड़ि ज्ञान का षड़ग धरि, काम अरु क्रोध अरु लोभ मारो।
सील अरु साँच सन्तोष हरदै धरो, परषि जरणां जडी सीस राषो।
दास सेवो कहै हरि रस साराँ सिरे,
और रस छांडि सब हरि रस चाषो ।।६।।

मन, अरु, पवन, कूँ समटि साँई भजो, पांचो को जीत पच्चीस न्यारे।
तीन को त्यागि करि चित्त चौथे धरो, प्रीत सूँ पीव कूँ परस प्यारे।।

सुरति सुलझाय करि छाडि सब देह गुण , पीव संग जीवकूँ लाइ लीजै ।
दास सेवो कहै भजि भरम जीव का , जीव अरु सीव मिल एक कीजै ॥७॥

॥ इति ॥

॥ अथ साध को अंग प्रारम्भ ॥

साध की राह तो बहुत बारीक है , लहै कोई सिष्य मन सुद्ध पूरा ।
काम अरु क्रोध, मद लोभ लालच तजे , मानि अमानि सब करे दूरा ॥
मन अरु पवन कूं फेरि उलटा चलै , सकल मन बासना जाणि षोवै ।
दास सेवो कहै सुख तब ही लहै , उलटि करि आप मैं आप जोवै ॥१॥
अलष की राह तो चलै कोई जोगिया , मन अरु पवन जिन सम कीया ।
चन्द अरु सूर कूँ एक घर आणिया , सुषमणा फेरि करि रस पीया ॥
सील अरु सांच सन्तोष हिरदै धरै , लोभ अरु मोह रस जहर धोवै ।
दास सेवो कहै नूर निरखत रहै , सुरति अरु निरति मिलि माहि पोवै ॥२॥

चान्द्रायण

॥ अथ चिन्तामणि को अंग प्रारम्भ ॥

जीव सींव को भूलि माया चित धरत है ।
यौं आप आपणो नास मुगध नर करत है ॥
चेते नहीं लगार भार सिरि धर रहे ।
हरि हाँ जन सेवा संवारी सोज करता सूँ फिरि रहे ॥१॥
रे फिट फिट जीव अचेत जगत पति भूलियाँ ।
हरि सुषसागर छाड़ि बिषे जलि झूलिया ॥
समझे नहीं अचेत सु जढ निराट रे ।
हरि हाँ जन सेवा बारोड़ी मैं बास पुरानी षाटि रे ॥२॥
प्रीति पुरानी भई न समझे मूरि रे ।
अण आदर की टूक बसायो दूरि रे ॥

तोहूँ प्रीति अचेत न छाड़े बावरो ।
हरि हाँ जन सेवा बिन सुमिरयाँ भगवन्त सहे सिरतावरो ॥३॥
मरणा आजिक कालि चलाऊ हुइ रहया ।
प्रीति घणीं परिवार न तो हूं हरि कहया ॥
यों करियो यों नाहिं सीष सब देत है ।
हरि हाँ जन सेवा आपण भूल्या जाय नाँव नहिं लेत है ॥४॥
सबे जीव जगत माहिं अलूधा आप ही ।
ज्यां बातां होय नास सोई नर थाप ही ॥
साधु सेवा सांच सिमरण जगदीस रे ।
हरि हाँ जन सेवादास जड़ जीव यह सब बीसरे ॥५॥
ओर झोर सब छाड़ि राम गुण गाइये ।
यो ही बड़ो वबेक न बिष फल खाइये ॥
सतगुरु सबद बिचारि समझि हिरदे धरो ।
हरि हाँ जन सेवादास भजि राम मरण का डर करो ॥६॥
तरणापै भयो अन्ध न चेत्यो मूरि रे ।
जन सेवा सिरजनहार बिसारयो दूरिरे ॥
वें दिन खोया बादि दियो मन आन रे ।
हरि हाँ वारोड़ी मैं बास नहीं तिंहि मान रे ॥७॥
अन्ध अबुद्धी जीव मगन बिष पायरे ।
बेड़ी अपणे हाथि स घाली पाय रे ॥
खाट पुराणी बास दीयो बारोड़ियाँ ।
हरि हाँ जन सेवा सुमरियाँ नाहिं पीव सुँ जमघट तोड़ियाँ ॥८॥
मन शक्ति थकां तूँ सुमर सनेही राम कूँ ।
या मनिषा देही देषि धरिये इस काम कूँ ॥
तैं सुत वनिता सुँ मुगध लगाया नेह रे ।
हरि हाँ जन सेवादास भजि राम पलक मैं षेह रे ॥९॥

मन शक्ति थका तूँ सुमर सनेही राम रे ।
हरि बिन सब ही झूँठ तेरे धन धाम रे ।।
काल करत है घात न चेते अन्ध रे ।
हरि हाँ जन सेवादास यह जीव अलूधा धन्ध रे ।।१०।।
मन शक्ति थका तूँ सिमर सिरजन हार कूँ ।
तेरे ज़म की बांहर सबल षडी है लार कूँ ।।
फिरि जुरा षेण कफ बाय बुढ़ापै घेरसी ।
हरि हाँ जन सेवादास सोई सूर सो मन कूँ फेरसी ।।११।।
मन सिमरो सिरजनहार भला छक येह रे ।
बहुडि न लाभे सोंज मिनिष नर देह रे ।।
है बड़ी निधि नर देह क लाहा लीजिये ।
हरि हाँ जन सेवादास भजि रामक कारज कीजिए ।।१२।।
जत, सत, सुमिरण काज दई नर देह रे ।
तूँ विषय विकाराँ लागि करी तन षेह रे ।।
या सोंज सुफल करि लेह जपो भगवन्त रे ।
हरि हाँ जन सेवादास सब कहे पुकारया संत रे ।।१३।।
तूँ रसना हरि के नाम अहो निसि गाय रे ।
तेरे काल अहेड़ी लार षरच नित षाय रे ।।
तू सूतो नीन्द अघाय अल्प सा जीवणा ।
हरि हाँ जन सेवादास छकि एह राम रस पीवणा ।।१४।।
ज्यों अंजली का नीर वीर तन जात है ।
हरि सुमिरण बिन थिर नाहिं काल नित षात है ।।
तूँ हरि भजि लाहाँ ले डांव भल येह रे ।
हरि हाँ जन सेवादास फिरि नहीं लहै नर देह रे ।।१५।।
तूँ नांव निरंजन गाय के जनम सुधारिये ।
यो रतन अमोलिक याहि कहो क्यों हारिये ।।

यो नर नायक औतार फेरि नहिं पावसी ।
हरि हाँ जन सेवादास यो डाँव बहूडि नहिं आवसी ।।१६।।
या जग हटवाड़े आयक सोदा कीजिये ।
लीजै सारा परषि षोटा तज दीजिये ।।
सुणि सतगुरू की सीष गहो निज तत रे ।
हरि हाँ जन सेवादास भौ पारि कहे सब संत रे ।।१७।।
षोलि ज्ञान के नैन चेति तूँ बीर रे ।
क्यों रे तूँ नर षाहि बिषे करि षीर रे ।।
कनक कामणी त्यागि लागि हरि नाँव रे ।
हरि हाँ जन सेवादास भजि राम बिसरि मति जांहि रे ।।१८।।
सब कनक कामणी गालि बिगूते जीव रे ।
भई विपरजै बुद्धि बिसारयो पीव रे ।।
अे दोइ बेड़ी सबलक बन्ध्यो जिहान रे ।
हरि हाँ जन सेवादास एक नांव बिना तन हानि रे ।।१६।।
है माटी की भीति पवन का बंध रे ।
माहीं मिष्टा हाड़ और दुरगन्ध रे ।।
ता सुष मुगध लुभाई नीन्द भरि सोइया ।
हरि हाँ जन सेवादास ते अन्ध जुगै जुग होइया ।।२०।।
वेद साध की सीष एक नहि राषही ।
विष रस पीवै अन्ध अमृत करि चाषि ही ।।
मरणे का नहिं भै भरम मैं भूलिया ।
हरि हाँ जन सेवादास ते मुगध विषै मैं फूलिया ।।२१।।
तात मात परिवार दुलहनि नारि रे ।
तूँ झूठाँ सुख सूँ लागि चल्यो तन हारि रे ।।
ऐसे बटाऊ मीत प्रीति क्यों कीजिये ।
हरि हाँ जन सेवादास भजि राम जहाँ लगि जीजिये ।।२२।।

मिनष जलम धारि देह बिणज की होस है।
सब उलझि रहे बिचि माहिं काल की धोस है॥
जब पकड़ि लिया गढ़ घेरि पछै पछताइये।
हरि हाँ जन सेवादास या सोंज बहुड़ि नहिं पाइये॥२३॥
पकड़ि लेह जम काल पछै पछिताइ हो।
रे हरि सुमिर्यो नहिं वीर नरकि यूँ जाइ हो॥
रे झूठे जग के नेह बन्ध्यो नर बावरा।
हरि हाँ जन सेवादास हरि ते विमुख सहे सिर तावरा॥२४॥
सब नर कोठी वाल दिरब करतार का।
षाय सके नहिं षरचि पाप है लार का॥
तन, मन, धन, हरि हेत समर्पण कीजिये।
हरि हाँ जन सेवादास सुष होई राम रस पीजिये॥२५॥
जीवन अल्प जग मांहिक क्यों थिर होइ रह्या।
मोह मेहल में बास मगन होइ सो रह्या॥
नित काल करत है घात न संगी सज्जना।
हरि हाँ जन सेवादास जीव एकक बैरी है घणा॥२६॥
चूना कलि लगाइक महल बणाईया।
फिर सुत बनिता के हेत मुगध लपटाईया॥
सब छाड़ि चलै परिवारक नेहा फिर दहै।
हरि हाँ जन सेवादास यह जीवक नीचा यूँ वहै॥२७॥
हरि परम स्नेही छाडक आन सगाइयाँ।
जब कोपे जमरायक मारस झाँइयाँ॥
रे तूँ क्यों भूलों अन्ध सनेही पीव कूँ।
हरि हाँ जन सेवादास यूँ मार पड़े हो जीव कूँ॥२८॥
यो बिष रुपी संसारक प्रीति न कीजिये।
रे सुत वनिता के नेह कबहुँ न धीजिये।

मोह पासि गलि बन्धे पगां मैं बेड़ियां ।
हरि हाँ जन सेवादास भजि राम कूँ जम सिर खेड़ियाँ ।।३०।।
नाना विधि के नेह देह सूँ त्यागिये ।
रे सोवे कहाँ अचेत ज्ञान ले जागिये ।
कहो या में तेरा कोण समझि मन मांहि रे ।
हरि हाँ जन सेवादास कहाँ देखि लुभाणो ताहि रे ।।३१।।
मन मानि लिया सुख गेह न्याय दुःख सहत है ।
सब स्वार्थ के संग लागि अधो गति बहत है ।
फिरि लख चौरासी जूनि देह जब धरत है ।
हरि हाँ जन सेवादास यों नास आपणा करत है ।।३२।।
तू सुमिरि सनेही राम कहो क्यों आलसे ।
वो सदा गिणत है सांस ऊभो सिर काल से ।
तू छीलर जग सुख छाड़ि करो सिंध सीर रे ।
हरि हाँ जन सेवादास या घात भली है वीर रे ।।३३।।
मन शक्ति थका तूँ सुमर सनेही पीव कूँ ।
या परबस होसी देह कहत हूं जीव कूँ ।
रे नैना ऊपरि हाथ गहे कर डांगड़ी ।
हरि हाँ जन सेवा थर हर कांपै देह लटक जाइ चामड़ी ।।३४।।
तूँ परम सनेही राम सिमिर मन बावरा ।
यो जग बादल की छांह बिषरि होइ तावरा ।
सब स्वारथ के मीत हितु नहिं कोइ रे ।
हरि हाँ जन सेवा तात परिवार देख्या सब जोइ रे ।।३५।।
कुटुम्ब स्वार्थ समझया जीव का नास रे ।
झूँठ साँच करि उद्यम गांठि पासरे ।
फिरि पड़े सांकड़े जीव हितू जब को नहीं ।
हरि हाँ जन सेवादास कहां देखि भुलाणों ताम ही ।।३६।।

सब स्वारथ के मीत हितू नहीं कोइ रे ।
तात, मात, सुत नारि देष्या जोइ रे ।
सज्जन, बन्धु, परिवार, सबै ही स्वारथी ।
हरि हाँ जन सेवादास तूं देखि ज्ञान की आरसी ॥३७॥
मुगध रहे गरकाव गुमानी गरब मैं ।
नर सूते नींन्द अघाय रचे गृह दरब मैं ।
काल तके है निति नहीं तोहि सुधि रे ।
हरि हाँ जन सेवादास यो मुगध बिसरी बुधि रे ॥३८॥
पढ़त गुणत अरु कहत भूला सब जीव रे ।
जग सुख सुपने राचि बिसारे पीव रे ।
मृग तृष्णा ज्यों जुगि मिटै नहिं प्यास रे ।
हरि हां जन सेवा भरमि पड़े जग मांहि समझि बिन नास रे ॥३९॥
कहत सुणत जग मांहि अलूधा जीव रे ।
बिष रंगि राचे जीव बिसारया पीव रे ।
साध वेद सब कहे पुकारयो एह रे ।
हरि हां जन सेवा दूसर नाहिं और संगी हरि छेह रे ॥४०॥

॥ इति चिन्तामणि को अङ्ग सम्पूर्ण ॥

॥ अथ बन्दना जोग ग्रन्थ प्रारम्भ ॥

नमो नमो निरंजनम्, अभै करण भौ भंजनम् ।
निराकारम् निरविकारम्, निरलैप निराधारम् ॥
निरच्छर निरालम्ब, चिदानन्द अरुपकम् ।
परमतत्वं परमतेजं, परम शान्तिश्वरूपकम् ॥
परम ज्ञानं परम ध्यानं, परानन्द परमादि पुरुष ।
अजरो अमर अनूपकं, परम जोगं परम जापं ॥

स्वयं ज्योति प्रकासितं, परमपदं परम अरचितं।
अक्षर अकुल अजनमयं, अगह अरचित निरगुण ब्रह्म॥
रमता राम अचल देव, परमपावन पापहरण परमदेव।
सुख निधान अच्छेद अविनासी, अलष रूप सर्व व्यापक॥
जन सेवादास बन्दन करै, नमो नमो निज देव।
सुर नर गति पावै नहीं, अलह अलष अभेव॥
जन सेवादास करि बन्दना, ज्ञान ध्यान धरि देष।
वार पार कीमति नहीं, अपरमपार अलेख॥

॥ इति वन्दना जोग ग्रन्थ सम्पूर्ण॥

॥ अथ गुरु मन्त्र जोग ग्रन्थ प्रारम्भ॥

मन्त्र नाम गुरुदेव सुनाया, सनमुख करि सतगुरु समझाया।
पांचों उलटि अगम रस पाया, ऊजड़ जाता मारग ल्याया॥१॥
ऊजड़ ही कूँ चलतो बौरा, सतगुरु फेरि लगायो ठौरा।
यो मन दसों दिसा को बहता, सतगुरु फेरि किया है रहता॥२॥
रहता के संग बहता ल्याया, अस्थिर भया परम सुष पाया।
ज्यों पी पारा मूसा थिर होई, यूं मन अब चलण न पावै सोई॥३॥
सतगुरु सोधि लिया सब संघणा, मारया बाण नहीं अब चलणा।
सतगुरु मनवा घायल कीया, निर्भय एक अमर फल दीया॥४॥
तिस फल का कछु अगम विचारा, सबके सिरे राम रस सारा।
षाता रोग बिथा सब गई, ऐसी ओषद सतगुरु दई॥५॥
रोग असाध बड़ ओषद ल्याई, अब सुष में दिन रेण बिहाई।
सतगुरु बिथा सोधि सब षोई, किया अमल नहीं मल कोई॥६॥
तन मन सतगुरु ऊपरि वारूं, चरण कमल हिरदे ले धारूं।
तन मन आतम अरपण कीजै, सतगुरु के चरणा चित दीजै॥४॥

दरसण करतां उपज्या भाऊ, भया समान रंक अरु राऊ।
सतगुरु मन्त्र दिया उपदेसा, सोई मन्त्र रटै सिव सेषा ॥८॥
तारिग राम हृदय मैं धारा, ये तो सतगुरु के उपकारा।
ररंकार रमिया घट माहीं, तब दूजा और नजरि नहिं आही॥९॥
ररंकार सूं जब धुनि लागी, नृभै भया रहे त्रिष त्यागी।
नृभै भया काल भय भागा, केवल नांव निरन्तरि लागा ॥१०॥
समरथ के सरणे जे आवें, तो जम की ताप लगण नहि पावे।
सतगुरु सिर पर राखि कबीरा, हरि सुमरौ भौ सागर तीरा ॥११॥
बांकी धार डूबण नहिं पावै, सीस कबीर राषि ल्यौ लावै।
मैं तैं आपा गर्व निवारै, हरि भजि साधु प्राण उधारै ॥१२॥
आपा गर्व गुमान अहंकारा, ए सब तजै भजै करतारा।
जोग मूल गहि तजै पसारा, तब जग तिरत न लागै बारा ॥१३॥
सास उसासे नांव संभारे, गुरु गोविंद हृदय मैं धारे।
गुरु गोविंद की आज्ञा से ही, सास उसास संभाल सनेही ॥१४॥
सास संभाल तोहि निकट बतावै, बाहरि भरम भूलि मति जावै।
नाभी नासा बिच पन्थ गहीजै, प्रेम पियाला भरि भरि पीजे ॥१५॥
जब काल जाल लागै नहि कोई, हरिजन हरि भजि निरभै होई।
ज्ञान विचार विवेक सुनाया, सतगुरु अन्तर सांच लषाया ॥१६॥
करम भरम जाल जुग जेते, उनै सतगुरु मेटे रहे न तेते।
इड़ा पिङ्गला सुषमणि मेला, तब आतम सुख बिलसे बेला ॥१७॥
इड़ा पिंगला सुषमणि सगा, तब आतम जाणि रंगी हरि रंगा।
गुरु ब्रह्म अग्नि अन्तर प्रजाली, दोई दोई लकड़ी जुगती करि जाली।१८।
ब्रह्म अग्नि मैं करम दहाया, तब जीव जोगी धरै न काया।
मनसा जोगणी उलटी समाणी, नो द्वार फिरि भरै न पानी ॥१९॥
उल्टी नेज अगम तहां लागी, सीतल भया त्रिषा सब भागी।
बरषै अमी अषण्डित धारा, सुषमणि सींचे बाग हमारा ॥२०॥

आतम फूले रुचि बसंता, काम, क्रोध, विष रस रहंता ॥
अनहद बाजा अन्तरि बाजै, परम ज्योति निरषै चढ़ि छाजै ।२१।
परम ज्योति सुष वार न पारा, वो सुख निरषै साधु सारा ॥
वा सुष या सुष अन्तर भारी, इक दिन इक रेणि अंधारी ॥२२॥
वा सुष का है अगम विचारा, विलसेगा कोई संत पियारा ।
बिलसे जागता कोई जोगी सूरा, जाके बाजै अनहद तूरा ॥
पाँचो चेला बसि करि राषै, सुणे सब्द सतगुरु यूँ भाषै ।
पछिम किवाड़ी षोले जोगी, सो अमर जुग जुग रस का भोगी ॥
अमर जड़ी बटवै धरि मेल्हे, परचै लागा जोगी षेले ।
सील मुद्रा जोगी सति धारे, सींगी सुरति हरि नांव उचारै ॥
काया कंथा धीरज झोली, साठै तार इकीसूँ कोली ।
छैसै सहस इकीसूँ धागा, अन्तरि बैठा बणनै लागा ॥
तांणि वांणि बणि गाढ़ी भाई, ऐसी बणि फिर काटि न जाई ।
सहज सील की भिक्षा पावै, सो जोगी यमपुरी न जावै ॥
गगन मंडल मैं मढ़ी संवारै, निर्भै रहै काल भै मारै ।
अमर पुरुष सूं जब ध्वनि लावै, तब काल जाल निकट नहिं आवै ॥
हरि सुषसागर कीया बासा, जग छीलर तजि भये उदासा ।
जग सुष तजि हरि सुष गहि लीना, तन मन उल्टि राम रस पीना ॥
तन मन पवना सुरति मिलावै, तब वो सायब का दरसण पावै ।
अलष निरंजन अवगति रामा, संत सुमिरि भये निहकामा ॥
राम मंत्र जपत भय भागा, सब तज संत एक सूँ लागा ।
राम कहत कापै सब पापा, सो सतगुरु दिया अन्तरि जापा ।
काल जाल करि सकै न चोटा, गुरु गोविंद का सरणा मोटा ।
मछा सिंध गहै सरणाई, सो काल जाल तै नहिं डराई ॥
निरभै सुमिर भये अवधूता, नां कबहूँ ताकै जम दूता ।
राम मंत्र का बहौ विसतारा, सुमिरि सुमिरि केते भये पारा ॥

मंत्र जपत भये अविनासी, हृदा मांहिंज्योति प्रकासी।
राम मन्त्र जप लीजैं भाई, प्रेम प्रीति अन्तर लो लाई॥
तन मन सतगुरु ऊपरै, जन सेवा दीजै वारि।
राम नाम हृदय धरया, काम क्रोध विष जारि॥
ररंकार निज मूल है, सतगुरु दिया लखाइ।
जन सेवादास लै उर धरया, सुष में रह्या समाइ॥

॥ इति गुरु मंत्र जोग ग्रंथ सम्पूर्ण॥

॥ कवित॥

हेवर गेवर भोमि हेम, सांग देह तूँ लीजै।
अड़सट तीरथ न्हाइ बरत लै, बिधि सूँ कीजै॥
करे तप बहु भाँन्ति, दान छाया लै दीजै।
ऐ सब वेलि दंड मानि, ममता रस पीजै॥
जन सेवादास काची बिथा, फिर रोग बढ़तो जाई।
सब तजि भजि रमता राम कूँ, ज्यों सुष मैं रहे समाई॥१॥
राजवर्ग सो विप्र न्योति, मिस्टान्न जीमावै।
बड़ा बड़ा धनवान, ताही लै दान दीवावै॥
करे संग तीरथ घाट, तहां जाय बन्धावै।
बहु देवल दरब लगाय, मांहि मूरति पधरावैं॥
जहां जहां मान बधे धणो, तिंह तिंह गैलै जाइ।
जन सेवा आतम राम जाण्या बिना, काज न कबहूँ थाइ॥२॥
भावै अड़सट तीरथ न्हाइ, दान विप्र कूँ देहु।
भावै गलो हिमालै जाइ, कासी जाय करवत लेहु॥
भावै करो जिग अस्वमेध, सब नाम बिन फीके येहूँ।
सकल धरम सिर ताज, नांव निहचै है छेहु॥

जन सेवादास सति नांव है, ऐ वेलै व्यौहार।
जब तक नांव न जाणियो, तब लग वादि मँवै संसार ॥४॥
नहीं सीत उसन के रूप, चरण सूँ अनभौ कर ही।
पवन निरंजन रूप, त्वचा को मालूम पर ही॥
सब्द निरंजन रूप, श्रवण को अनुभव होइ।
रस वासना अरु रुप होई, अनभो जिह्व्या नासा कूँ सोई॥
हरष सोग्व दुःष सुष को, यो मन ही कूँ अनभौ फुरै।
जन सेवा निरगुण ब्रह्म को, यो आतम हीं अनभौ करै ॥५॥
पारस पलटे लोह, ताहि कछु जाणे नाहीं।
सबैं कल्पना मिटे, कलपतरु नीचै जाही॥
जाय सरोवर तीर, प्यास तन मैल मिटावे।
कामधेनु सब कामना, चिन्तामणि चितवत सब पावै॥
अग्नि सीत भै हरत है, तिमर करै सब दूरि।
जन सेवादास निरगुण ब्रह्म, सकल सुखां भरपूरि ॥६॥
पारस लोहा पलटि करि, कंचन ही करि लेह।
कल्पवृक्ष तलि जाय करि, जो मांगे सो देह॥
कामधेनु सब कामना, पूर्ण करै परमाण।
चिन्तामणि दलदर हरै, जाणै सबै सयाण॥
जन सेवा दीपग तम हरे, जल पीयां त्रिसा बुझाइ।
यों सुमिरया निरगुण ब्रह्म कूँ, सहजै ही सुष थाई ॥७॥
पारस पल्टे लोह, लोह कूँ जाणे नाहीं।
सबै कल्पना मिटै, कल्पतरु नीचे जांही॥
अग्नि हरे तम सीत, संक भै रहण न पावै।
सरवर के ढिंगि जाय, प्यास तन मैल मिटावै॥
काम धेनु, सब पूर्ण कामना।
चिन्तामणि, दलीदर सब षोई॥
जन सेवा सुमिरयां निरगुण ब्रह्म कूँ, यो मुक्ति सहज ही होई ॥८॥

चार जुग जब जाहि, घड़ी तब एक गिणीजे।
चोतरी चोकड़ी जब जाही, तब इन्द्र को राज भणीजै।
अठाईस इन्द्र जब गिरे, तब विरंची दिन रात कहीजै।
सो वरस जब होय तब, ब्रह्मा की आरबल छीजै॥
दस हजार ब्रह्मा चले, घड़ी विष्णु की कहिये।
द्वादस लाष जब विष्णु होई, तब घड़ी आध सिव की लहिये॥
पांच हजार जब सिव उठे, तब सक्ति सिंगार कहीजै।
जब माया अनन्त लाष होई जाई, तब टुक ब्रह्म की ध्यान सुणीजै॥
साधो अकथ कथा है राम की, कहो कहिये काहँ वणाइ।
तुम सेवो पूरण ब्रह्म कूँ, जन सेवा सब सुष थाइ॥९॥
नमो नमो परब्रह्म, परम गुरु आतम रामा।
निराकार निरवाण, सकल सुषसागर धामा॥
अलिप अछिप निराधार, स्वयं ब्रह्म सकल प्रकासी।
अधर अमर अरंग, भंग नहिं तोही अविनासी॥
अथिर अचर अछीज, राम रमता सब माहीं।
जन सेवादास सोहि परसपति, जहाँ काल मै व्यापै नाहीं॥१०॥

॥ स्वामीजी श्री सेवादासजी महाराज का फुटकर पद प्रारम्भ ॥

॥ राग गौड़ी ॥

मन रे तूं भरम भुलाना भाई रे।
ना कोई तेरा नां तूं काहूका, ज्यूं आवै त्यूं जाई रे॥टेक॥
तात मात बनिता सुत बंधु, तेरा नाहिं कोई रे।
राम बिसार ताहि तूं रातो, यूं ही जन्म बिगोई रे॥मन०१॥
आपा बिसरि बंध रहे प्राणी, ज्यूं नलनी का सूवा रे।
हरि भज सफल करी नहिं देही, यूं ही पांच पचि मूवा रे॥

यौ अवसर जात है बीतो, बहौरिन पावै भाई रे।
जन सेवादास पुकार कहत है, तूं राम सुमर सुषदाई रे ॥१॥

मन तूं क्यों सूतो रे भाई रे।
सदा सिराने काल तकत है, ज्यों मूसे सदा बिलाई रे ॥टेक॥
होय हुसियार राम भजि भाई, अब ढ़ीलन कीजे काँई रे।
ज्यू प्यासे नीर भूखे भोजन की, यूं हरि से प्रीति लगाई रे ॥
ज्यूं कामी काम चोर मन चोरी, यूं हरि सूं मन तूं राषी रे।
बस्ती रहो भावै बनषंड मांही, साध कहै सब साषी रे ॥
जैसे पतंग अंग नहि मोड़े, वो पड़तन पाछो जोवे रे।
यूं सेवक साहिब के कारण, तन मन अपना षोवे रे ॥
जैसे कुरंग बधिक शर खावै, यूं जन तन से सुरति चुकावै रे।
जन सेवादास सो होय अविनाशी, सहज परम पद पावै रे ॥२॥

राम रस पीयारे पीया ही आनंद होय ॥टेक॥
ध्रुव पीयो प्रह्लाद प्रेम सूं नामदेव पीयो अघाईरे।
दास कबीर पीयो होय निर्भै अगम सुरति ठहराई रे ॥
सौंभे सैन पियो रैदासा मीरा प्रेम बढ़ाई रे।
पीयो पीपै धनै धीर ज्यूं शुकदेव रहीन तमाई रे ॥
गोरष पियो सदा मतवालै ये रस का है भोगी रे।
पीयो रंकै बंकै मुरारी मलूके और सनकादिक नव जोगी रे ॥
शेष सहस मुख रुचि रुचि पीयो शिवनारद मुनि ज्ञानी रे।
हनुमान हटताली पीयो अनंत संत धरि ध्यानी रे ॥
पीयो भरतरि गोपीचन्दै और मेणावती माई रे।
सेष फरीदै नानक पीयो, पी सुष मांहि समाई रे ॥
पीयो कान्है दादू पीयो और पीयो हरिदासा रे।
तुलसीदास पियो सब सन्ता नै पहुंता अगम निवासा रे ॥

चंद सूर जहाँ पवन न पाणी परम जोती प्रकाशा रे ।
जन सेवादास मिल एक भये है हिलमिल हरि हरिदासा रे ।।

संतो सांच बिनां सुख नाँहीं ।
जब लगि विषय बिकारन छूटै तब लगि सुख नहि माँही रे ।।टेक।।
साषी शब्द बणाय कहत है, पण उरतें लोभ न छूटै ।
कह्या सुण्यां बिन काजन सीझै तृष्णा दिन दिन लूटै ।।
फिर पूछ्याँ साष बेद की लावे अपनी गति न पिछानै ।
करे होड़ हंस की कउवो वो माया करक लुभानै ।।
मोह महल के मांही सूता फिर कहै कथा बिस्तारे ।
जन सेवादास तत कैसे दरसे अंतर रैनि अंधारे ।।४।।

अब कलियुग आयो भाई रे ।
परमेश्वर सूं परचो नांहीं तो सूधो जमपुर जाई रे ।।टेक।।
ज्ञान कथे अरू विषै कमावै तो साचन पावै भाई रे ।
संता सेती करे षचरी ते नर नरकां जाई रे ।।
कथणी कथे रहणी रही न्यारी, सब झूठी करै बड़ाई रे ।
यां बांता तो छूटणा नाँही फिर दोजिक चाल्यो जाई रें ।।
परम तत्व चिह्नै बिन प्राणी सब झूठे बाद बिवादा रे ।
हरि मागे तो हाथ न आयो चल्यो चौरासी बाधा रे ।।
मोह पास गल ते नहि छूटी, सुत वित नारी नेहा रे ।
राम भजन बिन पारन पहुँचै योंही खो दी नर देहा रे ।।
जन सेवादास जे दुष्ट प्राणियां तिन सैं दीजै टालो रे ।
वह रामजनां का निन्दा ठाने तांको मुख करि कालो रे ।।

राग सोरठ

मन रे राम भजन करि लीजे ।
बार बार समझाय कहु तोहि, आव घटै तन छीजै ।।टेक।।

साधु संगति मिल सोधन कीजै रसना राम रटीजै ।।
तीर्थ जाई चढै जनि पर्वत तन मन पवना छीजै ।
आसन बैठि ध्यान धरि मन थिर अनहद को रस पीजै ।।
निर्भय होय निरंतर मेला, बेगम नगर वसीजै ।
पूर्ण ब्रह्म परम सुषदाता गाय गाय जुग जीजै ।।
जन सेवादास भव समद तरन कूं नौका नाम गहीजै ।

नर कौन ठिकाने जासी रे ।
समझ न पड़ी साध न पूछ्या, फिर पाछैही पछितासी रे ।।टेक।।
फूटी सुरति दशों दिश भटकै, मनमें माया वासी रे ।
गुणां रहित गोविन्द न गावै, तोहि काल पकड़ ले जासी रे ।।
जहां जहां जाय तहां जम मारे, इक विन शरणे अविनाशी रे ।
जो आकार सो छूटे नाहीं कहो निर्भै कैसे थासी रे ।।
शरणो एक गहो अवगति को, तो जमलोक न पासी रे ।
सेवादास जन टेर कहत है जूणी बहुरि न आसी रे ।।

साधो सापणी सब जग षाया हो
गहि गुरुज्ञान जाग जुग देष्या, ते निकसे बिलमन लाया हो ।
आमरकारि मोहे जग ठगनी, सुरनर सब डहकाया हो ।।
जल थल जीव सबै बस कीये मोह विषय लपटाया हो ।
तीन लोक मगजाल पसार्‌या, कोई जन वन्धन न आया हो ।।
और सकाम बन्धन बाँधा, भूखी भामिनी माया हो ।
भाँति भाँति करि आडी आई, नाना रूप बनाया हो ।।
माता बहन रु भुआ भारिजा दे पासी उलझाया हो ।
अमर जड़ी ले जोगी जागे विष नहिं लागे काया हो ।।
जन सेवादास संतगुरु के शरणे अमर अभय पद पाया हो ।

साधो भाई ऐसा इष्ट हमारा ।
सबमें व्यापक सब की जाने वो रहे सकल ते न्यारा ।।टेक।।

जैसे अग्नि अरूप दारक में, यो रमता सब घट माँही ।
आतम ही आतम करि अनुभव नैना दीषै नाँही ॥
वर्ण न वपु रूप नहि जाके, दृष्टि न देष्या जाही ।
जिन जाण्यां सो ही भल जाणे कह्या न को पतियाही ॥
छिति जल तेज नहीं आकाशा मारुत कबहु न होई ।
उदय न अस्त सूर नहि शशि हर नांव निरंजन सोई ॥
उपजै न विनसै अखिल खिरै नहि, जाकी अकथ कहानी ।
जैसे कुम्भ धरयो जल मांही, बाहर भीतर पानी ॥
काल अतीत सकल घट रमता, बसै सबन के मांही ।
जन सेवादास षरजामा चेरा ता साहिब की बांही ॥

भाई रे सतगुरु कूं शिर दीजै ॥
तन मन धन सब सूंप आपणे शिरदै सौदा कीजै ॥टेक॥
ज्ञान ध्यान सत सुमिरण आवै, पाँचू कसि कसि लीजै ।
तन मन पवना फेरि अपूठा रसना अमृत पीजै ॥
काया पलटि कंचन ज्यूं तावै, चित पवना समटीजै ।
जन्म मरण का सांसा खोवै, बास अमरपुर कीजै ॥
दिल की दुविधा दूर निवारे, तब यों प्राण पतीजै ।
जन सेवादास मन ही समझावै तबजाइ कारज सीझै ॥

मन रे यूंही जन्म गमायो ।
साहिब साध कहै सो न कीयो जो कीयो सो मन को भायो ॥टेक॥
इन्द्रया अर्थ सबै कुछ कीयो, ते जो कियो आपनो भायो ।
लालच लोभ विषय मन कीन्हो, तैं गोविन्द कबहूं न गायो ॥
दश वर्ष बालापन खोया, बीसां विषय चित लायौ ।
चालीसा चालण जब लागो, तब पीछै पछितायौ ॥
बहुत कष्ट कर द्रब्व उपायो, सुकृत कछू न लायो ।
जब जमदूत आन के पहुंचा, पल मैं भयो परायो ॥

सुत वनिता भाई सब रोवै अरु लूटैं जोति बलायो ।
जन सेवादास भगवन्त भजन विन, जन्म जन्म डहकायो ॥

माधव मन महमंत हमारा ॥
विष धन धसै जहां जाय बसै हरि नांव गहै नहीं सारा ॥टेक॥

सार तजै जाय छार गहै मन, ऐसो मुग्ध दिवाना ।
उबट चाले राह तजि हरि की, ऐसो मन सैताना ॥

मान बड़ाई यो मन चावै, फिर माया के दिसि दौड़े ।
निकट निरंजन छाड़ निलज मन, अंतर तांणे तौड़े ॥

मन सैतान करै सैतानी, मैं जतन करत ही हारया ।
मेरो बल पहुंचे नहिं माधव, इह मन केता मारया ॥

शृङ्गी ऋषि शिव नारद ब्रह्मा, इह मन नाच नचाया ।
मैं तो निबल सबल है यो मन, कहा करूं राम राया ॥

तुम देष्या बिन दषल बहोत है, तुम देष्यां आसांना ।
जन सेवादास चित चरणां मांहीं, तहां मन रहे लुभाना ॥

माधव अब मन अनत न नाचै ॥
हरि हरि कहि हरि माँय समाया और रंग नहि राचै ॥टेक॥

मन हरि रंग रंगे राचै नहि औरे, फिर आन रंग नहिं भावै ।
ज्यूं सूरज के प्रकाश भये ते, सबै प्रकाश विलावै ॥

दीप चिराग तबै लग सोहै, जब लग रवि न प्रकाशै ।
यूं आत्मज्ञान उदय भयो अन्तर, सकल भरम सा भासै ॥

तीर्थ व्रत जप तप सब धम्मा, ऐ सब ही व्यवहारा ।
निर्मल नांव भजै ते मुक्ता, ते सहज भये भव पारा ॥

सकल धर्म धर्मों शिर अवगति, जन गाय गाय गति मांही ।
जन सेवादास सागर मिलि सलिला, दूजी रही कुछ नांहीं ॥१३॥

संतो सो सतगुरु मोहि भावै ।
भव जल डूबत कर गहि तारै, राम अमीरस पावै ।।टेक।।
कनक कामिणी कीच सबल है, तामें कलि नहिं जावै ।
आप तिरै तारै सिष सतगुरु, नाम जिहाज चढ़ावै ।।
आपो समझ भये है मुक्ता, एक अवगति सूं ल्यौ लावै ।
कर्म भर्म सब दूर निवारे, सूधा पंथ बतावै ।।
तन मन पवना सम कर राषै, कबहुं न तार चुकावै ।
इडा पिंगला सुषमन मेला, त्रिबेणी संग न्हावै ।।
काल जाल बँधे नहिं कबहूं, अनहद वैण बजावै ।
जन सेवादास जुगति गहि जोगी, हंस को हंस मिलावै ।।

संतो राम कहै सो सूरा ।
तन मन मार स्वाद तजि हरि भजि, तब दरशे अलष हजूरा ।।टेक।।
लोभ रू मोह सबल है वैरी, ज्ञान षड्ग करि दूरा ।
दुःष सुष मांय रहै रस ऐकै, तब सुष पावे पूरा ।।
पाँचौं चोर करैं बस अपने, तब मुष आवैं नूरा ।
लौं लागे छूटै नहि कबहूं, बाजैं अनहद तूरा ।।
मान अमान अग्नि दोय सौंषे, गढ़ पड़ि सकैन चूरा ।
लड़ै स्याम के हेत शूरवां काम क्रोध करि दूरा ।।
शूरो सदा स्याम के आगे, भाजि न जावै दूरा ।
जन सेवादास मौज तब पावै निसिदिन रहे हजूरा ।।१५।।

।। इति ।।

प्रेमदासजी

प्रेमदासजी महाराज हरिदासजी के पोता शिष्य व महरवानजी के शिष्य थे। इनका समय सोलहवी शताब्दी का अन्तिम चरण व सत्रहवीं का पूर्वार्घ समझना चाहिये। ये साधक सन्त थे। इनकी सिद्धवन्दना से भिन्न और कोई रचना देखने में नहीं आई हैं। सिद्ध वन्दना में इनने हरिदासजी महाराज तथा महरवांनजी का उल्लेख किया है। इनकी परम्परा अब भी प्रचलित हैं।

॥ प्रेमदासजीकृत सिद्ध वन्दना ॥

नमो नमो निरंजनं, भरम को विहडनं ॥
नमो गुरुदेवं, अगम पंथ भेवं ॥१॥
नमो आदिनाथं, भए है सुनाथं ॥
नमो सिद्ध मछिन्द्रं, वड़े जोगीन्द्रं ॥२॥
नमो गोरष सिद्धं, जोग जुगति विद्धं ॥
नमो चरपर रायं, गुरु ज्ञान पायं ॥३॥
नमो भरथरी जोगी, ब्रह्म रस भोगी ॥
नमो वाल गुसांई, कियो कर्म पाई ॥४॥
नमो पृथीनाथं, सदा नाथ साथं ॥
नमो हांडी भडंगं, कियो कर्म षंडं ॥५॥
नमो ठीकरनाथं, भये है सनाथं ॥
नमो सिद्ध जलंधरी, ब्रह्मबुद्धि संचरी ॥६॥
नमो कान्हीपायं, गुरु शब्द मायं ॥
नमो गोपीचन्दं, रमत ब्रह्मानन्दं ॥७॥
नमो ओघड़ देवं, गोरष शब्द लेवं ॥
नमो वालनाथं, निराकार साथं ॥८॥
नमो अजैपालं, जीत्यौ जम कालं ॥
नमो हनुमानं, निरंजन पिछानं ॥९॥

नमो नृसिंहदेवं , अलष अभेवं ॥
नमो हालीपावं , निरालंब ध्यावं ॥१०॥
नमो मुकुन्दभारथी , निरंजन सारथी ॥
नमो भालीपावं , बिमल शुद्ध भावं ॥११॥
नमो भीडकीपावं , काल को अभावं ॥
नमो सिद्ध हटताली , काल कंटक टाली ॥१२॥
नमो सिद्ध कणेरी , लीयो मन फेरी ॥
नमो धूंधलीमलं , अबीहं अकलं ॥१३॥
नमो कुरकट नामं , रमत राम रामं ॥
नमो सिद्ध टनटनी , लागी अनहद धुनी ॥१४॥
नमो सिद्ध चौरंगी , परम जोति संगी ॥
नमो कंथडपायं , नहीं मोह मायं ॥१५॥
नमो बुध सिद्धं , लियो मन ऊरधं ॥
नमो सिद्ध कपाली , नहीं चित चाली ॥१६॥
नमो कागभुसंडं , त्रिविध ताप षंडं ॥
नमो कागचंडं , कल्पना विहंडं ॥१७॥
नमो वीर पछी , उदै ग्यांन लछी ॥
नमो मूरानंदं , प्रकृति निकंदं ॥१८॥
नमो भैरूनंद , रहै निर्द्वन्द ॥
नमो सांबरानंद , पूरण कला चन्द ॥१६॥
नमो चुणकर नाथं , अगम पंथ पंथं ॥
नमो पूरन धीरं , भये अनभै सीरं ॥२०॥
नमो आतमारामं , परमशून्य धामं ॥
नमो गरीब सिधं , गुरु शबद विधं ॥२१॥
नमो भडंगनाथं , पकड नाथ हाथं ॥
नमो दडगडनाथं , सदा ब्रह्मसाथं ॥२२॥

नमो देवदत्तं, मिले तत्र तत्रं ॥
नमो सुषदेवं, अलष अभेवं ॥२३॥
नमो सिद्ध चौरासी, त्रिग्यांन प्रकाशी ॥
नमो नो जोगेश्वरं, राते परमेश्वरं ॥२४॥
नमो कपिलदेवं, लह्यो ब्रह्मभेवं ॥
नमो सतक सनंदनं, कर्मकाल षंडनं ॥२५॥
नमो हस्तामलं, सुतं सिद्ध अमलं ॥
नमो अष्टावक्रं, नही कालचक्रं ॥२६॥
नमो रामनन्दं, नहिं कालफन्दं ॥
नमो कबीर कान्हं, निर्मल शुद्ध ग्यानं ॥२७॥
नमो दास कमालं, भए ब्रह्मलालं ॥
नमो हरीदासं, कीयो ब्रह्मवासं ॥२८॥
नमो महरवानं, निरंजन ध्यानं ॥
नमो ध्रू प्रहलादं, अगम अगाधं ॥२९॥
नमो नमो पींपा, प्रगट सत्य दीपा ॥
नमो सर्व साधं, अगाधं अगाधं ॥३०॥

दोहा—

काम दलन कलि मलहरन, अरि गंजन भव भंजनं ॥
अनंत कोटि सिध साधने, प्रेमदास कर वन्दनं ॥३१॥
सिद्ध वन्दना जो पढ़ै, संझ्या अरु पुनि प्रात ॥
रोम रोम पातग झरै, तिमिर अंध मिट जात ॥३२॥
सिध साधने वंदना, नित प्रति करै जो सन्त ॥
प्रेम कहै जत्र सहजहा, दरसै जोति अनन्त ॥३३॥

॥ इति ॥

॥ स्वामी भगवानदासजी निरंजनी ॥

स्वामी भगवानदासजी निरंजनी सम्प्रदाय की परम्परा में अच्छे योग्य विद्वान् सन्त थे। आप के जन्म स्थान तथा जन्म काल का व स्वर्गारोहण का ठीक पता नहीं लगा है वैसे आप के रचना काल मे ही आप के समय का अनुमान किया जा सकता है वह अनुमान सत्तरहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध जन्म काल होना चाहिये। मेरे संग्रह में आप की चार रचनायें हैं। १ अमृत धारा (वेदान्त), २ अध्यात्म रामायण पद्यानुवाद, ३ वैराग्यवृन्द भर्तृहरिशतकका पद्यानुवाद, ४ कार्तिक महात्मय। उनकी और भी रचनायें हैं जैसे सरस्वती भंडार उदयपुर में पंची करण मनोरथ मंजरी, अगरचन्दजी नाहटा के संग्रह में गीता महात्मय भाषा। जैमनी अश्वमेध तथा प्रेम पदार्थ आप की रचना है ऐसा डाक्टर वडथ्वालजी ने उल्लेख किया है। मेरे संग्रह की चारों पुस्तकों में निर्माण काल का उल्लेख है तथा स्थान का भी जैसे अमृत धारा रचना काल सम्वत् १७२८ स्थान क्षेत्रवास।

वैराग्य वृन्द के पद्यानुवाद का स्थान लिखा नहीं काल सम्वत् १७३० है। अध्यात्म्य रामायण के पद्यानुवाद का स्थान मऊ सम्वत् १७४१ है। कार्तिक महात्म्य गद्य पद्यात्मक रचना काल सम्वत् १७४३ स्थान वालवेद लिखा है। अमृतधारा की समाप्ति में गुरु नाम अर्जुनदासजी लिषा है।

उक्त उद्धरणों से अनुमान यह होता है कि भगवानदासजी का मुख्य स्थान क्षेत्रवास (यह प्रचलित नाम न होकर उननें बदल लिया है) होना चाहिये। गुरु नाम अर्जुनदासजी का उल्लेख है ही प्रथम रचना उनकी "अमृत धारा है", इसका काल १७२८ लिखा है। उस समय वे तीस वर्ष के हों तो उनका जन्म १६९८ के आस पास होना चाहिये। कार्तिक महात्म्य के पश्चात् उन को कौन सी रचना है उनमें यदि सम्वत् का उल्लेख हो तो उससे उनके आगे का ठीक ज्ञान हो सकता है।

इनकी रचना मे स्पष्ट है कि ये अच्छे विद्वान् सन्त थे अमृत धारा वेदान्त का ग्रन्थ है वेदान्त का विषय वैसे अति गंभीर है उसका भाषा पद्यों में यथोचित निरूपण इनको विशिष्टता का द्योतक है। अध्यात्म रामायण का विषय भी निवृत्ति परक है। वैराग्य शतक आदि का अनुवाद अपनी विशेषता रखता है। पंचीकरण की रचना भी दर्शन से सम्बन्धित है।

भाषा परिमार्जित तथा रचना में विविध छन्दो का प्रयोग भी इनकी विज्ञता का पोषक है। ये परम साधक महात्मा सेवादासजी के समकालीन भी थे। इनके काल से भो हरिदासजी के काल निर्णय में सहायता मिलती है आगे इनकी रचना का कुछ कुछ अंश दिया जा रहा है।

॥ स्वामी भगवानदासजी की रचनाओं का दिग्दर्शन ॥

१ ग्रन्थ अमृतधारा

दोहा—

मंगल रूप स्वरूप मम, निजानन्द पद जास ॥
लह्यौ मंगलाचरन यह, सौहं हंस प्रकास ॥१॥

मनहर—

जीव सींव एक करो असि असि भावधरो
अहं अहं पास हरो अमृत प्रमानिये ।
मरनको भै नसायो अत्रय सरूप पायो
बेद बेद जोलषायो गुरु ग्यांन जानिये ॥
मान तजि मान लैरे तेरोही सरूप है रे
सवही अभेदानन्द अमीजू वषानिये ।
भगवान भयमान मो विनान लहै आन
विषया विष समान विद्वत वषानिये ॥२॥

दोहा—

पी पीयूष जीव जुगति सौं, तजि अयुक्त अज्ञांन ॥
अखंड धार ज्यूं तैल की, सो अमृत परमांन ॥३॥

सोरठा—

श्री गुरु सन्त प्रताप, वरनौं बुद्धि विलास कछु ॥
तजूं आंन को जाप, जग जोई सोई सही ॥४॥

अरिल—

जासों अमृत होइ सु जुगति वताइये ।
प्रथम चार अनुवंध तहाँ मन लाइये ॥
अधिकारी अरु विषै लषै सम्बन्ध रे ।
परिहाँ ! परमप्रयोजन जानि और सब धन्धरे ॥५॥

दोहा—

जगके बंधन ज्ञान तैं, मुक्त होन की आस ॥
आस वास विस्वास तजि, सो मुमुक्षु परकास ॥६॥
अर्थ धर्म अरु कांम पुनि, त्याग पदारथ तीन ॥
सो अधिकारी मोक्ष को, महाज्ञान परवीन ॥७॥

सोरठा—

कहि अधिकारी भाव, श्री गुरु ग्यांन प्रताप तैं ॥
पुनि आनंद गुनाव, भगवान भाषिये हरषसौं ॥८॥

दोहा—

द्वितिय प्रभाव प्रभाव को, मनमैं भयो हुलास ॥
कहत सुनत सुष पाइये, निरमल ब्रह्म विलास ॥९॥

अरिल—

जाग्रत बुधि की वृत्ति भोग भ्रम रहत है ।
सुषुप्ति सुष को मूल ब्रह्मपद लहत है ॥
जगदाकार विकार वृत्ति उलटाइये ।
परिहाँ ! प्राप्त शुद्ध स्वरूप विषय यह गाइये ॥१०॥

दोहा—

अमृत धारा ग्रन्थ यह, कह्यौ वेद प्रमांन ॥
अर्जुनदास प्रकासगुरु, तत सेवग भगवान ॥११॥
साधू संग प्रताप तैं, श्री गुरु ग्यांन प्रकाश ॥
शुद्धनिरंजन ग्यांन लहि, कीन्हौ वचन विलास ॥१२॥
परंब्रह्म परमात्मा, है परोक्ष पद जास ॥
ग्यान अज्ञ प्रत्यक्ष को, कीन्हौ ग्रन्थ प्रकाश ॥१३॥
सत्रह से अठाईसा, सम्वत् संख्या जान ॥
कातिग तृतिया प्रथम ही, पूरण ग्रन्थ प्रमान ॥१४॥
थांन मुकाम प्रमांन यह, चेत्रवास सु नाम ॥
तहाँ ग्रन्थ पूरण प्रगट, जो भाषै भगवान ॥१५॥

तीन ग्रन्थि निरुपण–सोरठा—

तीन ग्रन्थि को भेद, कहिये गुरु समझाय कै ॥
तुम मुष वांणी वेद, ज्यूँ को त्यूँ समझाइये ॥१६॥

संशय ग्रन्थि–सवैया—

जीव ही सींव समान कहै कहि ग्यांन लहै वह दाह दहे है।
आदि कछु कहि पुनि अंत कछु कहि मध्य कछु यह कौन कहे है॥
जो यह एक कहो क्यूं अनेक यहे अविवेक सों पाग रहे हैं।
संशय ग्यांन तजै यहजान भजै भगवान सुलाभ लहे हैं॥१७॥

दोहा—

यह संशय की ग्रन्थि है, कही अल्प कर सोइ॥
गुरु शास्त्र प्रतीति नहिं, निश्चय कछु न होइ॥१८॥

कर्मग्रन्थि वर्णन–कवित्त—

कर्मग्रन्थि कहों ग्रन्थि वा में भूल्यो महापंथ,
ग्यानरुअग्यान मथ दधि के सा घोल है।
संचित संचय प्रमाण प्रारब्ध भोग मान
चीयमाण कृतठानैं भूले भक झोल है॥
वरण वरण धर्म आश्रम है महाश्रम
शुभा शुभ कर्म धर्म डोले डग डोल है।
भगवान भर्म भूठै कर्म को भंडार फूटै
सबै आस वास टूटै ज्ञान सो अमोल है॥१९॥

सोरठा—

कर्मग्रन्थि यह जान, बहुत कर्म अभिमान लहै॥
निश्चय बन्ध प्रमाण, सब छूटै तैं छूटि है॥२०॥

अहं ग्रन्थि वर्णन–मनहर—

अहं ग्रन्थि यह जान अहं अहं कै वषान,
पंडित सुजान जान और ऊ अनेक है।
अहं राज अहं रंक अहं ताहि सबै संक,
अहं अह पग्यौ एक स्वप्न सुष जे कहै॥

अहं साध अहं चोर अहं जान अहं भोर,
अहं सर्व धर्म धार दूजा को एसे कहै ।
अहं अहं मान वन्ध भूलै जग जाल धंध,
भगवान ग्यांन संध तत्र सो विवेक है ॥२१॥

दोहा—

जीव ग्रन्थि वन्धन सही, कह्यौ मुक्ति को भेद ॥
परे उरे सुष एक है, यों भाषत है वेद ॥२२॥

॥ इति ॥

॥ अध्यातम रामायण पद्यानुवाद ॥

चौपई—

आतम तत्वको ग्यांन लषावे, अध्यातम सो नांम कहावे ।
ताकौ टीका है को करै, क्यूँ दादुर भवसागर तिरै ॥

दोहा—

यथाशक्ति वर्णन करो, मन की ममता षोइ ॥
कहत सुनत सुष ऊपजै, अरु परमारथ होइ ॥१॥

चौपई—

कौन वात पूछन की तेरे, सो सव कहो हरष भयो मेरे ॥
एसी सुनि ब्रह्मा की वांनी, तव वोले नारद मुनि ग्यांनी ॥२॥

नारद उवाच—

वन्धमोच्च की जेती वात, ते तुम कहो कृपा कर तात ॥
अव में एक प्रश्न करों और, सो तुम कहौ सकल सिरमोर ॥
या रहस्य को उत्तर दीजै, निज जन जान अनुग्रह कीजै ॥३॥
घोर अंधेर महा कलि होई, तामें प्रण विहीन नर सोई ॥
बुरो चलन सव के मन मानें, सांच शब्द नांही पहिचानें ॥४॥
अन होनी पर निन्दा करै, अरु परद्रव्य लैन मन धरै ॥
पर अस्त्री मन सदा अधीन, परहिंसा को महा प्रवीन ॥५॥

आतम बुद्धि दे हमें माने, उदर किश्न मति पशु प्रमानें ॥
मात पिता को वैरी देषे, अस्त्री को निज देव विसेषै ॥६॥

दोहा—

किंकर कहिये तास को, सो अति कांमी जांनि ॥
ज्यों राशभ वश राशभि, ज्यूँ सुनहि वस श्वांनि ॥७॥

ब्रह्मा–उवचा–चौपई—

नारद साधु साधु तव वांनी, में भाषों तुम करो प्रमानी ॥
गुरु जो कहै कृपा के वैन, सिष कै होइ ग्यांन के नैंन ॥८॥

श्रीराम उवाच—

ग्यांनी गुरु सो ग्यांन लषावै, क्रिया कर्म तैं आलस पावै ॥
साभिमान जो क्रिया करै, तातें देह विविध विधि धरै ॥९॥
कर्म शुभाशुभ करै सकाम, ऊँच नींच पावै सो धाम ॥
कर्म किये तै पावे देह, देह करै फिर कर्म सनेह ॥१०॥
जैसे फिरै रहट की घरी, कबहू रीति कबहू भरी ॥
यों ही जीव भ्रमै संसारा, पाप पुन्य के कर्म अपारा ॥११॥
सबको मूल जान अग्यांना, अग्यांन गये तैं प्रगटै भांना ॥
कर्म किये अग्यांन न नासै, विद्या ग्यांन अग्यांन विनासै ॥१२॥
निहकाम कर्म सो कीजे तातें, विद्या ग्यांन उदय होइ जातैं ॥
बहुरि नही साधन सों काम, प्रगट्यौ ग्यांन महा सुषधाम ॥१३॥
तातैं बुध जन करो विचार, आप मांहि आपौ निरधार ॥
जबै कर्म को त्याग करायो, तब मीमांसक लरने आयो ॥१४॥
क्रिया कर्म श्रुति पहिले भाषी, तुम तो याहि दूर क्यूँ नांषी ॥
वेदान्ती ताकौ समझावे, कर्मी को सब भरम नसावै ॥१५॥
मन वांणी ताकों नहि पावे, ताकों कर्म कहाँ ठहरावे ॥
नेति नेति सो जान्यों सबै, तीनों देह नाश भई तबै ॥१६॥
जीव ब्रह्म भेद जब नासै, पूर्ण ग्यांन सूरसम भासै ॥
माया त्रास सहज ही होइ, कारज कारण रहे न कोइ ॥१७॥

समाप्ति में—

मूल ग्रन्थ सोसंकर गायो, भाषा सो भगवान वनायो ॥
मूल अंक सौ छसै प्रमांन, नोसे दश भाषा के जांन ॥१८॥
मूल अंक सो चार हजार, चार सैकरा ऊपर धार ॥
अंक तिरानवे और वषाना, शिवशंकर सो किये प्रमांना ॥१६॥
भाषा रूपक पांच हजार, दोइ सो चौसठ ओर विचार ॥
ताको करता है भगवान, जो समझै सो होइ सुजांन ॥२०॥
संवत् सत्रह सो इकताला, तीज जेठ की चंद उजाला ॥
पूरण भयो मउ मैदान, यहई जानोंथान मुकाम ॥२१॥

॥ इति ॥

॥ वैराग्य वृन्द-प्रारंभ ॥

दोहा—

स्वतः प्रकाश स्वरूप मम, वंदौ शीश निवाय ॥
बुद्धि शुद्ध प्रकाश होय, विन्व नाश सब जाय ॥१॥

सोरठा—

ग्रन्थ नाम परमान, वैरागवृन्द सो जानिये ॥
भाषों बुधि अनुमान, मूल भर्तृहरि भासतै ॥२॥

मनहर—

देश काल भेद नांहि वस्तु सो प्रछेद कांही
अनंत स्वरूप ओही चिदानंद रूप है ।
आप ही को आप जानैं आप अनभौ प्रमानें,
जैसे मणि ज्योति नामै निर्मल अनूप है ॥
तेजहूतै तेज रूप शीतल सदा अनूप,
व्यापक विविध भूत महाराज भूप है ।
करले नमस्कार भगवान उरधार
नीकै कै निहार सो तौ तेरोही स्वरूप है ॥३॥

जासों मेरो मन लागो मुझ से विरक्त वह,
रतमानी और ही सुँ सोतो अन्य रत है ।
में तो जानी मेरी तीया तियाहू न मेरी यह,
तजि मोसो पुरुष पुरुष आन चित है ॥
तरुणि तिया को त्याग एसो महा मंदनर,
वस्यो जाइ वेश्या घरि अघता उचित है ।
धिग काम धिग बाम धिग नार नारी नाम,
भगवान विना ग्यांन धिग मोकूँ नित है ॥४॥

छप्पय—

जो कछु उपजत देषिये जगत जाल के कर्म ।
उत्तमता तामैं नंही सवै द्रसै विभ्रम ।
मेरे पुण्य प्रताप मोहिं यह डर उपजायो ।
पुनि में किये विचार तवै यह निश्चय आयो ॥
करै कर्म सहकामता लहै सु विषयन भोग ।
विषय वियोगनि तपत है त्रिविध ताप के जोग ॥५॥

मनहर—

भोजनसु भीषमांग रसहीन एक वेर,
सोयवेको सैज सुतो भूमि निरधारी है ।
सेवग की ठौर सुतो सेवग सो आप ही है,
शतषंड जोर सो तो कंथा उरधारी है ॥
हा ! हा ! इति कष्ट जान विषमन छाडि सकै,
भोग अभिलाष होत यह भ्रम भारी है ।
जेता विषै विषजानें अमृत सो आप मानैं
भगवान लहै ग्यांनै सो तो व्रह्मचारी है ॥६॥

सवैया—

जवैहम किंचित् ज्ञानहुतें सुतवै गजमत्त महा गति चालें ।
हों सर्वअभिमान भयो यह गर्व गुमान भये मतवाले ॥

विद्वद्संग भयो मन निर्मल ज्ञान विचार अग्यांन सु जाले ।
निर्मल ग्यांन भयो भगवान सु आप ही में प्रभु आप संभाले ।७।

अन्त-सोरठा—

सम्वत् संख्या जान, सत्रह सै अरू तीस पुनि ।।
वैशाष मास प्रमांन, शुक्ल पक्ष अरु पंचमी ।।८।।

दोहा—

देह बुद्धि सो अज्ञता, ब्रह्म बुद्धि सो ग्यांन ।।
अंजन रंजन ता नही, सो स्वरूप भगवान ।।९।।
मूल भर्तृशतक यह, एकै शत प्रमांन ।।
ओर पद्य जो बीस है, प्रस्तावी सो जांन ।।१०।।
भाषा कृत टीका यहै, शत तीन्यूं परकास ।।
दोहा सवैया चौपई, कुंडलि कवित्त विकास ।।११।।
छपै छंद अरु सोरठा, अरिल रूप यह जान ।।
अति निर्मल वैराग्यतर, सार सार प्रमांन ।।१२।।

।।इति।।

।। ४ कार्तिक महात्म्य ।।

प्रारंभ दोहा—

प्रथम हि गुरु गोविन्द को, सुमरण सीस नवाइ ।।
वाकपति गणपति सहित, कविजन भलो मनाइ ।।१।।
यह कार्तिक महिमादि पुल, भक्ति धर्म प्रमांन ।।
रामकृष्ण की सुरति सों, भाषत है भगवांन ।।२।।

पार्वती उवाच-चौपई—

पारवती तव दर्सन पायो, स्तुति कर भगवान रिझायो ।
कृपासिन्धु सुनी यह रीति, जालंधर कीन्हौ विपरीत ।।
तुमसों बात कहा है छानी, अव प्रभु जतन करो यह जानि ।
भगतवछलता विरद सम्हारो, महादुष्ट या असुर हि मारो ।।

भगवान उवाच—

तब नारायन बोले बानी, हमरी बात सुनो कल्यांनी।
पहिले असुर कियो छल आई, अब हम हूं करि हैं छल जाई॥
पतिव्रता को छलने आये, वाही न यहु पंथ बताये।
पतिव्रता वाकै घर मांहि, तातैं जीत सकै कोइ नांहि॥
पतिव्रता को धर्म घटाऊँ, ता पीछे यहु असुर नसाऊँ।
याकी त्रिया धर्म व्रत धरै, तातै यहु मार्यो नहिं मरै॥३॥

नारद उवाच-दोहा—

नारद मुनि पृथु सों कहै, विष्णु गये ता धाम॥
वृंदा रानी असुर की, जालंधरपुर नांम॥४॥
रुद्र आदि दे सुर सबै, युद्ध करै रण मांहि॥
असुरनि माया अति करी, सो शिव जानी नांहि॥५॥
दानव देव लरैं मरै, करैं परस्पर घाव॥
एकौ हारन मानते, लरने ही को चाव॥६॥
असुर काम कै वश भयो, गयो गौरि के पास॥
उलटि काम कांमी ठग्यो, भई न पूरन आस॥७॥

समाप्ति में-दोहा—

धर्म रूप है शास्त्र यह, पृथु नारद सम्वाद॥
सतभामा अरु कृष्ण को, सुनै गुनै तब स्वाद॥८॥
भाषाकृत को नेम यह, सबै कहै भगवान॥
वैराग विशेषण है प्रगट, इष्ट निरंजन ग्यांन॥९॥
सम्वत् सत्रह सै प्रगट, तयांलीस पुनि और॥
फागण कृष्णा अष्टमी, बुधवार शिरमौर॥१०॥
वालवेद मुकाम हैं, शुभ विप्रन को वास॥
तहाँ ग्रन्थ पूरन भयो, निर्मल धर्म विलास॥११॥
यामैं कछु धोषो नहीं, सत्य वचन प्रमांन॥
ईश्वर वांनी वेद है, कहयौ भाषि भगवांन॥१२॥

॥इति॥

॥ विज्ञ महात्मा मनोहरदासजी निरंजनी ॥

निरंजनी सम्प्रदाय के विज्ञ रचनाकारों में मनोहरदासजी का अपना स्थान है। ये स्वामी हरिदासजी के शिष्य प्रशिष्यों के पश्चात् होने वाले रचनाकारो में हैं। जन्म काल, जन्म स्थान तथा देहावसान का इनका भी कोई पता नहीं लगा है। इनके प्रमुखतया प्राप्य ग्रन्थ वेदान्त विषय से ही सम्बन्धित है। इनका रचना काल अठारहवीं शदी का पूर्वार्द्ध है। उससे इनके जन्म का अनुमान सतरहवी शताब्दी का अन्तिम चरण मानना चाहिये। इनकी प्रथम रचना कौनसी है इसका निश्चय तो तभी होता जब इनकी सब रचनाओं में काल का उल्लेख होता पर ऐसा है नही।

अब तक इन के छै ग्रन्थ देखने में आये है उनके नाम इस तरह हैं।

१ ज्ञान मंजरी, २ वेदान्त परिभाषा, ३ षट् प्रश्नोत्तरि, ४ शत्त प्रश्नोतरि, ५ ज्ञान वचन चूर्णिका, ६ सप्तभूमिका।

ज्ञान मंजरी वेदान्त परिभाषा पद्यात्मक रचनायें हैं। शेष गद्य पद्यात्मक है। ज्ञान मंजरी की रचना का काल सम्वत् १७१६ वैशाख शुक्ला पूर्णिमा है। वेदान्त परिमाषा का रचना काल सम्वत् १७१७ आसोज बुदी चतुर्दशी शनिवार है। अन्य रचनाओं में काल का उल्लेख नहीं है। इननें अपनी किसी रचना में स्थान तथा गुरु नामका कहीं उल्लेख नहीं किया है। हां ? अपना निरंजनी होना स्वय लिखा है जैसा आगे रचना के उद्धरणों में आप देखेंगे।

वेदान्त परिभाषा वेदान्त का प्रक्रिया ग्रन्थ है उसका पद्यानुवाद किया है इससे इनकी विज्ञता स्वतः सिद्ध हो जाती है। इनका रचना काल स्वामी सेवादासजी व भगवानदासजी के रचनाकाल के समकक्ष है। इनका निधनकाल अठारहवीं सदी का उत्तरार्ध कहा जा सकता है।

इनकी रचना में भाषा परिमार्जित तथा शब्द सौष्ठव के साथ भावाभिव्यक्ति भी सुस्पष्ट है। ग्रन्थानुसार विषय प्रतिपादन सम्यक् रूप से हुवा है। ये हरिदासजी के पश्चात् किस शिष्य की परम्परा में कितनी पीढी में हुये यह तो अज्ञात है। पर इतना तो सिद्ध है ही कि ये किसी शिष्य की परम्परा में पांचवी या छट्टी पीढ़ी में थे। इनके रचनाकाल से भी हरिदासजी महाराज के काल निर्णय में सहायता पहुंचती है। ग्रन्थ विस्तार के कारण इनकी रचना के अत्यल्प अंस आगे दिये जा रहे हैं पाठक तण्डुल न्याय से उसके महत्व पर विचार करेंगे ऐसी आशा है।

स्वामी मनोहरदासजी की रचनाओं का दिग्दर्शन

१ ज्ञानवचन चूर्णिका प्रारम्भ

दोहा—

रवि गुरु द्वै सम तुल्य ज्यौं, तम अज्ञान करै दूर ॥
जग उरमें प्रकाश करि, वन्दन को निज मूर ॥१॥
जीवेश्वर चैतन्य महि, कहिये है द्वै नाम ॥
सर्वज्ञता अल्पज्ञ पुनि, संसारी सुषधाम ॥२॥
कर्म सहित पुनि रहित है, सहित कर्म कह्यौ जीव ॥
संसारी तातै भयो, रहित भयो सोई सींव ॥३॥
जीवेश्वर द्वै जगत मंहि, प्रगट कहैं सब कोई ॥
वाह्य दिष्टि विवेक बिन, अन्तर्दिष्टि न होई ॥४॥

गद्य—अरु पंच ख्याति कहिये हैं—

१. "एक ख्याति" सो न कदाचित् अनिन्द्रिय संयुक्त किन्तु प्रवाह रूप से इन्द्रिय संयुक्त। ये मीमांसी प्रभाकर मानें। २. अन्यथा ख्याति। सो कहुंक साचो सर्प है तो सर्प की प्रतीति होत है जेबरी मंहि। अरु कहुंक रूपो साचो है तो सीप माहि भासत है यह नैयायिकादिकनकै मत मानैं। ३ आत्मख्याति। देह आत्माकौं मानै प्रत्यक्ष प्रमाणवादी चारवाक के मतमाने ४ असतख्याति। माध्यमिक मत मानै शून्य आत्मवादी। इति प्रस्ताव वार्ता कही। अब अपने मत की वात कहिये हैं। अनिर्वचनीय ख्याति वेदान्त मत मानें। सुविवर्तवादी वेदान्ती अज्ञानकाल अनिर्वचनीय ख्याति अरु विवर्तवाद मानें। ज्ञान विद्याकाल विषय स्वरूप नांही। जीवन मुक्ति देह प्रतीत महि स्वप्न तुल्य मानिये। जैसें उत्पत्ति स्वप्न महि कहिये तैसें यह कारणतैं उत्पत्ति संक्षेप तैं कही।

अन्त में दोहा—

भाषा ग्रन्थ यह वचनिका, औषध चूर्ण सोइ ॥
ज्ञानचूर्ण यह वचनिका, नामजु या को होइ ॥१॥
तप्त नीर चूर्ण भषै, उदर रोग सब जाइ ॥
त्यौं साधन सहित विचारतैं, संसार रोग नसाइ ॥२॥

संसै रोग संसार सब, नासै करै विचार ॥
कहै मनोहर निरंजनी, यह निहचै निरधार ॥३॥
॥ इति ॥

---

२ षट् प्रश्नोत्तरी गद्य पद्यात्मक—

प्रारम्भ दोहा—

द्रष्टा एक स्वरूप है, जीवेश्वर नहिं भेद ॥
सो स्वरूप उर वंदि कै, विघ्न सर्व तजि षेद ॥१॥
गुरु पूर्ण अद्वैत है, द्वैत भेद नहिं ताहि ॥
ताको करै प्रणाम, विघ्न नाश सब जाहि ॥२॥

सोरठा—

अच्छर तीन ॐकार, अकार उकार मकार है ॥
सोहं प्रणव उचार, ब्रह्मंड पिंड मैं प्रगट है ॥३॥
सव्यंजन कर लोप, ऊतै औ है समझिले ॥
हं व्यंजन कर लोप, अं अकार मकार मिलि ॥४॥
मिले परसपर तीन, उकार अकार मकार ए ॥
ऊँकार जो कीन, सोहं प्रणव उचार सब ॥५॥

दोहा—

सोहं श्वास उसास है, पुरुष असंग मिल्यो देष ॥
अन्वय स्वप्न जाग्रत फुरै, व्यक्तिरेक सुषुप्ति पेष ॥६॥
परावाक् अव्यक्त रहै, व्यक्त पश्यंति और ॥
मध्यमावाक् तीजी तवै, वैषरी चौथी दौर ॥

सोरठा—

भई वैषरी वाक्, चार वेद त्रैकांड सब ॥
जीवेश्वर सम भाक्, तत्त्वं त्वंतत् वैषरी ॥८॥

दोहा—

मन वांछै पूरण इहै, भाषा कवित्त प्रकाश ॥
दोहा सवैया चौपई, करों ग्यांन की राशि ॥९॥

सोरठा—

समझै सुष व्है तास , नासै मोह अज्ञान तम ॥
ज्यौं रवि कै प्रकाश , नांहिं अंधेरो पाइये ॥१०॥

दोहा—

ततवेता सो जानिये , तजै अतत सब दूर ॥
हँस नीर ज्यूं छाडि कै , पीवै जीवन मूर ॥११॥

मनहर—

शुद्ध जो प्रकास बोध प्रापत भयो है जाकौ,
ग्यांनी जो कहीजै मान ज्ञानी सुषराशि है ।
भवके समुद्र मांझ फूले हैं वे अरविन्द,
मोच्छ मकरन्द जामें एकही प्रकाशि है ॥
विषै भोग वनवासी पै उदासी मोच्छ प्यासी,
अलि वेई जांण लेत मति के उजासि हैं ।
धर्म अर्थ काम कीच दादुर सो याही वीच,
निपटन जानै नीच कीच कौ निवासि है ॥१२॥

सोरठा—

निर्विशेष सो जान , विधि निषेध तैं रहित है ।
पुनि प्रकार कहि मान , साच्छी जीवेश्वर सोइ ॥१३॥

चौपई—

अग्यांन मिल्यो सो व्यंव कहावै , व्यंवनाम सोई ईश्वर पावे ॥
अन्तःकरण अग्यांन मिल रहै , संस्कार पुनि तामें गहै ॥
कारण देह कहावें सोई , स्थूल सूक्ष्म व्है लै जहाँ होइ ॥
तहाँ प्रतिविंव जीव सो कहिये , दोऊ मध्य साच्छी सो लहिये ॥
एक पच्छ एसैं कहै कोई , विवरण नाम मुनि सो होई ।
दूसरी पच्छकौं समझो सोई , संच्छेप शारीर करता कहे जोई ॥
कारण प्रतिविंव को ईश्वर कहै , वुधि प्रतिविंव जीव पुनि लहै ।
विंव कह्यौ ताकों शुध कहिये , साच्छी नाम पुनि ताही लहिये ॥१४॥

अन्त में दोहा—

षट् प्रश्नीनिरनै नाम है, भाषा ग्रन्थ प्रकाश ॥
मनोहरदास निरंजनी, कर्यो जु वचन विलास ॥१५॥
षोजे में सच पाइये, षोजे में है मुक्ति ॥
मन त्यागे अहंकार को, छाडै सूकी युक्ति ॥१६॥
शुद्ध मुमुक्षु होइ कै, खोजै भाषा ग्रन्थ ॥
पावे मोक्ष स्वरूप को, छूटै उर की ग्रन्थि ॥१७॥
॥इति॥

३ शत प्रश्नोत्तरी प्रारम्भ

सोरठा—

वाच्य लक्ष करि जान, निर्गुण सगुण यों कह्यौ ॥
करि नमसकार वषांन, वाच्य त्याग कर लक्ष कूँ ॥१॥

चौपई—

अग्यांन शक्ति आतम की कहिये, आतम अज्ञान अनादि मिले लहिये।
अग्यांन अमिल रह्यो शुद्ध वषांना, ताको ब्रह्म करि कैसो जाना ॥२॥
अग्यांन मिल्यो सो साक्षी कहिये, दोइ भाग अज्ञान सु लहिये ॥
जीवेश्वर पुनि कहिये तामहि, साक्षी नाम कह्यौ है जा महि ॥३॥
कारण अज्ञान एक कहि भागा, कार्य अज्ञान दूसरै विभागा ॥
कारण भाग तै ईश्वर जाना, माया वृत्ति तहाँ कही वषाना ॥४॥
कार्य भागतैं जीवजु कहिये, अन्तःकरण वृत्ति ताको लहिये ॥
मलिन सत्य पुनि कहिये सोई, आतम एक भिन्न भिन्न होई ॥५॥
माया वृत्ति सर्वज्ञ विशेष, प्रमातादि तहाँ नहिं देष ॥
एकै ईश्वर कहिये जाको, जगत उपादान व्है ताको ॥६॥
अन्तःकरण वृत्ति अल्पता लीने, जीव विशेष भिन्न भिन्न कीने ॥
ज्ञांनी अज्ञानी कहिये सोई, हौ जानूं तूं जानन होई ॥७॥

गद्य प्रश्नोत्तर—

प्रश्न शरीर कौंण-स्थूल सूक्ष्म कारण इति व्यष्टि शरीर । विराट्, सूक्ष्म, अव्ययकृत इति समष्टि शरीर ।

प्रश्न अभिमानी कौण ? विश्वतेजस प्राज्ञ इति व्यष्टि के अभिमानी । ईश्वर हरिण्यगर्भ वैश्वानर ये समष्टि के अभिमानी कहिये हैं ।

प्रश्न अधिष्ठानकौंण ? अस्पष्ट तेजसैं भुजंगादि जेवरीमहि सीप रूपो कल्पित तेसे चैतन्य ब्रह्म आत्मा अधिष्ठान मैं यह अज्ञान कल्पित सब अधिष्ठान कहिये हैं ।

प्रश्न प्रलय कौंण—! पंचीकृत भूत अपंचीकृत में विलीन होइ, अपंचीतकृ भूत अव्याकृत में विलीन होइ, स्थूलभूत लय को दैनंदिन प्रलय नाम ।

सूक्ष्मभूतलय कौ प्राकृत-प्रलय नाम । ब्रह्मज्ञान कर के सबको अभाव करे जेवरी सीपग्यांन तैं जैसे सर्प रूपो नहीं तेसे अधिष्ठांन ज्ञांन तैं सबको अभाव ताको ज्ञान प्रलय कहिये ।

प्रश्न उत्पति कौंण—? अपंचीकृत भूत कार्य सहित अरु पंचीकृत भूत कार्य सहित उपजै ताको उत्पत्ति कहिये ।

प्रश्न धर्म कौंण ? जोई अविभिचारी अतिवर्णाश्रमी ब्रह्मनिष्ट सोई आत्म-धर्म कहिये ।

प्रश्न अधर्म कौंण ? जो आत्मधर्म रहित अनात्मधर्म में रत रहै सोई अधर्म कहिये ।

दोहा—

मलिन तजै शुध को भजै, शुद्ध तजे निर्विकल्प एक ॥
गुरु गमतैं सो पाइये, जीवन्मुक्त विदेह ॥१॥

चौपई—

तुरिया ब्रह्म आत्मा जानों, ब्रह्म सो साची रूप वषांनो ॥
साची अहं लक्षण लहिये, अहं ब्रह्मा सो एकै कहिये ॥२॥
लक्ष्यार्थ कह्यौ यह सोई, जामैं द्वैत भान नहिं होई ॥
द्वैत भांन वाद्य कह्यो जा महि, फल फल नाम दोइ नहिं तामहि ॥३॥
फल चिदाभास परमाता, अहंब्रह्म फल कह्यौ विष्याता ॥
स्वरूप माँझ द्वै फल ए नाही, त्रिकल्प रहित रहै सो ताही ॥४॥
हौं मैं हौं तूं नाही, हौं तू हों में हौं कही ॥
सब है हौं तू मांही, हों तू होंतू एक है ॥५॥

॥ इति ॥

४ वेदान्त परिभाषा पद्यमय भाषा में

दोहा—

मंगल दे मोंहि देव गनेश, मंगल दे मोहे सरस्वती ॥
मंगल दे मोंहि देव महेश, मंगल दे मोहि पारवती ॥१॥

चौपई—

आत्म लाभ तैं और न कोइ, यह भाषत है मुनि सब सोइ ॥
लाभ अर्थ कवि करै वषांण, आतम को ईश्वर करि जांण ॥२॥

प्रश्न—

शिष्य मन ही संसै भयो आय, आतम ईश्वर भिन्न सुभाय ॥
आतम अज्ञ ईश्वर सर्वज्ञ, कैसे एक व्है अज्ञ रु तज्ञ ॥३॥
नियंता जग कर्त्ता है ईश, जीव अकर्त्ता सदा अनीश ॥
क्यों ? आतम परमातम एक, सो हनको कहि देहु विवेक ॥४॥

उत्तर—

समाधान करै गुरुदेव, चैतन्य एक है अषंड अभेव ॥
महावाक्य नहीं कहै वषांण, आतम को परमातम जांण ॥५॥
वाक्य अर्थ अनुभव तैं होइ, जा अनुभव में नांही दोइ ॥
शिष्य कहै सुनिये गुरुदेव, हम अनुभव क्यों ? पावे भेव ॥६॥

प्रश्न—

कैसे वाक्य अर्थ को लहैं, यह संशय उरमैं ते दहै ॥

उत्तर—

गुरु सो कहै सुनो शिष्य सोई, पद पदार्थ समझै दोई ॥७॥
पद अरु पद के अर्थ ही लहो, ता लहिवे को अनुभव कहो ॥
जब यह अनुभव थिर व्है रहे, उरको संशय सगरो दहै ॥८॥

प्रश्न—

शिष्य कहे पद हमसों कहो, पद के संग अर्थ निर्वहो ॥

उत्तर—

गुरु कहै तत् पद त्वंपद दोइ, वाच्य लक्ष्य अर्थ तिहिं होइ ॥९॥

तत पद ईश्वर त्वंपद जीव , असिपद तहाँ भेद नहिं कीव ॥
तत्पद वाच्य अर्थ यह भ्रांण , कारणउपाधि करि ताहि वषांणि ॥१०।

त्रिपुटि निरुपण सोरठा—

ध्याता ध्यान रु ध्येय , कर्त्ता क्रिया कर्म सब ॥
ज्ञाता ग्यान रु ज्ञेय , त्रिपुटि पिंड ब्रह्मंड सब ॥११॥
अन्तःकरण वृत्ति तीन , कर्त्ता क्रिया कर्म सबै ॥
सुषुप्ति महि सब लीन , ज्ञेय ज्ञान ज्ञाता सबै ॥१२॥
सुषुप्ति तैं उत्थान , कर्त्ता क्रिया कर्म सब ॥
त्रि प्रकार वषांण , देह इन्द्रि विषै व्यापकै ॥१३॥
त्रिधा तहाँ चिदभास , ज्ञाता ज्ञान रू गेय कहि ॥
साक्षी तहां प्रकाश , तीन वृति के संग सों ॥१४॥
साक्षी जीवन्मुक्त , गुणातीत ब्रह्म एकसो ॥
प्रारब्ध संयुक्त , देह मात्र तै बोधिये ॥१५॥
अध्यात्म अधिभूत , अधिदैविक सोजान सब ॥
त्रिपुटि त्रिधा अभूत , दृश्य पदार्थ जानिये ॥१६॥
विश्व अध्यात्म जान , ब्रह्मांड सबै अधिभूत है ॥
विष्णु अधिदैविक मान , त्रिधा दृश्य तें जानिलें ॥१७॥

ग्रंथांत में दोहा—

अधिकारी या ग्रन्थ को , कहिये साधना सिद्ध ॥
सो समझै या ग्रन्थ को , लहै मोक्षसी निद्ध ॥१८॥
मनोहरदास निरंजनी , करीजु भाषा सार ॥
थोरी सी विस्तार नहि , अर्थ सबै विसतार ॥१९॥
संवत् सतरह सोमहि , सोरह वर्ष वितीत ॥
वर्ष सत्रह महि करी , षट्मास जांहि व्यतीत ॥२०॥
आसोज वदि चतुर्दशी , शुभ सुवार शनिवार ॥
भाषा पूरण सत्र भई , एक मास कृतकार ॥२१॥

॥ इति ॥

ज्ञान मंजरी-प्रारंभ

दोहा—

आतम के अज्ञांन तें, संशय उपजै जांन ॥
ज्ञान भये तें लीन सव, नमस्कार तिहिं मांन ॥१॥

मनहर—

प्रमथ मुक्त कहिये दूसरे मुमुक्षु सोऊ
तीसरो विषयी चौथौ पामर विचारो है।
चारों पुरुष संसार मांझ कहे निरधार,
वन्धन मुक्त डारि मुक्ततो नियारो है ॥
वन्धनतै छूट्यो चाहे मुक्ति हित जो ऊमाहै,
सोई तो मुमुक्षु आहे मोक्ष निरधारो है।
भोग विषै सुष चाहै सो तो विषयी कहावे,
पांमर सो पेट भरि मेढरा पियारो है ॥२॥

प्रश्न-दोहा—

वेद आमना कौन पारे, हमसौं कही सो भाष ॥
यथा अर्थ है वेद को, गोपि कछू जन राष ॥३॥

उत्तर—

वेद सवै त्रैकांड है, कर्म उपासना ज्ञांन ॥
मुक्त पर कोई कांड नहिं, सोहे ब्रह्म समान ॥४॥
विषई परि नहिं आमना, भोग को साधन नांहि ॥
नासवंत सव भोग है, झूठे सुष ता मांहि ॥५॥
तात्पर्य सव वेद को, एक मोक्ष पर जांनि ॥
भोग लोक परलोक के, तापरि नांहि वषानि ॥६॥
साचो ईश्वर जानिये, साची वांणी वेद ॥
साचो चाहे मोक्ष सुष, लह्यौ वेद को भेद ॥७॥

अथ लक्षणा-दोहा—

अजहत लच्छणा जांन यह, वाचि त्याग नहिं कोइ ॥
परोच्छ प्रत्यच्छ यह वाचि है, ताकौ त्यागन होइ ॥८॥
ब्रह्मंड पिंड अपरोच्छ करि, ब्रह्मंड पिंड नहि दोइ ॥
पंचीकृत सब देषिये, ता मैं भेद न होइ ॥९॥
चेतन जाति अभेद है, ब्रह्मंड पिंड में सोइ ॥
जाग्रत में सब देषिये, ता में भेद न होइ ॥१०॥
चेतन भेद तैं रहित है, ब्रह्मंड पिंड में सोइ ॥
जाग्रत में सो देषिये, समष्टि विष्टि सम लोइ ॥११॥
पुनि स्वप्नै मैं जानिये, सूच्छम भूत कृत येह ॥
समष्टि विष्टि तहाँ परमपर, सूच्छम लिंग तहाँ देह ॥१२॥
चेतन तहां सजाति है, जीवेश्वर तहाँ देष ॥
उपाधि उपाधि समतहाँ, तामैं नही विशेष ॥१३॥
पुनि सुषुप्ति में पाइये, प्रलय को व्यवहार ॥
प्रलय सुषुप्ति सम तहाँ, द्वै समसर इकसार ॥१४॥
कारण कारज परसपर, समष्टि व्यष्टि तहाँ नाम ॥
चेतन चेतन समतहाँ, सम सम तहाँ धांम ॥१५॥
विंव तहाँ प्रतिविंव है, प्रतिविंव है तहाँ विंव ॥
विंव तहाँ सत जानिये, सत सोई प्रतिविंव ॥१६॥
अजहत है तहाँ लच्छणा, वाच भेद सम सोइ ॥
अल्प तहाँ जहाँ महत है, महत अल्प तहाँ होइ ॥१७॥

अन्त में—

निरंजन अंजन रहित है, अंजन सो प्रकाश ॥
मनोहरदास निरंजनी, वैस निरंजन पास ॥१८॥
सम्वत् सतरैसौ मंडो, वरस सोरहै मांहि ॥
वैशाष मास है शुक्ल पक्ष, तिथि पुन्यौं है ताहि ॥१९॥

सोरठा—

भाषा ग्रन्थ कहयै येह, सवै वैषरी वाक है ॥
प्रायसंती जेह, मध्यमा पीछे पाइये ॥२०॥

दोहा—

मनोहरदास निरंजनी, सो स्वामी सो दास ॥
स्वामीदास भयो एक सौ, महाकाश घटाकाश ॥२१॥

॥ इति ॥

॥ अमरपुरुषजी महाराज की संक्षिप्त जीवनी ॥

अमरपुरुषजी सेवादासजी महाराज के प्रमुख शिष्य थे। उनका जन्म सारस्वत ब्राह्मण कुल में १७५५ में हुआ था। कुल परम्परानुसार उनने व्याकरणादि संस्कृत विषयों का अध्ययन किया था। वे वाल्यावस्था में ही चिंतनशील व उपरति प्रधान थे। निरंजनी सम्प्रदाय में उस समय परमयोगी तथा परमत्वाग वैरागमय महात्मा सेवादासजी प्रसिद्ध थे। अमरपुरुषजी ने सम्वत् १७७५ में इन्हीं से दीक्षा ग्रहण करली।

और उन द्वारा निर्दिष्ट साधनामें तत्परता से लग गये। दीक्षा ग्रहण किस स्थान में किया इसका निश्चयात्मक प्रमाण नहीं है। जन्म स्थान आपका थावरिया ग्राम बताया जाता है जो नागोर के पास है। काल पाकर अमरपुरुषजी महाराज भी साधना की सिद्धि से सिद्ध कोटी में आ गये। सेवादासजी महाराज की तरह ही इनका भी नाम डीडवाणे के चारों ओर प्रसिद्ध हो गया। इन के सानिध्य में रहे इनके प्रभाव से बहुत अधिक व्यक्तियों ने इनका शिष्यत्व ग्रहण किया। ज्ञानराय चारण ने इनके छिनमें शिष्यों के नाम कवितावद्ध किये हैं जो कि भूमिका विवेचन खंड में उद्धृत है।

इनके छिनमें शिष्यों के कितने शिष्य हुये इनकी कोई संख्या नहीं है। इनसे पहिले हरिदासजी, तुरसीदासजी, ध्यानदासजी, कल्याणदासजी, सेवादासजी आदि की वांणियों की प्रतियें बहुत ही न्यून संख्या में थी। इनने अपने सभी शिष्यों को वांणी की पुस्कक लिखने का निर्देश दिया तथा पर्याप्त सख्या में वांणी की पुस्तकें अपने शिष्यों से लिखाई। इन्हीं के प्रयास का परिणाम है कि निरंजनी सम्प्रदाय की रचनाओं की अब तक कुछ रक्षा रही।

ये प्रमुखतया साधक पुरुष थे अतः इनकी रचना की और कोई प्रवृत्ति नहीं थी। परम्परानुसार तथा ग्रन्थ गत उल्लेख के अनुसार इनके मात्र सात आठ पद्य रचे हुये है जिनमें रचियता के स्थान में इनने अपना नाम न देकर अपने गुरु सेवादासजी के नाम का प्रयोग किया है इनकी यही रचना है। निरंजनी सम्प्रदाय की संख्या वृद्धि तथा क्षेत्र विस्तार में आपका अद्वितीय सहयोग मिला।

आप प्रमुखतया कोलियाग्राम में विराजते थे जो कापडोद, डूगरी तथा डीडवाणे के समीप पडता है। आपकी समाधि कोलिये में ही वनी हुई है। स्मारक रूप में आपकी समाधि विरक्त वाडे डीडवाणे में भी बनी हुई है। आपकी परम्परा में आपके पश्चात् भी त्यागी वैरागी साधक महात्मा होते आये है। वह परम्परा अव तक प्रचलित है महात्मा रामाकिसनजी आपही की परम्परा में थे। उनके उत्तराधिकारी सन्त भोलादासजी है। वाडे के महन्तजी भी अमरपुरुषजी महाराज की शिष्य परम्परा में हैं। आज भी आपके शिष्यों की परम्परा के राजस्थान के विभिन्न भागों में बहुत अधिक स्थान है।

॥ अमरपुरुषजी महाराज के पद ॥

(राग सोरठि)

साधो सतगुरु कीं वलिहारि हो १

भोजल मांहि जात जीव देष्या, करंगहि कीया पारा हो ॥टेक॥

जन्म मरण का रोग सबल था, तव गुरु वोषद दीया हो ॥

रांमनाम निज भेद बताया, तातें रोगी जीया हो ॥१॥

सतगुरु साहिब पर उपगारी, रंका हीरा दीया हो ॥

आदू पंथ वताइ जुगति सूँ, आप सरीषा कीया हो ॥२॥

करम भरम सब दूर निवारे, मेटी मन की आसा हो ॥

रोम रोम आनन्द उपजाया, सुष में सहज निवासा हो ॥३॥

अगमवस्त अन्तर दिषलाई, देष्या अगम तमामा हो ॥

जन सेवादास सतगुरु के सरणै, पूरी मन की आसा हो ॥४॥

समरथ साँइया समरथ साँइया, मेरे राम पकडो वांहिया ॥टेक॥

औगुण बहु कीया, नाँव न में लीया ॥

नांव न में लिया मेरे राम, विष में रुच रुच पीया ॥१॥

श्री अमर पुरुष जी महाराज जी

यो औसर फिर आवै नांही, दरसौ उर मांही ॥
दरसौ उरमांही मेरे राम, यो छक लाभै नांही ॥२॥
साहिब मेरडा, मैं हू तेरडा ॥
मैं हूं तेरडा मेरे रांम, राषो मोहे नेरडा ॥३॥
अन्तर आइये हो, प्रेम चषाइये ॥
प्रेम चषाइये मेरे रांम, ज्यूं जग तिरजाइये ॥४॥
जन सेवा कूँ सुष दीजिए, अपना कीजिए ॥
अपना कीजिए मेरे रांम, सरनि दत्त दीजिए ॥५॥

अवला हों अपणी जानि कै, दरसन दीजै आइ ॥टेक॥
तुम अलष निरंजन होय रहया, अकल अयोनी देव ॥
सकल मांडमें मिल रहया, किस विधि कीजै सेव ॥१॥
तुम रोम रोम में रम रह्या, नैनाँ दीखो नांहि ॥
विरहनि जिवडै जक नहीं, तो कहा रहया व्है मांहि ॥२॥
जग जल तो भावे नहीं, सुनिहो दीनदयाल ॥
औगण वगसो रांमजी, काढौ जीव जंजाल ॥३॥
करुणा हो सुन करता घणी, हरि परम सनेही पीव ॥
जन सेवादास कूं दरसद्यो, ज्यूं सुष पावे जीव ॥४॥

आवो हो रामैया मेरे आंगणे, हरि अकल भवन के राइ ॥
तुम विन षडी न आलगै, हरि महल विराजो आइ ॥टेक॥
अबला के वल को नहीं, तुम सकल वियापी राइ ॥
दरस दिषावो आपनो, दिन दिन घटती जाइ ॥१॥
औगण सबही मेटिए, मेरा कछून पांन ॥
दरदन भाजै तुम विना, साहिब कंत सुजान ॥२॥
मेरे तुम विन को नहीं, वोड निवाहन हार ॥
दाद सुनो हो मेरडी, मिलिए सिरजन हार ॥३॥

जन सेवादास यूं वीनवै, सुनिए देव मुरार ॥
आरतवंती जानिकै, हिल मिल द्यौ दीदार ॥४॥
निरंजन आइये ?
ए ? मेरे आदि अन्त के पीव, सहज सुष लाइये ॥टेक॥
वाल्हा तुम विन व्याकुल जीव, धीरन धरत है ॥
क्या ! जानू क्या ! होइ, अब मन डरत है ॥१॥
अवधि वदीती जाइ, साहिब कहाँ अटे ॥
वाल्हा तुम दरसन की चाह, नैंन प्रभु यूं फटे ॥२॥
जो दिन है प्रभु आज, सो लाभै नही ॥
बाल्हा सब औगण कर माफ, दरसो उर मंही ॥३॥
अन्तरजांमी आव, दरसन दीजिए ॥
जन सेवा तन सुष होइ, अपणां कीजिए ॥४॥

राग काफी—

एसै प्रगट पीव संगि षेलिये हो, हां हो होइ मगन मन मांहि ॥टेक॥
होइ निसंक पीव संगि षेलूं, संकन आंणै कोइ ॥
निर्भय हो कै षेलिये हो, षेलिर मांहि समोइ ॥१॥
सषी सहेली साथ ले हो, निसदिन रहूँ हजूर ॥
सेझ सनेही आइ बिराजे, निरखूं में निसदिन नूर ॥२॥
को गति लोग नगर को आयो, षेल वण्यों अति भींण ॥
अनहद बाजा बाजै है हो, मधुरी वाजै हो वींण ॥३॥
इसो फाग हम कबहुन देष्यो, आनन्द वढ्यो अपार ॥
जन सेवादास अब सुष भया हो, सहजि लंघै भवपार ॥४॥

(राग गौड)—

साधु आया मेरे द्वार, में तन मन वारि करो मनवारि ॥टेक॥
वाँ साधां की बलिहारि रे ? , वाँ केती आतम तारी रे ॥
वे साधु मेरा भाई रे, वाँ तन की तपत बुझाइ रे ॥१॥

वे साध सुषां की रासी रे, काटै जन्म जन्म की पासी रे ॥
जन सेवादास सुष पायारे, जब साधां दरस दिषायारे ॥२॥

(रागमारु)—

आवो हो रांम सनेहिडा, दरसण दीजै मोहि ॥
तुम बिन जिवडे जक नहीं, निसदिन निरषूं तोहि ॥टेक॥
विरह विथा सब मेट सनेही, पकडो साहिब बांही ॥
यो औसर फिरि तांहि गुसांई, दरसन दीजै मांही ॥१॥
तुम रोम रोम में व्यापक स्वामी, हमकूं नैनन दीसै ॥
अबला तो दरसन नहिं पावे, कहा रह्या कर रीसै ॥२॥
तुम अन्तर जामी मनकी जांणो, वेगि विलंबन कीजै ॥
यो सांसो हरि दूर निवारो, अपणी कर हरिलीजै ॥३॥
अवकै औगण दूर निवारो, समरथ साहिब मेरा ॥
सरण गह्यां की लाज दयानिधि, सेवा जन है तेरा ॥४॥

॥ इति ॥

॥ कवि विज्ञ साधक महात्मा हरिरामदासजी ॥

हरीदासजी महाराज के परवर्त्ति रचनाकारों में हरिरामदासजी का उल्लेखनीय स्थान है। ये हरिदासजी महाराज के बावन शिष्यों में प्रमुख स्थानीय एकादश निरंजनी महन्तों में नाथजी की परम्परा में हुये ऐसा प्रतीत होता है। इनका स्थान डीडवाणा प्रमुखतया माना जा सकता है। काल इनका अठारहवी सदी है। इनकी रचना साहित्यक गुणों से अन्वित है। जैसे दादूजी महाराज के शिष्य सुन्दरदासजी की रचना से विद्वत्ता व्यक्त होती है इसी तरह इनकी रचना से भी इनकी बहुविज्ञता प्रतीत होती है। भाषा, भाव, छन्द, अभिव्यक्ति अलंकारादि सब रचना में स्पष्ट सामने आते है। सुन्दरदासजी महाराज ने प्रमुखतया सवैयों की रचना की तदवत् इनने प्रमुखतया कुंडलिये लिखे है। वैसे इनने अपनी परमार्थ सतसई में अनेको छन्दों का प्रयोग किया है।

इनकी प्राप्त रचना में छन्द रत्नावलि, परमार्थ शतसई, तथा महाराज हरिदासजी की परची तथा पर्याप्त फुटकर रचनाये हैं। मेरे कुंचामन के स्थान से

प्राप्त गुटके में परमार्थ शतसई के ५३७ छन्द है। स्वामी श्री नरोत्तमदासजी एम. ए. के गुटके मैं जो कि उनने अगरचन्दजी नाहटा बीकानेर को दे दिया है उसमें परमार्थ शतसई की छन्द संख्या साढे आठसौ के करीव है। उनके उस गुटके में और भी उनकी रचना है। मेरे गुटके मैं भी कुशलाष्टक, विरह के कुंडलिये, तथा व्यापक विषय पर भी नये कुंडलिये और मिलते है।

हरिदासजी की परची कोलिये ग्राम के संग्रह में तथा छन्द रत्नावलि की प्रति लक्ष्मणगढ में है। छन्द रत्नावलि प्रकाशित हो चुकी है। उक्त पुस्तक से इन का छन्द शास्त्र का उत्कृष्ट ज्ञांनव्यक्त होता है। छन्दरत्नावलि कि समाप्ति पर इनने डीडवाणे स्थान का तथा सम्वत् १७९५ का उल्लेख किया है।

इनकी परमार्थ शतसई की रचना इससे पहिले की होनी चाहिये एसी मेरी मान्यता है। उपरोक्त काल निर्देश के अनुसार ही इनका समय अठारहवीं शती सिद्ध है परमार्थ शतसई का स्वतंत्र प्रकाशन हो तभी इनकी रचना की सम्यक् जानकारी पाठक को प्राप्त हो सकती है। आगे तो तंडुल न्याय के अनुसार ही इनकी कुछ रचना का दिक्मात्र दिया जा रहा है पर उसी से इनकी रचना वैशिष्ट्य का अनुमान किया जा सकेगा।

॥ महात्मा हरिरामदासजी की रचना ॥

गुरुदेव की स्तुति

छन्द निसानी—

किभा अन्ध अज्ञान ने, मुझ रूप भुलाया ॥
ग्यांन कज्जल दग अंजि, जिनां अप्पा दिखलाया ॥
तिसां गुरु हन्दे पायनूं, कीज्जै परणांमा ।
दुर मेंडी ज्यंद वारिया, अष्षै हरिरांम ॥१॥
गुरु दाता महामोचदा, गुरु दीनदयाला ।
वहु जन्मोंदा संचिया, गुरु हरै मयल्ला ॥
गुरु से हीरन जगत में, सुन सिष घपल्ला ।
गुरुदा मरम न जांनही, सो द्वय पद वपल्ला ॥२॥

छन्द त्रिभंगी—

सिष कमल दिनेशं घृत शुभवेशं विगत कलेशं दुषहारं ।
गुन निकरस्थानं दयानिधानं हृत अज्ञानं सुषकारं ॥

भंजित भवजालं जित कलिकालं वचन रसालं सतसारं ।
भवसागर पोतं ज्ञान उद्योतं हरिजनगोतं गतपारं ॥३॥
अद्भुत आकारं रुचिराचारं करनउधारं जगसारा ।
सतधर्म ही लोनं लषि अघपीनं जिन धरलीनं अवतारा ॥
एसे गुरुदेवं अलिषितभेवं जित अहमेवं परणामा ।
शरणै अभरष्षय ममतम धष्षय यूं सिष अष्षय हरिरांमा ॥४॥

इन्दव छन्द—

आगम अर्थ सुनावत वे नित और अज्ञांन हरे दिलकेरा ।
उत्तम नीच वतावै उभै मग पापरु पुण्य का देत निवेरा ॥
कृत अकृत को भेद वतावत आतमरांम जनावत नेरा ।
भवजल षेवट श्री गुरुदेव के पाद पद्म्न गहो मन मेरा ॥५॥

छन्द दुर्मिला—

रस रीति लेए जेई छन्द रचे तजिमंद मनो अनुप्रास धरे ।
तिनकोजु सदगुरु तुम्ह गह्यौ कर मुज्ज हिये यह गुंज्जभरे ॥
गुरुदेव अथाह कथा चहुँ गुंथन थाह लहूकिन हिये डरे ।
शरणागति जांणि गहो ममपांणि प्रणाम तुम्है हरिरांम करे ॥६॥

दोहा—

तव आज्ञा जिनकिन लई, सरे सकल तिन कांम ।
या तैं सतगुरु करि दया, नमैं दास हरिरांम ॥७॥

(सन्त स्तुति)

इन्दव छन्द

ज्ञान कला अटला दिल मांहि जगी जिनकै विमला सुषदानी ।
सुख स्वरुप अनूप जग्यो जिनकी दुषदा भव त्रास विलांनी ॥
भोग लगे विष से जिनकूं निकसे गृह त्याग चले हरिकांनी ।
संतदासा तिनकी अवलोक करै हरिरांम प्रणाम वषानी ॥१॥

(ब्रह्म स्तुति)

मनहर छन्द—

गावत तुमारे गुन शेषजु सहस मुख
मुष अरु जीभ द्वै यै पार नहिं पायो है ॥
शारद महेश अज नारद दिनेश शशि
ऋषि सनकादिने भी अगम बतायो है ॥
सदा ही अभेद भेद भांति भांति वेद कहै
वांणी मनगोचर न एसो कहि गायो है ॥
कहै हरिरांम देव भेव तिन जान सकूँ
मैं तो मति मेरि सम तोसू मन लायो है ॥१॥

ग्रन्थ परमार्थ सतसइ से उद्धरण—

दोहा—

यह परमारथ सतसई, भाषा ग्रन्थ भुजंग ॥
जाकी जिह्वा को लगै, सो न धरे फिर अंग ॥१॥
यह परमारथ सतसई, औषध अजब अमोघ ॥
जो पीवै जीवै सदा, मिटै तास भवरोग ॥२॥
यह परमारथ सतसई, कल्पवृक्ष उपमांन ॥
मोक्ष पदार्थ देत है, कहा पदारथ आंन ॥३॥

मनहर छन्द—

मंगल सुग्यांन सर फूल्यो है सघन वर
छंदते अमंद कंज मंजुलर कीनी है ।
अर्थ गुन मांनरु विचित्र व्यंग रंगवहु
श्रेष्ट भक्ति मधु गंध अतिरस भीनी है ॥
माली हरिरांम माला गूंथकै बनाई यह
नेक न मलीन होत नितही नवीनी है ।
चढी हरिगुरु संत चतुर सुविज्ञ कवि ।
हित करि कंठ धरो संतन को दीनी है ॥४॥

गीतिका छन्द—

कलिकाल व्याल विहाल जिनकै जानि मन दुष गंजनी ।
भवभीत इन्द्रियजित जुजाकै है क्रिया भव भंजनी ।।
यूं भनत हरि के जनन सू ँ हरिरांमदास निरंजनी ।
सुष पाइ सारे सुनहु प्यारे गाथ यह मनमंजनी ।।५।।

कुंडलिया—

कानन सुन सव सन्तजन इस अधिकारी जांनि ।
कहियो शुचि श्रोतान प्रति ज्यूं व्है ग्रन्थ सुमांनि ।।
ज्यूं व्है ग्रन्थ सुमांनि यहै तुमही तें होई ।
मों तें होतन भूरि सुनु दृष्टान्तस कोइ ।।
जल में उपजत कमल तदपि व्है गन्ध वितानन ।
पवन ही प्रेरित ताहि सकल पुर कानन कानन ।।६।।

छन्द मनहर—

सुनियो प्रवीण संत वीनती विनीत करूँ
गिनती न कोऊ मेरी क्षमा सव कीजियो ।
ब्रह्म को विलास जांन तिहारो प्रताप मांन
चूक माफ करिकै चरित्र चित दीजियो ।।
रंक हाथ रतन जतन बिन लगै रज
अपनो सुधार लेहु अधिक न पीजियो ।।
वचन सदोष कोई तीरथ समान तुम
कृपा करि वुध सव सुध कर लीजियो ।।७।।

दोहा—

दूहा कुंडल्या छन्द चौपई, पदरु रेषता नांम ।।
सब ही सन्त सुधार ज्यो, कहै दास हरिरांम ।।८।।

छन्द कुंडलिया—

डरिये रे मन कुवुद्धि तैं, सुवुधि राह पग धारि ।
कुवुधि काल की पासि है, सुवुधि सुधा निरधारि ।।

सुवुधि सुधा निरधारि, पार पहूंचो किन माई ।
भवसागर अति कठिन, नांव विन पार न जाई ॥
कहै दास हरिरांम सीष यह, उरमें धरिये ।
निसदिन जप हरिनांम, कांम तै निसदिन डरिये ॥६॥
काहू को मत याच मन, कमी नांहि जग मांहि ।
नदी ताल जल संचरे, वन फल वन वहु आहि ॥
वन फल वन वहु आहि, चीर वलकल वहुभारे ।
सैया भूमि निवास, वाहु गैंदुक उनहारे ॥
मंदिर दरियन मांहि, राम भज लीजै लाहू ।
निश्चय उर हरिरांम, राम भूलै नहिं काहू ॥१०॥
मेरा तेरा पारका, जाके कोऊ नांहि ।
जोई षालिक षलक मैं, व्याप रह्या सव मांहि ॥
व्याप रह्या सव मांहि, नहीं किसही का जाया ।
किया न किसका होइ, छिपै नहिं कहूँ छिपाया ॥
चंद इंद रवि मंद, इसा जाकै वहुतेरा ।
कहै दास हरिरांम, सोई साहव है मेरा ॥११॥
मेरे करणी को नहीं, नांहि रहणी का लेस ।
देषादेषी भेष की, में भी धारया भेष ॥
मैं भी धारया भेष, भेष का लेस न पाया ।
उक्ति युक्ति उपजाइ, जगत कूँ वहु भरमाया ॥
पतित उधारण विरद, तौर जग वेदहु टेरे ।
कहै दास हरिरांम, आस इक यह उर मेरे ॥१२॥
आया जे हरि आसरे, पाया तिन दीदार ।
मन चाहा कारज भया, गया मोह अंधियार ॥
गया मोह अंधियार, पार भवसागर पाया ।
पींपा नांम कवीर, धना वहु संतनि गाया ॥

अवर रीझ कहा देत, देत हरि अपनी काया।
में परिया हरि रांम, रीझ सुनि शरणै आया ॥१३॥

रेषता—

नाम परताप त्रय ताप प्रहलाद की मिट गई झटक दे चटक मांही।
नाम परताप ध्रू पाप सब कांपि करि छाप सब ऊपरै अटल पांही॥
नाम परताप जन नाम कबीर से राम ही व्है गये न गये कांही।
कहत हरिरांम हरिरांम भज बावरे नाम विन आसरा तिहुँ लोक नांही।१४

छन्द वेताल—

निरद्वन्द व्है सुषदुष मह अरु अचल धैर्य धारि।
विन मिली सबही वस्तु की चाह देहु निवारि॥
त्याग कर चांचल्य सब राषि मन इक ठांम।
यह धारि लै परमातमा मम पूरि है सब कांम ॥१५॥

छन्द पद्धरी—

लषि विषय दोष वैराग्य धारि तिन सबहिन तहाँ तै वहि निकार।
करि भ्रूमधि चक्षु धरि सुबोध जिमि लय विषय वृत्ति व्है निरोध ॥१६॥

पद राग सोरठी—

मन रे देवल अजब बताऊँ!
या देवल को देवा धोकै, तो निज पद को पाऊँ ॥टेर॥
देवल एक षंभ द्वै जाके, द्वै दरवाजा भारी।
गोषे द्वै द्वै वाके झांकी, द्वै बारी इक नारी॥
ना कछु लांबा ना कछु चौड़ा, ऊँचा भी कुछ नांहि।
जो रचना ब्रह्मांड विषै है, सो सब या कै मांहि॥
आपही देव चुणया चूने बिन, टांची नांहि लगाई।
फिरता फिरै फिरंग पुतरी सूँ, ऐसी कला बनाई॥
देव निरंजन ता मैं देवा, बैठा बिन पधरायां।
आपही सेवक व्है करि सेवै, जीव नाम जब पाया॥

अजपा जाप जपै निसवासर, नीर निरासा न्हावै ।
ग्यांन गंग जल वुधि अर्घा भर, देवाकूँ सपडावै ॥
कपड़ा गहना करम धरम सब, चित चंदन चरचावे ।
अहंकार मनसा मन व्यंजन, भोजन भोग लगावे ॥
ऐसे अद्‌भुत देवल देवा, सुर नर कृत को नांही ।
कर हरिरांम सेव याही की, मत भटकै जग मांही ॥१७॥

छंद वेताल—

यह लगै साचो जगत जौं लों, ग्यांन उपजै नांहि ।
ब्रह्म ग्यांन को जब भानु प्रगटे, लीन व्है छिन मांहि ॥
सब वर्ण आश्रम धर्म तारे, लसै निसहि मांहि ।
जब ज्ञान भानु प्रकाश व्है, तब भास सब मिट जांहि ॥

छंद चौपई—

परमातम को ध्यान जू धरै, तन मन इन्द्री निश्चल करै ।
परमातम दशहू दिस ध्यावै, तब समाधि सुपको जनपावै ॥
सो समाधि सायुज्य कहावे, भेद भाव तहं सर्व नसावै ।
स्वामी सेवक मिले स्वभावा, बूंद मिली जल जल ही समावा ।१९॥

छंद अरिल—

वेरी कंचन लोह, एक कर जांनिये ।
कहै वेद गुरु संत, सोई सत मांनिये ॥
स्वर्ग नर्क दोऊं त्यागि, कांमना परिहरो ।
हरिहाँ ! कहै दास हरिराम, यहै निश्चय धरो ॥२०॥

छंद रेषता—

रंग कै महल मैं गंग उलटी वहै संग सरवंग को तहां पावै ।
सुन्दरि सुरति पति पाइ उर लाइ इक भाइकूँ युक्ति ऐसी उपावै ॥
साधि समाधि आराधि आनंदघन आधिरु व्याधि को पद गमावै ।
झिलमिले नूर भरपूर वहु सूरज्यूं सूर हरिरांम कोऊ तंह समावै ॥२१॥

प्रकीर्ण रचना

छंद मनहर—

जन हरिदास हरि सुमरिदास तुरसी तत पाया।
श्याम लही सब स्यामता पद पूरण ध्याया ॥
ध्यान धरत हरि मिले नाथ मिल नाथ ही गाया।
कान्हड़दास कृपालु षेम पुनि षेम समाया ॥
मोहन भजि मुरार दास जगजीवन सिद्धवर।
आनदास जगन्नाथ भये ये प्रभु के अनुचर ॥
घाट वाध इनमें नहीं अधिकारी निजधाम के।
द्वादश महन्त निरंजनी उर बसहु सदा हरिराम के ॥२२॥
हरिपुरुष दयाल जीवन को किये निहाल।
गुरु गोरष प्रताप तैं गिरा यह उचारी है ॥
वेद रु पुराण सब कतेब कुरांण काव्य।
सोधि सोधि जंत्र मंत्र वान्ध्यो भ्रम भारी है ॥
ऋषीश्वर तपेश्वर मुनीश्वर जोगेश्वर।
ठाढेश्वर ऊर्ध्ववाहु भ्रमवश ख्वारी है ॥
गोरष सिष दयाल प्रगटै हरि पुरुष।
बावन सिष सहित हरि प्रीति धारी है ॥२३॥
मीठे मीठे वैन ऐसे सूक्ष्म को मिठास तैसे।
सारा सार सोधिके कुंडलिये बनाये हैं ॥
दूहा पद छंद बड़ो ग्यान को प्रबंध सो तो।
जीवन की दया देषि आप मुष गाये हैं ॥
चौपई रु रेषता हू कहे हैं विशेष अति।
संत जन तत्वशोध हृदै हू धराये हैं ॥
जन हरिरांम निज ब्रह्म मांहि कियो धाम।
एसो जु प्रभाव सुनि मेरे मन भाये हैं ॥२४॥

छन्द रत्नावलि

दोहा—

गुरु गनपति गोविन्द को , नाय शीश हरिरांम ॥
पिंगल मत भाषा विषै , रच तरु चिर परकांम ॥१॥
मत्ता वर्ण विभेद करि , द्वै विधि लौकिक छन्द ॥
पिंगल आदि अचारि जनि , कहैं वान्ध परवन्द ॥२॥
तिनके लच्य लच्चन सहित , सुने जिसे है नांम ॥

मात्रिक छन्द—

प्रगट करत इस ग्रन्थ में , भाषा करि हरिरांम ॥३॥

गीति छन्द लक्षण—

प्रथम आर्या दल जिसे , दल दोनों जो होय ॥
"गीति" नाम ता को कहै , कवि पंडित सब कोय ॥४॥

उदाहरण—

अपने मन ही विचारो , हित अनहित जुत सषि वचन हमारो ॥
फिर पीछे पछितै हो , अलि अवसर यो सु फेरि नहिं पै हो ॥५॥

पद्धरि लक्षण—

सवकला चरनि षोडश प्रमानि , नितिपरत जगन अवसानि आनि ॥
हरिरांम सवै कवि विदुष वृन्द , तिहिं कहत पद्धरि नाम छन्द ॥६॥
सुनि दूती अति स्यावास तोहि , अति सुखी करी अलि आज मोहि ॥
तैं सहे दन्त नख मोर कज्जि , इमि स्तुति व्याज निंदा प्रसज्जि ॥७॥

चौवोला लक्षण—

तीस कला सव व्है यक दल की , दल दल में यति वेद गना ॥
गुरु अच्चर अवसान निरन्तर , वह चौवोला समझ मना ॥८॥

उदाहरण—

जित वरणत उपमान सुकवि वहि , रूपकातिशय उक्ति कहै ॥
नील कमल तैं निरष अली री , वहु विधि तीच्ण वांण वहै ॥९॥

छन्द ललित लक्षण—

प्रथम चरण मैं है षोडश कल , दूजे रवि कल जानों ॥
उत्तर दल की कल याहि विधि , ताहि ललित पद मानों ॥१०॥

उदाहरण—

मधु तैं सुधा सुधा तैं कवि के , वायक मीठे मानों ॥
यों उत्तरोत्तर सार अधिक गहि , ताको सार बषानों ॥११॥

छन्द कडखा लक्षण—

दशदश सचिह कलन पर , होत जहाँ विश्राम ॥
सब पद काल सैंतीस लखि , कडखा ताको नाम ॥१२॥

उदाहरण कडखा—

जन्म अरु मरण द्वै थम्भगाढे गडे वासना भींन कडियां अखूलै ।
नारि सुत मात पितु पालना पालना मौलि धन देहजो देषिभूलै ॥
डोलना चित्त को डोलना जानिये ममतामांनि रस चाषि फूलै ।
कहत हरिरांम मन अधिप इत भूलना मोह के भूलना जगत भूलै ।१३।

वर्ण छन्द–तोमर लक्षण—

मुख चन्द जित सगन्न , फिर दोय दोय जगन्न ॥
कवि चित्र चेतन चन्द , हरिरांम तोमर छन्द ॥१४॥

इन्द्रवज्रा लक्षण—

जामें करीद तत आदि आनैं , जो गोग ज्ञाता अवसानि ठानैं ॥
औरन कोई यति भेद जानै , सो इन्द्रवज्रा वृतज्ञा वषानैं ॥१५॥

दोधक लक्षण—

जासु विषै हरनेत्र भजाना , आतम उभै गुरु फेरि समांना ॥
सो शुभ दोधक नाम सुछन्दा , भाषत है हरिरांम फनिंदा ॥१६॥

मालनी लक्षण—

आदौ आत्मा मो नदी तीर तोहै , फेरयौ जाकै अन्त में पाद गौहै ॥
यती वर्णत लोक वर्णत लहीजै , छंदा मांहि मालनी सो कहीजै ।१७।

दोहा—
ग्रन्थ छन्दरत्नावलि, सारथ या को नाम ।।
भूषन गरती तैं भयो, कहै दास हरिरांम ।।१८।।
सम्वत् शर नव मुनि शशि, नभ नवमी गुरुमांनि ।।
नगर डीड द्रढ कूपतहिं, ग्रन्थ जन्म थल जांनि ।।१९।।

कुशलाष्टक—
मेरें तन हीमें रहे पंच चोर वलवांन ।
मेवासी इस मुरि रह्यौ कह्यौ न मांने आंन ।।
कह्यौन माने आन प्रांण यातैं दुष पावैं ।
षिन षिनतैं नर आइ जाइ विरथा न रहावै ।।
एते पर कुशलात मित्र पूछै लग केरै ।
कहा कुशल हरिरांम दशा ऐसी मैं मेरे ।।२०।।

नीति के कुंडलिये—
रोवो कूटो जग करैं निज प्रिय मूँवो जानि ।
गयो जीव जांसूँ कवै तुमरे भई पिछांनि ।।
तुमरे भई पिछांनि सुतो तन परियो आगै ।
निज हाथनि तजि लगनि अगनि धरमैं तिहिंदागै ।।
जीव अमर हरिरांम देह क्षण भंगुर जोवो ।
यह अचरज वड़ आहि काहि किस कारण रोवो ।।२१।।
तेरी नर नित परमपद दाता मानुष आव ।
चली जात लषिये नहीं ज्यों जल मांही नाव ।।
ज्यों जल मांही नाव चलत जामें जे प्रानी ।
चलत लषत गिरि वनी आपनी थिरता मांनी ।।
यों निज थिरता मान तजत नहिं मेरी मेरी ।
भजै न हरि हरिरांम कहो जड़ को वहुतेरी ।।२२।।
पढियो कहा विचार विन मढियो माया मोह ।
जोलों मिटैन जीव कै दुरति ईरषा दोह ।।

दुरति ईरषा दोह वधै क्यों यह फल पायो ।
ज्यूं मृग सिंघ वधाय पास में जाय वधायो ॥
जो अभिमान पहाड़ सिषर ऊपर नर चढियो ।
लषै न दुरगतिगमन ज्योंहि मूरष त्यों पढियो ॥२३॥
तेरे सिरजनहार की तोपै षवर कछु नांहि ।
सुत वित वनितादिक निरष हरषि रह्यो वरमांहि ॥
हरषि रह्यो घर मांहि जाहि लष सो न रहासी ।
रदन माल विकराल काल चुनचुन सब षासी ॥
जियत स्वारथीं सर्व भूलि तूं भाषत मेरा ।
इक हरिविन हरिरांम सगा कोई नहिं तेरा ॥२४॥
सारा जन स्वारथ सगा दगादार सुत दार ।
माया छाया अभ्रकी विनसत लगै न वार ॥
विनसत लगैनवार देह क्षण भंगुर गावे ।
गज घोडा गढ़ गाँव ठांव के ठांव रहावे ॥
चले अकेलो आप बांध सिर पाप के भारा ।
तातैं भज हरिरांम वृथा सब आस पसारा ॥२५॥
भेरा भव तिरनां घणा मान्या मति उनमान ।
जप तप तीरथ शील व्रत योग यज्ञ पुनिदान ॥
योग यज्ञ पुनिदान इते करि मांन न आंनै ।
पढे वेद अरू भेद लहै कछु षेदन मांनै ॥
उपजत आन अचान विघ्न इन मांहि घनेरा ।
भवतारक हरिरांम नामसा कोउन भेरा ॥२६॥
जाकै तिलकन टोपियां माला मुद्रा नांहि ।
भगवाँ वसनन सीस पर इष्टलिंग नहिं आंहि ॥
इष्टलिंग नहिं आंहि नाहि उर्धातिन पनियाँ ।
गरै जनेऊ नांहि भेष धरि कछू हि न बनियाँ ॥

पाय जुगादिक भेस नांहि गिरही को ताकै ।
निरपष सो हरिरांम राम यह उरि धनि जाकै ।।२७।।
काया माया कोथरी सदा थोथरी आहि ।
पीपर पान समान गति घरिभर थिर न रहांहि ।।
घरि भरथिरन रहाँहि आह ज्यूं वीज उजारी ।
सीत कोट मृगनीर भूत दीपक उन हारी ।।
वास भीतसु रीति अभ्रकी जैसी छाया ।
गरवन कर हरिरांम थिरन यो काची काया ।।२८।।
एकादश गीता पढै पढै वेद अरु भेद ।
चढे न पैडी तनकही गडै मोह मद षेद ।।
गडै मोह मद षेद छेद कस कर्म लहावे ।
छाज बजायाँ ऊंट वूँट षातो न रहावे ।।
गूढ मंत्र मनमीत सन्त कथ गये अनेका ।
मुक्ति गढन पर चढन नाँव नीसरनी एका ।।२९।।
पापी तेरे पाप में नांहि किसी का सीर ।
साबै में सामिल सबै चेते किन वेपीर ।।
चेते किन वेपीर षेत घर यूं सब षाया ।
कहा शाहको लाह कहेगो मूल गँवाया ।।
भयो सबनतैं चोर ढोर ज्यूं फिरयो सुरापी ।
पापहरन हरिरांम नाम रुचि लियो न पापी ।।३०।।
हारो सबतैं दीनहो उरधारो गुरु ग्यांन ।
सारो कारज आपनों भज प्यारो भगवांन ।।
भज प्यारो भगवांन जुपै तूं चहै भलाई ।
चली जात नर आव नांव जो लष्योन जाई ।।
क्षण भंगुर नर तोर ओर हरिरांम निहारो ।
मूंका मूंवारे मूढ़ जूवाज्यों जनमज हारो ।।३१।।

परचई दोहा—

वन्दन कर गुरुदेव को, चन्दन चरचत गात ॥
श्री गणपति के पडत पग, विघन तुरत टर जात ॥१॥
चितवत चित में चातुरी, करण दोहरा छन्द ॥
वुध जन का यह काम है, मैं हूँ अति मति मंद ॥२॥
डीडपुर विख्यात है, मानों सुरपर धांम ॥
लोक हितारथ रहत है, हरीदास यति नाम ॥३॥
तिनके दरसन करन कूँ, आवत सव ही लोग ॥
दरस करत पातक झरत, अणदारु षत रोग ॥४॥
एक समै नागोर की, श्रुति भई है आय ॥
ज्यों बैठे त्यौं उठि चले, मनवत पहुंचे जाय ॥५॥

सोरठा —

वापी एक अनूप, पूर्व दिसि है नगर सूँ ॥
आस पास हैं कूप, सो साहव सूनो करी ॥६॥
दीर्घ योनि अग्यांन, वित्र जोनि तामें रहे ॥
नर नहिं पावे जान, जाइ ताहि प्राणन हरे ॥७॥
बैठे तामें जाइ, गोरष वत धारे धारणा ॥
निश्चल चित लगाइ, हरीपुरुष हरि नाम सों ॥८॥
रजनी गत इक याम, वित्र योनि की वेर भई ॥
कहै दास हरिरांम, कर्म करण अपनो लग्यो ॥६॥

छन्द भुजंगी—

तवै भूत वोल्यो सुनो सिद्ध रामा, कहाँ कू सिधाया कहाँ ते जू आया ।
उधारो मुखा कृपा मोहि कीजै, गुनों मेट मेरो अभैदान दीजे ॥१०॥

दोहा—

उदै भाग ताको भयो, छूटणहार अग्यांन ॥
मुख छादन छिटकाय करि, वोले कृपा निधान ॥११॥

भूत जोनि के कर्म तजि , अन्तर जपि हरि नांम ॥
दया दीन की दिल धरो , तब पै हो निज धाम ॥१२॥
दरस करत ही मति फिरी , लइ शिक्षा तिन पास ॥
टहल करन को चित धरयो , भयो जन्म अघ नास ॥१३॥

समाप्ति में—

इहै श्री दयालजी की , पंच परचई नांम ॥
अनंत और परचा भया , कहै दासहरि रांम ॥१४॥
छन्द अर्थ इनको परषि , शुद्ध होइ जो नाम ॥
सब ही संत सुधार ज्यों , कहै दास हरिरांम ॥१५॥

॥ इति ॥

॥ महात्मा सिद्ध पुरुष स्वामी आत्मारामजी ॥

महात्मा हरिदासजी महाराज के पश्चात् होने वाले सिद्ध महात्माओं में स्वामी आत्मारामजी का भी प्रमुख स्थान है। आपके जन्म का काल व आप किस शिष्य परम्परा के थांभे में हुये तथा आपका आवास स्थान अनिर्णीत है। आपकी कृति जो प्राप्त है वह अपूर्ण है। आपका काल अठारहवीं के द्वितीय चरण से उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण तक का है। आपका देहावसान सम्वत् १८१६ फाल्गुन कृष्णा प्रतिपदा को जोधपुर के किले में हुआ था। ऐसा उल्लेख जोधपुर राज्य का इतिहास भाग २ के पृ० ७०६ पर उद्धृत है। यह इतिहास पुरातत्व के परम प्रेमी माननीय गौरीशंकरजी हीराचन्दजी ओझा द्वारा लिखित है।

यह प्रसंग महाराजा विजयसिंहजी के राज्य काल की घटनाओं के निरूपण में आया हैं। महाराज विजयसिंहजी का राज्यकाल सम्वत् १८०६ से १८५० तक का है। वे सम्वत् १८०६ में तेईस वर्ष की अवस्था में जोधपुर की राज गद्दी पर आसीन हुये थे। महात्मा आत्मारामजी से उनका परिचय उनके पिता बखतसिंहजी के साथ आते-जाते रहने से बचपन में ही हो गया था। और वे महात्मा आत्मारामजी में गुरु भाव रखते थे। उनको जोधपुर का राज्य मिलने का हेतु भी महात्मा आत्मरामजी की कृपा माना गया है। जोधपुर की राज्य गद्दी पर बैठने के पश्चात् विजयसिंह जी ने महाराज आत्मारामजी के प्रति अपनी और भी श्रद्धा प्रदर्शित की। उनका जोधपुर किले में देहावसान तथा वहीं किले में उनका दाह संस्कार तथा समाधि

निर्माण ही इसके पुष्ट प्रमाण हैं कि महाराज विजयसिंहजी की उनमें परम श्रद्धा थी महाराज विजयसिंहजी ने जोधपुर राज्य के उस समय के प्रमुख अन्य किलों में भी उनकी समाधि स्थापित कराई थी जो आज तक विद्यमान है। डीडवाणे में उनका भंडारा भी महाराजा ने इस वर्ष के फा. शु. में कराया जिसका उल्लेख भंडारीजी की रसोईयों की बही में मिलता है। उनके इस निधनकाल से उनका जन्म अठारहवीं सदी के प्रथम चरण के अन्त का माना जा सकता है। उनका रचनाकाल अठारहवीं का उत्तरार्द्ध तथा उन्नीसवीं सदी का प्रथम चरण स्पष्ट है। महात्मा आत्मारामजी की रचना सुसम्बद्ध तथा अनेकों व्यावहारिक व पारमार्थिक सिद्धान्तों का निरूपण करती है भाषा परिमार्जित है।

रचना में विविधता भी है साषी, कुन्डलिये, शब्दो, रेषते, छन्द, मनहर चान्द्रायण, झूलने पद मिलते है। रचना में कुन्डलियों का आधिक्य है। अपूर्ण व अल्प प्राप्त रचना जो मिली है उसी का अंस आगे दिया गया है। उससे आप जान सकेंगे कि वे केवल सिद्ध महात्मा ही नहीं. अच्छे रचनाकार भी थे।

॥ आत्मारामजी की कृति ॥

कुण्डलिया :—

आतम के गुरु परमात्म, कीन्हें सारे थोक ॥
सर्वसुखी तुम शरणतें, तें न्हाठे सारे शोक ॥
नाठे सारे शोक प्रभु, तुम कृपा कीन्ही ॥
राम नाम सी चीज, काढि हिरदे तें दीन्ही ॥
आत्म राम नाम को सुमरे, मिटै जन्म के जोग ॥१॥
आत्म के गुरु परमात्मा, कीन्हे सारे थोक ॥

इंदव—

नमो गुरुदेव दयाल दया करि, ज्ञान की चाल बताय कह्यो घर हेरो ॥
काहे को तीर्थ जायर खेद करे तु, काहे को काशी मथुरा वास वसेरो ॥
अडसठ तीर्थ है तन मांहि जू, वाहर भरमें दुःख घनेरो ॥
जन आतम गुरुदेव मिल्या विन, भ्रम न भाजै अधिक अंधेरो ॥

साषी—

आत्मराम सुखी किया, सोरा रहु सारै ॥
अवरूँ सारू कछु नहीं, सतगुरु शिर म्हारै ॥

कुण्डलिया :—

राम हमारे शाह जी, अवर राम के जन ॥
निशदिन हरि सुमिरण करे, करि करि निर्मल मन ॥
करि करि निर्मल मन, ताहि को सुमिरण कीजै ॥
रसना सूँ ल्यो लाइ, शब्द मुष अमृत पीजै ॥
आतम सतगुरु सेव सूँ, फिर नहि धांरु तन ॥
राम हमारे शाह जी, अवर राम के जन ॥२॥

सन्त शब्द न्यारे नहीं, राषो हृदय मांहि ॥
सत्य प्रमाणी भाव सूँ, नांव नांव लग जाहि ॥
नांव नांव लगि जाहि, पाइये मुक्ति वसेरा ॥
निज तत परसै जाय, काल का पड़े न घेरा ॥
आत्म सुमरण सुखलिया, दूजा दो जग जाहि ॥
सन्त शब्द न्यारे नहीं, राषो हृदय मांहि ॥३॥

करसिर धरिये साध के, सेवग चरणों लाय ॥
द्रष्टि देत शीतल भया, दोन्यूं एकही भांय ॥
दोन्यों एकही भांय, पांय सतगुरु के लाया ॥
निशदिन सुमरै राम, झूठ दरसै सब माया ॥
आतम कान फूंकजे सिष करे, धन ठगने का डाय ॥
कर सिर धरिये साध के, सेवग चरणों लाय ॥४॥

सकल सन्त है राम के, कुछ करनी में भेद ॥
सबही मिल सुमरण करो, करो काल का छेद ॥
करो काल का छेद, वेद इक याही पुकारे ॥
सुमरण निर्मल होय, साष इक रांम सँवारे ॥
आत्म साध तहां निर्वैरता, द्रोह राम विच्छेद ॥
सर्व सन्त है राम के, कुछ करणी में भेद ॥५॥

उत्तम कहि कहि डूबिये, नहीं पायो तत सार ॥
शूद्र वर्ण के में सुण्यो, राम नाम अधिकार ॥

राम नाम अधिकार, कलू में सार बतायो ॥
एकादश में कृष्णदेव, अपने मुख गायो ॥
आत्म युग युग के धर्म, समै समै अधिकार ॥
उत्तम कहि कहि ठूविये, नहीं पायो तत सार ॥६॥
षट् कर्म कीजै माँहिला, हत काम क्रोध अभिमान ॥
मोह जीत साचा मनाँ, द्रोह लोभ मद पान ॥
द्रोह लोभ मद पान, राम भजिये इक तारा ॥
मैला सब परिणाम, झाड़ कर कीजै न्यारा ॥
आत्म यह शिक्षा षट्कर्म की, ब्रह्म होइ करि ध्यान ॥
षट्कर्म कीजै माँहिला, हत काम क्रोध अभिमान ॥७॥
ऐ दोऊँ डरता भला, हरिजन भगता नारि ॥
खान पान रस भोग तजि, मन चांचल्य निवारि ॥
मन चांचल्य निवारि, मारि दूजा दुष दाई ॥
सतगुरु गाया साच, और की वात न काई ॥
आत्म रमता राम पति, निसदिन हृदय धारि ॥
ऐ दोऊँ डरता भला, हरिजन भगता नारि ॥८॥
हणूं धनूं कर गाइयो, राम नाम तत सार ॥
ता प्रसाद तैं लंघिया, गया समंदा पार ॥
गया समंदा पार, सार सोधी इक सीता ॥
हुआ लंक परवेश, दास तहां भये वदीता ॥
आत्म नांव सुमरण किया, बहुत पतित भये पार ॥
हणू घणूं कर गाइयो, राम नाम ततसार ॥९॥
राम कहै सो साध है, दूजा साधन झूठ ॥
राम नाम साधन विना, होसी सब नर ऊंठ ॥
होसी सब नर ऊंठ, बूंट काँटन को चरहीं ॥
ऊपर मुक्ता भार, धार ढोते बहु फिरहीं ॥

आत्म नाम सुमिरण किया, प्रगट चारयूं पूंठ ।।
राम कहै सो साध है, दूजा साधन झूंठा ।।१०।।
मुष मीठा मैला मना, परनामों की बांणि ।।
झूंठ कपट अरू डिंभता, वै साधु मत जांणि ।।
वै साधु मत जांणि, वांणि ठग केरी दरसे ।।
छुप छुप हैस स्वरुप, जाय माया को परसे ।।
आत्म धर्म हीन जगमे फिरे, तजि हरि गुरु की काणि ।।
मुष मीठा मैला मना, परनामों की बांणि ।।११।।
जैसो कालो कोयलो, मूढ़ हृदय यों जांणि ।।
मन ममता में कल गयो, फेर लेण की वांणि ।।
फेर लेण की वांणि, वांणि सुमिरण की नांहि ।।
वाहर हां हां करै, वादलो वीवज मांहि ।।
आत्म सौ कोड़ पात्र कर पूज्या, पाँडव जिग में आंणि ।।
जैसो कालो कोयलो, मूंढ हृदय यो जाणि ।।१२।।
संतन डाकी क्यूं कहौ, डाकणि षाया तोहि ।।
घर बाहर सबको दल्या, रह्या न वाकी कोहि ।।
रह्या न बाकी कोहि, हाथ सूं करी षवारी ।।
राम राय का कौल, गई चूक्या बहु भारी ।।
आत्म संतजन मोर रहे, राम आसरै होइ ।।
संतन डाकी क्यूं कहो, डाकणि षाया तोइ ।।१३।।

साषी—

राम कहै ताका मुष मीठा, थूक तुम्हारे मुंह ।।
देख राम की आतमा, पापी थूक्यो क्यूंह ।।

कुण्डलिया—

कहते केवल राम ही, लडै भेष बहु भाइ ।।
गोला गोली सेल सिर, झूठ मोरछै आइ ।।
झूठ मोरछै आइ, ढाल तरवार संजोई ।।

छुरी कटारी साज सूज, चरचा बहु होई ॥
शब्द एक निरवाण, छूटै हरिजन हृदय ते ॥
कर्म दुष्ट गये भागि, राम ही केवल कहेते ॥१४॥

कीगर बाजै भैंस पर, रूँथि रूँथि षड षांहि ॥
स्वर्ग नर्क की गम नहीं, षेलै नरकाँ मांहि ॥
षेलै नरका माँहि, रडक पय पीवे मीठा ॥
टको पईसो देष, नैन इमृत रस बूठा ॥
आतम रामजनां सूँ वैरता, आप लेण की चाहि ॥
कीगर बाजै भैंस पर, रूँथि रूँथि षड षाँहि ॥१५॥

जगत भगत सब एकसे, विरली जगह विवेक ॥
मांहि मांहि से राम जन, जहां भक्ति की रेष ॥
जहां भक्ति की रेष, सेष दूजो नहि जाणे ॥
तन मन आपो अरप, राम सूं वाणक वांणे ॥
आत्मराम उपास में, रहे राम ही एक ॥
जगत भगत सब एकसे, विरली जगह विवेक ॥१६॥

राम कहै सो निरंजनी, दूजा अंजन मांहि ॥
भेष भला भगवन्त का, शरणे पेट भरांहि ॥
शरणें पेट भरांही, जाइये तीरथ न्हावा ॥
बाहर हरि क्यूं पाय, षोजिये अपणा आपा ॥
जन आत्म भज राम कूं, बहुत सन्त गये जाहि ॥
राम भजै सो निरंजनी, दूजा अंजन मांहि ॥१७॥

शवदी—

आत्मराम भेष बहु विगड्या, लागो सेवा पूजा ॥
मांहि बाहर सबही देष्या, राम बिना नहिं दूजा ॥
आत्म राम भेष बहु भरमी, पाथर पांणी पूजै ॥
साध कहावे कई कसाई, जीव दया नहीं सूझै ॥१८॥

कुण्डलिया—

मोपा पूजै देवकूं, दूध दही तर तौडि ॥
मेरो कारज तुम करो, सदा रहों कर जोडि ॥
सदा रहो कर जोडि, बहुरि मैं भेट चढ़ाऊं ॥
मोपर तूठो देव, एक पतिया मैं पाऊं ॥
तेरी तोरी तै लई, देव निहुचिवा टोपा ॥
ईट पथर को पूज, पुजावे बहु विधि मोपा ॥१६॥
मुसलमान कहे पीरकूँ, करिहै कर्म अपार ॥
विना ग्यान हत जीव बहु, पाया नहीं विचार ॥
पाया नहीं विचार, सार हिन्दू सुण सारा ॥
दया शील संतोष, राम जपिये इन धारा ॥
आत्म दयावंत रहु सर्वसु, हतो न जीव लगार ॥
मुसलमान कहे पीर कूँ, करि है कर्म अपार ॥२०॥
न्हाइ धोय तन ऊंजला, अंतर मेला वीर ॥
काम क्रोध त्रिष्णा तुरी, नेकन अटक्या धीर ॥
नेकन अटक्या धीर, दोर महकी ज्यूं पैठा ॥
अणछाण्या का जीव, मूवी सूं कर्म ही बैठा ॥
आल न्हाय धोय शुभ यो करो, नीर छांणिये तीर ॥
न्हाय धोय तन ऊजला, अंतर मेला वीर ॥२१॥
पाग पछे वड़ धोवती, नया कराया और ॥
जल छाँणन कूँ छांणले, कीन्हों वोदो जोर ॥
कीन्हौ वोदो जोर, तार मै तारो झांके ॥
जीव सूक्ष्म से होय, कहो कैसी विधि राषे ॥
कह आतम वे मानवी, मिनष नही है ढ़ोर ॥
पाग पछे वड़ धोवती, नया कराया ओर ॥२२॥
गाढ़ो कीजै छाँणनो में, दोवड़ अंगुल बीस ॥
जल में जीव अनन्त है, जहाँ वसै जगदीश ॥

जहां बसै जगदीश, भूल सूं अकर्म भारी ॥
छांन्याँ सूँ मिट जाइ, षुसी हो राम मुरारी ॥
आत्म मन इन्द्रिये द्रढ़ता करो, राम राषिये शीश ॥
गाढ़ो कीजै छाणनो, दोवड़ अंगुल वीस ॥२३॥

द्रष्टि पट अरु शुभ वचन, सुरति छाणणों च्यारि ॥
एकादश में कृष्ण की, वाणी कह्यो विचारि ॥
वाणी कह्यो विचारि, सोध शुभ कीज्यो सारा ॥
द्रष्टि देष पट छाँणि, सुरति शुभ वचन उचारा ॥
आत्म वार वार नहीं पायवो, मनुष जन्म अवतार ॥
द्रष्टि पट अरु शुभ वचन, सुरति छाँणणों च्यारि ॥२४॥

भाँग तमाषू छोंतरा, ओर जुवा को ष्याल ॥
नागर पान निवारि, भार में तैं सब डारो ॥
सतगुरु शिर पर राख, आपणू जन्म सुधारो ॥
आत्म नहिं तो कर्म अति, जन्म जन्म वेहाल ॥
भाँग तमाषूं छोंतरा, ओर जुवा को ष्याल ॥२५॥

तर्क त्याग वैराग कूं, कायर कहे कछु ओर ॥
गोपीचंद अरु भर्थरी, वलिष पात सा बहोर ॥
वलिष पात सा बहोर, तेज हस्ती अरु घोड़ा ॥
छत्र छाँह मनि छाय के, षडे रहते व ठोडा ॥
आत्म सब तजि सांई भज्या, मन इन्द्रि करि कोर ॥
तर्क त्याग वैराग कूं, कायर कहे कछु ओर ॥२६॥

वाल्मीक था सरगरा, अन्तर ऊजल भाव ॥
सुमरण किया राम का, नहीं लेण का चाव ॥
नहीं लेण का चाव, लेण सूं ममता मैली ॥
लीयां वधती जाय, नीर भादों का फैली ॥

आत्म हरिजन ह्वै सौ परिहरे, निस दिन राम उछाव ॥
वाल्मीक था सरगरा, अन्तर ऊजल भाव ॥२७॥

जांति पांति जन कै नहीं, सुमरण निर्मल होइ ॥
दया ज्ञान द्रढ़ इन्द्रियां, साधु कहिये सोइ ॥
साधु कहिये सोइ, वेद पुराणन में गावे ॥
अंजन भंजन ना करै, हाथ नहीं द्रव्य लगावे ॥
आत्म ममता आठ प्रकार की, उरमें राषे गोय ॥
जाँति पाँति जन कै नहीं, सुमरण निर्मल होय ॥२८॥

विरक्त गृही नजीम है, काहू जाचै नाँहि ॥
अण इच्छा का टूकडा, ल्यावे वसती माँहि ॥
ल्यावे वसती माँहि, छाँणि जल भोजन लेवे ॥
रूँषे विरछे वासकरे, राम रसना सूं सेवे ॥
आत्म ऐसा सन्तजन, वास करै हरि माँहि ॥
विरक्त गृही नजीमि है, काहू जाचै नांहि ॥२९॥

गावँ का गुवाडा घना, नहिं सिंघा का बाग ॥
जिहि मार्ग जब अगसरे, तिहिं तिहिं सोइ आवाज ॥
तिहिं तिहिं होइ आवाज, गाज सोही पुर होइ ॥
हम शरणागत जीव, तारिये हरिजन मोहि ॥
आत्म सतगुरु हंदा सूरवाँ, कर्म बांध सिर पाग ॥
गावँ का गुवाडा घणां, नहिं सिंघा का बाग ॥३०॥

मड माजै मड ही लडै, मड ही करे प्रकाश ॥
मड माने सब कर्म कूं, एक शब्द के जास ॥
एक शब्द के जास, आस सतगुरु की जीवे ॥
रसना सूं लिव लाइ, शब्द मुष अमृत पीवे ॥
आत्म सतगुरु सूरिवां, वसै राम के वास ॥
मड माजै मड ही लडै, मड ही करे प्रकाश ॥

रेषता–

सन्त के लच्छण की बात अब कहत हूँ, देषकर मान अरु धार उर मांहि
काम अरु क्रोध मद लोभ लालच नहीं, जगत के सुष में रंच चित नांहि
इन्द्र के लोक की वासना ना करे, विधिलोक वैकुंठ पुनि नाँहि धावे।।
कहत आत्म याह सन्त के लच्छणा, राम कृप करे ताहि पावे ।।३२।।

खान अरु पान सूं रुचि अधिकी रहे, बोलवे चालवे बहुत ठंडा ।।
तन जोगी कियो मन रह्यो जगत में, भाई रु बन्धु जाइ मंडा ।।
जोग की जुगति की नकल लीयां फिरे, राम के नांव को छाडि ठंडा ।।
कहत आत्म इक शब्द निर्वाण विन, खूड में फिरत ज्यूं बैल डूंडा।।३३।।

ऊंच अरु नीच फिर पैच चर चातणी, वचन ही वचन से वाढ़ वाढ़े ।।
साच को छाड करि झूठ आगे करे, ज्ञान देवाल सूँ त्यौर चाढ़े ।।
तास कूँ दोष दे मन पाप पूरवतणां, पोट आपैतणी नांहि छाढ़े ।।
कहत आत्म इक राम कृपां विनां, विप्र द्विज रोढ़ियो लात काढ़े।।३४।।

कामना मारियो जगत भरम्यों फिरे, कामना राम विना कौन पूरें।।
राम कूं छाडि के आन पूजै सदा, तास का दोष सूं गर्भ झूरे ।।
साच कूं छाडि के झूट कूं केवले, साच अरु झूंठ को नांहि हेरे।।
कहत आत्म कोई राम जन सूरमाँ, राम ही राम कहै आन फेरे ।।३५।।

सांच की राह को छाडि के छाडि के, झूट की राह ही जहांन चाले।।
साध की संगत सों दूर भागौ फिर, जगत ही जगत में बहुत म्हाले।।
ओर विक्रम गीत गावे घणां, राम की भक्ति को देडि पाले ।।
कहत आत्म एसी आलम अंध है, इमृत की सीर में जहर घाले ।।३३।।

पद —

सतगुरु कहिये पद अविनाशी, जाके दरस कर्म सन्यासी ।।टेर।।
तीर्थ के तीर्थ प्रति दाता, नव नाथ पर है हरिनाथा ।।
घट पट राम सकल भरपूरा, भ्रमत फिरत वताते दूरा ।।
मात पिता सुत वंधु दारा, स्वार्थ हेत कहै म्हारा ।।

परमार्थ नहिं अपणा, सतगुरु में हरि चौरासी तजणां ॥
आत्म राम राम रस पीवै, फिर फिर मरता मृतक जीवे ॥१॥

राग बिलावल —

थारो विडद् संभालियेजी, नांह होइये न्यारा ॥
वेर वेर संतन मई, प्रगट्यो वहु वारा ॥टेक॥

मंजारी सुत राषिया, अगनि वहु धारा ॥
जन प्रह्लाद उवारिया, हिरणाकुश मारा ॥
में मति हीणा वापजी, मनका अनत पसारा ॥
मैं जाणू मने हरि मिले, यों लोटत छारा ॥
अरणी मेरे कछु नहिं, शरणागत थारा ॥
अलियुग धर्म अपार है, राषो सिरजन हारा ॥
कहै आत्म क्यूं वरणिये, तव गुण वेचारा ॥
आदि अंत अरु मध्य में, तारे पतित अपारा ॥२॥

कर पकरो करुणामई, या के नहिं कोई ॥
सुषिया या संसार में, कर पकर्यो सोइ ॥टेक॥
पांच तत्व का पूतला, मोटा मोह पसारा ॥
जहाँ जाऊँ जहाँ संग रहे, क्यूं छूटे वेचारा ॥
काम क्रोध भवजल भरया, सोइ तन म्हारा ॥
स्वर्ग देव मधि मानवी, पाताल पसारा ॥
उलट पलट मन यूं फिरै, तनका नहिं सारा ॥
अगम नदियों की गम नहीं, जाणे संत पियारा ॥
ढूंढ ढूंढ वहु हेरिया, नहिं कोऊ शरणा ॥
सतगुरु ही की महरतें, पाये तव चरणा ॥
सो सो तन अपणां किया, सो मतलव ल्याही ॥
आत्मराम व्यापी कहो, तुम वैठे माँही ॥

रे तमचर जन बोलना, रहु रहु तूं छाने ॥
तैं बोल्या तन थर हरे, प्रभु तोही जाने ॥टेर॥
महल वण्या निज नेमका, प्रेमा सेज विछाने ॥
सुमरण कर सहाँई मिली, ऐसा सुष विलसाने ।,
झूठा सुख संसार का, बुद बुद सा जाने ॥
जे जन हरि सूं रत भया, सतगुरु निज ग्याने ॥
कह आत्म हरि विरहणी, पिया मन माने ॥
या विरहा कोई जन लहै, आवागमन न आने ॥४॥
धिक् धिक् जिनका जीवणा, जिहिं गमत न जाँणि ॥
जाका जीवण सफल है, सुमरण रति माँणि ॥टेर,।
काम क्रोध मद मोह मई, लोभन की पासा ॥
नरतन विडही विगोइया, नरकन में वासा ॥
शील दया संमुख रहे, बहु ज्ञान विचारा ॥
सुमरण सूं हिलमिल रहे, जाका जीत बसारा ॥
जैदेव सकल शिरोमणि, ब्राह्मण कुल ऊंचा ॥
सकल भरमना मेट करि, साधी ब्रह्म सूचा ॥
मात पिता तज व्यास से, मेटी कुल पासा ॥
शुकदेव रंभा परिहरी, किया ब्रह्म विलासा ॥
राजपाट तज भरथरी, सोला सै रांणी ॥
सांई को सिदकै करी, नगर उजैणी ॥
गुरु भक्ता समता मता, विरकत संसारा ॥
आत्म राम रामे मिल्या, उतरे भव पारा ॥५॥
ऐसी भक्ति न कीजिऐ, नर तन विडद जांही ॥
सुमरण केवल सार है, हिलमिल हरि मांही ॥टेर॥
लोभ मोह द्रोह नांव नाव में, बैठे फल कांही ॥
सेवत ही वहि जायगा, पार पावे नाँही ॥

जोग जिज्ञ तपस्या तुला, तीर्थ व्रत आँही ॥
तन सुष कीर्ति कारणे, सबके मन मांही ॥
न्हाणा धोणा गावणा, छापा तिलक वणाही ॥
गल माला मन भावती, भ्रमत जग मांही ॥
रामदयाल सतगुरु भया, राषो उर मांही ॥
भूलांस्यूं कोई मत मिलो, भूल्यो भरमांही ॥
दया त्याग सुमरणरता, इकतारी सासा ॥
आत्मराम रामे मिल्या, दूजी नहिं आशा ॥६॥

राग रामगिरि—

सुण्यो में भगत सहाय विड़द तेरो,
स्वर्ग पयाल जमी भरपूरा, जहां ध्यायो तहां नेरो ॥टेर॥
द्रुपद सुता को चीर वधायो, अनत कियो अधीकेरो ॥
भीड़ पड्या पहलाद उबारयो, धर वपु नाहर केरो ॥
केवल कूवा सैन धना से, सबको कारज सेरयो ॥
घाटम वचन सत्य करि भाष्यो, वर्ण तुरी को फेरयो ॥
नरसी के माहेरो ल्यायो, तांन मान सुण गहरो ॥
सात कमीण नगर सब सारो, चारूं फलसा पहरो ॥
त्रिलोचन के हल तैं वाह्यो, धना को षेत निपायो ॥
पांच ग्रास पंचायण वाज्यो, विपरा मान मरायो ॥
झूठे वेर भिलनी के पाये, षट मीठो नहिं फेर्यो ॥
दुर्योधन के महल त्याग करि, विदुर झूपड़ो हेर्यो ॥
सब देवन कूं भीड़ लंकपुर, भगत विभीषण भेरो ॥
जाके हित रावण कुल विनश्यो, चरित जान की केरो ॥
मैं मति हीन अल्प बुद्धि मेरी, मांहि ममता को घेरो ॥
कहैं आत्मराम विन कौण छुड़ावे, जन्म मरण को फेरो ॥७॥

राग कानडो—

तुम भली भली करि राम राई, शरणागत पत रही सदाई ॥टेर॥

तेरे विडद को कहा वषाणो, वाल्मीकि शिवरी जग जाणो ॥
अजामेल गणिका सदन कसाई, कींता घाठम रैदास बलाई ॥
अति उद्यम कर उदर भरते, अति आधीन रहत सब नरते ॥
तब प्रताप कमी नहि कांही, हरिगुरु विन ऊणा रति नांहि ॥
मैं मेरे मनको कृत जान्यो, भांति भांति सतगुरु परवान्यो ॥
मन सूं डरे सुमरण ल्यो लावे, ताते सहज परम पद पावे ॥
आगे करी अबै तुम करल्यों, पतित उधारन हरि नहिं बीसरस्यो ॥
आत्म राम राम तुम शरणें, कोन बेर लागे तुम करने ॥८॥

राग मारू—

राम धन षरा षरी का दाम,
सूरा है ताही मिलै, नाहिं है कायर काम ॥टेर॥
कागद केरी कोटड्यां, कुण जीत्या कर राड़ ॥
एक फटुकै उठ चल्यां, चौरासी वे पाडि ॥
अकडोड्या गेढ़े भरया, धरि रेसम का भाव ॥
जाइ दिसावर षोलिया, लाभ मिल्यो नहिं पाव ॥
हरिजन चढ़े दिसावरों, राम नगां भरि नांव ॥
चौरासी चौकी चुकी, आत्म आनंद हुवा वधाव ॥९॥

राम तुम गुणवंता हो,
प्रीति निभावण प्रीतमाजी, रमता सकल मांहीं ॥टेर॥
तालावेली विरहणीजी, जोवे पीवकी बाट ॥
कब आवो घर आंगणे रामा, कब लंघो औघट घाट ॥
नैणा नीर झरहरैजी, रजनी नींद न थाइ ॥
पड़त पुरांणों पीजरो रामा, कब सुष दोगे आइ ॥
काम क्रोध मद मोह कोजी, आंण पड्यो झकजोल ॥
जीव भवै तुम देशडेजी, इहां पड़ी है षोल ॥
पडदा पोसी कर रह्याजी, मोहि कुचीली जांणि ॥

नेड़ा कसणां दूर हैजी, सुति कठिनाई पीव ॥
करमा पड़ोसण क कह्या, मति तरसावो जीव ॥
आवण भावण हो रह्याजी, दुष पावत तन मांहि ॥
आत्म के परमात्मा जी, दुख मेटि करो क्यूं नांहि ॥१०॥

साषी—

जाकै सेवग रामजी, कमी नहीं कांई ॥
आत्म दशूं दिशा भरपूर है, अण चाह्या आई ॥१॥
सब कोई चाहे मान कूं, मांगी मिले न मान ॥
आत्म राम रीझे बिना, हरिजी सुणे न कान ॥२॥
माया की महिमा करे, राम जनां सूं पूठि ॥
आत्म ऐसे जगत सब, गये नरक मैं ऊठि ॥३॥
आत्म दुनिया दोगली, आदि अंत सो जानि ॥
मुख सूं मीठा बोलिये, मांहि कपट की खानि ॥४॥
आत्म दुनिया दोगली, याने क्यूं मति मति कहो ॥
सुमरण करो राम को, चुपचाप बैठ रहो ॥५॥
आत्म निद्रा नागणी, शीश - बैठ करि खाइ ॥
मिणियो तोडी आवती, सकैक नांव भुलाइ ॥६॥
बिना कमाइ धन घणां, ठांम ठांम कूं जाँहि ॥
आत्म सुमरे राम कूं, राम निधि घर माँहि ॥७॥
हरिजन राजी राम सूं, रूंष रेत अरु घास ॥
सीत निवारण गूदड़ी, षुध्या निवारण गास ॥८॥
डाल पात फल फूल में, सब ठैं व्यापक राम ॥
आत्म जोडो राम सूं, नाहिं तोडण सूं काम ॥९॥
आत्म सुमरो राम कूं, चेत करो जीव देषो ॥
ऊंच नीच सब जीव राम के, भिन भिन लेसी लेषो ॥१०॥
आत्म भाडा चाहिये, जबही जागै भूष ॥
जैसो भेजे रामजी टालै, सोइ चूक ॥११॥

हिरदै राचे राम सूं, सतगुरु राषे शीश ॥
आत्म एवा जीव सूं, हरि मिले विसवा वीस ॥१२॥
सतगुरु का सारा नहिं, नहीं शब्द का जोर ॥
आत्म उलट गुरांसूं फिर मंडे, सो वड़ा हरामी षोर ॥१३॥
अपणैं अपणैं पेट की, परी सवन को चिंत ॥
आत्म हरि विन और को, पूरणहारा नित ॥१४॥
तेरा रचक राम है, वलवन्ता जोधा ॥
आत्म निंदक क्या? करे, तिणहुँ सौं वोदा ॥१५॥
जैन धर्म की वातडी, सवै रही षाली ॥
आत्म यूं मनि वांध्या हरि मिले, तो मैं वांधू राली ॥१६॥
हम चेतन आगे किया, टाले सवही दोष ॥
आत्म जननी ज्यूँ रमता वसै, हम कूं देवे पोष ॥१७॥

चौपई—

अग्नि न टाले जल नहि दहे, राम अमल में माता रहे ॥
अन भै वसै ब्रह्म का वास, आत्म नहि राँधै कहिये निज दास ॥

॥ इति श्री आत्मारामजी को कृत सम्पूर्ण ॥

॥ स्वामी आत्मारामजी के शिष्य जगरामजी की रचना ॥

जन आत्मराम दयाल, अधिक महिमां घन लायक ॥
इंमरत वरसै मेह, ज्ञान वैराग्य मुक्ति के दायक ॥
सुषदेव ज्यूं सन्तोष, त्याग जनक ज्यूं सब कुछ जाणें ॥
कवीर ज्यूं निहकपट, गोरष ज्यूं ज्ञान वषाँणें ॥
माँनो धूज्यूं ध्यान प्रहलादज्यूं, प्रतिज्ञा पकर कहै सुषराम ॥
जगरामदास वन्दन करे, वारंवार प्रणाम ॥१॥
नमो नमो गुरुदेव, पशु सूं मनुषजू कीया ॥
हरया पाप संताप, सुवुद्धि दे अपणा कीया ॥

काया कागसूं हंस, ज्ञान की गाथा गाई ॥
राम नांम रस पाय, विपति सब दूर भगाई ॥
समदृष्टि रहे सर्व पर, दीनन के रिछपाल ॥
जगरामदास कर जोर वीनवे, नमो आत्मराम दयाल ॥२॥
नमो आत्मराम दयाल ज्ञान, मुक्ति वैरागज भरिया पूरा ॥
नही आस असलाक, भजन में निसदिन सूरा ॥
रच्या धणी सूं साच, झूठ कपट की पामी त्यागी ॥
जीत्या तन का दोष, तपत तृष्णा सब भागी ॥
घणा गहर गंभीर, सरवर ज्यूं शीतल ही करै ॥
जगरामदास गुरु चरण परसता, ताप तप्त सवही हरै ॥३॥
सतगुरू सा दातार, तीन लोक में नजर न आया कोई ॥
जिन दियो राम रूपधन, हर्ष प्रसन्नता होई ॥
मौज दई अनमोलसी, दुख दारिद हरिया ॥
कलह कल्पना मेट सब, सुषसूं सूभर भरिया ॥
वार वार कहिये कहा, बहुत किया उपगार ॥
जगरामदास वंदन करै, नमोगुरू सिरजन हार ॥४॥
भया काग से हंस, कृपा यह सतगुरू कीन्ही ॥
मन पाया विश्राम, जड़ी संजीवन दीन्ही ॥
कीया सुष प्रवेश, लेश दुषका नहिं जाणें ॥
मुष सूं जपिये राम, वचन सत शुभग बषांणें ॥
घणा दुषी हा जगत में, होता बहुत वेहाल ॥
जन आतम कृपा करी, कीन्हा तुरत निहाल ॥५॥
नमो नमो महाराज, अयोनी अलिपत देवा ॥
ब्रह्मा विष्णु महेश, शेषहू लषेन भेवा ॥
घणों तेज प्रकाश, वर्ण कछु कहत न आवे ॥
नैण नासिका नांहि, दास निज बुधि सम गावे ॥

उत्पति प्रलय सबकरो, न्यारा रहो निरधार ॥
जगरामदास वन्दन करे, नमो नमो निराकार ॥६॥

पद—

पतित उधारन प्रगट भये, जन आत्मराम दयाल हो ॥
जाके सिरपर यह सतगुरु है, ताहे लगेन जमकी ज्वाल हो ॥टेर॥
भवताप निवारन जन्म सुधारन, करुणानिधि कृपाल हो ॥
राम नाम निज नाम द्रिढ़ावत, केई कियेजु निहाल हो ॥
अशरण शरण सदा सुषसागर, ज्ञान सिन्धु गंभीर हो ॥
भजै निरंजन अंजन तजि कै, वसुधा ज्यूँ मन थीर हो ॥
नर नारी सबही पद परसत, भाव भरया उरमांही हो ॥
मेटो कर्म भर्म मम जीवके, उभय दीर्घ दुख फंदा हो ॥
तुम हो अगम कहा में गाऊँ, जगरामदास तव वंदा हो ॥
आत्मराम दयाल के, शरणें मन रषिये ॥
जिनकी कृपा भगवान भज, आनंद रस चषिये ॥टेर॥
भ्रम कोटि मम उर वसे, मांही फंद चौरासी ॥
तुमरी कृपा सों टूटि है, यह गढ़ मेवासी ॥
तृष्णा तपत तन में घणी, वहु ताप जरावे ॥
तुम चरणोदक पीवतां, तन शीतल हुय जावे ॥
कवहुन वंछत स्वर्ग में, ना मुक्ति सुहावे ॥
तुम शरणे है सुष इसो, कछु कहत न आवे ॥
गरीबनवाज गुरुदेव है, निरंजन अनुरागी ॥
जगरामदास एसे संत कूँ, कोई सेवे वड़भागी ॥२॥

राग गुड़—

गुरु देवन के देवारे, जाकी तनमनदे कर सेवा रे ॥टेर॥
जिन राम नाम धन देवा, जासूँ काल करे नहीं केवा ॥
गोरष शेष शिव संगा रे, वे गुरु की शरण अभंगा रे ॥

सनकादिक नारद वरणे रे, गुरु चरणां नित शरणें रे ॥
धू प्रहलाद कवीरा रे, गुरु की शरण सधीरा रे ॥
जन हरीदास हरि पूता रे, वह गुरुचरणां अवधूता रे ॥
सर्व साध सुष पावे रे, सव गुरुहू के गुण गावे रे ॥
वेद पुराण वतावे रे, हरि गुरु कृपा तें पावे रें ॥
जन आत्म से गुरु देवा रे, जगरामदास करि सेवा रे ॥

॥ आतमारामजी के अन्य शिष्य चतुर्भुजजी की ॥

* वन्दना *

प्रथम चरण सतगुरु के लागूँ, दुनिये संत अपारा ॥
गुरु प्रताप नांव कूँ पाया, मेट्या भ्रम हमारा ॥
सतगुरु मेरे शीश विराजै, मैं सतगुरु का चेरा ॥
नाम दीप दे किया उजाला, मेट्या भ्रम अंधेरा ॥
सतगुरु सेती उरणां नाही, अव कहो कहा चढ़ाऊँ ॥
तन मन लेकर अर्पण कीन्हो, चरणां शीश नवाऊँ ॥
नव निरंजणी ओर कहावे, ऐसी करणी नांहि ॥
जन आत्म तो भये उजागर, सकल भेष के मांहि ॥
इच्छा आया टुकड़ा पावे, नहीं जगत की आशा ॥
कर करवा कोपीन गूदड़ी, राम नाम विश्वासा ॥
सतगुरु सहजां आप विराज्या, हेरयां कवहू न पावे ॥
राम नाम की टेक वँधावे, वार वार समझावे ॥
जे आत्म को कह्यो करे तो, पाप रती नहिं राषै ॥
कर्मी जीव कछू नहि जाणे, दास चतुर्भुज माषै ॥३॥

॥ इति ॥

सन्त कवि रूपदासजी

निरंजनी सम्प्रदाय के परवर्ति रचनाकारों में रूपदासजी का भी उचित स्थान है। रूपदासजी सेवादासजी महाराज के शिष्य सिद्धपुरुष महाराज अमर-पुरुषजी के शिष्य थे। रूपदासजी हरिदासजो महाराज के शिष्य वड़े बेमजी की सातवीं पीढ़ी में हुये।

अमरपुरुषजी का जन्म सत्रहसौ पचपन वैराग्य धारण सत्रहसौ पिचहत्तर अवसान काल १८४२ है। वैराग्य धारण के पश्चात् साधना सिद्धि में भी समय लगा है अतः इनकी शिष्य परंपरा का आरंभ सत्रहसौ नव्वे के आस-पास माना जा सकता है। रूपदासजी का दीक्षाकाल भी अठारहवीं सदी का अन्तिम चरण है। रूपदासजी ने स्वामी सेवादासजी की परची लिषी उसकी पूर्ति का काल उनने १८३२ लिखा है। अतः इनका रचनाकाल उन्नीसवीं शताब्दि का पूर्वाद्ध सिद्ध होता है। उनका शिष्यत्व तथा जन्मकाल अठारहवीं का उत्तरार्ध प्राप्त होता है। रूपदासजी ने वांणी की रचना की है अतः वे साधक सन्त थे एसा माना जाना असंगत नहीं। उनकी प्राप्त वांणी की रचना पूरी है या नहीं उससे स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। उनकी रचना का उल्लेख संग्रह की कई पुस्तको में प्राप्त है। सबसे प्राचीन इनकी रचना वडू के संग्रह की पुस्तक नं० ५ में है जिसका लेखन काल सम्वत् १८२६ है। इसमें इनकी फुटकर रचना तथा सेवादासजी की परची लिखी हुई है। मैंने इनकी रचना के उद्धरण लाधडिये ग्राम से प्राप्त उस गुटके से लिये है जिसका लेखन काल १८६६ श्रावण शुक्ला एकादशी है। इसमें वांणी के प्रारंभ तथा अन्त में फुटकर शब्द का प्रयोग है इसी से पूरी वांणी यही है इस में भ्रान्ति है।

समाप्ति पर वाँणी का जोड़ सवा दो हजार लिखा है। इनने साषी, सवैये रेखते, कुण्डलियें चान्द्रायण, कवित्तों में रचना की है अन्त में पद है। रचना से प्रतीत होता है कि यह साधक सन्त होते हुये भी शिक्षित व विज्ञ भी थे।

॥ अमरपुरूजी के शिष्य रूपदासजी की रचना ॥

साषी भाग गुरूदेव का अंग

वन्दना—

नमो नमो गुरुदेव तत्ववेत्ता भ्रमभंजन।
निरविकार निजरूप विपुल अघ मेटण कारन॥

सुष सागर निहिं पार दरद दुष सबै निवारन ।
पूर्ण परमदयाल सरणदे काज सुधारन ।।
निर्मल ग्यान विचार सार सत हृदय धारण ।
परमदेव परब्रह्म परमसुषदे निसतारण ।।
परसे पूर्ण कांम पार भवसिन्धु उतारन ।
ज्ञातन तेरा पार अगमगति देव निरंजन ।।
दीन हीन जगजीव पीव हो तुमही तारन ।
अन्तर्यामी देव चरनरज मम सिर धारन ।।
जन रूपदास बलिजाई भगति दे जीव उधारन ।।१।।

साषी—

गुरू गोविन्द वन्दन करै, नित प्रति वारंवार ।।
रंक जीव धनवंत करै, सतगुरू वड़ दातार ।।२।।
जन रूपदास वंदन करै, चित चरनां उर भाव ।।
भक्ति ग्यांन वैराग की, सतगुरु करो पसाव ।।३।।
आदू सन्त परगट हुये, करी कृपा कलि मांहि ।।
अमरपुरुष गुरुदेव की, वेर वेर वलि जांहि ।।४।।
अडिग रहे साचे मते, इष्ट एक विसवास ।।
रूपदास सतगुरु मिले, निह केवल निज दास ।।५।।
सतगुरु मेरे सिर तपे, अमर इसा दरवेस ।।
जन रूपदास अघ सब हरै, काटै करम कलेस ।।६।।
पूरा सतगुरु पाइया, जाकै मस्तग भाग ।।
दर्पण ज्यूं दिल सुध करै, मेटै मनकै दाग ।।७।।
वलि वलि जाऊँ दरस की, सतगुरु अमर दयाल ।।
निर्वल दुर्वल देष करि, आइ करी प्रतिपाल ।।८।।
जन रूपदास सतगुरु विना, वही जांहि सव लोइ ।।
राम भजन की सुधि नहीं, चाले जनम विगोइ ।।९।।

सतगुरु दरबै दुष मिटै, देवे सील सन्तोष ॥
राम भजन सुष ऊपजै, तव जीव पावे मोच्छ ॥१०॥
जन अमरदास गुरुदेव की, मेरे सिरपर छाप ॥
जन रूपा उन परताप सूँ, जपूं निरंजन जाप ॥११॥

सुमरण को अंग—

राम राम सतगुरु कह्या, सुमरण सास उसास ॥
जन रूपदास जप जुगत सूँ, कोटि कर्म का नास ॥१॥
सुमिरण सुष सतगुरु दिया, रांम नाम तत सार ॥
रांम रटत जन रूपला, लगै न जमकी मार ॥२॥
गम पाई गुरुदेव तैं, सब तजि वाद विवाद ॥
रांम रटत जन रूपदास, रसना पायो स्वाद ॥३॥
नांम विना नर देहड़ी, कहो वीर कुण कांम ॥
पसवाँ सम प्राणी सवै, जन रूपा रटे न रांम ॥४॥
रांम तुम्हारो नांवद्यो, अंतरि हरि हरि जाप ॥
जन रूपदास हरिनांवतैं, थरहर काँपै पाप ॥५॥

विरह को अंग—

प्यारा म्हारा आव घरि, सब सुष थारा येह ॥
जन रूपा तुम पर वारनै, वारों तन मन देह ॥१॥
जैसे चन्द कमोदनी, मीन दुषी विन नीर ॥
जन रूपदास हरिकारणैं, अब मन धरतन धीर ॥२॥
विरहनि को भावै नहीं, भवसागर के भोग ॥
अंतरजामी एक कौ, अन्तर मांहि वियोग ॥३॥
रैन न आवे नींदड़ी, दिवसन भूष पियास ॥
तुम दरसन विन देवजी, जन रूपा बहुत उदास ॥४॥
कहाँ जाऊँ किनको कहूँ, मेरे जीव की झाल ॥
साहिब तुमही सांभलो, आप करो प्रतिपाल ॥५॥

॥ इति ॥

॥ समथाई लीला जोग ग्रन्थ ॥

दोहा—

गुरु समर्थ सिरजनहार है, गुरु गुण अनंत अपार ॥
गुरु अधम आपणे कर लिये, राषे चरण मंझार ॥१॥

पद्धरी—

गुरु दातारे गुरु दातारे, गुरु रांम अमीरस मातारे ।
गुरु अगम पंथ कूँ जातारे, गुरु परम तेज रंग रातारे ॥
गुरु मेरे त्रिभुवन तातारे, गुरु पार किये गहि हाथारे ।
गुरु निरषै निरगुण नाथारे, जनरूपा ऊजड जातारे ॥२॥
गुरु जाण्यां रे गुरु जाण्यां रे, गुरु अन्तर अलष पिछांण्या रे ।
गुरु पांच एक घर आंण्या रे, गुरु पूर्णब्रह्म पिछांण्यारे ॥
गुरु अगम सुषकी पांण्यारे, जन रूपदास कुरवांण्या रे ॥३॥
गुरु तारन हो गुरु तारन हो, गुरु भवजल पार उतारन हो ।
गुरु विगरी षेप सुधारन हो, गुरु मेरे नरक निवारण हो ॥
जन रूपा पतित उधारन हो, गुरु ग्यांन ध्यान के कारण हो॥४॥

॥ इति ॥

॥ कुंडलियें गुरूदेव को अंग ॥

सतगुरू की कृपा भई सूते लिये जगाइ ।
मोह विषय की नींद में जाग्या कवहूँ न जाई ॥
जाग्या कवहू न जाइ टेरि गुरू सबद सुनाये ।
सुनकरि भये सचेत हेत दे पोष लगाये ॥
जन रूपदास धन सतगुरु लिये सु अंग लगाय ।
सतगुरू की कृपा भई सूते लिये जगाय ॥१॥
केते पतित उधारिया हमसे अधम अपार ।
जे सतगुरु मिलते नहीं तो जीव होते ष्वार ॥

तो जिव होते ख्वार मार कुण मेटे मेरी ।
निरधारचा आधार बाप बलिहारी तेरी ।।
जन रूपा वहतेजीवकूँ सतगुरु राषणहार ।
केते पतित उधारिया हम से अधम अपार ।।२।।

सुमरण को अग—

निराकार के नाँव को तिलक विराजे सीस ।
मन माला मुझ करदई सतगुरु की बगसीस ।।
सतगुरु की बगसीस सुरति कै नाके पोई ।
निस दिन सहज सुभाइ रांम को सुमरन होई ।।
रूपदास जन पाइये अन्तर मांही ईस ।
निराकार के नांव को तिलक विराजै सीस ।।३।।
डोरी तेरे नाँव की है मेरे मन मांहि ।
रामसनेही बाहरा दूजा भावै नांहि ।।
दूजा भावै नांहि एक अंतर ठहराया ।
अनन्त कोटि निज सन्त रांम जिन सुमरचा गाया ।।
जन रूपदास मन मानिये अब इत उत नाहें जांहि ।
डोरी तेरे नाम की है मेरे मन मांहि ।।४।।

विरह को अंग—

रोऊँ किस विधि रामजी जोऊँ कित मैं जाइ ।
प्रीतम तुझ पाऊँ नहीं विरह विथा तन षाइ ।।
विरह विथा तन षाइ याहि पति आइ बुझावो ।
सब संतन सुष सीर पीर क्यूँ मोहि सतावो ।।
जन रूपदास ओसर गये कहा करोगे आइ ।
रोऊँ किस विधि रांमजी जोऊँ कित मैं जाइ ।।५।।
सदा संगाती संग रहौ प्रगटौ नांही पीव ।
घूँघट पट षोले नहीं यूँ तरसै मम जीव ।।

यूं तरसै मम जीव जोर कोई तुमसूं नांहि ।
निरधारया आधार यार अब पकरौ बांहि ॥
जन रूपा विरहनी वीनवै सुनि हो संगी सींव ।
सदा संगाती संग रहौ प्रगटौ नांही पीव ॥६॥

साध को अंग—

साधुजन सीतल सदा संगति रूप सधीर ।
निरद्वन्दी निरवैरता जांणत जन की पीर ॥
जांणत जन की पीर दया दिल अंदर आई ।
निसप्रेही निरधार सार सज्जन सुषदाई ॥
जन रूपा प्रगट पेषिये गरवा गहर गंभीर ।
साधु जन सीतल सदा संगति रूप सधीर ॥७॥

॥ इति कुँडलिया ॥

चान्द्रायण—

सतगुरु सबद सुनाइ कियो मन धीर रे ।
मन चलतो ऊजड़ वाट पाँच की भीर रे ॥
अब साचौ सबद विचारि लगे सुष सीर रे ।
हरिहाँ ! ये उन को उपगार अमर गुरु पीर रे ॥१॥
विन मिलए भगवंत दुषी दिन जाहि रे ।
कैसे जियै में जीव पीव घर नांहि रे ॥
किन कूँ करूँ पुकार नहिं कित ठौर रे ।
हरिहाँ तुम मिलो सनेही आइ सवन सिर मोर रे ॥२॥
विरहनि व्याकुल जीव पीव के कारणें ।
कब मुष निरषूं नाह जाऊँ तेरे वारणैं ॥
बहुत दिनन की प्रीति पीव क्यूँ वीसरे ।
हरिहाँ ! जन रूपदास विन दरस वहुत दिन नीसरे ॥३॥

कलि में कीरति आइ कमध करडी करी ।
सूरत छाडी सींव आगली आपरी ।।
दोइ वल पेल प्रचंड पाँव माँडे परे ।
हरिहाँ ? जन करडी टेक कबीर और नहिं दूसरे ।।४।।
जन हरीदास हरिराइ सुमर साचे मते ।
करम किये चकचूर जीति जंग कर फते ।।
अलष तणें अवधूत गिगन मठ छाइये ।
हरिहाँ ? स्याम सवाँरे काम परमपद पाइये ।।
सूरवीर सुष मांहि धसे घर भेलि रे ।
चढे ब्रह्मतरु जाइ करैं अति केलि रे ।।
जहाँ अनंत कोटि विश्राम सदा सुष वासजी ।
हरिहाँ ? जन रूपदास तहाँ विराजे आइ साध हरिदासजी ।।६।।
कर साध संग भजि राम भलो छक आइयो ।
भरमि भरमि वहु ठाँव रतन तन पाइयो ।।
सुण सतगुरु की सीष हिरदा में धारि रे ।
हरिहाँ ? जन रूपा यो अवसर ये वार समै चलि जाइ रे ।।

।। इति अरिल ।।

सवैया—

सन्तहि मात पिता पुनि सन्तही संतही प्रीतम प्राण अधारा ।
सन्त ही जीवन जीव हमारे सन्त ही काटन कर्म अपारा ।।
सन्त ही देव दयालहु संतही सन्त ही देवत ग्यांन विचारा ।
सन्त ही पार करे भवसागर जन रूपदास गुरुदेव हमारा ।।१।।
साध को संग किये बुधि निर्मल साध को संग किये अघनासै ।
साध को संग किये अति आनंद साध संगतै ग्यांन प्रकासै ।।
जे कोइ जाइ गहे सतसंगहि तो दुष जाई सदा सुष वासै ।
जन रूप कहै एसो साध समागम आइ सदा हिरदै हरि भासै ।।२।।

साध दयाल सदा दिल अंदरि राग न द्वंद्रन मोहन द्रोहे।
सील संतोष विवेक विचार जू धीरज ध्यांनरु ग्यांन उदोहे॥
प्रेमरु प्रीति प्रतीति प्रकाशजू सदा सुष वास इहै गुन सोहे।
जन रूप कहै यह साध के लच्छण वहोत विलच्छण मोमन मोहे॥३॥

कवित्त—

जीव के लग्यो है जाल भूलि रहयो माया लागि,
निकट न सूझै काल धंध लागि ध्यायो है।
पाछली नहीं संभाल कूँ ग करै प्रतिपाल,
फिरियो है चौरासी नाल भ्रमि भ्रमि आयो है॥
मार कै करै वेहाल कौन करे प्रतिपाल,
छूटि जाइ सबमाल काल फंद लायो है।
जग को एसो है ख्याल राँम न जपै दयाल,
रूष जन जीवरे कूँ वहु समझायो है॥१॥

व्याकुलता भई मोहि पीर नहिं जाने तोहि,
वहु दिन वीते पीव अजुं नहि आए है।
मोहि तो अंदेसो और लागि रह्यो निसि भोर,
जीव को नहीं है जोर पीव क्यूँ रिसाए है॥
प्रांण के पियारे लाल अव तो भई वेहाल,
मेरे उर यह साल किन विलमाए है।
अवधि गई सिराइ धीरज धरीन जाइ,
रूप कहै कव आय अंग तैं लगाए है॥२॥

रेषता—

नाव नृवाण ततसार तिहु लोक में
नाम विन आन सकल मत काचा।
संत मत सोधिकरि मन प्रमोधिकरि
प्रेम प्रतीतिधरि सुमरि साचा॥

रांम रस जिन पिया धन तिन का जिया
परस पावन भये बहुत प्रांणी ।
दास रूपा रता षाइ पूरा मता
रांम रटि रांम रटि संत वांणी ॥१॥

हरि नाँव विन समभि नर कर्म छूटै नहीं
कहे नहीं जाइ कहो कर्म केता ।
जन्म के जन्म लग संग के संग रहै
जाइ यह जीव तहां दुष देता ॥

साध को संग करो पाप सव पर हरो
तर्क करि त्याग दे आंन हेता ।
जन रूप हरि नाँव लै कूडमें क्या ? मिले
कूडतैं किते नर भये प्रेता ॥२॥

त्याग वैराग की बात भींणी घणी धार षांडा तणी कूं'ण धारे ।
चले सन्त सूरवाँ सीसकूं सोंप कर कांम अरु क्रोध मद लोभ मारै ॥
तोड गढ़ मोहको पकडि मन मीरकूँ मलैं मन मांनिको गरव गारै ।
दास रुपा जिके संत साचै मतै स्यांम सनमुष सदा काज सारे ॥३॥

पद-राग रामकली—

वे जन पावन रूप है ज्यां हरि रस पीयारे
भज भगवंत निर्भेभया आपा तजि दियारे ॥टेक॥
दास कवीरा नामदेव गोरषसा ग्यातारे
अमृत पिया अघायकै मतिबारा मातारे ॥१॥
गोपीचन्द अरु भर्थरी सुमरत सुष पायारे
निरष लिया नृवांणपद त्यागी सव मायारे ॥
सुषदेव दत्त सिरोमणि सत वसत कमाईरै ॥
अलष भज्या सव सुष तज्या पूरी थिति पाईरे ॥२॥

पीपा जन रैदास पुनि सुमरे सुषदायीरे ॥
पीया पियाला प्रेम का उर तपत बुझाईरे ॥
सोझाँ सैनां अरुधनां नानक निज दासारे ॥
भगति करी विश्वास सूं हरि पूरी आसारे ॥३॥

दादू जन हरिदासजी सुष लेय निरालारे ॥
करम तजै कर्ता भजै जीते जम कालारे ॥
सेवा जन सुष विलसिया भगतां वड नांमीरे ॥
अमरापुर आसण किया मिलि अन्तर जांमीरे ॥४॥

अनंत कोटिजन ऊधरे जुग जुग में भोगीरे ॥
राम सुमर रामै भया इंम्रत रस भोगीरे ॥
त्रिगुण तजि निर्मल भये तत तेग समाईरे ॥
कांम क्रोध मद लोभ की ले ठौर उठाईरे ॥५॥

साध साहव एक है भजतां भव भाजेरे ॥
जन रूपदास परि करि दया गुरुदेव निवाजैरे ॥६॥

राग सोरठी—

मनरे रतन जन्म क्यूं षोयो !
गुरु साधां को कह्यो न कीयो कै षायो कै सोयो ॥टेक॥
सील सन्तोष हृदै नहिं धारयो तन मन विष में वोयो ॥
निरभै होय रह्यो निसवासर पापी पाप संजोयो ॥१॥
अचवत जहर सवै दिन वीते उलटिन पूठो जोयो ॥
हरि विमुषन सों करी दोसती हरिजन तै मुष गोयो ॥२॥
झूठे तन को ले सिनगारयो नित उठि मलमल धोयो ॥
जम की झीक पड़ी तव झटक्यो पटक्यों पाछे रोयो ॥३॥
संकन मानी साहिबकेरी हरि सुमिरन नहिं होयो ॥
जन रूपदास अव क्या कहि उवरे नरकन मांहि डुबोयो ॥४॥

राग सिंधू—

हरिपुरस हरिका मतवाला त्यागी अणरागी अवधूत ॥
कलि में भगति करी अति भारी सकल सुधारी संत सपूत ॥टेक॥

जुगजुग भगत हुआ कहो केता एक एक सूं चढती चाल ॥
अवधू एक अणयां के आगै मुरधर मंडियो आप दयाल ॥१॥

सांवत घर किन्ही सरसारी मांझी मार किये चकचूर ॥
इसडी ओर करे कुंण बीजो तनमन तोल वजाया तूर ॥२॥

अंजन छाडि निरंजन ध्यायो अरि गंजन रहियो इक भाइ ॥
उलटो पेल अगम सूं लागो निरगुण नाथ मनाइ मनाइ ॥३॥

रांम तणां रजपूत रंगीला हरिदास जन सूर सधीर ॥
रूपदास जन सरण तुम्हारी गाऊँ गुण पाऊँ सुष सीर ॥४॥

॥ इति ॥

॥ श्री स्वामी रघुनाथदासजी ॥

स्वामी रघुनाथदासजी महामना महात्मा अमरपुरुषजी के शिष्य थे। इनका जन्म स्थान तथा जन्म काल अज्ञात है। ये रूपदासजो के गुरुभाई थे। रूपदासजो ने महाराज सेवादासजी की परचई लिखी है। उसका रचनाकाल सम्वत् १८३२ है। महाराज अमरपुरुसजी का काल १७५६ से १८६२ तक का है। जैसा कि निम्न साषियों से सिद्ध होता है :—

सतरहसौ छप्पन समय, महासुदि चवदस राज ॥
सारस्वत घर अवतरे, श्री स्वामी अमर महाराज ॥१॥

सतरहसौ पिचोतरे, मिंगसर सुद आठम दिन ॥
अमरपुरुष महाराजजु, लियो बैराग सुधिन ॥२॥

अठारहसै बासठ समय, रूप चतुर्दशी दिन ॥
परमजोति भये प्रापति, श्रीगुरु परम प्रसन्न ॥३॥

इससे रघुनाथदासजी के समय का अनुमान किया जा सकता है कि वे अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में उत्पन्न हुये तथा उनका रचना काल उन्नीसवीं का पूर्वार्द्ध माना जाना चाहिये। उनने परचई से भिन्न और भी कोई रचना की है। यह स्पष्ट नहीं है पदों में इनके भी पद आये हैं पर यह कहना कठिन है कि वे पद इन्हीं के हैं या अन्य किन्हीं रघुनाथदासजी के बड्डू के स्थान की संग्रह पुस्तको म एक पुस्तक इन्हीं रघुनाथदासजी की लिखी हुई है जिसका लेखनकाल १८२३ है। इससे व्यक्त होता है कि इनने जो परचई लिखी है वह १८३० के आसपास की रचना है। परचई में विशेषतया महाराज हरिदासजी के चमत्कारों का निरूपण है पर उससे उनके परिभ्रमण क्षेत्रों का भी परिचय मिल जाता है। परचई में महाराज हरिदासजी के स्वर्गारोहण का काल लिखा है तथा चमालीस वर्ष घरमें रहने का तथा चमालीस वर्ष गृहत्याग के पश्चात् साधना में रहने का उल्लेख है।

हरिदासजी महाराज की प्रथम परचई महात्मा हरिरामदासजी कृत है। पर वह अति संक्षिप्त है रघुनाथदासजी की परचई विस्तृत है इसमें पन्द्रह विश्राम हैं। रघुनाथदासजी का स्वर्गारोहण कब हुआ यह ज्ञात नहीं। परचई पूरी आगे दी जा रही है।

॥ रघुनाथदासजी कृत ॥

॥ अथ श्री स्वामीजी हरिदासजी की परची लिख्यते ॥

दोहा—

नमो नमो निज देवकूं सतगुरुकूं सिर न्वाइ ।
सब सन्तन कूं वंदि कै परचा कहूँ सुनाइ ॥

चौपई—

नाम कबीर सुकदेव सयाना धू प्रहलाद सबै सिर जाना ।
सबही संग कृपा मोहि कीजै बुधि तुछ है दीरघ करि दीजै ॥
गोरखनाथ भरथरी चरपट सबही संत करौ बुद्धि प्रगट ।
श्री अमरदास गुरुदेव प्रणामा भगति हेत दीजै मोहि स्वामा ॥
स्वामी सेव पुरुषकूं ध्याऊं ता परसाद अकिल अति पाऊं ।
ऐसी सक्ति नांहि कछु मेरी चाहत कृपा संतन केरी ॥
परचा करनै की मनि भई देव निरंजन आज्ञा दई ।
फुनि सब संत कहैं विधि ऐसी बुधि तेरी अनुसार जु तैसी ॥
तातें सबहिन कूं सिर नाऊं जन हरिपुरुष की परचई गांऊं ।
करै करावै आपन स्वामी चाकर षिद्‌मति करै गुलामी ॥
हरीदास है हरि उनहारा जीव तारन कूँ लियो अवतारा ।
आए आप निरंजन सांई हरिजन हरीदास अंतर कछु नांही ॥
निरगुन ग्यान लिये मतिवारा भरम करम तजि झूठ पसारा ।
ग्यान ध्यान की उचरै वाता निरगुण ध्यान सही मन राता ॥
अलष पुरुषसूं चितवित लायो गोरषज्ञान समझि कै पायो ।
सब घटि व्यापक ब्रह्म हि देखै अंतर मांहि निरंजन पेखै ॥
कलिजुग मांहि इसो मत लीयो ब्रह्म ग्यान उपदेस जु दीयो ।
ज्यूं पहुमी सूरज उजियारा त्यूं जन हरीदास अवतारा ॥
जब ही जीव अग्यान बंधावै ज्यूं सोवत सपनै भरमावै ।
दुख सुख पाइ राजी कहुं डरै तबही तुरत साहि कोउ करै ॥

तैसे हरीदास अवतरिया दुषी जीब सुखमें करि धरिया ।
अवगति आप अलेष विधाता प्रगट देव निरंजन राता ॥
जोग जुगति धारना पूरी अलख पुरुष सूं सदा हजूरी ।
भगति ज्ञान वैराग बखानौ सब जीवन सुखदाई जानौं ॥
आगे संत सुणे सब कानां जन हरिदास तैसे परवाना ।
सील साच संतोष सबूरी काम क्रोध सब कीया दूरी ॥
तन मन पवन सबै सरि कीया देव निरंजन अन्तर लीया ।
मैं मेरी सूं प्रीति न राखै राग द्वेष त्यागि हरि भाखै ॥
निरलोभी निरदइक स्वामी अलख अरूप अंतर के जामी ।
त्रिगुण त्यागि निरगुण चित दीया बेहद पदमें वासा कीया ॥
अणकही महा अति गहरी जाने मरम संत कोऊ महरी ।
मत अवधूत पणै को लीयो हरष सोक को त्याग जु कीयो ॥
अन्तर गति में ध्यान लगावै मौन महातप कहत न आवै ।
जो कोऊ प्रश्न करै संसे की ताको संसो हरै बिबेकी ॥
जे बोले तो हरिजस कहि है अणबोले अंतर में गहि है ।
ऐसी दसा बिदेह अगाधू वेद कहैं पुनि सब ही साधू ॥
अनहद रस अभि अंतर पीया परचै जोति मांहि मन दीया ।
ऐसी चाल अगाध अपारू सबतैं उत्तम अगम विचारू ॥
सबही कहैं अपणे उनमानां जन हरिदास वेहद प्रवानां ।
जीव अज्ञानी करणकूं पारी आए स्वामी परम उपगारी ॥
सब जीवनकूं ज्ञान बतावैं ज्ञान सुनाइ मुक्ति पहुँचावैं ।
आप सदा निरगुण उनिहारा देव निरंजन अलख अपारा ॥
इहि अस्तुति कही कछु थोरी जैसी बुधि उनमान जु मोरी ।
आगे परचै कहूँ सुनाई कृपा करि जो देह लखाई ॥
महिमा अगम अगाध अपारा बरणै कोण जु परम विचारा ।
ऐसी बुधि उनमान जु सारू जन रुघनाथदास सो कियो विचारू ॥

दोहा—

वेद पार पावै नहीं नाग न जाणै भेव।
अपणै वित उनमान तूं जेन रुघा वरणेव ॥

चौपई— विश्राम १

प्रथम डीडपुर प्रगटै आई बरस चमाल गृह मांहि रहाई।
पछिम दिसा भाखर है सोई तहाँ जंगल में रहते जोई ॥
एक दिनां प्रभुकी गति भई अंतर जामी आग्या दई।
गोरख ग्यान दैणकूं आए अपणे जाणि कृपा करि धाये ॥
जब देखे गोरषकूं आवत तब आए नेडे समझावत।
गोरख बुधि फेरी तिहि काला वचन एक तब कह्यो दयाला ॥
हूं तेरा कपड़ा हरि लेऊं पीछे तोकूं जावण देऊं।
तब गोरष बोले हरि बाता कौण भरोसे हरैं विख्याता ॥
त्रिया पुत्र बूझिकै आई पीछैं पेवन लै तुम जाई।
जब उहैं हम तेरे संगा तो तूं करि हरणै को ढंगा ॥
तब उन कह्यो पहले तुम जावो इहि औंलाब हमहि समझावो।
तब गोरष बोले सुण भाई हूं जाऊं तो अलख दुहाई ॥
तब ए घर पूछणकूं आए त्रिया पुत्र बैठे तहां पाए।
देखि इनै ए बचन उचारा बुरी भली के संग हमारा ॥
तब उन कह्यो संगकी जे है जौष पडै तो आंखिर देहै।
हम तो तेरे बांसे आए बुरी भली में नांहि पराये ॥
तब इन ग्यान अंतर में पाया गोरषनाथ पै दोडिर आया।
दरसण करत फिरी मति जब ही अंतर ध्यान भए प्रभु तब ही ॥
जब ए चलि भाषर में आए गुफा हेरि करि ध्यान लगाए।
ध्यान धरत केते दिन भयऊ लारैं षबरि हुई कहां गयऊ ॥
तब हेरत हेरत भाषर आए जन हरिदास बैठे तहां पाए।
अब तुम क्यूं छाड्यो है गेहा वृध भए मनि आई केहा ॥

तब इन कह्यो झूठ संसारा पुत्र कलत्र राज दरबारा ।
सबै नरक की है नीसानी राम भगति बिन बूडे प्राणी ।।
मैं मेरी करि करि गरबावैं माता पिता झूठ कुल ध्यावैं ।
सासू ससुर न सारा कोई स्वारथ अरथ लगे कुल दोई ।।
तातैं हूँ हरि सरणैं आयो गोरषज्ञान गह्यो मन भायो ।
तब सबहि न के इह मन आई हरीदास हरिसूं ल्यो लाई ।।
सब ही चलिजु अपूठे आए दीन बचन प्रणाम कराए ।
सब तजि हरि सूं हेत लगायो ध्यान समाधि जोग अवगाह्यो ।।
ज्ञान वैराग भजन हरिकेरो अैसे मिटि है जग को फेरो ।
सब तजि भ्रम कीयो हरि साथा सो जस गावै जन रुघनाथा ।।

दोहा—

संग तज्यो सब जगत को कियो अलष को साथ ।
हरिदास हरि का थका गावै जन रुघनाथ ।।

चौपई— विश्राम २

गोरष ग्यान समझि कैं लीयो हिरदै हरि को सुमिरण कीयो ।
बहुत दिनां डूंगर में रह्या प्रेम प्रीति सूरापन गह्या ।।
देवी एक सहर में होई पाढा नाम जाणिलै सोई ।
सो दयाल कै सनमुष आई करि प्रणाम चरन लपटाई ।।
स्वामी मो कूं दछ्या दीजै मौ बूडत कछु सहाइ करीजै ।
ऐसी करणां देखी जब ही प्रसन्न भये दयालजु तबही ।।
कृपा करि माथै कर दिया ग्यान ध्यान उपदेशजु दीया ।
दया दीनता दिल में लीजै काहू कूं दुष नाहिंन दीजै ।।
सबै सिष्टि साहिब की करी तामैं देखो केवल हरी ।
यह उपदेश दियो माता कूं देवी सिर न्वायो दाता कूं ।।
करि प्रणाम सहर मैं आई टहल करन की मन रुचि भाई ।
एक महाजन द्वारो नांव देवी आई ताके ठांव ।।

अरध रात को हेलो दियो द्वारे तुरत श्रवण सो कियो ।
ऊठिर आयो बाहरि भौने हेलो दीयो मोको कौने ॥
तब देवी बोलै सुणि द्वारा हूं पाढा आई तो सारा ।
हरीदास मोरे गुरु देवा मनसा वाचा करि तू सेवा ॥
तब द्वारौ बूझै एक बाता कहां विराजै गुर तुम माता ।
तब देवी बोले समझाई पीर पहाडी मांझ रहाई ॥
ताके मांझ गुहा अदभूता तहां बैठे गोरख के पूता ।
द्वारै वचन सत्ति मन माई माता उलटि दिवालै आई ॥
भोर भये द्वारौ उठि आयो पाणी अर परसाद जु ल्यायो ।
गुफा बताई जहां चलि गयो तहां दयाल को दरसन भयो ॥
जाइ द्वारै बीनती करी दीन वचन सुणि बोले हरी ।
आव राम का बैठि भलाई तेरे मन में अंछ्या कांई ॥
तब द्वारो कहै अंछा दरसन की मेरे मनमें पद परसण की ।
कृपा करि भोजन यह पावो मेरो जनम सफल करवावो ॥
तब दयाल जल छांणिर लीयो ता पीछे सूं भोजन कीयो ।
भोजन करि बैठे जु विधाता द्वारै ज्ञान की बूझी बाता ॥
कैसी भांति जीवन सूँ तरि हैं गिरही जनम सफल क्यों करि हैं ।
तब दयाल बोले समझाई गिरही कूँ सेरी नहिं काई ॥
माया सेती लायौ नेह छीजै ज्यूँ लाहाला लोह ।
तब द्वारौ मनमैं अति डरियो करना बहौत रुदन हीं करियो ॥
फिर दयाल बोले उपगारी सेरी एक गृसत कूँ भारी ।
संतजनां की संगति करै मनमैं हरिको सुमरन करै ॥
कथा कीरतन हरि जस गावै प्रेम प्रीति प्रवाह बढावै ।
ऐसी भांति होइ निसतारा कहै दयाल तू सुणि हो द्वारा ॥
तब याकै प्रतीति जु आई द्वारो सेव करै चित लाई ।
पाढा करै दीद गुर केरा जनम सफल कीयो यह बेरा ॥

द्वारै यूँ उपदेश जु लीयो सतगुरु जाण चरण मन दीयो ।
भाग बडे दरवेस जु दयाला सो जस कहि हैं जन रुघ बाला ।।

दोहा—

दया भई दयाल की द्वारो पायो ग्यान ।
अब परचो गागरि तणो कहै रुघनाथ वखान ।।

विश्राम ।।३।।

चौपई—

एक समै द्वारो चलि आयो गागरि भरि पाणी को ल्यायो ।
ऊँचे पाहड़ बैठे जाई तहां गगरी मेल्ही आई ।।
हाथ तजत गागरि सो गुडी गुडत गुडत नीचे जाइ पडी ।
महा सघन वृष था तहियां अटकी नहीं कहूँ ता महियां ।।
लच्मीसुत गागरी कहिये परबत सुत पथर मैं लहिये ।
इन दोऊ मिलि मांड्यो जंग हरि परताप सूँ रही अभंग ।।
गागरि रही साबती भाई मांहि नीर सो चुष न गिराई ।
द्वारे जाण्यो जल सब गिरयो तबही सोच बहुत मन करथो ।।
अवगति गति जाणै नहिं कोई रीता भरे निमिख में जोई ।
तब दयाल बोले सुण द्वारा जाइ गागरी क्यों न संभारा ।।
तब याके मन ऐसी आई कैसे गागरी थीर रहाई ।
वहाँ सूँ फेरि कहैं सुण प्यारे राम धणी है राषण हारे ।।
जब जाइ गागरि आंख्यां देखी बचन सुणै सो किये विसेखी ।
तुरत हाथ में लेकर आयो जन हरिदास को परचो पायो ।।
एसी विधि तहाँ रहे दयाला, जे कब गोरष होइ कृपाला ।
इच्छा दरसन की मन भई, और वात सब परिहरि दई ।।
रात दिवस ध्यान गुरु केरो, दरसन देऊ अति आतुर चेरो ।
माया छल बल वहुत उठाए, नाथ रूप धरि धरि के आए ।।
पर हरीदास छल सबही आने, नाथ प्रसाद अगम वषियाने ।
मुषसै कहै गोरषहूँ सोई, कृपा करिकै आयो जोई ।।

तब बोले हैं आप विधाता , झूठे छल करि हैं क्यूं माता ।
एसे वचन सुणे जब कानां , तब माया फिरि चली निदानां ॥
तब गोरष अपणौं कर लियो , दरसन आय आप कै दियो ।
हरीदास उठ पांइ पराई , दीन वचन सूं विनय कराई ॥
तुम विन हमें कौण प्रतिपारै , कौण हमारे कारज सारै ।
तुम दयाल देवन के देवा , गण गंधर्व सब करि है सेवा ॥
मानष पारन तुमरो जांनै , अगम अगम सब देव बषानें ।
जन हरीदास डंडोतजू कीन्हा , माथे हाथ नाथ तब दीन्हा ॥
गोरष ग्यांन की कथा सुनाई , हरीदास तूं सुणि चित लाई ।
पिंड ब्रह्मण्ड में सिद्ध ह्वै जाणौं, ग्यांन अरु गोरष परवाणौं ॥
देह भरम सब दूरि उठाई , ग्यांन गोरष सूं चित्त लगाई ।
हरीदास गोरष की गाथा , रुचि रुचि गावै जन रुघनाथा ॥

दोहा—
ग्यांन दियो हरिदास नें , मेल्हयौ माथै हाथ ॥
गोरषनाथ जू रमि गए , सति भाषै रुघनाथ ॥१॥

॥ इति विश्राम ४ ॥

चोपई—
गोरषनाथ ग्यांन यह दीन्हो , जनहरीदास हिरदै धरि लीनों ।
आन भरम सब दियो उठाई , देव निरंजन सूं ल्यो लाई ॥
ग्यांन ध्यांन पूरण धन पाया , जोग भगति वैराग सवाया ।
अरस परस आतम सुख मांही, जनहरीदास मिल रहे सदाही ॥
ता पीछै ऐसी मति धारी , भाषर तजि विचारैं संसारी ।
नगर नजीक डीडपुर आये , दरसण करि सबही सुष पाये ॥
परमारथ पर जन उपगारी , आप सदा हरिनांम मंझारी ।
जैसे कवल अम्ब में रहै , कवहू न लिपै यह पणगहै ॥
ऐसे हरीदास जग न्यारे विचरें, महा निरगुण मत धरे ।
सहर नजीक जाइगा देषी , तहाँ विराजे चतुर विवेकी ॥

लोग महाजन दरसण करि है, निसदिन सीसचरन तन धरिहैं।
ऐसे रहें डीडपुर मांही, बहुत दिवस हुए है तांही ॥
अब तुम सुणो ग्यांन की चरचा, हुयो दूसरो जिहि विधि परचा।
एक नगर में ऊगो पीपर, सबै महाजन बोले भै करि ॥
या कूं अबै खोद ही डारो, होइ दीरघ तब करे बिगारो।
तबै महाजन काटन लागै, वहां दयाल बैठे थै सागे ॥
कह्यो उनाकूं काटो मति ही, मेरी बात तुम मानों सत ही।
एसी बात कही है तिन सूं, बहौरयूं अरज करि हरिजन सूं ॥
हे दयाल पीपल दुख दाई, जड़ सब नीव मांझ यह जाई।
तब ही ग्रह होई है दूरा, तुम उपगारी करो कछु पूरा ॥
जन हरीदास बोले यह बानी, पीपर रहसी एती जांनी।
देव निरंजन के जस गावो, मन बंछित तब ही फल पावो ॥
पीपर मांहि पांव परधारै, हाथ धोय के पांणी डारे।
यह परचौ प्रत्यख में जानों, जन हरीदास प्रताप वखानों ॥
डीडपुरेत मांझि यूं रहें, निरगुण ग्यांन सबनि को कहैं।
परम दयाल परम उपगारी, मूरख मर्म न लखै लगारी ॥
जो काहू पर कृपा व्है है, तांकू ग्यांन आपणों देहै।
पर ग्यांनी मत एसो धारयो, सत्रु मित्र समिसबै विचारयो ॥
ज्यूं सूरज समद्रष्टि सारै, राव रंक कूं एक निहारे।
यूं जन हरीदास हरि मांहि, राग दोष काहू सूं नांहि ॥
एसे सदा आनंदी दासा, माया मोह तजी सब आसा।
भरम करम छाडै सब दूरा, तब हरीदास पायो पद पूरा ॥
एक दिनां बैठे सब कोई, रांम नाम की चरचा होई।
एसे करत वात एक कहि है, नागपुरेत भूत यह कहि है ॥
सोई दुष्ट दुष सबकूं देवे, कठिन महा कोई लहेन भेवे।
एसी वात सुनीजु दयाल, यो हम मेटैं दुष तत काला ॥

अपने मनमें राषी वाता, वाहिर कूं काहून लषाता।
परमारथ की वुधि नित रहि है, सो जस जन रुघनाथजु कहि है॥

दोहा—

कारन कोऊन देषिए, विचरन जगत मंझारि।
दुषमेटण सुष करण कूं, हरिजन करै सेवारि॥१॥

॥ इति पंचम विश्राम ॥

चौपई—

तब दयाल उठि चले सँवारा, ग्यांन ध्यान निर्गुण मन धारा।
ऐसे रमता रांम के प्यारे, सनै सनै नागोर पधारे॥
पूर्व दिसा नगर सूं वापी, तहाँ वित्रवो रहतौ पापी।
आस पास कूवा अरु सरवर, सबही सूनां कीया तरवर॥
मिनष न कोई जावण पावे, जोर जाइतो गोता षावै।
तातें महा भयानक ठौरा, प्रेत विना नहिं दीसे औरा॥
तहाँ आइ उभे रहे स्वामी, यो तो वित्र है महा हरांमी।
जाय वावडी मांही पैठा, कर सिध आसन ध्यान में बैठा॥
यो तो कहूँ गयो हतो भूता, दिवस तीसरै आयो दूता।
आव तमासो देषियो नैना, तवै वित्र बोल्यो यह वैना॥
कुण वैठो है मम ग्रह मांही, मेरी संक कछु मानी नांही।
तव दयाल बोले सुण प्रांणी, हूं छू हरीदास निरवांणी॥
इतने बचन सुनें जब वित्रा, नाटिक करन लग्यो अनंत्रा।
पहिले आन्धी अर भीटौरा, भैंसो रूप धारि है वोरा॥
वहौत भांति चेटक वहाँ करे, महा निडर स्वामी क्यूं डरै।
ल्यावे अगनि उछाले षीरा, जैसे वहै सघन घननीरा॥
लघु दीरघ बहु देह दिषावे, उभौ दूर निकट नहिं आवै।
ऐसे झूठे गइये लाजा, जाइ पुकारयो अपने राजा॥
एक मानई वैठा आई, मेरो गृह उन लियो छिनाई।
नृपति पास पडे वहौ भूता, दीये साथ चले उठ दूता॥

उनको मार परौ काढीजै, ठौर आपनी वस करि लीजै।
यूं कहि राजा दूत षिंदाये, चले चले वापि ढिग आये॥
आवत सवाँ चरित वहौ करि है, लम्बे दान्त देषि कै डरि है।
स्वामी पलक षोलि नहिं देषै, सवै चिरत मिथ्या करि लेषै॥
रात गई सव हुवो उजालो, तब उन भूत कह्यौ तुम चालो।
दूत गयो सो फिरकर आया, जन हरिदास का थाहन पाया॥
तब वो वित्र निकट चलि आयो, डरत डरत मन में पछतायो।
दरसन करत फिरी मति जबही, करण वीनती लागो तवही॥
हे दयाल ! देवन के देवा, मैं अग्यांन जाण्यो नहि भेवा।
गुन्हो मेटि दिच्या मोहि दीजै, अभैदान दे अपणो कीजै॥
तुम कृपाल सवन सुषदाई, पतित जीव के करन सहाई।
पाप ताप सब दूरि निवारौ, पाट षोलि करि द्यो दीदारौ॥
तब दयाल दया मन आई, पलक षोलि करि दरस दिषाई।
ऐसे कह्यौ प्रेत सुंण वांणी, हूँ तोहे सीष देऊँ मन जाणी॥
काहू को दुष नाहि न दीजै, निर्मल नाँव प्रेम रस पीजै।
दया दीनता दिल में ल्यावो, यासूं बेग अभै पद पावौ॥
ऐसी दयाकरी हरिदासा, करम मरम के कह गये पासा।
निर्मल बुद्धि भई है जबही, टहल करन मन आई तबही॥
हे दयाल इहाँ कवै पधारे, षांन पान नहिं मिल्यौ हमारे।
तब दयाल बोले परवींणा, आयाँ भये यहाँ दिन तीना॥
तब फिरि वित्र कहै मुरझावत, मेरे डर यहाँ कोउन आवत।
भोजन भूष तुम्हें अब लागी, वहौ अपराध किये मंद भागी॥
करो कृपातो भोजन ल्याऊँ, तुम्हें पवाइर हूं सब पाऊँ।
तब दयाल ऐसे समझावे, तेरो भोजन काम न आवे॥
फिरकै वित्र बोलियो वैना, भोजन ल्याऊँ उत्तम ऐनां।
जन हरीदास बोले विधि ऐसी, ज्यूं तेरे इच्छा कर तैसी॥

दोहा—

आग्या लई दयाल की, आयो नगर मंझारि।
सुन्दर भोजन कूँ रुघा, भूत करै उपचार ॥२४॥

छठा विश्राम

चौपई—

एक महाजन चले परदेसा, वणवायो भोजन अति वेसा।
तडको घडी चार को रह्यौ, तब उन ले माता कूं कह्यौ ॥
ल्याव कचोलो भोजन केरो, हूँ चालूँ अब होइ निहोरो।
तब उन हाथनि करि कहयौ, भूत विचाले हीसूँ गह्यो ॥
कहे महाजन दे क्यूं नाही, माता कह्यौ दियो कर मांही।
ऐसे वित्र प्रसाद जू ल्यायो, छिनक मांहि वापी चलि आयो ॥
लेय वाटको आगे धरियो, स्वांमी कूं प्रणाम जु करियो।
तब दयाल जल छांण्यो सोई, महा कृपाल पापी पर होई ॥
पाय प्रसाद प्रसादी दीन्ही, नमसकार करि वित्रही लीन्ही।
जन्म जन्म के कटि गये पापू, महा अगाध स्वामी परतापू ॥
तब कह्यौ वाटको देकर आऊँ, जहाँ ल्यायो तहां धरि दे नाऊ।
वित्रै जाइ वाटको धरियो, ठालो हाथ महाजन परियो ॥
सोधत सोधत नीठ जु पायो, भली भई वट को घरि आयो।
ऐसे मात पुत्र मन आई, वित्र तुरत पूठो फिर जाई ॥
आप दयाल के सनमुष भयो, हाथ जोरि चरनन मनदयो।
तब दयाल बोले कृपाला, मन पवना करि सुरति ही माला ॥
एकं जीव राषि सुणि भाई, जन हरीदास हरि कथा सुनाई।
ग्रन्थ नाम है ब्रह्म सतूता, सो सरवण करवायो भूता ॥
सुणत सुणत जब भोगजु आयो, जोति सरूप हो दरस दिषायो।
तेज पुंज में मिल गयो प्राण, प्रेम मुक्ति रुघनाथ वषांणी ॥
जन हरीदास वहो कृपा करी, वित्र ताप निमष में हरी।
पूरण परमानंद दयाला, पर उपगारी जीवन प्रतिपाला ॥

तब सबहिन सूँ कहै उपदेसू, जाइ बावडी करौ प्रवेसू।
सवही ठौडजु वसती होइ, हरि प्रताप बोलै सब कोइ॥
एसे दुष सब काट्यो स्वांमी, जांण राइ सब अन्तर्यामी।
अब तुम सुणो सिलाकी वाता, छल छिद्रहि प्रगट दिषराता॥
एक मानइ दोषी थाई, वीर मंत्र करि सिला उडाई।
चली चली सिल आई जहां, जन हरीदास बैठे थे तहाँ॥
आवत सबी नजर जब देषी, तब बोले हैं चतुर विवेकी।
हरि को हुकम नही है तोही, चली कहाँ जात है सोई॥
बोल सबा अधर सो रही, हरि प्रताप एसी विधि कही।
रहे वहौत नागपुर (नागौर) माही, सवै लोग दरसन करि जांही॥
निर्गुण ग्यान को करै प्रमोधू, दया दीनता दिल में सोधू।
ऐसी विधि सब सहर चितायो, ग्यांन ध्यान उपदेश बतायो।
ता पीछे रामत की धारी, परम दयाल आप उपगारी॥

दोहा—

रहे वहौत नागोर में, सबहिन पायो ग्यान।
अब परचो अजमेर को, ताको करूं वपान॥

॥ इति सप्तम विश्राम॥

चौपई—

नागपुरे तै रामत कीनी, आग्या निराकार की लीनी।
सनै सनै सूँ चाले नितही, जोष पडै तब बैठे कितही॥
ऐसे रमत वहौत दिन लागे, दरसन कियो भाग तिन जागे।
सहर मांहि हाथी इक होइ, ताकी बात सुनाऊ सोइ॥
महामद मातो फिरै अग्यांनी, ढाहै कोट दसू दिसि कानी।
जो कोइ मांनिष आँख्यां दीसै, तो तन चीर दांत सूं पीसै।
ऐसे सबही डरि हैं लोइ, सनमुष रहन न पावे कोइ।
कष्ट नगर कर देष दयाला, चले अजमेर होइ कृपाला॥

चलते चलत सहर में आए, दिष्टि मुष्टि हरि मांझ लगाए ।
फिर सामाह्य हसती आवत, मारे मिनष कोट सब ढावत ॥
तब यूं लोक कहत है वाता, स्वामी टरौ गेंद मद माता ।
एसे कहि भागे सब लोगू, हाथी हरिजन बण्यो संजोगू ॥
जनकूं देषि मसतग निवायो, दरसन करत ग्यांन मन आयो ।
जन हरीदास माथै कर दियो, आतम द्रष्टि आपनो कीयौ ॥
तब तैं हाथी समझ वहाइ, जन हरीदास की आग्या पाइ ।
आपन वहौरि चले है आघो, काल जाल दुष सबही भागो ॥
रहे सहर मैं दिहस सवाया, लोगनि दरस कीयो मन भाया ।
रांम नाम उपदेशजू देहैं, करम धरम सब दूर करै हैं ॥
ता पीछे उठ चले दयाला, अजैपाल मन मांहि संभाला ।
नाग पाड मांही वे रहि हैं, वचन कहैं सो अन्तर गहि हैं ॥
चलत चलत आगे जब आये, उभै साध बहौरयूंज मिलाये ।
परसरांम अरु षोजि कहिए, जन हरीदास मिलि तीनूँ भइये ॥
रांम रांम तीनां मिल कीन्हा, ऐसे कहे दरस हरि दीन्हा ।
चलो भाषर कै ऊपर जावाँ, संग मिले हरि के गुण गावाँ ॥
तब दयाल कहै चलो भलांइ, जो तु इच्छा तुमरे मन मांई ।
तीनों चलत भाषर मैं आये, अजैपाल बैठें तहाँ पाये ॥
चार पांचि बकरी ढिग चरै, आप विराजे सुमरिन करे ।
इन दूरांह्य दरसन पाया, जूवा जूवा मता कराया ॥
जन हरीदास कै यह मन आइ, सति अवधूत दीसत है भाइ ।
परसरांम मन मांहि बिचारी, यह तो माया पातर भारी ॥
अरु षोजिकै इह मन वैसा, दीषत है संजोगी तैसा ।
तीनू मता मन मांहि कराया, बाहरकूं कछु कहिन जनाया ॥
चलत चलत नैडा जब गए, अजैपाल कै सनमुष भये ।
तब अजैपालयूं बोल्यो सोइ, जैसी मनसा तिसी सिध होइ ॥

जन हरिदास प्रश्न यूं करि है, मनसा को रांम क्यू करि परि है।
तुमकूँ मालुम है सब देवा, कृपा करिजु लषावो भेवा ॥
तव अजैपाल वोले इह वांनी, गुपत वात हम प्रगट जांनी।
सो अब कहूं सुणो तुम बाता, तीनाकूं भिन्न भिन्न लषाता ॥
हरीदास तुम ऐसी धारी, यो अवधूत दीसत है भारी।
तो मनसाइहु सति है पूता, नाथ प्रसाद तुम प्रगट अवधूता ॥
परसरांम मन में इहु धारी, माया पातर दीसै भारी।
तो या के माया बहु होइ, षावो विलसो सुषसूं सोइ ॥
षोजी जांण्यो है संजोगी, ता मनसा पूरण भल भोगी।
तेरे सत्री होइ है भाई, ये सबकूं हम सत सुनाई ॥
जो अजैपाल कही विधि एसी, सबकै सिधि भइ है तैसी।
जन हरिदास अवधूत कहाया, ग्यांन ध्यान पूरण सुष पाया ॥
करि प्रणाम दयाल पधारे, सनै सनै नीचेजु सिधारे।
आप अकेले हरि हैं साथू, नमसकार कहि है रुघनाथू ॥

दोहा—

अरध उरध मध लोकलों, देषी सवही ठौर।
जन रूपा हरिदास समि, नांही कोइ और ॥२५॥
गोरष कहूँक भरथरी, कहूं सन्त सुषदेव।
जन हरीदास हरि एक है, और न जांणू भेव ॥२६॥

॥ विश्राम आठ ॥

चौपई—

वहौरयूं रमे भाषर सूँ भाइ, सनै सनै हरिसू ल्यौ लाइ।
महा अडिग अडोल अभेवा, मूरष पसून जांणे भेवा ॥
एक गांव के मांही आए, नीची द्रष्टि चलन चितलाए।
लोग बहुत वैठे थे तँहियां, उन मिल बात करी मन महियां ॥
यो हेरौ दीसत है भाइ, पकड़ो वेग भाग नहिं जाइ।
जन हरिदास प्रगट सब जानें, अंतरजामी सूँ कहा छाने ॥

हम हेरूँ है अविगत केरो, अंतरमांहि निरंजन हेरो।
मन मनसा को उलटी ल्यावत, इहै ग्यान उन को समझावत ॥
अष्टपदी ग्रन्थ उँहाही होई, कर उपदेस दियो सुष सोइ।
सबकै मन अचरजसो भयऊ, आइ प्रीति भरम सब गयऊ ॥
पांवां आप दयाल कै परया, चरणा मांही मस्तक धरया।
हे दयाल म्हे समझे नांहीं, तुमतौ रांमरूप हो साँई ॥
तवै दयाल संतोषे सबही, सुन उपदेस भक्ति हरि गही।
सन्तजनां की सेवा करौ, रांम नाम हिरदा में धरौ ॥
इहै उपदेस दियो मन जानी, करि प्रसाद रामत की ठांनी।
सनै सनै चले हरि जना, निरगुण इष्ट निरंजन मना ॥
ऐसे चलत आए इक गांऊ, तहां की बात सब तुम्हे सुनाऊँ।
टीवे ऊपर ध्यान लगायो, तबे गाँव में सुण सब पायो ॥
एक साध बैठो है आइ, ताहि प्रसाद ले जांणो भाइ।
तुरत महाजन भोजन ल्याये, तब हीदास जन भोग लगाये ॥
इतने मांहि एक चारण आयो, देषत पांण तुरत बतलायो।
चौडे बैंठ चपेटे रोटी, याकी गरदन दीसै मोटी ॥
इतनौ गुणत बोले जु दयाला, रोटी रटण गहै ततकाला।
आलस तुछ कीजै नहिं भाइ, निसदिन अवधि घटत घटिजाइ ॥
यूं दयाल याकूं समझायो, बचन सुणे जब निकटै आयो।
वारापदी ग्रन्थ है सोइ, सो ततकाल प्रगट उहाँ होइ ॥
वाकै आयो ग्यांन अपारू, बहुरयो महमा करत विचारू।
स्वाद वाद सबही छिटकाया, पांच पिसणकूँ जीति सवाया ॥
महमां किताए कउ वरौं वीर, कलिमें प्रगटै जेसे कवीर।
एसी भांति विनती कीन्ही, चारण दिच्या दयाल की लीन्ही ॥
दे उपदेस रमे ततकाला, ग्यांन ध्यान गुरु वचन सम्हाला।
गोरष कूँ सद मसतक राषे, ऐसे रमत रांम रस चाषै ॥

हवरे हवरे धरि है पांऊ, मनमें अलष निरंजन ध्याऊँ ।
जोग जुगति ध्यांन मन धारे, परमारथ करि जीव उधारे ।।
ऐसे रमत रमत चलि जांइ, टोडे निकट पहूँचे आइ ।
एक सर्प ताखो तिंहि नांऊ, सो भोग्यौ होतौ उसगांऊ ।।
बहुत द्रव्य सांच्यौजू ठौरा, षरच्यौ षायो नाहिन बौरा ।
रांम जनां कै मुष नहिं डारचौ, एसे जनम आपनो हारचौ ।।
सोधन ले धरती में गाड्यौ, आयौ काल प्रांण तब छाड्यौ ।
षौड विछोहौ करदियौ तंहियाँ, मन तौ निकस्यौ नाँही मंहियां ।।
प्रगटै प्रबल आइ अभागू, ता धन पर हूवौ है नागू ।
महादीरघ कछु कहत न आवे, बीघा मांहि घास जर जावे ।।
ऐसौ जहर कहा कौऊ करि है, निकट जाय सौ प्रांणी मरि है ।
बम्बइ ऊपर घासन हौइ, ठौड महा अद्भुत है सौइ ।।
तहाँ आइ महाराज विराजे, ग्यांन ध्यान संपूरण साजे ।
अलष निरंजन सदइ साधू, सौ जस गावै जन रुघनाथू ।।

दोहा—

बम्बइ ऊपरि ध्यान धरि, बैठे जन हरिदास ।।
निसक महातप ध्यान रत, सदा नाथ है पास ।।२७।।

।। विश्राम नीं ।।

चौपई—

इतने माँहि सरप सुधि पांइ, वास मिनष की तब ही आइ ।
बम्बइ निकस्यौ करत फूंकार, हरिजन कौ पायौ दीदार ।।
दरसन करते मन आइ और, उभौ रह्यौ नाग तिंहि ठौर ।
गई पाप वुधि हिये केरी, तबै सरप सिर नायौ फेरी ।।
दरसन करत मन निर्मल भयऊ, करम पटल दूर हौइ गयऊ ।
करन बीनती लागौ साँपा, हे दयाल काटौ मम पापा ।।

कृपा करि हरिनाँव सुनावो, जन्म जन्म के कर्म गमावो।
दिच्या नाथ दीजिये मोही, हूँ दयाल बलिजांऊ तोही ॥
इतनी सुनत आप यूँ बोले, महा महर करि अंतर षोले।
सुणरे जीवराम की गाथा, अलष पुरष को करिये साथा ॥
पाप बुद्धि सब दूर करीजे, हरि के जन मांही मनदीजै।
ऐसी भांति उपदेस जू दिया, साप मगन होइ सरत्रण कीया ॥
तब दयाल चरणांमृत दीयो, नाग तुरत अमृत जूं पीयो।
पीवत पांणि मुक्ति व्है गयो, सो जस जन रुघनाथ कह्यो ॥
पीछे षवर सहर में होई, दरसण करण आये सबलोई।
सब कूँ ग्यान कथा समझावें, यूँ दयाल सब कै मनभावे ॥
ऐसी बात कहत है स्वांमी, सवै भजो तुम अन्तरजामी।
साध संगतिसूं लावो हेतु, ऐसे निपजै काया षेतू ॥
सील साच जरणा कूँ लहिए, ऐसी भांति परमपद पइये।
सबकूँ उत्तम दियो उपदेसू, सनकादिक संकर ज्यूं सेसू ॥
इहैवात टोडा की गाई, जो कछु भई सैन समझाई।
अलष पुरष को ध्यांन अपारु, कहत न आवे परम विचारु ॥
सबकूं साची वात वतावे, आप सदा अलिपत जु रहावे।
परमारथ विचरै संसारु, गोरषनाथ समझ उरधारु ॥
इहि विधि फेर तहाँ ते चलिया, साध सन्त बहौतेरा मिलिया।
ग्यांन ध्यांन हरि कथा सुनावे, संगति करै सो जीव तिरावे ॥
महा निर्लोभी त्याग मत लीये, विचरैं सदा त्रिगुण तज दीये।
निर्गुण इष्ट निरंजन ध्यावे, कथा कीर्तन हरि जस गावे ॥
एक दिनां आगे इक गाँऊ, गुप्त ग्यान की कथा सुनाऊँ
उत्तम ठौर जाइगां देषी, स्वामी तहाँ विराजे एकी ॥
तहाँ एक आइस को आसन, रात षेचरी कीवी जासन।
सिंह रूप आयस कर आयो, स्वामी वचन षर कहि बतलायो॥

बोलत पांण षर ही होइ गयो , तब सब ही मन संसो भयो ।
आय परे दयाल के पांवा , हम मूरष तुम थाहन पावा ॥
तुम हो सिंभू नाथ अविनासी , होय दयाल कटै मम पासी ।
तब स्वामी मन दयाजु आई , कर फेरत मानष हुइ जाई ॥
करी वीनती दिव्या दीजै , मूढ जीव अपणा कर लीजै ।
तब दयाल माथै कर दीया , आइस सबै सिष कर लीया ॥
जुग जुग जन थापे भगवाना , एसौ कौनजू ताहि उठाना ।
जन हरीदास हरि सदई साथा , बलि बलि जावे जन रुघनाथा ॥

दोहा—

जन रुघा हरिदास की , महिमा कहीन जाइ ।
भगति करनकूँ कलि मंही , स्वामी प्रगटें आइ ॥२८॥

॥ विश्राम दस ॥

फेर तहाँ सू रमे दयाला , अलष ध्यांन महा बुद्धि विशाला ।
बहुत दिवस मारग में लाए , जोवनेर के मांही आए ॥
सुन्दर ठौर देषिकै वारै , तहाँ विराजे ग्यांन संभारे ।
एक वैरागी गाँवजु मांही , रांम नांम उर अंतर नाँही ॥
झूठ कपट करि जगत भुलावे , सबकूँ ठग ठग द्रव्य उपावे ।
जन हरीदास हरि ध्यान जू मांही , राग दोष काहू सू ं नाही ॥
लोग महाजन दरसन करि है , तिन कूँ देष भगत अति जरिहैं ।
जाता सबकूँ त्रास दिषाऊँ , पूजा मेरी आन लगाऊँ ॥
यू ं धरि मनमें विस ले गयो , जाइ दयाल कै सनमुष भयो ।
मेरे गृह अब गोरष आए , चरणामृत ताको हम लाए ॥
कै पीवो कै ढोरो स्वांमी , बिगरे काज जाऊँ मैं ग्रामी ।
ढोरयां तुमरो इष्ट विनासा , पीयां इष्ट रहत है दासा ॥
इतनो वचन भगत तब कह्यौ , स्वांमी तुरत हाथ में गह्यौ ।
लेय नाम गोरष का सांई , पीयो जहर इम्रत की नांई ॥

पीवत पांगा चढ्यो वैरागी, त्राहि त्राहि हूं महा अभागी।
हैं दयाल तुम पूरण जोगी, ग्यांन रस के महाभोगी ॥
मैं मूरष जान्यों नहि भेवा, तुमतो करो अलष की सेवा।
गोरष सदा सहाइ तुम्हारै, काल झाल सब दूर निवारै ॥
मेरी ताप अब वेग बुझावो, गुन्हो मेटि हरि नाँव सुणावो।
अभै दान दीजै मोहे स्वामी, बकसो सबै जीव की षांमी ॥
तब दयाल चरणामृत दियो, पीवत सवाँ सीतल होइ गयो।
कहै दयाल सुणरे वैरागी ऐसा कांम क्यूं करे अभागी ॥
ठग्यो ठगायो द्रव है तेरे, सो सब षरच चरण हरि केरे।
सन्त बुलाइ महोछा कीजै, भली भांति पहरावण दीजै ॥
तवही तेरो उतरि है पापू, नहितर मांहि होइगो सापू।
सुने वचन सो कीए प्रवाना, तवै भगत मेले की ठांना ॥
देस देस के साध बुलाए, नीकी भांति सू तिन्है जिमाए।
करी रसोई पूजा दीन्ही, दिच्या भगत दयाल की लीन्ही ॥
कृपा करी माथै करदीया, गुन्हौ मेटि अपणा कर लोया।

दोहा—

ठग्यो ठगायो जन रुघा, दीयो माल लगाइ।
जन हरीदास के चरण सूँ, रह्यो भगत लपटाइ ॥२६॥

॥ विश्राम ग्यारह ॥

चौपई—

ऐसे रहे जोवनेर मांही, रतमत सदा रामसूं आंही।
रमे तहांसूं आप अकेला, पहुँता और लारसूं चेला ॥
रमत रमत आंवेर पधारया, कारज और सर्व ही सारया।
तहाँ एक नाहर दुषदाई, सहर मांहि कूँ मांनिष षाई ॥
महा निडर संक नहि मांनै, सबै लोग तिणका सै जानै।
माषर मांहि रहत है सोई, दूजो जांणन पावै कोई ॥

आप दयाल उहाँ चलि आए, गुफा देषकै ध्यांन लगाए।
तवै सिंघ कू वासज आई, निकस्यो तुरत गहर नहिं लाई॥
जाण्यों आज इहां भष मिल्यौ, आयो और दिनां को हिल्यौ।
दरसन करत मतो फिर गयो, सनमुष आइ दयाल कै भयो॥
नाक नवणी करवैठो जवही, स्वामी दिच्या दीन्ही तवही।
मिनष गाई हतिए नहिं भाई, और न जांणू रांम दुहाई॥
पीछे सव लोगन सुणि पाए, दरसन करण दयालकै आए।
नाहर सूँ छिन संकन माने, पुत्र समान सवनहीं जानें॥
सव जन कै पावां तलि लुटि है, कवहुक सोवे कवहुक उठि हैं।
ऐसे सोच की मिट गई तापा, जन हरीदास पूरण परतापा॥
तवतें आऐ सहर मंझारा, जहाँ फकीर इक रहे विचारा।
ताकै तो सव कुछ व्योहारौ, सिषसाषां सेवग जू अपारो॥
तीर कवांण षाटली कहिए, रचै सांग अचरज सो लहिए।
जव हरिदास तहाँ चलि आए, घर बैठे फकीर जु पाए॥
इनके हुवो सम्वाद जू तवही, सोजस प्रगट कहिहू अवही।
तव दयाल ऐसे कहि दइया, आडा पड़दा षोलदे भइया॥
इतने मांहि वोले जू फकीरा, एतो द्वार अतीत के वीरा।
सहजै षुलि है पाट हमारे, आवो वैसो तुम हो प्यारे॥
जन हरिदास ऐसे समझावे, अगम ग्यांन तोकूँ नहि भावे।
नामदेव पडदा कव दीया, कद कवीर मांही लुक रहिया॥
तव फकीर यह वात कहावे, वात विवेक हिरदै नहिं आवे।
तव दयाल ऐसे फुरमायो, वात विवेक कहण कूँ आयो॥
हूँ तोहि सीष देतहूँ साची, वातां सवै छाडदे काची।
सेवक सती दुष के मूला, इन सूँ लागि रांम कूँ भूला॥
तीर कवाँण तोड सव डारो, हिरदै हरि को नांव संभारो।
तव फकीर कहै समझाई, तुम तो हठी करो हट भाई॥

तव दयाल कहै सुन प्यारे, हठ साचो है सही हमारे।
दोय हठ पिरतषही जानो, साचे हठ कूँ मनह प्रमानो ॥
एक हठ है कामरु क्रोधा, इन सूँ उपजै नांही वोधा।
एक हठ गुण जीते भाई, यासूँ साहिव मांहि मिलाई ॥
एती सुण उपज्यौ है ग्यांना, छाडि माया तुरत निदानां।
फकीर दयाल की लीन्ही आग्या, सीतल भयो दुष सव भग्या ॥
माया छाडि ब्रह्म सूँ रातो, दयाल प्रताप राम रस मातो।
महातीवर वैराग जू आया, तव फकीर अलष कूँ ध्याया ॥
ऐसे ग्यांन दियो मन जानी, सति बात रुघनाथ वषानी।
तहाँ रहे वहौतलग स्वांमी, टहल करी सव ही मन जानी ॥
ता पीछै रमणी की कीन्ही, सनै सनै निगुण मत लीन्ही।
पूरव दिसा चलै जू जावे, दरसन दे सव जीव तिरावे ॥
एक गाँव सूँ रमे संवारे, अपंग विप्र वैठे जु विलारे।
करी वेगार राल ते गया, मारग मांहि विप्र दुष भया ॥
तहाँ आइ हरिदास षडे हैं, वांमण आइर पाइ पडे हैं।
कहै दयाल ऊँचे उठि भाई, जंगल मांहि क्यूँ पड्यो रहाई ॥
तवै विप्र बोलियो यह वैना, पाँव नहीं दुष वहौत अचेना।
तव फिर हरीदास कर लाये, कृपा करी ताके पग आये ॥
विप्र उठि जु गाँव कूँ ध्यायो, सोजस जन रुघनाथ जु गायो ॥

दोहा—

जन हरीदास प्रताप तैं, अपंग विप्रपग होइ।
आप सिंघाँणै कूँ चले, काल भाल दुष षोइ ॥३०॥

॥ विश्राम वारह ॥

चौपई—

द्वै दिन मांहि सिंघाँणे आऐ, तहाँ भाषर परिध्यान लगाए।
उत्तर दिसा सहर सूँ सोई, तहाँ विराजे जग मल षोई ॥

सवही सहर मांहि सुण पाए, स्वामी हरीदास यहाँ आए।
चलो सवैही दरसन करि हैं, मसतक जाइ चरण तरि धरि हैं॥
सवही आय करे हैं दरसण, फिर फिर उत्तम पूछै परसण।
हे दयाल सहर में आवो, कृपाकरी हरि भक्ति वढावो॥
तव दयाल ऐसे समझावे, इहै ठौर उत्तम मन भावे।
तव उन कहयौ रसोई लीजै, कृपाकरि अरु भोजन कीजै॥
जन हरिदास वोले यह वाता, जाय रसोई करो त्रिष्याता।
तवै महाजन पूठे आए, जन हरिपुरष की अग्या ल्याए॥
करी रसोई साध वुलाया, आप दयाल कृपाकरि आया।
वैठे सवै कीर्तन करि हैं, ग्यांन ध्यांन की वात उचरि हैं॥
जा कै घर वालक इक होई, वाको अन्त भयो है सोई।
माता तवै कहथौ हा वाला, तुरत ही वचन कहयौ है दयाला॥
कहयौ उनां कूँ क्या? है माई, हो वो कहा सो घोह वताई।
कहै महाजन क्यू ही नहिंया, झूठो सोर करै घर मंहियाँ॥
फेरि दयाल घणो सो पूछायो, साची वात कहै हम भायो।
कहै महाजन सुनो दयाला, एक पुत्र ताको भयो काला॥
इतनी सुनत वोले हरिवंदा, यो सूतो है नींद उनींदा।
तव उन कहयो नही महाराजा, या को अन्त होय गयो आजा॥
तब दयाल उठि निकट गए हैं, गोरखनाथ को नाम लए है।
उठरे माई तूँ कहा सोवे, तेरे कुटंव दुषी अति होवे॥
करसूँ कर पकरयो जु दयाला, उठयो तुरत साह को वाला।
सव हिन जै जै कार वषान्यां, जन हरीदास हरि हिलमिल जांन्या॥
हुई रसोई सन्तन पाई, सवै महाजन पांइ परांई।
स्वामी चल डेरा कूँ आए, ग्यांन ध्यांन उर मांहि वसाए॥
सब ही कै परतीत जु आई, सेवा सन्त करो चित लाई।
ऐसी विधि दीयो उपदेसू, जैसे नाम कवीर अरु सेसूँ॥

दोहा—

रहे सिंघाणे वहुत दिन, सब कूँ दीयो ग्यांन।
जन रुघा हरिदास हरि, सही एक उनमान ॥३०॥

॥ विश्राम तेरह ॥

तहाँ ते रमे अपूठे सोई, आदू सहरकूँ रामत होई।
सनै सनै चलि है हरि साधु, निरगुण दास विदेह अगाधु॥
वहौत दिनांलौ रामत करी, पहुँते आप डीडपुर हरि।
सब कूँ षवर हुई ततकाला, कृपाकरी आयेजु दयाला॥
दरसन आय करें सब कोई, देव निरंजन को जस होई।
सब कूँ बाँट प्रसादी देहें, नमसकार करि करि के लै हें॥
हूवो उछाव कह्यौ नहिं जांवै, मानों देव स्वर्ग थैं आवै।
करें वीनती सेवग सब ही, जाग्यौ भाग हमारो अबही॥
मोडे वहुत पधारे देवा, रमे कहाँ नहिं पायो भेवा।
तब कृपाल कहै रे भाई, रांम सिस्टि में रमां सदाई॥
ताके सरणैं करमन लागे, काल जाल दुख सब ही भागे।
साचो अलष पुरष को साधू, सो जस गावै जन रुघनाथू॥
ऐसे भई वधाई सबकै, हुई कृपा दयाल की अबकै।
दरसन करकर आग्या मांगी, सेवग अरु चाले वैरागी॥
आप विराजै सुमरन करें, देव निरंजन हिरदै धरे।
ग्यांन भगति वैराग सवायो, अरस परस पूरण पद पायो॥
रहे वहाँ डीडपुर स्वांमी, निस दिन सुमरै अन्तरजांमी।
अडिग अडोल सदा निरवांना, और भरम उठ गये जु नाना॥
विरकत महा त्याग तप साधे, अलष निरंजन उर आरांधे।
ऐसी विधि नित रहे दयाला, गहर गंभीर सवनि प्रतिपाला॥
दयावंत सुषदाई धीरू, अमर पुरस सूँ कीयो सीरू।
अष्टौं अंग जोग कै साधे, तप वनवास किये अति गाढे॥

जो कोई सीष सुने हरिजन की , दुबध्या दूर करै ता मनकी ।
ग्यांन ध्यांन उपदेश बतावे , नरक छुडाइ मुक्ति पहुंचावे ॥
सदई ध्यांन भजन हरिजी को , और सबै रस लागै फीको ॥
ऐसे कांम क्रोध रिप दहिया , आसौ इष्ट निरंजन मंहियाँ ॥
तीन लोक में प्रगट स्वांमी , उदै भए उर अन्तरजांमी ।
प्रकृति गुण न्यारे कर दूरा , पुरुष लीन भये स्वामी सूरा ॥
जो कोई जीव सरण चलि आवे , ताकूं निश्चय ब्रह्म बतावे ।
ग्यांनरु ध्यान जोग वैरागा , अरपै स्वामी भगति सभागा ॥
अरु दयाल के सिषथे बावन , सबही करै जगत कूं पावन ।
ब्रह्मग्यांन हिरदा में धरिया , गुरु परसाद अतिर भव तरिया ॥
सबही आए सतगुरु पासा , कर दीदार मगन सुष वासा ।
देव निरंजन को जस गावै , सतगुरु के चरणां चित लावे ॥
स्वांमी आप सदा मन धीरा , मगन ग्यांन गुण गहर गंभीरा ।
सेवग सती करे नित दरसन , ग्यांन ध्यांन की बूझै परसन ॥
स्वामी देवे सत उपदेसा , भजौ निरंजन मिटै अन्देसा ।
सन्त जनां की सेवा करो , ऐसे दूतर सहजै तिरो ॥
सिष सदा सनमुष जु रहि हैं , गुरु की आग्या अन्तर गहि हैं ।
सबहिनको सारथौ है काजू , पर उपगार आप महाराजू ॥
साधू कथा कीरतन करि हैं , हरीपुरस पद हिरदै धरि है ।
पुरवासी सब कारज करिया , जिन दयाल कूँ हिरदै धरिया ॥
गुण अनंत कहतां नहिं आवै , ऐसो कौन मर्म मल पावे ।
बुधि बौछी पूरा गुरुदेव , त्रित उनमांन लखाया भेव ॥

दोहा—

निरगुण ग्यान विचार कै , उतरया मोजल पारि ।
जन हरीदास हरिसूं मिल्या , कहै रुघनाथ विचारि ॥३२॥

विश्राम चौदह

चौपई—

प्रथम वहौत दिन यूंही गइया, वरस चमालतै चेतन भइयां।
चमाल वरष वैराग कमाया, ता पाछे हरि मांहि समाया॥
सम्वत् सोलेसैजु सईका, ऋतु वसन्त आनन्द लईका।
फागण सुदि षष्टमी जानां, जन हरिदास हरि मांहि समाना॥
मिले निरंजन मांही दासू, काल भाल सबकाटी पासू।
आए तहाँ पधारे देवा, मनसा वाचा सनमुष सेवा॥
तेज पुंज तहां प्रान पियारे, तेजपुंज होइ आप पधारे।
अरस परस हरि मांहि समाया, सोजस जन रुघनाथ जु गाया॥
सहर डीडपुर उत्तम धामू, तहाँ स्वामी कीयो विश्रामूँ।
सबै सिष वियोग अति करि हैं, सेवग चित चरणां में धरि है॥
एक सुने सुन धरती परिया, काहू वहौत रुदन ही करिया।
केई कहै सूनो है गांऊ, दूषै सबै लेतही नांऊ॥
जैसे रात चन्द विन होई, त्यूं दयाल विन नगरी जोई।
जहाँ जहाँ आपन चले गये, सबै देव सनमुष जु भये॥
कहै विराजो यहाँ गुंसाई, दरसन द्यो नित बलिबलि जांई।
देव सवन मिल विनती कीन्ही, जन हरिदास मन मांहिन चिन्ही॥
सिध साधिक सनकादिक नारद, संकर सहित मिली है सारद।
सवहिन जै जै कार बढाया, जन हरीदास हरि मांहि समाया॥
इतनी कथा कही में देवा, तुम अगाध में लख्योन भेवा।
तुमरी गतिमति तुम ही जानों, अलप बुद्धि हूँ कहा बषांनों॥
इह गुन कथन लह्यो सुष भारीं, कृपा करी निज देव मुरारी।
अरु जे फिरि गावे जस कोई, ताकै दुष सब डारै षोई॥
सत्रु दूर रोग हू जावै, जो जन परचा सूं चित लावे।
अपढ होय विद्यावत मानों, निरधन धनवंत होय सुजानों॥

मूरष लहै ग्यांन गुण आगर, दीन होइ, या वे सुषसागर।
गूंगो ग्यान विग्यांन ही पावे, जो दयाल गुण रुच रुच गावे॥
जन हरिदास हरि के उणहारा, भगति करणैं प्रगटै संसारा।
निरगुण ग्यांन समझिकै लीयौ, दूजो कर्मकांड तजि दीयौ॥
कर्मकांड सांसो नहिं जावै, जोलूँ निरविकार नहिं गावै।
निरगुण व्रत हरिदास विचारा, तातें उतर गयें भवपारा॥
इतनी महिमां वरनी तेरी, तुम अगाध वोछी मति मेरी।
घाटि वाधि कछु बोलनि आया, ताकूँ समझ सुधारो राया॥
पुत्र दोष पिता सब जानौ, ताकौ औगुण कछू न आनौ।
अलप बुद्धि हूं बोल न जानौं, तातें यह बीनती मानौं॥
अरु तेरा गुण बहुत अपारा, बरणत पार न आवे सारा।
परचे ओर अनंत है घणे, हम तो इतने कानां सुणे॥
बहुरि गुप्त जे रह्या गुसांई, ता को पारन पाऊँ सांई।
जे हम सुणे सो कियो वषानों, और तुम्हारे तुम ही जानों॥
वसुधा सब कागद कर लीजै, लेषणि भार अठारा गणीजै।
सात समद कीजे रुसनाई, हरिजन हरि रस कथ्यो न जाई॥
निराकार की किरपा भई, सन्त समागम परची कही।
जन अमरपुरस के मस्तग हाथू, रुचरुच गावै जन रुघनाथू॥

दोहा—

रुघनाथदास जन का कहै, हरिगुण अनंत अपार॥
अमरपुरष परताप तैं, कछु इक कियो विचार॥३३॥
श्री अमरपुरष गुरुदेव की, किरपा पूरण थाइ॥
बेरि बेरि आनंद सूँ, जन रुघो बलि जाइ॥३४॥
परची हरिदास की, भई संपूरण सोइ॥
घाट वाध या में कही, सुध कर लीजो जोइ॥३५॥

॥ विश्राम पन्द्रह ॥
॥ इति परचई सम्पूर्ण ॥

महात्मा प्यारेरामजी

महात्मा प्यारेरामजी अमरपुरुषजी महाराज के शिष्य दर्शनदासजी के शिष्य थे। इनका काल उन्नीसवीं सताब्दि का उत्तरार्ध प्रमाणित होता है। आपकी रचना भक्तमाल है उसके अन्त में आपने सम्वत् १८८३ में उसको बनाने का संकेत किया है। भक्तमाल से भिन्न आपकी ओर कोई रचना सामने नहीं आई है।

भक्तमाल की रचना का स्थान मोरेड लिखा है जो आज भी मौजूद है जहा दरसणदासजी महाराज विराजे थे। अब इनकी परम्परा का मुख्य स्थान वडू ग्राम है। प्रायः ही जो भी उच्च महात्मा हुये हैं उनकी परम्परा में भक्तमाल के भी प्रायः रचनाकार होते रहे हैं। नाभाजी ने वैष्णव सन्तो से भिन्न अन्य सम्प्रदायों के महात्माओं का उल्लेख नहीं किया है राघोदासजी ने द्वादश निरंजनी महन्तों का निरूपण किया है।

रामदासजी महाराज के शिष्य दयालदासजी ने जो भक्तमाल बनाई उसमें उनने सभी प्रचलित पन्थों के महात्माओं का निरूपण किया हैं। प्यारेरामजी ने स्वयं यह व्यक्त भी किया है कि दर्शनदासजी महाराज ने उनको भक्तमाल निरूपण की आज्ञा दी तो उनने विशेष निर्देश किया कि उसमें अपने इष्ट पन्थ का विशेष निरूपण किया जाय।

तदनुसार आपने अवतारों का निरूपण कर भक्तों का निरूपण प्रारंभ किया तब सर्वप्रथम हरिदासजी महाराज का विस्तार से निरूपण किया। पश्चात् षेमजी चत्रदासजी, पोकरदासजी, दयालदासजी, सेवादासजी, अमरपुरुषजी व दर्शनदासजी तक का निरूपण किया पश्चात् अन्य भक्तों का विवेचन किया गया है। दौ सो चार मनहर कवित्त प्यारेरामजी की भक्तमाल के हैं अन्त में चार दोहे हैं मूल प्रति सींथल ग्राम में है जिसकी प्रतिलिपि मेरे पास है। उसी में से कुछ उद्धरण आगे दिये जा रहे हैं।

॥ प्यारेरामजी कृत भक्तमाल का कुछ अंस ॥

मनहर—

नमो नमो गुरुदेव प्रभु जो परमातमा,
संता आगे हाथ जोड वीनती कराइये।
सन्ता को में जस गाऊँ कृपा करो मोहि पर,
बुद्धि में प्रकाश करो तवही तो गाइये॥

सन्ता को अगाध मत मेरी है अलप बुद्धि ,
आपही की कृपा हो तो कछुक सुनाइये ।
कवि की बडाई तामें वर्णं मात गण सुध ,
देश काल प्रचा मिलै सव मन भाइये ।।१।।

रामजो ओतार आप वडे ही विख्यात भये ,
राक्षसां कूं मार कर संता काज सारे हैं ।
कृष्णजी ओतार धार संताको सहाय करी ,
कलाजु दिखाई वहु लीला विसतारे हैं ।।
हयग्रीव रूप धार ब्रह्मा के जो वेद ल्याये ,
कमठ ओतार धार पृथ्वी पीठ धारे हैं ।
प्रथु अवतार धर पृथवी को दूही ताहि ,
नृसिंह ओतार धार प्रहलाद उवारे हैं ।।२।।

रिषभ औतार आप वडे ही विख्यात भये ,
भरत पुतर गृह त्याग जोग लियो है ।
नव भये जोगेश्वर जग में प्रसिद्ध अति ,
इक्यासि जू कर्मकांडी सोई पुत्र भये हैं ।।
व्यासजी औतार धर रचे हैं पुराण पुनि ,
भारत दर्शन, गीता वेद कथ गये हैं ।
परशुराम वन आप चत्री षपाय दिये ,
भूमि प्राप्य कर सव विप्रन को दिये हैं ।।३।।

हरिदासजी—

आप जो अकेले होय और होय लाखों दल ,
सामे होय सके नहीं भाजि सव जाइये ।
डीडवाणे कोल्या वीच खोसल्यो जू कूवो कहे ,
तहाँ आप वैठे रहे घोडे चढ आइये ।।

माल जो लेजावे कोऊ ताहितै भरावे डांण,
वणिया को रूप धरि गोरष तहाँ आइये ।
हरिसिंह देख आप आडे जो फिरे हैं जाइ,
तब दिव्य रूप धरि पगां में पराइये ॥४॥
गोरष वचन बोले इता तुम पाप करो,
आगे लेषो लेहिं तब छूटो कैसे जाइये ।
ओर जो कुटम्ब सब याही सूँ उदर पालै,
एकले कूँ भार क्यूं है बांटे बांटे आइये ॥
पूछो क्यों न घर जाय कौन तेरा संगी होय,
तब घर जाय करि बूझना कराइये ।
आप कियो पुण्य पाप आप ही भोगेंगा सब,
और केजु कैसे आवे ऐसे जू कहाइये ॥५॥
होयके उदास जब पीछे आये आप वहां,
आवत ही पांव परै चरण चित्त लाइये ।
अब करो आज्ञा आप सोई मैं तो शीश धरूं,
गोरष बोले घर त्याग तीखी पर जाइये ॥
तब आप घर त्याग बैठे जाइ तीखी पर,
आसण लगाय द्रढ ध्यान जू कराइये ।
गाढे जू सुणी है बात सेवा में लगायो चित,
बारै वर्ष एकतार तीखी पर आइये ॥६॥

दयालदासजी—

दयालदास सन्त जित इन्द्रीसूं जु दूध पीयो,
लघुशंका करि बासू दीपक रखाइये ।
जगरो लागो वारणें तबही जु मेह आयो,
मेह दीनो टाल जिन जगरो बचाइये ॥

सेवादासजी—

सेवादास संत को जु वडो मत वीतराग,
परचों का पार नांहि कहाँ लग गाइये।
पुरोहित कुल मांही लियो अवतार आप,
वर्ष गये सात सन्त दर्शन कूँ आइये ॥७॥
बारे वर्ष एकतार गुरु की जू सेवा करी,
वीतराग रहे नेम भिक्षा को समाइये।
शाह की उवारी नाव समद बीच फाटी जब,
हजारों जे जीव तिन्हे डूबतां बचाइये॥
सीकर के रावजी को परचो दिखायो जब,
साह रूप धारि आप भोजन जू लाइये।
फतहपुर गांव सूं दूर जो विराजै आप,
पठाण कूँ फतै पर दूसरो दिखाइये ॥८॥
कालैडहरे में आय त्राटक जू ध्यान कीनो,
कृपाजू कबीर कीन्हीं छाप जो धराइये।
सतरासै चोहत्तर वीकाणे विराजे आप,
भूतों का उद्धार कीया ज्ञान जु सुनाइये॥
ऊदो भाटी खारड्या में मेले को विचार कियो,
ताकूँ दियो ताले मांहि छुडाइ के लाइये।
रूपाणे में नाग आय पींडी जिन तोड लई,
लोगां सोच करयो तब फेर के बुलाइये ॥९॥

सेवादासजी का तन त्याग—

सवा दोपहर आप ध्यान जो लगाय बैठे,
दसम दुवार होय ब्रह्म में समाइये।
सतरासै अठाणमें जेठबदी पडवा कूँ,
त्याग तन आप हरिधाम जू सिधाइये॥

अमरपुरुषजी—

अमर औतार धार जीवांको उधार कियो,
एक सौतो चार जाकै सिष जो कहाइये ।
गुरां कही तीन बात सोई आप धार लई,
फिर आज्ञा करी तब सिष जो कराइये ॥१०॥
दरशन गुरु दया की प्यारे को आज्ञा दीन्ही,
ईष्ट अनुक्रम से जू भक्तमाल गाइये ॥
भक्तमाल वणी और सन्ता किन्ही ठौर ठौर,
इष्ट विहूणी वहतो मन नहिं भाइये ॥
गुरु आप आज्ञा दिये ताते भक्तमाल किये,
अठारेसै तियासी की बात ये कहाइये ।
मोरेड नगर मांहि आधी रात होती ताहि,
गुरां आप रीझ कर प्रचा जो बताइये ॥११॥

दोहा—

जन प्यारे रामकी वीनती, सुण लीज्यो सब संत ॥
पची पीवे चूंच भरि, सागर को नहिं अन्त ॥१२॥

॥ स्वामी उदयरामजी ॥

स्वामी उदयरामजी सेवजी महाराज की शिष्य परम्परा में थे एसा अनुमान होता है। आपका कार्यकाल वीसवीं सदी प्रतीत होता है। आपका एक संग्रह ग्रन्थ सार संग्रह नाम से प्राप्त है। इसमें एकसौ पिचहत्तर अंग है। प्रति अंग में हरिदासजी कबीरजी, सेवजी तुरसीदासजी आदि महात्मों के वचन संग्रहीत किये है साथ में अपनी रचना भी संमिलित है। आपकी ओर कोई रचना जो कि स्वतंत्र विषय पर हो अब तक प्राप्त नहीं हुई है। आप का यह संग्रह ग्रन्थ पुजारी परमानन्दजी डीडवाणे के यहां है। इस संग्रह में से अन्तिम अविहडका अंग दिया जाता है इससे इसकी उपयोगिता प्रतीत होगी। यह अंग पूरा का पूरा उदयरामजी कृत हो है। अन्य अंगो में उपरोक्त रूप में अनेकों महात्माओं के वचनों का संग्रह किया गया है।

॥ उदयरामजी कृत सारसंग्रह का अंस ॥

॥ अविहड अंग ॥

साषी—

संगी येही जीवकै, कै माधव कै साध ॥
लष दोषां विरचै नहीं, या तो बात अगाध ॥१॥
संगी सोई कीजिये, कदेन विहडै सोय ॥
किरतम को क्या ? पूजिये, पल में परलै होय ॥२॥
संगी सोई कीजिए, सदा अषंड थिर सोय ॥
जन्म मरण जाकै नहीं, सो हम लीया जोय ॥३॥
सदा अषंड थिर एक रस, लगै नहीं पुन पाप ॥
संगी सोई कीजिये, सहज भडै दुष ताप ॥४॥
संगी सोई कीजिये, अचल अषै भगवन्त ।
रूप रेष जाकै नहीं, लाग रहे सब सन्त ॥५॥
ऐसा लिया विचार मन, सदा अषंड थिर जोय ॥
स्वामी तुम परसाद तैं, अविहड़ रहेजु सोय ॥७॥
अविहड अंग राजा रामजी, सब संतों का भरतार ॥
उदयरांम का सो धनी, सिमरथ सिरजणहार ॥८॥
सिमरथ सिरजणहारजी, सुणजे दीनदयाल ॥
उदयराम के तुम धणी, सब संतन के रिछपाल ॥९॥

चौपई—

प्रभु सब संतन के प्रतिपाला, बहु साध उधारे दीनदयाला ॥
जन उदयराम प्रभु तिनही पाये, जिन मन अविहड़ राम लगाये ।१०।
अविहड़ राजा राम राई, उदयराम ताका गुण गाई ॥
हरिपुरष सेवा गुण गावा, अविगत रमता मांहि समावा ।११।
अविहड राम कबहू नहिं घटई, उदयराम नित ताकू रटही ॥
रह रह सन्त भयेजु अपारा, रामनाम सुमरै इकतारा ॥१२॥

रामही रामजु करत पुकारा, तिनकूं नित नित नमन हमारा ॥
क्या गिरही ? क्या साधज सन्त, राम रटत तिहिं नमन करंत ॥१३॥
नमो शेष ध्रुव पुनि प्रहलादा, राम रटत उनको हरि लाधा ॥
नमो नमो गोरष दत ध्यानी, नमो नमो नामा कवीर ग्यानी ॥१४॥
नमो नमो श्री दयालु हरिदासा, जीव अनन्त किये प्रभु पासा ॥
कितने जीव तिरै उन संगा, जो सुन वचन लगै हरि रंगा ॥१५॥
हरि रंग रंगे तिनही के प्राणा, जिन सुने वचन हरिपुरष सुवाणा ॥१६॥
हरिपुरष कै वचन सुहाये मोही, इहि सुष सम सुष औरन कोही ॥१७॥
हरिपुरष सेवा वचन सुहावा, सुणत ही जग को होय अभावा ॥
मनही जगत जन्मै संसारा, नाम तुम्हार न वूढा वारा ॥१८॥
नमो नमो सेवा जन स्वामी, नमो नमो तोहि अन्तरजामी ॥
सेवा जन ऐसै सुषदाई, जिन जग जीवां ताप मिठाई ॥१९॥
तिनके अमरपुरष सिष भयेऊ, जो निज पद सव सिषले गयेऊ ॥
और हू सन्त भये वहु ज्ञानी, अगम द्रष्टि कोऊहै अति ध्यानी ॥२०॥
तिनहि हित चित बन्दन हमारा, जे जन ब्रह्म कूँ जाणनहारा ॥
तुरसीजु ध्याना जगजीवनदासा, जगन्नाथ परब्रह्म निवासा ॥२१॥
अन्य हु सन्त निरंजन ध्यानी, निर्मल हरिमय जिनकी वांणी ॥
जो नित करहीं ब्रह्म विचारा, में वपुरा क्या ? कहन हारा ॥२२॥
ब्रह्म विचार यही है भाई, राम भजै विन किन गति पाई ॥

साषी—

सतगुरु जब किरपा करै, मेटै सव अज्ञान ॥
विन सतगुरु शरणे गये, होयन आतम ध्यान ॥२३॥
राम नाम तत सार है, कहै वेद अरु साध ॥
सव सन्ता की साष सुणि, सव में योही लाध ॥२४॥

चौपई—

सव सन्ता की साष मिलाईं, नाम समानन आन उपाई ॥
रामही नाम कवीरै गाया, नामा हरिपुरष नामही ध्याया ॥२५॥

कलजुग नाम समान न कोई, सब ग्रन्थन को षोजो जोई ॥
नानक कबीर हरिदास दयाला, सेवाजन बताये नाम उजाला ॥२६॥
नाम उजियाला सूर्य प्रकाशा, रटें ते करही आनंद विलासा ॥
नाम बिना भव रैंण अंधारी, नरक षाड में पडहिं विकारी ॥२७॥

साषी—

नाम तुमारो रामजी दीजै, अन्तर मैं उपजाइ ॥
जन उदयराम की वीनती, ग्यांनी सन्त मिलाइ ॥२८॥
में तो तेरो बालक रामजी, तुम जाणों जगदीश ॥
में हू निपट अवोध अति, खोटो विसवा वीश ॥२९॥
सुणो निरंजन वीनती, इस बालक की बात ॥
षात पीत वीते दिवस, सोवत रजनी जात ॥३०॥
स्वास स्वास हरि नाम विन, जन्म अमोलक जाय ॥
जन उदयराम यूँ कीजिये, भजिये निरंजन राय ॥३१॥

सोरठा—

भजिये निरंजन रांम, वेद शास्त्र कहते हैं अज ॥
गोरष कवीर कहि रांम, उदयराम भज राम भज ॥३२॥
निश दिन भजिये राम, झूठ कपट संसार तज ॥
भजिया येही नाम, तव आप उधारे नाथगज ॥३३॥
सत्य निरंजन राम, है अगाध परब्रह्म वह ॥
सबका वहीं विराम, वह सबमें व्यापक सदा ॥३४॥

साषी—

ग्यांनी ध्यांनी गम नहीं, पारन पावै कोय ॥
उदयराम भजताहि कूँ, सव सुष सहजै होय ॥३५॥
सव सुष सेवादास जी, कथ गये आतम ग्यांन ॥
ऊदा द्रढ कर राषिये, तव उर उपजै ध्यांन ॥३६॥
पाप पुन्य दुष सुष सदा, तेरे नांही जोय ॥
करता भोक्ता तूँ नहीं, तूँ परकासी सोय ॥३७॥

ग्यांन जगावे जीव कूँ, ज्यूँ वंदीजन नरपत ॥
सुपने दाब्यो वैरियां, जागत भयो नरपत ॥३८॥
सब में व्यापक आतमां, ज्यूँ कुंभ मृत्तिका मांय ॥
भूषण कंचन भेद नहिं, यूँ आतम मत भिन नांय ॥३९॥
सब साधां की राह एक है, कहने को पंथ चार ॥
जिहिं पंथ कवीर गोरष गये, तिहिं गह्यो सेवा हरिदास विचार ॥४०
दादू नानक तिहिं घर पहुँचे, जहाँ पारब्रह्म की जोत ॥
ऊदा उस घर जाइये, जहाँ नहिं माया की छोत ॥४१॥
जहाँ माया छाया नहीं, नहि गुण तीन प्रवेश ॥
उदयराम तहाँ जाइये, जहाँ निरंजन देश ॥४२॥
नमो नमो गुरुदेवजी, कीन्हों ब्रह्म प्रकाश ॥
जन उदयराम के सीस पर, श्री स्वामी सेवादास ॥४३॥

चौपई—

इसमें संशय संत न करिये कोई, हम तो भक्ता सेवाजन के होई ॥
पाप पुण्य कर्त्ता हम भैया, तातें यह न रतन हम धरिया ॥४४॥

साषी—

जो कर्म किये इस जीवनें, सुभरु असुभ पाप पुनि पुन्य ॥
सो सवही में जा रहूँ, गहि गुरु ग्यांन अनन्य ॥४५॥
एक राम यह वीनती, सुणजे दीनानाथ ॥
धर्मराज कागद लिख्यो, सो फाडो अपने हाथ ॥४६॥
में तो तेरा चोटी कटा, घर का जांन गुलाम ॥
भावे मारो तारो सइयां, उदय तुमारा रांम ॥४७॥
उदयराम के तुम धणी, और न दूजा कोय ॥
मारो तारो रामजी, वंदा हाजिर होय ॥४८॥
जोर नहीं कुछ दास का, सुण लीजै साहब ॥
सहस्र जन्म वीते मिलो, भावै मिलो अब ॥४९॥

चौपई—

रिध सिध की नहिं चाह न कोई , वैकुँठ लक्ष्मी स्वप्ने जोई ॥
इच्छा नहीं अपर कोई रामा , दे वरदान भक्ति हरि नामा ॥५०॥
नाम निरंजन निसदिन गाऊँ , गुणातीत के दर्शन पाऊँ ॥
आन लालसा है नहिं कोई , नाम रटण दे प्रभु नित मोइ ॥५१॥

साषी—

तुम विन राजा रामजी , और न जांचू कोय ॥
जन उदयराम की वीनती , सब कारज तुम तैं होय ॥५२॥
मेरे ओर न काम है , राम तुम्हारी आंण ॥
वेग मिलो हरि आय कै , नहि तर तजूँ पिरांण ॥५३॥
उदयराम का संगी सोई , अविहड़ राजा राम ॥
आदि अन्त तुमही धणीं , दीजै भक्ति विराम ॥५४॥

॥ इति अविहड़ अंग सम्पूर्ण ॥

॥ स्वामी कोमलदासजी ॥

महाराज हरीदासजी की परचई कई महात्माओं ने लिखी है उनका उल्लेख भूमिका में कर दिया गया है। कोमलदासजी की परचई भूमिका छप चुकने के पश्चात् प्राप्त हुई। अतः प्रसंगानुसार इसका कहीं उल्लेख नहीं किया गया है। यह वीसवीं शताब्दी की रचना है इसका आधार परम्परागत चली आई व मानी गई घटनायें हैं। इसके रचनाकार हैं, वालोतरा निवासी स्वामी रामकृष्ण जो के शिष्य कोमलदासजी रचनाकाल है सम्वत् १९४०।

आपने यह रचना दोहा चौपाई सोरठा तथा छन्दों में की है कुल पद संख्या सत्तर है। इसमें हरिदासजी महाराज द्वारा दिखाये गये वारह चमत्कारों का विवरण है। रचना को देखने से प्रतीत होता है कि रचनाकार सुशिक्षित है। छन्द, भाषा, भाव, का सम्यक् रचना में निर्वाह किया गया है। इस की मूल-प्रति इन्हीं की परम्परामें स्वामी जानकीदासजी माधोदासजी वालोतरा निवासी से प्राप्त हुई है स्वामी जानकीदासजी ने भी दोहे चौपाई में दयालु चरित्र की रचना की है तथा उसको मुद्रित कर वितीरण करा दिया गया है। कोमलदासजी की परचई में से पाडा देवी को शिष्य बनाने तथा भूत वावडी नागौर के चमत्कार का विवरण आगे दिया जा रहा है जिससे इनकी रचना की वास्तविकता प्रतीत हो सकेगी।

॥ कोमलदासजी कृत हरिदासजी की परचई ॥

दोहा—

गुरु गणेश गोविन्द पद, शीश नवाँइ नवाँइ ॥
कथूं चरित्र हरिपुरुष का, द्वादश परचा लाइ ॥१॥

चौपई—

श्री हरिपुरुष संत शिर टीका, बंदो उनकी पदरज नीका ।
सो स्वामी को वास हमेशा, नगर डीडवाना मरुदेशा ॥
पुर से सिषरी पश्चिम आसा, आश्रम कंदर तपहि प्रकाशा ।
गोरषनाथ शीश गुरुधारी, रामनिरंजन नाम उचारी ॥
सुरति अखंड धारणा ध्याना, योगाभ्यास विरत भगवाना ।
परम ज्योति देषत लिवल्याई, जिमि चकोर शशि रूप लुभाई ॥
प्रेम अमीरस प्याला पीवे, ब्रह्मानन्द सुष मगन अतीवे ।
मये मूकवत गरक रहाई, अनहद शब्द श्रवण रति लाई ॥२॥

छन्द—

सुनि शब्द अनहद वेणु भेरिहि ताल झींझ मृदंगजे ।
जो हैं अगोचर नयन गोचर नूर निरख उमंग जे ॥
निजश्वास दशवें द्वार भँवरहि गुफा ध्यान धराइयो ।
साक्षात हरि को नूर निर्मल ज्योतिरूप लषाइयो ॥३॥

सोरठा—

अरस परस हरि आप, मिल्या तउं हरिदासजू ॥
टारन जग की ताप, करी तपस्या काल बहु ॥४॥

दोहा—

हरीदास योगी पुरुष, चिदानंद हरि ध्यान ॥
रामनिरंजन जाप उर, शम दम दया निधान ॥५॥

चौपई—

एक बार देवी निज याना, वैठ कहूं ही करत पयाना ॥
जात डूँगरी ऊपर होई, जहाँ सन्त हरिपुरुषजु सोई ॥

तिहिं तप तेज ही गिरयो विमाना, पाढा तब ही हृदय डरपाना ॥
आई तुरत ही स्वामी पासा, हाथ जोरि ठाडी भरि श्वासा ॥
क्षमा माँग बोली अरदासा, प्रभु अब हुकम करहू ममपासा ॥
शिष्या करिये गुरु व्है मोरा, अब में शरण लियो प्रभु तोरा ॥
स्वामी अति ही नम्रता देखी, की देवी पर कृपा विशेषी ।
बोले संत दया तूं लीजै, जीवघात नहिं कोई कीजै ॥६॥

छन्द—

कोउ जीव को नहिं हनन कीजै आपसे पर जानिये ।
सब जीव अपने चर्म में रहि मगन मोद पिछानिये ॥
जगदया सम नहिं धर्म अवरहु अभैदानसु दीजिये ।
अब सीष देकरि शिष्य प्रभु कहिं शांति चित धर लीजिये ॥७॥

सोरठा—

सुन स्वामी की सीष, आई देवी निज भवन ॥
गुरु आज्ञा शुभ लीष, धरी शीश उर दयालहि ॥८॥

दोहा—

देवी परचो कह दियो, वरणों परचा और ॥
श्रोता सुनिये सुचित मन, तजहु सकल झकझौर ॥९॥

चौपई—

नाथ विराज डूंगरी आश्रम, हरत ताप जग के नाना श्रम ।
व्याप्यौ संत सुयश सब देशा, आवत दर्शही बहुत नरेशा ॥
पुर नागौर प्रेत दुष जानि, चले प्रभु सब सुख की खानि ।
पुर से रही प्राक्‌दिशि वापी, वसहिं जहाँ प्रेत बहु पापी ॥
आस पास है कूप घनेरा, जहाँ वसि भूत दुखद बहु तेरा ।
आया नाथ सबहि सुख शासन, सो प्रभु किया वापि में आसन ॥
दशवैं द्वार लगाय समाधि, बैठे मेटन भूत उपाधि ।
आये दुष्ट वेर जब आई, प्रभु ही देख बहु धूम मचाई ॥१०॥

छन्द—

प्रभु देषि धूम मचाई खल सब छार हाड उछारही ।
तम कीन्ह तनु विकराल धरि शिल अस्त्र शस्त्रहू डारहीं ।।
सब अफल व्है ज्यूँ अनल नीर ही प्रेत जब डरने लगे ।
करजोर प्रेत वहोरि कहि प्रभु दर्श अघ हमरे भगे ।।११।।

सोरठा—

अधम उधारण नाथ, तारहु अब तारण तरण ।।
बूडि रहे भव पाथ, हाथ पकरि काढो हमें ।।१२।।

दोहा—

आरत वाँणी प्रेत की, सुनकर दीनदयाल ।।
पार किये भव सिन्धु सें, मुक्त किये तत्काल ।।१३।।

चौपई—

स्वप्न भयो नागौर नृपाला, आयो तहाँ प्रातही काला ।
सबही सुप्रजा लई बुलाई, उच्छव करि करि बटी बधाई ।।
डंड प्रणाम भूप नरनारी, करत सबै निज जन्म सुधारी ।
पट्ट पाँवडे धरत सुहाये, कर सत्कार भूप गृह लाये ।।
पद पषार निज भवन सिचाई, नाना भोजन प्रभु ही जिमांई ।
राख्या भूप कालबहु स्वामी, आय विराज्या अन्तर्यामी ।।
एक दिवस ज्वर सन्त शरीरा, आयो तब ही नाथ मतिधीरा ।
कंथा में निज ताप बसाई, बहुविधि हरियश नृपही सुनाई ।।१४।।

छन्द—

हरि सुयश सुनि नृप देख कंथा धूजती विसमय रह्यौ ।
कहि नाथ कंपति गूदडी क्यूं श्रवण कर प्रभु हँसि कह्यौ ।।
तन ताप मेरो गूदडी में याहि सो कम्पित रही ।
सुनि भूप कहि प्रभु आपको क्यूं डंड है स्वामी कही ।।१५।।

सोरठा—

देह धरी को डंड, भोग्यां विन छूटै नहीं ।।
अवतारी ब्रह्मंड, तनुधर भोगे डंड सब ।।१६।।

दोहा—

वचन श्रवण करि भूप तब, गुरुपद वन्दन कीन्ह ॥
हाथ जोरि नृप दासवत, रह्यो सन्त आधीन ॥१७॥

समाप्ति पद छन्द—

निज गिरापावन करण कारण सन्त यश वर्णन करयो ।
नहिं पार पाऊँ सन्तमहिमा कछुक गुरु गुण ऊचरयौ ॥
कहै दास कोमल जोरि करयुग अनुग मौकों कीजिये ।
यहु मांगहूँ गुरुदेव स्वामी दर्श आपन दीजिये ॥१८॥

सोरठा—

द्वादश परचा गाय, मेला को परसंग सब ।
कह्यौ मोद उरलाय, अपनी मति सारू सही ॥१९॥

दोहा—

सम्वत् उन्नीसै जानियेे, चालीसै की साल ।
फागन शुक्ला षष्टी को, गायो सुयश रसाल ॥२०॥
शुभ नगर वालोतरा, रामनिवास सुथान ॥
रामकृष्ण गुरुदेवजी, शिष्य मैं कोमल जान ॥२१॥
मुरधर देश जिला जोधाणां, पुर वालोतरा मान ॥
परची श्री हरिपुरुष की, कोमलदास वषान ॥२२॥

॥ इति परचई संपूर्ण ॥

॥ प्रकीर्ण रचना ॥

(हरियानन्द कृत)

मनहर—

डीडपुर थान हरिदासजी विराजमान,
सन्तों के समाज देश देश हूते आत है ।
करत प्रणांम हरि सन्त सेवा आठों याम,
कथा कीर्तन सो तो जगमें विख्यात है ॥

ढोलक बजावे ताल दशों दिशा सोहे साल,
अरस परस मिल हरि गुण गात है।
हरि दरबार जाकी महिमा अपार रांम,
एसो जू आनंद मेरे उरन समात है ॥१॥
जिनां की समाधि वणी कहूँ कहूँ तम्बू तणी,
सुन्दर बगीची जामें हँसन की जात है।
सब ही विचारवान निस दिन धरै ध्यांन,
ऊठत बैठत एक ब्रह्म ही की बात है ॥
सकल अचाही जाकै चली आवे दुनी चाही,
लाड्डू पकवान मेवा भोजन करात है।
ऐसे जूँ प्रभाव देख देख सुधि सन्त जन,
हरियानन्द कहै मेरो मन हुलसात है ॥२॥
गाढै को सिनान जामें गोमती विराजमान,
पूजा पाठ ध्यांन मानों झरीसी लगाई है।
नागों के अखाडे और विरक्तों से भरे बाडे,
अभ्यागत साधु तामें बडे सुषदाई है ॥
प्रेमवान प्रीतवान गोटकों का करै दान,
टूटी फाटी कंथा ताकै थेगरी लगाई है।
ऐसे केउ साध ताको मतो है अगाध रांम,
हरियानन्द प्रीति रीति मेरे मन भाई है ॥३॥

उदयराम कृत छप्पय—

गोरष ज्यूँ द्रढ ग्यांन ध्यान धुनि शुक समजानो।
दत्त ज्यूँ मत आरूढ शील गांगेय परवानो ॥
त्रिगुण जीत निहकांम जानि सनकादि कुमारा।
ब्रह्म द्रिष्टि प्रहलाद दान ज्यूँ दधीचि उदारा ॥

ऊजल गुण आक्रांतितन भव निसतारन वपुधरै ।
पतित जीव पावन करन जन हरीदास कलि अवतरै ।।

ब्रह्मदास कुंडलिया—

तीवर तीषी डूँगरी जहाँ जलका नहीं निवास ।
हरीदास हरि मिलन कूँ कीया सिषर पर वास ।।
किया सिषर पर वास इन्द्रिया तन मन त्यागी ।
कर कर प्राणयाम सुषम्ना दशम सूँ लागी ।।
जन ब्रह्मदास जी दास के इक रांम मिलन की आस ।
तीवर तीषी डूँगरी जहाँ जलका नहीं निवास ।।१।।

अज्ञात छप्पय—

श्री महरवान अरु षेमदास राघव नारायण ।
विष्णुदास वोहिथ नरी भये ब्रह्म परायण ।।
बालकदास ब्रह्मदास दास गोविन्द उजागर ।।
शारंगदास हरिरांम भये हरि सुष के सागर ।
श्री गुरु पदरज परस जै हरिमाया अलिपत गये ।।
जन हरीदास पद परस कै कलियुग नौका येभये ।।१।।

अज्ञात कुंडलिया—

पन्द्रह सै पिचाणवे कीयो जोति में वास ।
फागणसुद छठ तिथि भली परम जोति प्रकाश ।।
परम जोति प्रकाश शब्द सतगुरु का जाण्यां ।
अलष पुरुष निज इष्ट रूप में ताहि पिछाण्यां ।।
वीसा सो वपु राषियो परम सन्त हरिदास ।
पन्द्रह सै पिचाणवे कीयो ज्योति में वास ।।१।।

रूपदास छप्पय—

नामा जन रैदास कवीरा गोरष दत्त सुषदेवा ।
गोपीचंद भरथरी जोगी लगे अलष की सेवा ।।

पीपा धना सैन मिल सौंभा नानग रामानंदा ।
हरींपुरुष सेवा जन सागे वह साहब का बंदा ।।
अनत कोटि जुग जुग के मांहि हरि सुमरत सुष पायो ।
अमरपुरुष सतगुरु के शरणै जन रूपराम गुण गायो ।।१।।

रतनदास होरी—

गाढे में बरसै रंगजी जहाँ संतन को सतसंग जी ।।टेक।।
गाढो धाम बण्यो अति सुन्दर गोमति जामैं गंग जी ।।
देश देश का सन्त पधारे मनमें धरत उमंग जी ।।१।।
ढोलक ताल तम्बूरा बाजै अरु वाजै मृदंग जी ।।
गुणि गंधर्व मिलि गावे बजावे सुरकी उठै तरंग जी ।।२।।
व्यवहारी विरकत सब आये ओर आये बहु संग जी ।।
ब्रह्म विलास होत है जहँ तहँ नाना विधि परसंग जी ।।
सब संतन की पदरज लेकर रतन करत वहुरंग जी ।।३।।
चालो गाढे में खेलां होरी जहां सन्त समाज मच्यो री ।।टेक।।
हरिपुरुष महाराज विराजे दरसन गुदडी कोरी ।।
देश देश के सन्त पधारे हंसन की सी टोरी ।।
ढोलक ताल तंबूरा वाजै नौबत की घनघोरी ।।१।।
व्यवहारी विरक्त सब आये अरु आये नागोरी ।।
सब सन्तन की पदरज लेकर रतन कहत कर जोरी ।।२।।
गाढे की अजब बहार छवि कहत न आवे पार ।।टेक।।
हरिपुरुष महाराज विराजे मुक्तिदेव दातार ।।
गावत सेव अमर महाराजा है निर्गुण अवतार ।।१।।
उडत गुलाल लाल भयो अम्बर रंग की पडत फुँवार ।।
ऐसी छवि निरखन को सुरपति धारे द्दगन हजार ।।२।।
गुणि गन्धर्व मिल गावे बजावे रांम नाम ततसार ।।
सब सन्तन की पदरज लेकर रतन कहत गुणसार ।।३।।

परमानंद होरी—

राजा हो होरी खेलें हरि के संग अरस परस मिल ऋतु वसन्त ।।टेक।।
अनहद धुनि बाजे रसाल जहाँ ररंकार जै जै उचार ।।
पाँच सहेली खडी हैं पास जहाँ फागर में जन हरीदास ।।१।।
कवीर नामदेव वन्यो है संग मिल पीये सूंघे बढ्यो हैं रंग ।।
सैन जयदेव रैदास दास जहाँ फागर में जन तुरसीदास ।।२।।
गोपीचन्द भरथरी चरपटीनाथ लिये सती घनेरी गुलाल हाथ ।।
ऐसो षेल मच्यो कछु कह्यो न जाय ।।
जहाँ अधिक विराजे बाबो गोरष राय ।।३।।
सिध चौरासी नऊँ ही नाथ जहाँ हिल मिल षेलै सकल साथ ।।
षेलत गावत भयो अनंद ऐसी महिमा गावै परमानंद ।।४।।

दरसनदास पद—

हरिजन हरिरस का मतवाला, जिन पिया रांम रस प्याला ।।टेक।।
नाथ मछंदर गोरष जैसा, अजैपालजी आछा ।।
नो जोगेश्वर जनक विदेही, ऐसा जोगी साचा ।।१।।
दत्त दिगंबर राघवानन्दजी, रामनन्द से साधू ।।
दास कवीर नामदे छींपा, ये उस घर के आदू ।।२।।
नऊँ नाथ अरु सिध चौरासी, भरथरी गोपीचन्दा ।।
साह सुलतानी सेष फरीदा, ये साहब का वन्दा ।।३।।
जन प्रहलाद रांका वंका, नानक दादू जैसा ।।
तुरसीदास और सब सन्तन, हरि में कियो प्रवेशा ।।४।।
हरीदास हरि के मतवाला, सेवादास जन सूरा ।।
अमरपुरुष अविनासी जोगी, बाजै अनहद तूरा ।।५।।
पींपा घना सैन रैदासा, सुषदेव पीयो अघाई ।।
अमर गुरु पीयो हुए निरभै, अगम सुरति ठहराई ।।६।।
महरबानजी षेम हजूरी, चतरदास पोकरदासा ।।
जगजीवन जालम जन जोगी, हरि में कीया वासा ।।७।।

गुरु गोविंद की करूँ वीनती, अनंत कोटि संत सारा ॥
दरसणदास दीन हो गावै, हरिजन हरि का प्यारा ॥८॥

दासजी कुण्डलिये—

विनय करूं कर जौरिकै, सुनिये दीनदयाल ।
हरिपुरुष हरि आपहो, संतन के प्रतिपाल ॥
संतन के प्रतिपाल, कृपानिधि सुषके सागर ।
ग्यांन भक्ति वैराग्य, ध्यान के परम उजागर ॥
दास कहै सुनो बापजी, वेग करो प्रतिपाल ॥
विनय करूँ कर जोर के, सुनिये दीनदयाल ॥१॥
दास कहै सुनो बापजी, मो पापी को तार ॥
मम करणी देषो नहीं, सुष सम्पति दातार ॥
सुष सम्पति दातार, ग्यांन अरु भक्ति दृढाओ ॥
जान आपनो भक्त, जगत में मति भरमाओ ॥
स्वामी सुणज्यो वीनती, तारो जगत् मंझार ॥
दास कहै सुनो बापजी, मो पापी को तार ॥२॥
अमरगुरु महाराज कूं, विनवहुँ बारम्वार ॥
कलियुग में अवतार लै, किये जीव भावपार ॥
किये जीव भवपार, कलपना सकल निवारी ॥
जब अधोग जिव जाइ, शरण लै करिया पारी ॥
रांम नाम ततसार दे, काटे कोटि विकार ॥
अमरगुरु महाराज कूं, विनवहुँ वारम्वार ॥३॥

सदाराम छप्पय—

ब्रह्म ग्यांन के पुंज ध्यान हिरदै में राजै ॥
निराकार को इष्ट ब्रह्म गलतान विराजै ॥
निर्द्वन्दी निष्काम तत्व उर मांहि विचारयो ॥
भवको करकै त्याग अखंड वैरागहि धारयो ॥
श्रीदयाल महाराज जू सन्तन पर राखो दया ॥
सदाराम की वीनती हरिपुरुष कीजै मया ॥१॥

दशा देष निज जनन की सेवा करिये सोय ॥
शीलवंत वैराग गुण महापुरुष कलि जोय ॥
महापुरुष कलि जोय रांम रटतां दिन जावै ॥
सोई हन्दी पीड़ तिनोंको नींद न आवै ॥
ये लच्छण जिन संत के तिनको संगति होय ॥
दशा देख निज जननकी सेवा करिये सोय ॥२॥

प्यारेराम कुण्डलियां—
श्री हरिपुरुष हिरदै वसो सेव विराजो शीश ।
अमरपुरुष महाराज कूँ करूँ शीश बगसीस ॥
करूँ शीश बगसीस सुमति मोहे ऐसी दीजै ।
जगतें उलटा फेर रामरस अमृत पीजै ॥
प्यारेरांम की वीनती मानों विसवा वीस ।
श्री हरिपुरुष हिरदै वसो सेवा विराजो शीश ॥१॥

अज्ञात कुण्डलियां—
पील पाडया पिछम दिशा नगर कोलिया ग्राम ।
अमरपुरुष आसण जहाँ मानों तीरथ धांम ॥
मानों तीरथ धाम नाम चहुँ दिश में चावो ।
हरषित आवे सन्त मान मन घणों उमावो ॥
ऋतु वसन्त सन्त जन आवत पावत है विश्रांम ।
पीलपाडया पिछम दिशा नगर कोलिया ग्रांम ॥१॥

रूपदास—कलियुग में कृपाल दया करि दरस दिषायो ।
प्रगटै आद् सन्त तत्व दे तिमिर मिटायो ॥
कियो ग्यांन परकाश भक्ति वैराग्य बधारयो ।
अमर आप महाराज काज पर तन मन धारयो ॥१॥
गोरष कहूँ कबीर कहूं या दत सुषदेवा ।
इसडी चाल अगाध साध कहों सागी सेवा ॥
नाँव अमर महिमा अमर अमर अषै गुरु आप ।
जन रूपदास मस्तग रहे सदा अमर गुरु छाप ॥२॥

॥ इति ॥

अथ श्री दयालुस्तोत्रम्

श्री रामचन्द्र गुर्जर प्रणीतम्

(तत्रादौ सूचनापद्यानि)

धन्येयं दैडवानाभिधपुरधरणिभूर्मिदेवैरुपेता
श्रीमत्पाढायदेव्याः सदनमिह हरेः श्यामदेवस्य चैव ।
यत्रोदग्भाग आस्ते जनपदविदितं सेवितं साधुसङ्घै-
स्तीर्थं गाढाभिधानं हृतदुरितचयं श्रीदयालोः प्रभावात् ॥१॥
गाढं यस्मिन् शमसुखपरो यस्तपस्तप्तुमास
स्वश्रेयोऽर्थी गुरुजनवचो गाढमङ्गीचकार ।
यः स्वीचक्रे विविदिषुजनान् गाढमात्मावबोधात्
तीर्थं गाढाभिधमिदमतः श्रीदयालोः प्रसादात् ॥२॥
मासेऽत्रागत्य तत्तज्जनपदविपुलासक्तचित्तास्तपस्ये
सन्तः सर्वेऽपि दर्शप्रभृतितिथिषु वै प्रारभन्तेऽत्र सत्रम् ।
गायन्तो गीतवाद्यैः प्रमुदितमनसः साधवः केऽपि भक्तया ।
प्रेमोद्रेकान्महान्तः सदसि कतिचन श्रीदयालुं स्तुवन्ति ॥३॥

तदित्थम्

पुण्यैर्जन्मान्तरीयैः समधिगतमहासाधुसत्सङ्गलब्ध-
स्वात्मानन्दावबोधोदयसरणिरलं शान्तमानान्तरायः ।
अध्यासीनो विविक्तं बहुदिनममलं यो जपन् रामनाम
प्रापत् सद्योगसिद्धिं गुरुमहमनघं संश्रये तं दयालुम् ॥१॥
वाणीं वेदान्तसारां गहनतरमहाज्ञानरत्नोज्ज्वलां यः
व्यातेनेऽव्याहतात्मा प्रथितगुणभरां स्वानुभूतिप्रचाराम् ।
संसाराम्भोधिभीतांश्चरणशरणगान् मानवान् वीतमानान्
उद्धर्तुं साधुवर्यं शमसुखनिरतं तं दयालुं भजेऽहम् ॥२॥

यदीयमधिगम्य वै गुरुकृपोपदेशामृतं
हृताखिलमनोमलः विगलितत्रितापो जनः ।
निरञ्जनपदाश्रयानुभवमालभेतानिशम्
गुरुं तमहमाश्रये किल दयालुसंज्ञं मुनिम् ॥३॥

प्रसङ्गात् साधूनां परिहृतनिजाज्ञानवितति:
पुराजन्माभ्यासात् सपदि भवबन्धं विजितवान् ।
भजन् रामं प्रेम्णा विमलहृदयो योऽजनितराम्
दयालुं तं वन्दे निजगुरुमहं साधुसरणिम् ॥४॥

सुखासीनं शान्तं भवजलधिदुःखप्रशमनम्
जनैः सेव्यं शश्वद्धृदि कृतहरिध्यानममलम् ।
अखण्डज्ञानौघं रहितगुणदोषं सुखकरं
दयालुं तं वन्दे निजगुरुमहं साधुसरणिम् ॥५॥

यदीया सद्वाणी श्रुतिवचनसारं निदधती
हृदज्ञानं हन्ति श्रवणपथगा शुद्धमनसाम् ।
नृणां भक्तिश्रद्धाऽऽदरपरधियां सौख्यजननी
दयालुं तं वन्दे निजगुरुमहं साधुसरणिम् ॥६॥

परित्यज्य प्राज्यां सुतधनयुवत्यादिममताम्
भवाम्भोधेर्भीताः शरणमुपयाताः कतिचन ।
दयार्द्रालोकेनामितसुखयुतास्तेऽपि विहिता
दयालुं तं वन्दे निजगुरुमहं साधुसरणिम् ॥७॥

दुरन्ते संसारे दुरितनिलये दुःखजनके
विरक्तिं, सद्भक्तिं ह्युपदिशति यो रामपदयोः ।
यदीयं स्वच्छान्तः करणमनिशं त्यक्तविषयं
दयालुं तं वन्दे निजगुरुमहं साधुसरणिम् ॥८॥

विपज्जालग्रस्तोद्धरणकृतयत्नः शुचिमनाः
विविक्ते देशे यो भजति किल नैरञ्जनपदम् ।
सदानन्दं शान्तं निरवधिगुणं सुन्दरतनुं
दयालुं तं वन्दे निजगुरुमहं साधुसरणिम् ॥९॥

पदं यत् सौख्यानां स्वयमखिलदीनावनपरं
जपन्तं रामाख्यं परमपरमं ब्रह्मनिलयम् ।
निराकारं नित्यं प्रशमिततमःस्तोममभितं
दयालुं तं वन्दे निजगुरुमहं साधुसरणिम् ॥१०॥

तपःसिद्धेर्भावात् स्फुरदनुभवो बुद्धिजलधिः
कृतोपेक्षः श्रीमान् स्वयमधिगते सिद्धिनिकरे ।
जनान् सर्वज्ञो यः सुखयति च सद्बोधवचनैः
दयालुं तं वन्दे निजगुरुमहं साधुसरणिम् ॥११॥

युगादौ योगीन्द्रा भवजलधिमग्नान् हतधियो
दुराशाभूयिष्ठान् स्वशरणगतांश्चक्रुरनघान् ।
कलौ तद्वद्दीनोद्धरणपरवान् योऽजनि महान्
दयालुं तं वन्दे निजगुरुमहं साधुसरणिम् ॥१२॥

मनोवाक्कायैर्ये विहितबहुभावाश्चरणयो-
र्दयालोर्दासत्वं मनसि दधतो नित्यमनघाः ।
महान्तः संतस्ते जगति विदिता ज्ञानविभवै-
स्त्रिसन्ध्यं स्तोत्रस्य प्रपठनपराः संतु सुधियः ।

श्री श्रीमद्द्रविडसहस्रोदीच्याचार्येत्युपपदवाचक-
गुर्जरदेशीयबृहत्सभास्थद्विजवररामचंद्रपण्डितप्रणीतं
श्री दयालुस्तोत्रं सम्पूर्णम् ।

श्री दयालु स्तोत्रम्

श्री कालिदासकविकृतम्

दयालुं तं वंदे हरिमिव गुरुं बोधवचनम्
जनानामज्ञानां भवजलधिविश्रामतरणिम् ।
विशेषात् साधूनां भ्रमजनितमोहादिहरणं
शरण्यं विज्ञानां, प्रथितमहिमानं स्वयशसा ॥१॥

सुखावासं वंदे तमिह हरिदासं सुचरितं
समाधिस्थं रम्यं त्रिगुणरहितावस्थमचलम्
हरेः रूपं साक्षादजमनुपमज्ञानविभवम्
निजानां शिष्याणां प्रभवति विबोधाय य इह ॥२॥

तमीडेऽहं हंसोचितपरमयोगैकनिलयं
विभिज्ञं योगानां स्मृतनिजजनं लोकरमणम् ।
कवीनां यः स्वामी दिशति नितरां ज्ञानममलं
चिदानंदे सत्ये प्रणिहितमतिर्ब्रह्मणि सदा ॥३॥

रसज्ञः सेर्वेषां जगति तनुभाजां रसनया
यदुक्तं तद्विज्ञस्त्वमसि भगवन् ! भावभणितः ।
कथं त्वां स्तोतुं वै प्रभवति जनः शास्त्ररहितः
अतस्तेऽहं वाचा प्रणतिमनुतिष्ठामि सततम् ॥४॥

दया चेद् भूयात् ते सकलजनतायाः शिवकरी
तदाऽयं संसारः परम इह भक्तोऽपि भवति ।
दयालुस्त्वं भूया अहमपि चिदानंदसरसी-
निमग्नः संसारोपहितमनुतापं न हि भजे ॥५॥

दयालो ! त्वं दीनान् प्रभुरसि भवाम्भोधिपतनात्
समुद्धर्तुं, लोके न हि भवति तादृक् त्वदितरः ।
न ये त्वां सेवन्ते हरिपदसमर्चाविरहिताः
कथं तेषां न स्याज्जननमरणोपद्रवभयम् ॥६॥

निजानां संस्थाने गुरुवर ! मनोज्ञे सुविदिते
अखण्डैश्वर्यत्वादचलसुखसम्पत्तिभरिते ।
तवास्मिन् सौभाग्यं लसतु सततं "गाढ" निलये
वसन्ते सत्संमेलनमनुपमं यत्र नियतम् ॥७॥

सदा सेव्यः सद्भिः परमनिरवद्यैर्यतिवरैः
निजानंदोत्कण्ठैर्विविदिषुसमूहैः परिवृतः ।
त्वमस्मिन् संसारे प्रभवसि रवीन्दूपमतया
परब्रह्माभासोज्ज्वदमलभासां वितरणे ॥८॥

वरैर्वर्णै रम्यं सकलनिगमोपासनफलं
परप्रीत्या स्तोत्रं कविकृतमिदं गायति तु यः
पुमान् वाचा धन्यः स भवति सदैवात्र भुवने
मुनीनां वै पूज्यो भवति नितरां कण्ठपठनात् ॥९॥

इति श्रीमत्कालिदासकविकृतं
श्रीदयालुस्तोत्रं समाप्तम् ।